हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व

[हिन्दीके प्रत्येक अध्यापक और छात्रका शाश्वत सखा]

❀

लेखक

आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

एम्. ए [हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रा० भारतीय इतिहास और संस्कृति], बी टी., एल् एल् बी, साहित्याचार्य

❀

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य कुटीर

हाथीगली, बनारस १

सं० २०१३ वि०

चतुर्थ खण्ड : लिपियोंका विकास

पंचम खण्ड : साहित्यशास्त्र

षष्ठ खण्ड : पिंगल

सप्तम खण्ड : शैली

अष्टम खण्ड : रचना-कौशल

नवम खण्ड : समीक्षाशास्त्र

दशम खण्ड : साहित्यके रूपोंकी समीक्षा

एकादशम खण्ड : दर्शन और वाद

द्वादशम खण्ड : हिन्दी साहित्यका इतिहास

———

आमुख

भारत जबसे स्वतंत्र हुआ और हिन्दी अर्थात् नागरी भाषा देशकी राजभाषाके रूपमे स्वीकृत हुई तबसे हिन्दीका अध्ययन और अध्यापन करनेवालोकी सख्या सहसा बहुगुणित होकर बढ चली। ऐसी स्थितिमे यह सभव नहीं था और न है कि एक साथ कई सहस्र हिन्दीके प्रौढ अध्यापक सारे देशमे फैला दिए जाते। पहलेसे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा; हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, मद्रास आदि अनेक सस्थाएँ अपने-अपने ढगसे, अपनी अपनी भावनासे, अपने-अपने सामर्थ्यसे भारतके विभिन्न क्षेत्रोमे हिन्दी प्रचारका काम कर रही थीं और कर रही हैं। उन्होने अपने इस प्रयासमे अनेक परीक्षाएँ चलाकर लाखों व्यक्तियोको हिन्दी सिखा दी, हिन्दी लेखको और कवियोंसे परिचित करा दिया किन्तु शुद्ध भाषा और साहित्यका जो ज्ञान हिन्दीके अध्यापकके लिये अपेक्षित है वह ज्ञान ये सब सस्थाएँ अपने स्नातकोको भली प्रकार न दे सकीं। इसका सबसे मुख्य कारण यही था कि ये सस्थाएँ परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ रहीं, शिक्षा देनेवाली नहीं। यही कारण है कि हमारे देशमे हिन्दी जाननेवाले और उपाधि प्राप्त करनेवाले तो बहुत हैं किन्तु वास्तवमे हिन्दीके प्रौढ साहित्यऔर नागरी भाषाका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानको वितरण कर नेवाले लोगोकी बडी भारी कमी है।

इतने बड़े देशमे रहनेवाले लोगोके लिये यह सभव भी नहीं है कि सब लोग काशीमे आकर हिन्दीके प्रौढ पंडित बनें और न यही सभव है कि थोड़ेसे विद्वान् सारे देशमे घूम-घूमकर शिक्षा दें। अतः, आजके यन्त्र-युगमें इस कार्यके लिये भी यन्त्रका आश्रय लेना ही अधिक सरल और उचित जान पड़ता है। इसीलिये **हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व**

नामकी इस पुस्तककी रचना की गई है कि हिन्दीसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको विशेषतः हिन्दीके अध्यापकको हिन्दी भाषा और साहित्यके सम्बन्धमे जितनी बाते जाननी चाहिएँ वे सभी एक स्थानपर प्राप्त हो जायँ। भाषा क्या है? उसके कितने रूप है? उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई? उसका स्वरूप क्या है? उसके लेखक और कवि कौन-कौन है? उसमे कितने प्रकारका साहित्य रचा गया है? साहित्य-शास्त्र किसे कहते है? अलकार, पिगल, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि क्या है? व्याकरणके किन नियमोके अनुसार हिन्दीका स्वरूप बनता है? काव्यकी समीक्षा किस प्रकार की जाती है? इन सब प्रश्नोका उत्तर और इनके साथ नागरी लिपि तथा उससे सम्बद्ध समस्याओका पूरा विवरण इस ग्रन्थमे एक स्थानपर मिल जायगा। आज जब नागरी साहित्य इतना विस्तृत और व्यापक हो गया है उस समय प्रत्येक अध्यापक और प्रत्येक विद्यार्थी सब ज्ञान एक ही पुस्तकमे पा लेनेके लिये प्रयत्न-शील रहता है। हिन्दी पढने-पढानेवालोमे प्रायः सभी वर्गके लोग हैं जो आर्थिक दृष्टिसे मध्यम श्रेणीसे भी निम्न कोटिके है। उनके पास इतना द्रव्य नहीं कि वे बहुत सी पुस्तकें मोल ले सकें और न उन्हें यही ठीक निर्देश प्राप्त हो पाता है कि कौन सी पुस्तकें ली जायँ। इसीलिये इस ग्रन्थके लिखनेकी सहसा आवश्यकता पड गई क्योकि इस ग्रन्थमे जितने विषयोका समावेश किया गया है यदि उन सबके अलग-अलग प्रामाणिक ग्रन्थ मोल लिए जायँ तो उनका मूल्य ढाई सौ रुपएसे कम न होगा। पढना तो सभीको है। पुस्तकालयोसे पुस्तक लेकर भी सब लोग पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ पुस्तकें कठिन और दुरूह भी है। उन्हे समझने और समझानेके साधन भी सर्वत्र सुलभ नहीं है। कहीं कहींपर पुस्तकें मिलती भी नहीं हैं। ऐसी स्थितिमे बहुत दिनोसे एक ऐसी पुस्तककी बडी आवश्यकता थी जिसमे सब विषय एक साथ प्राप्त हो जायँ और कोई दूसरा ग्रन्थ उसके लिये ढूँढना न पड़े।

हिन्दीके अध्यापको और छात्रोकी सुविधाके लिये हमने यह महाग्रन्थ अत्यन्त अल्प मूल्यमे वितरित करनेका प्रयास किया है जिसमे हिन्दीके शिक्षक या अध्ययन करनेवालेकी सभी जिज्ञासाओकी एक साथ तृप्ति हो सके। यह सभव है कि इतने सावधान रहनेपर भी इसमे बहुतसे ऐसे विषय न आए हो जिनका सन्निवेश आवश्यक है। अत. हम अपने सभी कृपालु पाठकोसे सानुरोध आग्रह करते हैं कि वे हमे ऐसे प्रश्न सुझाते रहे और ऐसी समस्याओकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहे जिनका समावेश करना इसमे आवश्यक हो।

बहुत परिश्रम करने और सावधान रहनेपर भी छापेघरके भूतोकी कृपासे बडी विलक्षण भूलें स्थान-स्थानपर हो गई है। यहॉं-तक कि जहॉं शुद्ध और अशुद्ध प्रयोगका विवरण है वहॉं **बाएँ**के बदले **दाएँ** छप गया है। और भी इस प्रकारकी बहुत सी भूलें स्थान स्थान पर रह गई है किन्तु वे सभी ऐसी है कि हिन्दीके अध्यापक और छात्र उन्हे तत्काल सुधारते चलेंगे। यदि किसी तथ्यके सम्बन्धमे इस प्रकारकी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो तो पत्र-द्वारा उसका निराकरण कर लेनेकी सबको स्वतन्त्रता है। इस ग्रन्थके अन्तिम खण्ड इतिहासमें कवियो और लेखकोके सम्बन्धमे हमने कुछ ऐसे मत व्यक्त किए है जो हमारी दृष्टिसे उचित है किन्तु जिनके सम्बन्धमे अन्य लेखकोकी कुछ दूसरी धारणा है। हमने यथासभव औरोके मत देकर अपना मत दिया है। यदि उससे कोई सहमत न हो तो उन्हे स्व न्त्रता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको स्वतत्र विचार करने और रखनेकी सुविधा होनी ही चाहिए और स्वतत्र राष्ट्रमे तो यह बात और भी आवश्यक है। सब जिस बातको मानते हो उसे ही आप भी मानिए यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका किन्हीं सिद्धान्तोके अनुसार परीक्षण करके अपना निष्कर्ष निकालनेका अधिकार है। इस पुस्तकके अनेक अश मैंने अपने अन्य ग्रन्थोसे ज्योके त्यो ले लिए हैं और मैने अपना यह अधिकार सुरक्षित रक्खा है कि मै अपने किसी भी ग्रन्थका कोई भी

अंश या अध्याय अपने किसी भी अन्य ग्रन्थमें ज्योंका त्यों उद्धृत कर लूँ । उसमें मुझपर किसी प्रकारका बन्धन नहीं है ।

जब इस ग्रन्थका प्रारम्भ किया गया उस समय यह ध्यान नहीं था कि ग्रन्थ इतना बढ जायगा । अनुमान था कि ८०० पृष्ठोंमें यह पूर्ण हो जायगा किन्तु ज्यों-ज्यों लेखनी चलती गई त्यों-त्यों यह भी विचार होने लगा कि कोई अंग छूट न जाय, अस्पष्ट न रह जाय । इसलिये कृपणताका भाव छोडकर कलेवर बढ़ा देनेमें ही पाठकोंका कल्याण देखा । ग्रन्थका आकार बढता गया और वह इस रूपमें पहुँचकर पूर्ण हो पाया ।

इस ग्रन्थको इतनी शीघ्रतासे प्रस्तुत कर सकनेका कुल श्रेय मेरे मित्र श्री महेन्द्रनाथजीको ही है जिन्होंने अत्यन्त तत्परता और निष्ठाके साथ इसका मुद्रण शोधन किया और अत्यन्त लगनके साथ इसके प्रकाशनमें सहयोग दिया ।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थसे हिन्दीके अध्यापक और छात्र सभीको बड़ी सुविधा मिलेगी, उन्हें अध्ययनीय तथा अध्यापनीय सब सामग्री इकट्ठी मिल जायगी और यह ग्रन्थ उनका शाश्वत सखा सिद्ध होगा ।

अक्षय तृतीया, सं० २०१३ वि०
उत्तर बेनिया बाग,
बनारस

सीताराम चतुर्वेदी

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व

प्रथम खण्ड

भाषा-शास्त्र

१

बोलीकी छानबीन

बूढोंके मुँह आपने सुना होगा—

चार कोसपर पानी बदले, आठ कोसपर बानी।
बीस कोसपर पगडी बदले, तीस कोसपर छानी॥

[चार कोस या आठ मीलपर पानीका स्वाद बदल जाता है, आठ कोस या सोलह मीलपर बोलीका रग-ढग बदलने लगता है, बीस कोस या चालीस मीलपर ओढने-पहननेका ढङ्ग या पगडी लगानेकी चलन बदल जाती है और तीस कोस या साठ मीलपर घर-छप्पर बनानेका ढङ्ग बदल जाता है।] और इसी आधारपर ससारकी बोलियोंका ब्यौरा लेकर यदि आपसे कहा जाय कि ससारमे बसनेवाले दो अरब मनुष्य २७९६ (सत्ताईस सौ छानबे) बोलियाँ बोलते हैं तो आपका माथा झन्ना उठेगा। जिन लोगोने दो-चार-दस देशोंकी बोलियाँ सुनीं

और मन लगाकर, ध्यान देकर सीखीं, उन्हे यह जानकर बड़ा अचम्भा हुआ कि उनमेसे बहुतसी बोलियाँ आपसमें बहुत बातोमे इतनी मिलती-जुलती हैं मानो वे दोनो एक ही सोतेसे फूटकर निकली हो और अलग-अलग धरतीपर पहुँचकर वहाँका रंग ढग अपना लेनेसे अलग-सी जान पड़ने लगी हो। उन्होने सोचा कि क्यो न ऐसी बोलियोकी छान-बीन की जाय और यह परखा जाय कि ये बालियाँ कहाँसे आई, इनका आपसमे कितना और कैसा मेल-जोल है और किन-किन बातोमे ये एक दूसरीसे अलग हैं। ऐसी छानबीनके लिये एक नया 'परखका ढग' बना लिया गया जिसका पहले भूलसे नाम रक्खा गया "फिलोलौजी", जिसे हिन्दीमे हम लोगोने भी भाषा-विज्ञान कहकर पुकारा पर जिसका ठीक नाम है भाषा-शास्त्र या भाषाओकी छानबीन (लिग्विस्टिक्स) क्योकि "फिलोलौजी" का अर्थ है "किसी देशके साहित्यका अध्ययन"। इसे भाषा-विज्ञान कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि विज्ञान तो किसी बातको ठीक-ठीक जाननेकी वह कसौटी है जिसपर किसी एक बात या वस्तुको एक ढगसे कसनेपर सभी देशोमे सदा उसका फल एक ही होता हो। इसे हम यो कह सकते हैं कि विज्ञानमे किसी भी बात के क्यो, कैसे, क्या और कहाँकी सच्ची जानकारी मिल जाती है। पर भाषाकी परखके लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकती। अभी भाषाकी जाँच अटकलसे की जा रही है और की भी जायगी क्योकि सब देशोके मनुष्योके मुँहकी भीतरी बनावट—गला, दाँत, ओठ, जीभ—एकसी होनेपर भी सब देशोंकी बोलियाँ अलग-अलग सुनाई पडती हैं। इसलिये बोलियोंकी परख, जाँच और छानबीनको भाषा-विज्ञान न कहकर भाषा-शास्त्र या भाषाओकी परख कहना ही ठीक होगा।

भाषा-शास्त्रमें क्या होता है ?

भाषाशास्त्रमे हम यह परखते हैं कि बोली क्या है, वह क्यो और कैसे जनमी, कहाँसे आई, कैसे बढी, कैसे फैली, उसमे कितनी पुरानी ध्वनियाँ थीं, कितनी नई आईं, वे ध्वनियाँ पहले कैसी थीं, अब कैसी हो गई हैं, क्यों, कब और कैसे यह अदल-बदल हुआ, शब्द किसे कहते हैं

शब्द कैसे बनते थे, उनकी बनावट कैसी थी, उनमे हेरफेर कैसे हुआ या होता है, उन शब्दोके अर्थ पहले क्या थे, अब क्या अर्थ हैं, उनके बहुतसे अर्थ क्यो और कैसे बदले गए, वाक्य कैसे बनते हैं, कैसे बदलते हैं, यह हेरफेर कब, कहाँ, कैसे और क्यो होता है, उस हेरफेरसे उसमें क्या नई बात आ जाती है, कौनसी बोली पहले कैसे बोली जाती थी, अब कैसे बोली जाती है, कौन-कौनसी बोलियाँ आपसमे किन-किन बातोंमे मिलती-जुलती है, सब बोलियाँ किन-किन बोलियोसे छिटककर क्यो और कैसे अलग हो गई, ससार-भरकी बोलियोकी ऐसी आपसमे मिलती-जुलती कितनी टोलियाँ या परिवार हैं, ये बोलियाँ कहाँ-कहाँ बोली जाती हैं, इनमे लिखावटकी चलन क्यो और कबसे चल पड़ी, यह लिखावट पहले कैसे थी, अब कैसी है तथा उसमे कब-कब, कैसे-कैसे हेरफेर हुए। ये और ऐसी ही सब बातें भाषाशास्त्रमे समझी और परखी जाती हैं।

भाषाशास्त्र और दूसरी विद्याएँ

वेदकी भाषाकी छानबीन करनेवालोने व्याकरण, साहित्य-शास्त्र, निरुक्त, शिक्षा और प्रातिशाख्य बनाकर अपने-अपने ढंगसे भाषापर विचार किया है। व्याकरणमे यह बताया गया कि शब्द कैसे बने या बनाए जा सकते हैं, उनका प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए और यह जाँच कैसे करनी चाहिए कि वे ठीक हैं या नहीं। निरुक्त लिखनेवालोंने सस्कृत (वेदकी सस्कृत) में आनेवाले ऐसे शब्दोका ठीक-ठीक अर्थ समझाया जो नई सस्कृतमे काम नहीं आते या अनजान हो गए हैं और बताया कि वे शब्द कितने ढङ्गके हैं, कहाँसे आए और कैसे बने। शिक्षामे बतलाया गया कि वेदमे आनेवाली ध्वनियाँ मुँहके भीतरी अंगोके कैसे मेलसे बोली जायँ और कैसे वेद पढा जाय। प्रतिशाख्यमें यह बताया गया कि किस शाखाके वेद पढ़नेवालोको वेदके कौनसे शब्द और मन्त्र किस ढङ्गसे पढ़ने चाहिएँ। पर दूसरी भाषाओकी बनावट और उनके प्रयोगका मर्म उनके व्याकरणोसे ज्ञात हो जाता है।

पर इतनेसे हमारा काम नहीं चलता। बोलियोकी ठीक ठीक परख करनेके लिये हमे धरतीकी बनावटकी विद्या (भूगर्भ-शास्त्र या जिओ-

लौजी), धरतीकी ऊपरी तहपरके देशोके ब्यौरेकी विद्या (भूगोल या जिओग्रफी), मनुष्यके रहन-सहन, रङ्ग-ढङ्ग, मेल-जोल, लडाई-झगड़े, गाँव-बस्तियोके उजाड-बसाव और राजाओकी हार-जीतके ब्यौरेकी विद्या (इतिहास या हिस्टरी), मनुष्यके भेद, उनकी बनावट, उनके जन्मकी और इधर-उधर फैलनेकी कहानीकी विद्या (नरशास्त्र या एन्थ्रोपोलौजी), देहकी बनावटकी विद्या (शरीर-विज्ञान या फिज़िओलौजी), मनुष्यका मन परखनेकी विद्या (मानसशास्त्र या साइकोलौजी), गाँव-समाज-राज बनाने और चलानेकी विद्या (समाज-शास्त्र या सोशियोलौजी और राजनीति या पौलिटिक्स), चित्र बनाने और लिखनेकी विद्या (चित्रकला या ड्राइङ्ग), ध्वनि निकलने, चलने और दूसरोसे सुनी जानेकी विद्या (भौतिक विज्ञान या फिजिक्स) और संगीत-विद्या भी जाननी चाहिए क्योकि बोलियोकी छानबीनका या भाषाशास्त्रका इन सब विद्याओसे बड़ा गहरा मेल है।

सबसे पहले हमारे देशमे ही वेदको ठीक समझने, उसे बाहरी बोलियोकी मिलावटसे बचाने और वेदमे आए हुए शब्दोको ठीक ठीक पढ़ सकनेके लिये प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त लिखे गए। बहुतसे ऋषियोने वेद पढ़नेके जो अपने-अपने ढग प्रस्तुत किए उन्हींको प्रातिशाख्य कहते हैं। इस प्रकार एक-एक वेदकी सब शाखाओके अलग-अलग प्रातिशाख्य हैं।

वेद पढते समय बैठने, मुँह खोलने और बोलनेके ठीक-ठीक ढंगका ब्यौरा जिन पोथियोमे दिया गया है उन्हे शिक्षा कहते है। इनमेसे शौनक, पाणिनि और याज्ञवल्क्यकी शिक्षा बहुत प्रसिद्ध है।

शब्दोका ठीक-ठीक रूप बनाने और वाक्यमे उन्हें ठीक ढंगसे सजानेका ब्यौरा व्याकरणमे मिलता है। सस्कृतमे बहुत लागोने व्याकरण लिखे, पर पाणिनि उनमें सबसे बडे माने जाते हैं। पाणिनिके व्याकरणपर बहुत लोगोने उसे खोलकर समझानेके लिये पोथियाँ लिखी हैं, जिनमें कात्यायनका वार्तिक और पतञ्जलिका महाभाष्य बहुत अच्छे माने जाते हैं।

निरुक्तमे यह बताया जाता है कि वेदमे आनेवाले कौनसे शब्द किस

ढंगसे बने हैं। ये कोषके ढङ्गसे लिखे गए हैं। वेदमे आनेवाले सब शब्दोंका पूरा ब्यौरा इनमे मिल जाता है और यह भी जाना जाता है कि कहाँ, कौन शब्द किस अर्थमे काम आता है। इस प्रकार सबसे पहले भारतमे ही वैदिक संस्कृतमे काम आनेवाले शब्दोकी छान-बीनका ब्यौरेवार काम हुआ।

योरोपमें बोलियोंकी छानबीन

योरोपमे सबसे पहले यूनानवालोने अपनी यूनानी बोलीपर कुछ थोड़ा-बहुत सोचने-समझनेका लग्गा लगाया। सबसे पहले यूनानमें अरस्तूने यूनानीमे बाहरसे आकर मिले हुए शब्दोको छाँट-छाँटकर अलग किया। प्लेटो (अफलातून) ने बताया कि हमारे मनमे जो बहुत-सी बातें उठती हैं, उनका हमारी बोलीसे भी बहुत मेल है; यहाँतक कि हमारे मनकी बातें और हमारी बोली दोनो एक होकर दूध-पानी जैसे इतने घुल-मिल गए हैं कि उन्हे अलग नहीं किया जा सकता। अफलातूनने यूनानी बोलीकी सब ध्वनियोको अलग अलग करके एक ढंगसे सजाया। सुकरात (सोक्रतेस्, सोक्रेटीज़) को ऐसा जान पडा कि बोली और मनमें उठी हुई बातका कोई सीधा नाता नहीं है पर वह समझता था कि ऐसा नाता रखनेवाली कोई बोली बनाई जा सकती है। इन सब लोगोंने अलग-अलग ढंगसे व्याकरणपर थोडा-थोडा काम किया पर ठीक ढङ्गका सबसे पहला यूनानी व्याकरण थ्राक्स (ई० पू० दूसरी सदी) ने बनाया।

यूनानी सभ्यता जब यूनानसे हटकर रोममे जा पहुँची तब लातिन और यूनानी दोनोको मिलाकर पढते हुए लोगोके मनमे यह बात आई कि इन बोलियोके बहुतसे शब्द एक दूसरेसे मिलते-जुलते हैं। रोम-साम्राज्यके विस्तारके कारण लातिनने सब बोलियोपर अपनी ऐसी छाप डाल दी कि न जाने कितने लातिनके शब्द आज भी योरोपकी सब बोलियोपर अपना सिक्का जमाए बैठे हैं।

अठारहवीं सदीने योरोपको इतने झटकेसे झकझोरकर जगाया कि अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे समझदार लोगोंने पुराने ढंगसे सोचने-समझनेकी बान छोड़कर सब बातोंपर नये ढंगसे सोचने-विचारनेका ढर्रा चलाया।

सबसे पहले रूसोने यह बात छेडी कि जैसे लोगोने आपसमे मेल-जोल बढाकर एक दूसरेका बचाव करनेके लिये, एक दूसरेके काममें हाथ बटानेके लिये, बनी-बिगडीमे एक दूसरेका साथ देनेके लिये समझौता किया और समाज बनाया वैसे ही लोगोने आपसमे समझौता करके बोलियाँ भी बना लीं। रूसोकी यह बात किसीको ठीक जँची नहीं क्योंकि जिन लोगोको कोई भी बोली बोलनी नहीं आती थी, उन्होने आपसमे कोई समझौता किया ही कैसे होगा।

कोन्दिलाकने एक नई अटकल लगाई कि 'सबसे पहले एक अनबोलता आदमी और एक अनबोलती स्त्री आपसमे मिले होगे और एक दूसरेको अपने मनकी तडपन, चाव और चाह समझानेके लिये उन्होने जो हाँ, हूँ या चिल्लपो की होगी, वही पहली बोली बनकर निकल पड़ी होगी। फिर धीरे-धीरे इन बेढगी चिल्लपोवाली बोलियोमे उतार-चढावके साथ ऊँचे-नीचे बोलनेका ढग भी आने लगा होगा। धीरे-धीरे उनके बच्चोकी बोलियोमे उतार-चढ़ाव बढता चला गया होगा और इस ढङ्गसे कुछ पीढ़ियोमे चलकर उनके नाती-पोतोने अपने-अपने मनकी बात समझानेके-लिये बहुतसे नये-नये शब्द और बोलनेके बहुतसे ढङ्ग निकाल लिए होगे जिससे धीरे-धीरे बोली बन गई।'

अठारहवीं सदीमे सुसम्लिख नामके जर्मनने कहा कि बोली मनुष्यने नहीं निकाली है, वह तो उसे सीधे ईश्वरसे मिली है। योहान गौटफ्रीड हेर्डरने इस बातको काटते हुए कहा कि 'यदि ईश्वरने बोली बनाई होती और उसे लाकर मनुष्यके मुँहमे भरी होती तो वह इतने रङ्ग-ढङ्गकी, बेसिर-पैरकी और ऊटपटाँग न होती जैसी आज-कलकी बहुत-सी बोलियाँ दिखाई पड़ती हैं।' हेर्डर मानता है कि बोलियाँ मनुष्यने बनाई नहीं हैं। जैसे-जैसे मनुष्यका काम बढ़ता गया और उसके रहन-सहनमे नयापन आता चला गया, वैसे-वैसे बोलियाँ भी बढ़ती, पनपती और फैलती चली गईं।

सन् १७९४ मे बर्लिन अकाडेमीने बर्लिनके डी० जैनिशको 'भाषा-परीक्षण' के लिये पुरस्कार दिया जिसने यह बताया कि संसारकी जो

भी बोली ले ली जाय, उसमे मनुष्यके मन और उसकी समझका पूरा ब्यौरा भरा रहता है। इसी काँटेपर जैनिशने सच्ची या 'पूरी' बोलीकी एक कसौटी ही बनाकर खडी कर दी और उसीपर कसकर लातिन, यूनानी और योरपकी दूसरी बोलियोके साथ मिलान करके उनकी जाँच की। अतः सबसे पहले अठारहवीं सदीमे हेर्डर और जैनिशने ही बोलियोकी छान-बीन करनेकी सच्ची नींव बैठाई।

भाषाशास्त्रका नया विकास

अट्ठाहरवीं सदीमे कुछ विद्वान् यही देख रहे थे कि कब, कैसे और कहाँ किस बोलीका कौनसा ढाँचा किस ढंगसे काममे लाया जाता था। पर जब उन्नीसवीं सदीमे बहुतसी बोलियोको पढ़-सीखकर उनका आपसमे मिलान करके अच्छे पढे-लिखे लोग उनकी जाँच करने लगे तब इस बातपर भी लोग सोचने-विचारने लगे कि किसी भी बोलीने बन-सँवरकर यह आजका-सा रूप-रंग कैसे बना लिया। अब वे इस खोजमे लगे कि कबसे कोई बोली बोली जाने लगी, उसमे बाहरकी बोलियाँ और बाहरकी बोलियोके शब्द किस ढगसे घुलने-मिलने लगे? क्यो, कैसे और कब उसके पुराने ढाँचेमे हेर-फेर हुए? इसीके साथ मनुष्यकी सब हलचलोका ब्यौरा भी जोड दिया गया जिसमे यह देखा जाने लगा कि कोई बोली जिस एक बँधे हुए साँचेमे दिखाई पडती है वह पहले जैसी नहीं है, उसने न जाने कितने उलट फेर, कितनी अदला-बदली और कितने हेर-फेरसे अपना आजका यह नया बाना बनाया और आगे भी न जाने यह कितने रंग बदलकर कितने चोले पलटती रहेगी।

जब योरपवालोने संस्कृत सीखकर संस्कृतके शब्दोमे अपनी बोलियोके शब्दोकी झाँकी पाई तब उन्हे यह बात सूझने लगी कि हो न हो संस्कृतसे योरपकी बोलियोका कुछ न कुछ गहरा मेल अवश्य है। इनमे सबसे पहले फ्रांसीसी पादरी कूर्दोने सन् १७६६ ई० मे फ्रॅंच इन्स्टिट्यूटको एक चिट्ठी भेजी जिसमे बहुतसे संस्कृत और लातिन शब्दोका मिलान करके उनका आपसी मेल दिखाया गया था। फिर सर विलियम जोन्सने सन् १७८६ मे कहा कि—"संस्कृत भाषा हो चाहे जितनी पुरानी, पर

उसकी बनावट बडी अनाखा है। यह भाषा यूनानीसे कहीं बढकर पूरी है और लातिनसे कहीं बढ-चढकर इसका भडार है। सजावटमे भी इन दोनो भाषाओसे वह कहीं अधिक मँजी हुई है और इन दोनो बोलियोंसे वह मिलती जुलती भी है। यह मेल इतना गहरा है कि उन तीनोको एक ही खानसे निकला हुआ बिना माने उनकी ठीक-ठीक जाँच-परख हो ही नहीं सकती। हम तो यह भी मान सकते हैं कि गोथिक और कैल्टिक बोलियाँ भी उसी धारासे फूटकर निकली है जिससे संस्कृत निकली है, यहाँतक कि पुरानी फारसीको भी बिना किसी हिचकके हम उसीके साथ नाँध सकते हैं।”

फ्रीड्रिख फौन श्लेगेलने सन् १८०७ मे योरोपकी बडी-बड़ी बोलियोसे सस्कृतका मिलान करके यह बताया कि जर्मन, यूनानी और लातिन भाषाओमे ऐसे बहुतसे शब्द है जो सस्कृतसे ज्योके त्यों आ गए हैं। श्लेगेलने संसारकी सब बोलियोंको दो पालियोमे बाँट दिया है—एकमे सस्कृत और उससे मेल खानेवाली सब बोलियाँ और दूसरीमे बची हुई सब बोलियाँ। श्लेगेलके भाई ए. डब्ल्यू. श्लेगलने भी इसी ढङ्गपर कुछ बोलियोका आपसमे मिलान करके उनकी परख की।

उन्नीसवीं सदीके चढते-चढ़ते जर्मनीके फ्रान्त्स बौप (१७५१ ई०), तथा याकोब ग्रिम (१७८५ ई०) और डेनमार्क [हौलेंड] के रास्मक रास्कने नये ढङ्गसे बोलियोकी छानबीनका काम चलाया। इनमेसे ग्रिमने तो रास्कके ढङ्गपर काम किया पर बौपका ढङ्ग अपना निराला था।

रास्क मानता था कि हमें यदि किन्हीं लोगोंका पूरा ब्यौरा इकट्ठा करना और जानना हो तो हम उनकी बोलीसे ही उनके पूरे ब्यौरेके ठीक और पूरे आँकड़े इकट्ठे कर सकते है क्योकि रहन-सहन, खान-पान, करम-धरम बदल जानेपर भी बोली ज्योकी त्यो बनी रहती है और उसमे जो थोड़ा बहुत हेरफेर होता भी है वह इस ढङ्गका होता है कि सैकडो बरस पीछेतक भी वह जाना-पहचाना जा सकता है। इसलिये हमें उस बोलीकी बनावट या गढ़नपर ही ठीक-ठीक ध्यान देना चाहिए क्योंकि शब्द तो अदलते-बदलते रहते हैं, पर बोलीकी गढ़नमें बहुत

हेर फेर नहीं होता। उसने यह भी बतलाया कि जिस बोलीका व्याकरण जितना ही अधिक उलझा हुआ होगा वह अपने निकासके उतने ही पास भी होगी। यदि किन्हीं दो बोलियोंके बहुतसे सदा काम आनेवाले शब्द आपसमे मिलते-जुलते हो तो समझना चाहिए कि ये एक ही डालीकी दो टहनियाँ हैं।

याकोब ग्रिम और उसके भाई विलहेल्मने पुरानी कविताओं और कहानियोंमे काम आनेवाली बोलियोंकी छान-बीन की और सबके मुँहसे कहे-सुने-गाए जानेवाले अनलिखे भंडारको खोज-बटोरकर उसकी जाँच-परख की। ग्रिमने वाक्योंकी बनावटपर जो कुछ लिखा है, वह उसका सबसे बड़ा काम है।

फ्रान्स बौप (जन्म १७९१) ने पैरिसमे पुरानी बोलियाँ सीखीं और वहीं संस्कृत भी पढ़ी। वे कहते थे—'मै यह नहीं मानता हूँ कि यूनानी, लातिन और दूसरी योरोपकी बोलियाँ उसी संस्कृतसे निकली हैं जो हमे भारतकी पोथियोंमे मिलती हैं। मै समझता हूँ कि ये सब किसी एक आदिम बोलीके बहुत पीछेके ढाँचे हैं जिनमेसे संस्कृतने तो आदिम निकासकी बोलीसे अभीतक पूरा-पूरा मेल बनाए रक्खा है पर उसकी साथिन बोलियाँ उससे बहुत दूर जा पड़ी हैं।'

इस फेरमे उसने तुलनात्मक व्याकरण (अलग अलग बोलियोंके व्याकरणोंके मिलानका ढङ्ग) खोज निकाला। यद्यपि इस ढङ्गका काम तो रास्क भी पहले कर चुका था फिर भी जिस सच्ची लगनसे बौपने यह काम किया वैसा दूसरा कोई नही कर पाया।

जर्मनोंके विलहेल्म फौन हम्बोल्ट (१७६७-१८३५) ने अपने निराले ढङ्गसे बोलियोंकी परखकी लीक चलाई। वे मानते थे—"बोलीकी जाँच करते समय यह देखना चाहिए कि वह लगातार किस ढङ्गसे काममें लाई जाती रही है, क्योंकि बोलीकी इस दुहरान तिहरानसे ही उस बोलीकी ठीक-ठीक बनावट और उसमे होनेवाले हेर फेरका ठीक-ठीक ब्यौरा जाना जा सकता है क्योंकि बोली कोई खड़ी या ठहरी हुई वस्तु नहीं होती, वह तो चलती-ढलती हुई या बढ़ती-चलती हुई वस्तु है। लिखे

जाने भरसे ही वह बँध नहीं जाती। उसे बने रहनेके लिये बोला और समझा जाना चाहिए ही।" हम्बोल्टने बोलियोके दो साँचे देखे--एक पूरी बोली और दूसरी अधूरी। पर वे यह भी मानते हैं कि किसी बोलीको इसीलिये बुरा और अधूरा नहीं समझना चाहिए कि वह जगली लोगोकी बोली है। वे यह भी मानते हैं कि सब बोलियोमे कुछ ऐसा अलग अपनापन होता है जिससे हम उस बोलीके बोलनेवालोका पूरा ब्यौरा जान सकते हैं क्योकि उससे उन लोगोके मनकी चाल ठीक-ठीक पहचान ली जा सकती है।

इन महारथियोकी लीकपर के० एम्० रापने ध्वनियोकी देख-भाल, उनके मिलान और उनकी बनावटका ब्यौरा देकर उन्हें एक नये अनोखे ढङ्गसे इकट्ठा करके सजाया। हौलेण्डके जे० एच० ब्रेड्सडोर्फने इस बातकी छानबीन की कि बोलियाँ बदलती क्यो हैं ? कौनसी ऐसी बातें हैं जिन्होने सस्कृत, लातिन और फ्रेंचके बीच इतनी चौड़ी खाई ला खडी की है। आइगुस्ट श्लोइखेर—(१८२१-१८६८) ने भी इसी लीकपर बहुतसी बोलियोके मिलानका एक अपना ढङ्ग निकाला। इसके पीछे श्लोइखेरके साथी गेऑर्ग कुटियसने यूनानी बोलीकी बड़े अच्छे ढङ्गसे छानबीन की और उसके दूसरे साथी योहान निकोलाई माडविगने भाषाओकी छानबीनके लिये कुछ अपने नये ढङ्ग निकाले।

अभीतक जितना भी काम हुआ था वह ऐसा नहीं था जो सबकी समझमें आ सके। अतः सबसे पहले १८६१ मे जर्मन पण्डित मैक्सम्यूलरने अपने आप तो बहुत कुछ नहीं किया पर बोलियोकी छानबीनपर इतना कहा-सुना कि सबका ध्यान उधर गया और बहुतसे लोग इस काममें आ जुटे।

श्लोइखेरके पीछे अमेरिकाके विलियम ड्वाइट ह्विटनीने बोलियोंकी छानबीनका काम आगे बढाया। वह समझता था कि आपसी समझके लिये जब-जब मनुष्योको जैसा काम आ पड़ा वैसे-वैसे बोली बनती और बढ़ती चली गई।

इसके पीछे बहुतसी नई-नई खोजें हुई, बोलियोंमें अलग-अलग काम

आनेवाली ध्वनियोको ठीक-ठीक परख-समझकर उन्हे एक नये ढङ्गसे मिलान करके सजाया जाने लगा और यह समझा गया कि अब पुरानी कसौटीसे काम नहीं चलेगा। बोलियोकी जाँच करनेके लिये कुछ विद्वानोने नई कसौटियाँ बनाईं जिनमे जर्मनीके स्टाइन्थेल (१८२५-९९), कार्ल वर्नर (१८८०), ब्रूगमान, डेलब्रुक आस्टोफ, हरमान पाउल, वूँड्ट, हर्ट, लासकिन और स्क्रिप्चर; पेरिसके मेइए, वान्द्रियाज और दऊजा; अमरीकाके ब्लूमफील्ड, इङ्गलैण्डके डेनियल जोन्स और हौलेण्डके ओटो जेस्पर्सनके नाम मुख्य हैं।

भारतमे भी जिन लोगोने स्वतंत्र रूपसे बोलियोंकी छानबीनमे नाम कमाया है उनमे रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और सुनीतकुमार चाटुर्ज्या प्रमुख हैं। अनेक विश्वविद्यालयोके प्राध्यापकोने जो भाषाशास्त्रपर 'भाषाविज्ञान' के नामसे छोटी-मोटी पोथियाँ लिखी हैं वे सब योरोपीय लेखकोकी जूठन है। अभी आचार्य सीताराम चतुर्वेदीने 'भाषालोचन' नामक ग्रन्थमे भाषाशास्त्रपर नये ढङ्गसे विचार किया है।

मनुष्यका विकास

धरतीके तहोंकी छानबीन करनेवालोका कहना है कि यह धरती कम-से-कम दो अरब (२०००००००००) बरस पुरानी है। पहले यह भी सूरज जैसी गरम थी। धीरे-धीरे यह ठढी होती गई, सिकुड़ती गई, बादल, पानी और आँधीसे इसपर धुन्ध छाता गया और फिर धीरे-धीरे इसपर पेड-पौधे, जीव-जन्तु और मनुष्य दिखाई देने लगे। कमसे-कम डेढ करोड़ बरस पहले मनुष्यकी बनावट दूसरे जानवरोसे अलग दिखाई देने लगी होगी और साढ़े बारह लाख बरस पहलसे वह बड़े-बड़े हाथी जैसे जीवोसे जूझता चला आ रहा है। इधर चट्टानोके बीच पथराई हुई मानवीय खोपड़ियोंके सहारे माना जाने लगा है कि इस खोपड़ीवाला मनुष्य कम-से-कम साढ़े बारह लाख बरस पहले अवश्य रहा होगा। शिवालक पहाड़की खुदाईमे जो हड्डियोके ढाँचे मिले हैं उनसे भी यही जान पड़ता है कि लाखो बरस पहल यहाँ मनुष्य रहते रहे होगे।

जबसे मनुष्य अपना तन ढकनेके लिये पेड़ोकी छाल काममे लाने

लगा, सोचने-विचारने लगा, खोह छोडकर पत्थरोको एकपर-एक रखकर या पत्तोसे छाकर घर बनाने लगा, दो पत्थरोको एक दूसरेसे टकराकर आग जगाने लगा, अकेले रहनेकी बात छोडकर दो-चार-दसके साथ झुड बनाकर एक दूसरेके दुख-सुखमे साथ देने लगा, अपने खानेके लिये बीज बोकर अनाज उपजाने लगा, पत्थरोसे अनाज पीसकर आगपर पकाने लगा, अनाज रखनेके लिये बर्तन-भाँडे पकाने और बनाने लगा, तन ढकनेके लिये कपडा बनने लगा, अपना परिवार पालनेके लिये ढोर पालने लगा, खेतीके लिये हल, इधर-उधर आने-जानेके लिये गाडी और नाव बनाने लगा और अपने परिवारकी रखवालीके लिये हथियार सजाने लगा तबसे वह मनुष्य कुछ अपना-सा लगने लगा और तभीसे उसकी बोलीका इतिहास हमे जानना भी चाहिए क्योंकि तभीसे मनुष्यने भोजन और परिवारके लोगोका भेद और नाम समझानेवाले शब्द बनाए होगे और फिर अस्त्र-शस्त्र, खेती-बारी, ढोर-डगर, पेड-पौधे, नाव-गाडी, सगी-साथी और गाँव-समाज बनानेके लिये शब्द बटोरे या गढे होगे।

काले, पीले, गोरे और लाल रगोसे, ऊँचे, लम्बे, चौडे, ठिगने डीलोंसे और लम्बे, गोल, चौडे, चपटे मुँहकी बनावटसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि अलग-अलग देशोमे अलग-अलग ढङ्गसे मनुष्य उत्पन्न हुए और रहते चले आए।

हम देख रहे है कि रेगिस्तानमे, घने पहाडोमे, जंगलोंमें और हिम-ढके देशोमे मनुष्य कम रहते हैं। जहाँ उन्हे खाने-पीने-रहनेका अच्छा ठिकाना मिलता है, वहीं वे जाकर बसते हैं और बहुत बढ़ जानेपर भी उसीमें रहते चले आते हैं। मनुष्य सदा ऐसे ही ठिकानोकी खोजमें रहता चला आया है जहाँ उसे खाने-पीनेका पूरा सुपास हो, जहाँ वह फल-फूल और अनाज पाकर या उपजाकर अपना, अपने बच्चोका और अपने ढोरोंका पेट पाल सके। धरतीकी बनावट देखनेसे भी यह बात समझमे आ जाती है कि ऊँचे-ऊँचे ऊबड़-खाबड पथरीले पहाड, रेगिस्तान और ठंडे देशोंपर पानी और खेतीका डौल नहीं बैठता पर नदियोकी कछारोंमें और उनके बीचके

समथलमे ये झझटें नहीं होतीं। इसलिये जबसे मनुष्य सोच-समझकर हाथ-पैर चलाकर, ढोर पालकर, खेत जोत-बोकर, ठिकाना जमाकर रहने लगा तबसे वह नदियोकी कछारोमे ही अपनी बस्तियाँ और अपने खेत बनाता चला आ रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सब बातोमे आगे बढ़े हुए, अच्छी बस्तियोमे रहनेवाले सबसे पुराने सुलझे हुए लोग भारतकी नदियोकी कछारोमे ही रहते मिलते हैं।

नदियोके कछारोमे बसनेवालोने धरती छीली, अनाजकी बालियाँ उपजाई, बस्तियाँ बनाई, गाँव बसाए, घर खडे किए, गृहस्थी जोडी, गिनती सीखी, अपना, अपने बाल-बच्चोका, अपने गाँव या बस्तीका और टोलीका फैलाव और जमाव किया। उन्होने देखा कि पत्तोसे बढकर लकडी और लकडीसे बढकर पत्थर कडे होते हैं। इसीलिये वे पत्थरके या पत्थर और लकडीके मिले हुए या आधे पत्थर और आधे लकडीके घर बनाने लगे। जब वे मिट्टी पकाना सीख गए तब उन्होने बर्तन बनाए, ईंट पकाकर घर उठाना सीखा और चूने-बरीसे जोडकर वे बडी-बडी अटारियाँ खड़ी करने लगे। इन्हीं सबके सहारे हम मनुष्यकी बोलीका भी बहुत-सा ब्यौरा भली-भाँति पा रहे हैं।

२

बोलियोंकी उत्पत्ति

इधर जबसे बोलियोकी छानबीनका लग्गा लगा है तबसे न जाने कितने लोग इस बातपर अटकल लडा चुके हैं कि पहले-पहल मनुष्यने कैसे और क्या बोलना सीखा।

(१) ईश्वरने ही बोली दी : कुछ लोग मानते है कि बोलियाँ मनुष्यने नहीं बनाई, वे तो उसे सीधे ईश्वरसे मिली हैं। पर यदि ईश्वर ही बोलियाँ देता या बनाता तो सबकी बोली एक ही होती। इस सम्बन्धमे इतना ही मानना चाहिए कि हमे ईश्वरने बोली तो

नहीं दी, पर उसने हमारे गलेमे जितनी लोच भरी उतनी दूसरे जीवोके गलेमे नहीं भरी। इसी लोचके सहारे हम वीणा या सारंगीके तारोपर गूँजनेवाली मीड अपने गलेसे अलाप सकते हैं और न जाने कितने जीवोकी ध्वनियाँ अपने गलेसे निकाल सकते हैं। इन ध्वनियोमेसे बहुतसी तो हम बात-चीत और लिखने-पढ़नेके काममे लाते हैं और बहुतसीको बोल-चाल और लिखने-पढनेके काममे नहीं लाते, जैसे मुँहसे सीटी बजाना या गाय-बैल हाँकते हुए चटखारी देकर क्लै-क्लै करना। मनुष्यने बोली बनाकर इतना बडप्पन नहीं पाया है जितना गानेके स्वर गलेसे निकालकर, क्योकि गलेकी लोचकी जितनी बारीकी हम गानेमे पाते हैं उतनी बोलियोमे नहीं। इसी अर्थमे ईश्वरने बोलियाँ अवश्य दी हैं क्योकि यदि उसने हमारे गलेमे भी गधे या बन्दरकी काकली (स्वरकी डिबिया) लगा दी होती तो हम भी 'चीपो' या 'खो-खो' तो कर लेते पर न हम गा सकते और न इस ढङ्गसे बोल सकते। पर ईश्वरने सीधे कोई बोली बनाकर किसीको दे दी हो यह झूठ बात है।

(२) संकेतसे बोलियाँ निकलीं : कुछ लोगोका कहना है कि पहले मनुष्य सब कामोके लिये कुछ हाथ, पैर, उँगली चलाकर मनकी बात बताता रहा होगा जैसे पानी पीनेके लिये अपने मुँहपर हाथकी ओक बनाकर लोग अब भी सकेत करते हैं। फिर इन्हीं सकेतोके साथ ध्यान दिलानेके लिये ओ, ए, जैसी ध्वनियाँ बोलने लगा और इन्हींसे आगे चलकर भाषा बन गई। पर सकेत तो बोलीसे पहलेका या बोली न होनेपर या बोलनेके बदले मनकी बात कहनेका अधूरा सहारा है। अब भी गूँगे और गूँगेसे बात करनेवाले लोग हाथ पैर और देह हिला-चलाकर बात-चीत कर लेते हैं और उसके साथ आँ-ऊँ और गाँ-गूँ भी कर लेते हैं। इससे बोली निकलनेकी कोई बात ही नहीं उठती।

(३) अनुध्वनिसे बोलियाँ बनीं : कुछ लोग कहते हैं कि पहले मनुष्यने पशु-पक्षियोकी बोलियोका अनुकरण किया और उससे बोलनेकी बान बढ़ाई। फिर कौवेकी काँव-काँव और कुत्तेकी भौं-भौं सुनकर इन जीवोंकी

बोलियोंपर उनके नाम रक्खे गए और इसी ढङ्गपर शब्द बनाए गए। पर संसार-भरकी बोलियोंकी खोज करनेपर जान पड़ेगा कि सभी बोलियोंमें जीवोंकी बोलियोंसे मिलते-जुलते ऐसे शब्द गिने-चुने ही हैं। इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि जीवोंकी बोलियाँ सुन-सुनकर ही लोगोंने अपनी बोलियाँ बनाई। हाँ, जीवोंकी बोलियाँ सुनकर भी कुछ शब्द अवश्य बनाए गए, पर पूरी बोली ऐसे ही शब्दोंके सहारे बनी हो यह बात ठीक नहीं है। इस मतको लोग भौं भौंवाद, 'बाऊ-बाऊ' वाद (बाउ-बाउ थियरी) या अनुध्वनिवाद कहते हैं।

(४) मनकी बात कहनेकी चाहसे बोलियाँ निकलीं : कुछ लोग मानते हैं कि मनुष्यने पहल-पहल डर, चिढ, खीझ, घिन, डाह जैसे मनमें उठनेवाले भाव दिखानेके लिये ही मुँहसे बोला होगा, जैसे ओह, आह, हुश्, हाँ, हुँम्, पूह, छिः। यदि ससार भरकी सब बोलियोंका लेखा जुटाया जाय तो ऐसे आह-ऊहवाले शब्द भी बहुत कम निकलेंगे।

(५) खट-पट, ढम-ढमसे बोलियाँ बनीं (डिंगडैंगवाद) : कुछ लोगोंका कहना है कि बाँसोंकी खट-खट, सूखे पत्तोंकी चर्र-मर्र, पत्थरोंकी खट-खट जैसी ध्वनियाँ सुनकर मनुष्यने ढमढम, खटपट, चर्रमर्र, छलछल जैसे शब्द बना लिए पर जैसे जैसे बोलियाँ बढ़ती गईं वैसे-वैसे यह बान कम पड़ती गई। मैक्सम्यूलरने इसे डिंगडैंगवाद कहा है जिसे हम खटपटवाद या ढमढमवाद कह सकते हैं। पर सब बोलियोंमें ऐसे शब्द भी इने-गिने ही हैं।

(६) ये-हे-होसे बोलियाँ बनीं : कुछ लोगोंका कहना है कि जी-तोड़ काम करते समय मनुष्यकी साँस बड़े झोंकेसे चलने लगती है। इससे हमारे गलेकी भीतरी नसें ऐसी काँपने लगती है कि अपने-आप कुछ शब्द निकल पडते हैं जैसे धोबी कपडा पछाडते समय या पहलवान कसरत करते हुए मुँहसे हे, ये, आ, हो, करते हैं। इन्हींसे बोलियाँ निकल पड़ीं। इस मतको 'ये हे-होवाद' कहते हैं, जिसे हम 'साँस-घुनवाद' कह सकते हैं। पर इससे कहीं बढ़कर तो ऐसी ध्वनियाँ अनेक जीव बोलते रहे हैं पर वे आजतक कोई बोली नहीं बना पाए।

धातुओंसे बोली बनी : बहुतसे लोग मानते हैं कि संसारमें सबसे पहले मनुष्यने अचानक चार-पाँच सौ ऐसी ध्वनियाँ बना लीं जो धातु बनकर पीछे बहुतसे शब्द बनानेके काम आईं और फिर इन्हीं धातुओंसे भाषाका पहाड़ खड़ा कर लिया गया। सबसे पहले आचार्य हेजने यह बात कही और मैक्सम्यूलरने इसे आगे बढ़ाया। पर यह बात समझमें नहीं आती कि अचानक मनुष्यको पाँच-सात सौ ध्वनियोंका क्या काम आ पड़ा और वे ध्वनियाँ कैसे, कहाँसे, क्यों मनुष्यको मिल गईं। संसारकी बहुतसी बोलियोंमें धातुका कोई ठौर-ठिकाना नहीं। यह तो संस्कृत जैसी इनी-गिनी भाषाओंमें मिलती है। इसलिये यह पाँच-सात सौ धातुओंके अचानक फूट पड़नेकी बात भी कुछ समझमें नहीं आती।

(८) बेढंगी ध्वनियाँ बन-सँवरकर बोलियाँ बनीं, (विकासवाद) : जो लोग मानते हैं कि यह सारा संसार धीरे धीरे बना और एक-एक करके छोटेसे बड़े जीव, पेड़-पौधे इसमें निकल पड़े वे यही मानते हैं कि मनुष्यने पहले ऊटपटाँग, बेसिर-पैरकी ध्वनियाँ मुँहसे निकालकर सबके नाम रक्खे होंगे और ज्यों-ज्यों उसकी समझ बढ़ती गई त्यों-त्यों वह उन्हें सुधारता, सँवारता और माँजता गया। पर यह बात भी इसलिये नहीं जँचती कि उसने ऊटपटाँग नाम रक्खे क्यों होंगे। नाम रखनेकी बात तो तब आई होगी जब वह अपना जंगलीपन छोड़कर बहुत आगे बढ़ गया होगा और जब उसकी समझ ठोस और पक्की हो गई होगी। तब उसे अटकल-पच्चू नाम क्यों रखने पड़े। तब तो वह समझकर नाम रख सकता था और शब्द बना सकता था।

लोगोंने मिल-जुलकर बोलियाँ बना लीं : कुछ लोगोंका यह कहना है कि अपना काम-धाम बढ़ता देखकर बहुतसे लोग मिल-जुलकर काममें आनेवाली सब वस्तुओंके नाम रख लिए होंगे। पर जब वे कोई बोली जानते ही नहीं थे तब नाम रखनेकी बात और इकट्ठे होनेकी बात उन्होंने चलाई कैसे होगी।

सब बातोंके मेलसे बोलियाँ बनी (समन्वयवाद) : स्वीट जैसे कुछ लोग मानते है कि ऊपर जितने मत दिए गए हैं ये सब अपनेमे पूरे नहीं है। इनमेसे सबके मेलसे या जहाँ जैसा काम आ पडा, वहाँ उस ढगसे बोली बन गई। जो लोग समझते है कि बोलियाँ धीरे-धीरे बढीं वे मानते है कि पहली बोलीमे इतना दम नहीं था कि वह फुर्तीसे आगे बढ़ सके इसलिये उसमे तीन ढङ्गके शब्द होगे—

१ एक तो वे जो चिढ, घिन, टीस, खीझ या रीझसे हुँः, छिः, सी, आह, दुत्, वाह बनकर मुँहसे निकले होगे।

२ दूसरे वे जो खडखडाहट, फडफडाहट सुनकर खड़खड़, खटपट, फडफड बन गए और कुछ कौवे, कोयल और बिल्लीकी बोलीकी चलनपर कौंव-कौंव, कू कू और म्याऊँ-म्याऊँ बन गए।

३. तीसरे वे शब्द, जो किसी कामके साथ होनेवाली ध्वनिके साथ जुड़ जानेसे उसी अर्थमे काम आने लगे जैसे खानेके लिये खा-खा किया गया तो खाना बन गया, पानीके लिये ओठ मिलाकर पी-पी किया गया उससे 'पानी' या 'पीना' या 'पिब्' बना। इन्हीं तीनो ढंगोसे जितने शब्द बने उनमेसे कुछ तो काममे न आनेसे रगड-घिसकर जाते रहे, कुछके बदले नये शब्द काममें आते रहे और यो धीरे-धीरे बोली बनकर पूरी हो गई होगी।

अपने आप बोली निकली—हम ऊपर बता आए हैं कि मनुष्यके गलेमे कुछ ऐसी लोच और लचक ईश्वरने भर दी है कि वह अपने गलेसे न जाने कितने ढङ्गके जीवोकी बोलियाँ तो बोल ही सकता है साथ ही अपने स्वरको ऊँचा-नीचा करके, चढा-उतारकर गमक और मींड़ खींच सकता है, तान ले सकता है। अपने गलेकी इस लोचकी पहचान तो उसे पहले ही हो गई होगी इसलिये उसने सुनी-सुनाई ध्वनियोकी रीस करके अपने गलेमे उन्हे साधा होगा, माँजा होगा, फिर उन बहुत-सी ध्वनियोंको मिलाकर उसने नई-नई ध्वनियाँ बना ली होंगी। अपनी इस नई सूझकी उमंग और चावमे उसने इन नई-नई ध्वनियोको उलटे-

सीधे जोड-तोडकर नये-नये ऊटपटाँग शब्द गढ़ लिए होगे जैसा हम लोग आज भी करते हैं कि अपनी कन्या 'शीला' को प्यारसे पुकारते-पुकारते सिल्ली, सिल्लो, टिल्लो, मिल्लो तक पहुँचा देते हैं। अत बोलियाँ अपने आप बनी हैं। इसे हम अपने-आप उपज या स्वाभाविकोन्मेषवाद कह सकते हैं।

३

बोलियाँ बढ़ती और बदलती हैं।

मुँहसे बोली जानेवाली पर सबकी मानी हुई ध्वनियोके उस मेलको बोली या भाषा कहते है जो कहनेवालेके मनकी बात सुननेवालेको समझा पावे। सुननेवालेको कहनेवालेकी बात समझा देनेवाली उन ध्वनियोके मेलको ही बोली या भाषा कहते हैं जो मान ली गई है और जिसके साथ कभी-कभी सकेत भी काम आ जाता है। कोई बोली जन्मके साथ नहीं मिलती वह पास-पडोस और साथवालोसे सुन-सुनकर सीखी जाती है और कहनेवाला वैसे ही बोलता है जैसी सुननेवालेकी समझ होती है।

कुछ बोलियाँ व्याकरणमे बँध गई हैं, कुछ खुलकर बढती और बदलती जा रही हैं और ये बोलनेवालोके अयानपन और हडबडीसे बराबर सीधी होती जाती हैं।

बोली पूरी करनेके लिये सात बातें चाहिए—बोलनेवाला, कोई मनकी बात मुँह, सकेत सुननेवाला, उसके कान और सुननेवालेकी समझ।

आभ्यन्तर विकास: बोलियोकी छानबीन करनेवाले कहते हैं कि बोलियोमे कुछ हेर-फेर अपने आप होता चलता है जिसे भीतरी हेर-फेर (आभ्यन्तर विकास) कहते हैं। यह भीतरी हेर-हेर इतनी बातोसे माना गया है—(१) बोलनेमें आलस (प्रयत्न-लाघव, सौकर्य या मुख सुख), (२) प्रयोगातिशय या बोलते-बालते उसे घिसकर इतनी सीधी और चिकनी हो जाय कि फिर उसे और घिसना बचा न रहे, (३) किसी

ध्वनि या शब्दके किसी अर्थपर बहुत बल देनेसे (बल या स्वराघात), (४) लोगोंके बहुत पढ-लिख जाने और सूझ-बूझ बढ जानेसे (मानसिक संस्कार), (५) दुलार और खीझसे (भावातिरेक), (६) सुनकर भी ठीक-ठीक न बोल पा सकनेसे (अनुकरणकी अपूर्णता) ।

बोलनेमें आलस (प्रयत्न-लाघव, मुख-सुख, सौकर्य) : ये लोग कहते हैं कि हमे बोलनमें जैसे सुविधा हो, मुह, जीभ, ओठ गलेको कम चलाना-कँपाना पडे वैसे ही हम बोलने लगते हैं । पर यह बात नत्थू-बुद्धूके लिये ही लागू होती है, पडित और गुनी लोग तो तनकर जैसा ठीक हो वैसा बोलते है । यदि यह बात होती तो तमिल, तेलुगु, जर्मन या मुण्डाकी तीखी ध्वनियाँ अबतक सीधी न हो जातीं ।

लबे या दो मिले हुए शब्दोंको छोटा करके भी बोला जाता है । इसने घोडा-सवारको घुड़सवार बनाया, रेलवे स्टेशनको टेशन कहा, जगत्प्रकाशको प्रकाश कहकर पुकारने लगे, सेंट्रल हिन्दू स्कूलको हिन्दू स्कूल बनाकर रख दिया ।

कम बोलनेकी इस झोकमे बहुत ढङ्गोसे ध्वनियोमे हेरफेर हो जाता है जैसे—

(क) आपसी अदला-बदली [परस्पर विनिमय, मैटाथीसिस]

जिन शब्दोंमे स्, र् या ल आते हैं उनमे तथा औरोंमे भी ऐसी अदला-बदली हो जाती है । ऐसा घपला पहले तो अनपढ, गँवार लोग अनजानमे चलाते हैं पर जब वह बहुत चल पडता है तो सब लोग उसको अपना लेते हैं जैसे—लखनऊका नखलऊ, गदेलाका दगला, पहुँचानाका चहुँपाना, चाकूका काचू , पतीलाका तपीली, सरपटका रपसट, कनैरका करैन, नहानाका हनाना ।

कभी कभी एक-सी ध्वनियाँ जब पास-पास आ जाती हैं तब भी ऐसी अदला-बदली हो जाती है जैसे—'पक्की कुप्पी पक्के कूपपर पक्का' को पढेंगे 'पक्का पुक्का पके पूकपर पक्की' ।

(ख) छूट [ध्वनिनाश या अक्षरलोप, सिनकोपे या हैप्लोलौजी]

जब कभी एक-सी दो ध्वनियाँ पास-पास आ जाती हैं तो बोलचालके

झटकेमे एक ध्वनि या अक्षर अपने आप छूट जाता है जैसे बनारसीमे सुन्दरका सुन्नर या अंग्रेजीमे कपबार्डका कबर्ड (कुठला)।

(ग) मेल [समीकरण या एसिमिलेशन]

जब दो अगल-अलग ध्वनियाँ एक साथ मिलकर आती है तो बोलनेके झटकेमे उनमेसे कभी तो पहलेवाली ध्वनि रह जाती है (पुरोगामी होती है) जैसे पद्मका बँगलामे पद्दो, चक्रका चक्का, पक्कका पक्का, धन्यका धन्न, पुण्यका पुन्न, और कभी पीछेवाली ध्वनि रह जाती है (पश्चगामी होती है) जैसे—कलक्टरका कलट्टर, धर्मका धम्म, सर्वका सब्ब, गल्पका गप्प, सक्तुका सत्तू।

(घ) अनमेल (विषमीकरण या डिस्सिमिलेशन)

कभी-कभी पास-पासकी एक सी दो ध्वनियोको एक साथ बोलनेमें अड़चन होती है तो उनमे कुछ हेरफेर करके अनमिल ध्वनि अलग कर लेते हैं जैसे—प्रयोजनका परोजन, मुकुटका मउड और मौर।

(ङ) जोड (स्वरभक्ति या ऐनैप्टिक्सिस)

जब दो ध्वनियोसे मिला हुआ अक्षर बोलनेमे कुछ अटकाव जान पड़ता है तो उन मिली हुई ध्वनियोके बीचमे एक स्वर डालकर भी उसकी उलझन दूर कर देते हैं जैसे यत्नका जतन, कर्मका करम, वर्षका बरस, पंक्तिका पंगत। कभी-कभी ऐसी मिली हुई ध्वनियोके बीच ह, न या र व्यंजन भी आ जाते हैं जैसे पौसराका पहोसरा, सचका साँच, बड़ोदाका बड़ोदरा।

(च) पहले जोड़ (अग्रागम या प्रोथीसिस)

जब किसी शब्दका पहला अक्षर दो ध्वनियोसे मिलकर बनता है और उसे सीधे बोलनेमे अडचन होती है तो उसके पहले कोई स्वर लगा लेते हैं जैसे स्नानका असनान, स्थानका अस्थान, स्त्रीका इस्त्री; स्तुतिका अस्तुति स्थितिका इस्थिति। यो भी बोलनेमे जहाँ रुकावट जान पड़ती है वहाँ लोग अपने आप अनजाने ही उसे सीधा करते चलते हैं जैसे लैंटर्नको लालटेन, बौक्सका बकस, हौस्पिटलका अस्पताल, कौलेजका कालिज हो गया।

प्रयोगातिशय (बहुत काममें लाना) : वे कहते हैं कि बहुत काममे आनेसे भी बोलीमे यह सीधापन आ जाता है जैसे—मनुष्य का मानुस, दंडवत् का डंडौत, पाँवलागूँ का पालागन, और अग्नि का आगि, आग, अगिया हो गया।

बल : कभी-कभी किसी शब्दकी किसी ध्वनिको लंबा करके, खींचकर या उसे बहुत ऊँचा करके बोलते हैं तो वह अपने आस-पासकी ध्वनियोको ले बीतता है जैसे पच्छिमी उत्तरप्रदेशमे उतावलाको तावला और उठा लाओ का ठा लाओ कहते है। इनमेसे 'उ' उठ गया। कभी-कभी पीछेके अक्षरको लबा करके भी बोलते हैं जैसे कविको कवी और जीजीको जिज्जी कहते हैं।

सूझ-बूझ बढ़ जानेसे (मानसिक संस्कार) : कुछ लोग मानते है कि जो जातियाँ पढ़-लिखकर निखर-सँवरकर आगे बढ़ती चलती है उनकी बोलीमे उतना ही नयापन, सुहावनापन, कनमिठास (अतिमधुरता), चिकनाई (प्रवाह) और सुघरपन आता जाता है। जो लोग पिछड़े हुए होते है उनकी बोलीमे पुरानापन, छिछलापन, बेढगापन, कनफोडनपन, उलझाव और फूहडपन होता है। पर यह बात भी ठीक नहीं है। ऐसा होता तो अग्रेजी और जर्मन बोलियोके बहुतसे कनफोड उच्चारण सरल हो गए होते।

दुलार और खीझ (भावातिरेक) : कभी-कभी जब हम किसीका बहुत दुलार करने लगते हैं तब भी हम शब्द बदलते-बिगाड़ते हैं जैसे प्यारमे बचवा, ललन, लल्ला, या संजयको सजी, या जयशीलाको सिल्ली, सिल्लो कहना। जब हम किसीपर बिगड़ते हैं तब भी शब्द बिगड जाते हैं जैसे 'उस पंजबिएको बिना मारे न छोड़ूँगा।'

पर यह बात पढे-लिखोकी बोलीमे नहीं होती। रीझ और खीझमे भी वे अपनी बोलचालका ढंग ठीक बनाए रखते हैं।

अनुकरणकी अपूर्णता : कभी-कभी ठीक न बोल पानेसे भी भाषामे हेर-फेर हाता है जैसे क्राउरबकगजको लोग लटरभकगज कहते हैं।

इन सब बातोसे बोलीमे हेरफेर नहीं होता, न बोलियाँ बदलतीं है। इनसे तो कुछ शब्द बढते हैं, कुछ ध्वनियोमे हेरफेर और बढ़ाव-घटाव होता है, बनावटमे कुछ उलट-फेर हो जाता है, अर्थोमे अदला-बदली हो जाती है, बोली कुछ बढ जाती है, उसके शब्दोके भडारमेसे कुछ सूख या गल जाते है, कुछ नये आ पहुँचते है। हाँ इन बातोसे बोलियाँ बढ जाती हैं, उसमे नयापन आ मिलता है, उनके रङ्ग-ढङ्गमे कुछ चटक आती है।

बाह्य विकास : बोलियोका दूसरा विकास बाह्य माना जाता है जिसमे (१) शरीर भेद, (२) देश-भेद, (३) दूसरी सस्कृतकी छाप और (४) समाजकी स्थितिकी गिनती होती है।

देह अलग होनेसे बोली अलग होना (शरीर-भेद): कुछ लोग कहते हैं कि मुंहकी बनावट अलग-अलग होनेसे बोलियाँ बदल जाती हैं पर बोलियोका अर्थ गलसे निकलनेवाली ध्वनिकी मोटाई, पतलोपन घरघरापन या झोझरापन नहीं होता। बोली तो ध्वनियोके उस माने हुए मेलको कहते है जिसका अर्थ एक-सी बोली बोलनेवाले लोग समझते हो। 'मै जा रहा हूँ।' इस बातका चाहे कोई रोगी बडे धीरेसे कहे या कोई पहलवान स्वर चढाकर कहे पर उसका अर्थ एक ही होगा।

देश अलग होनेसे बोलीमें भेद (देश-भेद): कुछ लोग मानते हैं कि अलग-अलग देशोके पानी-बयारसे भी बोलियाँ बदलती हैं और इसीलिये दो देशोकी बोलियाँ अलग-अलग हो जाती हैं। पर यह बात ठीक नहीं है। काशीमे पाँच पीढीसे रहनेवाले मद्रासी लोग अभीतक ठेठ तमिल या तेलुगु बोलते है।

कुछ लोग मानते है कि उपजाऊ धरतीपर रहनेवालोको अपनी बोलियाँ सँवारने, माँजने और बढानेका बहुत समय मिलता है। ऊबड़-खाबड, धरतीवालोको समय नहीं मिल पाता, इसलिये उनकी बोली पिछड़ी रह जाती है।

संस्कृतिकी छाप : कुछ लोग मानते हैं कि रहन-सहन, पढाई-लिखाईमे आगे बढ़े हुए लोग पिछडे हुए लोगोपर झटसे अपना रंग चढा देते हैं। सस्थाएँ और बडे लोग भी बोलीमे नयापन ला देते हैं। ऐसे ही बढी-चढी दो जातियोमे जब मेल-जोल बढ़ जाता है तो उनकी बोलियोके भी मेल-जोल हो जाता है। पर यह बात भी ठीक नहीं है। दो जातियोके आपसी मेल-जालसे उनमे कुछ विचारोका या अपने-अपने सोचने-समझनेके ढगका लेन-देन हो जाता है और उसके साथ कुछ शब्द भी एक दूसरे ले लेते हैं पर बोलीकी बनावटपर इस मेल-जोलकी कोई छाँह नही पडती। चीनवालोसे हमारा कितना मेल रहा, यूनानवालोसे हमारा कितना गठ-बन्धन हुआ, उत्तर और दक्खिन भारतका आपसका कितना मेल रहा पर दोनोने एक दूसरेको सस्कृतकी बटियासे परखा समझा, आपसमे अपनी चलती बोलियोको नहीं सिखाया-समझाया।

समाजकी स्थिति : कुछ लोग कहते हैं कि शान्तिके दिनोमे समाज पूरी बोली बोलता है। लडाईके दिनोमे लोग हडबडीमे थोडा और झटपट बोलते है क्योकि पूरा बोलनेका समय नहीं रहता। पर यह सब भी झोल बात है। लडाईका प्रचार-साहित्य इस बातका ललकार कर कह रहा है कि यह झूठ है।

अलग या सजग रहनेवालोंकी बोलियाँ नहीं बढ़तीं या बदलतीं : बोलियोमे बढाव-फैलाव तभी आता है जब वे दूसरी-दूसरी जातियो या देशवालोसे अपना हेल-मेल बढावें। जो लोग एस्किमो या जगली जातियोके ढगसे सारे ससारसे अलग अपने नन्हेसे संसारमे घिरे-मुँदे रहते हैं उनकी बोली ज्योकी त्यो बँधी-घुटी-जकडी रहती है, आगे नहीं बढ पाती। इसी ढगसे जहाँ लोग अपनी बोली ठीक बनाए रखनेके लिये चौकन्ने रहते हैं, भूल होते ही टोक देते हैं (जैसे वेद-पाठवाले) या व्याकरणके फन्देमे ऐसा कस देते हैं कि वह टससे मस न हो (जैसे सस्कृतवाले) तब भी बोलीमे बढ़ाव-छँटाव नहीं होता। पर इसका यह

अर्थ नहीं कि वे सिमिट-सिकुडकर भोंडी बनी रह जाती हैं। वे खिलती हैं और अपनेमे ही नया नया सुहावनापन लेकर फलती-फूलती चलती हैं।

ज्योंके त्यों (तत्सम), बिगड़े हुए (तद्भव), सुधारे हुए, देशी (देशज), परदेशो और नए गढ़े हुए (नव-घटित) शब्दोंसे भाषा बढ़ती है : हम बता चुके है कि बालीके बढ़ावको बदलना नहीं कहत। यह बढाव ऐसा होता है कि (क) किसी बोलीका कोई शब्द ज्योका त्यो (तत्सम) चलाया जाय जैसे कृष्ण, (ख) चलनेमे आकर शब्द बिगड जाय जैसे कृष्णका कान्हा, (ग) बिगाडकर रक्खा हुआ नाम हा सुधार लिया जाय जैसे सेगाँवका सेवाग्राम, (घ) देशी चलते शब्द ले लिए जायँ जैसे छाछ, (ङ) विदेशी शब्द अपना लिए जायँ जैसे कोट, टिकट, बटन, (च) नये शब्द गढ़े जायँ जैसे बाईसिकिलके लिये द्विचक्री।

शब्दोंमें शक्ति भर देनेसे भी बोली बढ़ती चलती है : पर किसी भी बालीका सच्चा बढाव तव होता है जब अच्छे सुलझे हुए कवि, शब्दोमे नया जादू या कुछ सलोनापन भर कर रङ्ग-ढङ्गके मेलसे शब्दोके अर्थोंमे नयापन ला दे या एक ही बातको कई ढङ्गसे कहनेकी चलन निकाले। 'बयार चल रही है' वाक्यको इतने ढंगोसे कहना बोलीका खिलाव और बढाव ही है—(१) पवन घूमने निकल चला, (२) वृक्षोकी शाखाओपर पवन झूलने लगा, (३) फूलोंकी सुगन्ध पवन बाँटता फिरने लगा, (४) मलयका दूत आ पहुँचा, (५) तनमे फुरफुरी जागने लगी।

खुल, खिल, घिस, मिट, रुक, मिल, सुधर या बिगड़कर बोली अपना रङ्ग-ढङ्ग बदलती चलती है।

खुलना : विकास—ससार भरकी बोलियोकी परख करनेपर जान पड़ता है कि कुछ बालियाँ तो बराबर खुलकर बढती गई, जैसे प्राकृत भाषाएँ।

खिलना : विलास—कुछ बोलियाँ एक रूपमें ढली हानेपर भी अपनेमें बराबर नयापन लाती रहती हैं जैसे सस्कृत।

रुकना : विराम—कुछ बोलियाँ किसी नामी मनुष्य के नामपर चलती तो हैं पर उसकी आँख मुँदते ही वे बँधी पडी रह जाती हैं, जैसे पालि।

घिसना : ह्रास—कुछ बोलियाँ घिसते घिसते अपना ढाँचा बदल लेती हैं जैसे हिन्दी, जिसमे सस्कृतका 'कर्म', पालि और प्राकृतमे 'कम्म' होकर हिन्दीमे 'काम' हो गया। सस्कृत के 'रामः' रामौ, रामाः के तीन वचनोके बदले दो ही वचन रह गए।

मिटना : नाश—कुछ बोलियाँ खिलती तो बडे तपाकसे हैं पर अपने बोलनेवालोके साथ ही मर-मिटती हैं जैसे मिस्रकी पुरानी बोली।

बिगाड : विकार—कुछ बोलियाँ गँवार, उज्जड्ड, अपढ और नत्थू-बुद्धूके पल्ले पडकर बिगड़ जाती हैं जैसे कैंटनकी पिडगिन अंग्रेज़ी या उत्तरप्रदेशके पूर्वी गाँववालोकी हिन्दी, जो कहेगे—'तनी लोटवा उठा दीजिए, बिल्डिगिया अभी नहीं बनी है, हम उन्हे देखे रहे, हाथी जा रही है या बैसवाडीमे जैसे कोट और लोटा भी काट और ल्वाटा हो जाते हैं।

मिलावट मेल—कभी-कभी कई बोलियोके मेलसे बोली अपना रङ्ग-ढङ्ग बदल लेती है जैसे उत्तरप्रदेशका रहनेवाला भी बबईमे जाकर कहने लगता है—तुम कबी (कब) आया। एकवीकूँ पगार मिलनेका है, तबी खोलीका भाडा तुमकू देगा। उदर तुमारा ओरत पडेली है। [तुम कब आए ? पहलीको वतन मिलनेवाला है, तभी कोठरीका किराया तुम्हे दूँगा। उधर तुम्हारी स्त्री पडी है।]

सुधार सस्कार—कभी-कभी पढ़े लिखे लोग बोलीको बिगडी देखकर उसे अपने ढङ्गसे सुधार देते हैं जैसे एक कविने अपने गाँव डोमराँवका नाम द्रुमग्राम रख लिया। कभी-कभी जिन शब्दोसे चिढ़ होती है या जो फूहड लगते हैं उन्हे सुधार लिया जाता है जैसे काशीके डफरिन ब्रिजको बदलकर मालवीयपुल बना दिया, चिरकुटरामका नाम चिरंजीलाल रख दिया या लाहोर (ला+होर = और लानेवाला, अधिक लानेवाला, समृद्ध) को सुधारकर लवपुर कहने लगे।

ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ, सभीमें हेर-फेर होता है : बोलियोंमें इतना उलट फेर उनकी ध्वनि, शब्द, वाक्योकी बनावट

और अर्थ सभीमे होता है। एक ही देशमे, एकसे रहन-महन, करम-धरमवाले लोग पजाबमे कई प्रकारकी पजाबी, राजस्थानमे कई प्रकारकी राजस्थानी, गुजरातमे गुजराती, महाराष्ट्रमे मराठी, उत्तरप्रदेशमे ब्रज, अवधी और भोजपुरी, बिहारमे भोजपुरी, मगही और मैथिलीके साथ सथाली, उडीसामे उडिया, बगालमे कई प्रकारकी बँगला, आसाममे असमिया, हिमालयकी तराई और उसकी ढालपर न जाने कितने रङ्ग-ढङ्गकी पहाडी बोलियाँ बोलते है। आप योरपमे चले जाइए तो वहाँ आपको एक कैस्पियन सागरके चारो ओर उक्रानी (रूसी), काकेशी, आर्मीनी, तुर्की, बलगेरी और रूमानी बोलियाँ सुनाई पडेगी। स्पेनमे जाइए तो उसके पूरबमे समुद्रके किनारेकी पट्टीपर कतलान बोली जाती है, पच्छिमी समुद्रकी पट्टीपर पुर्त्तगाली और गलीकन और पूरब-उत्तरके कोनेपर फ्रास और स्पेनके बाडेपर बास्क बोली जाती है। अर्थात् एक देशमे भी बहुत पास-पास रहनेपर भी बोलियाँ बदली हुई है। उधर अफ्रीकामे आपको एक नई बात देखनेको मिलेगी कि धुर दक्खिनी अफ्रीकामे बन्तूका बोलबाला है। अफ्रीकामे पच्छिमसे लगभग पूरबतक सूदानी और गिनिया और उत्तरमे सेमेटिक-हेमेटिक बोलियाँ बोली जाती हैं। क्या बात है कि इतने बडे अफ्रीकामे कुल गिना-चुना पाँच छः बोलियाँ और यूरोपमे पचासों बोलियाँ। कभी आपने सोचा है ऐसा क्यो हुआ ?

समुद्र, पहाड, नदी और मरुभूमिके बीचमें पड़नेसे बोलियाँ अलग-अलग पनपी।

अभी सौ-दो-सौ बरससे ससारके सब देशोमे आपसमे मेल जोल, आना-जाना अधिक बढा है। इससे पहले भी एक देशके लोग दूसरेपर कभी-कभी धावा-चढाई करते रहे और व्यापारी लोग तो चीन, भारत, अरब, मिस्र, रोम सबको एक किए हुए थे, पर ऐसे लोग बहुत थोड़े होते थे जो अपने प्राण हथेलीपर लेकर जलसे या थलसे, पालवाली नावों या ऊँट-घोड़ोपर चलकर समुद्री डाकुओं, चोरो और बटमारोसे

लड़ते-भिडते एक देशका माल दूसरे देशमे लाते ले-जाते थे। इन्होने इतना तो किया कि एक देशके कुछ व्यापारमे आनेवाले शब्द दूसरे देशमे ला पहुँचाए। यो भी मैदानोकी घुमन्तू जातियोको छोडकर दूसरे लोग समुद्र, पहाड, नदी और रेतीले मैदानोको लाँघते-तक नहीं थे। वे अपने घेरेमे, अपने खाने-पीने-रहनेका सुपास बनाकर कुवेंके मेढक बने पडे रहते थे। इसीलिये हम देखते है कि जहाँ अफ्रीका जैसे लबे मैदान है वहाँ दूरतक एक बोली है, जहाँ बहुतसे नद, पहाड, समुद्र है वहाँ बोलियाँ भी बहुत है और एक घेरमे रहनेसे उतने घेरेकी बोली भी एक हो गई है चाहे वह घेरा छोटा हो या बडा।

बोलियाँ सब अलग-अलग हैं : बोलियोकी छानबीन करनेवाले लोग मानते है कि बोलियोके कुछ इने-गिने ठट्ठ, परिवार या टोलियाँ हैं जैसे हिन्द योरोपी[1] हेमिटी-सैमिटी, ऊराल-अल्ताई, चीन-तिब्बती, जापान-कोरियाई, द्राविडी, मलायवी-पोलिनेशियाई, सूडानी-गिनाई बन्तू, होतेनतोत-बुशमैनी, आस्ट्रेलियाई और पापुआ, अमरीकी-हिन्दियाई और एस्किमो मुडा-मोनख्मेर, बास्क, हाइपरबोरी, काकेशियाई, ऐनू। पर यह बात ठीक नहीं है। हिन्द-योरोपी बोलियोमे जो पिता माता, भ्राता, गौ जैसे नाम कुछ घिसे-रगडे रूपमे मिल जाते हैं उसीपर बोलियोकी छानबीन करनेवाले लोगोने अटकल लगाई कि ये सब एक ठट्ठके लोगोकी ही एक बोली रही होगी। सच पूछिए तो अलग-अलग देशोमे अलग-अलग बोलियाँ अपनेसे उपजीं पर उन सभीपर एक ऐसी बोली बोलनेवालोंका हाथ रहा जो उनसे बहुत समझदार, पढे लिखे, कामकाजी और सब बातोमे बढे चढे रहे हैं जिन्हे या तो और देशवालोने बुलाया या उन्होने औरोपर चढाई की या ससार भरका भला, सुखी,

---

१ हिन्द-योरोपी बोलीके परिवारका नाम कुछ लोगोने इन्डो योरोपीयके साँचेपर ढालते-ढालते 'भारोपीय' कर डाला पर यह शब्द अशुद्ध है। अंग्रेजीके इड और योरोपीय दोनो शब्द पूरे है, भारोपीयमे एक भी पूरा नहीं। यह भार और ओपीय क्या बला है?

समझदार और सुघर बनानेके लिये वे ही अलग-अलग देशोमे पहुँच गए। मनुस्मृतिका यह श्लोक यों ही नहीं लिख मारा गया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वे मानवाः॥

[इस देश (भारत) मे जन्म लेनेवाले ब्राह्मणोने धरतीपरके सब लोगोको अपनी चाल-ढाल सिखाई।]

इसपर हमे ध्यान देनेसे समझमे आ जायगा कि यहाँके लोग दूसरे देशोमे गए और उन्हे अपना रहन-सहन, चाल-ढाल सिखानेका जतन करते रहे। इस जतनमे वे लोग जहाँ-जहाँतक पहुँच पाए वहाँ-वहाँ घरेलू काम-काज और घर-गृहस्थीमे काम आनेवाले सब शब्द देते आए। इसलिये यह कहना भूल है कि एक बोली बोलनेवाले लोग ही फैलकर जहाँ-जहाँ जिस-जिस देशमे रहने लगे वहाँ-वहाँके पानी-बयारकी छायामे उनकी जीभने वैसा-वैसा रंग पकड लिया और एक ही बोलीसे बहुतसी कुछ-कुछ मिलती-जुलती बोलियाँ बन गई। सच्ची बात यह है कि नदी, पहाड, बालूपाट (मरुभूमि) और समुद्रमे घिरे एक-एक घेरेके रहनेवाले लोगोकी बोलियाँ पहलेसे ही अलग-अलग थीं, पर उनपर चढ़ाई करके उन्हे जीतनेवाले लोगोने या बाहरसे आकर उन्हे सिखाने-पढानेवाले लोगोने उन्हे कुछ शब्द दे दिए और कहीं-कहीं तो पूरे देशकी बोली बदल दी जैसे अमेरिकाके हबशियोकी बोली योरोपवालोने बदल दी। इसलिये जिन बोलियोमे आपसमे मिलते जुलते बहुतसे शब्द दिखाई-सुनाई पड़ते हैं उन्हे एक परिवारका माननेकी भूल नहीं करनी चाहिए, वे केवल एक बोली या भाषाकी धौंसमे कभी रह चुकी हैं। इसलिये एक-एक बोलीकी धौंससे बोलियोका एक-एक परिवार बना, एकसे सबका पसारा नहीं हुआ।

अभीतक तो सब यही मानते थे कि एशियाके बीच पामीरके पठारसे आर्य लोग जब ठढसे ऊबकर, बढकर इधर-उधर फैले तब अपने साथ अपनी बोलियाँ लेते गए और जहाँ-जहाँ बसे वहाँ-वहाँकी धरती, पानी और बयारसे बोलियोमे हेर-फेर हो गया। पर यह सब ठीक नहीं है।

कैस्पियन सागरके चारो ओर एक सी धरती-बयार होनेपर भी वहाँ कई बोलियाँ बोली जाती हैं और इसीलिये कि पहाडो और नदियोने उनके बीच भेद डाल दिया है। इसे हम दूसरे ढगसे भी समझा सकते है। आप हिन्दीमे कहते हैं 'रामका घोडा'। इसे उत्तर भारतके विभिन्न प्रदेशोमे इस प्रकार कहा जाता है—

सिन्धमे रामऽजो घोरो, पंजाबमे रामदा घोड़ा, राजस्थानमे रामरो घोड़ो, गुजरातमे रामनो घोडो, ब्रजमे रामको घोरो, बैसवाडीमे रामकै घ्वारा, भोजपुरीमे राम कऽ घोडा, बँगलामे रामेर अश्व, मराठीमे रामचा घोड़ा। इनमे राम और घोडा तो नाम हैं पर इनका आपसका मेल बतानेवाली ध्वनियोमेसे सिन्धीके 'जो'को छोड़कर दा, रो, नो, को, कै, कऽ, एर, चा क्या संस्कृतके 'स्य' के बिगड़े रूप हैं। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि ये सब बोलियाँ अपने-अपने घेरेमे अपने-अपने ढगसे बोली जाती रही हैं और उनकी बनावट भी अपनी अलग ही रही पर सस्कृत बोलनेवाले आर्योंने उनपर अपनी ऐसी धाक जमाई कि उन्होने सस्कृतसे न जाने कितने शब्द ले लिए, यहाँतक कि बँगलामे सस्कृतके अस्सीसे पचासी सैकड़ेतक शब्द भर गए और हिन्दीमे अब भरते जा रहे हैं पर मराठी और गुजराती अपना-अपनापन यहाँतक बनाए हुए हैं कि कुर्सी जैसा बहुत मुँहचढ़ा शब्द भी मराठी बोलीकी अपनी ढलनमे खुरची बन गया है और गुजरातमे घड़ी अब भी घडियाल बनी हुई है।

कभी-कभी किसी एकने या कइयोने मिल-जुलकर यह समझा कि जो बोलियाँ चल रही हैं वे ठीक नहीं, इन्हे बदला जाय जैसे जमेनाफने एस्पेरेंटो चलाई।

कभी-कभी कोई इतना बड़ा धाकड़ मनुष्य हो कि उसकी बातको लोग आँख मूँदकर मान लेते हो तो वह भी नई बोली बनाकर चला सकता है, जैसे गौतम बुद्धने संस्कृत-मागधीको मिलाकर पालि चला दी और गाँधीजी भी हिन्दी, उर्दू, फारसीका रलगड्डम करके हिन्दुस्तानी चलाना चाहते थे। पर ऐसी बनावटी बोलियोको कुछ लोग भले ही बोलते-लिखते रहे पर वे बहुत पनपती नहीं।

कुछ पढे-लिखे लोग अपनी नइ सूझ-बूझके बलपर भी कोई नइ बोली चना देते है जैसे जर्मनीमे श्लेयरने बोलाप्यूक बनाई, इतालियाके पेआनोने इंतरलिगुआ (या लातिनो सिने फ्लेक्सिओने) चलाई, जेस्पर्सनने नोवियाल बनाई और हौग्बेनने इन्तेरग्लौसा ढाली। पर ऐसी बोलियाँ भी बनकर रह गई, चल नहीं पाईं। हाँ, जब बहुतसे लाग अनजानमें किसी बोलाको बिगाडकर चलाने लगते हैं तब भी वह चल निकलती है जैसे कैटनमे 'पिडगिन' अंग्रेजी (चीनी अंग्रेजी), पर वह भी कुछ व्यापारियोके घेरेमे ही बँधी रह गई, उसका पसारा नहीं हो पाया।

जीतनेवाले, पढ़े-लिखे या बड़े लोग बोलियाँ बदल देते हैं।

अत. पानी-बयार या धरती बदलनेसे बोली नहीं बदलती। बोली तो तब बदलती है जब कोई जाति दूसरोको जीतकर वहाँ अपनी बाली चला दे या पढ़े-लिखे सुघर लोग अपने रहन-सहन और पढाई-लिखाईसे दूसरोपर धाक जमाकर उनकी बोली सँवार-सुधार या बदल दें या कोई बडा मनुष्य अपनी धाकसे नई बाली बना दे या कुछ लोग मिलकर सबके काममे आनेवाली बोलियोको मिला-जुलाकर एक नई बाला गढ़ दे। बोलियोके बदलते रहनेकी बस इतनी कहानी है। ये जो थाड़े-बहुत शब्द इधर-उधरसे आते-जाते, चलते-मिटते रहते हैं इनसे कोई बोला बदलती नहीं, इनसे ता बाली मोटी होता है और नई रगत पकड़ती चलता है।

अब आप समझ गए होगे कि—

१—बहुतसे लाग यह मानते हैं कि शब्दोको बहुत काममें लानेसे, किसी ध्वनिपर बल देनेसे, रीझने-खीझनेसे, बालनेकी सुविधा ढूँढ़नेसे, मनकी चाल बदलते रहनेसे, ठीक-ठीक सुन न पानेसे, धरती-पानी बयार, रहन-सहन, संस्था, बडे लोग, जातियोके मेल और बालनेके ढंगमे अलगाव होनेसे बोलियाँ बदलती हैं। पर हम यह सब नहीं मानते क्योकि—

२—सबसे अलग रहनेवाले और बोलचालमे चौकन्ने रहनेवाले लोगोकी बोलियाँ नहीं बदलती।

३—किसी बोलीके ज्योंके-त्यों शब्द काममे लानेसे बिगडे हुए शब्दोको चलानेसे, देसी-परदेसी या नए गढ़े हुए शब्दोके मेलसे भाषा बढ़ती चलती है।

४—शब्दोमें नए अर्थोंका बलभर देनेसे भी बोली बढती और खिलती चलती है।

५—समुद्र, पहाड, नदी और रेतीले मैदानोमे अलग-अलग बसनेवाले लोगोकी बोलियाँ अलग अलग रहीं और बोलियाँ सब अलग-अलग ही हैं।

६—किसी एक बोलीकी धाकसे दूसरी बोलियोके शब्दोमे हेर-फेर हुआ पर उनका निकास एक बोलीसे नहीं हुआ।

७—जीतनेवालोने, बडे लोगोंने और अच्छे पढे-लिखे पडितोने बोलियोंमें हेरफेर भी किया है और नई बोलियाँ भी चलाई।

४

भाषा, विभाषा और बोलीका झमेला

आप ध्यान लगाकर अपनी एक दिनकी बोलीका छानबीन करें तो आपको जान पडेगा कि आप दिन भरमे न जाने कितने ढगकी बोलियाँ बोल लेते हैं। आप जिससे बात करते हैं उसीकी ढलनपर आपकी बोली ढलती चली जाती है।

भाषा, विभाषा और बोली : लोग किसी भी बोलीके तीन साँचे मानते है—भाषा, विभाषा और बोली। पर भाषा और बोलीमें क्या भेद हुआ? भाषा संस्कृतका शब्द है, बोली उसका अर्थ है, उल्था है, भाषाका देसी नाम है। यह तो ऐसा ही हुआ कि बादल तीन ढंगके होते हैं—एक मेघ, दूसरा जलधर, तीसरा बादल। इसलिये यह भेद ठीक नहीं है।

भाषा : इन लोगोका कहना है कि बोलियोके जो ठट्ठ या परिवार बाँधे गए हैं उनमेसे एक-एक ठट्ठ या परिवारमे कुछ भाषाओके घेरे होते हैं।

एक-एक भाषाके घेरेमे आपसमे बहुतसी मिलती-जुलती भाषाएँ होती हैं। इन भाषाओमेसे एक-एक भाषाकी बहुतसी एक-दूसरीसे मिलती-जुलती (सजातीय) विभाषाएँ होती हैं, और फिर एक-एक विभाषाकी बहुतसी बोलियाँ होती हैं।

बोली : ये लोग बोलचालके उस ढगको बोली कहते हैं जो हम अपने घरमे बिना मिलावट, बनावट, आदर या सजावटके बोलते हैं या बिना किसी ढोग या दिखावटके अपने साथियो, नौकरों या बहुत मेल-जोलके लोगोसे बोलते हैं। इसे अंग्रेजीमे लोग पटवा (पेटवा नहीं) कहते हैं।[१]

विभाषा : विभाषाका घेरा बोलीके घेरेसे बडा होता है। धरतीके एक बडे घेरेमे (प्रान्त या उपप्रान्तमे) बोलचाल और पोथी लिखनेके काममे आनेवाली भाषाको विभाषा कहते हैं। इसे अंग्रेजीमे डायलेक्ट कहते हैं। हिन्दीके कुछ लेखक इस विभाषाका उपभाषा, बोली या प्रान्तीय भाषा भी कहते हैं।

राष्ट्रीय भाषा या टकसाली भाषा : अलग-अलग अपने-अपने प्रदेश, प्रान्त या राज्यमे अपनी-अपनी विभाषाको काममे लानेवाले लोगोमेसे पढ़े लिखे लोग जब आपसकी लिखा-पढी, चिट्ठी पत्री, काम-काजके लिये किसी एक विभाषाको अपना लेते हैं तब वही भाषा [राष्ट्रीय भाषा या टकसाली भाषा या लैंग्वेज या कोइने भाषा] कहलाने लगती है। यह भाषा पढ़े-लिखे लोगोके हाथमे पडकर इतनी पक्की होकर मंज जाती है कि यह विभाषाओपर भी अपना रंग चढाने लगती है और कभी-कभी तो किसी एक विभाषाको पूरा डकार जाती है। विभाषाएँ भी अपनी इस रानी भाषाका भंडार भरती रहती है और जब किसी हलचल या उथलपुथलसे भाषाकी कडियाँ बिखरने लगती हैं तब विभाषाएँ अपने-

---

१. 'पटवा' शब्द फूहड़ (ग्राम्य तथा अश्लील) या किसी एक छोटेसे घेरे (प्रदेश) में काम आनेवाली बोलीको कहते हैं। अंग्रेजीमें इसे 'वल्गर एंड प्रोविंशयल डायलेक्ट' कहा है जैसे—'चलकर भोजन कर लीजिये' को मेरठकी ग्राम्य भाषामें कहेगे 'चलकऽ हूर क्यूँ नी लेत्ता।' यह पटवा है।

अपने घेरेमे फिर अपनापन लेकर उठ खडी होती हैं। अपने घेरे (प्रान्त)-मे विभाषाका पूरा राज होता है पर भाषा तो दूसरोके बनाए तभी बनती और बड़प्पन पाती है जब १ कोई राजा उसे गद्दीपर बैठा दे या २ लोग मिलकर उसे तिलक दे दें या ३ लिखने-पढ़नेवाले उसे सिर चढा लें या ४ कोई नया धर्म चलानेवाले लोग उसे अपने काममे लाने लगें।

भाषा, विभाषा और बोली : इनका कहना यह है कि एक ठौरपर आपसमे घरेलू और आपसी ढगसे बोलचालमे काम आनेवाली बोलीको बोली, एक प्रान्त या प्रदेश बोली जानेवालीको विभाषा और राज-काजकी या पढ़े-लिखे लोगोके बीच लिखा-पढीकी बोलीको भाषा कहना ठीक होगा। इस कसौटीसे हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती तो भाषाएँ हैं, अवधी, ब्रज, भोजपुरी और राजस्थानी विभाषाएँ हैं, बनारसी और बैसवाडी बोलियाँ हैं।

भाषा और बोली : कुछ लोगोका कहना है कि बहुतसे गाँव मिलकर जो एक सी बोली बोलते हैं, उसे बोली कहते हैं और इन सब अलग-अलग बोली बोलनेवालोमे पढ़े-लिखे लोग आपसकी चिट्ठी-पत्री और लिखा-पढीमे जो बोलते-लिखते है उसे भाषा कहते है।

इन लोगोका कहना है कि जब एक दूसरीसे मिलती-जुलती बोलियोमेसे कोई बोली इतनी चलने लगे कि राजकाज, चिट्ठी-पत्री, लिखा-पढ़ी, कथा-कहानी और पढ़े लिखे लोगोकी बोलचाल उसीमे होने लगे तो वह भाषा बन जाती है।

ये लोग मानते हैं कि कोई बोली तब भाषा बन जाती है जब—

१. वह राजदरबारकी, राजधानीकी और राजकाजकी बोली हो जाय, २. उस बोलीमे बहुत-सी पोथियाँ लिखी जाने लगें, ३. उस बोलीके बोलनेवाले लोग दूसरोपर अपना राज जमा लें, और ४ पुरोहित लोग उस बोलीको काममे लाते हो जैसे रोमके पादरियोने इतालवी बोलीको भाषा बना दिया।

भाषा और बोलीमें भेद : इन लोगोने भाषा और बोलीमे चार

भेद बताए हैं—

१. बोलीका घेरा छोटा होता है, भाषाका बडा।

२. एक भाषाके घेरेमे बहुत-सी बोलियाँ आ सकती हैं पर एक बोलीके घेरेमे कई भाषाएँ नहीं आतीं।

३. एक भाषाकी दो बोलियाँ बोलनेवाले आपसमे एक दूसरेको समझ लेते हैं पर एक भाषा जाननेवाला दूसरी भाषाको कठिनाईसे समझ पाता है।

४. कोई बोली बहुत बढ़कर भाषा भी बन जाती है जैसे ब्रज भाषा कभी रही, पर भाषा बढ़कर भाषा ही रह जाती है, वह घटकर बोली नहीं बन सकती।

सबकी बोली [प्रामाणिक या स्टैंडर्ड भाषा] : जब कई बोलियाँ बोलनेवाले मिलकर आपसकी लिखा-पढ़ी, चिट्ठी-पत्री, कथा-कीर्त्तनके लिए कोई एक बोली अपना लेते हैं तब वह सबकी बोली [प्रामाणिक या उदात्त भाषा] बन जाती है। इस सबकी बोलीको बनाने-सँवारनेमे पोथी लिखनेवालोका बडा हाथ रहता है। ये लोग जैसी बानी गढते चलते हैं वह लोगोकी जीभपर चढकर एक कानसे दूसरे कानेन जा-जाकर सधती चलती है।

सबकी बोली या भाषा : कभी कभी राज चलानेवाले भी अपने राजको कुछ प्रान्तो, राज्यो या प्रदेशोमे बाँट देते है और एक-एक प्रदेशके राजकाजके लिये वहाँकी बोली अपना लेते है। बस इतने चकके लिये वही सबकी बोली या भाषा बन जाती है। ऐसी भाषाएँ अपने-अपने घेरेमे बँधी रहती हैं और जैसे-जैसे ये घेरे छोटे-बड़े होते रहते हैं वैसे-वैसे उस भाषाका घेरा भी छोटा-बडा होता रहता है।

कभी-कभी किसी भाषाके बोलनेवाले जब किसी राजाकी चढ़ाई, भूकम्प, भुखमरी, बाढ़, लूट-पाट, मार-काट-जैसी उथल-पुथलोंमें इधर-उधर भटककर जा पडते हैं तो उनकी भाषा भी बिखर जाती है जैसे पाकिस्तान बननेपर सिन्धी भाषा बिखर गई। जो सिन्धी जिस भाषाके घेरेमें पहुँचा उसने उस भाषाको अपना लिया।

जब कोई भाषा सबकी बोली बन जाती है तब वह अपने चारों ओरकी छोटी-मोटी बोलियोको अपनेमे समा लेती है क्योकि उन छोटी-मोटी बोलीवालोको यह लोभ होने लगता है कि हम भी दूसरोसे अच्छे, पढ़े-लिखे और सुघर समझे जायँ। इसलिये वे लोग अपनी घरकी बोली छोड़कर भाषामे ही कामकाज करने और बोलने-चालने लगते हैं। हाँ, इतना तो होता है कि ये नये मुँडे हुए चेले भाषापर अपनी बोलीका रग चढाए रहते है जैसे मेरठवाला 'पानी गिरा दो' को कहेगा—'पानी गेर दो'। यह अपनेपनकी छाप लग ही जायगी।

भाषा या सबकी बोली बहुत बोल-चालमे आनेसे अपना पुरानापन बनाए रखती है और जितने ही बड़े घेरेमे वह बरती जाती है उतना ही उसका पुरानापन बना रहता है। जब कोई भाषा, लिखनेवालोके हाथमे पडकर अपनी बनावट और गढन ठीक कर लेती है तब उसमे बहुत हेरफेर नहीं होता और वह अपना पुरानापन बनाए रखती है। हाँ, इतनी बात होती रहती है कि जब-तब लिखने-बोलनेवाले अपने-अपने समयकी छाप भी डालते रहते हैं जैसे 'जावैगा, जाएगा और जायेगा' के बदले अब 'जायगा' चलने लगा। कभी-कभी किसी भाषाके बोलनेवाले इतने चौकन्ने और सचेत रहे हैं कि उन्होने अपनी भाषाकी गढ़न और बनावट ठीक रखनेके लिये ऐसे गुर बनाए, जुगत निकाली और उन्हें एक गलेसे दूसरे गलेमे ऐसा ढाला कि सैकडो सदियोमे भी वह आजतक ज्योकी त्यो बिना बिगड़े बनी चली आई है जैसे वेदकी संस्कृत।

विशिष्ट भाषा—हम लोगोमे पढे-लिखो, गाँववालों और हाट-बाटके लोगोकी बोलियोसे अलग उन लोगोकी बोली भी बन जाती है जो किसी एक धन्धेमें लगे रहते हैं जैसे—जनेऊ-ब्याह करनेवाले पडितोकी, वकीलोकी, पडोकी, व्यापारियोकी या रेलवालोकी बोली, जैसे—(अ) यज्ञोपवीत संस्कारके लिये सस्कार-पद्धतिकी पोथी, पचवल्लव, धूप-दीप-नैवेद्य, कलश, रोरी-नारा, दक्षिणा, ऋतुफल, पंचगव्य, पलाशदड, मृगछाला आदिका प्रबन्ध कर लेना। [पंडितोंकी भाषा]

(आ) मुहर्रिरसे जवाबदावा लिखवाकर उसपर स्टाम्प लगवा लीजिए और अपने पैरोकारसे कह दीजिए कि गवाहानको तलब करानेके लिये सम्मन निकलवाए क्योकि फरीक अव्वलने अर्जीदावेमे जो जुर्म लगाए हैं उनकी सफाईके लिये पुख्ता बयान होने चाहिएँ। [वकीलोकी बोली]

(इ) माझी ठिलल हौ, हत्थूकऽ डौल है। (यजमान फँसा है, पाँच रुपयेकी आशा है।) [काशीके पडोकी बोली]

(ई) पाँचपर सौदा हो गया है। अधन्नी बट्टेपर माल निकाल दिया। बाडीका चलान आनेपर दुअन्नी रुपयेकी बचत है, उसमे जो मिल जाय। कच्ची बही, रोकड बही और खाता मुनीमजीसे मिलवा लो, जो दो-चार पाई न मिले उसे बट्टे खाते डाल दो। [व्यापारियोकी बोली]

(उ) टू डाउनका लैन क्लीअर हो गया है। गोला तैयार है। पैंटमैनसे कहो सिगल दे दे। ब्रेकके चारो अदद अलग करो। [रेलवालोकी बोली]

(ऊ) सन्डेके एअर-मेलसे जो मैने अपने फौरेन् फ्रेन्ड्ससे लैटर्स रिसीव किए हैं उनके कन्टेन्ट्सको केअरफुली स्टडी करके मैने यह कन्क्ल्यूज़न ड्रौ किया है कि काश्मीर प्रौब्लम अब इन्टरनैशनल लैविलपर ही सैटिल हो सकेगा। [अंग्रेजी पढे-लिखोकी बोली]

अलग-अलग काम-धन्धोमे काम आनेवाले शब्दोकी भरतसे भाषामे एक अपना निरालापन (विशिष्टत्व) भले ही जान पडता हो पर उससे बोलीके ढाँचेमे कोई हेर-फेर नहीं होता।

विकृत बोली [बिगाड़ी हुई]—कभी-कभी लोग जान-बूझकर हँसी-ठट्ठेमे कुछ शब्द तोड-मरोडकर चला देते हैं जैसे—खटोलेको खटोलना, नाकको नकिया, बडी पगडीको पग्गड, पैरोको चरनदास जोड़ या खुर कहने लगते हैं।

रहस्यात्मक प्रभाव [भेदभरी बनावट]—अपनेसे बडोका आदर दिखानेके लिये और कभी-कभी अपने बडप्पन या छोटेपनको अलग रखनेके लिये भी बोलीमे कुछ भेद पड जाता है जैसे 'करीव' नामके

जंगली लोगोमे पुरुषोकी बोली अलग और स्त्रियोकी अलग होती है; जावाके बडे लोग 'ङ्गोको' बोलते है और छोटे लोग 'क्रोमो'।

कुछ लोगोने मूल भाषा, बोली, राष्ट्रभाषा, आदर्श-भाषा, विशिष्ट भाषा और कृत्रिम भाषाके नामसे बोलीके बहुतसे रूप गिनाए हैं।

मूलभाषा—वे मानते है कि सब बोलियोकी एक मूल भाषा या सबसे पहली बोली रही। उसके बोलनेवाले जब खानेपीनेकी कमीसे और बहुत बढ़ जानेसे ऊब चले तो वे इधर-उधर फैलने लगे और जहाँ-जहाँ वे पहुँचे वहाँके पानी-बयारने उनकी बोलियोमे हेर-फेर कर दिया।

बोली [डायलेक्ट या उपभाषा]—बोली या उपभाषा उस छोटे घेरेकी बोलीको कहा जाता है जिसके बोलनेवालोके बोलनेका ढंग एक-सा हो और जिसमे शब्दो और वाक्योकी बनावट, काममे आनेवाले शब्दोका भडार और शब्दोके अर्थोमे कोई अलगाव न दिखाई देता हो।

राष्ट्रभाषा—जब कोई बोली बढ़ते-बढते राजकाजके काममे भी आने लगती है, यहाँतक कि एक देशके उन घेरो (प्रदेशो) मे भी राज-काजमे काम आने लगती है जहाँ दूसरी बोलियाँ बोली जाती है, तब वह राष्ट्रभाषा बन जाती है जैसे 'हिन्दी' आज राष्ट्रभाषा हो गई।

आदर्श [स्टैंडर्ड] भाषा—अलग अलग बोलियाँ बोलनेवाले लोग आपसकी लिखा पढी, चिट्ठी पत्री, काम-काजके लिये जो बोली अपना लेते है वह आदर्श भाषा हो जाती है जैसे—राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी बोलियाँ बोलनेवालोने नागरीको आदर्श भाषा मान लिया है।

विशिष्ट भाषा—अलग-अलग काम-धन्धे करनेवालोकी एक अपनी बोली अलग बन जाती है जिसे विशिष्ट भाषा कहते हैं जैसे ऊपर समझाई हुई कचहरी वालोकी, व्यापारियोकी, पडितो आदिकी बोली।

कृत्रिम भाषा या गुप्तभाषा [चोर-बोली]—चोर, डाकू, या राजकाजी लोग अपनी बातको सबकी समझसे दूर रखनेके लिये या खेलवाड़मे लोग अपनी अलग बनावटी बोली बना लेते हैं वह कृत्रिम या

बनावटी बोली कहलाती है, जैसे काशीके पडोकी बोली—'रवा बरी कऽ बरँगा बिलौले आवऽ।' [एक अधेलेका पान लगवाते आओ।]

सार्वभौम [संसारकी भाषा]—कभी-कभी सबके काममे आनेवाली एक पूरीकी पूरी बनावटी बोली बना ली जाती है, जैसे डाक्टर ज़मेनाफने एस्पेरेंटो या श्लेयरने वौलाप्यूक बना ली।

राष्ट्रभाषा : राष्ट्रभाषा भी कोई भेद नहीं है। वह तो बोलीके साँचेका ही एक ऐसा रूप है जिसे राजकाजके लिये राजभरके लोग अपना लेते हैं। हाँ, जब यह बताना पडे कि कोई बोली कितने ढंगसे काम आती है, तब आप कह सकते हैं कि वह राष्ट्रभाषा बनकर राजकाजके काम भी आ सकती है।

भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रके अट्ठारहवें अध्यायमे भाषाके चार रूप बताए हैं—१. अतिभाषा : देवताओकी भाषा। २ आर्यभाषा . पढ़े-लिखे लोगोंकी या राजकाजकी वह बोली जो चिट्ठी-पत्री और राजकाजमे काम आती हो, मँजी हुई हो और मुहावरेवाली हो। ३. जातिभाषा : वह बोली, जो एक जातिके एक घेरे (प्रदेश) के या एकसा काम-धन्धा करनेवाले लोग आपसमे बोलते हो।

इस जातिभाषाके भी दो साँचे होते हैं—(क) म्लेच्छशब्दोपचारी : वह बोलचालकी बोली, जिसमे बाहरकी म्लेच्छ जातियोके शब्द भी मिले हो। (ख) भारतीय : भारतके भीतर अलग-अलग प्रदेशोमे बोली जानेवाली वे बोलियाँ जिनमे बाहरी शब्दोका मेल न हो।

इसीके साथ उन्होने इन सात बोलियोके नाम गिनाकर उन्हे भाषा बताया है—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीका (बलखकी बोली) और दाक्षिणात्या। निरे जंगलियोकी बोलीको उन्होने विभाषा (बिगडी हुई, पराई बोली) बताया है अर्थात् बोलियोंकी छानबीन करनेवाले लोग जिसे भाषा कह रहे है उन्हे भरतने आर्यभाषा बताया है, जिन्हे ये लोग विभाषा, उपभाषा या बोली (डायलेक्ट) कहते हैं उन्हे भरतने भाषा कहकर गिनाया है और जंगली

बोलियोको विभाषा बताया है। आर्यभाषासे अलग बोलियोंको उन्होने जातिभाषा बताया है।

बोलीके दो साँचे : संसारकी किसी बोलीके घेरेको परखिए तो उस बोलीके दो साँचे दिखाई पड़ेंगे—१ बडी बस्तियोमे रहनेवालोकी बोली और २ उन अपढ़ और गाँवोमे रहनेवालोकी बोली जो बड़ी बस्तियोमें भी लेन-देन, कीन बेंचके लिये आते-जाते रहते हैं। बडी बस्तियोमे रहनेवाले लोगोकी बोली अच्छी मँजी हुई और बोल- चालके बहुतसे सुहावने लटकोसे भरी रहती है। गाँववालोकी बोली ऊबड़-खाबड, एक रगकी और बिना किसी बनावट-सजावटकी होती है।

१ बस्तीमे रहनेवालोकी बोलीको शिष्ट-भाषा या पौर-भाषा कह सकते है जो कभी देश भरकी (जैसे हिन्दी), कभी महाद्वीपकी (जैसे फ्रांसीसी) और कभी संसारके बहुतसे देशोकी बोली भी कभी बन सकती है पर उसके राष्ट्रभाषा, महाद्वीप-भाषा या विश्व-भाषा बननेसे उसकी गढ़न, बनावट, रूप या साँचेमे भेद नहीं आ जाता है। यह तो उसके काममे लानेवालोके घेरेका ब्यौरा भर है। यही बोली जब लिखने-पढ़नेके काममे आकर इतनी मँज जाती है कि राजाकी ओरसे या देश भरके लोगोकी ओरसे उसका एक साँचा लिखने-पढनेके लिये अपना लिया जाता है तब वही टकसाली, आदर्श या सबकी बोली (स्टैंडर्ड भाषा) कहलाने लगती है जैसे 'किंग्स इंगलिश।'

२ गाँववालो या अपढ़ोकी बोलीको जानपद भाषा कह सकते है।

तो बोलीके दो ही साँचे हुए—१ भले लोगोकी शिष्टभाषा या पौरभाषा और २ गाँववालोकी या अपढ़ लोगोकी लोकभाषा या जानपद भाषा।

जंगली बोलियोंमें ये भेद नहीं होते—ये सब भेद संसारकी बहुत आगे बढी हुई बोलियोमे ही होते हैं। जंगली बोलियाँ तो बहुतायतसे ऐसी ही है जिनमे या तो एक ही साँचा होता है या कभी कभी दो हो जाते हैं जैसे 'करीब' नामकी जंगली लोगोमे नर तो 'करीब' बोली बोलते है और

नारियाँ 'अरोबक' बोली, [हो सकता है कि नारियाँ किसी दूसरे देश या जत्थेकी रही हो और वे अपनी बोली अभीतक चलाए जा रही हो।] या जैसे जावामें पढे-लिखे बडे लोग 'ङ्गोको' बोलते है और अनपढ छोटे लोग 'क्रोमो'।

तब ब्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी, राजस्थानी, पजाबीका हम नागरी (खडी बोली हिन्दी) से क्या नाता मानें। ऊपरके ब्यौरेसे ही समझमे आ जायगा कि जैसे बॅगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम् अलग-अलग बोलियाँ है, वैसे ही ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी और नागरी भी अलग-अलग बोलियाँ हैं और इन सबमे अपनी-अपनी शिष्टभाषा या पौरभाषा (पढे-लिखे और भले लोगो या बडी बस्तीमे रहनेवालोकी बोली) और लोकभाषा या जानपद भाषा (सबके बोलचालकी या गाँववालोकी बोली) होती है। ये सब बोलियाँ आपसमे सखी या सहेली ही है, बहन नहीं है।

अब आप समझ गए होगे कि—

१. भाषा, विभाषा, बोली, प्रामाणिक भाषा (स्टैण्डर्ड भाषा), विशिष्ट-भाषा, विकृत भाषा, राष्ट्रभाषा, किसी बोलीके भेद नहीं होते।

२ किसी भी बोलीके दो भेद होते हैं हैं (१) नगरके लोगोकी (शिष्ट या पौरभाषा) और (२) गॉववालोके बोलचालकी (लोकभाषा या जानपद भाषा)।

५

बोली कैसे बनती है ?

हम जो कुछ भी बोलते है उसमे तीन ढगके शब्द आते है।—

१ जीवका, वस्तुका, स्थानका, भावका नाम बतानेवाले (संज्ञा) जैसे, राम, पोथी, काशी, ललाई, और कामका नाम बतानेवाले (क्रिया) शब्द जैसे करना, रहना। भाववाचक सज्ञाओसे ही विशेषण बन जाते है जैसे ललाईसे लाल, अच्छाईसे अच्छा।

२. सम्बन्ध बतानेवाले समुच्चय-बोधक (अव्यय) शब्द।

३. रीझ, खीझ, अचरज या उमगसे अचानक मुँहसे निकल आनेवाले (विस्मयादिबोधक अव्यय) शब्द।

पर एक चौथे ढंगके भी शब्द होते हैं जो किसी नामको बार-बार लानेकी झंझटसे बचानेके लिये अपने छोटे साँचमें आ खड़े होते हैं (सर्वनाम)।

पर अँगरेजीके व्याकरणके ढगपर जो विचार करते है वे आठ प्रकारके शब्द बताते हैं—सज्ञा (नाउन), सर्वनाम (प्रोनाउन), विशेषण (एड्जैक्टिव), क्रिया (वर्ब), क्रियाविशेषण (एड्वर्ब), सम्बन्धसूचक (प्रिपोज़िशन), समुच्चयबोधक (कञ्जक्शन) और विस्मयादिबोधक (इण्टरजेक्शन)। शब्दका पूरा ब्यौरा आगे दिया जायगा।

ध्वनि—जो कुछ कानसे सुनाई दे उसीको ध्वनि कहते है। एक शब्द श्याम' ले लीजिए। इसे ताडा जाय तो इसकी बनावटमे पाँच ध्वनियाँ मिलती है—श् + य् + आ + म् + अ। इनमे से श् य् और म् सीधी समझमे आनेवाली ध्वनियाँ है पर बोलते हुए आ और अ ठीक ठीक जान नहीं पडते। इसीलिये सब ध्वनियोको लोगोने दो पालियोमे बाँट दिया है—१ जो ठीक-ठीक सीधे सुनाई पडती है (व्यजन या वर्ण) और २ वे जो इन ठीक-ठीक सीधे सुनाई देनेवाली ध्वनियोको पूरा करके बैठाती है और अलग भी बोली जा सकती है (स्वर या अक्षर)।

ध्वन्यंश (फानीम)—ध्वनिका एक झटका ध्वन्यश कहलाता है। जैसे घण्टीकी एक टनक। इन झटकेवाली ध्वनियोको ध्वन्यश (हलन्त व्यजन या बिना स्वरके व्यजन) कहते है। ध्वनिके पीछे सहारा देकर जमी हुई ध्वनि स्वरसहित (सस्वर ध्वनि) कहलाती है। ये सहारा देनेवाली ध्वनियाँ (स्वर) अलग भी बोली जा सकती है जैसे—अ, इ, उ। ये स्वर ही व्यंजनके साथ मिलकर उन्हे पक्का करते, ठहराते या पूरा करते चलते है जैसे क (क् + अ), कि (क् + इ)।

ध्वन्यक्षर या लयान्विति (सिलेबिल्)—लयके एक झटकेको लयान्विति या ध्वन्यक्षर कहते हैं।

बोलचालमे कुछ ऐसे लयके लटके होते है जिनमे कई कई स्वर और व्यंजन मिली हुई ध्वनियाँ एक झोकके बोली जाती है जैसे—अंग्रेजीका

'सन्-लाइट' या हिन्दीका 'विश वास' शब्द। इनमे कुछ झटके हल्के और कुछ लम्बे है जैसे—'सन्लाइट' मे 'सन्' का झटका हल्का है 'लाइट' का लम्बा। ऐसे ही 'विश-वास' मे 'विश' का लटका छोटा है, हल्का है पर 'वास' का लटका लम्बा है। ऐसे लटकोको ध्वन्यक्षर या लयान्विति (सिलेबिल्) कहते हैं। कुछ लोग भूलसे इन्हे अक्षर भी कहते है।

ध्वनियोंके प्रकार : ध्वनियाँ दो प्रकारकी होती है एक, जिनसे अर्थ निकले (निरुक्ता), दूसरी, जिनसे अर्थ न निकले (अनिरुक्ता)। निरुक्ता भी दो प्रकारकी मानी गई हैं—१. व्युत्पन्ना, जिसके टुकडे करके उसकी बनावट जानी जा सके जैसे खग = ख (आकाश) + ग (चलना) = आकाशमे उडनेवाला = पक्षी। २ अव्युत्पन्ना, जो भाषामे ज्योकी त्यो आ गई हो और जिनके टुकडे करके उनकी बनावट न परखी जा सकती हो जैसे 'ढोल'। यह भी समझ रखना चाहिए कि मुँहमे अलग-अलग ठौरपर अलग-अलग जतनसे बोलनेपर ध्वनियाँ बदल जाती हैं।

स्वर · स्वरके उतार-चढावमे भेद पड़नेसे शब्द या ध्वनिके अलग-अलग अर्थ हो जाते हैं जैसे चीनी भाषामें। हमारे यहाँ संस्कृतमे भी स्वरका हेर-फेर होनेसे अर्थ बदल जाता है। यह स्वरका हेरफेर शब्दमे भी होता है और वाक्यमे भी जैसे—**मैं** आपसे कह रहा हूँ। मै **आपसे** कह रहा हूँ। मै आपसे **कह रहा हूँ**। इन तीनो वाक्योमे मैं, आपसे और कह रहा हूँ को खींचकर कहने भरसे उनके अर्थोमें बहुत फेर हो जाता है।

मात्रा स्वरसे दिए सहारेकी झोक पहचाननेके लिये मात्रा काम आती है जैसे नागरीकी अक्षर-कडी (वर्णमाला या वर्णसमाम्नाय) मे स्वरोकी मात्राएँ (तौल) दिखानेके लिये व्यजनोके साथ कुछ पाइयाँ आडी, तिरछी, सीधी लगा दी जाती हैं जैसे—

आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ अं अँ अः के लिये—

ा ि ी ु ू ृ ॄ े ै ो ौ ं ँ

पर बहुत सी बोलियाँ ऐसी भी है जिनमे लिखते हुए पूरा स्वर (अक्षर) जोड दिया जाता है जैसे—अंग्रेजीमे राम लिखते समय आर+ए + एम् + ए (R A M A) मे अ और आ स्वरोकी मात्राके लिये पूरा स्वर (ए) ही डाल देते है। सब बोलियोकी छानबीन करनेपर जान पडेगा कि ऐसे अक्षर (स्वर) कुल गिने-चुने ही हैं जो हल्के या लबे (ह्रस्व या दीर्घ) होकर सब बोलियोमें काम आते है—अ, इ, उ, ए, ओ आदि।

शब्द : ध्वनियोके जिस मेलसे कोई अर्थ निकले उसे शब्द कहते है।

सम्बन्ध-शब्द : कभी-कभी दो शब्दोमे आपसका जोड दिखानेवाली ध्वनियाँ भी इन शब्दोंके साथ लगा दी जाती है जैसे—का, के, की। इन्हे जोडनेवाला शब्द (सम्बन्ध शब्द) कहते है।

प्रत्यय · कुछ शब्दोके पीछे ऐसे लटके जोडकर कोई गुण समझा दिया जाता है जैसे—वीरतामे लगा हुआ ता, वीरका गुण बताता है। ऐसी जुडी हुई ध्वनियोको प्रत्यय कहते है।

स्त्री, नपुंसक या पुरुष [लिग] : कभी-कभी शब्दके साथ ऐसा लटका (प्रत्यय) जोडनेसे बताया जाता है कि यह स्त्री है, नपुसक है या पुरुष जैसे—'नगर' के पीछे 'ई' जोड़नेसे जाना जाता है कि 'नगरी' शब्द स्त्रीलिगका है।

उपसर्ग : कभी कभी काम (क्रिया) बतानेवाले शब्दोके पहले कुछ ध्वनियाँ जोडकर एक ही शब्दसे बहुतसे अर्थ निकाल लिए जाते हैं जैसे—'उपकार' मे लगा हुआ 'उप' कामकी अच्छाई (भलाई) बताता है। उसके बदले 'अप' लगा दिया जाता तो उसका अर्थ होगा बुराई। शब्दके पहले लगे हुए ऐसे लटके या ध्वन्यक्षरको उपसर्ग कहते हैं।

मध्यग कुछ बोलियोमे ऐसे लटके बीचमे भी आ घुसते है जैसे—'मैंने सीतारामसे भी कहा था' के लिये बनारसी बोलीमे कहेगे—'हम सीतौरामसे कहले रहली।' यहाँ 'भी' का अर्थ समझाने वाला 'औ',

सीता और राम के बीचमे आ गया। इसे मध्यग कहते है।

गिनती (वचन). कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ शब्दके पीछे उसकी गिनती समझानेके लिये जोडा जाती है कि वह एक है, दो है या बहुतसे है, जैसे—'कमलो'मे और 'बालिकाओ'मे लगे हुए 'ो' (ओ) से समझ सकते है कि वहाँ एक ही नही बहुतसे कमल या बालिकाएँ थीं।

काल (लकार) : 'खेलना' क्रिया है पर उसे 'खेला'के रूपमे पढ़नेसे जाना जाता है कि खेलनेका काम कभी पहले पूरा हो चुका है। ऐसे हेरफेरसे समय जाना जाता है।

छोटा करना (समास) : कभी-कभी हम कई शब्दोको मिलाकर छोटा कर लेते है जैसे 'घोडेपर बैठे हुए' सवारको हम 'घुडसवार' कहने लगे है। ऐसे ही 'विश्वमे विख्यात'के बीचमेसे 'मे' निकालकर हमने उसे 'विश्वविख्यात' बनाकर छोटा कर लिया है। इस छोटा करनेको समास कहते है।

शब्दकी पहचान तो हमने देखा कि शब्द या पद उसीको कहते है, जो प्रत्यय, उपसर्ग, मध्यग, विभक्ति या सम्बन्ध बतानेवाले ध्वन्यक्षरोके साथ जुटकर आपसका मेल, स्त्री-पुरुषका भेद (लिग), गिनती (वचन) और समय (काल) बताता हो और कभी दूसरे शब्दोसे मिलकर अपनी विभक्ति या सम्बन्धका शब्द छोड़कर अपना छोटा (समास किया हुआ) रूप दिखाता हो। इसे हम यो समझा सकते हैं कि राम, कमल, खेलना तो प्रातिपदिक (मूल) शब्द हैं पर रामने, कमलोकी, खेला, विश्वविख्यात सब पद या शब्द हैं क्योकि ये अपने नये रूपोसे वाक्यमे अपने-अपने सम्बन्धका ठीक अर्थ समझाते है।

वाक्य : शब्दोके समूहको वाक्य कहते है।

कुछ लोग मानते है कि योग्यता, आकाक्षा और आसक्तिवाले शब्दोके मेलको वाक्य कहते है। पर जब शब्द या पदकी पहचान ही यह बता आए हैं कि जा ठीक ठीक अपना अर्थ समझा दे उसे शब्द कहते हैं, तब इस पुछल्लेका क्या काम! अत उन्हीं शब्दोंके इकट्ठा होनेसे वाक्य

बनता है जो एक दूसरेका मेल समझाते हुए अपने-अपने अर्थ ठीक देकर पूरे वाक्यका कोई अर्थ बता सकें।

एक शब्दवाले वाक्य (वाक्य-शब्द)—कभी-कभी एक शब्दका भी वाक्य होता है। जैसे किसीको कपडे पहनकर बाहर जाते देखकर यह बातचीत चलती है—

१—किधर ? (आप किधर जानेके लिये तैयार हुए है ?)
२—प्रदर्शनी। (मै प्रदर्शनी देखने जा रहा हूँ।)
३—चलूँ ? (आप कहिए तो मै भी चलूँ।)
४—चलो। (तुम चाहो तो चल सकते हो या तुम भी अवश्य चलो।)
ऐसे शब्दोको वाक्य-शब्द कहते हैं।

चलती बोली (मुहावरा)—चलनमे आई हुई बोलचालको चलती बोली या मुहावरा कहते है, 'जैसे दाँत खट्टे करना।' इसका सीधा अर्थ तो यह है किसीको जँभीरी नीबू खिलाकर उसके दाँत खट्टे कर देना, पर 'दाँत खट्टे करने'का अर्थ हो गया है हराना, मारकर भगाना, तग करना।

कहावत (लोकोक्ति) : किसी घटनाके सहारे चली हुई बातको कहावत (लोकोक्ति) कहते है, जैसे—'नाच न जाने आँगन टेढा।' कभी किसी समय कोई ऐसा नाचनेवाला रहा होगा जिसे नाचना कम आता होगा और उसने अपनी झेंप मिटानेके लिये कह दिया होगा कि मै तो बढिया नाचता, पर क्या करूँ आँगन ही टेढा है। उसपर किसीके मुँहसे तुक या छदका टुकडा बनकर यह निकल पडा होगा—नाच न आवे आँगन टेढा। यह लोगोको इतना अच्छा जँचा कि यह वाक्य उस मनुष्यके लिये कहा जाने लगा जो अपनी कमी छिपानेके लिये या झेंप मिटाने के लिये दूसरोपर दोष मढे।

अत. किसी भी बोलीमे बस ध्वनियाँ ही भर नहीं होतीं। वे ध्वनियाँ स्वरो या उनकी मात्राओसे मिलकर शब्द बनाती है और वे शब्द विभक्तियो और सम्बन्ध बतानेवाले शब्दोसे मिलकर प्रत्ययो, उपसर्गों और मध्यगोसे सजकर, कई शब्दोके मेलसे एक छोटा रूप (समास) बनाकर,

स्त्री या पुरुष (लिग), गिनती (वचन) और समय (काल) बतानेके लिये वाक्यमे पहुँचकर अपने सच्चे रूपमे थोडा हेरफेर करके अपने अनगिनत रूप बना लेते हैं जिससे उनके अर्थोंमे बहुत भेद पड जाता है पर वाक्यका अर्थ ठीक हो जाता है। ऐसे शब्दो और वाक्योसे ही बोली बनती है।

अर्थ : किसी बातसे जो समझा जाय उसे अर्थ कहते हैं।

कभी-कभी तो अकेली ध्वनियो या ध्वन्यक्षरोके भी अर्थ होते हैं जैसे संस्कृतमे 'क' का अर्थ है 'जल', 'ख' का है 'आकाश' पर बहुत-सी बोलियोमे काम आनेवाली अकेली ध्वनियोका कोई अर्थ नहीं होता। वे जब कई स्वरो या व्यञ्जनोसे मिलकर बनती है तभी उनका अर्थ होता है जैसे—अंग्रेजीके जी (G) वर्णका कोई अर्थ नही है पर वह ओ और डी (O D) के साथ मिलकर गौड (G O D) शब्द बनाकर देवता या ईश्वरका अर्थ बताता है। ऐसे शब्दोमेसे कुछके तो एक ही एक अर्थ होते है और कुछके बहुत अर्थ होते हैं, जैसे—'अक्षि'का अर्थ 'आँख' ही है और कुछ नहीं, पर हरिके अर्थ हैं—हरा, हरियाला, भूरा, पीला, विष्णु, कृष्ण, यम, पवन, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, सिह, किरण, घोडा, शुक, वानर, सर्प, शिव, ब्रह्मा, अग्नि, कोकिल, हस, मोर, इन्द्रका घोड़ा, भर्तृहरि और विद्वान्। इतना ही नहीं, कभी-कभी एक ही वस्तुके बहुतसे नाम चल पडते हैं जैसे पानी पीनेके मिट्टीके बर्तनको उत्तरप्रदेशमें ही शकोरा, कसोरा, कुल्हड, पुरवा, भुरका, डबकोरा, प्याली, पियलिया, करई और आबखोरा कहते हैं।

बोलनेकी और गानेकी ध्वनिमें भेद : ध्वनिका काम बोलीमें ही नहीं पडता, गानेमे भी पडता है। पर गानेकी ध्वनिमें और बोलीकी ध्वनिमे थोडासा भेद है। गानेमे ध्वनियोका बँधा हुआ उतार-चढ़ाव होता है, जो गलेकी 'आऽऽऽ' ध्वनिके सहारे ही उतार-चढ़ाकर अलापे जा सकते हैं। पर बोलीकी ध्वनियाँ मुँहके भीतर तालु, मुँहके भीतरकी ऊपरी छतके बीच (मूर्द्धा), मसूडे (वर्त्स) और दाँतपर अलग-अलग जीभका

अटकाव देनेसे या ओठके खोलने-बन्द करनेसे या आगे बढाने-सिकोडनेसे निकलती हैं। उनके लिये यह कोई बन्धन नहीं है कि वे किसी उतार-चढावके साथ बोली जायँ और यदि कोई अर्थ समझानेके लिये थोडा बहुत उतार-चढ़ाव होता भी है तो वह अलग ढगसे गलेमे लोच देकर पूरा कर लिया जाता है।

सुस्वरता : बातचीतके इस उतार-चढावको भाव-स्वरता या सुस्वरता (इन्टोनेशन) कहते है और संगीतमे स्वरके उतार-चढावको आरोहावरोह (ट्यून-पिच) कहते है।

बोलीसे लाभ और हानि · बोलीसे कई लाभ हुए : बडे-बूढ़ोकी आपबीती और जगबीती बातोकी रखवाली हो गई, अपने मनकी बात औरोसे कहनेकी सुविधा हो गई, समझनेकी शक्ति आ गई, दूसरोसे अपनी बात मनवानेका ढङ्ग आ गया और मनबहलावके लिए साधन मिल गया। बोलीसे हानि भी हुई, कडवा बोलनेसे झगडा होने लगा और ठीक बोलना न आनेसे मनुष्य फूहड़ समझा जाने लगा।

६

ध्वनि

ध्वनि कैसे उपजती है : जीभ, ओठ और नाकसे रुकावट देकर निकाली हुई भीतरकी साँस ही ध्वनि बनती है। बोलीकी ध्वनियाँ तब गलेसे निकलती हैं जब हम गलेमे बनी हुई बोलीकी डिबियासे होकर आनेवाली भीतरकी साँसको मुँहके भीतर जीभका अटकाव देकर या ओठोंको सिकोड-फैलाकर या नकियाकर एक सधे हुए ढंगसे निकालते हैं।

हमारा गला : भोजनकी नलीके ऊपर साँसकी नलीकी ओर जो एक ही ओर खुल सकनेवाली ढपनी (वाल्व) बनी हुई है उसे ही बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र या लैरिंक्स) कहते हैं। यह ढपनी साँसकी

नलीकी सबसे बडी पहरेदार है। इस ढपनीका ढपना (एपिग्लोटिस) दो काम करता है—(१) मुँहमे आए हुए भोजन या पानीको देखते ही साँसकी नलीका मुँह बन्द कर लेता है कि भोजन-पानी कहीं साँसकी नलीमे पहुँचकर मनुष्यके प्राण न ले ले और (२) भीतरसे आनेवाले वायुको अपने भीतर तनी हुई दो पतली लचकदार तनियो (बोलीकी डोरियो) को कँपाकर बोली निकालती है। इसीलिये खाते समय बोलना और बोलते समय खाना ठीक नहीं होता। भीतरकी इन दो लचीली पतली तनियो (डोरियो) को बोलीकी डोरियाँ (वोकल कौर्ड्स) कहते है। नीचे मनुष्यके मुँहके उन भीतरी भागोका चित्र दिया जाता है जो बोली बोलनेके समय काम आते है।
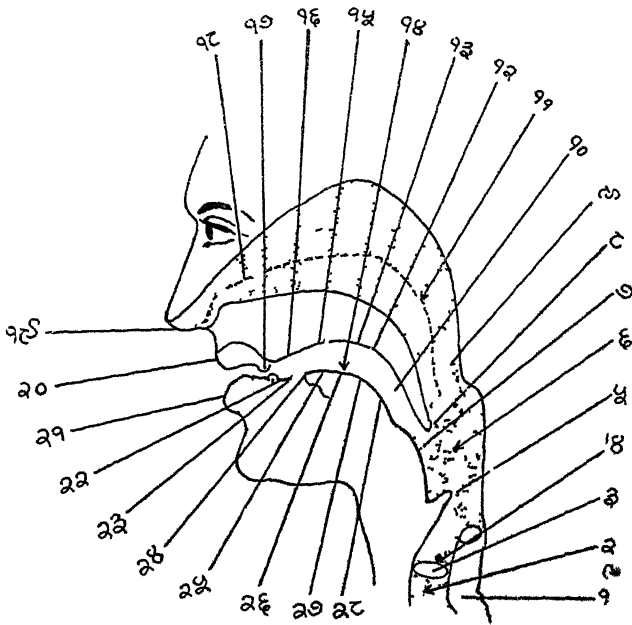
[१ भोजनकी नली (गलेट), २ बोलीकी डिबिया (स्वरन्यत्र या लैरिंक्स), ३ ध्वनिकी डोरियाँ (वोकल कौर्ड्स या स्वरतन्त्री), ४ बोलीकी डिबियाका मुँह (ग्लौटिस या काकल), ५ बोलीकी डिबियाका ढकना (एपिग्लौटिस या अभिकाकल), ६ साँसकी नली (विंड पाइप), ७ मुँहका खोखला (माउथ कैविटी या मुख-विवर), ८ कौवा (यूवुला), ९ नाकका खोखला (नैसल कैविटी या नासिका-विवर), १० गला (गटर या कंठ), ११ साँसकी बटिया, १२ पीछेका तालु (सौफ्ट पैलेट), १३ मूर्द्धा (सेरेब्रम), १४ जीभ, १५ आगेका तालु (हार्ड पैलेट या कठोर तालु), १६ ऊपरी मसूड़ा (वर्त्स या अल्वेओल), १७ ऊपरके दाँत (अपर टीथ), १८ साँस लेनेकी ठीक बटिया (नाकके भीतर), १९. नाक, २०. ऊपरका ओठ, २१ नीचेका ओठ, २२ नीचेके दाँत, २२ नीचेका मसूड़ा (वर्त्स), २४ जीभकी नोक (जिह्वाग्र), २५ जीभकी अगाड़ी (पुरोजिह्वा), २६ जीभका बीच (मध्य-जिह्वा), २७ जीभकी पिछाड़ी (पश्चजिह्वा), २८ जीभकी जड़ (जिह्वा मूल)]

पर यह नहीं समझना चाहिए कि भीतरसे बाहर निकलनेवाली साँस ही ध्वनि उपजाती है। कभी-कभी हम बाहरसे मुँहमे साँस खींचकर भी ध्वनियाँ निकालते हैं जैसे बैल या घोड़ा हाँकते हुए 'क्लै-क्लै' ध्वनि या सिन्धी बोलीकी ब़, द़, ज़, ग़ ध्वनियाँ (ब़करी, द़ीअल, जिब्भ और गपा शब्दोमे) या संस्कृतकी उपध्मानीय ध्वनियाँ भीतर साँस खींचकर ही बोली जाती हैं।

सच पूछिए तो मुँहके भीतर जीभ और ओठ ही ऐसे दो अंग है जिन्हें चलाने घुमानेसे हमारी ध्वनियाँ निकलती है, तालु, दाँत और मसूडे तो अपनी-अपनी ठौरपर ज्योके त्यो बैठे रहते हैं। पर चीनी, तिब्बती जैसी कुछ बोलियोमे ओठ ही नहीं, गाल भी फैलाने-सिकोड़ने और जबडे भी आगे-पीछे चलाने पडते है।

सजातीय ध्वनि (फोनीम) : हम पीछे बता आए हैं कि सब बोलियोमे दो ढगके ध्वन्यंश या ध्वनिके झटके होते हैं जिन्हे लोग भूलसे ध्वनि-मात्र, ध्वनिश्रेणी, ध्वनि-ग्राम या ध्वनि-तत्त्व कहते हैं। इसे एकस्वरी या एक-लहर-ध्वनि कहना ठीक होगा। हम बता आए

हैं कि ध्वनिके झटके दो ढगके होते हैं—१ अपने सहारे खड़े रहनेवाले (स्वर) और सहारा चाहनेवाले (व्यजन)। एक ही ध्वनिका झटका कई मुँहोमे पडकर या एक ही मनुष्यके मुँहसे कई बोलियोमे पडकर अलग-अलग-सा जान पड़ता है पर वह मुँहके भीतरसे एक ही गूँज लेकर निकलता है जैसे—किसी मराठेके मुँहसे निकले 'अडचण' का 'च' और उत्तर-प्रदेशीके मुँहसे निकले 'अडचन' का 'च' सुननेमे दो ढगके खिचाव और चबावके साथ सुनाई पडेगा पर कानका 'च' की ध्वनि ही समझमे आवेगी। इस एक ही जातिकी ध्वनियोको एक-लहरवाली या सजातीय ध्वनि (फोनीम) कहते हैं।

बोलीकी ध्वनि (स्पीच-साउण्ड) : अर्थवाली मनुष्यकी बोली ही बोलीकी ध्वनि, भाषा-ध्वनि या स्पीच-साउण्ड कहलाती है। ऐसी जिन ध्वनियोंका मनुष्योने कोई अर्थ मानकर उनके लिये अक्षर बना लिए हैं उन्हें हमारे यहाँ सधी हुई (व्यक्त) ध्वनि कहते हैं।

अनगढ (अव्यक्त) ध्वनियाँ : ऊपरकी इन सधी हुई ध्वनियो-को छोडकर जो ध्वनियाँ लिखकर नहीं समझाई जा सकतीं उन्हे अव्यक्त या अनगढ ध्वनियाँ कहते हैं जैसे दो पत्थरोकी टक्करसे उपजी हुई ध्वनि।

कुण्डलिनीसे ध्वनिकी उपज : योगी लोग मानते हैं कि मूलाधार (गुदा और लिगके बीच) मे नागिन जैसी कुण्डली मारे बैठी नाडी (कुण्डलिनी) से शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निबोधिका शक्ति, निबोधिकासे अर्धेन्दु, अर्धेन्दुसे बिन्दु और बिन्दुसे बयालीस वर्ण या ध्वनियोवाली वर्णमाला उपजती है। यही कुण्डलिनी सब वर्णोंमे मिलकर मत्र जगाती है, शब्द और अर्थमे हेरफेर करती है और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरोको ठीक समझाती है। यही चित् शक्ति जब सत्त्वगुणसे मिलती है तब उसमे शब्द (पद) और वाक्य चमक उठते हैं और वही शक्ति आकाशमे पहुँचकर जब रजोगुणसे मिलकर गूँज उपजाती है तब ध्वनि बन जाती है और यही ध्वनि जब अक्षर बनकर तमोगुणसे मिलती है तब वह पद और वाक्य बन जाती है।

वैदिक साहित्यमें ध्वनियोंका बिलगाव : वैदिक साहित्यमे तीन ढगकी ध्वनि (वाक्) बताई गई है—१ दैवी, जो समाधि लगा लेनेपर योगियोको सुनाई पडती है, जिसे अनाहत या अनहद नाद कहते है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा इसीमे आती हैं। २ भौतिक, जिसमे बादलका गरजना, भूकम्पकी गड-गडाहट, बिजलीकी कडक, वायुकी सरसराहट आदि हैं। ३ पार्थिव या जीवोके मुँहसे बोली जानेवाली। यह पार्थिव वाक् दो ढगकी होती है—१ निरुक्ता और २ अनिरुक्ता। मनुष्यके मुँहसे बोली जानेवाली जिन ध्वनियोके अर्थ बाँध दिए गए है उन्हे निरुक्ता और पशु-पंछियोकी बोलियोको अनिरुक्ता कहते हैं।

घोष, अघोष और अत्यघोष ध्वनियाँ : बोलीकी डोरियोसे रगड खाकर जो ध्वनि निकलती है उसे घोष और कम रगड खाई हुई ध्वनिको अघोष कहते है जैसे हमारे यहाँ कख, चछ, टठ, तथ, पफ और श, ष, स अघोष या धीमे होते है। बचे हुए व्यंजन और सभी स्वर भारी (घोष) होते है। स्वर दबाकर बोलनेसे सभी ध्वनियाँ धीमी (अघोष) हो जाती है। फुसफुसाहटको बहुत धीमी या अत्यघोष कहते हैं।

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित : सभी स्वर हल्के झटकेके साथ (ह्रस्व), जमाकर (दीर्घ) या लम्बा करके (प्लुत) बोले जाते हैं। इनमेसे जो मुँहके ऊपरी खण्डमे गुँजाकर बोले जाते हैं वे उदात्त कहलाते हैं, जो न बहुत धीरे न बहुत ऊँचे (बीचमे) बोले जाते हैं वे स्वरित कहलाते है और जो मुँहमे नीचेकी ओर दबाकर धीमे बोले जाते है वे अनुदात्त कहलाते है।

नकियाई हुई (अनुनासिक) : जो ध्वनियाँ मुँह और नाक दोनोके मेलसे बोली जाती है वे अनुनासिक कहलाती हैं।

प्रयत्न : बोलते हुए जीभ और ओठसे भीतरकी साँसको टेक देकर निकालनेका ढग प्रयत्न कहलाता है। जिन ध्वनियोमे जीभ या ओठ छू भर जायँ उनमे स्पृष्ट, जिनके लिये पूरा मुँह खोलना पड़े उनमे

विवार, मुँह कम खोलना पड़े उनमे संवार, जिनमे साँसकी गहरी धौक देनी पडे उनमे श्वास, जिनमे स्वर गुँजाना पड़े उनमे नाद प्रयत्न होता है। यह जतन या प्रयत्न दो ढंगका होता है—१ भीतरी (आभ्यन्तर) और २ बाहरी (बाह्य)। भीतरी जतन पाँच ढगका होता है—१ जीभ या ओठ छूनेसे (स्पृष्ट), २. ओठ और जीभके थोडा-सा या हल्का-सा छूनेसे (ईषत्पृस्ष्ट), ३. थोडासा मुँह खोलनेसे (ईषद्विवृत), ४. मुँह चौड़ा खोलनेसे (विवृत), ५. बहुत कम मुँह खोलनेसे (सवृत); और ६. कम मुँह खोलकर बोला जानेवाला (सवृत) स्वर भी अन्य अक्षरोके साथ मिला होनेसे मुँह खोलकर (विवृत) ही बोला जाता है। इनमे क से म तक (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म) बोलनेसे जीभ या दोनो ओठोका पूरा-पूरा लगाव होता है इसलिये इन्हे स्पर्श वर्ण कहते है और इनके लिये जो प्रयत्न या जतन किया जाता है उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। य, र, ल, व (अन्तःस्थ) बोलनेमे जीभ या ओठ बहुत कम लगाना पड़ता है, इसलिये इनका प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट कहलाता है। श, ष, स, ह (ऊष्मा) बोलनेमे मुँह कुछ खुला रखना पडता है, इसलिये इनका प्रयत्न ईषद्विवृत (कुछ खुला हुआ) कहलाता है। आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ (स्वर) बोलनेके लिये मुँह खुला रखना पडता है, इसलिये इनका प्रयत्न विवृत कहलाता है। हल्का अ (ह्रस्व अ) बोलनेमे मुँह बहुत कम खोलना पडता है, इसलिये उसका प्रयत्न सवृत कहलाता है। पर यही हल्का अ जब दूसरे वर्णोंके साथ मिल जाता है तब इसका प्रयत्न भी विवृत हो जाता है।

बाहरी जतन ग्यारह ढंगके होते हैं—१ मुँह खोलना (विवार), २ मुँह सँकरा करना (संवार), ३ साँसकी धौंक देना (श्वास), ४ ध्वनिमे धमक देकर बोलना (नाद) ५ ध्वनिको भारी (गंभीर) करके बोलना (घोष), ६. धीमा करके बोलना (अघोष), ७ साँसकी कम ठसक देना (अल्पप्राण), ८. जमाकर साँसकी ठसक देना (महाप्राण), ९. स्वर ऊँचा चढ़ाकर बोलना (उदात्त) १०. नीचा करके बोलना

(अनुदात्त) और ११. न ऊँचा न नीचा, बीचके स्वरमे बोलना (स्वरित)।

प्रयत्नकी दृष्टिसे हम अपनी वर्णमालाको ऐसे रख सकते हैं—

१ ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स—विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न। २. ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ग, ड, द—सवार, नाद, घोष प्रयत्न। ३ क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व—अल्पप्राण प्रयत्न। ४ ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, ढ, ध, भ, श, ष, स, ह—महाप्राण प्रयत्न।

पाणिनिने क से म तकके वर्णोंको स्पर्श, य र ल व को अन्तःस्थ, श ष स ह को ऊष्मा, अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ को स्वर बताया है। भीतर साँस लेकर गलेमे आधे विसर्गकी हचक देते हुए क, ःख कहा जाय तो वह हचक जिह्वामूलीय कहलाती है। ऐसे ही आधे विसर्गकी धौंक देकर ःप और ःफ कहा जाय तो यह धौंक उपध्मानीय कहलाती है, अ के ऊपर लगे हुए म् (ं) को अनुस्वार और अ के आगे साँससे ह् बोलनेको विसर्ग (ः) कहते है।

स्थान · मुँहमे जहाँपर बल देकर, गुँजाकर या जीभ-ओठका अटकाव देकर कोई ध्वनि उपजाई जाय, वह ठौर उस ध्वनिका स्थान कहलाती है। क से म तक स्पर्श ध्वनि, स्वर, अन्तःस्थ और ऊष्म ध्वनियाँ, बोलनेके पाँच स्थानोके क्रमसे पाँच ढगकी होती हैं—

१. कण्ठ्य(वेलर), जिन्हे हम अपनी जीभका अगला भाग हाथीकी सूँड़के समान मुँहमे आगे झुकाकर और पीछेका भाग गलेमे अटकाकर बोलते हैं। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने जीभकी जडको क, ख, ग, घ, ङ बोलनेकी ठौर माना है (जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः)। आजकल 'क' को कठसे थोडा ऊपर कोमल तालुपर जीभकी पिछाडी अटकाकर बोलते हैं पर हम ख और घ को पूरा-पूरा गलेमे ही अटकाव देकर बोलते हैं। इसलिये हमारा क और ग कोमल तालुवाला हो गया है, कण्ठ्य नहीं रह गया हे। पर पाणिनिने इसे कण्ठ्य ही बताया है। 'अ, आ, ह' भी कण्ठसे बोले जाते हैं।

२ मूर्धन्य (सेरेब्रल) : जिन्हे हम अपनी जीभकी नोकका निचला भाग ऊपर मुँहकी छतके बीच (मूर्धामे) अटकाकर बोलते है जैसे ट, ठ, ड, ढ, ण, ऋ, र, ष।

३ तालव्य (पैलेटल) जिन्हे ऊपरके मसूडेसे कुछ ऊपर आगेके तालुपर जीभकी नोक लगाकर बोलते हैं जैसे—च, छ, ज, झ, ञ, इ, य, श। कुछ लोगोने भूलसे च वर्गको तालव्य-सघर्ष-स्पर्शी कहा है क्योकि उनकी समझमे अब च केवल जीभके छूने भरसे नहीं निकलता, जीभको रगडना भी पडता है। जो लोग च को च (च्य) कहकर बोलते हैं वे ही जीभ रगडते है इसलिये च को तालव्य ही मानना चाहिए। लोगोका यह भी अनुमान है कि पहले च, छ, ज, झ का उच्चारण मूर्धा और कठके बीचमे जीभका स्पर्श करनेसे होता था जैसा अब भी सिन्धीके 'ज॒ञ्ञा' (बारात) शब्दके 'ज॒'मे है।

४ दन्त्य (डेण्टल) : जिन्हे ऊपरके अगले दाँतोके पीछे जीभकी नोक लगाकर बोला जाता है जैसे—त, थ, द, ध, न, लृ, ल, स। इनमे 'न' तो तालव्य भी हो चला है और शेष ध्वनियाँ भी अब मसूड़ेके पीछे जीभ लगाकर बोली जाने के कारण वर्त्स्य हो गई हैं।

५ ओष्ठ्य (लेबियल) : जिन्हे दोनो ओठोसे साँस टोककर बोलते हैं जैसे—प, फ, ब, भ, म, उ और उपध्मानीय ध्वनियाँ।

मूल स्वर [कार्डिनल वौवेल्स]. डैनियल जोन्सने आठ मूल स्वर या सच्चे स्वर माने हैं जिन्हे बोलते समय ओठोके फैलाव या खिचावके अनुसार चौडा (विवृत), आधा चौडा (अर्द्ध विवृत), कम सँकरा (अर्द्ध सवृत) और बहुत सँकरा (सवृत) बताया है। इनमेसे अ तो बीचके तालुपर जीभका अटकाव देकर बोला जाता है, 'अऽ, ए्, ए, ई' को जीभकी अगाडी (पुरोजिह्वा) को आगेके तालुकी ओर थोडा-सा उठाकर भीतरकी साँसको आगेके तालुपर टकराकर बोला जाता है, और 'आ, ओ्, ओ, उ' ये जीभकी पिछाडीको पीछेके तालुकी ओर थोडा बढ़ाकर बोल जाते हैं। कुछ लोगोने इन मूल स्वरोको भी दो पालियोमे बाँट

दिया है—१. प्रधान मूल स्वर (प्राइमरी कार्डिनल वौवेल्स) और २ गौण मूल स्वर (सेकेण्डरी कार्डिनल वौवेल्स)।
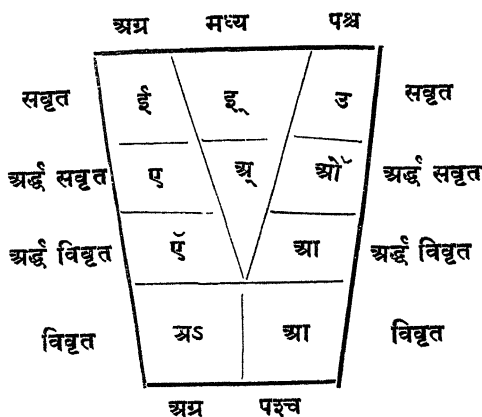
ध्वनियोंके कुछ स्थान बदल गए हैं : ससारकी बहुतसी बोलियोमे एक ही ध्वनिकी बहुत अलग-अलग ठौर हो गई है। हमारे यहाँ ष को श और ख दा ढंगोसे बोलते हैं। ज्ञ को गुजरातमे ग्न, मराठीमे द्न्य, पजाबमे ग्य, बगालमे ग्गो, उत्तरप्रदेशमे ग्य और वेदपाठी लोग ज्ञ (जो इसका ठीक बोलनेका ढग भी है) बोलते हैं। मराठीमे च और ज को दो ढंगसे बोलते है—१ तालुपर जीभ अटकाकर 'च' २. दाँतके पाछे जीभ अटकाकर च।

डायोफोन (अधि-सम-ध्वनि) : बहुत-सी बोलियाँ सुननेपर जान पडेगा कि एक शब्दमे आनेवाले एक ही स्वरको एक ही भाषा बोलनेवाले कई ढगसे बोलते हैं—जैसे 'कौन' शब्द पश्चिमी उत्तरप्रदेशमे 'कओन', अवधी और भोजपुरीमे 'कउन', राजस्थानमे 'कुण' और 'कोन', और अवधी तथा भोजपुरीके कुछ भागोमे 'कवन' बोला जाता है। ऐसे ही 'उसने' शब्द ब्रजमे 'उसनै' हो जाता है। यह बहुत ढङ्गोमे सुनाई पड़नेवाली एक ध्वनि ही अधि-सम-ध्वनि (डायोफोन) कहलाती है।

क्लिक (क्लै-क्ल) ध्वनियाँ : सभी बोलियोमे कुछ ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जो घिन प्रकट करनेके लिये या गाय, बैल, घोडा हाँकते हुए या चुमकारी भरते समय काममे आती हैं। इनमेसे कुछ तो दाँत, मसूडे या तालुपर जीभकी चटकारी देकर बोली जाती हैं किन्तु चुम्बनवाली ध्वनि दोनो दाँत, दोनो ओठ और दाँतोके पीछे जीभ जमाकर चुमकारी देनेसे उपजती है। ये ध्वनियाँ क्लिक कहलाती है।

पार्श्विक, लुंठित, संघर्षी और उत्क्षिप्त : कुछ लोगोने बताया है कि 'ल' ध्वनि मुँहसे निकालते समय हम ऊपरके मसूडेके पीछे जीभकी नोक अटकाते तो है पर उसके दोनो ओर भीतरकी साँस निकलनेके लिये कुछ खोखला खुला रखते हैं इसलिये उसे वे पार्श्विक कहते हैं। पर ऐसा तो ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, और च, छ, ज, झ मे भी होता है।

लुठित या लोडित 'र' ध्वनिमे भी जीभकी नोक तालुपर अटकाई जाती है पर वह जीभको वहीं कँपाकर, साँस निकालकर बोली जाती है। संसारकी बोलियोमे 'र' बहुत ढङ्गसे बोला जाता है जिनमेसे कोई तालपर, कोई मूर्धापर और कोई जीभके नीचेके भागको मूर्धापर घुमाकर टेकनेसे बोला जाता है। वह लुण्ठन या लोडन न होकर कपन होता है।

ऐसे ही 'स' बोलते हुए भी जीभ रगडती नहीं है। उसमे भी जीभको दाँतके पीछे टेकना पडता है अतः वह सघर्षी नहीं है।

ऐसे ही 'ड' भी उत्क्षिप्त या ऊपर फेंका हुआ नहीं है क्योकि 'ड़' बोलते हुए हम पिछले तालुपर जीभका अटकाव देकर बोलते हैं। इसलिये इन पार्श्विक, लुण्ठित, सघर्षी और उत्क्षिप्त नामके भेद हम नहीं मानते।

ध्वनियोंकी मिलावट : सभी ध्वनियाँ आपसमे मिल सकती हैं इसलिये स्वरसे स्वर, व्यजनसे व्यंजन और व्यजनसे स्वर मिलाए जा सकते हैं जैसे— अ + ए = ऐ, क्+क् = क्क, क + आ = का।

ध्वनियोंके गुण, मात्रा, स्वर, बल और घात : ध्वनिमे चार गुण होते हैं—१. मात्रा, २ स्वर, ३ बल और ४ घात अर्थात् लम्बान, चढ़ाव-उतार, दबाव और ठोकर।

मात्रा ध्वनि बोलनेमे जो समय लगता है उसकी नापको मात्रा कहते हैं। ये तीन ढङ्गकी होती हैं : १. इकहरी (ह्रस्व), २. दुहरी (दीर्घ) जो दो बार ताली बजानेतक खिंचे, और ३ लम्बी (प्लुत), जिसमे ध्वनिका खिचाव दुहरेसे भी अधिक लम्बा हो जाय जैसे ओ ऽऽऽ। बहुत-सी ध्वनियोमे आधी ही मात्रा लगती है। शब्दके बीचमे आनेवाले सब मिले हुए (संयुक्त) व्यजनवाले अक्षरोका पहला अक्षर आधी मात्रामे बोला जाता है जैसे 'कल्पना, पर्वत, प्रस्तार' शब्दोमे 'ल्, र्, प्, स्'। कुछ व्यंजन ध्वनियाँ बहुत हल्के छूकर बोली जाती हैं। इन्हे हम चौथाई मात्रावाली (चतुर्थांश मात्रिक) कह सकते हैं जैसे कुम्हार, तुम्हारा, उन्होने, चूल्हा, भञ्यौ, कह्यौ, कऱ्यो (या मराठीके दुसऱ्या) शब्दोमे आए हुए म्ह, न्ह, ल्ह, ञ्य, ह्य, ऱ्यके म, न ल, ञ, ह, ऱ। ये ध्वनियाँ प्राकृत शब्दोके 'बम्हण, खन्ध, कल्हार' और सस्कृतके सह्य, चतुर्थमे आए हुए 'म्ह, न्ह, ल्ह, ह्य, और र्थ' के 'म, न, ल, और र्' की अपेक्षा अत्यन्त अल्प मात्रामे बोले जाते हैं।

कभी-कभी दुहरी मात्रावाले अक्षर, लिखनेमे तो दुहरी मात्राके होते हैं पर बोलनेमे एक ही मात्रामे बोले जाते है जैसे—'ओसारा, कोहनी, एक्का' के 'ओ, को, ए।'

स्वर · बोलते समय अपने मनकी रीझ-खीझ-घिन समझानेके लिये जो हम ध्वनियोको लहराते चलते हैं उसी स्वरके उतार-चढावको लय (इन्टोनेशन) कहते है। स्वर चढ़ाकर (उदात्त) बोलना, धीरे (अनुदात्त) बात-चीत करना और खुलकर (स्वरित) बात-चीत करनेको स्वरका ऊँचा-नीचापन कह सकते हैं, उतार-चढाव नहीं। हम लोग जिसे काकु या गलेकी मुर्की कहते हैं, उसमे यही स्वर काममे आता है जिससे हम समझ जाते हैं कि कहनेवाला कुछ पूछ रहा है, ताना दे रहा है, अचरज दिखा रहा है, डाँट रहा है या किसी बातको मानकर हामी भर रहा है।

बल वाक्यका अर्थ समझानेके लिये उसके किसी शब्दको लम्बा करके बोला जाता है। उसी लम्बे करने या जमाकर बोलनेको बल कहते हैं, जैसे—'यह पुस्तक मेरी है।' इसमे 'यह' पर बल देनेका अर्थ

होगा कि जितनी पोथियाँ दिखाई जा रही है उनमे 'वही' पोथी मेरी है दूसरी नहीं। 'पुस्तक' पर बल देनेका अर्थ है कि वहाँ रक्खी हुई बहुत-सी वस्तुओमेसे पुस्तक तो मेरी है, शेष वस्तुएँ भले ही दूसरोकी हो। 'मेरी' पर बल देनेका अर्थ है कि पुस्तक 'मेरी' ही है, और किसीकी नहीं। यह 'बल' भी एक ढंगसे स्वरका उतार-चढाव ही है। चीनी बोलीमे एक ही शब्द या ध्वनिका स्वर चढ़ाकर, उतारकर या उतार-चढाकर बोलनेसे वह अलग-अलग अर्थ देने लगती है।

ठोकर (स्वराघात) : बहुतसी बोलियाँ ऐसी हैं जिनके शब्दोमे किसी-किसी अक्षर पर कुछ चोट या ठोकर देकर बोला जाता है। इसे आघात कहते हैं। कुछ लोग इसे बलाघात या स्वराघात भी कहते हैं। देखा गया है कि धीमी (अघोष) ध्वनियोको कुछ ठसक या झोके साथ बोला जाता है और भारी (घोष) ध्वनियोको जमाकर या लम्बा करके। हिन्दीमे भी कभी-कभी यह ठोकर (घात) देकर चलना ही पडता है। यदि 'चंचलता' शब्दको चंच-लता पढें तो जान पड़ेगा कि 'चच' नामकी कोई 'लता' है। यह घपला 'ल' पर ठोकर देकर पढनेसे ही हुआ है, पर 'सोमलता' को हमे 'सोम-लता' ही पढना चाहिए। इसलिये जो लोग समझते हैं कि हिन्दीमे स्वराघात नहीं है वे भूल करते है। कुछ बोलियोमे तो बीचके अक्षरोपर अलग-अलग बल देनेसे उनके अर्थ बदल जाते है जैसे अंग्रेजीके 'परफेक्ट' (पूर्ण) शब्दमे 'फे' के ऊपर आघात होगा तो वह विशेषण होगा और यदि 'प' के ऊपर होगा तो क्रिया। हिन्दी और सस्कृतमे शब्दके बीचमे आनेवाले संयुक्ताक्षरके पहले वर्णको खींचकर ठोकरके साथ बोलते हैं जैसे 'अप्रकाशित' के 'अ' शब्दको 'प्र' से पहले बोलते हुए हम प्र पर एक और प् की चोट मारकर उसे 'अप्प्रकाशित' पढते हैं। यह भी आघात या स्वराघात ही है।

ध्वनियोंमें हेर-फेरके कारण

कुछ लोगोने बताया है कि नीचे लिखे कारणोसे ध्वनियोमें हेर-फेर होता रहता है—

१. अलग-अलग मुँह होने से, जैसे 'राम' को 'गाम' कहना और कान-मे गड़बडी होनेसे जैसे अंगूरको लगूर कहना। २ ठीक-ठीक सुनी हुई ध्वनि मुँहसे निकाल न पा सकने से, जैसे 'कृष्णजी' को कुस्नजी या किरशनजी कहना। ३ शब्द या अर्थकी ठीक जानकारी न होनेसे जैसे 'छात्र' को त्रात्र कहना। ४. बोलनेमे हडबडी करनेसे जैसे 'अहमदाबाद' को अमदाबाद कहना। ५ बोलनेमे सुविधा ढूँढनेसे जैसे 'मास्टर साहब' को माट्साब कहना। ६ प्यार या रीझ-खीझमे बनकर बोलनेसे जैसे 'संजय' को सजू कहना। ७ दूसरी बोलियोके मेलमे आनेसे जैसे 'आर्ट्स कौलेज्'को आट कालिज कहना। ८.अलग-अलग पानी-बयारमे रहनेसे। ९ कोई बड़ी भगदड या मार काट होनेपर लोगोके इधर-उधर बिखर जानेसे। १० लिखनेकी गडबडीसे, जैसे 'खड्ग' को खङ्ग पढना। ११ लम्बे शब्दोको छोटा करनेकी चाहसे जैसे 'साइकिल-रिक्शाको' रिक्शा कहना। १२. हल्के व्यजनोके निकलनेसे जैसे 'पहला'को पैला कहना। १३. बोलीकी ध्वनियोके अपने आप आगे बढने और पनपनेसे जैसे 'वर्त्तते' से भोजपुरी 'बाटै' बन गया। १४ कवितामे तुक बैठानेके लिये तोडने-मोड़नेसे जैसे 'राज' का राजू। (पिता दीन मोहि कानन राजू)। १५ एक-सी ध्वनियोवाले शब्दोके साथ घपला हो जानेसे जैसे पंचम और सप्तमके जोडपर 'षष्ठ' से षष्ठम बना लेना। १६. ध्वनिकी चोट (स्वराघात) देनेसे नहीं जैसे 'लोटा'का लोट्टा, 'कवि'का कवी। १७ आपसमे मेलजोल (सामाजिक ससर्ग) बढनेसे जैसे गाँवके लोगोके मुँहमे पडकर राशन भी रासन और मिनिस्टर भी मिलश्टर बन गए। १८ बिना जाने पडिताई छाँटनेसे, जैसे जनाबको ज्जनाब या 'माधुर्य' को 'माधुर्यता' कहना। १९ दूसरी बोलीके शब्दका अर्थ अपनी बोलीकी ध्वनिपर ढालकर बनानेसे जैसे 'औनरेरी कोर्टको' अँधेरी कचहरी कहना।

ये लोग मानते हैं कि ध्वनियोमे हेर-फेर दो ढङ्गके होते है—१. अपने आप हेरफेर (अनकन्डिशनल या स्पौन्टेनियस) और २ बाहरी लगावसे हेरफेर (कन्डिशनल या कौन्टेक्ट)। बाहरी लगावसे

होनेवाले हेरफेर तब होते है जब ऊपर बताए हुए उन्नीस कारणोमेसे कोई कारण आ खडा हो।

पर हमारा मत है कि ध्वनिमे केवल चार ही कारणोसे हेर-फेर होता है—१ अनाडीपन (अज्ञान) से, २ जान बूझकर दूसरेकी बालीका अनुकरण करके बोलनेसे, ३ प्यार या रीझ-खीझमे बिगाड़कर बोलनेसे, ४ अपनी बोलीकी ढलनपर ढाल लेनेसे।

जब कोई व्यक्ति किसी शब्दको जानता नहीं है तब ठीक-ठीक सुनने पर भी वह उसको बिना जाने उसकी रीस करनेके लिये या वैसा ही बोलनेके लिये जो जतन करता है उसीसे सब गडबड़ी आ खड़ी होती है। ऊपर गिनाई हुई २, ३, ४, ५, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७, १९ सख्यावाली बातें तो अनाडीपनमे ही आ जाती है।

दूसरी बात यह है कि सब भाषाओमे बोलनेके कुछ अपने-अपने लटके हाते हैं। यह उस बोलीका अपना चलन (स्वभाव) कहलाता है। उस बोलीके या उस बोलीमे बोलनेवाले लोग बोलते हुए सदा उसी बोलीका चलन लेकर बोलते है। ७, ८, ९, संख्यावाले कारण इसीमे आ जाते है। पढे-लिखे समझदार लाेग भी कभी-कभी सुननेवालेको देखकर और अलग-अलग बोलियोके ढगपर अदल-बदलकर बोलते रहते है। इसे हम अनजानपन या अनाडीपन नहीं कह सकते। यह तो जान-बूझकर दूसरेकी बोलीके चलनके साथ ढलना है।

प्यार या रीझमे या बनकर बोलनेसे भी ध्वनियोमे हेरफेर हो जाता है। ६ और १८ सख्याके कारण इसीमे आ जाते है।

हम पहले ही बता आए है कि मुँह और कानकी बनावट अलग-अलग होने और पानी-बयार और धरती बदलनेसे ध्वनियोमे हेरफेर नहीं होता।

ध्वनियोंमें हेरफेरके ढंग : निरुक्तवाले पाँच ढगोसे शब्दोंकी बनावट बताते हैं—१. शब्दमे किसी अक्षरका बाहरसे आकर जुड जाना (वर्णागम)। २ शब्दके अक्षरोमे उलट-पलट या इधरका उधर हो जाना (वर्ण-विपर्यय)। ३ शब्दके किसी एक अक्षरके बदले दूसरा

अक्षर आ जाना (वर्ण-विकार)। ४ शब्दोमेसे किसी अक्षरका निकल जाना (वर्णलोप या वर्ण नाश)। ५ जैसा अर्थ हो उसीके ढग पर धातुका अर्थ मान लेना (धात्वर्थातिशययोग)।

आजकल बोलियोकी छानबीन करनेवाले लोगोने पन्द्रह ढगसे ध्वनियोमे हेर-फेर बताया है—१ नई ध्वनिका आना (वर्णागम); २. उलट-फेर (विपर्यय), ३ हटना (वर्णलोप), ४ अपनेमे समा-लेना (आत्मीकरण या सवर्णीकरण), ५ अपना रूप बदलना (विकार, रूप-त्याग या विषमीकरण), ६ मेल (सन्धि), ७ साँसके अक्षर (श ष स ह) बनना (ऊष्मण), ८ नकियावन (अनुनासिकन) ६. अक्षरके खिचावमे भेद करना (अभिमात्रण), १०. साँसकी धौक देकर बोलना (महाप्राणन), ११ साँसकी कम धौक देना (अल्पप्राणन), १२ स्वर-ढलाव (ऊमलाउट या अभिश्रुति), १३ स्वर-फेर (एब्लाउट या अपिश्रुति), १४ भारी (घोष) करना, १५ धीमा (अघोष) करना।

१. नई ध्वनिका आना [वर्णागम] : कहा जाता है कि जीभ कम चलानेकी छूट देनेके लिये अपनी बोलीमे नई ध्वनियाँ आ जाती हैं। ये स्वरोमे भी आती हैं और व्यंजनोमे भी, यहाँ तक कि कभी कभी तो स्वर मिले हुए व्यंजन-तक नये-नये आ जाते हैं।

स्वरागम : नये स्वर तीन ढगसे आते है—१ शब्दके पहले (आदि-स्वरागम या प्रोथीसिस) जैसे 'स्कूल' का इस्कूल। २ बीचमे (मध्यस्वरागम, स्वरभक्ति या एनैप्टिक्सिस) जैसे पंजाबी मे स्टूडेण्डको सटूडेण्ट, प्रसाद को परसाद, या मंडीका मडई। ३ [ग] पीछे स्वर आना (अन्तस्वरागम) जैसे 'गनपति'का गनपतिओ।

एक जैसे स्वरका पहले आना (स्वर्णागम, अपिनिहिति या एपेन्थेसिस) : कुछ लोग अपिनहिति या सवर्णागमके ढंगसे स्वरका आना मानते हैं। कुछ लोग मानते है कि सवर्णागम तब होता है जब शब्दमे एक स्वर पहलसे रहता हो और उसीके साथ एक दूसरा उसीके जैसा स्वर उससे पहले आ पहुँचे जैसे सस्कृतके तरुण शब्दमे त् के साथ अ लगा हुआ

है पर अवेस्तामे इसी त का तउरुण हो जाता हे। हमारे यहाँ अवधी बोलीमे भी इसी ढंगसे सवर्णागम होता है जैसे—लोटा (ल्+ओ+ ट्+आ) का ल्वाटा (ल्+ओ+आ+ट्+आ) हो जाता है। यहाँ आया हुआ स्वर आ है। इस ढंगसे तो 'तनिक'से बिगडे हुए 'तिनिक'के 'ति' मे जो 'इ' आ गई है वह भी अपिनिहिति मानी जायगी। पर वह सीधा मध्यस्वरागम है। बहुतसे लोग भूलसे इस्त्री (स्त्री) शब्दके इ को भी समस्वरागम मानते है पर यह आदिस्वरागम ही है। कुछ लोग यह मानते है कि आदिस्वरागममे कोई भी स्वर आ सकता है जैसे स्तुतिमे अस्तुति, पर अपिनिहितिमें ठीक वही स्वर आना चाहिए जो पहले शब्दमे हो। पर यह ठीक नहीं है। हम ये सब भेद ही नहीं मानते क्योकि आदि, मध्य और अन्त-स्वरागममे ही ये सब समा जाते है।

कुछ लोग अपिनिहिति (सवर्णागम) और स्वर-भक्ति (शब्दोके बीचमे स्वर आने) को एक ही मानते हुए कहते हैं कि स्वरभक्ति तो दो व्यंजनोके मेलसे बने हुए अक्षरसे पहले आती है जैसे इस्टेशन मे स्टेसे पहले 'इ', पर अपिनिहिति वहाँ होती है जहाँ अकेले व्यंजनसे पहले स्वर आ जाय जैसे परौंठाके पहले 'उ' लगाकर उपरौठा या 'कलक' के पहले अ' लगाकर अकलक बोलते हैं। पर सच पूछिए तो ये दोनो भी आदि-स्वरागम के ही दो साँचे हैं।

व्यंजनागम : व्यञ्जन भी शब्दमे तीन ढंगसे आते हैं—[क] शब्दमे पहले व्यजन आ जाना (आदि-व्यंजनागम) जैसे औरगाबाद का नौरगाबाद। [ख] बीचमे व्यजन आना (मध्यव्यजनागम) जैसे शाप का श्राप। [ग] पीछे व्यजन जुडना (अन्तव्यजनागम) जैसे राधाकृष्ण का राधाकृष्णन्।

अक्षरागम : स्वर मिला हुआ व्यजन (अक्षर) भी कभी-कभी शब्दमे पहले, बीचमे या पीछे आ जुडता है। [क] शब्दसे पहले स्वरके साथ व्यंजन (अक्षर) का आना (आदि-अक्षरागम), जैसे फजूलका बेफजूल, [ख] शब्दके बीचमे अक्षर आना (मध्य-अक्षरागम), जैसे कमडलु का करमडल, सुशील का सुरसील, अमूल्य का अनमोल और

आलस का आलकस। [ग] शब्दके अन्तमे अक्षर आना (अन्ताक्षरागम) जैसे जीभ का जीभडी, रग-का रगत।

२. ध्वनियोंमें अदला-बदली (वर्ण-विपर्यय या मैटाथीसिस):
जब किसी शब्दमे कोई स्वर या व्यञ्जन या अक्षर आपसमे अदल-बदल जाते है उसे विपर्यय या अदला-बदली कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—१ पासवाले (पार्श्ववर्ती अक्षरमे जैसे चिह्न का चिन्ह, २ दूरवाले अक्षरमे (दूरवर्ती) जैसे पहुँचाना का चहुँपाना। यह उलट फेर स्वर, व्यजन और अक्षर तीनोमे होते हैं।

स्वरोमे अदला-बदली [क] पासके स्वरोमे अदला-बदली (पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय) जैसे कुँअरजी का कँउरजी। [ख] दूरके स्वरोमे उलट-फेर (दूरवर्ती स्वर-विपर्यय) जैसे काजर का कजरा, पागल का पगला।

व्यजनोमे अदला-बदली : [क] पासके व्यञ्जनोमे अदला-बदली (पार्श्ववर्ती व्यजन-विपर्यय) जैसे चिह्न का चिन्ह, ब्राह्मण का ब्राम्हण, सिग्नल का सिन्गल, मह्यं का (पालिमे) मय्ह। [कुछ लोगोने भूलसे डूबना के बूडना को भी पासके व्यजनोका उलट- फेर माना है पर वे यह भूल गए कि इन व्यंजनोके बीचमे स्वर भी फँसे हुए है।] [ख] दूरके व्यजनोमे अदला-बदली (दूरवर्ती व्यजन-विपर्यय) जैसे १. (स्वरका बीच देकर) 'पिशाचमोचन' का पिचासमोचन और २ (व्यंजनोका बीच देकर) जैसे चिल्ड्रेन्स स्कूल का चिन्ड्रल्स इस्कूल। [इसके उदाहरणोमे कुछ लोगोने भूलसे लखनऊ का नखलऊ भी दिया है पर वह तो अक्षर-विपर्यय (स्वर मिले हुए व्यजनकी अदला-बदली) है, अकेले व्यजनकी नहीं।]

अक्षरोमे अदला-बदली [क] पासके अक्षरोमे अदला-बदली (पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय), किसी शब्दमे पास-पासके पूरे अक्षरोमे अदला-बदली हो जाती है जैसे लखनऊ का नखलऊ। [ख] दूरके अक्षरोमे अदला-बदली (दूरवर्ती अक्षर विपर्यय) जैसे गुलनार का गुरनाल। [ग] स्वर, व्यजन या अक्षरोकी कूद (वर्णोत्प्लवन) अर्थात् स्वर, व्यजन या अक्षरका अपनी ठौरसे उठकर कहीं दूसरी ठौरपर जा बैठना जैसे— दउँगड़ा (पहली वर्षा) का दगउँडा, फितरती का तरफिती। [घ] वाक्योमे

शब्दके टुकडोकी अदला-बदली (लयान्विति-विपर्यय या स्पूनरिज्म)। औक्सफार्डके प्राध्यापक डा० डब्ल्यू० ए० स्पूनर (१८४४-१९३०) जब बोलते थे तब उनकी जीभ लटपटाकर किसी वाक्यके शब्दोके टुकडे ही इधरसे उधर कर देते थे जैसे उन्होने एक विद्यार्थीसे 'यू हैव् वेस्टेड ए होल टर्म' (तुमने एक पूरा सत्र नष्ट कर दिया) के बदलेमे कहा—"यू हैव टेस्टेड ए हाल वर्म" (तुमने एक पूरा कीडा चख लिया)। हम लोग भी कभी-कभी बोलते हुए 'दाल-भात'का भालदात या 'तुम पढ़ने नहीं जा रहे हो' के बदले 'तुम जढने नहीं पा रहे हा' कह देते है। ऐसी भूलें अनमनेपनसे, हडबडीमे या घबराहटमे ही निकलती है।

३. ध्वनिका निकल जाना (वर्णलोप या एलिजन): कभी-कभी हम लाग झटके या हडबडीमे बालते हुए ध्वनियोको चबा या खा जाते है जिससे वे ध्वनियाँ पूरी मिट जाती है। ऐसे स्वरो, व्यजनो और अक्षरोके निकल जानेको लोप कहते हैं। यह लोप या घिसाव या ता शब्दकी पहली ध्वनिका होता है या बीचकी या पीछेकी।

स्वर निकलना (स्वर-लोप): [क] शब्दके पहल आए हुए स्वरका मिटना (आदि-स्वर-लोप या ऐफैसिस) जैसे अनाज का नाज, उठाना का ठाना, अधेला का धेला, अमावस का मावस। [ख] शब्दके बीचका स्वर मिटना (मध्य-स्वर-लोप या सिनकोपी) जैसे फारसीके ज़ियादह का ज़्यादह्, बदरीदास का बद्रीदास। [ग] अन्तका स्वर निकल जाना (अन्तस्वर-लोप) जैसे कलम का कलम्, रीति का रीत्।

व्यजन निकलना (व्यंजन-लोप): [क] शब्दका पहला व्यंजन निकल जाना (आदि-व्यजन-लोप) जसे स्थालीका थाली, स्फोटका फोड। [ख] शब्दके बीचसे व्यंजन निकल जाना (मध्य-व्यजन लोप) जैसे सूचीसे सूई, कायस्थसे कायथ। [ग शब्दके अन्तसे व्यजन निकल जाना (अन्त व्यजन लोप) जैसे पालिमे भगवान् का भगवा।

लयकी झोक निकल जाना (लयान्विति-लोप या सिलेबिक एलिजन): कभी-कभी शब्दोके पहले, बीच या पीछे आनेवाली पूरी लयान्विति (सिलेबिल्) ही निकल जाती है।

[क] शब्दकी पहली लयान्विति निकल जाना (आदि-लयान्वितिलोप (ऐफ़ैरेसिस) जैसे बद्बूका बू, बाइसिकिलका साइकिल, एअरोप्लेनका प्लेन रह जाना; [ख] बीचसे लयान्विति निकल जाना (मध्यलयान्विति-लोप) जैसे 'मास्टर साहब'का मास्साब रह गया, टर निकल गया। [ग] शब्दके पीछे की लयान्विति निकल जाना (अन्त-लयान्विति-लोप) जैसे माताका माँ या पानीयम्का पानी रह गया। [घ] एक जैसी दो लयान्वितियोमेसे एक-का निकल जाना (समलयान्विति-लोप या हैप्लोलौजी)। अमेरिकाके ब्लूमफील्डने कहा है कि कभी-कभी जब एक शब्दमे एक ही लयान्विति (सिन्बिल्) दो बार आवे तो एक निकल जाती है जैसे नाककटाका नकटा।

४. अपने जैसा बनाना (सवर्णीकरण, आत्मीकरण या ऐसिमिलेशन) : कभी-कभी जब दो ध्वनियाँ एक साथ आती हैं तब उनमेसे एक ध्वनि दूसरीको मिटाकर अपनेको दुहरा कर लेती है जैसे पक्वसे पक्का। इसीको सवर्णीकरण कहते हैं। यह दो ढगसे होता है—१ आगे आनेवाली ध्वनिको अपने जैसा बना लेना, और २. अपनेसे पहले आने-वाली ध्वनिको अपने जैसा बना लेना। ये भी दो ढगसे होते हैं—कभी तो पास-पासकी दो ध्वनियोमेसे एक ध्वनि, दूसरी ध्वनिको अपने जैसा बना लेती है और कभी एक ही शब्दकी एक ध्वनि उसी शब्दमे दूर बैठी हुई ध्वनिको अपने रूपमे बदल लेती है।

व्यजनोका सवर्णीकरण [क] दूरपर आगेवाली ध्वनिको अपने जैसा करना, (दूरस्थ पर-सवर्णीकरण, इन्कौटैक्ट प्राग्रेसिव ऐस्सिमिलेशन या अपार्श्वस्थ अग्रात्मीकरण) जैसे खटपट का खटखट हो गया है। (ख) पासकी अगली ध्वनिको अपने जैसा करना (पार्श्वस्थ पर-सवर्णीकरण, अग्रात्मीकरण या कौन्टैक्ट प्रोग्रेस्सिव ऐसिमिलेशन) जैसे—चक्र का चक्का, पक्वका पक्का, पत्रका पत्ता। [ग] दूरपर पहले आई हुई ध्वनिको अपने जैसा करना (दूरस्थ पूर्व-सवर्णीकरण या इन्कौन्टेक्ट रिग्रेस्सिव ऐसिमिलेशन) जैसे बारहसिंगाका सारहसिंगा। [घ] पासके पहले व्यजनको अपने जैसा बना लेना (पार्श्वस्थ पूर्व-सवर्णीकरण या कौन्टैक्ट रिग्रेस्सिव एसिमि-लेशन) जैसे धर्मका धम्म, कलक्टरका कलट्टर।

स्वरोंमे अपनानेकी चाल · इस ढगके आत्मीकरण स्वरोमे भी होते हैं—[क] दूरके अगले स्वरको अपने जैसा बनाना (दूरस्थ अग्रात्मीकरण या इन्कौन्टेक्ट प्रोग्रेस्सिव ऐसिमिलेशन) जैसे जुल्मका जुलुम। [ख] दूरपर पहलेवाले स्वरको अपने जैसा बना लेना (दूरस्थ पूर्वात्मीकरण या इन्कौन्टेक्ट रिग्रेस्सिव ऐसिमिलेशन) जैसे अवधीमे तेहि का तिहि। [ग] पासके स्वरको अपने जैसा बना लेना (पार्श्वस्थ आत्मीकरण या कौन्टेक्ट-ऐसिमिलेशन) जैसे भोजपुरीमे दिअर (द्वीप) का दिइर।

मिटना (विलयन) : दोनोका मिटना (उभय विलयन या म्यूचुअल ऐसिमिलेशन)। कभी-कभी दो पास-पास बैठे व्यञ्जन आपसमे लड मरते हैं और उनके बदले कोई तीसरा व्यजन आ बैठता है जैसे पक्षीका पंछी, सत्यका सच।

५. बिगाड़ (विकार, रूपत्याग या डिस्सिमिलेशन)। कभी-कभी एक शब्दमे ही एक-सी दो ध्वनियोमेसे एक ध्वनि अपना रूप छोडकर दूसरा रूप बना लेती है। व्यजनो और स्वरो दोनोमे यह रूप बदल होता है और इनमें कभी तो एक जैसे वर्णोंमेसे आगेके अक्षरका बिगाड होता है, कभी पहलेका और कभी किसी भी अक्षरका।

व्यंजनोमे बिगाड · [क] आगे आनेवाले व्यंजनमे बिगाड (अग्रगत विकार) जैसे काक का काग, ककण का कंगन। [ख] पहले आनेवाली ध्वनिमे बिगाड (पूर्वगत विकार) जैसे जगन्नाथका जगर्नाथ, दरिद्रका दलिद्दर, हनूमानका हलूमान।

स्वरोमे बिगाड : स्वरोमे भी इस ढंगके रूप-बिगाड़ देखे जाते हैं—[क] आगेवाला स्वर बदल जाना (अग्रगत विकार), जैसे पुरुषका प्राकृतमे पुरिस। [ख] पहलेवाला स्वर बदलना (पूर्वगत विकार) जैसे मुकुटका मउर।

६. मेल (संधि) : जब हम हड़बडाकर झटपट बोलने लगते हैं तब एक शब्दके भीतर आनेवाली दो ध्वनियाँ मिलकर अपनेमेसे किसी स्वर या व्यजनको या तो निकाल फेंकती हैं या उनमें कुछ हेरफेर कर लेती

हैं। अँगरेज़ी विद्यालयोंमें पढ़नेवाले लड़के अपने गुरुजीको मास्टरसाहब न कहकर माट्साब् कहते हैं। इसमें स्, र, ह को तो वे खा ही जाते हैं, साथ ही ट सा और ब को भी आधा करके (अर्द्ध-मात्रिक बनाकर) बोलते हैं।

७. साँसकी ध्वनि बनाना (ऊष्मण या ऐसिबिलेशन) : कभी-कभी किसी शब्दकी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म (श ष स ह) बन जाती हैं जैसे कैन्टुम का कुछ भाषाओंमें शतम् हो गया है।

८. नकियावन (अनुनासिकन या नैसेलाइजेशन) : कुछ बोलियोंमें बाहरसे लिए हुए शब्द या अपनी बोलीके शब्द कुछ नकियाकर बोले जाते हैं। हिन्दीमें आँख, गाँव, टाँग, पाँच, जूँ, सींक, भौंह जैसे बहुतसे शब्दोंकी ध्वनियोंको नकियाकर बोलनेकी ही चाल है। फ्रासीसी बोलीमें भी इसी ढगसे नकियानेकी चाल है जैसे आँकोर (एक बार और)।

९. ध्वनियोंके खिंचावमें भेद (मात्रा-भेद) : कभी-कभी एक शब्दमें किसी स्वरका खिंचाव (मात्रा) लम्बा, किसीका छोटा हो जाता है। आकाश से अकास और बादाम से बदामका खिचाव लम्बे (दीर्घ) से छोटा (ह्रस्व) हो गया है। कहीं-कहीं ह्रस्वसे दीर्घ भी हो जाता है जैसे कल का कालि, कवि का कवी, यति का यती, गुरु का गुरू।

१०. घहराई हुई बनना (घोषीकरण या वोकलाइजेशन) : कभी-कभी क, च, ट, त, प जैसी धीमी (अघोष) ध्वनियाँ भी ग, ज, ड, द, ब जैसी गहरी (घोष) हो जाती है जैसे मकरका मगर, शाकका साग, शतीका सदी।

११. धीमी हो जाना (अघोषीकरण या डीवोकलाइजेशन) : कहीं-कहीं घोष (ग ज ड द ब) का अघोष (क च ट त प) हो जाता है जैसे खूबसूरत का खपसूरत या भोजपुरी में डंडा का डटा।

१२. साँसकी गहरी धौंक भरना (महाप्राणन या ऐस्पिरेशन) : कभी-कभी अल्पप्राण (क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब) ध्वनियाँ

महाप्राण (ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ) हो जाती है जैसे भक्तका भगत।

१३. कम साँस भरना (अल्पप्राणन या डीऐस्पिरेशन) : कुछ शब्दोमे महाप्राणका अल्पप्राण भी होता है जैसे साँझ का साँज, सिन्धु का हिन्दु। कुछ महाप्राण घोष (घ झ ढ ध भ) बदलकर अल्पप्राण अघोष (क च ट त प) हो जाते हैं जैसे पजाबीमे धेनु का तेनु, भानु का पानु, भाई का पाई और भ्राताका प्रा हो जाता है।

१४. स्वर-ढलाव (स्वर-भावन, ऊमलाउट या वौवेल म्यूटेशन) : ट्यूटोनी बोलियोके शब्दोमे इ (i) या य (j) भी किस लयान्विति (सिलेबिल) मे अपनेसे पहले अनेवाले स्वरको जैसे ऊ (uu) को ई (yy) की ढलनपर ढाल लेते है। ऐसा ढलाव ट्यूटोनी बालियोमे होता है जैसे पुरानी अग्रेजीके 'मूस' (mūs=mouse) शब्दका बहुवचन पुरानी अग्रेजीके मूसी (mūsi) से बना मीस (mȳs=mice)। इसमे पहले तो (s) का बना स्य (sj) और इस 'य' के ढलावर पर मूस्यका ऊ भी ई बन गया। इसे ग्रिमने ऊमलाउट (स्वर-ढलाव या स्वर-भावन या अभिश्रुति) कहा है। इसके अनुसार ई से पहले आनेवाला कोई भी स्वर ई की ढलनपर ढल जाता है।

१५. स्वर-फेर या अर्थ बदलनेके लिये स्वर-बदलना (स्वरावर्त्त या एब्लाउट या वौवेल ग्रेडेशन) : कुछ बोलियोके कुछ शब्दोके किसी एक स्वरको अदल-बदलकर बहुतसे अर्थ बना लिए जाते है जैसे हिन्दीमे 'मिल' शब्दके स्वरोको बदलकर 'मेला, मिला, मिलूँ, मिले, मिली' बनाकर 'मिल' के ही कई अर्थ बना लिए जाते हैं। अरबीमे जितने माद्दा (धातु) है उन सबके तीन व्यजनोमे ही स्वरोका हेर-फेर करके अर्थ बदल देते हैं जैसे तूलूब् से तलब, तालिब और तुलबा बना लेते है।

स्वरोमे जो यह हेर-फेर होता है वह दो ढगका होता है—१. रूप या बनावटमे हेर-फेर (रूप-परिवर्तन या कालिटेटिव चेञ्ज) और

२ खिचाव्रमे हेरफेर (मात्रा परिवर्तन या क्वान्टिटेटिव चेञ्ज)। इनमेंसे पहलेमे तो पूरा स्वर ही बदलकर कुछ दूसरा ही बन जाता है जैसे 'मिल' का 'मेल' और दूसरेमे ह्रस्वका दीर्घ या दीर्घका ह्रस्व हो जाता है जैसे मिल का मिला, भुना का भूना।

ऊपर जो पन्द्रह ढंगसे ध्वनियोके हेरफेर बताए गए है सब गिने-चुने चार ढगोके भीतर आ जाते है—

१ वर्णागम : शब्दमे जो नया वर्ण आया हो, वह चाहे पहले आया हो या बीचमे या पीछे और वह स्वर हो, व्यजन हो, एक मात्रामे हो, दोमे हो या आधीमे हो, सब आगमके भीतर ही समा जाते हैं।

२. वर्णलोप : शब्दका जो भी वर्ण निकल जाता हो, वह चाहे स्वर हो या व्यंजन और वह शब्दके पहले, बीच, या पीछे कहींसे निकल जाय, सब लोपके भीतर आ जाते हैं।

३ वर्णविपर्यय : शब्दोमें वर्णोंकी भी जो अदला-बदली होती है वह भी स्वरोमे हो या व्यजनोंमें हो या आगे-पीछे कहीं भी हो, सब विपर्ययमे आ जाती है।

४ वर्णविकार शब्दमे एक वर्णके बदले जो दूसरा कोई वर्ण आ जाता है, उसी विकारके भीतर आत्मीकरण (सवर्णीकरण), विकार (रूप-त्याग, असावर्ण्य या विषमीकरण), ऊष्मण, अनुनासिकन, अभिमात्रण, घोषीकरण, अघोषीकरण, अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण, अर्थ बदलनेके लिये स्वरफेर (अपिश्रुति या वौवेल ग्रेडेशन) और स्वरढलाव (स्वर-भावन या ऊमलाउट) सब आ जाते हैं।

७

ध्वनि-परिवर्त्तनके नियम

ध्वनि-नियम और ध्वनिवृत्ति : कुछ लोगोने बतलाया है कि जहाँ ध्वनियोमे किसी सधे हुए या नपे-तुले ढंगसे हेरफेर नहीं होते हैं ऐसे ढंगको ध्वनि-नियम (फोनेटिक लौ) न कहकर ध्वनिकी टेव, या

ध्वनि-वृत्ति (फोनेटिक टेन्डेंसी) कहना चाहिए क्योकि नियम तो सदा एक बँधे-बँधाए साँचेमे ही रहता है, पर टेव तो बनी भी रह सकती है और कभी-कभी उसमे कुछ हेरफेर भी हो सकता है। इस आधारपर कुछ लोग मानते है कि पुरानी बोलियो और पूरी बन चुकी हुई बोलियोकी ध्वनियोके लिये तो ध्वनि-नियम बनते हैं पर जो बोलियाँ अभी बोली जा रही है और आगे भी बोली जाती रहेगी उनके लिये जो कसौटी बनती है उसे टेव ही कहना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि—१ एक बोलीकी ध्वनियोमे हेरफेर होनेके नियम दूसरी बोलीके लिये नहीं काम आ सकते। २ एक बोलीकी सब ध्वनियोपर एक ही नियम नही चलता, कुछ गिनी-चुनी ध्वनियो या ध्वनियोके घेरे-पर चलता है। ३ ध्वनिमे होनेवाले हेरफेर कभी किसी बोलीमे किसी एक समय ही होते है, सदा नहीं चलते रहते। ४ ऐसी कोई भी ध्वनि किसी बोलीके किसी एक समयमे अललटप न बदलकर किसी कारणसे बदलती है जैसे अँगरेजीके 'लौघ' (Laugh) को लौफ उच्चारण करनेका नियम जर्मन भाषामे नहीं चल सकता। बैसवाड़ीमे 'लोटा' को ल्वाटा कहनेकी चाल उत्तर-भारतकी दूसरी बोलियोमे नहीं है।

हमारी बोलियोंमें हेरफेर : वैदिक सस्कृतमे पहला हेरफेर तब हुआ जब लोग सस्कृतमे काव्य और दूसरे ग्रन्थ लिखने लगे। वेदकी सस्कृत के 'कर्णेभि.' का काव्यकी सस्कृतमे 'कर्णैः' हो गया। दूसरा हेरफेर तब हुआ जब प्राकृतोका चलन बढने लगा और सस्कृतके शब्द प्राकृत रूपोमे ढलने लगे। फिर संस्कृत और प्राकृतकी ध्वनियाँ अपभ्रंशोकी ढालपर ढलने लगीं और उसके भी नियम बन गए कि सस्कृत और प्राकृतकी कौन-सी ध्वनि किस देशके अपभ्रशमे क्या बन जाती है जैसे पुरुष शब्दका किसी प्राकृतमे पुरिस और किसीमे पुलिस (राजपुरुष= राजपुरिसो और लाजपुलिसो) हो गया। फिर अपभ्रंश भी बिगडकर आजकी देशी बोलियोकी ध्वनियोमे ढल निकला। संस्कृतका अग्नि प्राकृतमे अग्गि बनकर अपभ्रशमे आया और आजकी बोलियोमे आग, आगी, अगिया बनकर चलने लगा और पुल्लिगसे स्त्रीलिंग भी हो गया।

ग्रिमका नियम : डेनमार्क-निवासी रास्क और इहरेने तो यह बताया कि जर्मन-परिवारकी बोलियोमे कौन-सी ध्वनियाँ किस ढंगसे बदलीं पर उसका पूरा ब्यौरा जर्मनी-वासी ग्रिमने (१८८२) ही दिया। १. ग्रिमने माना है कि हिन्द-परिवारकी बोलियाँ किसी एक आदिम बोलीसे निकली है। २ इस आदिम बोलीकी ध्वनियाँ सस्कृत, यूनानी (ग्रीक) और लातिन (लैटिनन) मे मिलती है। इनमे भी सस्कृतकी ध्वनियाँ आदिम बोलीकी ध्वनियोसे बहुत अधिक मिलती-जुलती है। ३. ग्रिमके नियम हिन्द-यारोपीय बोलियोके जर्मन परिवार या त्यूतोनी बोलियोपर ही लागू होते है। ४. इस जर्मन-परिवारकी बोलियोकी ध्वनियोमे दो बार हेरफेर हुए—(क) इतिहाससे बहुत पहले जब जर्मन-भाषाओके व्यजन अन्य हिन्द-योरोपीय बोलियोके व्यजनोके रूपसे अलग हो गए। (ख) दूसरा हेरफेर (लाउटवेअरशीबूग) सातवी सदीके लगभग हुआ जब ऊँची जर्मन (आजकी जर्मन बोली) और नीची जर्मन (अँगरेज़ी, डच, गोथिक आदि) की ध्वनियाँ अलग हो गई।

पहला उलट-फेर (प्रथम ध्वनि-परिवतन) : इतना मानकर ग्रिमने यह नियम बनाया कि पहले हेर-फेरमे आदिम हिन्द-योरोपीय (सस्कृत, यूनानी, लैटिन) बोलियोके व्यजनोके अघोष अल्पप्राण (क त प) का जर्मन बोलियोमे घोष (ख थ फ) या (घ ध भ), आदिम बोलीके महाप्राण (ख थ फ और घ ध भ) का जर्मन बोलियोमे घोष अल्पप्राण (ग द ब), और आदिम बोलीके घोष अल्पप्राण (ग द ब) का जर्मन बोलियोमे अघोष अल्पप्राण (क त प) हो गया।
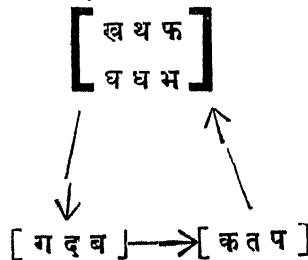
यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि दाँतके सहारे बोले जानेवाली (दन्त्य या तवर्ग) ध्वनियाँ तो ठीक ढगसे चक्कर खाती हैं (थ का द, द का त और त का ट हो जाता है) पर कवर्ग और पवर्ग एक ही पग चलते हैं अर्थात् आदिम बोलीके ख का ग और फ का ब हो जाता है, इससे आगे नहीं।

ग्रिम मानता है कि हिन्द-योरोपीय बोलियाँ जिस आदिम (मूल) बोलीसे निकलीं उसके कुछ व्यजन आगे चलकर हिन्द-योरोपीय बोलियोमें इस प्रकार बदल गए—

आदिम (मूल) हिन्द योरोपीय बोली (सस्कृत, लैटिन, यूनानीमें सुरक्षित) के

घोष महाप्राण	घोष अल्पप्राण	अघोष अल्पप्राण
(घ ध भ)	(ग द ब)	(क त प)
का	का	का
जर्मनीय बोलियोंमें	जर्मनीय बोलियोंमें	जर्मनीय बोलियोंमें
घोष अल्पप्राण	अघोष अल्पप्राण	घोष-अघोष महाप्राण
(ग द ब)	(क त प)	(ख (ह्) थ फ) (घ ध भ)
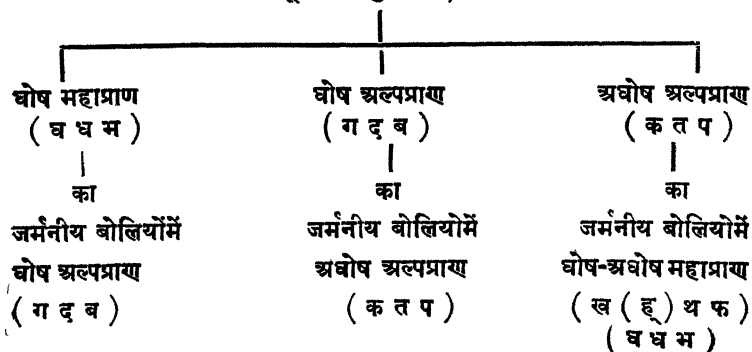
ग्रिम मानता है कि आदिम बोलीके कुछ व्यंजन सस्कृत जैसी पुरानी बोलियोमे अभीतक बचे हुए है।

दूसरा उलटफेर (द्वितीय ध्वनि-परिवर्त्तन) : दूसरे उलटफेरमे जब ऊँचा जर्मनवाले सब एक साथ रह गए तब नीची जर्मन या आदिम जर्मनके ग द ब, क त प और ख (ह्) थ फ, आजकी जर्मन बोली या ऊँची जर्मनमे क्रमसे क त प, ख थ फ और ग द ब हो जाते है। पृष्ठ ७१ पर दिए हुए चक्रमे नीचेके दाएँ कोनेसे हम बाणकी दिशामे एक-एक पग बढें तो हमे दूसरे हेरफेरका पूरा ब्यौरा मिल जायगा।

इन दोनो उलट-फेरोको आगेके खाँचेसे भली भाँति समझ सकते हैं—

ग्रिमके मतसे आदिम बोलीके व्यजनोमे
पहला उलट फेर
दूसरा उलट-फेर
स्कृत, लैटिन, यूनानीमे सुरक्षित]
आदिम हिन्द योरोपीय बोली
[अंग्रेजी, गोथिक डच आदि]
पहली या नीची जर्मन बोलियो
[आजकी जर्मन]
ऊँची जर्मन
के
मे
के
में
घ धभ का गदब गदब का क तप
गदब का कतप कतप का ख (ह्) थफ
कतप का खथफ ख(ह्)थफ का ग दब
हो गया।
हो गया।
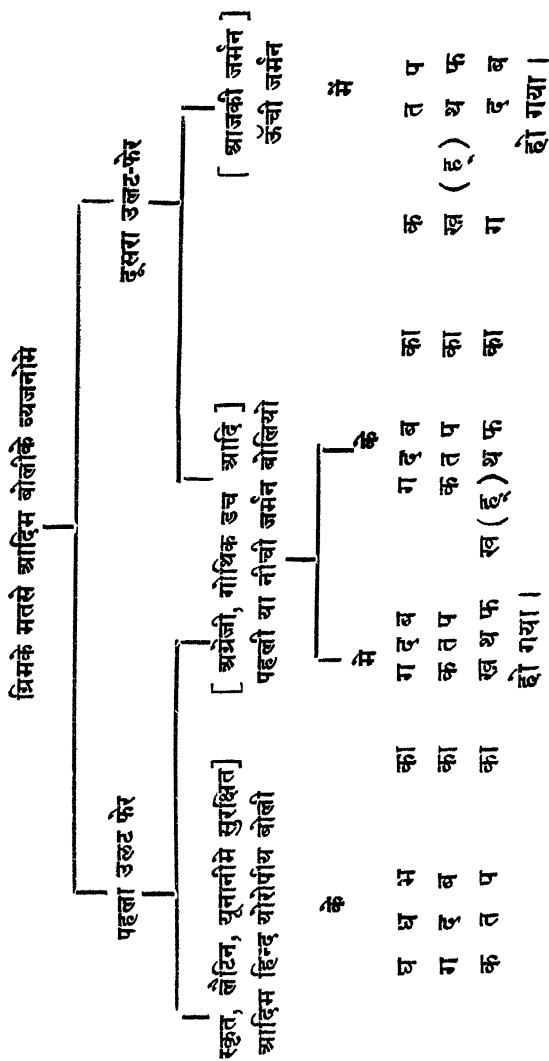
ग्रिमके नियमकी खोट : ग्रिमने नियम बनानेके पश्चात् अपने आप भी देखा कि इस नियममे ठौर-ठौरपर एक सधे हुए ढंगकी खोट मिलती है, जैसे—स्क स्त स्प के क त प मे स् के मेलके कारण कोई हेर-फेर नहीं हो पाया। ऐसे ही क्त और प्त का त भी ज्यो का त्यो रह गया और ट्ठ भी गोथिकमे जाकर थ्त और पीछे स्स हो गया। नियमोमे ये कमियाँ थीं—१. उसने दो अलग-अलग समयोमे होनेवाले ध्वनियोके हेर-फेरको एक साथ बाँध दिया और जिन दो बोलियोकी ध्वनियोके हेरफेरपर विचार किया उनमेसे दूसरीका घेरा बहुत छोटा है। २. यह हेरफेरका नियम त्यूतोनी बोलियोके लिये ही बना था, पुरानी हिन्दयोरोपीय बोलियोपर उसके नियम नहीं लगते। ३. उसने अपने नियमका कोई घेरा नही बाँधा इसलिये उसमे बहुत-सी भूलें और खोटें रह गई। इन्हीं खोटो और छूटो (अपवादो) को ठीक करनेके लिये ग्रासमान और वर्नरने अपने उपनियम बनाए।

ग्रासमानका नियम : ग्रिमके नियमसे आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके क त प का त्यूतोनी बोलियोमे ख (ह) थ फ हो जाना चाहिए था पर बहुत-से शब्दोक क त प का त्यूतोनीमे ग द ब बन गया है। इसीलिये ग्रासमानने उस नियमको सुधारकर अपना नया नियम बनाया कि 'आदिम हिद-योरोपीय बोलीके किसी शब्द या धातु या लयान्विति (सिलेबिल्) क पहल और अतके महाप्राण अक्षर (ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ), सस्कृत और यूनानीमे अल्पप्राण (क ग च ज ट ड त द प ब) हो गए हैं। संस्कृतमे धा (धारण करना) धातुसे 'धधाति' बननेके बदले 'दधाति' और 'भी' (डरना) धातुसे 'भिभेति'के बदले 'बिभेति' बनते देखकर ग्रासमानने यह बताया कि—

१ आदिम हिद-योरोपीय बोलीमे इस हेरफेरके दो रूप रहे होगे। पहले रूपमे दो महाप्राण रहे होगे दूसरेमे नहीं रहे। इसीलिये कहीं-कहीं क त प के बदले जहाँ ग द ब मिलते हैं वहाँ उस पुरानी आदिम बोलीमे इस क त प का पुराना रूप ख (ह्) थ फ रहा होगा जो हिद-योरोपीय बोलियोमे घ ध भ हो गया।

२ यूनानी और संस्कृतमे एक लयान्विति (सिलेबिल्) के पहले और पीछे दोनों ठौरपर महाप्राण स्पर्श वर्ण नहीं रह सकते। एक लयान्वितिमे एक ही प्राणवाली ध्वनि रहेगी, जैसे 'थस्थौ' न होकर 'तस्थौ' ही होगा।

वर्नरका नियम : यह देखा गया कि यूनानी और सस्कृतके बहुतसे शब्दोके क त प का जर्मन बोलियोमे ग द ब मिलता है। इसलिये वर्नरने कहा—१ ग्रिमके नियम तो स्वरकी चोट (ऐक्सेंट) के बलपर बनाए गए थे क्योकि हिन्द-योरोपीय बोलियोकी आदिम बोलीमे यदि क त प से पहले स्वराघात रहा हो तभी ग्रिमके नियमसे उलटफेर होता है पर यही स्वराघात यदि क त प के पश्चात् आनेवाले व्यजनपर हो तो इस उलट-फेरमे ग्रासमानके नियमसे ग द (ड) ब हो जाता है जैसे—संस्कृतके सप्तका जर्मनमे सीबेन और शतम् का हुडेर्ड हो जाता है। अतः शब्दके बीचमे आनेवाले क त प स के ठीक पहले आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीमे कोई उदात्त स्वर आ जाय तो उनके बदले 'ह प फ स' या 'ग (ग्व) द ब र' हो जाता है। २ सस्कृत और यूनानी बोलियोमे आदिम हिन्द-योरोपीय स्वर ठीक-ठीक मिलते है। ३. दो व्यजन मिले हुए (द्वित्व) वर्णपर ग्रिम नियम नहीं चलता, केवल अकेले वर्णोंपर ही चलता है। अत जर्मनीके मिले हुए (सयुक्त) व्यंजन ह्ट, ह्स, फ्ट, फ्स, स्क, स्ट, स्प पर ग्रिमके नियम नहीं लगते अर्थात् हिन्द-योरोपीय बोलियोके स्क, स्ट और स्प सदा ज्योके त्यो रहते हैं, कभी-कभी अग्रेजीमे कुछ हेरफेर हो जाता है जैसे स्क का श।

कौलित्सका तालव्य-नियम : विलहेल्म टौम्सन (१८७५), योहान्स स्मिट (१८२०), ऐसोय तेगर, कौलित्स और देस्साउ शोर आदि कईने तालव्य नियमकी भी चर्चा की है जिसपर वर्नरने भी पीछे छानबीन की थी, पर इसे कौलित्सका तालव्य-नियम ही कहते हैं।

सस्कृत शब्दोके च और ज के बदले अन्य हिंद-योरोपीय बोलियोमे क और ग देखकर लोगोने यह अटकल लगाई कि ये क और ग भी पहले च और ज ही रहे होगे। इसपर यह नियम बना कि—१-

सस्कृतके जिन शब्दोमे अ की ध्वनि यूनानी या लैटिन ओ जैसी है उससे पहले क या ग व्यजन मिलता है, पर यदि अ की ध्वनि यूनानी या लैटिन ई जैसी हो तो क या ग के बदले च या ज मिलते हैं। जैसे—च (च्+अ) मे अ की ध्वनि यूनानी ई जैसी है पर कल्ल के क मे आया हुआ अ यूनानी ओ जैसा है। (एक ही धातु पच् से पचति भी बनता है और पकति भी) इससे जान पडता है कि कभी सस्कृतमे अ के बदले ई और ओ स्वर रहे होगे जिसमे आगेके ई स्वर के बदले जो कण्ठसे बोला जानेवाला व्यजन रहा होगा, वह तालुसे बोला जाने लगा और तालव्य बन गया जिससे क से च और ग से ज हो गया। इस नियमके अनुसार आदिम बोलीमे कण्ठसे बोले जानेवाले व्यंजन यूनानी या लैटिनमे तालुसे बोले जानेवाले व्यजन बने मिलते हैं। इसीलिये इसे तालव्य नियम कहते हैं। इस नियमवाले मानते हैं कि हिन्द-योरोपीय बोलियोंकी आदिम या पहली बोलीसे संस्कृत इतने समीप नहीं है जितनी यूनानी या लैटिन।

२ आदिम हिंदयोरोपीय बोलीके तीसरे ढंगका क वर्ग (क्व ख्व ग्व घ्व) सस्कृतमे पहले तो कवर्ग बना रहा पर अपनेसे ठीक पहले आनेवाले स्वरकी झोकमे तालव्य (च छ ज झ) बन गया।

यूनानी और लातिन (लैटिन) नियम : ऊपर जो चार नियम बताए जा चुके हैं, उनके साथ-साथ १. यूनानी नियम है कि आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके किसी शब्दमे दो स्वरोके बीच यदि स् रहा हो तो वह पहले ह् हो जाता है और फिर निकल जाता है। २ (लातिन) नियम है कि आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके किसी शब्दमे दो स्वरोके बीच जो स् रहा वह आगे चलकर र् हो गया।

हमारा मत है कि ध्वनियोके ये नियम माने नहीं जा सकते क्योकि १. ये एक परिवारकी पूरी ध्वनियोपर भी लागू नहीं हो सके, २ उनमे बराबर खोट निकलती रही, ३. जबतक पहली या आदिम बोलीका कोई सच्चा ब्यौरा नहीं मिल पाता तबतक अटकलके भरोसे बने हुए ध्वनिके नियम नहीं माने जा सकते। ४. बोलनेवाले इतने अनोखे, नये और अटपटे

ढंगसे बोलते है कि इन नियमोका कोई ठौर-ठिकाना नहीं क्योकि ये तो पढ़े-लिखे लोगोकी बोलियोके सहारे बनाए गए हैं। ५. बोलचालकी ध्वनियोका जुगाड किया जाय तो जान पडेगा कि बोलियोके हेरफेर का कभी कोई नियम बनाया ही नहीं जा सकता।

सारांश

अब आप समझ गए होंगे कि—१ बोलियोके किसी एक ढङ्गकी कुछ गिनी चुनी बोलियोंकी, कुछ गिनी-चुनी ध्वनियोंमे, किसी एक समय, कुछ बँधे हुए कारणोंसे होनेवाले हेरफेरके लिये ही नियम बनते हैं।

२. ग्रिम नियम . पहले उलटफेरमे आदिम हिन्द योरोपीय बोलीके घोष महाप्राण (घ ध भ), घोष अल्पप्राण (ग द ब) और अघोष अल्पप्राण (क त प) का जर्मन बोलियों (अँगरेजी, जर्मन, हुलॉश फ्लेमी या डच-फ्लैमिश, डेनी-नौर्वेजी, स्वीडी और आइसलैण्डी` मे क्रमसे घोष अल्पप्राण ( ग द ब ), अघोष-अल्पप्राण ( क त प और अघोष-महाप्राण ( ख थ फ ` हो गए।

३ दूसरे उलटफेरमे आदिम जर्मन भाषाके ग द ब, क त प और ख थ फ का ऊँची या आजकी जर्मन बोलीमे क्रमसे क त प, ख थ फ, ग द ब हो गया।

४ ग्रासमानका नियम आदिम हिंद-योरोपीय बोलीके किसी शब्द या धातुके पहले और पीछेके अक्षर यदि महाप्राण (ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ) हो तो सस्कृत और यूनानीमे अल्पप्राण (क ग च ज ट ड त द प ब) हो जाते है।

५ वर्नरका नियम : शब्दके बीचमे आनेवाले क त प स के ठीक पहले यदि आदिम हिंद योरोपीय बालीमे ऊँचा बोला जानेवाला (उदात्त) स्वर रहा हो तो उनके बदले सस्कृत और यूनानी बोलियोमे क्रमसे ह प फ स, या, ग (ग्व) द ब र हो जाता है।

६ कौलित्सका तालव्य नियम. आदिम हिन्द योरोपीय बोलीके कण्ठसे बोले जानेवाले व्यजनोके बदले सस्कृत, यूनानी और लैटिनमे तालव्य व्यजन हो गए।

७ पर हमारा मत है कि जबतक आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीको पूरा ठौर-ठिकाना नही मिलता तबतक अटकलके भरोसे कच्चे नियम बनाना ठीक नहीं है।

८

शब्द

इन्द्रने माना है कि शब्द एक ही प्रकारका होता है : जिसका कोई अर्थ हो वही शब्द या पद है—"अर्थः पदम्"। पाणिनिने दो ढगके शब्द माने हैं--१ सुबन्त और २ तिङन्त—जिन शब्दोमे सुप् विभक्ति-रूप (कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधनके सब वचन बतानेवाले ध्वनि-रूप) लगे हो उन्हे सुबन्त और जिन शब्दोमे तिङ् विभक्ति-रूपो (क्रियाके सब कालो, वचनो और पुरुषोके रूपोको बतानेवाले चिह्न) लगे हो उन्हे तिङन्त कहते हैं। वे मानते हैं कि नाम और आख्यातके भीतर ही सब शब्द आ जाते हैं। कुछ आचार्य तीन ढगके शब्द मानते हैं--(क) सुबन्त, (ख) तिङन्त, (ग) निपात-उपसर्ग। कुछ लोग पाँच ढगके पद मानते हैं (क) सुबन्त, (ख) तिङन्त, (ग) निपात, (घ) गति और (ङ) कर्मप्रवचनीय। कुछ लोग इन पाँचोमे उपसर्ग जोड़कर छः मान लेते हैं। पर आचार्य यास्कने निरुक्तमे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात नामके चार ढगके पद माने हैं और उन्हे दो पालियोमे बाँट दिया है—नाम और आख्यात प्रधान तथा उपसर्ग और निपात गौण। इन्हे समझाते हुए उन्होने कहा है—
१ नाम पद तीन ढगके होते है—स्त्रीलिंग (रमा), पुल्लिग (रामः) और नपुंसक (पुस्तकम्)। २ आख्यात या क्रियापद भी तीन ढगके होते हैं—कर्तृवाच्य (रामने रावणको मारा), कर्मवाच्य (रावण रामके द्वारा मारा गया) और भाववाच्य (हमसे उठा नहीं जाता) ३. उपसर्ग : पदोसे पहले आ, नि, वि जैसे जो पद लगाए जाते है जैसे—आहार, विहार आदि। ४ निपात : इव, चित्, तु, हि जैसे शब्द ही निपात कहलाते हैं।

नाम और आख्यातका अपना सीधा अर्थ होता है पर उपसर्ग और निपात तो दूसरे शब्दोको चमकाने, बढाने या उनके अर्थ बदलनेके लिये काममें आते हैं। इसीलिये नाम और आख्यात तो अपने वाच्य अर्थके कारण अर्थवाले कहलाते हैं और उपसर्ग-निपात अपने द्योत्य

(चमकानेवाले) अर्थके कारण अर्थवाले कहलाते हैं ।

आजकल अँगरेज़ी ढगपर लोग मानते है कि शब्द आठ ढगके होते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, वंसर्ग (प्रिपोज़ीशन), विस्मयादि-बोधक, (इंटरजैक्शन),सबध-वाचक (कजंक्शन) ।

जितने भी शब्द काममे लाए जाते है उनमे कुछ शब्द नाम होते हैं, कुछ काम बतानेवाले (क्रिया) होते हैं, कुछ नामो और क्रियाओका ब्यौरा बतानेवाले (विशेषण), कुछ संज्ञाओके बदले आनेवाले (सर्वनाम), कुछ दो शब्दो या वाक्योके बीचका नाता जोडनेवाले और सदा एकसे रहनेवाले (अव्यव) और कुछ रीझ खीजमे अचानक मुँहसे निकल पडनेवाले 'आह-वाह' (विस्मयादि-बोधक) होते हैं, पर ये सब होते हैं तीन ही ढगके—१. नाम (वस्तु, व्यक्ति, भाव क्रिया, गुणका) या नामके बदले आनेवाला (सर्वनाम), २ जो शब्दो या वाक्योके आपसी मेलको समझावे (अव्यय) और ३ अचानक बोल (स्वयस्फुट) ।

शब्द : ध्वनियोके जिस मेलसे कोई अर्थ निकले उसे शब्द कहते हैं । ये शब्द दो साँचोमे मिलते हैं—१ अपने मूल या बिना मिलावटके रूपमे जिसे सस्कृतमे प्रातिपदिक कहते हैं और दूसरा है पद, जो कारक लिंग, वचन, काल, पुरुष बतानेवाले शब्द या ध्वनिसे जुटकर वाक्यमे ठीक अर्थ बैठानेके लिए बनाया जाता है ।

अत अव्यय और स्वयस्फुटको छोडकर सब शब्दोको प्रत्यय, उपसर्ग, मध्यग, विभक्ति, समासके साथ अपना रूप बदलकर दूसरे शब्दोसे नाता बताना पडता है । धातुओमे यही हेर-फेर काल या समय बतानेके लिये किया जाता है । कभी-कभी एक ही शब्द नाम भी होता है और किसीका गुण भी, जैसे—सोना एक धातु का नाम है पर वह विशेषण भी बन जाता है जैसे—वह सोना आदमी है। ऐसे ही स्त्री, पुरुष, नपुंसक बतानेके लिये भी शब्दमे हेरफेर कर लेते हैं। पर चीनी जैसी कुछ बोलियोमे शब्दका रूप नहीं वरन् वाक्यमे उनकी ठौरमे अदल-बदल करनेसे उनका अर्थ बदल जाता है ।

मेलजोड (सम्बन्ध-योग) और अर्थपाल (अर्थभाव) : वाक्योमे आए हुए शब्दोकी बनावटमे हेरफेर करनेवाली ध्वनियोको विद्वानोने मेलजोड (सबधयोग या मौर्फीम) या मेलक कहा है और मूल अर्थवाले शब्दोको अर्थपाल (अर्थभाव या सीमेटीम या स्वार्थक) कहता है जैसे—

'श्रीकृष्णने अपने मामा कसको मथुरामे पटककर मारडाला ।'

इसमे अर्थवाले शब्द सात ही है—श्रीकृष्ण, आप, मामा, कस, मथुरा, पटकना, मारना । इन्हींका स्वार्थक, अर्थ-बाँध, अर्थपाल, अर्थभाव (सीमेटीम) कहते हैं । अब इन सातो अर्थवाले स्वार्थक शब्दो या अर्थपालोको ठीक बैठानेके लिये ये मेलजोड लगे हैं—ने, को, मे, कर, डाला । ऐसे मेलक कुछ तो शब्दोमे अपने-आप भीतर ही भीतर घुले रहते हैं, कुछ बाहरसे जोडे जाते हैं ।

चीनी, बास्क, कौकेशी जैसी बोलियोमे वाक्यके शब्दोका क्रम ही उसका अर्थ प्रकट करता है अतः उनमे मेलजोड़ या सबधयोगका प्रश्न ही नहीं उठता ।

मेलजोड़ (सम्बन्धयोग) के रूप : १ कुछ बोलियोमे शब्दोके आगे-पीछे या बीचमे नई ध्वनि (प्रत्यय, उपसर्ग या मध्यग) लगाकर या उनका रूप बदलकर अर्थात् विभक्ति या लकार लगाकर उन्हे वाक्यमे लाते हैं । कभी-कभी ऐसे भी शब्द या वाक्य आ जाते है जिनमे मेलजाड़ नहीं लगाना पडता जैसे अँगरेजीमे 'आइ डू' (मै करता हूँ), 'आइ से' (मैं कहता हूँ) ।

२ कुछ स्वतन्त्र शब्द भी दो शब्दोका सम्बन्ध बताते हैं, जैसे—'सूली-ऊपर सेज पियाकी' मे 'ऊपर' शब्द मेलजोड बनकर आया है ।

कुछ लोगोने स्वरफेर (अपश्रुति) को भी मेलजोड़ बतानेवाला समझा है पर यह उनकी भूल है। स्वरफेर या अपश्रुति तो किसी शब्दके स्वरोमे हेरफेर करके उनके अर्थ बदलती है, जैसे—'मिलना' से मेल, मिला, मेला, मिलो, मिलूँ आदि । यह न तो दो शब्दोका जोड़ बैठाता है, न उनका नाता समझाता है ।

मेलजोड़ (सम्बन्धयोम) और अर्थ-बाँध (अर्थ-योग) का नाता :
मेलजोड (सबधयोग) और अर्थबाँध (अर्थयोग) मे कई ढगके सम्बन्ध माने गए हैं—

१ कहीं अर्थयोग और सम्बन्धयोग दोनो एक ही शब्दमे घुले-मिले रहते हैं जैसे अरबीमे तलबसे तालिब, तुलबा बन जाते हैं ।

२. कभी ये दोनो एक शब्दमे मिलकर भी अलग दिखाई पडते हैं जैसे—अँगरेजीके लुक्ड (देखा) मे 'ड' या तेलुगुमे 'आता हूँ' (वच्चु-चुन्नानु मे वच्चु और चुन्नानु दोनो अलग-अलग दिखाई देते हैं ।

३ कहीं ये दोनो अलग-अलग रहते हैं, जैसे चीनोके पूरे और रीते शब्द । वहाँ—'यह मनुष्य इस बच्चेको देखता है' के लिये कहा जायगा—"चे ज़ेन् क' अन् चि एन् हए त्ज़" (यह मनुष्य, आँख, गडाना, देखना, बच्चा, यह) और 'यह बच्चा इस मनुष्यको देखता है' के लिये कहेगे—"चे हए त्ज़ क' अन् चिएन् ज़ेन् ।" (यह बच्चा, यह आँख, गडाना, देखना, मनुष्य) ।

कुछ बोलियोमे ये दोनो अलग-अलग होते हुए भी साथ नहीं रहते । पहले मेलजोड (सबध-योग) वाले शब्द आ जाते है और फिर अन्य शब्द जैसे—अमेरिकाकी चिनूक बोलीमे 'उस पुरुषने स्त्रीको लाठीसे पीटा ।' के लिये कहेगे—'वह–उसने–वह–से–मारना–मनुष्य–स्त्री–लाठी ।'

४ कुछ बोलियोमे एकके बदले बहुतसे मेलजोड एक साथ मिल जाते हैं जैसे बन्तूकी स्वाहिली बोलीमे 'शेरोने मनुष्योको खा लिया', के लिये कहेगे—'ब–लबू ब–बलुमा ब–न्तु' (वे शेर, वे खा लिया, वे मनुष्य) ।

अर्थात् वाक्यमे जितने शब्द आते हैं उन सबको ठीक अर्थोंके अनुसार सजानेवाली ध्वनि ही मेलजोड (सम्बन्ध-योग) कहलाती है ।

धातुमूलक और प्रत्ययमूलक शब्द : मोटे-मोटे ढगसे शब्दोंको धातुमूलक और प्रत्यममूलक दो भागोमे बाँटा जा सकता है । प्रत्ययमूलक शब्द इतने हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती । कुछ बोलियोमे या तो धातुरूप ही हैं और या उनसे बने हुए शब्द ही अलग हैं ।

हिन्द-योरोपीय बोलियोंके नये शब्द गढ़नेके ढंग : हिन्द-योरोपीय बोलियोके शब्दोमे दो ही ढगके शब्द बनानेवाले प्रत्यय हैं—(१) कृत् और (२) तद्धित। इनके अतिरिक्त उपसर्गोंसे भी शब्द बनते हैं। अतः कृत्, उणादि, तद्धित, सुप्, तिङ् आदि प्रत्यय या प्र, परा, अप, सम, अव, निस्, निर्, वि, आङ्, नी आदिके समान उपसर्ग लगाकर या समास करके हिन्द-योरोपीय बोलियोमे शब्द बनाए जाते है। किसी बोलीमे शब्द कैसे बनते हैं, यह तो उस बोलीके व्याकरण लिखनेवालोके सोच-विचारकी बात है। अतः, नीचे हम वे ढग देते हैं जिनसे लगभग सभी हिन्द-योरोपीय बोलियोमे नये शब्द बनाए जाते हैं—१ उपसर्ग लगाकर जैसे 'हार' मे वि, आ, सम् लगाकर विहार, आहार, सहार बन जाता है। २ दूसरा शब्द जोडकर जैसे नटमे खट जोडकर नटखट। ३ समास करके जैसे घोडेका + सवार = घुडसवार। ४. प्रत्यय जोडकर जैसे मधुरसे मधुरता, पागलसे पागलपन। ५ बड़े शब्दको छोटा करके जैसे परशुरामका राम, बाइसिकलका साइकिल। ६. किसीको मनमाना नाम देकर जैसे 'भज्जू'। ७ एक वस्तुके लिये अलग देशोमे अलग-अलग शब्द चलाकर जैसे—रेलगाडीके सरक्षकको इग्लैण्डमे Guard (गार्ड) और अमेरिकामे Conductor (कन्डक्टर) कहते हैं और भेडको अमरीकामे Sheep (शीप) और आस्ट्रेलियामे Jumbuk (जम्बुक) कहते हैं। ८ परदेसी शब्द अपनाकर—जैसे काशीका सुकुल बम्बईमे कोठरीका खोली, पक्का करनेको नक्की करना और वेतनको पगार कहने लगता है। (इसे वास्तवमे शब्द बनाना नहीं, अपनाना कहते हैं जैसे हमने बहुतसे अरबी, फारसी, अँगरेजी शब्द अपना लिए)। ९ शब्द बनानेके कुछ और ढंग—कभी-कभी शब्दोको सीधे न लिखकर नकारकर या घुमाकर लिखते है, जैसे—'बहुत' कहनेके लिये वे कहेगे 'अथोर' (अनल्प)। 'बादल' के लिये कहेगे 'तर्वर्यरिप्रद' (तरु + अरि = अग्नि + अरि = जल + प्रद = बादल)। अत. शब्द बनानेके बहुतसे ढंग होते हैं।

शब्दोंमें हेरफेर : शब्दोमे नीचे लिखे ढगोसे हेरफेर होता है—

१. शब्दागम, या किसी शब्दके साथ एक नया शब्द आ जाना। ये तीन ढंगके होते हैं—(क) बेकाम या पहला अक्षर दुहराये हुए—जैसे पानी-वानी (मराठीमे पानी-येनी)। (ख) एक ही शब्दका दूसरा रूप लगाकर जैसे काम-काज, या शादी-ब्याह। (क) बल देनेके लिये उसी शब्दको दुहराकर जैसे बार-बार, कभी-कभी कहीं-कहीं।

२ शब्द-विपर्यय या शब्दोंका अदल-बदल जैसे—भाव-तावका ताव-भाव।

३ शब्द-लोप या दो शब्दोसे मिले हुए शब्दमेसे एकका निकल जाना जैसे—रामचरित मानसके लिये 'मानस' या मोटरकारके लिये 'कार'।

४ शब्द-विकार या एक शब्दके बदले दूसरा शब्द चल निकलना जैसे—कृषाणका किसान, रीझ-खीझमे बुधसिहको बुद्धन या बुधुआ, अनजानपनमे भी एक शब्दके बदले दूसरा शब्द आ जाता है जैसे—कम्पार्टमेण्टका डिपार्टमेंट (इसीको अँगरेजीमे मैलाप्रोपिज्म कहते हैं।) एक शब्दके मेलपर भी शब्द बदल जाता है जैसे—पच्छिमी उत्तरप्रदेशमे भरत-शत्रुघ्नके बदले भरत-चरत। कभी-कभी दूसरी बोलीके शब्द भी चलने लगते हैं जैसे—दाखके बदले अंगूर। कभी-कभी किसी नामी वस्तुके नामपर उस ढंगकी दूसरी वस्तुका नाम चल निकलता है जैसे रामचरितमानसको लोग रामायण ही कहते हैं। कभी-कभी वस्तुकी बनावट बदल जानेसे पुराने शब्दके बदले नये आ जाते हैं जैसे—झंगा और बगलबंदीके बदले कुर्त्ता और कोट।

५ लिंग-परिवर्त्तन या लिंग बदल लेना—जैसे आत्मा (आत्मन्), और वायु शब्द संस्कृतमे पुल्लिंग हैं, पुस्तक और दधि नपुंसक लिंग है, किन्तु इन्हे लोग उर्दू या फारसीके प्रभावसे हिन्दीमे भी स्त्रीलिंगमे लिखते-बोलते हैं। श्वासको तो लोग पुल्लिंगमे लिखते हैं पर साँसको स्त्रीलिंगमे। देवता और व्यक्ति स्त्रीलिंग हैं, पर इन्हे लोग पुल्लिंगमे ही चलाते हैं।

६. अयानपनसे हेरफेर : कुछ हेरफेर अनाड़ीपनके कारण या अनजान वस्तुको समझानेके लिये कहते हैं जैसे झाऊके लिये मोरपखी कहना या

'वह, यह, एथी, क्या नाम है कि'—आदि जोडते चलना, 'टमाटर' समझानेके लिये कहना—वह लाल-लाल गोल-गोल पुलपुला सेव जैसा। आस्ट्रेलियाके मूल निवासियोमे बोली जानेवाली पिडगिन अँगरेजीमे मच्छरके लिये—इम-लौगा-डार्क-फेला (वह लम्बा काला जीव) या रेलगाडी के लिये बिग-फेला-फायर-स्नेक (बडा-बड़ा आगका साँप) चलता है।

जिन बोलियोके वाक्यमे शब्दोको इधर-उधर रख देनेसे अर्थ बदल जाता है उनमे शब्दोके हेरफेरकी बात ही नहीं उठती।

६

वाक्य

हम बता आए हैं कि ऐसे शब्दोके मिलनेसे वाक्य बनते है जो वाक्यमे एक दूसरेसे अपना ठीक नाता जोडते हुए अपना भी अर्थ समझाते चलते है और सबके मेलसे निकलनेवाले अर्थको भी चमकाते चलते हैं। बच्चेसे बूढे तक, अपढ़से पढे-लिखेतक सभी लोग वाक्यमे ही बातचीत करते है। जब हम किसी बातपर 'वाह' कहते है तो उस 'वाह' मे हम उसकी बडाई भी कर देते है और अपनी कमी भी दिखा देते है कि जो तुम कर रहे हो, वह हमसे नहीं हो सकेगा। अर्थात् कभी-कभी हम एक शब्दमे भी एक वाक्यका अर्थ कह डालते है।

सैन (सकेत) : कभी-कभी हाथ, पैर, भौह या आँख मटका-चलाकर भी हम दूसरोको अपने मनकी बात बता दिया करते है। गूँगोसे या गूँगोकी बातचीतका तो सहारा ही यही है।

वाक्यकी बनावट : वाक्य दो ढगके होते है—(१) जिनमे सीधे कोई बात कही जाती है जैसे—'मै काशी जा रहा हूँ।' इसमे 'मै' काम करनेवाला है, जिसे 'उद्देश्य' कहते हैं और आगे पूरा काम है, जिसे 'विधेय' कहते हैं। पर ऐसी बनावट भी हमारी हिन्द-योरोपीय बोलियोमे ही है, सबमें नहीं। (२) जिनमे किसी बातका आगे-पीछेका जोड़-तोड़

बैठाना होता है जैसे—'मै गाँव चला गया था इसलिये आपसे नहीं मिल सका।' इसमे दो टुकडे है एक अगला और एक पिछला। पर यह बनावट भी सब बोलियोमे नहीं होती।

सब वाक्योमे तीन तत्त्व होते हैं—१ वक्ता-तत्त्व, जो यह समझाता है कि बोलनेवाला कौन है और सुननेवालेसे इसका क्या नाता है, २ सबोध्य-तत्त्व, जो यह ठीक करता है कि सुननेवालेके लिये कैसे शब्द हो और किस ढंगसे कहा जाय और ३ भाव-तत्त्व जो यह निश्चय करता है कि किस परिस्थितिमें क्या बात कही जाय।

वाक्यमें शब्दका कार्य : वाक्यमे पहुँचकर शब्दका काम है—१. वस्तुओ, क्रियाओ और उनके गुणोकी पहचान कराना। २. वस्तुओ, क्रियाओ और गुणोका आपसका नाता बताना कि कौन किसके लिये क्या कहता या करता है; काम करनेवाला, काम, और जिसके लिये वह काम हुआ या किया गया है वह कैसा है या कब, कैसे, कोई काम हुआ। ३ नाम ठीक-ठीक न जाननेपर सकेतका काम करना—यह है, उसने यह काम किया, वह ऐसा है। ४ सकेतको सहारा देना, जैसे (दोनो हाथ चौडाकर) वह इतना मोटा है। ५ बल या ठमक देना, जैसे—'यही पुस्तक चाहिए। तुम भी आना। केवल तकिया ला दो।' कभी-कभी बोलनेकी लोच (काकु) से भी यह काम होता है, जैसे 'अच्छा! आप हैं ?'

सब बोलियोमे वाक्य बनानेका अपना-अपना निराला ढंग होता है, जिसे वाक्यकी बनावट (वाक्य विन्यास या सिन्टैक्स ऑर्डर) कहते है।

वाक्योंकी बनावटमें हेरफेर

वाक्योकी बनावटमे इतनी बातोसे हेरफेर हो जाता है—

१ दो बोलियोका मेल होनेसे जैसे—'उसने कहा था कि मैं सन्ध्याको आऊँगा' वाक्यको अँग्रेजी पढ़े लिखे यो लिखते है—'उसने कहा था कि वह सन्ध्याको आवेगा' (ही सेड दैट ही वुड कम इन दि ईविनिंग')। हिन्दीमे हम कहते हैं—'तात्पर्य यह है कि मनुष्य, मनुष्यताके कारण

मनुष्य है।' किन्तु उर्दूवाले कहेंगे—'गर्ज यह कि बसबब इन्सानियत, आदमी इनसान है।' गुजराती सज्जन हिन्दीमे कहेंगे—'मनुष्यता है तो मनुष्य मनुष्य है, ऐसा मेरा तात्पर्य है।'

बोलियोके मेलसे वाक्यकी बनावटमे तीन हेरफेर होते है—(क) वाक्यमे शब्दोकी ठौर बदल जाती है। (ख) अपनी बोलीके शब्दोके बदले दूसरी बोलीके शब्द आने लगते है। (ग) दो वाक्य आगे-पीछे हो जाते है।

२ दो जातियोके मेलसे जैसे—पोलिनेशियाई (समवा, तहिती आदि) मे चन्दनी अंग्रेजी (बेचे ला मेयर या सैंडल-वुड इंगलिश) नामकी बोलीमे कहना हो कि 'मेरे पेटमे पीडा है' तो कहेंगे—'बैली बिलौग मी वौक् अबाउट टू मच।' "पेट मेरा टहलता है इधर-उधर बहुत अधिक।"

३. विभक्तियोके घिसनेसे : शब्दोके मेलजोड (सम्बन्ध-तत्त्व) या विभक्तियोके घिस जानेसे शब्दोका आपसी नाता समझनेमे उलझन हो जाती है और नये शब्द जोडने पडते है, जैसे संस्कृतके—'अयं मोहन-प्रासाद' को हिन्दीमे कहेंगे—'यह मोहनका भवन है'।

४ मनचाहा अर्थ समझानेके लिये : कभी-कभी हम एक वाक्यके किसी एक शब्दपर बल देनेके लिये भी वाक्यके शब्दोकी सजावटमे उलटफेर कर देते हैं। जैसे—

आप ले जायँगे पुस्तक ?

क्या आप पुस्तक ले जायँगे ?

—वाक्योको पढ़नेसे ही इनका भेद समझमे आ सकता है।

५ कहनेके ढगमे निरालापन लानेसे कुछ लोग निराले ढंगसे वाक्य बनाते है जैसे, कोई तो अच्छे चुने हुए शब्दोसे लादकर लिखते या बोलते है, कोई बहुत घुमा-फिराकर कहते है, कोई बड़े लोगोकी उक्तियोकी दुहाई देते चलते हैं, कोई किसी दूसरेको लक्ष्य बनाकर कहते है, कोई इस ढगसे लिखता या बोलता है कि जी खिल उठे, कोई ऐसे छींटे कसता है कि सुननेवाला तड़प उठे, कोई ऐसे कहता है कि छोटीसी बातमेंसे बहुत बड़ा अर्थ निकल आवे, कोई जोड़-तोडके वाक्य लिखता

बोलता है और कोई ऐसे बोलता है जैसे हजार-पाँच सौकी भीड़मे खडा उन्हे समझा रहा हो।

६ सुननेवालेकी योग्यतापर वाक्यका ढलाव : सुननेवालेके साथ-साथ बोलनेवालेकी बोली ढल जाती है, जैसे मित्रसे कहेगे—'धन्यवाद, आपने बडा कष्ट किया। नौकरसे कहेगे—अच्छा, ले आए? रख दो।

७. पंडिताई छाँटनेसे : थोड़े पढ़े-लिखे कुछ जान-बूझकर पडिताई छाँटने लगते है और वाक्यको बेढगा बना देते हैं, जैसे—

'रावण जो है सो, सहस्रो वर्षोंतक ब्रह्मासे वर-प्राप्ति करनेके लिये प्रयत्नवान् होता भया, तपस्या-निरत रहा।'

यह पंडिताई कभी-कभी मूर्खता भी बताने लगती है जैसे—

'छात्रो (छात्रो) का समूह गुरू (गुरु) जीकी अतिकृष्ट (उत्कृष्ट) वाणी सुनकर गद्गदायमान होता भया (प्रसन्न हुआ)।'

स्थिर और अस्थिर वाक्य : ससार भरकी बोलियोमे दो ढगके वाक्य मिलते हैं—१ बँधे हुए या अटल (स्थिर) और २ अदल-बदल सकनेवाले या ढुलमुल (अस्थिर)। स्थिर वाक्य वे होते हैं जो काममे आते-आते अपना रूप बना लेते है और उसी रूपमे चल निकलते हैं। ऐसे ही वाक्योमे मुहावरे और कहावतें आती हैं।

अस्थिर वाक्य कुछ भाव-गतिक होते हैं जो कहनेवाले (वक्ता), सुननेवाले (सबोध्य) और अवसर (परिस्थिति) की ढलनपर बहुत ढगोसे ढल जाते हैं।

वाक्यका सिद्धान्त : सब बोलियोमे वाक्य बनाने या वाक्यमे शब्द सजानेका क्रम माना जाता है जिसे वाक्य-रूप (सिन्टेक्स) कहते हैं। वाक्य तीन ढङ्गसे बनते है—(१) कर्त्ताका सीधा कोई काम दिखाया जाता है जैसे 'रामने रावणको मारा।' (कर्तृवाच्य) (२) जिसके प्रति काम किया जाता है उसे पहले रखकर क्रम उलटकर वाक्य बनाया जाता है जैसे रावण रामके द्वारा मारा गया। (कर्मवाच्य), ३. कोई भावमात्र प्रकट किया जाता है (भाववाच्य) जैसे 'हमसे उठा नहीं जाता'।

दो ढङ्गके वाक्य : १. सरल या अकेले (अमिश्र) वाक्यमे एक क्रिया होती है जैसे—मै पाठशाला जा रहा हूँ । २ मिले हुए (मिश्र) वाक्यमे कई वाक्य मिले होते हैं जैसे—"मै पाठशाला जा तो रहा हूँ पर वहाँसे शीघ्र ही चला आऊँगा क्योकि मेरे घर आज मेरे छोटे भाईका अन्नप्राशन होनेवाला है जिसमे बाहरसे बहुतसे ऐसे लोग आनेवाले हैं जिनके स्वागत-सत्कारके लिये मेरा घरपर रहना आवश्यक है।"

वाक्योंके तीन प्रकार : १. जिसमे कोई बात मानकर कही या बताई जाय, जैसे—यह अच्छा लडका है । २ जिसमे किसी बातकी नाहीं की जाय जैसे—यह लडका अच्छा नहीं है । ३ जिसमे कुछ पूछा जाय जैसे—क्या यह अच्छा लडका है ? यह लड़का कैसा है ? या, क्या यह लडका अच्छा नहीं है ?

जिन वाक्योमे कोई बात कही जाती है वे भी कई ढङ्गके होते हैं—१. तुले हुए, जैसे—वे पढ़ते भी हैं, सोते भी हैं । २ जिसमे कोई अडचन लगी हो, जैसे—यदि वे आवेंगे तो मै भी आऊँगा । ३ जिनमे एक ढङ्गकी दो बातें दो वाक्योमे कही गई हो, जैसे—वह धूर्त ही नहीं, नीच भी है। ४ जिनमे किसीको कुछ काम करनेके लिये कहा जाय, जैसे—लोटा उठा लाओ। कृपया जल दे दीजिए। सन्ध्यातक यह काम हो जाना चाहिए। ५ जिनमे किसी बातके होनेमे अड़चन और डर बताया जाय जैसे—कहीं ऐसा न हो कि वह मार्ग भूल जाय (या भूल गया हो) ६. जिनमे कुछ मनाया जाता है, जैसे—भगवान करे वह फले-फूले या उसका भला हो। ७. जिसमे कोई कहानी या ब्यौरा दिया जाय। कहानियाँ और वर्णन सब इसी ढङ्गके वाक्योमे लिखे जाते हैं ।

पूछे जानेवाले प्रश्न चार ढङ्गके होते है : १. जिनमे किसीसे यह पूछा जाय कि वह अमुक काम करेगा या नहीं, जैसे—क्या तुम काशी जा सकते हो ? २. जिनमे कुछ जाननेके लिये पूछा जाता है, जैसे—ईश्वर किसे कहते हैं ? ३. जिनमें प्रश्नके रूपमे प्रार्थना की जाती है, जैसे—क्या आप कृपा करके बता सकेंगे कि उनका घर कहाँ है ? ४ जिनमे प्रश्नके रूपमे आज्ञा दी जाती है जैसे—बताओ मेरी घड़ी कहाँ है ?

प्रश्नाभास : कुछ वाक्य देखनेमें प्रश्न जैसे जान तो पडते है पर सचमुच वे प्रश्न होते नहीं। ऐसे प्रश्नोको भाषण-प्रश्न (ह्रटौरिकल क्वैश्चन्स) कहते हैं जैसे—

'क्या आपने गोस्वामीजीका रामचरितमानस पढ़ा है? क्या आपने राम और भरतके त्यागकी कथाएँ सुनी है? क्या आपने सुमित्राके तेज और सीताके पातिव्रत्यका वर्णन सुना है? यदि नही तो आप किस मुँहसे कहते हैं कि आप भारतवासी है?'

ये सब प्रश्न पूछे नहीं जाते, कहे जाते हैं।

शब्द-वाक्य : हम सभी अपने मनकी सब बातें वाक्योमे ही कहना चाहते हैं पर कभी-कभी पूरे वाक्यके बदले हम एक ही शब्दसे काम चला लेते है जैसे—'चलिएगा?' यहाँ शब्द ही वाक्य हो गया है।

१०

अर्थ क्या और कैसे होते हैं?

सी० के० औग्डेन और आइ० ए० रिचार्ड्सने 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुए कहा है कि 'जिन बहुतसी परिस्थितियोमे कोई बात (उक्ति) काममे लाई जानेपर सदा एकसे लक्षण दिखावे और जिन परिस्थितियोमें वह बात (उक्ति) न कही जाय उनमे वे लक्षण दिखाई न पडें तो उन एकसे लक्षणोका जोड ही अर्थ कहलाता है।' हमारा मत है कि किसी बातसे जो समझा जाय उसे 'अर्थ' कहते है अर्थात् यदि कुछ दिखाई या सुनाई पड जाय, पढनेमे आ जाय या मनमे कोई बात उठ खडी हो या छूने और सूँघनेसे कुछ जान लिया जाय या किसी शब्द या वाक्यको सुनकर कुछ समझ लिया जाय या पूरी पोथी पढकर या किसीकी लम्बी-चौडी पूरी बात सुनकर कोई बात मनमे बैठ जाय तो उन सब समझी हुई बातोको 'अर्थ' ही कहते हैं। अर्थात् संकेत (देखी, सुनी, पढी, छुई, सूँघी, सोची वस्तु या कही बात) से ही हम कुछ समझते या अर्थ निकालते हैं। यहाँ हम सुने या लिखे हुए अक्षरो, शब्दो और वाक्यो नामक संकेतोके अर्थोंपर विचार करेंगे।

अर्थकी छानबीन या तात्पर्य-परीक्षा : यह नहीं समझना चाहिए कि एक शब्दका बस एक ही अर्थ होता है। सभी बोलियोंमें एक-एक शब्दके बहुतसे अर्थ मान लिए गए हैं जिससे वाक्यके अर्थ भी बराबर अदलते-बदलते रहते हैं। इनकी जाँच-परखके ढगको लोग अर्थ-विचार, शब्दार्थ-विज्ञान और अर्थातिशय (?) (सीमेन्टिक्स) कहते हैं प्रोफेसर पोस्टगेटने इसका नाम रक्खा है ह्रेमाटोलौजी (उक्तिविज्ञान), ब्रेअलने 'सेमान्तीक' और अँगरेजीमें सीमेन्टिक्स या सेस्मालौजी। पर ये सब नाम ठीक नहीं हैं। इसे तो कहना चाहिए सेन्स-स्टडी, सेन्सोलौजी या तात्पर्य परीक्षा या अर्थकी छानबीन क्योंकि सीमेन्टिक्स (अर्थतत्त्व या अर्थ विचार) का अर्थ है 'शब्दसे समझे जानेवाले अर्थ जाननेकी विद्या' किंतु शब्दकी जाँच-परख या छानबीन करना इसके भीतर नहीं आता। इससे अच्छा शब्द ता सेमाशियौलौजी है जो यूनानी शब्द सेमाशियासे बना है, जिसका अर्थ है 'शब्दोंके अर्थका फैलाव-बढाव जाननेकी कसौटी।' पर यह शब्द भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अर्थका बढाव जाननेकी ही बातें आती हैं, पर तात्पर्य-परीक्षा या अर्थकी छानबीनके भीतर ये सभी बातें आ जाती हैं इसलिये हम यहाँ अर्थकी छानबीन या तात्पर्य-परीक्षा शब्द ही काममें लावेंगे।

तात्पर्य-परीक्षा (सीमेन्टिक्स या भाषार्थ-विज्ञान) : श्री एस० आई० हायाकावने तात्पर्य-परीक्षा (सीमेन्टिक्स) का अर्थ समझाते हुए कहा है कि १ इतिहासकी दृष्टिसे किसी बोलीकी छानबीन करनेकी उस रीति या ढगको सीमेन्टिक्स कहते हैं जो शब्दोंके बँधे-बँधाए अर्थोंमें होनेवाले हेर-फेरकी छानबीन करता है या यों कहिए कि वह ऐसे अर्थोंकी छानबीन करता है जिन्हें कोष लिखनेवाले अर्थ समझते हैं। सीमेन्टिक्सके इस कामको 'सेमाशियोलौजी' कहते हैं।

२. सीमेन्टिक्सका दूसरा रूप वह है जिसमें यह जाँच-पड़ताल की जाती है कि बोली तथा अन्य संकेतोंको देख सुनकर मनुष्य क्या प्रतिक्रिया करने लगते हैं या उनपर क्या प्रभाव पडता है। इसे सिग्निफिक्स कहते हैं।

तात्पर्य-परीक्षाका आन्दोलन . सी० के० औग्डेन और आई० ए०

रिचार्ड्सने जबसे सन् १९२३ मे अपनी 'अर्थका अर्थ' (मीनिग ऑ' मीनिग) नामकी पोथी छपाई तबसे अर्थकी छानबीनकी एक हलचल (सीमेन्टिक्स मूवमेन्ट)-सी मच गई। माईकेल ब्रेअलने सीमेन्टिक्स शब्द जिस अर्थमे लिया है उसके अन्तर्गत शब्दोके अर्थमे होनेवाले हेरफेरकी ऐतिहासिक जाँच भी आ जाती है या यो कहिए कि अर्थोमे होनेवाले हेरफेरकी जाँचके साथ इसमे यह भी देखा जाता है कि ये हेरफेर कब, क्यो और कैसे हुए। और अब तो सीमेन्टिक्स शब्द उस ढगकी जाँचके लिये भी काममे आने लगा है जो लेडी वौयला वैल्बीने सकेत-विज्ञान (सिग्निफिक्स) के नामसे चलाई थी।

अर्थ कैसे जाने जाते हैं ? : अपनी इन्द्रियोके सामने आए हुए संकेतोसे जो अर्थ हम समझते हैं, उसके साथ-साथ बहुतसी बातें हम कोष देखकर, शास्त्रोसे सीखकर या बडे-बूढोसे और उनके अनुभवसे भी समझ लेते है, जैसे 'पारारुक' शब्दका 'चट्टान' अर्थ कोषसे देखकर, 'मालकोश' रागका लक्षण सगीत-शास्त्रसे जानकर और 'पागलपनको दूर करनेवाली जडी धँवर-बरुआ कैसी होती है' यह किसी जानकार वैद्यसे ही जान सकते है।

तीन प्रकारके अर्थ : इन्द्रिय-ज्ञानसे तीन ढगोके अर्थ समझे जाते है—सच्चे, झूठे और सन्देह-भरे। साँपको साँप समझना सच्चा अर्थ है। रस्सीको साँप समझ लेना झूठा अर्थ है। किसीके मुँहपर दिखाई देनेवाली खीझको देखकर अटकल लगाना कि यह कहीं मुझसे बिगडा हुआ तो नहीं है झूठ भी हो सकता है और सच भी। यह सन्देह-भरा अर्थ है। लम्बी, टेढ़ी, बाँकी पडी हुई वस्तुको देखकर यह सोचना कि यह साँप है या रस्सी है, यह भी सन्देहभरा अर्थ है।

अर्थ कैसे समझमे आ जाता है ? : यह नहीं समझना चाहिए कि बस देखा, सुना, सूँघा, छुआ, चखा, सोचा, कोष टटोला या किसीसे पूछा कि अर्थ आ गया। हम अपनी बुद्धि या समझके सहारे ही अर्थ लगा पाते हैं। अर्थ लगानेमे हमारी बुद्धिको जो बहुतसी बातें सहारा देती है उनमेसे कुछ ये हैं—

१. चलन (परम्परा) : जो बातें पहलेसे एक जैसा होती चली आती हो उन्हे देखकर बात समझमे आ जाय जैसे—किसीके सिरपर मौर बँधा देखकर हम समझ लेते हैं कि यह दूल्हा है ।

२ समझ (प्रतिभा) : किसीका मुँह उदास देखकर या किसीकी दु खभरी आह-कराह सुनकर हम समझ लेते हैं कि यह कष्टमे है।

३ लोगोसे मेलजोल या जन-ससर्ग : लोगोके साथ उठने बैठनेसे कुछ बातें समझमे आती है जैसे—दलालोके साथ रहनेसे यह समझमे आता है कि जब वे 'झज्जी' कहेंगें तो उसका अर्थ यह होगा कि वे रुपयेमे टका दलाली चाहते हैं ।

४. धोखा या भ्रमज्ञान : कभी-कभी हम किसी 'खडखड' को ही समझ बैठते है कि चोर घुसा है, पर सचमुच वहाँ बिल्ली होती है ।

५ किसी वस्तु या बातका न होना या अभाव कभी जो वस्तु जहाँ होनी चाहिए वहाँ न हो तो हम समझ लेते है कि वह कहीं चली गई है या कहीं एक ठौरपर गई है या कोई उठा ले गया है ।

६. अटकल (अनुमान). अटकलसे भी हम कोई बात समझते हैं, जैसे—धुएँको देखकर अटकल लगा लेते हैं कि वहाँ आग भी होगी ।

७ बराबरी (उपमान). कभी-कभी कोई किसी वस्तुको दिखा या बताकर अर्थकी जानकारी कराते है जैसे—'शुतुर्मुग' ऊँटके जैसा पक्षी होता है' कहनेसे समझा जाता है कि वह ऊँचा और लम्बे गलेवाला पक्षी होगा ।

८ परिस्थितिसे : जैसे—नहाते समय कोई तेल माँगे तो हम समझ लेते है कि उसे सिरमे लगानेका तेल चाहिए, मिट्टीका तेल नहीं ।

९ अपने मनसे जान लेना (स्वतः-सस्कार या इन्ट्यूशन) : कभी-कभी हम कोई बात अपने आप झटसे समझ जाते है, इसे स्वतः-सस्कार कहते हैं, जैसे—अचानक यह समझ लेना कि अमुक मित्र आज आवेगा ही ।

१० एक बातसे दूसरा अर्थ निकालना (अर्थापत्ति) जैसे—किसीने कहा कि 'यह मोटा देवदत्त दिनमे खाना नहीं खाता ।' तो हम समझ

जाते है कि जब यह दिनमे नहीं खाता और मोटा भी है तो यह रातको खाता ही होगा। कुछ लोग इसे 'अटकल' या अनुमान भी मानते हैं, पर यह परिणाम है, अनुमान नही।

११. बान या अभ्यास कभी-कभी सुनते-सुनते या देखते-देखते भी हम कुछ बात समझ जाते हैं, जैसे—किसी वैद्यके पास नौकरी करते-करते और रोगियोको देखते-देखते हम किसी रोगीको देखकर उसका रोग समझ जाते हैं।

स्फोटवाद : हमारे यहाँ व्याकरण लिखनेवालोने अर्थकी छानबीन करते हुए स्फोटकी चर्चा की है। स्फोट उसे कहते है जिसमेसे अर्थ निकले (स्फुटति अर्थो यस्मात्) या इसमेसे (शब्द, वाक्य आदिमेंसे) जो अर्थ फूटकर निकले (स्फुटति अर्थः अस्मात्), अर्थात् कुछने अर्थको स्फोट माना, पर अधिकाशने अर्थ प्रकट करनेवाले वर्ण, शब्द और वाक्यको स्फोट माना। कुछ लोग वर्णस्फोट मानकर कहते है कि एक-एक वर्ण (अक्षर) से अर्थ निकलता है और इन अलग-अलग अर्थोंवाले वर्णोंसे ही शब्द (पद) बनता है। ये अभिहितान्वयवादी कहलाते है। कुछ लोग पदस्फोट मानते हैं और कहते हैं कि वर्णसे नहीं वरन् शब्द या पदसे ही अर्थ निकलता है। ये लोग मानते हैं कि एक-एक शब्दके अर्थमे एक-एक वाक्यका अर्थ भी रहता है। ये लोग अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। पर व्याकरणवाले शब्दोके इकट्ठे होने भरको वाक्य नहीं मानते। वे कहते है कि वाक्य तो शब्दसे अलग अपना निराला ही अर्थ देता है क्योकि शब्दका अपना कोई अर्थ नहीं होता और ससारमे जितने भी लोग हैं वे सब अपनी बोलचालमे वाक्य ही काममे लाते हैं, शब्द नहीं।

महाभाष्यकार पतजलिने स्फोटको 'शब्द' और ध्वनिको शब्दका गुण माना है। इस ध्वनिको भी वे दो ढगका मानते हैं—१ प्राकृत या मौलिक, जो स्वाभाविक और सदा रहनेवाली (नित्य) है और दूसरी २ वैकृत या बनावटी जो सदा नहीं रहती (अनित्य) है।

स्फोट और ध्वनि : पतञ्जलिने स्फोटको सदा रहनेवाला शब्द (नित्य शब्द), सदा रहनेवाला अर्थ (नित्य अर्थ) और सदा रहने-

वाला नाना (नित्य सम्बन्ध) माना है और कहा है कि यह स्फोट ही प्रतिभा या वह शक्ति है जो शब्दमें रहनेवाले अर्थको चमकाती चलती है। यही अर्थ चमकाने या अर्थ निकालनेकी शक्ति भरना 'ध्वनि' कहलाता है। व्याकरण लिखनेवाले मानते हैं कि 'शब्द ही अपनेमें स्फोट और ध्वनिका मेल है। न स्फोटके बिना ध्वनि रह सकती है न ध्वनिके बिना स्फोट रह सकता है। स्फोट ही शब्द है और ध्वनि उसका गुण है, स्फोट ही आकाश है और ध्वनि उसका गुण है। इसलिये स्फोटको शब्द और ध्वनिको अर्थ समझना चाहिए।' इसलिये पतञ्जलिने स्फोट और ध्वनि दोनोंको 'शब्द' कहा है।

स्फोट और ध्वनिमें भेद बताते हुए व्याकरण लिखनेवालोंने कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है। जो कानसे सुना जाय वह ध्वनि होती है जैसे घोड़ा शब्द मुँहसे निकलनेपर यह दो अक्षरोंकी ध्वनि फूटी और दूसरेको सुनाई दी। यह तो ध्वनि है, पर सुननेवालेने यह शब्द सुनते ही अपने पहलेके ज्ञान या बुद्धिसे एक चार पैरका वेगसे चलनेवाला जीव समझ लिया। यह समझमें आनेवाला अर्थ ही स्फोट है। पतंजलि-का कहना है कि अर्थ-ज्ञानके लिये दोनों चाहिए। इसे हम यों समझा सकते हैं कि कोई बोलनेवाला जब घोड़ा कहता है तो उसकी बुद्धि या समझमें जो घोड़ेका रूप बैठा हुआ है वह 'घोड़ा' शब्द कहलाता है, वहाँ 'घोड़ा' शब्द ही स्फोट है और वह उसके मुँहसे कही जानेवाली 'घोड़ा' ध्वनिका कारण है। सुनते समय सुननेवाला उस कहनेवालेकी 'घोड़ा' ध्वनिको सुनता है और तब यह ध्वनि सुननेवालेकी बुद्धिमें बैठे हुए घोड़ेका स्फोट या शब्दका अर्थ प्रकट करता है और इस प्रकट किए हुए स्फोटसे ही अर्थ जाना जाता है। व्याकरणवाले मानते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ बतानेवाले वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द या उनमें रहनेवाली जातिको स्फोट कहते हैं या यों कहिए कि वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द ही स्फोट हैं।

वाक्य-स्फोट ही ठीक है : वैयाकरणोंने १. वर्ण-स्फोट, २. पद-स्फोट, ३. वाक्य-स्फोट ४. अखंड पदस्फोट, ५ अखण्ड वाक्य-

स्फोट, ६ वर्ण-जाति स्फोट, ७ पदजातिस्फोट, ८ वाक्यजातिस्फोट, इन आठोपर शास्त्रार्थ करके अन्तमे वाक्यस्फोटको ही सबसे सच्चा स्फोट माना है।

वाक्यसे ही अर्थ निकलता है ? : हमारे यहाँ व्याकरण लिखनेवालोने माना है कि पदसे या शब्दसे अ नहीं निकलता, वाक्यसे ही निकलता है, इसलिये वाक्य ही सत्य है।

अर्थकी छानबीनमें तीन बातें : आचार्य अर्टेलने कहा है कि अर्थकी छानबीनमे तीन ही बाते आती हैं—१ किसी भाषामे वहाँके लोगोके मनकी बात और उनके सोच-विचारको किन सहारोसे बतलाया जाता है ? २ शब्दका एक साँचा कितने अर्थ बता सकता है ? ३ एक अर्थ कितने अलग-अलग रूपोमें आ सकता है ? पर आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि अर्थकी छानबीनमे इतनी ही बातें नहीं आती। उसमे हमे मनुष्यके मनकी, उसकी समझकी और जिन लोगोके साथ वह रहता है उनकी और जिस मेलमे बात कही गई है उसकी भी छानबीन करनी पडती है।

अर्थकी पहचान : भर्तृहरिने वाक्यपदीय नामकी अपनी पोथीमे 'अर्थकी पहचान' पर पहले बारह मत गिनाए है—१ अर्थकी कोई बनावट (आकार) नहीं होती। २ अर्थ की बनावट (आकार) होती है। ३ अर्थ बहुतसे रूपो या आकारोको मिलाकर बनता है, अर्थ अवयवी है। ४ अर्थ झूठा और सदा न रहनेवाला (असत्य और अनित्य) है और वह वस्तुओ की जाति, गुण या क्रियाके मेल (ससर्ग) के रूपमे होता है। ५. अर्थ तो झूठ जैसा जान पडनेवाला सत्य है। ६ अर्थ धोखा या झूठे ज्ञान (अध्यास) के रूपवाला है। ७ अर्थमे सब शक्ति नहीं होती। ८ अर्थ सदा बदलनेवाला (परिवर्त्तनशील) है। ९ अर्थमे सब शक्ति है। १० बुद्धिसे जो समझा जाय (बौद्ध) वही अर्थ है। ११ अर्थ बुद्धिसे भी समझा जाता है और बाहरसे भी। १२ अर्थ बँधा हुआ (निश्चित) नहीं होता।

यह सब गिनाकर भर्तृहरिने बताया है कि बोलनेवाला जब कुछ कहता है तब वह अपनी समझमे उसका जो अर्थ ठीक समझना है वही अर्थ लगाकर बोलता है, पर सुननेवाले सब अपनी अपनी समझके सहारे उसका अलग-अलग अर्थ समझते हैं। यही नहीं कि लोग अपनी जानकारी (ज्ञान) और पहलेसे बने हुए अपने समझनेके ढंग (वासना) के अलग होनेसे एक ही देखी हुई वस्तुको अलग-अलग समझते हैं, वरन् समय और अवस्था अलग होनेसे भी एक ही मनुष्य एक वस्तुका अलग-अलग रूपोमे देखने लगता है। इससे भर्तृहरिने यह बात समझाई कि मनुष्य सब कुछ नहीं जानता। उसकी जानकारी अधूरी और बेढगी होती है इसलिये वह जो कुछ बोलता है, वह भी बेढगा, भूलोसे भरा हुआ और अधूरा होता है। अतः भर्तृहरि और पुण्यराजने अर्थकी पहचानके लिये कुछ और भी नई बातें सुझाई हैं। वे कहते हैं कि अर्थका कोई बँधा हुआ रूप नही है। बोलनेवाला अपने शब्दोका जो अर्थ मानता है वही उसका अर्थ है, यहाँतक कि एक शब्दको एक बोलनेवाला एक ढगसे काममे लाकर एक बात कहता है, दूसरा बोलनेवाला उसी शब्दको दूसरे ढगसे काममे लाकर दूसरा अर्थ बता देता है। इन्होने यह भी बताया कि शब्द कभी अपने अर्थका रूप नहीं छोड़ते, वे तो दूर-दूरसे अर्थका सकेत भर देते है।

सीरदेव : सीरदेवने परिभाषावृत्तिसे अर्थ तीन प्रकारका बताया है—१. चलता या लौकिक अर्थ : यह अर्थ कभी शब्दमे नहीं रहता या यो कहिए कि जिस बातको सुननेसे किसी काममे लगाव (प्रवृत्ति) या खिचाव (निवृत्ति) होती है, उसीको अर्थवाला शब्द कहते है और यह लगाव या खिचाव वाक्यमे ही होता है, इसलिये किसी वाक्यके कहनेसे जो समझा जाय वही लौकिक अर्थ है।

२. शब्दोको अलग-अलग तोडकर, उनका आपसी नाता जोड़कर जो अर्थ समझा जाय उसको अन्वय-व्यतिरेक-समधिगम्य अर्थ कहते हैं। इससे यह जान लिया जाता है कि जो बात कही गई है उसके शब्दोमे कितना अर्थ उसका अपना है और कितना अर्थ उनमे जुडे हुए प्रत्ययोका।

३ प्रतिज्ञा-ज्ञापित अर्थ वह है जो न तो लोगोमे चलता है और न जिसको तोड-जोडकर ही समझा जा सकता है वरन् जिसे बड़े-बड़े आचार्योंने किसी एक अर्थमे समझा या पढा है।

भर्तृहरिने ऊपर जो बहुतसे विचार किए हैं उन्हे ठीक ढगसे समझाते हुए पुण्यराजने अठारह प्रकारके अर्थ बताए हैं—१. वस्तुमात्र या बाहरी रूप : २. अभिधेय : ३. शास्त्रीय : ४ लौकिक : ५ विशिष्टावग्रहसम्प्रत्यय-हेतु : ६ वास्तविक : ७ मुख्य : ८. परिकल्पितरूप-विपर्यास : ९. व्यपदेश्य : १० अव्यपदेश्य : ११ सत्त्वभावापन्न : १२ असत्त्वभूत : १३ स्थिरलक्षण · १४ विवक्षा-प्रापित सन्निधान : १५. अभिधीयमान : १६ प्रतीयमान : १७ अभिसहित . १८ नान्तरीयक।

पतञ्जलिने शब्द और अर्थको एकमे ही मिला-जुला मानकर शब्दमे दो छायाएँ बताई है—एक तो शब्दके रूपका और दूसरे उससे समझी जानेवाली बात या उसके अर्थकी, जैसे किसीने कहा—'चाल शब्द चलनेसे बना है।' यहाँ 'चाल' शब्द जो आया है वह शब्दके रूपमे आया है, 'चलनेके ढंग' के लिये नहीं। पर जब हम कहते हैं—'उसकी चाल अच्छी नही है' तब यहाँ हम 'चाल' शब्दसे उसके 'चलनेका ढग' समझते हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द सुनते ही पहले उस शब्दका रूप जाना जाता है और फिर उसका अर्थ। यदि शब्द ठीक न सुना जाय तो अर्थ भी नहीं निकलता। उन्होने चार प्रकारके अर्थ माने हैं—१. जाति : जैसे 'गौ' कहनेसे गौ जातिका जीव समझा जाता है, २. गुण : जैसे 'काली' कहनेसे किसीका गुण समझा जाता है; ३. क्रिया जैसे 'चलना' कहनेसे चलनेका काम (क्रिया) जाना जाता है; और ४ द्रव्य जैसे 'कमल' और 'राम' कहनेसे द्रव्य या व्यक्ति समझाता है।

चरकने अपने ग्रन्थके विमान-स्थानमे शब्द चार प्रकारका बताया है, १. दृष्टार्थ : जिसका अर्थ दिखाई पड़े, जैसे—अग्निमे यह बात हमे दिखाई पड़ती है कि अग्नि हमे जलाती है, २. अदृष्टार्थ . जिसका अर्थ न दिखाई पडे, जैसे—'काशीमे प्राण छोडनेसे मुक्ति

मिलती है', यह मुक्त होना दिखाई नहीं पडता, ३ सत्य शब्द • वह शब्द जिसका अर्थ सब मान सकें, जैसे त्रिफला खानेसे पेट ठीक रहता है, ४. अनृत शब्द या झूठ अर्थ देनेवाला, जैसे—'सूर्य पश्चिममे निकलता है।'

आई० ए० रिचार्ड्सका कहना है कि "लोग जो कुछ बोलते हैं उसमेंसे बहुतसे भागको हम चार रूपोमे समझ सकते हैं—१ सेन्स या बात अर्थात् वह क्या कहना चाहता है ? २ फीलिंग या भावना अर्थात् वह किस भावसे कह रहा है ? ३ टोन या काकु अर्थात् वह किस ढंगसे बोल रहा है ? ४ इन्टेन्शन या उद्देश्य अर्थात् वह क्यो कह रहा है ?

तीन ढगके अर्थ : अर्थकी जितनी जाँच-परख की जा चुकी है उसे देखते हुए यह जानना सरल हो गया है कि अर्थ तीन ढङ्गके होते हैं—

१. एक तो वह जो बोलनेवाले या लिखनेवालेके मनमें हो। वही सच्चा अर्थ होता है और वह तीन ढङ्गका होता है—

क. जिससे बोलनेवाले या लिखनेवालेका उद्देश्य स्पष्ट ज्ञात हो जाय (इष्टार्थ)। ख प्रत्यक्षार्थ, जिसमे कहनेवालेके मनका ज्ञान न होकर सामने दूसरा ही अर्थ निकले। ग. जो अर्थ कहने या लिखनेवालेके मनमे रहता है (परोक्षार्थ)।

२. दूसरे ढगका अर्थ वह होता है जिसमे कहने या लिखनेवाला ताना देता या छींटे कसता है या यो कहिए कि वह जो बात कहता है उसमे कुछ दूसरा अर्थ छिपा रहता है, जिसे समझनेवाले समझ जाते हैं (व्यंग्याथ)।

किसी बातको कहने या लिखनेवाले भी दो ढगके होते है—अ सामने कहनेवाले और आ पीछे कहनेवाले। इसके अनुसार भी अर्थ बदल जाता है, जैसे एक अधीन कर्मचारीको सामने आप कहे—'इसे फिरसे लिखकर लाइए' तो वह फिरसे लिखकर लानेके साथ यह भी समझेगा कि ये मुझे निकम्मा समझते है। यदि चपरासीसे आपने यही कहलाया तो वह यही समझेगा कि 'फिरसे लिखना है।' ऐसे सामने

सुनने और पीछे किसी दूसरेके मुँहसे कही हुई बात सुननेसे भी अर्थमे बडा भेद पड जाता है।

३ तीसरा अर्थ वह होता है जो सुननेवाला समझता है। ये अर्थ चार ढङ्गके होते हैं—

अ जो कहनेवाले या लिखनेवालेके मनकी बात ठीक-ठीक समझाता हो (शुद्धार्थ)। ये तीन ढङ्गके होते हैं—क जिसे सुननेवाला अपनी समझकी ढलनपर समझता हो (योग्यतार्थ)। इसमे यह भी हो सकता है कि वह पूरी बात न समझ पावे। ख. वह अर्थ जिसे वह प्रसंग या परिस्थितिसे समझे जैसे—'लाओ' कहनेसे वह समझ जाय कि मुझे क्या लाना चाहिए (प्रसगार्थ)। ग वह अर्थ जो दूसरोके समझानेपर समझमे आवे (आप्तोपदिष्टार्थ)।

आ जिन्हे सुननेवाला अशुद्ध रूपमे अपनाता हो। ये चार ढगके होते हैं। इनमेसे—क कुछ ऐसे होते हैं जिन्हे समझ न पानेसे सुनने या पढनेवाला ठीक नहीं जान पाता (अयोग्यतार्थ)। ख जो प्रसग या परिस्थिति न जाननेसे अशुद्ध समझ लिए जाते हैं (प्रसङ्गभ्रमार्थ)। ग. जो ठीक-ठीक न सुननेसे समझ लिए जाते है (दुःश्रवणार्थ)। घ. जिन्हे हम भूल या धोखेसे यह समझे हुए हैं कि हम इसका अर्थ ठीक-ठीक जानते है (अहम्मन्यार्थ)।

इ विशिष्टार्थ : वे अर्थ हैं जिन्हे कहने या लिखनेवाला जिस किसी अर्थमे कहता या लिखता है उससे अलग कुछ निराले ही अर्थ लगा लिए गए हो। ये अर्थ भी दो ढङ्गके होते हैं—एक सत्य और दूसरे असत्य। कभी-कभी यह भी होता है कि कहनेवाला तो छींटे कसते हुए बात कहता है और सुननेवाला उसे सच समझ बैठता है जैसे—किसी बुरे ढंगकी कविता करने और कहनेवालेको हम बनाते हुए कहते हैं—'वाह कविजी। क्या कहने हैं' और कविजी समझते है कि यह हमारी बडाई हो रही है। यह धोखा किसी बातको ठीक न समझनेसे होता है।

ई. सन्दिग्धार्थ . वे अर्थ होते हैं जिनमे हमे सन्देह बना रहता है जैसे किसीने आपको चार काम बताए और जब आप कई दिन पीछे लौटकर

आए तो उन्होने पूछा—कहिए कर लाए ?' इस 'कर लाए' ने आपके मनमे यह दुविधा खडी कर दी कि ये किस बातके लिये पूछ रहे हैं। यही सन्देह-भरा अर्थ है।

साराश : हमे इस शास्त्रार्थसे इतना समझना चाहिए कि अर्थ सकेतसे निकलता है, वह चाहे जिस प्रकारका हो। जो बुद्धिसे समझा जाय वही अर्थ होता है क्योकि अर्थ समझनेकी बात है और यह समझना बुद्धिसे ही हो सकता है। ये समझे जानेवाले अर्थ सच्चे भी होते है, झूठे भी होते है और सन्देहभरे भी होते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि ये अर्थ बदलते भी रहते हैं। बोलनेवाला एक बात समझकर या एक बात मनमे लेकर कुछ कहता है, सुननेवाले या पढ़नेवाले अपनी समझकी ढलनपर उसे या तो ठीक ज्योका त्यो या कुछ दूसरा ही समझ बैठते हैं और कभी कभी पण्डित लोग अपनी अनोखी सूझ बूझसे ऐसा नया-नया अर्थ निकालते हैं जो न तो कहनेवालेने चाहा था न सुननेवालेने समझा था। इसलिये बोलने, सुनने और समझनेवालोकी समझ या बुद्धिपर ही अर्थ ढलता चलता है। यही हमारा मत है।

अर्थोंमें हेरफेर : समझ या बुद्धिका सहारा लिए बिना अर्थ निकल तो नहीं सकता किन्तु हम जो कुछ बोलते-लिखते हैं उसमे बोलने या लिखनेवालेकी समझ अलग होती है, सुननेवालेकी अलग और अपनी सूझबूझसे नया अर्थ निकालनेवालोकी अलग। कभी-कभी अनजानमे या धोखेसे भी कुछका कुछ अर्थ समझ लिया जाता है। इसलिये अर्थमे बहुत हेरफेर हो सकता है।

हम अपनी बोलीमे जितने शब्द काममे लाते हैं, उनमें कुछ ऐसे अनोखे हैं कि उनके पहले अर्थमे और नये अर्थमे बहुत भेद हो गया है। 'वर' और 'दुलहा' शब्द लीजिए। 'वर' का अर्थ है 'अच्छा', 'दुलहा' या 'दुर्लभ' का अर्थ है 'कैसे भी न मिलनेवाला'। पर अब ये दोनो शब्द सिमटकर 'पति'के अर्थमे आ बँधे है। अब कोई नहीं कहता कि आज सबके लिये भोजन 'दुलहा' है या 'वह भवन वर है'। पहले तो गौ चुराई जानेपर की गई पुकारको ही 'गोहार' कहते थे पर अब पानी

पिलानेके लिये नौकरके लिये भी लोग 'गोहार लगाते हैं।' 'थन' शब्द 'स्तन'का ही बिगडा हुआ रूप है पर गौके ही स्तनको 'थन' कहते है, स्त्रीके स्तनको नहीं। 'तृष्णा' शब्द प्यासके लिये काम आता था और अब भी हरियानेके लोग कहते है—'तिस् लगरी' (प्यास लग रही है) या 'तिरखा लगरी', पर आगे चलकर लालच या किसी वस्तुको पानेकी गहरी ललकको भी तृष्णा कहने लगे। 'वत्स' से 'बच्चा' और 'बच्छा' दोनो शब्द बने, पर मनुष्यके बालकको तो बच्चा और गौके बच्चेको 'बच्छा' या 'बछडा' कहते हैं। 'पीना' का अर्थ कुछ भी पनियल मुँहमे डालकर घुटक जाना है। पर जब हम कहते है कि 'वे पीकर आए हैं', तब कोई भी समझ सकता है कि वे 'ताडी या दारू पीकर आ रहे हैं।' विलम्ब' का अर्थ है 'लटकना' पर वह अर्थ न जाने कहाँ चला गया और अब विलम्बका अर्थ है 'देर करना'। ऐसे ही 'मोदक' का अर्थ है 'सुख देनेवाला', पर सुख देनेवाली दूसरी किसी वस्तुको 'मोदक' न कहकर 'लड्डू' को ही कहते है। पानीमे सेवार, घोघा और न जाने कितने जीव-जन्तु और घास-फूस होते हैं पर एक 'कमल' को ही 'जलज' कहते हैं। पहले केवल 'तिल'से निकाली जानेवाली चिकनाईको ही 'तैल' कहते थे पर अब तो सरसो, नारियल, मछली और मिट्टीके चिकने रसको भी 'तैल' कहते हैं। 'मृग' शब्द पहले सब पशुओके लिये आता था पर अब 'मृग' से 'हरिण' ही समझा जाता है यद्यपि सिंहको हम अब भी 'मृगेन्द्र' (पशुओका राजा) ही कहते है। सस्कृतमे डाकू या भयानक काम करनेवालेको ही 'साहसिक' कहते थे पर अब वीरताका काम करनेवालेको साहसिक या साहसी कहने लगे है। इससे समझमे आ जायगा कि कुछ शब्दोका अर्थ फैल गया, कुछका सिमट गया, कुछ अर्थ अच्छेके बुरे बन गए, कुछ बुरेके अच्छे बन गए, कुछ अच्छे अर्थोवाले शब्द भी आजकी बोलचालमे गन्दे अर्थोमे बँधे होनेके कारण छूट गए।

ध्वनिके नियम और बुद्धिके नियम : पीछे बताया जा चुका है कि ध्वनिके नियमोसे ज्ञात होता है कि किस देशमे, किस समय, किस

बोलीकी ध्वनियोमे कौनसे हेरफेर, क्यो हो गए ? अर्थात् ध्वनिके नियम सदा देश और कालके घेरेमे बँधकर चलते हैं। पर हमारी समझ या बुद्धि तो किसी देश या कालके घेरेमे बँधी नहीं है और अर्थ सदा हमारी बुद्धि या समझके सहारे चलते है, इसलिये अर्थके नियम (बुद्धिके नियम) ऐसे किसी घेरेमे बँधकर नहीं चलते। वे ससारकी किसी भी बोलीमे, किसी भी समय मनमाने ढगसे अदल-बदल या हेर-फेर करते रहते है। देश और समयके घेरेसे दूर रहते हुए भी वे एक विशेष ढंगसे चाहे जितनी बोलियो या कालोपर लागू हो सकते हैं इसीलिये उन्हे भी नियम मान लिया गया। पर हम इससे सहमत नहीं हैं। बुद्धि-नियम इसलिये असगत हैं क्योकि अर्थोंमे हेरफेर तो लोगोके अज्ञानपनसे या कायरता (दूसरोकी बोलीके शब्दोको डरकर अपनाने) या आलससे हुए है और ये हेरफेर भी बड़ी सभ्य जातियोकी बोलियोमे हुए है, जगली और अलग रहनेवाली जातियोकी बोलियोमे नहीं। ये हेरफेर भी सब बोलियोमें बहुत कम हुए है, इतने कम कि किसी-किसी हेरफेरके तो दो उदाहरण भी कठिनाईसे मिल पाते हैं।

वाक्यमे आए हुए शब्दोके दो सम्बन्ध : पीछे बताया जा चुका है कि 'वाक्यसे ही अर्थ निकलता है।' इन वाक्योमे आनेवाले शब्दोका एक नाता तो उस वाक्यसे होता है जिसमे वे काममे आते है और दूसरा होता है उनके अपने-अपने अर्थसे, जैसे—'मैंने उसके दाँत खट्टे कर दिए' कोषमे 'दाँत' का अर्थ है 'मुँहके जबड़ेमे जडे हुए वे छोट-छोटे हड्डीके टुकडे जिनसे भोजन चबाया जाता है।' पर वाक्यमे 'दाँत' शब्द जब 'खट्टे करना' के साथ आता है तब उसका अर्थ हो जाता है 'हराना'।

पीछे बताया जा चुका है कि वाक्यके शब्दोमे और भी दो नाते होते है—१. 'शब्द' या अर्थतत्त्व और २. 'मेलजोड' या सम्बन्ध-योग। ऐसे 'मेलजोड' शब्दोंको 'रूपमात्र' कहते है और अर्थ बतानेवाले शब्दोको 'अर्थमात्र' कहते है। यहाँ हम अर्थमात्र शब्दकी छानबीन करेंगे 'रूपमात्र' की नहीं।

दो ढंगसे अर्थकी छानबीन : अर्थोंमें होनेवाले हेरफेरकी जाँच

दो ढंगसे की जाती है—१. एकमे तो यह देखा जाता है कि अर्थोंमे किस ढगसे और क्यो बिगाड आया ? यह तो सीधे-सीधे अर्थकी जाँच (अर्थ-विचार) या अर्थ-परीक्षा कहलाती है। २ यह बिगाड क्यो, किस उद्देश्यसे या क्या नया अर्थ निकालनेके फेरमे किया गया। यह हेरफेर या बिगाड, जान-बूझकर या हमारी बुद्धिके सहारे होता है, इसलिये इस ढंगकी जाँच-परखके नियमको लोग 'समझका नियम' (बौद्धिक नियम) कहते हैं।

समझके सहारे अर्थोंमें हेरफेरके नियम (बौद्धिक नियम) :

१. विशेष भावका नियम (लौ औफ स्पेशलाइजेशन) : जब किसी एक बात (भाव या विचार) को बताने या समझानेके लिये कई शब्द काममे आते हैं पर फिर किसी कारणसे उन शब्दोमेसे कुछ कम हो जाते है, उस बिगाड़को विशेष भाव कहते है जैसे—सस्कृतमे पहले 'उससे अच्छा' और 'सबसे अच्छा' या 'उससे बुरा' और 'सबसे बुरा' के लिये 'तर' और 'तम' या 'ईयस्' और 'इष्ठ' ये दो ढगके टेक (प्रत्यय) काममे लाए जाते थे, पर आगे चलकर 'तर' और 'तम' का चलन कम हो गया 'ईयस्' और 'इष्ठ' का बढ़ गया जिससे 'गरिष्ठ, महिष्ठ, वरिष्ठ, श्रेष्ठ' आदि शब्द बन निकले। हमारी देशी बोलियोमे तो ऐसे 'एकसे बढ़कर दूसरा' समझानेवाले शब्द ही मिट गए और हिन्दीमे हम श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम (सबसे अच्छा, सबसे अच्छासे अच्छा, सबसे अच्छासे अच्छासे अच्छा) कहने लगे। पहलेकी विभक्तियोके बदले भी आजकल परसर्ग (प्रीपोजीशन) आ गए हैं—जैसे सस्कृतके 'वृक्षे'के बदले हिन्दीमे हम कहते हैं 'वृक्षपर' या 'वृक्षके ऊपर' और अँगरेजीमे 'औन दि ट्री'। इसे 'लौ औफ स्पेशलाइजेशन' कहते हैं।

२. बिलगाव करने या 'भेदीकरण'का नियम—किसी एक धातुसे ढलकर या किसी और कारणसे जो शब्द कभी एक ही अर्थमे काममे आते थे या देखनेमे पर्यायवाची जान पड़ते थे, वे जिस नियमसे अलग-अलग अर्थोंमे आने लगते हैं, उसे 'भेदीकरणका नियम' या बिलगावका नियम कहते हैं, जैसे—'गर्भिणी' और 'गाभिन' दोनोका

अर्थ है 'जिसके पेटमे बच्चा हो', पर 'गर्भिणी' शब्द स्त्रियोके लिये आ
है और 'गाभिन' गाय भैंसके लिये।

कुछ विद्वानोने माना है कि इस भेदीकरण या अर्थके बिलगावमे ती
बातें आवश्यक हैं—क जिन एकसे शब्दोमे ऐसा अर्थका बिलगाव ह
वे उस भाषामे पहलेसे होने चाहिएँ। ख. यह अर्थोका बिलगाव पह
तो दिखाई पड़ता रहता हो पर धीरे-धीरे लोग उन भेदोको भूल गए ह
और फिर वे अलग-अलग अर्थ दिखलानेवाले बहुतसे शब्द मिट गए ह
जैसे—'खाद्, भक्ष् , अद् और अश्' ये सबके सब शब्द 'अलग-अल
ढंगसे खानेके लिये काममे आते रहे होगे पर अब सब 'खाना' शब्द
लिये काममे आते हैं। ग जो समाज जितना ही अधिक सभ्य होग
उसकी बोलीमे उतना ही अधिक अर्थोंका बिलगाव होगा जैसे—हमा
यहाँ 'धोना'के लिये 'कचारना, फींचना, सबुनियाना, पछाड़ना' आ
बहुतसे शब्द 'धोने' के विभिन्न प्रकारोके अर्थोंके काम आते है।

पर ये नियम अमान्य हैं क्योकि बाहरसे नये शब्द लानेपर भ
भेदीकरण या अर्थका बिलगाव हो सकता है जैसे 'वैद्य, डाक्टर, हकीम' मे

३ चमकाने (उद्योतन) का नियम—जब कोई शब्द या टे
(प्रत्यय) लग जानेसे कोई अच्छे अर्थमे आनेवाला शब्द बुरे अर्थ
और बुरे अर्थमे आनेवाला शब्द अच्छे अर्थमे या बोली कसने
अर्थमे आवे तब उस ढगको 'उद्योतनकी क्रिया' या 'उद्योतनक
नियम' कहते हैं जैसे—शिकारपुरी, गवर्नरी, साहबी, नवाबी। 'वे पू
शिकारपुरी हैं। उसका गवर्नरी ठाट है। बड़ी साहिबी दिखा रहे हो य
बडी नवाबी छाँट रहे हो।' यहाँ शब्दोके अन्तमे 'ई' लगाना उद्योतनक
क्रिया है। कुछ आचार्योंने 'अमीरी' और 'मुनीमी'को भी इसी नियम
ला रक्खा है। पर इनमे 'ई' लगानेसे सीधी-सादी भाववाचक संज्ञा बन
है, उद्योतन या नयापन नहीं आया।

४. विभक्तियोके बचे रहनेका नियम कुछ बोलियोमे पहले विभक्तिय
रही हैं, पर उनसे निकलनेवाली बोलियोमे विभक्ति मिट जानेपर भी
लोगोंके मनमे उनका सस्कार बने रहनेके कारण कुछ पुरानी, काममे न आने

वाली विभक्तियाँ नई बनी हुई बोलियोमे ज्योकी-त्यो आकर मिल जाती हैं। विभक्तियोको ऐसे जिलाए रखनेवाली तीन बातें होती हैं—क. बोलचालमे पड जाना, जैसे हिन्दीमे 'अर्थात्, दैवात्, हठात्, न जाने' आ गए हैं। ख किसी वाक्य या वाक्याशमे शब्दका पडकर बना रह जाना, जैसे—गया समय, धोया कपडा।' ग एक जैसे मिलते-जुलते शब्दोके ढगपर दूसरा शब्द गढ लिया जाना, जैसे—सस्कृतके 'सन्त, ज्वलन्त' शब्दोके ढंगपर मनगढन्त, पढ़न्त भी बना लिए गए हैं।

५ धोखे (भ्रम) का नियम कभी-कभी भूल या धोखेसे भी हम किसी शब्दके अर्थमे लगी हुई टेकको प्रत्यय मानकर उसे दूसरे शब्दोमें लगा बैठते हैं, जैसे—सस्कृतके 'उक्षन्' शब्दका अँगरेजीमे 'औक्सेन' बना, पर उन्होने समझा कि इसमे लगा हुआ 'एन्' वैसा ही बहुवचन बताता है जैसा 'चिल्ड्रेन्'मे लगा हुआ 'एन्'। इसलिये उन्होने भूलसे यह समझ लिया कि 'औक्स' एकवचन है और 'ओक्सेन्' बहुवचन है। यही बात 'दर असलमे, गुलरोगनका तेल'के प्रयोगमे है यद्यपि दर = मे, रोगन = तेल इनमे है ही।

६ देखा-देखी (उपमान) का नियम : लोग कभी चलते शब्दके ढगपर भी नया शब्द गढ़ लेते है जो चार कारणोसे गढ़ा जाता है—क अपने मनकी बात कहनेमे आई हुई कठिनाई दूर करनेके लिये। ख किसी बातको और भी खोलकर समझानेके लिये। ग. किसी उल्टी बात या उसी जैसी बातपर बल देनेके लिये। घ किसी पुराने या नये नियमसे मेल बैठानेके लिये, जैसे लोगोने विभक्ति-रहित शब्दोको अपने लिये ठीक समझा और उसमे कम झझट देखा इसलिये उसे अपना लिया और फिर अपभ्रंशकी देखा-देखी हमारी बोलियोमे भी बिना विभक्तिके ही लिखनेका चलन चल पडा।

७ नये लाभ कभी-कभी बोलियोमे कुछ नई बातें भी बढ़ती चलती हैं। इसे नये लाभका नियम कहते हैं। ब्रेअलने माना है कि अव्यय, जैसे 'यथा', कृदन्त (इनफिनिटिव), जैसे खाना, पीना, जाना, कर्मवाच्य (पैसिव् वौएस), जैसे 'रावण रामसे मारा गया', और क्रिया-विशेषण

(ऐडवर्ब) जैसे 'वह वेगसे दौडता है' ये नये लाभ है। ब्रेअलने कर्मवाच्यको न जाने कैसे नया लाभ मान लिया क्योकि संस्कृतमे तो कर्मवाच्यके प्रयोगकी ही अधिकता है। यही बात अव्यय और कृदन्तकी भी है।

८ काममे न आनेवाले रूपोके मिटनेका नियम: कभी-कभी किसी कारणसे जब एक ही अर्थ बतानेवाले कई शब्द काममे आने लगते हैं तब उनमेसे कुछ रूपोको अच्छा समझकर लोग चला देते हैं जिससे बचे हुए शब्द मिट जाते हैं जैसे—सस्कृतमे 'स्पश्' और 'दृश्' दो धातुएँ थीं पर पीछे चलकर दोनो एक बन गईं।

ऊपर जिन नियमोकी चर्चा की गई है उनके ब्यौरे देखनेसे जान पडेगा कि लोगोने अपने मनकी बात समझानेके उद्देश्यसे या यों कहिए कि अपनी कमी पूरी करनेके उद्देश्यसे समझ-बूझकर शब्दोके नये अर्थ चलाए, इसलिये उन नियमोको बौद्धिक नियम कहते है।

अर्थ बदलनेके ढंग

अपकर्षश्चोत्कर्षौ विस्तारादेशभावसङ्कोचाः।
विनिमयविसर्पणौ चेदर्थारोपो हि परिणतिश्चार्थे॥

अर्थोंमे ८ ढगके हेरफेर होते हैं—

१ अच्छे अर्थका बुरे अर्थमे बदल जाना (अर्थापकर्ष या डीजेनेरशन या डिटीरियोरेशन औफ मीनिंग)। कभी-कभी अच्छे अर्थवाले शब्दोका बुरे अर्थमे या एक ठौरपर अच्छे अर्थमे काम आनेवाले शब्द दूसरे ठौरपर बुरे अर्थमे काम आने लगते है—जैसे 'भइया' शब्द उत्तर भारतमे 'भाई-चारे' के अच्छे अर्थमे आता है, पर वही बम्बई आदिमे 'नौकर' या छोटा काम करनेवाले' के अर्थमे आने लगा। पहले 'बौद्ध' शब्द बुद्धके माननेवाले लोगोके लिये आदरमे आता था, अब उसका बिगड़ा हुआ रूप 'बुद्धू' शब्द 'मूर्ख'के लिये आता है। पहले 'नग्न' और 'लुंचित' शब्द जैन साधुओके लिये आदरमे काम आते थे पर अब उसका बिगड़ा हुआ रूप 'नगा-लुच्चा' बुरे अर्थमे आता है। कुछ लोगोने विराट् सभाके विराट्, चालाक, गुरु और महाराज शब्दको भी अर्थापकर्षमे

गिनवा दिया है पर ये शब्द तो दोनो अर्थोंमे आते हैं अतः इन्हे अर्थापकर्षमे नहीं लाना चाहिए। जैसे— { ये मेरे गुरु है।
क्यो गुरू! हमसे यह चाल? }

{ दरभंगाके महाराजने पूज्य मालवीयजीको बडा सहयोग दिया था।
हमारा महाराज (रसोइया) आजकल खटियापर पडा है। }

ऊपर दिए हुए वाक्योमें 'गुरु' और 'महाराज' दोनो शब्द दो-दो अर्थों में आए हैं, इसलिये इन्हे 'बहुत अर्थवाले' का उदाहरण मानना चाहिए, 'अर्थापकर्ष' का नहीं। कुछ लोगोने 'महाजन' को भी 'अर्थापकर्ष' मे गिना है पर वह 'अर्थ-सकोच' का उदाहरण है क्योकि 'महाजन' शब्द सब 'बड़े-लोगो' के लिये काममे आता था, पर अब वह सिमटकर 'रुपया उधार देनेवालो' के अर्थमे ही रह गया है। पहले अँगरेज़ीके 'सिली' (Silly) शब्दका अर्थ था 'सौभाग्यशाली' पर अब है 'मूर्ख'। यही अच्छे अर्थका बुरा हो जाना है।

२ बुरे अर्थका अच्छा हो जाना (अर्थोत्कर्ष या ऐलीवेशन ऑफ मीनिग): जैसे—'साहसी' शब्दका अर्थ पहले 'डाकू, हत्यारा, चोर, जार और बुरा काम करनेवाला' था पर अब इसका अर्थ हो गया है 'बहुत वीरताका और संकटभरा कोई बडा काम करनेवाला।'

३. अर्थका फैलाव (अर्थ-विस्तार या जनरलाइजेशन या एक्सपैन्शन ऑफ मीनिग): पहले किसी बँधे हुए एक अर्थमे ही काम आनेवाले शब्दोका उससे मिलती-जुलती बहुत-सी वस्तुओ या बातोके अर्थो मे चलने लगना, जैसे—'तैल' शब्दका अर्थ था 'तिलस निकली हुई चिकनाई पर आगे चलकर सरसो, रेडी, यहाँतक कि मिट्टीसे निकले चिकने रसको भी लोग 'सरसोका तेल, रेंडीका तेल, मिट्टीका तेल' कहने लगे। पहले 'जो बिना हाथमे काँटा चुभाए कुशा उपाड लाता था' उसे 'कुशल' कहते थे पर अब तो जो भी अपना काम ठीक, सुथरे, सुघड ढङ्गसे करता है उसे 'कुशल' कहने लगे हैं।

४. अर्थका सिमटना (अर्थ-संकोच या स्पेशलाइज़ेशन या कौंट्रेक्शन ऑफ मीनिग): बहुतसे शब्द पहले किसी एक ढङ्गकी बहुत-सी वस्तुओ

या कामोके लिये चलते थे पर अब वे सिमटकर उन वस्तुओ या कामोमेसे किसी एकके लिये बँध गए हैं, जैसे—'मृग' शब्द पहले सब चौपायोके लिये काम आता था पर अब 'हरिणके' लिये ही बँध गया है। पहले अँगरेजीका 'हाउड' शब्द सब कुत्तोके लिये काम आता था पर अब शिकारी कुत्तेके लिये ही आता है। इसीके भीतर वह सकोच भी आ जाता है जहाँ कोई दो विरोधी अर्थ देनेवाला शब्द केवल एक अर्थमे ही चल निकलता है जैसे 'घृणा' के पहले दो अर्थ थे 'दया' और 'घिन', पर अब 'घिन' ही रह गया है।

५. अर्थ बदलना (अर्थादेश, अर्थ-परिवर्त्तन या ट्रान्सफरेन्स औफ मीनिंग) : कभी-कभी एक साथ चलनेवाले दो अलग-अलग अर्थोंवाले शब्दोमेसे किसी शब्दके निकल जानेपर उसका अर्थ दूसरे शब्दका अर्थ बन जाता है जैसे—गृहवाटिका (घर-बार) शब्द साथ चलते थे। इनमेसे 'गृह' निकल गया, वाटिकाका 'बाडी' बना, जिसका अर्थ है 'उपवन,' पर बँगला भाषामे बाडीका अर्थ हो गया है 'घर'।

६ अर्थका आपसमे अदल-बदल जाना (अर्थ-विनिमय या एक्सचेंज औफ मीनिंग) : कभी कभी लगभग एक साथ गिनाई जानेवाली पर अलग अलग दो वस्तुओके लिये काममे आनेवाले शब्दोके अर्थोंमे हेरफेर हो जाता है, जैसे सस्कृतमे नीमका स्वाद 'तिक्त' कहलाता है और मिर्चका 'कटु', पर हिन्दीमे अब हम नीमको 'कडवी' (कटु) और मिर्चको 'तीती' (तिक्त) कहने लगे हैं।

७ अथ बढ़ावा (अर्थ-विसर्पण या स्लाइड) कभी-कभी एक सीधा-सादा शब्द अपना सीधा अर्थ छोडकर उसी अर्थको बहुत बढ़ाकर बताने लगता है, जैसे—'उसे आज टेम्परेचर हो गया है' कहनेसे हम समझते है कि उसे बहुत टेम्परेचर 'तीव्र ज्वर' हो गया है। 'उसे मिजाज हो गया है' का अर्थ है 'उसे बडा मिजाज (अभिमान) हो गया है।'

८. नया अर्थ बैठाना (अर्थारोप या रेडिएशन औफ मीनिंग)—कभी-कभी जानबूझकर या भूलसे या नासमझीसे या धोखेसे हम किसी एक अर्थमें आनेवाले शब्दको किसी दूसरे ऐसे अर्थमे चला देते हैं जो अपने

पुराने अर्थसे भिन्न होता है। ऐसे ही कभी कभी किसी बातको अच्छे ढगसे कहनेके लिये ही हम शब्दोके अर्थोमे नये अर्थ बैठाकर अपनी बात ऐसे सजा देते है कि वह दूसरोको निराली लगे। यह सबका सब काम 'अर्थारोप या नये अर्थमे बैठाना' कहलाता है। यह अर्थ बैठानेका काम हम छ ढंगसे करते है—(क) अभिधा शक्तिसे, (ख) लक्षणा शक्तिसे, (ग) व्यजना शक्तिसे, (घ) समाजमे अच्छी समझी जानेवाली शब्दावली (उक्तिसस्कार) से बनावटीपन लाकर, (ङ) भूल या धोखे (अर्थभ्रान्ति) से और (च) ठीक शब्दोका भडार अपने पास न होने (शब्द-दारिद्र्य) से।

शक्तिग्रह : किस शब्दका कहाँ क्या अर्थ होगा ? यह जानने का ढङ्ग हमारे यहाँ शक्तिग्रह या शक्तिज्ञान कहा गया है और यह बताया गया है यह शक्तिज्ञान आठ प्रकारसे होता है—१ व्याकरणसे, २. उपमान (समानता) से, ३ कोषसे ४ आप्तवाक्य (शास्त्र या बडोकी बात) से, ५ व्यवहार (चलन) से, ६. वाक्यशेष (प्रसग) से ७ विवरण या पूरे ब्यौरेसे और ८ साहचर्य (वाक्यके दूसरे शब्दोके मेल) से। इनमे भी व्यवहार या चलन ही अर्थ जाननेकी सबसे बडी शक्ति है।

शब्दशक्ति : अभिधा, लक्षणा और व्यजना समझनेके लिये शब्द-शक्ति समझ लेनी चाहिए जिसका विवरण इस ग्रन्थमे आगे शब्द-शक्ति प्रकरणमे मिलेगा। हम बैलको देखकर कहते हैं—'यह बैल है।' इसी प्रकार कभी-कभी किसी मूर्खको देखकर भी हम कह देते हैं—'यह बैल है।' इस दूसरे वाक्यमें हमने बैलकी मूर्खता लाकर उस मनुष्यमे ला बैठाई है। इस अर्थ बैठानेको 'आरोप' कहते है। यह आरोप शब्दकी शक्तियोसे होता है।

वाचक, लक्षक, व्यजक शब्द हमारे यहाँ शब्दमें अर्थ जतानेकी तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। शब्दका जो अर्थ अभिधा शक्तिसे निकलता है उसे 'वाच्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' कहते हैं और उस शब्दको 'वाचक शब्द' कहते हैं। लक्षणा शक्तिसे किसी शब्दका जो अर्थ निकाला जाता है, उसे लक्ष्यार्थ और उस शब्दको 'लक्षक' कहते हैं। व्यजना शक्तिसे जो अर्थ निकलता है उसे

'व्यंग्यार्थ' और व्यग्यार्थ बतानेवाले शब्दको 'व्यजक' कहते हैं।

(क) अभिधा—अभिधा शक्तिके कारण वाचक शब्दसे वाच्यार्थ निकलता है। इस अभिधाके तीन भेद होते हैं—रूढि, योग और योगरूढि, जिनसे तीन ढगके अर्थ निकलते है रूढ, यौगिक और योगरूढ। जिन शब्दोंकी कोई छानबीन न करनी पडे और सीधे सुनते ही समझमें आ जायॅ उन्हें रूढ कहते है जैसे—घोडा, हाथी, कडा, अँगूठी, हरिण, पेड। जिन शब्दोको जाँचकर और उसकी बनावटका पूरा ब्यौरा लेकर समझना पड़ता है उन्हे यौगिक कहते है जैसे—याचक, कुम्भकार आदि। कुछ ऐसे भी शब्द है जिनकी जाँच-परख तो की जा सकती है परन्तु उसका अर्थ उससे कुछ अलग ही निराला और बॅधा हुआ रहता है, जैसे—'जलज'का अर्थ तो है 'जलसे उपजनेवाला' पर हम 'घोघे, सीपी, सेवार'को 'जलज' नहीं कहते, 'कमल'को ही कहते हैं। इसलिये जलज 'यौगिक' होनेपर भी रूढ हो गया। इसलिये इसे योगरूढ कहते हैं। ये सब अर्थ अभिधेयार्थ है।

(ख) लक्षणा—कभी-कभी हम ऐसे शब्द भी काममें लाते हैं जिनका कुछ अर्थ तो उस शब्दके अर्थसे मिलता हुआ होता है और कुछ उसके अर्थसे अलग। इन्हें लक्षक शब्द कहते हैं और इनसे जो अर्थ निकलता है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है। ये लक्ष्यार्थ दो ढङ्गके होते है—१. जो अपना पहला अर्थ छोडकर कुछ दूसरा ही अर्थ बताने लगते है और इस दूसरे अर्थमें ही बॅध जाते है, जैसे—बलिया बडा झगडालू है। इसका अर्थ यह है कि 'बलियावाले आपसमे बहुत झगडते हैं।' यहाँ बलिया शब्द रूढिसे 'बलियामें रहनेवालो'के लिये आया है। २ जिनमें बोलनेवाला कोई अपना अर्थ लगाकर ऐसा शब्द काममें लाता है जिसका अर्थ उस शब्दके चलते अर्थसे अलग होता है जैसे—'हड्डीकी ठठरी सामने आकर खडी हो गई।' यहाँ बोलनेवालेने किसीके दुबलेपनको बतानेके लिये ये शब्द कहे है। यहाँ 'हड्डीकी ठठरी'का अपना अर्थ छूट गया और उसका लक्षित अर्थ हुआ 'दुबला-पतला, मरियल मनुष्य।'

तो लक्षणामे तीन बातें होनी चाहिएँ—१ उसका जो अपना अर्थ है उसमें रुकावट हो। २. नये निकलनेवाले अर्थका शब्दके अपने जाने-

पहचाने अर्थसे कुछ न कुछ मेल हो और ३. वह शब्द या तो पहलेसे किसी अर्थमे बँध गया (रूढ) हो या जान-बूझकर काममे लाया गया (प्रयोजन-युक्त) हो। इन तीनोमेसे एक भी बात न हो तो लक्षणाशक्ति नहीं लगती।

यह लक्षणा चार प्रकारकी मानी गई है—१ लक्षण-लक्षणा, २. उपादान लक्षणा, ३ सारोपा और ४ साध्यवसाना। सारोपा और साध्यवसानाके भी दो-दो भेद—शुद्धा और गौणी होते हैं। इस प्रकार लक्षणा छः प्रकारकी होती है—
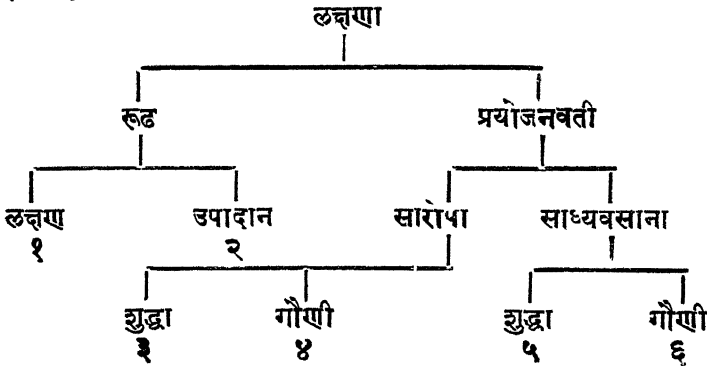
१. लक्षण-लक्षणा : जब कोई शब्द अपने अर्थको पूरा छोडकर लक्ष्यार्थ ही बतावे तब लक्षण-लक्षणा होती है जैसे—बनारस मस्त है (बनारसके लोग मस्त हैं)।

२. उपादान लक्षणा : जब कोई शब्द अपना भी अर्थ न छोडे और दूसरा भी बतावे, वहाँ उपादान लक्षणा होती है जैसे—वहाँ लाल पगडी घूम रही थी (लाल पगडीवाले सिपाही घूम रहे थे)।

३ गौणी सारोपा लक्षणा : जैसे—'मेरी कन्या तो गौ है' या 'वह स्त्री मथरा है।' यहाँ कन्या और गौमे सीधेपन तथा स्त्री और मंथरामे झगडा लगानेके गुणकी समानता होनेसे आरोप हो गया है इसलिये गौणी लक्षणा है। साथ ही आरोप किया हुआ विषय और जिसपर आराप किया गया है, दोनोका वर्णन होनेसे सारोपा है।

४ गौणी साध्यवसाना लक्षणा : जिसमे उपमान (वर्णनकी जानेवाली वस्तुकी समानताके लिये लाई हुई) और उपमेय (जिसका वर्णन हो) एक हो जाते है, वहाँ साध्यवसाना होती है, क्योकि वहाँ गुणोका एक रूप हो जाता है जैसे—चन्द्रमामे दो खजन बैठे हुए हैं (उसके सुन्दर मुखपर दो चञ्चल नेत्र हैं) ।

५ शुद्धा सारोपा लक्षणा : जब समानता या मेल न होनेसे आरोप होता है तब शुद्धा सारोपा लक्षणा होती है जैसे—घृत आयु है।

६ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा : ऊपरके 'घृत आयु है' वाक्यके बदले यदि हम घी देते हुए कहे 'लो तुम्हे आयु ही दे रहा हूँ' तो शुद्धा साध्यवसाना होगी।

(ग) व्यजना : शब्दकी तीसरी शक्ति है व्यजना। जब किसी शब्द या वाक्यके चलते हुए अर्थोंसे अलग कोई निराला ही अर्थ निकले तब वह व्यंजना शक्तिसे निकाला हुआ अर्थ कहलाता है। यह शक्ति शब्द और अर्थ दोनोमे चलती है इसलिये यह (१) शाब्दी और (२) आर्थी दो ढंगकी होती है। यह कभी अभिधाके और कभी लक्षणाके सहारे काम करती है इसलिये यह अभिधामूला और लक्षणामूला दो ढगकी होती है। आर्थी व्यजना कभी वाच्य अर्थसे निकलती है, कभी लक्ष्य अर्थसे और कभी व्यग्य अर्थसे इसलिये यह वाच्यार्थ-सम्भवा, लक्ष्यार्थ-सम्भवा और व्यग्यार्थ-सम्भवा तीन ढंगकी होती है।
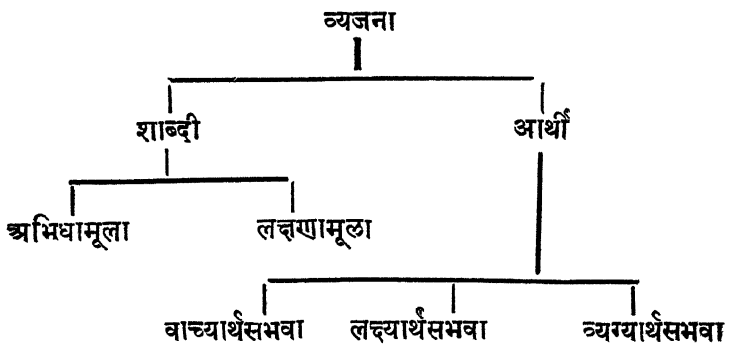
अभिधामूला शाब्दी व्यजनामे एक शब्दसे बहुतसे अर्थ निकलते हैं जैसे—हरि शब्दसे इन्द्र, सूर्य, सिह, शिव, विष्णु और बदर। पर शख-चक्रवाले हरिको 'विष्णु' ही कहते है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यजनामे लक्षणाके ही सहारे अर्थ निकलता है जैसे, 'बम्बई समुद्रमे बसा है' अर्थात् बम्बई चारो ओरसे समुद्रसे घिरा हुआ है।

वाच्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना तब होती है जब वाक्यके वाच्य अर्थसे कोई दूसरा अर्थ निकले जैसे रातको देरतक पास बैठे हुए लोगोसे—'ओ हो! दस बज गए।' कहनेका अर्थ लोग यह समझेंगे कि अब हमें अपने-अपने घर जाना चाहिए।

जब लक्ष्य अर्थमे व्यंजना होती है तब वह लक्ष्य संभवा आर्थी व्यजना कहलाती है जैसे—'आपने तो आज अच्छा मेला दिखाया।' इसका अर्थ कि है आपने बडा चकमा दिया और हमे मेलेमे नहीं ले गए।

जब एक व्यग्य अर्थसे दूसरा व्यग्य अर्थ निकलता है तब उसे व्यग्य-सभवा आर्थी व्यंजना कहते हैं जैसे—'लीजिए, कविजी आ पहुँचे' का एक व्यग्यार्थ तो यह होगा कि 'अब कविता होगी' और दूसरा व्यंग्यार्थ यह निकला कि 'अब ये समय नष्ट करेंगे, सोने नहीं देंगे।'

(घ) समाजमे अच्छी समझी जानेवाली बनावट (उक्ति-संस्कार या डेकोरम): कभी कभी हम समाजमे भद्दी और बुरी मानी जानेवाली बातको जान बूझकर कुछ बना-सजाकर कहते हैं। ये बातें चार ढङ्गकी होती है। (क) लज्जाजनक, (ख) अमंगल, (ग) ग्राम्य और (घ) शिष्टाचार-विरुद्ध।

१. 'मैं हगने जाऊँगा', लज्जाजनक बात है। इसके लिये हम कहते हैं—'मै निवृत्त होने, शौच होने, मैदान होने या निपटने जाऊँगा।'

२ 'वह मर गया' कहना बुरी, अमगल बात है। इसके लिये हम कहते हैं—'उसका स्वर्गवास, वैकुण्ठवास, या गगालाभ हो गया।' ऐसे ही दूकान बन्द करनेको 'दूकान बढ़ाना', फूल तोडनेको 'फूल उतारना', दीपक बुझानेको 'दीया बढ़ाना', होली, आग या दीया जलानेके लिये 'होली

मँगलाना, आग या दीया जगाना', किवाड बन्द करनेका 'किवाड देना', मरे हुएकी जली हड्डीको गंगाजीमे डालनेके लिये इकट्ठा करनेको 'फूल चुनना' और उस हड्डीको 'फूल' कहते हैं। इसी बातको न जाननेवालोने कबीरका शव अचानक ओझल हो जानेपर बचे हुए फूल (जली हुई हड्डी) को फूल (पुष्प) समझ लिया और अँगरेज़ीमे उसका उल्था 'फ्लौवर' कर डाला।

३ भकोसना (खाना), धगगड (पति), कट्टो (प्रिये) जैसे शब्द ग्राम्य हैं। इनके बदले भोजन करना, पतिदेव, प्रिये आदि शब्दोका प्रयोग किया जाता है।

यह बनावट या सुधार 'उक्ति-संस्कार' (यूफेमिज्म) कहलाता है। यूफेमिज्मका अर्थ ही है 'फूहड या बुरी, अशोभन, अमगल और अश्लील बातोको सुघड ढङ्गसे कहना (ए प्लेजेन्ट वे औफ रेफरिंग टु समथिंग अनप्लेजेन्ट)। यह तो शब्दकी छान-बीनमे आना चाहिए पर इन शब्दो या वाक्याशोके अर्थोंमे भी हमने सुघरपन लाकर भर दिया है, इसलिये इन्हे भी अर्थारोपमे ले लिया गया है। कुछ लोगोने इसे 'अर्थापदेश' कहकर बडा भ्रामक नाम दिया है।

४ चौथा है शिष्टाचार-विधि (एटिकेट या उपचार)। आप कौन है? यह पूछना अशिष्ट ढग है। पूछना चाहिए—'आपका शुभ नाम क्या है?' भले ही उसका नाम अशुभ ('घमोच, खचेड्ू, दुक्खी') ही क्यो न हो। उर्दूवाले किसी कँगलेसे उसके रहनेका ठिकाना पूछनेके लिये कहते हैं—'आपका दौलतखाना कहाँ है?' और वह धनी भी हो तो कहता है—'मेरा गरीबखाना बनारसमे है।' आव-भगतके लिये ढले हुए इन सब वाक्योमे नया अर्थ लगाकर उसमे भलामानुसपन भर दिया गया है। इसलिये यह भी अर्थका आरोप ही है।

(ङ) अयानपन, भूल या धोखेसे नया अर्थ लगाना (अर्थभ्रान्ति): कभी-कभी हम लोग अनजाने, या भूलसे किसी एक अर्थमे कोई दूसरा मिलता-जुलता शब्द चला देते हैं जैसे—'कम्पार्टमेन्ट' के बदले 'डिपार्टमेन्ट', 'अपमान' के बदले 'अभिमान', 'सूत्रपात' के बदले

सूत्रधार', 'अन्तर्धान' के बदले 'अन्तर्ध्यान' ही ठीक मानकर बोलने लगते है। इसे अज्ञानार्थ (मैलाप्रौपिज्म) कहते हैं। इसी अयानपनका दूसरा रूप वह है जिसमे हम एक अर्थवाले कई शब्दोमेसे किसी एकको ऐसा अपना लेते हैं कि वैसा ही अर्थ देनेवाले दूसरे शब्द छूट जाते हैं, जैसे नूत्न और नूतन, मानुष और मनुष्य, भ्रुकुटी और भृकुटी, कलस और कलशमेसे पहल शब्द। कभी-कभी शब्दका ठीक अर्थ न जाननेसे भी हम भूल कर बैठते हैं जैसे 'विन्ध्याचल' ही पहाड़का पूरा नाम मानकर कहते हैं—काशीके दक्षिणमे 'विन्ध्याचल पर्वत' है।

(च) अपने पास शब्द-भाडार न होनेसे एक शब्दमे बहुतसे अर्थ भरना (शब्द दारिद्र्य): शब्दका भडार न होनेसे भी लोग एक ही शब्दसे अनेक अर्थ निकाल देते है, जैसे बम्बईमें 'मरना, कटना, जलना, सडना, गलना, फटना, टूटना, चुक जाना, बिगडना, मिटना' सबके लिये 'खलास' शब्द काममे लाया जाता है।

शब्दोंकी बाहरी छानबीन : अर्थोंकी जाँच-परख करनेवालोने अर्थोंकी बाहरी छानबीन करते हुए यह भी जाँच की कि संसारमे बहुतसे नाम क्यो पडे ? उनका कहना है कि 'खग' (आकाशमे चलनेवाला) और 'पर्वत' (पारोवाला) नाम इसलिये चुने गए कि ये छोटे भी हैं और उस वस्तुका सकेत भी करते है। कभी-कभी गुणसे भी नाम पडता है जैसे—शखपुष्पी, अश्वगधा। कभी-कभी एक बोलीके नाम दूसरीमे पहुँचकर दुहरे शब्द ले लेते हैं जैसे—'पाव'का अर्थ पुर्तगालीमे 'रोटी' है पर हम 'पावरोटी' कहते हैं। कभी-कभी लोगोके नाम बडे बेढगे होते है, अन्धेका नाम 'नैनसुख' और कगालका नाम 'कुबेर'। कभी कभी दो बोलियोके शब्द मिलकर नाम बनते है जैसे—इन्सपेक्टर सिह, जर्मन पाडे, शेरसिह या रामबखश। कभी-कभी पुल्लिग नाम सक्षेपमे स्त्रीलिग हो जाता है यदि उसका पहला टुकडा स्त्रीलिग-वाची हो, जैसे—लक्ष्मीनारायणका लक्ष्मी, श्यामाप्रसादका श्यामा, श्रीपतिका श्री। हमारे देशमे नाम और अल्ल बडे बेढगे ढगसे मिलते हैं। शर्मा, वर्मा, सिंह, शुक्लसे या खत्री, तेली, सुनारसे आप समझ जाते हैं कि कौन किस जातिका है, पर कुछ लोग सर्राफ, जागीर-

दार, मुन्शी, जौहरी या दूधवाला लिखकर अपने किसी पुरखेके घरमे होनेवाले कामका ठिकाना बताते है। नेहरूजीके पुरखे नहरके किनारे रहते थे, यह बात कोई कैसे जान सकता है ? कुछ लोग अपने गाँवका ठिकाना देते हैं जैसे मराठोमे मझगाँवकर, मारवाडियोमे टीबरेवाला। दक्षिणमे लोग अपने नामके साथ पिताका नाम भी चलाते है। मद्रासमे अपने नामके पहले गाँवका नाम लगाते हैं जैसे सर्वपल्ली राधाकृष्णन्। ऐसे ही गाँव या नगरके नाम भी या तो उनके ठिकानेसे जैसे 'बरना और अस्सी'के बीचमे 'वाराणसी' या किसीके नामपर पड जाते है जैसे 'रामपुर', और उन नामोके साथ आबाद, पुर, गज, या गढ लग जाता है। कभी-कभी एक नामपर कई नगर बसाकर उनके अलग-अलग नाम रख दिए जाते है जैसे—मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुजफ्फरगढ, मुजफ्फराबाद और मुजफ्फरगंज। कभी-कभी नामोका संस्कार भी हो जाता है जैसे—सेगाँवका सेवाग्राम, डुमराँवका द्रुमग्राम। कभी नाम बिगड भी जाते हैं जैसे—ब्राह्मणावलीसे बामनौली, सिहसे सिनहा और मुखोपाध्यायसे मुकर्जी। पहले तो किसीके गोत्र, पिता, माता, गाँव, प्रदेश, गुण, शरीरकी वनावटपर नाम रक्खा जाने लगा और फिर यह काम अललटप होने लगा। अब तो नई वस्तु खोजनेवालेके नामपर ही उस वस्तुका नाम रख दिया जाता है जैसे—बिजलीकी बत्तीमे जलनेवाली चमककी नापको 'वाट' कहते हैं, क्योकि उसका खोजनेवाला 'वाट' था। कभी कभी लोग अन्धविश्वासमे पडकर अपने पुत्रका नाम बुरा भी इसलिये रख देते हैं कि उनका पुत्र जी जाय। ऐसा वे लोग करते हैं जिनकी सन्तान जीती नहीं है। ऐसे नामोमे दुक्खी, झगडू, बुहारू, बिपत जैसे नाम हैं। कुछ लोग दिनोके नामपर सोमारू, मँगरू, बुद्धू रखते है और कुछ लोग किसी देवताकी मनौतीसे जनमे हुए बालकका नाम हनुमानप्रसाद, शीतलाप्रसाद आदि रख देते हैं। यह नामका झमेला ऐसा है कि ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि नाम बस इसी कारण रक्खे जा सकते है, दूसरे कारणसे नहीं।

सामान्य भाव और विशेष भाव : प्रोफेसर ह्विटनीने कहा है कि 'अर्थ-विकार या अर्थोमे जो हेरफेर होते हैं उन्हे हम दो पालियोमे बाँट

सकते हैं—१ 'सामान्य भाव' (साधारणीकरण या जनरलाइजेशन) और 'विशेष भाव' (असाधारणीकरण या स्पेशलाइजेशन)।' पर इन दोनो अवस्थाओमे भी आरोप (उपचार, इलिप्सिस या मैटाफर) काम करता है और सभी अर्थविकार या अर्थो मे हेरफेर इसीके भीतर आ जाते है। इन लोगोने यह भी कहा है कि उपचार आर ससर्गके भीतर ही सब बातें आ जाती है। कुछ लागोने रूपक (जैसे वह उल्लू कहाँ गया), अनेकार्थता या एक शब्दका दूसरे अर्थमे आने लगना और पहला अर्थ भी बनाए रहना (जैसे 'धातु' शब्द व्याकरण, वैद्यक, शरीर-शास्त्र तथा खनिज-शास्त्रमे अलग-अलग अर्थो मे आता है), एकोच्चरित-समूह (जैसे 'ओनामासीधम' या बहुत-सो कहावते जैसे 'न नो मन तेल होगा न राधा नाचेगी'), समास, मूर्त्तीकरण (जहाँ अमूर्त अर्थ मूर्त हो जाता है जैसे—जनता और देवता पहले 'ता' लगे हुए भाववाचक शब्द थे, पीछे मूर्त बन गए) और अमूर्त्तीकरण (मूर्तका अमूर्त्त हो जाना जैसे 'छाती' शब्द 'बडी छाती' शब्दम साहस या उदारता क लिये आ गया है) को भी अर्थोमे हेरफेर का ढग बताया है, पर य रूपक, अनेकार्थता, एकोच्चरित-समूह, समास, मूर्त्तीकरण और अमूर्त्तीकरण सबके सब 'अर्थारोप' के भीतर आ जाते हैं।

कई छायावाले अर्थोकी खाज (सूक्ष्मार्थवृत्ति) : कभी-कभी एक ही कामके कई ढङ्ग देखकर भाषा जाननेवालोने उन सबके लिये अलग-अलग शब्द बना लिए, जैसे—'लालसा, कामना, वासना, अभिलाषा, आकाक्षा', ये सब चाह या इच्छाके ही कई रूप है पर इच्छा कैसी और कितनी हे यही समझनेके लिये इतने शब्द चल पड़े हैं।

अर्थोमें हेरफेर हानेके कारण : अर्थो मे हेरफेर हानेके जितने ढग बताए गए हैं उन्हे देखनेसे जान पडेगा कि या तो कोई मनुष्य अपने मनकी ढलन, सूझ-बूझ या भूलमे नया अथ चला देता है या पूरा समाज ही नया अर्थ चलाकर अर्थो मे हेरफेर कर देता है। इसे यो कह सकते है कि अर्थो मे

अदल-बदल होनेके तीन ढगके कारण हैं—एक व्यक्तिगत, दूसरा साहित्यगत, तीसरा समाजगत। जहाँतक व्यक्तिगतकी बात है, वे भी दो ढगके है—एक तो जो हमारी भूल या अयानपनसे चल निकलते हैं (जैसे—'उपत्ता' के बदले 'अपेत्ता' कहना, 'निकृष्ट के बदले 'उत्कृष्ट' कहना)। उसके कुछ ऐसे कारण है जो हमारे मन, बुद्धि या हृदयसे मेल रखते है। हम लोग इतने आलसी है कि नया शब्द गढनेमे हमे आलस होता है इसलिये हम एक ही शब्दसे बहुतसे अर्थ निकाल लेते हैं। सिल्क या रेशमसे बने हुए कपडेको सिलिक (सिल्क) ही कहने लगते हैं। कभी ऐसी बान पड जाती है कि एक ही शब्दको 'अच्छा, हाँ, अवश्य, कहिए' आदि बहुतसे शब्दोके बदले एक ही शब्दका सुग्गा-पठन्त करते है (जैसे उदयपुरमे सब लोग किसी बातके मानने, सरकारने, ह'मी भरनेके लिये 'हुकम' और रीवॉमे सब बातोमे 'जी मरजी', कहते है)।

ऐसे ही बहुतसी बातोसे बुद्धिका भी मेल है, जैसे पढे-लिखे लोग अपनी पडिताई छाँटनेके लिये एक शब्दको बहुत अर्थोमे चलाते हैं या दूसरी बोलियोके शब्द लेकर काममे लाने लगते हैं या जो शब्द घिस या मिट गए है उन्हे चलाने लगते है या नये शब्द गढते हैं या किसी बिगड़े हुए शब्दका नया रूप दे देते है (जैसे सेगाँवको सेवाग्राम बना दिया) या अपनी धौससे किसी एक अर्थमे आनेवाले शब्दको किसी दूसरे अर्थमे चला देते है (जैसे गाधीजीने 'अछूत' के लिये 'हरिजन' शब्द चला दिया)।

अर्थोंके हेरफेरके सामाजिक कारण : अर्थोमे होनेवाले हेरफेरके कुछ सामाजिक कारण भी है। समाजमे लोग फूहड़ शब्द काममे नहीं लाते जैसे—पुरुष या स्त्रीकी जननेन्द्रियके देशी नाम लोग नही बोलते और उनके बदले लिग या योनि आदि सस्कृतके शब्द चलाते हैं। इसी सामाजिक शिष्टाचारके कारण 'आम' का सस्कृत शब्द 'चूत' काममे नहीं लाते और पैरको 'पाद' नहीं कहते। कुछ ऐसे भी शब्द है जो भले लोगोंमे नहीं चलते जैसे—अबे, कट्टो, भकोसना, हुरपेटना। ये शब्द

ग्राम्य माने जाते हैं। इसी सामाजिक मेलजोलसे हमने दूसरे देशवालोंके भी शब्द ले लिए हैं जैसे—कोट, बटन, चश्मा, टिकट, राशन, कन्ट्रोल। यहाँतक कि कुछ ऐसे वाक्योंके टुकडे भी चलते हुए ले लिए जाते हैं जिनका हमसे कोई मेल नहीं होता जैसे—'मगरके आँसू' (क्रोकोडाइल्स टीअर्स) या सभामे 'भाग लेना' (टेक पार्ट इन दि मीटिंग), प्रकाश डालना (थ्रो लाइट)। दूसरे धर्मोंके मेलमे आकर भी हम ऐसे शब्द ले लेते हैं जिनसे अलग-अलग धर्मवालोंकी पहचानमे भूल न हो जैसे—'मस्जिद, गिरजा, नमाज़' आदि। ये सब नये अर्थोंमे लिए हुए शब्द कुछ दिन तो नयेसे लगते हैं पर चलते-चलते घुल-मिल जाते है।

इससे यह भी समझमे आ जायगा कि शब्द कुछ भी नहीं है। जो कुछ है 'अर्थ' है, जो हम लोग जान-बूझकर या भूलसे किसी भी शब्दमे लगा देते हैं और यह लगा हुआ अर्थ या तो बहुत दिनोसे चलते रहनेसे एक अर्थमे बँध जाता है या फिर हम शब्दोको नये-नये अर्थोंमे ढालने लगते है। अत अर्थ बदलनेके तीन कारण हुए—(१) सामाजिक, (२) व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक और (३) साहित्यमे चलन। कभी-कभी कुछ बातें छिपाकर कहनेके लिये भी हम एक शब्दमे ऐसा दूसरा अर्थ भर देते हैं जो न तो कोषमे मिलता है और न लोगोमे चलता है। पर ये सबकी बोलचालमें नहीं आते, इसलिये यहाँ हम उन्हे छोड़ देते हैं।

अर्थोंमें कैसे हेरफेर हो जाता है ? : ऊपर हमने जो बहुत ढंगके हेरफेर समझाए हैं उनकी जाँच-परखसे जाना जा सकता है कि इनमें होनेवाले हेरफेर बहुत बातोसे होते हैं—

१ एक शब्दको बहुत अर्थोंमे काममे लाना : यह काम कवियोने किया है और ऐसा करके उन्होने अपनी बातमे नयापन और अनोखापन भर दिया है। जैसे—'कान ऐंठना, कान उठाकर सुनना, कान कतरना, कान करना, कानका कच्चा होना, कानके परदे फटना, कान खड़े करना, कान खाना, कान गरम करना, कान दबाना, कान न हिलना, कान पकड़ना, कानपर जूँ न रेंगना, कानपर हाथ धरना, कान-पूँछ फटकारना, कान फडफडाना, कान फूँकना, कान भरना, कानमें डालना,

कानमे तेल डाल बैठना, कान रखना, कान लगाना, कानसे निकल जाना, और कानाफूसी करना' मे एक 'कान' को ही न जाने कितने अर्थोंमे लोगोने बाँधकर उसके बहुतसे अर्थ लगा लिए हैं।

२ आरोप : किसी एक काममे आनेवाले एक शब्दको उस काममे आनेवाली दूसरी वस्तुके लिये जोड देते है जैसे—पर्ण शब्दका अर्थ था पत्ता और पत्तेपर लिखा भी जाता था इसलिये लिखे हुए या लिखनेके काममे आनेवाले कागज को भी 'पन्ना' कहने लगे।

३ दूसरी बोलीसे शब्द लेना जब हम किसी दूसरी बोलीसे कोई शब्द लेते हैं तो कभी-कभी उनके अपने अर्थको बदल देते हैं—जैसे गुजरातीवाले 'घडियाल' शब्द 'घडी' के लिये काममे लाने लगे।

४ जब एक बोली बोलनेवाले लोग तितर-बितर हो जाते हैं तो एक ही शब्द अलग अर्थ देने लगता है जैसे—सस्कृतका वाटिका, बँगलामे बाडी (घर) के लिये आ गया।

५ वातावरण बदलना कभी-कभी अपने देश या समाजके बदलनेसे या अपना रहन-सहन या रीति रिवाज या परिस्थिति बदलनेसे भी शब्दके अर्थ बदलते रहते हैं जैसे—ब्रिटिश लोग 'मिठाई' को 'डेस्सर्ट' कहते हैं और अमरीकावाले फलको 'डेसर्ट' कहते हैं (भौगोलिक वातावरण बदलनेसे)। 'ठाकुर' शब्द मदिरमे भगवान्‌की मूर्तिके लिये, क्षत्रियोमे क्षत्रियके लिये, नाइयोमे नाईके लिये चलता है (सगति)। ऐसे ही 'वर' शब्द दुलहेके लिये ही बँध गया है (चलनसे)।

६ जब नई-नई वस्तुएँ बनती और निकलती है तब उनका नाम रखनेके लिये हम नये शब्द न गढकर पहलेसे चले आते हुए किसी शब्दको ही अपना लेते हैं जैसे—सिल्कका अर्थ है रेशम, इसलिये उससे बननेवाले दुपट्टेको हम लोग 'सिल्क' कहने लगे।

७. कभी-कभी आदरके लिये भी बहुतसे शब्द एक बँधे हुए अर्थमे चल पड़ते हैं जैसे, 'आपका दौलतखाना कहाँ है। मेरा गरीबखाना यहाँ है।' उदयपुरमें सब कामोके लिये 'हुकुम' कहा जाता है यहाँतक कि 'हाँ' और 'अच्छा' के लिये भी 'हुकुम' ही कहा जाता है। कभी-कभी इस

आदरके लिये अपने इष्टदेवसे सम्बन्ध रखनेवाली या काममे आनेवाली वस्तुओके साथ भी अपने इष्टदेवका नाम लगा देते है और पवित्र नाम रख देते हैं जैसे रामानुज सम्प्रदायवाले 'नमक' को रामरस कहते हैं और दक्षिणके वैष्णव लोग पानीको 'तीर्थम्' कहते है ।

८ गदी, बुरी और डरावनी बातोको लोग दूसरे ढगसे घुमाकर कहते है जैसे, बीमारके लिये 'उनके दुश्मनोकी तबीअत नासाज है', फूल तोडनेको 'फूल उतारना', दीया बुझानेको 'दीया बढाना', दूकान बन्द करने या किवाड बन्द करनेको 'दूकान बढाना' और 'किवाड देना', होली जलानेको 'होली मॅगलाना' कहते है क्योकि लोग कोई अमगल, डरावनी या बुरी बात नही कहते । ऐसे ही शौच जानेके लिये लाग कहते है—'टट्टी जाना, निपट आना या नम्बर एक, नम्बर दो' आदि। ऐसे हो जब किसीको कोई सॉप काट लेता है ता कहते है 'कीडेने सूँघ लिया' या 'जानवरने पकड लिया।' कभी-कभी लोग अपने बडो या प्यारोका नाम नहीं लेते जैसे पति, गुरु, स्त्री और लडकेका नाम। इसी ढगसे आदर दिखानेके लिये छाटा काम करनेवाले चमारको 'रैदास' और किसी दोषी या अगहीनको जैसे अन्धेका सूरदास कहते है ।

९ लम्बे या कई शब्दोके बदल एक छोटा शब्द भी काममे लाने लगे हैं जैसे, 'बाइसिकिल' क लिये साइकिल, 'सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल' के लिये 'हिन्दू स्कूल', 'मोटरकार' के लिये 'कार' आदि।

१० समानता (एनेलौजी) : एक-सा भाव देखकर भी अर्थ बदल जाता है जैसे—मास्टर शब्दका अर्थ है 'स्वामी' या 'बालकोपर शासन करनेवाला'। इसलिये बम्बईमे सब अधिकारियोको 'मास्टर' कहने लगे यहाँतक कि ट्रामका टिकटवाला, रेलका टिकटबाबू सब मास्टर बन गए।

११ कभी-कभी लोग भूलसे या जानबूझकर दूसर अर्थमे कोई शब्द चला देते है जसे—गुजरातीमे 'जरूरत' के लिये 'जरूर'। लेखक लोग व्यग्यमे या चटक लानेके लिये तो लक्षणा-व्यञ्जनासे किसी शब्दका नया अर्थ ही चलाते है पर कभी-कभी भूलसे भी चला देते है जैसे हिन्दीमे लोगोने 'आश्रय' (सहारा)के बदले 'प्रश्रय' चला दिया, जिसका अर्थ है 'प्यार या आदर'।

१२ कभी-कभी लोगोंके अयानपनसे एक ही शब्द अपने दो रूप लेकर एक ही अर्थमें चलता है। पर ऐसा वे लोग चलाते हैं जो बोलीको जानते नहीं जैसे--'हिमाचल पर्वत' या 'अयोध्यापुरी नामक नगरी' या 'दर असलमें'।

१३ कभी-कभी एक ही शब्दके दो रूप एक साथ चलते हैं जैसे—काम-काज, ब्याह-शादी। कुछ लोगोंने स्तन और थन, गर्भिणी और गाभिनको भी इसीमें ले लिया है अर्थात् 'लौ ऑफ डिफरेन्सिएशन' माना है जो ठीक नहीं है।

१४ अनाड़ीपनसे भी अशुद्ध शब्द चल पडते हैं जैसे--'मैं द्वितीय श्रेणीके डिपार्टमेन्टमें लखनऊ गया था।' यहाँ 'कम्पार्टमेन्ट' के बदले 'डिपार्टमेन्ट' कहा गया है। इसे 'मैलाप्रौपिज्म' कहते हैं। ऐसे ही लोग 'विलाप किया' के बदले 'प्रलाप किया' कहते हैं।

१५ किसी राष्ट्र, जाति या धर्ममें आदर न होनेसे भी अर्थ बदलता है जैसे—आर्यसमाजी लोग 'पोप' शब्द 'पाखंडी' के लिये काममें लाते हैं, बौद्ध शब्द बुद्धू बन गया और जैनियोंके आदरके शब्द 'नग्न और लुंचित' भी 'नंगे-लुच्चे' बनकर बुरे अर्थमें आ गए। आजकल भी लोग ऊबकर किसी भी बुरे कामके लिये कहते हैं कि 'कांग्रेसी काम हो रहा है।'

१६ कभी जो कोई शब्द बहुत चल निकलता है वह बहुत अर्थोंमें आने लगता है जैसे—बंबईमें 'खलास' शब्द 'मरने, कटने, सड़ने, जलने, चुकने, मिटने, हटने, गिरने, टूटने, फूटने', सबके लिये काम आता है।

१७. कभी-कभी कोई बड़े लोग किसी एक शब्दको किसी अर्थमें चला देते हैं जैसे गाँधीजीने 'हरिजन' शब्द अछूतोंके लिये चला दिया। यह अर्थका उत्कर्ष हुआ या अपकर्ष यह बताना भाषा-विज्ञान-वालोंके लिये भी टेढ़ी खीर है।

१८ कभी-कभी किसी शब्दके एक अंशका ध्वनि-बल दूसरे अंशपर लग जाता है (शिफ्ट ऑफ एम्फेसिस), जिससे अर्थमें हेरफेर हो जाता है, जैसे—गवेषणाका अर्थ था 'गौको खोजना', पर आगे चलकर 'गव' शब्दसे बल निकलकर 'एषणा'पर टिक गया और 'गवेषणा'का

अर्थ हो गया 'छानबीन करना', 'खोज करना'।

१९. कभी ऐसा भी होता है कि एक वर्गके एक शब्दका अर्थ बदल जाता है और फिर आगे चलकर उससे बननेवाले शब्द वैसे ही बनते है जैसे—दुहिता का अर्थ है दुहनेवाली पर दौहित्र शब्द इस दुहितासे बना, दूध दूहनेसे उसका कोई लगाव नही।

२० अनजाने नया अर्थ निकल आना जैसे—सिधुसे 'हिन्दू जाति और 'हिन्द' दोनो अर्थ हो गए।

२१ जब किसी शब्द, वर्ग या वस्तुमे कोई एक बात सबसे अलग दिखाई पडने लगती है तो उसीमे पूरी वस्तुका अर्थ आ जाता है जैसे—'लाल पगडी दिखाई पड़ी।' 'यहाँ 'लाल पगडी'मे 'लाल पगड़ीवाल सिपाही' आ गए।

२२ कभी कभी हम लोग आपसमे एक दूसरेपर छींटे कसते हुए, किसी झूठ बोलनेवालेको कह बैठते हैं—'वाह रे हरिचन्द्र!' यहाँ 'हरिश्चन्द्र' का अर्थ है 'झूठा'।

२३ कभी-कभी हम लोग जब आपेसे बाहर हो जाते है, तब भी कुछ ऐसे शब्द कह बैठते है जिनका अर्थ दुलार भी हो जाता है और खीझ भी, जैसे—'आना बच्चू, वाह बेटा! मेरे ललना', आदि।

२४ सुननेवालेकी जैसी समझ होगी वैसा ही वह शब्दका अर्थ समझेगा या उसके मनमे अवसरसे या अपनी समझसे जो ज्ञान होगा वह वैसा ही समझेगा जैसे—'लाओ' कहनेपर एक राजाके चार नोकर अलग-अलग चार वस्तुएँ ले आए। राधेश्यामको माननेवाले तोतेका बोलीको 'राधेश्याम' और रामके उपासक 'राम-राम' समझते हैं।

२५. कभी-कभी किसी शब्द का ठीक अर्थ निश्चित नहीं होता इसलिय उसके अर्थ बदल जाते है जैसे—'धर्म' शब्द।

२६ एक ढंगकी एक वस्तुका नाम उस पूरे ढंगकी वस्तुओको ही दे दिया जाता है जैसे—शाक कहते है हरे पत्तेका, पर अब आलू, टमाटर भी शाक ही कहलाने लगा।

२७ कभी-कभी भाव स्पष्ट करनेके लिये लोग कमसे कम शब्दोमे

अधिकसे अधिक बातें कहना चाहते है । ऐसा करनेके लिये वे अलकारोसे काम लेते है । इसका ब्यौरा हम पीछे दे आए हैं क्योकि लक्षणा और व्यजनाके सहारे अर्थ बदलनेमे कुछ देर नहीं लगती । दूसरे सब अर्थ तो देरसे बदलते हैं पर ये अर्थ झट बदल जाते हैं ।

अर्थमें अदल-बदलके कुछ निराले ढंग हैं : यह नहीं समझना चाहिए कि अर्थ बदलनेके कुल इतने ही ढग हैं, और भी बहुतसे हो सकते हैं ।

१ कभी तो एक शब्द अपना नया अर्थ लेकर भी पुरानेको नहीं छोड़ता और उसके बहुतसे अर्थ बदलते रहते है । जैसे—हम ऊपर 'कान' की बात बता आए हैं ।

२ कभी-कभी एक सोतेसे निकले हुए या एक ही शब्दके दो अलग-अलग रूपोके अर्थ अलग-अलग हो जाते हैं जैसे स्तन और थन ।

३ कभी-कभी कुछ ऐसे शब्द होते हैं कि सुननेमे तो एकसे रहते हैं पर अलग-अलग सोतोसे आते है और उनके अर्थ भी अलग होते है—जैसे हिन्दीमे 'आम' एक फलको कहते हैं और अरबीमे 'साधारण' को । इसे 'होमानीम या होमो-फोन' कहते हैं ।

अतः चाहे कोई अर्थ पहलेसे चला आया हो या नया जोडा गया हो पर सबमे यह बात मिलती है कि १ या तो किसीने भूल और अनजानसे किसी शब्दसे नया अर्थ निकाला या उसमे लगा दिया है या जान-बूझकर अर्थमे चटक या नयानपन लानेके लिये ऐसा किया है या २ समाजने ही नये अर्थका चलन चला दिया ।

सारांश

अब आप समझ गए होंगे कि—

१ बुद्धिके सहारे अर्थोमें हेरफेर होनेके ये नियम है विशेष भाव, भेदीकरण, उद्योतन, विभक्तिशेष, भ्रम, उपमान, नया लाभ और लोप ।

२. अर्थोमे इतने ढगके हेरफेर होते है—(क) अच्छेका बुरा होना (अर्थापकर्ष), (ख) बुरे का अच्छा होना (अर्थोत्कर्ष), (ग) छोटे घेरेसे बड़े घेरेमे आना (अर्थ-विस्तार), (घ) बडे घेरेसे छोटे घेरेमे पहुँचना (अर्थसङ्कोच), (ङ)

कुछका कुछ हो जाना (अर्थादेश), (च) आपसमे अदल बदल जाना (अर्थ-विनिमय), (छ) बढ जाना (अर्थ विसर्पण) और (ज) नये अर्थमे लग जाना (अर्थारोप)।

यह छन्द घोट लीजिए—

अपकर्ष हो, उत्कर्ष हो, सङ्कोच हो, विस्तार हो।
आदेश, अर्थारोप हो, विनिमय, विसर्पण सार हो॥

३ नाम रखनेके बडे निराले और बहुत टङ्ग होते है।

४ बालकी खाल निकालनेसे भी अर्थमे हेरफेर होता है।

५ किसी व्यक्ति या समाजके चलानेसे ही अर्थोमे हेरफेर होते हैं।

———

११
संसारकी बोलियाँ

वाक्यकी बनावटकी दृष्टिसे संसारकी बोलियाँ चार ढगकी मानी गई हैं—

१. अलगन्त या विकीर्ण (अयोगात्मक या आइसोलिटिंग) भाषाएँ, अलग-अलग बिखरे हुए शब्दोसे बने वाक्योवाली।

२ जुटन्त या सप्रत्ययोपसर्ग (एग्ल्यूटिनेटिव) भाषाएँ; ऐसे शब्दोंसे बनी हुई, जिनके आगे, पीछे या बीचमे कुछ अर्थ समझानेवाले लटके (प्रत्यय या उपसर्ग या मध्यग) जुटे हुए हो।

३ मिलन्त या धातुरूपात्मक (इन्फ्लैक्शनल) भाषाएँ, जिनके शब्द सज्ञाओं या क्रिया-रूपोकी विभक्तियोसे मिले हो।

४ घुलन्त या सम्पृक्त, (इन्कौर्पोरेटिग), जिनके सब शब्द एकमे घुलकर एक शब्दका वाक्य बनाते हो।

१. अलग बिखरे हुए शब्दोवाली (विकीर्ण, अयोगात्मक या आइसोलेटिग) : कुछ बोलियाँ ऐसी हैं जिनके वाक्यमे सब शब्द अलग-अलग बिखरकर रहते हैं पर कौन शब्द किस अर्थके लिये कहाँ आना चाहिए यह भी उससे पहलेसे बँधा रहता है क्योंकि ऐसी बोलियोमे मेल-जोड़ दिखानेवाले लटके (नाता बतानेवाले उपसर्ग, विभक्ति, प्रत्यय

आदिकी ध्वनियाँ) नहीं होते है और न शब्दोंकी बनावटमें ही कोई हेरफेर होता है। वाक्योकी ऐसी बनावट उन बोलियोमे होती है जिनमें एक शब्दका एक अक्षर होता है जैसे चीनी आदि एकाक्षर परिवारकी भाषाएँ। हिन्द-योरोपीय बोलियोमे भी उनके वाक्योके शब्द अलग-अलग बिखरते जा रहे हैं।

२. जुटन्त (सप्रत्ययोपसर्ग या एग्लूटिनेटिव) : कुछ बोलियाँ ऐसी भी हैं जिनमें शब्दोके साथ दूसरे शब्दोसे मेल-जोड बनानेवाले लटके (प्रत्यय, उपसर्ग और मध्यग) ऐसे मिले हुए रहते हैं कि उन्हे अलग पहचाना जा सकता है। वे, न तो शब्दोकी बनावट बिगाडते हैं और न अपनी बनावटमे बिगाड आने देते हैं। शब्दके साथ चिमटकर भी वे अलग पहचाने जा सकते है। इसीलिये ऐसे वाक्योको लोग 'पारदर्शी' वाक्य भी कहते है। जैसे—परि-स्थिति-न अति-आ-हार-त्व ही अ-ज्ञान-ता है।

३ मिलन्त (धातुरूपात्मक या इन्फ्लैक्शनल) : कुछ बोलियाँ ऐसी होती हैं जिनमे शब्दोका आपसमे मेलजोड बनानेवाले लटके (विभक्ति-प्रत्यय) इस ढगसे शब्दोमे जाकर चिमट जाते हे कि वे शब्दकी बनावट भी बदल देते है और अपनेको भी उसीमे समा लेते है। सस्कृतमे चतुर्थीका प्रत्यय होता है 'ङे' पर जब वह कृष्ण शब्दमे लगता है तब वह 'कृष्ण' को 'कृष्णाय' बना देता है। कहीं-कहीं यह प्रत्यय अनाखे ढगसे आ जाता है जैसे पितृ शब्दमे 'सु' (प्रथमा एकवचन) का विभक्ति-प्रत्यय मिलकर पिता बन जाता है।

४ घलन्त (संपृक्त या इनकौर्पोरेटिंग) : कुछ ऐसी बोलियाँ भी है जिनके वाक्यमे आनेवाले शब्द कुछ घिस-मिटकर, एकमे घुलकर एक बडे शब्दका रूप बना लेते हैं। ये ऐसे ढगमे घुले होते हैं कि उन शब्दोको अलग-अलग करके उनका ठीक मेल बैठाना कठिन काम हो जाता है। इसीलिये इसे घुली हुई (संपृक्त) बोली कहते हैं जैसे मैक्सिकोकी बोलीमे 'नेवत्ल = मै, नाकत्ल = मास, का = खाना' मिलकर 'ने-नक्-का' (मै मास खाता हूँ) हो जाता है। इसमें नेवत्लका वत्ल, नाकत्लका कत्ल मिट गया और तीनों शब्द घुल-मिलकर ऐसे बन गए कि उन्हें ढूँढना टेढी

खीर हो गई। 'भारतीय योरोपीय' शब्दसे 'भारोपीय' शब्द भी ऐसे ही चापल्यसे बनाया गया है।

रूपाश्रित और गोत्राश्रित वर्गीकरण

संसारकी बोलियोकी जाँच-परख करके देखा गया कि बहुत-सी बोलियाँ अलग-अलग होती हुई भी कुछ बातोमे आपसमे मिलती-जुलती-सी लगती हैं। इस ढङ्गका मेल दो बातोमे होता है—

१. जिनमे सम्बन्धतत्त्व या दो शब्दोके बीच नाता जतानेवाले शब्द एक-से होते या उनकी बनावटमे कुछ एक-सी बातें होती है।

२ जिसमे अर्थ-बोध या शब्द (अर्थयोग या अर्थतत्त्व) या अर्थ बतानेवाले शब्द एक से होते है।

इन्हीं दो बातोका मेल देखकर लोगोने भाषाओको दो पालय।मे बाँटा है—

(क) बनावटके ढङ्गपर बँटवारा (रूपाश्रित या आकृति-मूलक वर्गीकरण, सिन्टैक्टिल या मौर्फोलौजिकल क्लासिफिकेशन), इसमे वे बोलियाँ रक्खी जाती है जिनमे मेल-जोड या सम्बन्ध-तत्त्व एकसे लगते हैं।

(ख) गोत्राश्रित, पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण (हिस्टौरिकल क्लासिफिकेशन), इसमे वे बोलियाँ आती हैं जिनमे अर्थबोध या अर्थतत्त्व (शब्द) एकसे होते हैं और यह व्याकरण या शब्दोकी जाँच-परखके सहारे होता है।

रूपाश्रित (आकृतिमूलक) वर्गीकरण

रूपाश्रित वर्गीकरणमे यह देखा जाता है कि वाक्यमे आनेवाले शब्दोका आपसी नाता किस ढंगसे जुडा होता है। 'रामने अयोध्यामे राज्य किया' मे चार शब्द 'राम, अयोध्या, राज्य, करना' हैं। रूपकी परखके लिये यह देखना होगा कि—१ इन चारोको अपने-अपने ठीक अर्थमे लानेके लिये हमने इन्हें वाक्यमे किस ढंगसे बाँधा या इनका नाता दिखाया है और २ वाक्योमे आनेवाले चारों शब्द—'रामने, अयोध्यामे, राज्य, किया' किस ढङ्गके धातु, प्रत्यय या उपसर्गके साथ या यो कहिए कि अपने आगे-पीछे या बनावटमें होनेवाले किस हेर-फेरके साथ आए हैं।

रूपाश्रित वर्गीकरण (शब्दोकी बनावटके सहारे होनेवाले बँटवारे) मे दो ढगकी बोलियाँ आती हैं—१. अलगन्त (विकीर्ण या अयोगात्मक या आइसोलेटिङ्ग) और २ जुटन्त (सप्रत्ययोपसर्ग या एग्ल्यूटिनेटिव या योगात्मक) ।

जुटन्त बोलियोमे जितने ढगके जुटान होते हैं उन्हे देखते हुए उन्हे तीन पालियोमे रक्खा गया है—

(क) मिलन्त या धातु-रूपात्मक (इन्फ्लैक्शनल या श्लिष्ट),

(ख) घुलन्त (सम्पृक्त या इनकौर्पोरेटिग) जिसे पोलीसिन्थेटिक (बहु-संश्लेषणात्मक), होलोफ्रिस्टक (अव्यक्तयोगात्मक) भी कहते हैं ।

(ग) अलग जुटन्त (सिम्पिल एग्ल्यूटिनेटिव या अश्लिष्ट) ।

मिलन्त (धातुरूपात्मक, श्लिष्ट योगात्मक या इन्फ्लैक्शनल) : मिलन्त बोलियाँ वे है जिनमे मेल-जोड बतानेवाली टेक लग जानेपर अर्थ-बाँधवाले शब्दोकी बनावटमे भी कुछ बिगाड आ जाता है पर मेल-जोड बतानेवाली टेक अलग दिखाई पडती है जैसे—'भूत, देह, देव' शब्दसे बने हुए 'भौतिक, दैहिक, दैविक' शब्दमे 'भूत, देह, देव' शब्द बिगड गए हैं पर जो उनके साथ 'इक' जुडा हुआ है वह अलग दिखाई पड रहा है । ऐसी बोलियाँ ससारकी सबसे बडी बोलियाँ मानी जाती हैं । सेमेटी, हैमेटी और हिन्द-योरोपी गोत्रकी बोलियाँ इसी 'मिलन्त' के भीतर ही आती हैं । बोलियोकी छान-बीन करनेवालोने इन मिलन्त बोलियोके भी दो भेद कर दिए हैं—१ भीतर-मिलन्त (अन्तर्मिलित) २ बाहर-मिलन्त (बहिर्मिलित) ।

भीतर-मिलन्त बोलियाँ : भीतर मिलन्त बोलियोमे अर्थ-बाँध या शब्दके भीतर ही टेक (प्रत्यय आदि) मिली रहती है । सेमेटी और हैमेटी बोलियोमे यह बात बहुत दिखाई पडती है। अरबीका 'तलब' शब्द लीजिए । इसीसे वे 'तलब, तालिब, तुलबा, मतलब' बना लेते हैं ।

ये बोलियाँ भी दो ढंगकी होती हैं—१. पूरी मिली हुई (संयुक्त या सिन्थेटिक) जैसे अरबी आदि सेमेटी बोलियोका पुराना ढाँचा, जिनमे कोई अलग मेल-जोड बाहरसे नहीं लगाना पडता और २ अलग जोड-

वाली (एनेलिटिक या सह-संयुक्त), जिनमे शब्द बनते तो हैं पहले ही ढगसे, पर वाक्य बनाते समय उनमें कुछ अलग नये मेल-जोड़के शब्द भी लगा लिए जाते हैं। पीछेकी हिब्रू बोलीमे यह बात बहुत देखी जाती है।

बाहर-मिलन्त बोलियाँ : बाहर मिली हुई (एक्स्टर्नल इन्फ्लैक्शनल या बहिर्मिलित श्लिष्ट) बोलियोमे जो मेल-जोडकी टेक लगाई जाती है, वह अर्थ बाँध (शब्द) के पीछे आती है जैसे संस्कृतमे जब पठ्के साथ 'ति, तः, अन्ति' लगाना होता है तो वे पठ् शब्दके साथ ही जोड़कर उससे 'पठति, पठतः, पठन्ति' बना लेते हैं। इस बाहर मिली हुई मिलन्त बोलीको भी लोग दो ढगोकी मानते हैं—

१. पूरी मिली हुई (सयुक्त या सिन्थैटिक) जैसे—हिन्द-योरोपी गोत्रकी यूनानी, लातिन, संस्कृत और अवेस्ता बोलियाँ, जिनमे साथ लगनेवाली क्रिया (सहायक क्रिया या औग्ज़िलियरी वर्ब) और परसर्ग (प्रिपाज़ीशन) नहीं लगाना पडता था, शब्दके भीतर ही वह मेल-जोड़ मिला रहता था जैसे सस्कृतमे—'रामेण पुस्तक पठितम्' (रामसे पुस्तक पढी गई या रामके द्वारा पुस्तक पढी गई)। इन हिन्द-योरोपी गोत्रकी बोलियोमेसे लिथुआनी बोली आदि आज भी ज्योकी त्यो पूरी मिली हुई (सयागात्मक) है।

२. अलग जाडवाली (सहसंयुक्त) बोलियोमे हिन्द-योरोपी गोत्रकी आजकलकी वे बहुत-सी बोलियाँ आती हैं जिनकी विभक्तियाँ (मेल-जोड बतानेवाली टेक) धीरे-धीरे घिसकर पूरी मिट गई हैं और उनके साथ अलग मेल-जोड और क्रिया बतानेवाले नये शब्द लग गए हैं, जैसे 'पठितम्' के लिये हिन्दीमे बन जाता है 'पढ़ा गया' और इसी अलगानेके फेरमे कुछ हिन्दीके लिखनेवाले लाग 'रामने' को भी मिलाकर लिखनेके बदले 'राम ने' लिखने लगे। पर अब कुछ लोगोका कहना है कि हिन्द यारापा गात्रकी ये बिलगावनी (अयागात्मक) बालियाँ फिर वैसी ही पहले ढङ्गकी मिली हुई बनती चली आ रही है। पर उन लोगोका यह सोचना भूल है, क्योकि जो बोलियाँ अलग-अलग हाकर बन गई हैं, वे अब बदल नही सकतीं।

घुलन्त (सम्पृक्त या इन्कौर्पोरेटिंग) बोलियाँ : घुलन्त बोलियोमे मेल-जोड बतानेवाली टेक और शब्द (अर्थबाँध) ऐसे घुले-मिले रहते हैं, कि एकको दूसरेसे अलग नहीं कर सकते जैसे—सस्कृतमे गङ्गासे गाङ्गेय, दशरथसे दाशरथि और भीमसे भैम। इन घुलन्त बोलियोके भी लोगोने दो भेद माने हैं—(क) जिनमे यह घुलना पूरा रहता है, उन्हे पूरा घुला (तन्मय या कम्प्लीटिली इन्कौर्पोरेटिव) और (ख) अधूरा घुला (किञ्चित्तन्मय या पार्टली इन्कौर्पोरेटिव) कहते है।

पूरी घुली हुई बोलियोमे मेल-जोड़ और शब्दकी घुलन्त इतनी पूरी होती है कि कभी-कभी एक शब्द ही पूरा वाक्य बन जाता है और वाक्य बनते समय सब शब्द पूरे न आकर अधूरे-अधूरे मिलकर एक लम्बा शब्द-वाक्य बन जाते हैं। अमेरिकाके आदिम-वासियों और ग्रीनलैण्ड-वालोंकी बोलियाँ इसी ढंगकी हैं। दक्षिण अमरीकाकी चेरोकी बोलीमे 'नातेन = लाओ', 'अमोखोल=नाव' और 'निन=हम' होता है पर यदि उस बोलीमे कहना हो—'हमारे पास नाव लाओ' तो वे कहेगे 'नावो-लिनिन'। ऐसे ही ग्रीनलैण्डकी बोलीमे 'उलिसरि=मछली मारना', 'पैर-तोर=काम', 'करना=पिनेसु', 'अरपोक=वह हडबड़ी करता है'। पर जब उन्हें कहना होता है 'वह मछली मारनेके लिये झटपट जाता है' तो वे कहते है—'अउलिसरिअरतोरसुअरपोक'।

अधूरी घुलन्त बोलियोमे सर्वनाम और क्रियाओका ऐसा मिलान होता है कि क्रिया अपनापन खोकर सर्वनामको पूरा करनेमे लग जाती है। फ्रान्स और स्पेनकी मेडपर पिरैनीज पहाड़के उत्तर-पच्छिममे 'बास्क' नामकी बोली और अफ्रीकाकी बन्तू परिवारकी बोलियाँ कुछ इसी ढंगकी हैं। 'बास्क' बोलीमे यदि कहना हो—'मै इसे उसके पास ले जाता हूँ' तो कहेगे 'दकारकियोथ'। इसमे सब सर्वनाम और क्रियाएँ ही हैं। इन अधूरी घुलन्त बोलियोमे नाम (संज्ञा), गुण बतानेवाले शब्द (विशेषण), क्रिया, और सदा एकसे रहनेवाले शब्द (अव्यय) सभी नहीं मिल पाते। ऐसे कुछ घुलन्त वाक्य हमारे यहाँ भी हैं। उत्तर-प्रदेशके पच्छिमी खण्डमें (मेरठ, मुजफ्फरनगरमे) 'मैंने कहा'के बदले 'मका',

'मैने कहा, तू सुनता क्यो नहीं है ?' के बदले 'मका तू सुणता क्यूँ नी', 'यो कहो' के बदले 'नुको' और 'उसने कहा' के बदले 'उन्नेका' चलता है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उधरकी पूरी बोली ही अधूरी-घुलन्त है।

अलग-जुटन्त (पृथग्युक्त या सिम्पिल एग्लूटिनेटिव) बोलियाँ : अलग-जुटन्त बोलियाँ वे है जिनमे मेलजोडकी टेक (प्रत्यय) दूसरे शब्दो (अर्थ-बाँधो) से ऐसे ढगसे जुटी रहती हैं कि वे अलग दिखाई पडती है। इसीलिये ऐसी बोलियोकी बनावट बड़ी सीधी-सादी होती है। एस्पेरान्टो बोलाकी बनावट इसी ढगपर की गई है।

इन अलग-जुटन्ती बोलियोको भी कई मेलमे बाँटा जा सकता है जैसे—१ पहले-जुटन्त (प्रिफिक्स एग्ल्यूटिनेटिव या अग्रयोगात्मक), जिसमे शब्दसे पहले उपसर्ग लगता है और सब शब्द वाक्यके भीतर अलग-अलग रहते है। उनमे इतना ही होता है कि 'मे, पै, पर' आदि मेल-जोड, शब्दके पीछे लगनेके बदले, शब्दसे पहले जुट जाते है। अफ्रीकाकी बन्तू बोलियोमेसे काफरी बोलीमे 'कु=के लिये' (सम्प्रदानका चिह्न), 'ति = हम', 'नि = उन'। इनके मेलसे 'कुति = हमको' और 'कुनि = उनको' बन गया। ऐसे ही ज़ुलू बोलीमे 'उमु = एक, अब = बहुतसे, न्तु = मनुष्य, न्ग = से' को मिलाकर 'उमुन्तु = एक मनुष्य, अबन्तु=कई मनुष्य, न्गउमुन्तु = मनुष्यसे और न्गअबन्तु = मनुष्योसे' बन जाता है।

अलग-जुटन्तो बोलियोंके तीन भेद : इन अलग-जुटन्ती बोलियोमे कुछ ऐसी भी है, जिनके बीचमे, पीछे और पीछे-आगे मेल-जोड लगाया जाता है। ऐसी बोलियाँ हिन्द-महासागरके टापुओसे लेकर अफ्रीकाके मेडागास्कर टापूतक फैली हुई हैं। इन बोलियोमे मेल जोड़ और शब्द दो ढगसे जुटते हैं—

(क) यदि दो अक्षरोसे मिला हुआ शब्द हो तो मेल-जोड़ बीचमे जोड दिया जाता है।

(ख) यदि दोसे अधिक अक्षरोवाला शब्द हो तो मेल-जोड़ उन सबके पहले और पीछे जोडा जाता है। इनमेसे—१. बीच-जुटन्ती (मध्य-सयुक्त,

मध्ययोगात्मक या इनफिक्स एग्लूटिनेटिव) बोलियोमे मुण्डा परिवारकी सन्थाली बोली आती है, जहाँ 'मझि=मुखिया' और 'प=बहुत बतानेका चिह्न', दोनोंको मिलाकर 'मपंझि=मुखिया लोग' या 'बहुतसे मुखिया' शब्द बन जाता है। २ दूसरी आगे-पीछे जुटन्तीमे मकोर बोली आती है जिसमें 'म्नफ्=सुनना', 'पर ज-म्नफउ=मै तेरी बात सुनता हूँ' बन जाता है। यहाँ 'म्नफ' के पहले 'ज' और पीछे 'उ' जोडा गया है। ३ तीसरी पीछे-जुटन्ती (अन्तसंयुक्त, अन्तयोगात्मक या सफिक्स एग्ल्यूटिनेटिव) बोलियोमे मेल जोड़ पीछे जुटता है जैसे—हगरीकी बोलीमे 'जार=बन्द करना, जारत=बन्द करवाता है, जारत्गत्=अधिकतर बन्द करवाता' है। ऐसे ही तुर्की बोलीमे एव= घर, एवलेर=बहुतसे घर, एवलेरइम=मेरे घर।

अधूरी अलगन्त-जुटन्ती बोलियाँ : अधूरी-जुटन्ती (अंश-योगात्मक या पार्टली एग्ल्यूटिनेटिव) बोलियाँ जुटन्त और अलगन्त बोलियोके बीचमे पड़ती हैं क्योकि इनमे मिलने और जुटने दोनोके चिह्न मिलते है पर ये जुटन्त बोलियो और उनमे भी अलग-जुटन्ती बोलियोसे ही मिलती-जुलता हैं इसीलिये इन्हें अधूरी अलगन्त-जुटन्ती (अल्प-संयुक्त, अंश-प्रश्लिष्ट योगात्मक) नाम दिया गया है। न्यूजीलैण्ड और हवाई टापूकी बोलियाँ ऐसी ही हैं।

हमारा मत है कि यह सब इतनी खींचतान अकारथ बालकी खाल निकालना है। इसमे बस इतनी ही बात जाननी चाहिए कि बोलियोंको दो झुडोमें बाँट दिया गया है—१ रूपाश्रित और २ गोत्राश्रित। नीचे दिए हुए खाँचेमे बनावटके साँचेपर बना हुआ बोलियोका बँटवारा (रूपाश्रित वर्गीकरण, आकृतिमूलक वर्गीकरण या सिन्टैक्टिकल या मौर्फोलौजिकल क्लासिफिकेशन) भली प्रकार समझा जा सकता है कि भाषाके दो रूप हैं अलगन्त और जुटन्त। जुटन्तके तीन रूप मिलते हैं—१. मिलन्त, २. घुलन्त, ३. अलग-जुटन्त। मिलन्तके दो रूप होते हैं—१. अन्तर्मिलित, २ बहिर्मिलित। घुलन्तके भी दो रूप होते हैं—१ पूर्ण घुलन्त और २. अर्ध घुलन्त। अलग-जुटन्तके चार रूप होते हैं—१. पहल-जुटन्त, २. बीच जुटन्त, ३. अर्ध-जुटन्त, ४. पीठ-जुटन्त।

[रूपाश्रित वर्गीकरण]
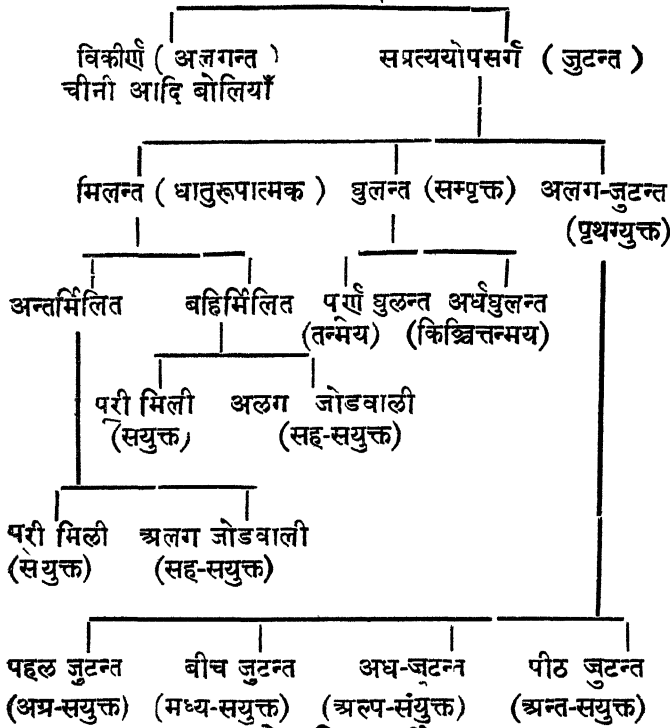
गोत्राश्रित वर्गीकरण

ऊपर हम देख आए हैं कि जब कुछ बोलियोमे शब्द और वाक्य बनानेके ढगमे कुछ एकपन जान पडता है तब हम उन्हे एक-रूपवाली, रूपाश्रित समानतावाली या आकृतिमूलक समानतावाली समझते हैं पर जब बोलियोंके अर्थ-बाँध अर्थात् शब्दोके रूप या धातु भी ज्योकी त्यो मिलती हैं तब हम समझते हैं कि ये सब एक ही सोतेसे निकली हैं। जिन लोगोने पहले-पहल बोलियोकी छानबीन का, उन्होने देखा कि

'पिता',के लिये संस्कृतमे 'पितृ' फारसीमे 'पिदर', लातिनमे 'पेतर' जर्मनीमे 'फौटेर' और अँगरेज़ीमे 'फादर' शब्द आता है तो उन्होंने समझ लिया कि ये सब बोलियाँ किसी एक आदिम बोलीसे निकली हैं। इसलिये जिन बोलियोमे आपसमे शब्द और धातुका मिलान होता है वे एक गोत्रकी या एक माँसे जनमी हुई मानी जाती हैं। हम पहले ही समझा आए है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि यह हो सकता है कि आर्य लोग चारो ओर फैले हो और पढने-लिखने, राज चलाने या व्यापार करनेमें औरोसे बढ़-चढकर होनेके कारण उन्होने अपनी बोलीकी छाप उन लोगोपर डाल दी हो जो उनसे हारकर उनकी मुट्ठीमे आ गए हो। हम यह भी बता चुके है कि पहले नदियो, पहाडो, रेतीले मैदानो और समुद्रोसे अलग होकर न जाने कितनी जातियाँ रहती थीं जिनकी अपनी अलग बोली और अलग रहन-सहनका ढग था, यहाँतक कि आज भी बिहार जैसे प्रदेशकी पहाडियोमें ऐसे सन्थाली लोग रहते है जो आज-कल भी बिहारियोसे अलग बोली लेकर बैठे है। पर ज्यो-ज्यो वे लोगोके साथ उठने-बैठने और उनके साथ पढ-लिखकर काम-काज करने लग हैं त्यो-त्यों उनकी बोलीमे भी हम लोगोके साथ आनेसे न जाने कितने शब्द चल पड़े हैं। इसलिये यह गोत्रवाली बात चलाना ठीक नही है। हाँ, इतना कह सकते हैं कि कुछ बोलियाँ ऐसी है जिनपर किसी एक बोलीकी किसी समय बड़ी गहरी छाप पड गई और तबसे वह उस छापके साथ आए हुए शब्दोको अपनाकर वैसे ही चला रही है जैसे हमने तुर्कों, फारसवालो और अँगरेज़ोसे सैकडो शब्द ले लिए और फिर उन्हे अपनाकर वैसे ही चला रहे हैं मानो वे हमारे अपने हो।

जिन लोगोने हमारे यहाँ पहले बोलियोकी छानबीन की है उन्होने सस्कृतके साथ प्राकृत (लोगोकी भाषा) और उसके साथ देशी भाषा या देश-देशकी बोलीकी चर्चा की है। इसीसे समझा जा सकता है कि कुछ देशी बोलियाँ ठौर ठौरपर चलती रही हैं जिन्हें पढ़े-लिखे लोग बराबर सँवारते, सुधारते और माँजते रहे हैं और उनपर राज चलाकर या उनसे व्यापार करके या उनपर पण्डिताई जमाकर अपने सैकड़ो शब्द उन्हें देते रहे हैं।

पर जिन लोगोने ससारकी बोलियोमे इस ढङ्गकी एक जैसी बातें पाई हैं उन्होने ससार भरकी बोलियोको बारह खण्डो या गोत्रोमे बाँट दिया है—

१. हिन्द-योरोपी (जिसे भूलसे लोग भारोपीय लिखने लगे हैं), २ सेमेटी, ३ हेमेटी, ४ चीनी, ५ ऊराल-अल्ताई, ६. द्राविड, ७. मलायोपौलीनेशियाई, ८ काकेशी, ९ बन्तू, १०. मध्यअफ्रीकी, ११ आस्ट्रो-प्रशान्तीय, १२ बची हुई या शेष।

मारियो ए पेई तथा हम सत्रह गोत्र मानते हैं जिनका विस्तार अगले पृष्ठके मानचित्रपर स्पष्ट कर दिया गया है—

१ हिन्द योरोपीय (इन्डो योरोपियन),
२. हैमिटी-सेमेटी,
३ ऊराल-अल्ताई,
४ चीन-तिब्बती,
५ जापान-कोरियाई,
६ द्राविडी,
७ मलायोपोलिनेशियाई,
८ सुदानी-गिनी,
९ बन्त,
१० होतेन्तोत-बुशमैनी,
११. आस्ट्रेलियाई और पापुआ,
१२ अमरीकी हिन्दी और एस्किमो,
१३ मुण्डा-मोनख्मेर,
१४. बास्क
१५ हाइपरबोरी,
१६ काकेशी,
१७. ऐनू।

अब इनमेसे हम एक एकको अलग-अलग लेते हैं—

१ हिन्द योरोपी हिन्द-योरोपी बोलियाँ समूचे योरोप, दक्खिन-पच्छिमी एशियामे उत्तर-पूरबी भारततक, और ऊपरसे लादी हुई बोलियोके रूपमे पूरे पच्छिमी गोलार्ध, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, तस्मानिया, दक्षिण अफ्रीका, दक्खिन-पूरबी एशिया और प्रशान्त महासागरके टापुओमें बोली जाती हैं। ये लादी हुई बोलियाँ अँगरेज़ी, फ्रान्सीसी, हुलाँश (डच), पुर्तगाली, इतालवी और स्पेनी हैं। पहले भारतमें भी अँगरेज़ीका बोल-बाला था पर अब यहाँ हिन्दी अपना ली गई है। इन हिन्द-योरोपी बोलियोके बोलनेवाले लगभग एक अरब हैं। इन बोलियोंकी बनावट
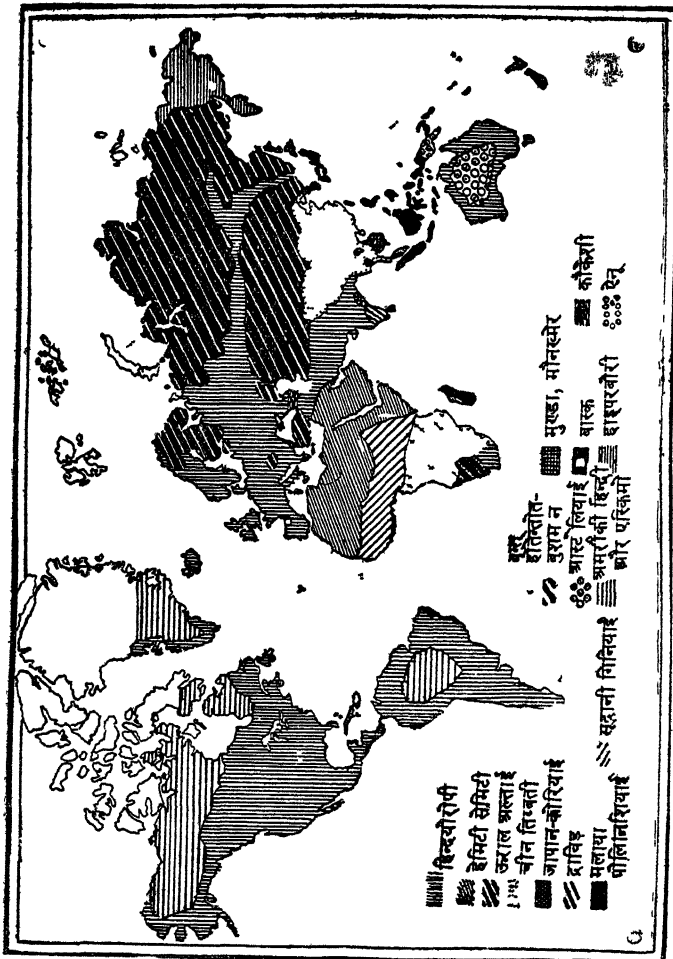
पहले तो धातुमूलक (इन्फ्लक्शनल) और मिली हुई या (संश्लेषात्मक) रही पर अब धीरे-धीरे इनका धातुके पीछे लगनेवाले मेल-जोड़ हट रहे हैं, शब्द अलग-अलग हो रहे हैं और वाक्योंमें शब्दोंका आपसी नाता बतानेके लिये शब्दोंकी सजावट (वाक्य-वन्यास) स्थिर होती जा रही है।

इस गोत्रको जर्मन लोग इन्डो-जर्मन कहते हैं। इसकी बड़ी-बड़ी शाखाओंमें ये बोलियाँ आती हैं—

(क) जर्मन बोलियाँ : इसके स्कैन्डीनेवियन खण्डमें आइसलैण्डी, डैनो-नौर्वेजी और स्वीडिश बोलियाँ आती है और पच्छिमी जर्मन बोलियोंमें अँगरेजी, ऊँची जर्मन, नीची जर्मन (यिद्दिश) और डच-फ्लैमिश आती हैं। (ख) रोमास या इतालवी बालियाँ (लौग दौक औक) : इस शाखामें स्पेनी, पुर्तगाली और कतालन (जुदाइयो-स्पेनी या सेफार्डी) बोलियाँ आती है और फ्रांसीसी शाखामें फ्रासीसी और प्रोवोग्शल, तीसरी शाखामे इतालवी और चौथीमे रोमानियन। (ग) कैल्टिक। (घ) बाल्टो स्लाविक। (ङ) यूनानी। (च) अलबानी। (छ) आरमीनी। (ज) ईरानी, और (झ) हिन्दी (हिन्दकी) भाषाएँ।

२ सैमिटो-हैमिटी : सैमिटो-हेमिटी गात्रकी बोलियाँ अरब, ईराक, फिलस्तीन, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका, मिस्र, लीबिया, अल्जीरिया, तूनिशिया, मोरोको, सहाराकी मरुभूमि, इथियोपिया, एरित्रिया, सुमालीलैण्ड, जंजीबार, मडागास्कर और माल्टा टापूमे बाली जाती है। इसके बोलनेवाले साढ़े सात करोड हैं। इन बोलियोंके शब्दोमे तीन व्यजन होते हैं जिनके बीच बीचमे स्वर लगाकर उनके अलग-अलग अर्थ बना लिए जाते हैं जैसे अरबीमे 'कतब'= 'लिखना', 'कताबा'= 'उसने लिखा है', 'कुतिबा'= 'यह लिखा गया है', 'यक्तुबू'='वह लिखेगा', युक्ताबू'= 'यह लिखा जायगा', 'अक्ताबी'= 'उसने लिखवाया है', 'किनाब'= 'लेख या पुस्तक', 'कातिब'= 'लिखनेवाला' और 'कातवन'= 'लिखनेका काम'। इसकी दो ही मुख्य शाखाएँ हैं–

(क) सैमेटी, (ख) हैमिटी।

३ (क) ऊराल-अल्ताई . इस गोत्रकी जितनी बोलियाँ हैं वे फिनलैंड, करेलिया, एस्तोनिया, उत्तरी नौर्वे और स्वीडन, पूर्वी योरोपी रूस, तुर्की, सोवियत एशिया, मंगोलिया, चीनी तुर्किस्तान और मचुकुओमे बोली जाती हैं। इन बोलियोंकी बनावट जुटन्त (एग्ल्यूटिनेटिव) ढङ्गकी हैं।

(ख) अल्ताई : जिसमे तुर्की (जिससे मिलती-जुलती तातारी, तुर्कोमानी और किरगिज़), मंगोली और तुगस या मचू बोलियाँ आती हैं।

४. जापानी-कोरियाई : जापानी-कोरियाई गोत्रकी बोलियाँ बस जापान और कोरियामे ही चलती हैं। इसकी बनावट है तो जुटन्त (एग्ल्यूटिनेटिव) पर उतनी नहीं है जितनी ऊराल-अल्ताई बोलीकी है। इसमे लिङ्ग और वचन नहीं होते। इसकी दो ही शाखाएँ हैं—(क) जापानी, (ख) कोरियाई।

५. चीन-तिब्बती : चीन-तिब्बती गोत्रकी सब बोलियाँ चीन, तिब्बत, बर्मा, थाइलैण्ड या श्याम, उत्तरी हिन्दचीन, मचुकुओ और सीक्यागमे बोली जाती हैं। इसकी बनावट एकाक्षरी या एक-लयान्वितिक (मोनोसिलेबिक) है। इसमे सब शब्द एक-एक लयान्विति (सिलेबिल) के है जिनके आगे-पीछे कोई मेल-जोड़ नहीं जुटता। इसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ तीन हैं—(क) चीनी, (ख) तिब्बती, बर्मी, (ग) स्यामी या थाई।

६. द्राविडी : द्राविडी बोली भारतमे विन्ध्याचलसे दक्खिन और लङ्काके उत्तरमे बोली जाती है। इन बोलियोकी बनावट जुटन्त-सी है। इसकी बडी-बडी शाखाओमे—

(क) तमिल, (ख) तेलुगु, (ग) ब्राहुई, (घ) कन्नड़, (ङ) गोड, (च) भील और (छ) मलयालम हैं।

७ मलायो-पोलीनेशियाई : मलायो-पोलीनेशियाई बोलियाँ मलाया प्रायद्वीप, पूर्वी हिन्द-द्वीप-समूह (जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सेलेबेस और बालि आदि), फिलिपाइन्स, मडागास्कर, न्यूज़ीलैण्ड (मावरी), समोवा, हवाई, ताहिती और प्रशान्तके टापुओमे बोली जाती है। इनकी बनावटमे दो लयान्विति (सिलेबिल) की धातुएँ होती है और सञ्ज्ञाओके साथ पीछे कुछ नहीं जोड़ा जाता। इनमे वचन और लिङ्गका भी भेद नहीं होता। इनकी बडी बड़ी शाखाएँ ये हैं—(क) हिन्देशियाई, (ख) मेलानेशियाई, (ग) मिक्रोनीशियाई, (घ) पोलीनेशियाई।

८ अफ्रीकी हब्शी बोलियाँ : अफ्रीकी बोलियाँ सहारा रेगिस्तानके दक्षिणमे और इथियोपिया या एबीसीनियाके पश्चिममे बोली जाती हैं।

इसकी बडी-बडी शाखाएँ ये हैं—

(क) सुदानी-गिनी, (ख) बन्तू, (ग) होतेन्तौत-बुशमैनी।

९ अमरीकी हिन्दी : अमरीकी हिन्दी बोलियाँ पश्चिमी गोलार्धमे बोली जाती हैं। ये बोलियाँ बहुत मिलावटवाली (पोलीसिन्थैटिक) हैं अर्थात् इनके शब्द जब वाक्यमे आते हैं तभी उनका अर्थ होता है। इसमे पूरा वाक्य ही एक शब्द बन जाता है जिनके अलग-अलग टुकडोका कोई ठिकाना या अर्थ नहीं होता।

दूसरे गोत्र : दूसरे झुण्डोमे ये बोलियाँ हैं—

१० ऐनू : उत्तरी जापानमे, ११. हाइपरबोरी : उत्तर-पूर्व साइबेरियामे, १२. बास्क : उत्तर-पूर्वीय स्पेन और दक्षिण-पश्चिमी फ्रान्समे, १३ कौकेशी सोवियत यूनियनके कौकेशस प्रदेशमे, १४ मोनख्मेर : दक्खिन-पूर्वी एशियामे, अनामी, मुण्डा बोलियाँ : १५. पापुआ बोलियाँ आस्ट्रेलिया और न्यूगिनीमे।

यह वर्गीकरण ठीक नहीं : हमारा मत है कि बोलियोका यह बँटवारा अधूरा और बेढङ्गा है। बोलियोको इसढङ्गपर बाँटना चाहिए कि किन बोलियोमे कौनसी ध्वनियाँ आपसमे मिलती है, कौनसी नहीं मिलती जैसे फ्रासीसी, यूनानी, रूसी और लातिनमे ट, ठ, ड, ढ, नहीं हैं। अतः इन्हें एक वर्गमे रक्खा जा सकता है। जिस ढङ्गसे हिन्द-योरोपीय बोलियोके 'कैन्टुम्' और 'शतम्' वर्ग बना लिए गए हैं उसी ढगसे ससार-भरकी सब बोलियोकी पहले ध्वनियाँ इकट्ठी कर ली जायँ और तब एक-जैसी ध्वनिवाली बोलियोको एक-एक ठट्ठमे बाँध लिया जाय।

सारांश

अब आपकी समझमे आ गया होगा कि—

१ ससारकी बोलियोका बँटवारा दो दृष्टियोसे किया गया—(क) बनावटकी दृष्टिसे (रूपाश्रित वर्गीकरण), (ख) उनके गोत्रकी दृष्टिसे (गोत्राश्रित या पारिवारिक वर्गीकरण)।

२. बनावटकी दृष्टिसे बोलियाँ दो ढंगकी हैं : (क) अलगन्त (विकीर्ण या अयोगात्मक); (ख) जुटन्त (सप्रत्ययोपसर्ग या योगात्मक)।

३ जुटन्त बोलियाँ भी दो ढगकी मिलती हैं: (क) मिलन्त (धातुरूपात्मक या श्लिष्ट), (ख) घुलन्त (सम्पृक्त), (ग) अलग जुटन्त (अश्लिष्ट)।

४ गोत्रकी दृष्टिसे बोलियोके बारह गोत्र माने गए हैं—

१. हिन्द-योरोपी, २ सेमेटी, ३ हेमेटी, ४ चीनी, ५ ऊराल-अल्ताई, ६. द्राविड, ७. मलायोपोलीनेशियाई, ८. कौकेशी, ९. बन्तू, १० मध्य अफ्रीकी, ११ औस्ट्रो-प्रशान्ती, १२. शेष बोलियाँ।

यह पद घोट लीजिए—

हिन्धोरोप[१], सेमटी[२], हमटी[३], चीनी[४], या ऊरालल्ताई[५]।
द्रविड[६], मलायोपलीनेशिया[७], कौकेशी[८], बन्तू[९] भी छाई॥
मध्यफ्रीका[१०], आष्ट्र प्रशान्ती[११], शेष[१२] बोलियाँ अलग सुहाई।
इन बारह परिवारोमे ही, भाषाएँ जगमे मिल पाई॥

५. मेरियो पेई और हमने सत्रह गोत्र माने हैं—

१. हिन्द-योरोपी, २ हैमेटी-सेमिटी, ३. ऊराल-अल्ताई, ४. चीन-तिब्बती, ५. जापान-कोरियाई, ६. द्राविडी, ७. मलायो-पोलीनेशियाई, ८. सूदानी गिनी, ९ बन्तू, १० होतेन्तौत-बुशमैनी, ११ औस्ट्रेलियाई और पापुआ, १२. अमरीकी हिन्दी और ऐस्किमो बोली, १३ मुण्डा-मौन्ख्मेर, १४. बास्क, १५. हाइपरबोरी, १६. कौकेशी, १७. ऐनू।

द्राविड परिवारकी भाषाएँ

विन्ध्याचलके दक्खिनमे कन्याकुमारीतक फैला हुआ पूरा दक्खिनी हिन्द द्राविड देश ही है जिसमें विदर्भ या महाराष्ट्रको छोडकर समूचे दक्खिनी पठारमे द्राविडी भाषाएँ बोली जाती हैं। उसके साथ-साथ लङ्काकी उत्तरी पट्टी, लख द्वीप, मध्यभारत और बिहार-उडीसाके कुछ कौंठोमे भी इस गोत्रकी बोलियाँ बोलनेवाले रहते हैं। कुछ लोगोंने इन बोलियोंका तमिल गोत्रका भी बताया है। वाक्य और स्वरकी बनावट

देखते हुए यह ऊराल-अल्ताई बोलियोसे मिलती-जुलती है। इसी भूलसे श्रौएडेरने ऊराल-अल्ताईकी फिनो-उग्रिक शाखासे द्राविडीका नाता जोडनेका पचडा चलाया था। उधर पी० डब्लू० स्मिटने इसका नाता आस्ट्री भाषासे जोडा क्योकि वे कहते थे कि मडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत, ये सब छोटे-छोटे द्वीपोसे आपसमे मिले हुए थे। इधर जबसे मोहनजो दडोमे खुदाई हुई है तबसे लोगोंने उसके साथ भी इनका नाता जोडना चाहा है।

द्राविड परिवारकी विशेषताएँ: १. इस गोत्रकी बोलियोमे तुर्कीके समान शब्दके पीछे अलग उनकी टेक (प्रत्यय, उपसर्ग) लगती हैं।

२ इस गोत्रकी बोलियोमे जो टेक जोडी जाती है वह अलग दिखाई पडती (पारदर्शक) है जिससे शब्दोमे भी कोई बिगाड नहीं आता। इसलिये बहुत बडा समास भी शब्दोमे बिना बिगाड किए ही बन जाता है।

३ तेलुगुमे शब्दोके पीछे 'उ' जोड दिया जाता है जैसे रामुलु।

४ शब्दोमे जो स्वर होते है वैसे ही लगभग प्रत्ययोके मिलाते समय उनमे भी आ जाते है। किसी शब्दके पहले घोष व्यजन नहीं मिलते पर बीचमे आनेवाले अनुनासिक व्यजन और अकेले व्यजनके पीछे घोष रहते हैं। यह बात तमिलमे तो है पर तेलुगु, कन्नड और मलयालममे नहीं है।

५ इन बोलियोमे ट ठ, ड, ढ, ण की बहुतायत है। कुछ लोग भूलसे मानते हैं कि 'ट' वर्गकी ध्वनियाँ सस्कृतमे इन्हींसे आई हैं पर यह भूल है क्योकि 'विराट्' शब्दका 'ट' तो वेदसे ही हमारे यहाँ चला आ रहा है।

६ इन सब बोलियोमे एक और बहु, दो ही वचन होते है। बहुवचन बनानेके लिये प्रत्यय जोडा जाता है। नपुसक सब एक-वचन होते हैं, उत्तम पुरुष सर्वनाममे बहुवचनके दुहरे रूप मिलते हैं—एक कहनेवालेका दूसरा सुननेवालका। लिङ्ग तीनो होते हैं। संज्ञाके दो भेद होते हैं—१ उच्च या सज्ञानी और २. नीच या अज्ञानी। कुछ सज्ञाएँ क्रियाका भी काम करती हैं।

७ इन बोलियोमे क्रियाएँ कुछ बडी अनोखी होती हैं जिनमे पुरुष बतानेके लिये पुरुषवाची सर्वनाम जोडा जाता है और सहायक क्रिया लगाकर कर्मवाच्य बनाया जाता है।
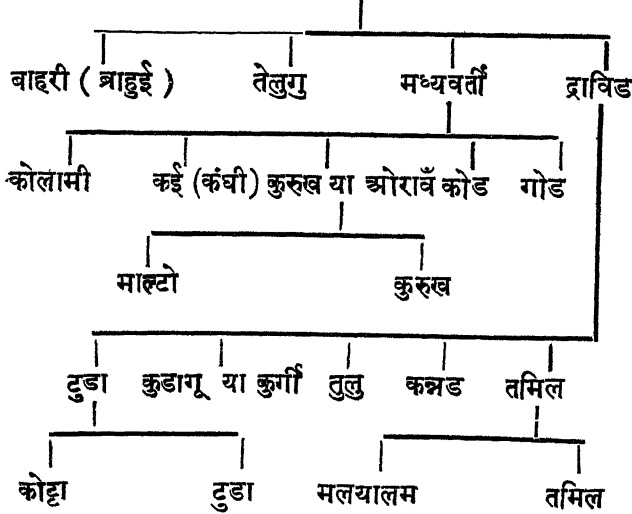
ऊपरके ढाँचेको देखकर जाना जा सकता है कि द्राविड गोत्रमे चार बोलियाँ आती हैं—१ द्राविड, २ बीचकी (मध्यवर्ती), ३. तेलुगु, ३ बाहरी।

इनमेसे द्राविडीमे—१ तमिल, २ कन्नड, ३ तुलु, ४ कुडागू (कुर्गी) ५ टुडा। इनमेसे तमिलमे 'तमिल और मलयालम' और टुडामे 'टुडा और कोट्टा'। बीचकी द्राविड बोलियोमे—१.गोड, २ कोड, ३ कुरुख या ओरावँ, ४ कई (कंधी) ५ कोलामी। इनमेसे कुरुख दो ढङ्गकी होती है—१ कुरुख, २ माल्टो। तेलुगुमें तेलुगु और बाहरीमे ब्राहुई ही आती है।

तमिलः तमिल बोली भारतमे मद्रास नगरके उत्तरसे लेकर कन्याकुमारी तक और लङ्काकी उत्तर और पूर्वी पट्टीमे बोली जाती है। इस बोलीका साहित्य बहुत बड़ा है। इसमे दो बोलियाँ—१. पढ़े-लिखोकी या

पाथियोकी बोली, जिसे शेन (पूर्ण) कहते है, २ देहाती बोली (कोडुन) है। शेनमें सस्कृत शब्द बहुत मिलते है। इस बोलीमे नीचे दिए अक्षर ही होते हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए (ह्रस्व) ए, ऐ, ओ (ह्रस्व) ओ, औ, क, ङ, च, ञ, ट, ण, त, न, प, म, य, र, ल, व, ल, ल र, न, ज्ञ, श, ष, स, ह, क्ष।

इस बोलीमे ख, छ, ठ, थ, फ, ग, ज, ड, द, ब, घ, झ, ढ, ध, भ नहीं होते। इसमे दो 'न' होते हैं पर उनका उच्चारण एक ही होता है। 'र' के लिये जो दो अक्षर होते हैं उनका उच्चारण अलग-अलग होता है। इनमे भी अरबी, फारसी, उर्दूके समान नियम है कि लिखते समय कहाँ कौन सा 'र' या लगाया जाय।

मलयालम् कहा जाता है कि मलयालम् भी तमिलकी ही एक बोली है जो नवीं सदीके लगभग उससे अलग हो गई। सच बात तो यह है कि मलयालम अलग बोली है जो बहुत दिनोतक तमिलवालोके प्रभावमे पडनेसे उनके रंगमे रँगी हुई थी पर नवीं सदीसे वह अलग हो गई। यह मलाबारकी पट्टीपर समुद्र और पच्छिमी घाटके बीचकी सँकरी पट्टीमे और लख द्वीपमे बोली जाती है। इसमे पढ़े-लिखे लोग तो सस्कृतसे भरी हुई बोली बोलते है पर मोपले मुसलमान इसकी ठेठ बोली ही बोलते ह। इसमे सस्कृत मिली हुई एक शैली भी है जिसे 'मणि-प्रवालम्' शैली कहते है। इसका साहित्य तेरहवीं सदीसे मिलता है। तिरुवराकूर (त्रावंकोर) और कोचीनमे यही बोली बोली जाती है। इसमे उतने ही स्वर और व्यंजन हैं जितने नागरीमे, पर तमिलके साथसे इसमे ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' और ल, ळ, न, र, ट अक्षर तमिलसे अलग है।

कन्नड कुर्गके पूरबकी कुछ पट्टी छोडकर पूरे मैसूर, हैदराबाद, मद्रासके पच्छिमी भाग और बम्बईके दक्खिन-पूर्वी खडमें कन्नड बोली जाती है। इसकी बोली तो तमिलसे मिलती है पर लिखावट तेलुगुसे। यही सबसे पुरानी द्राविडी बोली मानी जाती है। इसमें चौथी या पाँचवीं सदीसे साहित्य रचा जाने लगा था। यह बोली बहुत सजावटवाली है।

छोटेसे घेरेमे बोली जाती है। इसमे कोई साहित्य नहीं है, फिर भी कैल्डवेलने इसे ससारकी सबसे बडी बोलियोमेसे एक माना है। कुडागू भी कुर्गकी बोली है जिसपर कन्नड और तुलु दोनोकी छाप है। इसलिये इसे दोनोके बीचकी बोली समझनी चाहिए। टुडा और कोट्टा बोलियाँ नीलगिरिके जगलवाले लोग बोलते हैं पर ये लोग दिनपर दिन घटते जा रहे है और इनके साथ इनकी बोली भी।

मध्यवर्ती बोलियाँ : गोड बोली बोलनेवाले विन्ध्यप्रदेश और बुन्देलखण्डमे रहते हैं। उनकी बोली तमिलसे मिलती है और इसके बोलनेवाले जगली है, इसलिये इसमे कोई साहित्य नहीं है। ऐसे ही कोड बोली भी उडीसाकी पहाडियोपर बोली जाती है और यह भी गोड ही है और उसीसे मिलती-जुलती है। बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रान्तकी मेड़पर लगभग पौने नौ लाख लोग तमिलसे मिलती-जुलती कुरुख या ओराँव बोली बोलते हैं। बंगाल बिहारकी मेडपर राजमहलकी पहाडीवाले इसी ओराँवकी एक माल्टो बोली बोलते हैं। उड़ीसाके जंगलोमे तेलुगुसे मिलती-जुलती कई (कधी) बोली जाती है और उसीसे मिलती-जुलती बरारके पच्छिममे कालामी बोली जाती है जिसपर मध्यप्रान्तके भीलोकी बोलीकी बहुत छाप है पर यह भी अब ठडी होती जा रही है।

तेलुगु : हैदराबादके दक्खिन-पूर्वी काँठे और आन्ध्रमे तेलुगु बोली जाती है। यहींके लोग तिलगे कहलाते है। यो तो यहाँ बारहवीं सदीसे ही साहित्य बन चला था पर आजकल इन लोगोने बहुत-सा साहित्य रच डाला है।। द्राविड परिवारकी यह सबसे मीठी बोली है। इसके शब्दोके पीछे स्वर या उ लग जाता है।

ब्राहुई : कुछ लोगोने बिलोचिस्तानमे बोली जानेवाली ब्राहुईको भी भूलसे द्राविड़ बोलियोमे गिन लिया है पर यह बोली ईरानी, पश्तो और बलूचीकी छाप लेकर बनी हुई मकरानीके ढंगकी अलग बोली है।

द्राविड गोत्रकी बोलियाँ सब अलग-अलग अपने-अपने घेरेमे फली-फूली और बढीं पर उनपर सस्कृतकी बहुत छाप पड़ी। इस लेन-देनसे बहुतसे शब्द सस्कृतमे आए, इनके तीन लिग मराठीमे पहुँच

गए और कहा जाता है कि सोलह छटाँकका सेर और सोलह आनेका रुपया भी इन्हींसे चला है।

हिन्द-योरोपीय बोलियाँ

जिसे लोग हिन्द-योरोपीय गोत्रकी बोली कहते हैं और जिसे कुछ लोग इण्डो-जरमन, इण्डो-कैल्टिक, आर्य और जफैटिक बोली भी कहते हैं उसका नाम होना चाहिए 'संस्कृत गोत्रकी बोलियाँ' क्योंकि इन बोलियोंकी छानबीन करते समय संस्कृतको ही सहारा मानकर चलते हैं। यों तो लोग मानते हैं कि संस्कृत भी यूनानी और लातिनके समान किसी आदिम बोलीसे ही निकली है, फिर भी आजकलकी बोलियोंका जब मिलान करते हैं तब संस्कृतको ही सामने रखकर उनकी छानबीन करते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि आर्य लोग पहले मध्य एशियामें रहते थे और वहींसे चारों ओर फैले। पर हम इस बातको नहीं मानते क्योंकि पहलेके लोग खाने-पीनेकी सुख-सुविधा देखकर नदियोंके किनारे ही रहते थे और यह सुविधा जितनी सप्त सिन्धु (पंजाब) में थी उतनी एशियाके पठारोंमें नहीं थी। इसलिये पहले आर्य लोग नदीके किनारे त्रिसप्त-सिन्धुमें ही रहते थे जहाँके लड़ाई-झगड़ोंसे ऊबकर वे लोग इधर-उधर फैल गए जैसे हम लोगोंके देखते-देखते पूर्वी बंगाल, पच्छिमी पंजाब और सिन्धके लोग इधर चले आए हैं। फिर ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते गए त्यों-त्यों योरपकी ओर भी फैलते गए और वहाँके पुराने रहनेवालोंकी बोलियोंपर अपनी बोलीकी छाप डालते गए।

हिन्द-योरोपीय या संस्कृत गोत्रकी बोलियोंमें कुछ निराली बातें मिलती हैं—१ इसकी बोलियाँ श्लिष्ट योगात्मक हैं जिनमें बाहरसे या अलगसे ऐसे मेलजोड़ (प्रत्यय) जोड़े जाते हैं जिनके अर्थका कोई ठिकाना नहीं होता। २. इस गोत्रकी बोलियाँ पहले सभी जुटन्त (संयोगात्मक) थीं, पीछे सब अलगन्त होकर बिखर गईं और उनमें परसर्ग और सहायक क्रियाएँ लगने लगीं। ३ इनमें एक अक्षरवाली धातुएँ होती हैं जिनमें प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते हैं और ये प्रत्यय भी दो ढङ्गके होते हैं—'कृत् और तद्धित'। ४. इन बोलियोंके शब्दोंके पहले जो उपसर्ग लगाए जाते हैं जैसे 'वि, आ, नि', वे धातुका अर्थ बदलनेके लिये लगाए जाते हैं। इन बोलियोंमें

समास बहुत होते हैं। ५ इनमे स्वर बदल देनेसे शब्दका रूप बदल जाता है जैसे 'आओ, आए, आऊँ।' इनमे 'ओ ए, ऊँ' के हेरफेरसे कालमे हेरफेर हो गया है। इस गोत्रकी बोलियोमे प्रत्यय बहुत हैं।

मूल संस्कृत या आदिम हिन्द-योरोपी बोली : कुछ लोग मानते हैं कि हिन्द-योरोपी बोलियाँ किसी ऐसी आदिम बोलीसे निकली हैं जिसकी बनावट जाननेके लिये बहुत अटकल लगाई जा रही है। हम बता आए हैं कि 'पहले नदियो, पहाडो, और समुद्रोसे हुए घिरे देशोमे मनुष्योके छोटे छोटे झुण्ड उस अपने छोटे घेरेमे रहकर अपनी बोली बोलते और उसीमें कामकाज चलाते थे। पर आर्योंने वहाँ-वहाँ पहुँचकर अपनी बोलीकी छाप उनपर डाली और वे अलग-अलग बोलियाँ इसकी छाप-भर लेकर अपनापन लिए हुए बनी रहीं।' इसलिये उन्हे किसी हिन्द-योरोपी बोलीकी शाखा न मानकर उसकी छाप भर ही माननी चाहिए और संस्कृतको ही ऐसी बोली माननी चाहिए जो ज्योंकी-त्यो पहली बोलीका बनाव-सिगार लिए अभीतक जी रही है।

आदिम हिन्द-योरोपी बोली : जिन लोगोने आदिम हिन्द-योरोपी बोलीपर अटकल लगाई है उन्होने कहा है कि आदिम हिन्द-योरोपी बोलीमें ये ध्वनियाँ थीं—

स्वर : १. अतःस्थ स्वर—इ, ऋ, लृ, उ, न, म।

२. मूल स्वर—अ, आ, ए, ओ, औ।

३. संयुक्त स्वर—अइ, आइ, अऋ, आऋ, अलृ, आलृ, अउ, आउ, अन्, आन्, अम्, आम्, एइ, एइ, एऋ, एऋ, एउ, एउ, एन्, एन्, एम्, एम्, ओइ, ओइ ओऋ, ओऋ, ओलृ, ओलृ, ओउ, ओउ, ओन्, ओन्, ओम्, ओम्।

जिन स्वरोके नीचे ˘ लगा है वे ह्रस्व है।

४. उदासीन स्वर 'अ' ह्रस्व स्वरका भी आधा बोला जाता था इसलिये ठीक ठीक नहीं सुनाई पड़ता था।

व्यंजन : १ अतःस्थ व्यंजन—य् र् ल् व् न् म्।

२. शुद्ध व्यंजन कवर्ग—१ क् ख् ग् घ् का उच्चारण ठीक नहीं बताया जा सकता पर कुछ-कुछ क्य ख्य् ग्य् घ्य् जैसा रहा होगा।

२ क् ख् ग् घ् भी 'क' के समान पूरे गलेसे बोले जाते होंगे।

३ क् ख् ग् घ् ओठ चबाकर बोले जाते होगे इसलिये कुछ 'व' की ध्वनि भी आती रही होगी और वह क्व् ख्व् ग्व् घ्व् सा सुनाई पडता होगा।

तवर्ग—त् थ् द् ध्

पवर्ग—प् फ ब् भ्

ऊष्म—स्। यह दो स्वरोके बीचमे आनेपर 'ज़' बोला जाता होगा। अन्तःस्थ व्यजन न् और म् ही सब वर्गोंके साथ अनुनासिक व्यंजन बन जाते थे। इसलिये ये कभी-कभी ञ और ङ भी बोले जाते थे और अलग न और म भी बन जाते थे। इस बोलीमे कई शुद्ध व्यजन एक साथ आ सकते थे पर मूल स्वर एक साथ एक ही आ सकता था। इन स्वरोंमे नकियावन (अनुनासिकता) नहीं थी।

आदिम बोलीकी विशेषता : इस बोलीमे कई अनोखी बातें थीं—

१. धातुमें प्रत्यय जोडकर शब्द बना लिए जाते थे।

२ उसमे न उपसर्ग थे, न मध्यग लगते थे। संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे, यहाँतक कि विशेषण और सर्वनाम भी संज्ञामे ही गिने जाते थे और अव्ययमे भी बिगाड़ हो जाया करता था।

३ तीन वचन (एक, दो और बहु), तीन लिंग (पुं, स्त्री, और नपुंसक), क्रियामे तीन पुरुष प्रथम या उत्तम (मैं), मध्यम (तुम) और अन्य पुरुष (वह) थे।

४. क्रियामे कामका होना और उसका फल देखा जाता था, कब हुआ यह नहीं देखा जाता था अर्थात् काल नहीं था।

५ संज्ञाओमें आठ विभक्तियाँ लगती थीं।

६ समास बनाते समय प्रत्यय छोड दिए जाते थे।

७ शब्द बनानेमे स्वरके क्रम अर्थात् स्वरके उतार-चढावका बहुत ध्यान रक्खा जाता था। मेलजोड (सम्बन्ध-योग या प्रत्यय) और अर्थबोध (शब्द) ऐसे मिले रहते थे कि अलग नहीं हो सकते थे।

९ यह बोली भीतर मिली हुई (श्लिष्ट योगात्मक) थी।

केंटुम् और सतम् वर्ग : लोगोका कहना है कि आदिम हिन्द-योरोपी बोली बोलनेवाले लोग ज्यो-ज्यो अलग होते गए त्यो-त्यो उनकी बोलियाँ बिखरती गई। उन सब बिखरी बोलियोके समूचे झुण्डको हिन्द-योरोपी कहते हैं। सन् १८७० मे आकोलीने सुझाव दिया कि आदिम हिन्द-योरोपी बोलीकी कण्ठ्य ध्वनियाँ (क, ख, ग, घ) इस गोत्रकी कुछ बोलियोमे ज्योकी त्यो रह गई और कुछमे वे ऊष्म ('स् श') हो गई। इसीपर इस गोत्रके दो वर्ग बना लिए गए—कैंटुम् और सतम्। यह नाम इसलिये डाला गया कि 'सौ' शब्दके लिये जो शब्द इन बोलियोमे मिलते हैं उनमे यह अलगाव पूरा-पूरा दिखाई पडता है। इस 'सौ' के लिये 'सतम्' शब्द अवेस्ताका है और 'कैटुम्' है लातिनका। दोनो झुण्डोमे 'सौ' के लिये जो शब्द आते हैं उन्हे देख लिया जाय तो दोनो झुण्ड सीधे-सीधे दिखाई पड जायँ।

केंटुम् वर्ग		सतम् वर्ग	
लातिन	केन्टुम्	अवेस्ता	सतम्
इतालवी	केन्टी	संस्कृत	शतम्
फ्रेंच	केन्त	फारसी	सद्
ब्रीटन	कैन्ट	हिन्दी	सौ
ग्रीक	हेक्टोन्	रूसी	स्तो
गैलिक	क्यड	बल्गेरियन	सुतो
तोखारी	कन्ध	लिथुआनयन	रिज़म्तास

पहले लोग मानते थे कि पच्छिमकी बोलियोको केन्टुम् और पूरबकी बोलियोको सतम् वर्गका मानना चाहिए, पर अभी पूरबमे हित्ताइत और तोखारी दो ऐसी बोलियाँ मिल गई जिनमे स के बदले क आता है इसलिये अब **केंटुम्** वर्गमें ये बोलियाँ गिनी जाती है—

१. कैल्टिक, आयरलैण्ड, वेल्स, स्कौटलैण्ड, मानी द्वीप, ब्रिटैनी और कार्नवालकी बोलियाँ जिनका लातिन बोलियोसे बहुत मेल है। इस कैल्टक बोलीकी तीन शाखाएँ हैं—१. गोलिक, २. ब्रिटानी या ब्रिथोनिक, ३. गोइडैलिक या गाइलिक।

२. ट्यूटोनिक बोली ही हिन्द-योरोपी परिवारकी सबसे बडी शाखा है जिसे जर्मनिक भी कहते है। इसमे ठेठ जर्मनीकी बोलीको उच्च जर्मन (हाइ जर्मन) और शेष सबको निम्न जर्मन (लो जर्मन) कहते हैं। इस झुण्डकी बोलियाँ धीरे-धीरे जुटन्नसे अलगन्त होती चली जा रही हैं।

ट्यूटोनिक झुण्डकी दो शाखाएँ हैं—(क) पच्छिमी और (ख) पूर्वी।

(क) पच्छिमीमे भी प्राचीन सैक्सन, अँगरेजी, प्राचीन फ्रिजियन, और उत्तरी नीची फ्रैंक तो नीची जर्मन (लो जर्मन) बोलियाँ कहलाती हैं और मध्य फ्रैंक दक्खिनी फ्रैंक और प्राचीन उच्च जर्मन बोलियाँ ऊँची जर्मन (हाइ जर्मन) कहलाती हैं।

(ख) पूर्वी शाखामे अ उत्तरी ट्यूटोनिक, पश्चिमी नौर्स और आ. गोथिक आती हैं।

३. लातिन झुण्डके दो वर्ग हैं—१ लातिन और २. आम्ब्रो-सैमेनिटिक।

४ हैलनिक (ग्रीक) शाखामे पाँच बोलियाँ हैं—(क) डोरिक, (ख) उत्तर-पच्छिमी, (ग) एओलिक, (घ) आर्केडियन, (ङ) इयोनो-अत्तिकी (इयोनिक और अत्तिकी) हैं।

५ हित्ताइत बोलियाँ संस्कृत और लातिनसे बहुत मिलती है और ये एशिया माइनरमे ईसासे डेढ़ सहस्र बरस पहले बोली जाती रहीं।

६ तोखारी बोली शक लोगोकी बोली समझी जाती है। इसमे सन्धिके नियम सस्कृत जैसे हैं और विभक्तियाँ भी आठ हैं। सख्याओके नाम भी हिन्द-योरोपीय गोत्रसे मिलते हैं।

सतम् की पाँच शाखाएँ मानी जाती हैं—१ इलीरियन, २ बाल्टिक, ३. स्लावोनिक, ४ आरमीनियन, ५ आर्य।

इलीरियन बोलियोके बोलनेवाले एड्रियाटिक सागरके तीरपर इटलीके दक्खिन पूरबतक फैले थे। अब उस बोलीका नाम भर रह गया है।

बाल्टिक या लेटिकके भीतर तीन बोलियाँ आती हैं—क. पुरानी प्रशियन, ख. लिथुवानी और ग, लैट्टिश।

स्लावोनिक बोलियोकी तीन शाखाएँ हैं—१. पूर्वी रूसी शाखा, २. पच्छिमी शाखा, ३. दक्खिनी शाखा।

आरमीनियन शाखामे दो बोलियाँ आती है—१ फ्रीजियन और २ आरमीनियन।

आर्य शाखामे तीन बोलियाँ आती हैं—१ ईरानी, २ दरद और ३ भारतीय

ईरानीमे दो शाखाएँ हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वीमे दो बोलियाँ हैं—क सोगदी या पामीरी बोलियाँ, ख अवस्ता जिसमे बगिश्ता, पश्तो (पश्तो और पख्तो), देवारी, बलूची, औसेटी, कुर्दी और पहलवी (हुज्वारेश और पाज़न्द) आती है जिससे आजकी फारसी निकली है। पश्चिमीमे मीडियाई और पुरानी फारसी आती है।

दरदमे तीन बोलियाँ आती है—१. खोवार या चित्राली बोलियाँ, २ काफिरी, ३ दरद, जिसमे क शीना (गिलगिटी और ब्रोक्पा), ख. कश्मीरी (कश्मीरी और कष्टवारी), ग कोहिस्तानी (मैया, तोखारी और गार्वी) बोलियाँ आती हैं।

भारतीयमे वैदिक संस्कृतसे लेकर आजतककी भारतकी सब बोलियाँ आती है। इनका विवरण अगले खडमे किया जा रहा है।

हमारा मत है कि भाषाओका यह वर्गीकरण ठीक नही हुआ है। क्योकि एक शब्दके एक अक्षरके दो रूप मिलने मात्रसे किसी बोलीको एक वर्गमे बाँध देना कोइ तुक्की बात नही है। सतम् वर्गको ही लीजिए तो इसमे अवेस्ता, फारसी, संस्कृत और हिन्दीका तो एक गोत्रमे रहना ठीक है किन्तु रूसी, बलगेरी और लिथुआनियनकी प्रकृति ही पूर्णतः भिन्न है। अत इस प्रकार वर्गीकरण न करके शुद्ध रूपसे तीन आधारोपर वर्गीकरण करना चाहिए—

१. वर्णसमाम्नाय, अर्थात् जिन भाषाओकी ध्वनियाँ एक समान हो उन्हे एक वर्गमे रक्खा जाय। इस दृष्टिसे हम टवर्गवाली और बिना टवर्गवाली बोलियोके दो वर्ग बना सकते हैं।

२. शब्द-साम्य, जिन भाषाओमे एक पदार्थ या क्रियाके लिये आनेवाले शब्द एकसे हो।

३ वाक्य-साम्य, जिनमे वाक्यके रूप एक नियमसे बनते हो।

द्वितीय खंड

हिन्दीका जन्म और विकास

१

हिन्दी कैसे बनी

बहुतसे लोग मानते हैं कि आर्य लोग पहले-पहल बीच एशियामें रहते थे और वहींसे चारो ओर फैले। पर सच बात यह है कि वे पंजाब, कश्मीर और अफगानिस्तानके उस फैलावमे रहते थे जिसे तब त्रिसप्तसिन्धु कहते थे। उन आर्योंकी सबसे पुरानी बोलीकी साखी ऋग्वेदमे मिलती है जो विक्रमसे कई सहस्र वर्ष पहलेसे सप्तसिन्धुमे गूँज रही थी। कुछ लोग मानते हैं कि ऋग्वेदकी भाषा 'वैदिक संस्कृत' को ही अपढ़ लोगोने बिगाडकर बोलचालकी प्राकृत बना ली थी। कुछ लोग मानते हैं कि पहले लोगोकी (प्रकृत जनोंकी) बोलचालकी एक प्राकृत भाषा थी जिसे सँवार-सुधारकर, संस्कृत करके पढ़े-लिखे लोगोंने मँजी हुई बोली (संस्कृता वाक्) बना ली। पर ये दोनो मत ठीक नहीं हैं। सच्ची बात तो यह है कि जैसे आज भी पढ़े-लिखे लोगोकी बोली और गँवारू बोलीमे भेद है वैसे ही पहले भी संस्कृत तो पढ़े-लिखे या मँजे हुए लोगोकी बोली (संस्कृतजनाना वाक्) थी और उसके साथ एक सबके बोलचालकी बोली (प्राकृत-जनाना वाक्) थी जिसे प्राकृत कहते थे। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण तमिल है जिसका एक रूप 'शेन' (पूर्ण) या पढ़े-लिखे लोगोकी बोली है और दूसरा है कोडुन (देहाती भाषा) जिसे प्राकृत या जन-साधारणकी भाषा कह सकते हैं। सबकी बोलचालकी बोलीमे कोई नियम नहीं था।

वे अपनी देशी बोलियाँ भी बोलते थे और इधर-उधरसे आने-जानेवाली न जाने कितनी जातियोकी बोलीके शब्द भी लेते-जोडते चलते थे।

भारतीय बोलियाॅ

भारतीय बोलियोको लोगोने चार कालोमे बाँटा है—१ प्राचीन भारतीय भाषाकाल (विक्रम सम्वत्‌के पहलेसे लेकर ५०० विक्रम संवत्‌तक), २ मध्यकालीन भाषाकाल (५०० विक्रम सम्वत्‌से लेकर १२०० तक), ३ उत्तरकालीन भाषाकाल (१२०० विक्रम सवत्‌से १७०० तक), और ४ वर्त्तमान भाषाकाल (१७०० विक्रमीसे लेकर आजतक)। पहले कालमे वेद, ब्राह्मण, सूत्र आदिकी वैदिक सस्कृत और काव्यकी सस्कृत आती है। मध्यकालके प्रथम भागमे पालि और अर्ध-मागधी प्रसिद्ध है। दूसरे कालमे प्राकृतें आती हैं जिनमे पैशाची, खेतानी, कैकय, खश, मागधी, लाटी शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, महाराष्ट्री और नागर आती हैं। तीसरे कालमे सब अपभ्रंश बोलियाँ आती हैं और चौथेमे आजकलकी बोलियाँ आती है। पर काव्यकी संस्कृत इन सब कालोमे होती हुई आजतक ज्योकी त्यो काव्य और सस्कारकी भाषा बनी चली आई है और आज भी वही हमारी देशी भाषाओको पारिभाषिक शब्द-भण्डार प्रदान कर रही है।

वैदिक संस्कृत और काव्य संस्कृत : वैदिक संस्कृत ही वास्तवमे सबसे प्रचीन सस्कृत है और यही वह आदिम हिन्द-योरोपी भाषा है जिससे भारतमे काव्यकी संस्कृतने पाणिनि जैसे वैयाकरणोके साँचेमे ढलकर अपना रूप स्थिर कर लिया और योरोपमे यूनानी और लातिनसे प्रभावित हाकर अपना शब्द-भाडार भरा। वैदिक सस्कृतमे कुछ विचित्र प्रयोग होते थे जैसे 'देव' का प्रथमा एकवचनमें देवास और देवाः दोनो होते थे किन्तु सस्कृत मे देवा. होता है, 'कर्ण' का तृतीया बहुवचनमे 'कर्णैः' के बदले 'कर्णेभिः' होता था, उपसर्ग भी कभी-कभी शब्दसे अलग लगते थे। अर्थात् सस्कृतके वैयाकरणोने सब नियम ठीक कर डाले और संस्कृत भाषा व्यवस्थित कर डाली।

संस्कृत और प्राकृत : यह कहना असंगत, भ्रामक और अस्वाभाविक है कि जिस वैदिक संस्कृतमे आर्य ऋषियोने मन्त्रोका दर्शन

किया वही जन-साधारणकी भी बोली रही। शूद्र तो निश्चय ही दूसरी बोली बोलते रहे होंगे और उनका उच्चारण भी शुद्ध नहीं रहा होगा इसीलिये उन्हें वेद पढ़ाने पर रोक लगा दी गई थी। इसके अतिरिक्त दस्यु भी थे जिनकी भाषाका कोई विवरण नहीं मिलता। अतः वैदिक संस्कृतके साथ-साथ उस कालमें एक प्रकृतजनोंकी भाषा प्राकृत भी अवश्य चलती थी जिसके कुछ शब्द 'जर्फरी-तुर्फरी' आदिका प्रयोग वेदोंमें भी हुआ था।

संस्कृत और प्राकृत : वैदिक संस्कृतमें जो बातें व्याकरण बनानेवालोंको खटकीं उन्हें सुधार-सँवारकर उन्होंने संस्कृतका एक खरा, मँजा हुआ रूप बना दिया और उसीमें आगे चलकर पुराण काव्य, दर्शन, नीति तथा अन्य शास्त्र लिखे जाने लगे। पर प्राकृत बोलनेवाले लोगोंमें भी कुछ ऐसा चाव हुआ कि हम अपनी ही बोलीमें अपने जीकी बात कहें सुनें। बस प्राकृतोंमें भी लोग लिखने लगे और संस्कृतसे नये-नये शब्द लेकर अपने बोल-चालके ढंगपर ढालकर प्राकृतोंको सजाने लगे। दूसरी ओर संस्कृत लिखनेवालोंने भी प्राकृतमें जो सुन्दर शब्द और प्रयोग देखे उन्हें संस्कृतके नियमके अनुसार सँवारकर अपना लिए संस्कृत नाटककारोंने तो संस्कृत और प्राकृत दोनोंका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि पढ़े-लिखे लोगोंकी संस्कृत और जनसाधारणकी प्राकृत दोनोंका समान व्यवहार और आदर होता है तथा दोनोंमें काव्य-रचना भी होती है।

प्राकृत : संस्कृत और प्राकृतके अलग-अलग स्वरूपके साथ-साथ उनका परस्पर लेनदेन भी बराबर चलता रहा। संस्कृतके बहुतसे शब्द लोगोंकी बोलचालमें पड़कर अपना साज बिगाड़कर प्राकृतमें घुलते चले जा रहे थे, इधर प्राकृतके बहुतसे शब्दोंको संस्कृतवाले सँवार-सुधारकर अपने नियमके अनुसार अपनी संस्कृतमें अपनाते चले जा रहे थे। पढ़े-लिखे लोगोंकी बोलचाल और लिखा-पढ़ीकी बोली संस्कृत थी इसलिये प्राकृत और प्राकृत बोलनेवाले ओछे ही समझे जाते थे। पर धीरे-धीरे प्राकृतमें भी लोग लिखने-पढ़ने लग गए और उसमें भी पोथियाँ और कविताएँ रची जाने लगीं। विक्रमसे लगभग ६०० सौ

बरस पहले महावीरने जैन धर्म और बुद्धने अपना बौद्ध धर्म समझानेके लिये देशी 'प्राकृत' बोलियोको कुछ संस्कृतसे मिला-जुलाकर अर्द्धमागधी (आधी मागधी आधी संस्कृत) और पालि (पालिअ पालित : पाली हुई) प्राकृतें गढकर चलाईं। पहले तो इन गढ़ी हुई प्राकृतोमे धर्म ही समझाया गया पर पीछे चलकर दूसरी देशी बोलियो (प्राकृतो) मे और भी ढंगका साहित्य रचा जाने लगा। ऐसी प्राकृतें भारतके अलग-अलग प्रदेशोमे उन-उन देशोके नामसे चलीं जैसे पजाबमे 'पैशाची' प्राकृत, ब्रज और उसके आस-पास 'शौरसेनी', मगध (दक्खिनी बिहार) मे मागधी, नर्मदाके दक्खिनमे बरारके आस-पास महाराष्ट्री और उत्तर-पश्चिमी भारत (अफगानिस्तान तथा फारस) मे पारसी प्राकृत बोली जाती थी। आजकलकी बोलियोकी छानबीन करनेवाले लोगोने ईरानीको आर्य गोत्रकी, भारतीयसे अलग शाखावाली बोली माना है पर यह सचमुच वैदिक सस्कृतकी ही एक प्राकृत थी, जिसके बिगडे हुए रूप पूर्वी और पश्चिमी ईरानीमे मिलते हैं, जो वैसी ही प्राकृत है जैसे शौरसेनी या मागधी। ये प्राकृतें विक्रमसे लगभग सात सौ बरस पहलेसे लेकर बारह सौ बरस पीछेतक लिखी-पढ़ी-बोली जाती रहीं पर साथ-साथ ऊँचा साहित्य और आर्योके दर्शन-पुराण-इतिहासकी पोथियाँ सस्कृतमे ही रची जाती रहीं।

अपभ्रंश : धीरे-धीरे जब प्राकृत बोलियाँ भी लिखा-पढ़ीकी बोलियाँ हो गईं और व्याकरणके नियमोमे बँध चलीं तब उनमे भी बिगाड़ आने लगा और इन बिगड़ी हुई बोलियो या अपभ्रशोमे भी लगभग ५०० विक्रम सवत्से लगभग बारह सौ विक्रमीय सवत्-तक साहित्य रचा जाता रहा। यह अपभ्रश भी प्राकृतोके बिगाडसे उनके नामपर बनी, जैसे शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री अपभ्रंश। व्याकरण लिखनेवालोने अपभ्रशके तीन रूप माने थे—१ नागर, २. ब्राचड़ और ३. उपनागर। इसमेसे नागर अपभ्रंश तो गुजरातमे बोली जाती थी जिसे हेमचन्द्रने शौरसेनी प्राकृतसे निकला हुआ बताया। ब्राचड़ सिन्धमे बोली जाती थी और उपनागर अपभ्रंश नागर और ब्राचड़के मेलसे बनी थी इसलिये यह

पच्छिमी राजस्थान और पजाबके पच्छिम-दक्खिनी फैलावमे बोली जाती रही होगी। हेमचन्द्रने जिस अपभ्रशकी [illegible] छेड़ी है उससे राजस्थानकी डींगल बोलियाँ या गुजराती ही बनी है। हेमचन्द्रने जिसे शौरसेनी अपभ्रश कहा है वह आभीरोकी अपभ्रश रही और राजस्थान तथा उत्तर-पूर्वी गुजरातमे बोली जाती रही। इसमे रासक (यात्रा काव्य या प्रवास-काव्य) बहुत लिखे गए जिनमे भोजपुरी बोलीके 'बिदेसिया' काव्योके समान कोई व्यापारी अपनी घरवालाको छोड़कर व्यापारके लिये बाहर जाता है और वहाँसे बहुत दिनोपर लौटता है। इस बीच उसकी पत्नी उसके बिछोहमे दुखी होती है और फिर उसके लौटनेपर सुखी होती है। ऐसी लगभग ७२ अपभ्रश बोलियाँ गिनाई गई हैं। इसका अर्थ यह है कि छोटे-छोटे जनपदोमे लोगोने प्राकृतोको बिगाड़कर अपने-अपने जनपदकी अलग-अलग अपभ्रश बना ली थी। इतनी अपभ्रश बोलियाँ क्यो बनी इनका सीधा कारण यह भी था कि शक, हूण, सीथियाई आदि जो लोग बाहरसे आए वे अपने साथ अपनी बोलियोका जोड तोड लेते आए और यहाँकी बोलीसे मिलाकर एक नई बोली बना बैठे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गुलेरीजीने जिस अपभ्रशको पुरानी हिन्दी बताया है वह वास्तवमे पुरानी हिन्दी नहीं वरन् पुरानी गुजराती या पुरानी राजस्थानी है।

देशी : विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमे उत्तर-भारतमे छोटे छोटे राज्य आपसमे लडते-भिड़ते और अपनी बोलियोमे लिखते-पढते थे। इसलिये अपभ्रश बोलियोमे एक ओर साहित्य रचा जाने लगा और दूसरी ओर वे बिगड चलीं। इसी बीच मुसलमानोकी चढ़ाइयोने इन बोलियोमे तुर्की, फ़ारसी और अरबीके शब्द ला भरे। अलग-अलग देशोके एक-एक बडे घेरे (प्रान्त) के लिये एक बोलीमे सन्त और भक्त उपदेश देने लगे। उन्हींकी भाषाओंने जहाँ अलग-अलग प्रादेशिक बोलियाँ बाँधकर उन्हे पक्का किया वहीं उन्होने मिलकर अपने आपसके सत्सगके लिये उत्तर-भारतकी हिन्दी, हिन्दवी, रेखता भाषा या नागरी अपना ली, जिसमे अमीर ख़ुसरोने अपनी मुकरनी और पहेलियाँ लिखी थीं।

यहाँकी बोलियोकी छान बीन करनेवालोने भूलसे यह मान लिया है कि आजकी सभी देशी बोलि[illegible]संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमेसे ढलकर आई हैं। पर ऐसी बात नहीं है। कुछ बोलियाँ सीधे संस्कृतसे ही बनी हैं, जैसे—अन्तर्वेद (मेरठ-मुजफ्फर नगर) की नागरी। हम बता आए हैं कि नदियो, पहाडो आदिसे घिरे छोटे-छोटे घेरोमे लोग अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते जा रहे थे। उन देशोपर आर्योंने अपनी छाप डाल दी, जिससे वे बोलियाँ सीधे संस्कृतसे शब्द लेकर कुछको ज्योका त्यो (तत्सम) और कुछको बिगाडकर (तद्भव) काममे लाने लगे। ऐसे ही उन बोलियोका रूप बन चला।

भारतकी आर्य भाषाएँ : जौर्ज ग्रियर्सनने भारतकी आर्य भाषाओको तीन शाखाओमे बाँटा है—

१ बाहरी (बहिरग) शाखा, जिसके पश्चिमोत्तरी समुदायमे लहँदा और सिन्धी, दक्खिनी समुदायमे मराठी और पूर्वी समुदायमे उडिया, बँगला, असमी और बिहारी आती हैं।

२ बीचकी (मध्यवर्त्ती) शाखा, जिसमे पूर्वी हिन्दी आती है।

३. भीतरी (अन्तरग) उपशाखा, जिसके भीतरी समुदायमे पच्छिमी हिन्दी, पजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी और राजस्थानी है और पहाड़ी समुदायमे पूर्वी पहाडी या नैपाली, बीचकी पहाडी और पच्छिमी पहाड़ी बोलियाँ आती हैं।

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या कहते हैं कि भारतीय आर्य भाषाओका यह वर्गीकरण होना चाहिए—

क उत्तरी : जिसमे सिन्धी, लहँदा और पंजाबी आती हैं।

ख. पच्छिमी : जिसमे गुजराती आती है।

ग. बीचकी : जिसमे राजस्थानी, पच्छिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी आती है।

घ पूर्वी : जिसमे, बँगला, उड़िया और असमी आती हैं।

ङ दक्खिनी : जिसमे केवल मराठी आती है।

हमारा मत है कि न तो अन्तरंग और बहिरंग (भीतरी और बाहरी) कहकर भारतकी आर्य बोलियोको बाँटा जा सकता है न उत्तरी, पच्छिमी,

बीचकी, पूर्वी और दक्खिनी कहकर । भारतकी आर्य बोलियोके बिलगावकी सबसे अच्छी पहचान उनका सम्बन्धका चिह्न है। हमे यदि कहना हो 'रामका घोड़ा', तो ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, पहाडी, जयपुरी, बघेलखंडी, छत्तीसगढी, बुन्देली, बोलियोमें यह 'क' बराबर मिलता है। पहाड़ी बोलियोमे रामोक् घोड़ो, नेपालीमे रामको घाडो, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ीमे रामकै घोरा, ब्रजमे रामको घोरो या रामकौ घारो, बुन्देली और जयपुरीमे रामको घोरो, मगही और भोजपुरीमे रामकऽ या रामकै घोड़ा और नागरीमे रामका घोडा हो जाता है। यह पूरा क्षेत्र 'का' बोलियोका क्षेत्र है । इस क्षेत्रके पच्छिम-उत्तरमे 'दा' वर्गकी पंजाबी और लहँदा बोलियाँ हैं जहाँ 'रामदा घोडा' कहते है। इसके दक्खिन-पच्छिममे सिन्धी और कच्छी बोलियोका 'जो' क्षेत्र है जहाँ 'रामजो घोरो' कहते है। इसके पूरब राजस्थानमे 'रा' वर्गका क्षेत्र है जहाँ 'रामरा या रामरो घोडो' कहेगे। इस क्षेत्रके दक्खिन-पच्छिममे गुजरातीका 'नो' क्षेत्र है जहाँ 'रामनो घोडो' कहते है। 'नो' क्षेत्रके दक्खिनमे कोकण-तक और पच्छिममे विदर्भ तथा नागपुर और उसके आगे-तक मराठीका 'चा' क्षेत्र है जहाँ 'रामचा घोडा' कहते है। फिर बँगला, उडिया और असमीका 'एर्' क्षेत्र है जहाँ 'रामेर् अश्व' हो जाता है। इस प्रकार आर्य बोलियोके सात वर्ग है—का, दा, जो, नो, चा, रा और एर्,

इस ढगसे आर्य बोलियोका बँटवारा ठीक और सीधे समझमे आ सकता है। श्री चाटुर्ज्याजीने उत्तरीमे सिन्धी और पजाबीका एक वर्गमे रख दिया। पर सिन्धी और पजाबीका कोई मेल ही नहीं है। ऐसे ही राजस्थानी और हिन्दीकी बनावटमे तो डिंगल और पिंगलवालोने ही भेद बनाकर रख दिया था, फिर उनको बीचकी बोलियोके साथ कैसे रक्खा जा सकता है।

उर्दू : कुछ लोग उर्दूको हिन्दीसे अलग मानते हैं। पर जैसे अरबी लिखावटमे आ जानेसे फारसीको भी लोग भारतीय भाषाओसे अलग समझने लगे वैसे ही फारसी लिपिमे लिखी जानेके कारण उर्दू भी

पराई समझी जाने लगी। यदि इन सबकी लिपि नागरी होती तो यह भेद जो आज समझा जा रहा है वह न होता। हाँ, उर्दूकी बनावटकी पहचानके लिये उसे मुसलमानी नागरी कह सकते हैं जिसमे सञ्ज्ञा और विशेषण अरबी और फारसीसे लदे होते है।

हिन्दुस्तानी : जहाँतक हिन्दुस्तानीकी बात है वह तो इसी हिन्दीका योरोपीय लोगों-द्वारा दिया हुआ नाम है। गाँधीजी एक हिन्दुस्तानी अवश्य चलाना चाहते थे जिसमे सब बोलियोकी खिचडी हो पर ऐसी बनावटी बोली चल नहीं सकती थी इसलिये वह जहाँकी तहाँ रह गई।

ग्रामीण बोलियाँ : कुछ लोगोने भूलसे ब्रज और अवधी-जैसी सम्पन्न बोलियोको ग्रामीण बोलियाँ लिख दिया है। इनमेंसे बाँगरू, जट्ट (नागरीकी देहाती बोली) और भोजपुरीको ग्रामीण मान सकते हैं। पर अब भोजपुरीमे भी अच्छा साहित्य रचा जाने लगा है। इसलिये बाँगरूको छोड़कर ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि सब साहित्यिक बोलियाँ है। उन्हे ग्रामीण या गँवारू कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनके भी दो रूप चलते हैं, एक साहित्यका और दूसरा सबकी बोलचालका।

नागरीकी बनावट : हिन्दीकी नागरी बोली जिस रूपमे सबके बोलचाल और कामकाजकी बोली बनी है उसकी अपनी ठेठ बनावट तद्भव की है। उसमें कहा जाता है—'फुलवारीमें फूल खिले हुए हैं'। पर आजकलकी नगरीमें कहा जाता है—'उद्यानमे प्रसून विकसित हैं।' अतः नागरी हिन्दीमें अब संस्कृतके तत्सम शब्द लानेकी चाल चल पडी है। पर साथ ही जिन-जिन बोलियोंका हमारी बोलियोंसे मेल हुआ उनके भी शब्द हमने अपना लिए, जैसे—अरबी, तुर्की, पश्तो, फारसी, अँगरेजी, पुर्तगाली, डच, और फ्रान्सीसी शब्द। ये सब विदेशी शब्द दो कारणोंसे आए—१ या तो इन बोली बोलनेवालोंका हमपर राज हुआ और २. या इनसे आपसमें व्यापार हुआ। पर इस लेनदेनमे हमने सञ्ज्ञा और विशेषण ही अधिक लिए हैं, अपना ढाँचा और अपनी बनावट नहीं बदली। इस बनावटको देखते हुए नागरीके दो तो सच्चे रूप हैं—१. ठेठ (तद्भवनिष्ठ), और २ संस्कृतभरी

(संस्कृतनिष्ठ) और दो बनावटी रूप है—१ उर्दू (अरबी-फारसीनिष्ठ) और खिचडी (सर्व-भाषानिष्ठ)। आजकल नागरी संस्कृतनिष्ठ हो चली है।

इस नागरी (मेरठ-मुज़फ्फर नगरकी बोली) की साथिन बोलियोमे ब्रज, अवधी, बुन्देलखंडी, मालवी, बघेलखडी, छत्तीसगढी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, मैथिली, पहाडी और मगही बोलियाँ आती हैं जिनमेसे कुछका अपना-अपना साहित्य भी है।

मातृ-भाषा हिन्दी : मातृभाषा हिन्दी वही हो सकती है जो हिन्दी-भाषी प्रदेशमे बालक अपनी माँके मुखसे सुनता है। किन्तु मातृ-भाषाका अर्थ क्या है? सच पूछिए तो माता जिस प्रादेशिक या जनपद भाषाका प्रयोग करती है वही भाषा मातृभाषा कहलाती है। उदाहरणके लिये काशीवालोकी भाषा बनारसी भोजपुरी है। काशी-निवासी किसी हिन्दीके विद्वान्के घर आप जाइए तो आपको देखकर वे कहेगे—'नमस्कार! आइए पधारिए। बडी कृपाकी आपने। कहिए कैसे कष्ट किया?' और तत्काल अपने सेवकको पुकारेंगे—'अरे भगेलुआ! तनी' पान तऽ ली आवऽ।' अर्थात् हम घरमे अपनी प्रादेशिक बोली मातृ-भाषा बोलते हैं किन्तु सामाजिक व्यवहारमे नागरी भाषाका व्यवहार करते हैं। अतः समाजके शिष्टजन जिस भाषामे विचार-विनिमय, काम-काज और लिखा-पढी करते हों, वही भाषा, शिक्षाकी दृष्टिसे मातृ भाषा कहलाती है। अर्थात् यहाँ मातृभाषासे हमारा तात्पर्य उस नागरी भाषासे है जिसके द्वारा हम पंजाब और राजस्थानसे लेकर बिहारतकके लोग परस्पर लिख और बोलकर अपने भाव व्यक्त करते हैं, जिसमे हमारे गद्य-साहित्यकी रचना हो रही है, पत्र-पत्रिकाओका प्रकाशन होता है तथा जो विभिन्न शैलियोंमें हमारे समाजके पढे-लिखे शिष्टजनोकी बोलचाल तथा लिखा-पढ़ीकी भाषा है।

राष्ट्रभाषा : हमारी राष्ट्रभाषाका स्वरूप नागरी भाषाका व्यापक रूप है जिसे कि समूचे भारतमें तथा भारतसे बाहरके भी कुल मिलाकर कमसे कम पैंतीस करोड़ प्राणी बोलते और समझते हैं, जिसमे देश-भेदके अनुरूप संज्ञा, विशेषण आदिके लिये तत्तत्प्रदेशीय शब्दोका

प्रयोग होता रहता है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी : देखा जाय तो संस्कृत ही आज भी हमारी राष्ट्रभाषा है जिसे समझनेवाले और बोलनेवाले आज भी कश्मीरसे लेकर लंका-तक और सीमाप्रान्तसे लेकर ब्रह्मातक मिलेंगे। अतः हमारी राष्ट्रभाषाकी पहली पहचान तो यह होगी कि उसमें अधिकांश शब्द संस्कृतके तत्सम या तद्भव हों अर्थात् वह संस्कृत-निष्ठ हो जिससे वह भारत भरमें समझी जा सके। नागरी भाषाकी मूल प्रकृति तो वास्तवमें तद्भवात्मिका है किन्तु विभिन्न अन्य भारतीय भाषाओंका प्रयोग करनेवालोंके लिये नागरीके तद्भव शब्दोंकी अपेक्षा तत्सम संस्कृतके शब्द अधिक सुगम और बोधगम्य होंगे।

दूसरी महत्त्वकी बात यह भी है कि राष्ट्रभाषा उसी प्रदेशकी भाषा हो सकती है जिसमें राज-क्षेत्र या धार्मिक क्षेत्र हो।

तीसरी बात यह है कि घने बसे हुए उत्तर प्रदेशके जोलोग व्यवसाय और नौकरीके लिये भारतमें और भारतके बाहर प्रदेशोंमें मौरिशस, ट्रीनीडाड, डच गाइना, ब्रिटिश गाइना, नैटाल और दक्षिण अफ्रीका आदि देशोंमें गए हैं उनकी भी व्यवहार-भाषा नागरी ही है और वे भारतसे नागरीकी पोथियाँ मँगाकर अपने बच्चोंको नागरी ही पढाते हैं।

चौथी बात यह है कि राष्ट्रभाषा वह होनी चाहिए जिसे अधिकांश लोग बोल या समझ सकें। अतः व्यापक रूपसे नागरी ही एक ऐसी भाषा है जिसे हिमालय और भारतीय सागरके बीच रहनेवाले लगभग पैंतीस करोड नर-नारी किसी न किसी रूपमें बोलते और समझते हैं।

विदेशी शब्दोंका पाचन : कुछ लोगोंका कहना है कि जो विदेशी शब्द हमारी भाषामें अति प्रचलित (आम फहम) होकर आ गए हैं उन्हें चलाते रहना चाहिए। यह प्रस्ताव इस संशोधनके साथ स्वीकार किया जा सकता है कि जो विदेशी शब्द अपनी विदेशी प्रकृति छोडकर हमारी भाषाकी प्रकृति ग्रहण करके जनसाधारणकी भाषामें आत्मसात् कर लिये गए हैं उनका प्रयोग चलाए रखना चाहिए। इस सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे यह नियम समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु,

भाव या क्रियाके लिये हमारी भाषामे शब्द न हो, केवल उन्हीं वस्तुओ, भावो, या क्रियाओका बोध करानेवाले विदेशी शब्द अपनी भाषामे इस प्रकार मिलाए जायँ कि उनका रूप-सस्कार और ध्वनि-सस्कार हमारी भाषाकी प्रकृतिके अनुकूल हो। यदि हम अति प्रचलित विदेशी शब्द मिला लेनेकी छूट दे दें तो अनधिकारी लोग अरबी, फारसी और अँगरेजीके न जाने कितने शब्दोका व्यवहार करने लगें, जिससे ऐसे नागरी या सस्कृत शब्दोका व्यवहार रुक जायगा जो विदेशी शब्दोकी अपेक्षा अधिक, सरल, मधुर तथा सुबोध है। अतः नागरीमे केवल हिन्दीके सर्वबोध्य देशी, तद्भव अथवा सस्कृतके तत्सम शब्दोका ही प्रयोग हो और केवल वे ही विदेशी शब्द स्वीकार किए जायँ जिनका उचित सर्वबोध्य पर्याय हमारी भाषा या सस्कृतमे न हो जैसे—कोट, टिकट, बटन, मस्जिद, रेल आदि और पारिभाषिक शब्द केवल सस्कृतसे ही लिए जायँ।

हिन्दीकी विभिन्न सीमाएँ—हिन्दी शब्द बडा व्यापक है। वास्तवमे 'हिन्दी' उस भाषा-समूहका नाम है जो आर्यावर्तमे बोली जाती है किन्तु आज उसका प्रयोग शिष्ट और सामाजिक व्यवहारमे आनेवाली उस 'नागरी'के लिये होता है जिसे लोग 'खडी बोली' के नामसे पुकारनेकी व्यापक भूल करते है। नागरी भाषामे लिखी जानेके कारण उसका नागरी नाम वैसे ही सार्थक है जैसे बँगला लिपिमे लिखी जानेवाली बँगला भाषाका। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो खडी, पडी, टेढ़ी और सीधी बोली किसी भाषाका नाम नहीं हुआ करता। भाषाका नाम या तो उस भूभागसे सबद्ध होता है जहाँ वह बोली जाती है जैसे—मराठी, गुजराती, बँगला, पजाबी आदि, या उस भाषाके लक्षणके आधारपर, जैसे बिगडी हुई भाषाको अपभ्रश, स्वच्छ मँजी हुई भाषाको सस्कृत और नागरिको तथा शिष्ट व्यक्तियो-द्वारा बोली जानेवाली भाषाको नागरी। इस प्रकार अब हम 'नागरी'को सचमुच 'हिन्दी' कह सकते है क्योकि वह हिन्दकी भाषा हो गई है।

हम ऊपर कह चुके है कि हिन्दी उस भाषा-समूहका नाम है जिसके

अन्तर्गत पजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही, बुन्देलखडी, छत्तीसगढी तथा उर्दू आदि भाषाएँ और शैलियाँ आती है। जिस शैलीका नाम आजकल उर्दू है वह भी पहले 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही कहलाती थी, पर दिन-दिन बढनेवाले साम्प्रदायिक विद्वेषने हिन्दीकी इस शैलीमे अरबी, तुर्की, फारसी, आदि सेमेटिक भाषाओके शब्द धीरे-धीरे खपाकर उसे हिन्दीकी प्रतिद्वन्द्विनी भाषाका रूप दे दिया है। फिर भी उर्दूके व्याकरणकी बाँध देखते हुए जानकारोके निकट यह हिन्दी (नागरी) ही जानी और मानी जायगी। इस प्रकार हमारी बोलचालका माध्यम बनी हुई 'वर्त्तमान नागरी भाषा वह भाषा है जिसका सस्कृतसे अविच्छेद्य सबध बना हुआ है, जिसके क्रियापदोका अपना विशिष्ट लोकव्यवहृत रूप स्थिर होकर साहित्य और लोकव्यवारमे प्रयुक्त होता है, जिसमे देशी उपसर्गों और प्रत्ययोके साथ-साथ सस्कृत प्रत्ययो और उपसर्गोका प्रयोग होता है, जिसमे सज्ञा और विशेषण विशेषतः सस्कृतके तत्सम और तद्भव होते है और जिसमे उन विदेशी शब्दोका भी नागरीकी ध्वनि और रूपके अनुसार स्वीकरण हो गया है जिनका पर्याय नागरी और सस्कृतमे नहीं है और जिनका पर्याय सस्कृतके आधारपर बनानेसे उन विदेशी शब्दोके ठीक ठीक भावका बोध होनेमे बाधा या भ्रान्ति होनेकी सभावना हो सकती है।'

नागरी भाषा—यही 'नागरी' राष्ट्रीय दृष्टिसे हमारी राष्ट्रभाषा और मातृभाषा है भले ही हम अपने घरोमे ब्रज, अवधी, छत्तीसगढी या भोजपुरी आदि उपभाषाओ या प्रादेशिक बोलियोका प्रयोग करते हो। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे देवनागरी लिपिमे लिखी जानेवाली नागरी भाषाको ही अब व्यापक रूपसे राष्ट्रभाषा हिन्दी कहा जाने लगा है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाका समय

(अनिश्चित ई० पू० से लगभग २ सहस्र ई० पू० तक)

बहुतस लोगोने योरोपीय लेखकोके आधारपर प्राचीन भारतीय आर्य भाषाका समय १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना है।

यह सभी मानते है कि इस प्राचीन आर्य भाषाका प्रमाण ऋग्वेद ही है। किन्तु ऋग्वेद कब रचा गया इसके सबधमे बहुतसे मत है। लोकमान्य टिळकने माना है कि 'बहुत सी ऋचाएँ २७ सहस्र ई० पू० मे प्रकट हुई', किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वैदिक मत्रद्रष्टा ऋषियोने सबसे पहले कब मन्त्रोके दर्शन किए। इसमे कोई सदेह नहीं कि शौनक ऋषिने जो सहिता सग्रह की थी वह अवश्य कुछ पीछेकी है किन्तु उसका भी समय निश्चित नहीं है।

वैदिक संस्कृत और वैदिक प्राकृत—यह तो निश्चित है कि ऋग्वेदकी भाषा वाक्सिद्ध आर्योंकी भाषा रही होगी किन्तु उसके साथ-साथ जन साधारणकी भी एक भाषा चलती रही होगी। यही वैदिक-प्राकृत थी। जिस समय वैदिक सस्कृत चल रही थी, उसी समय वैदिक प्राकृत भी चलती थी जिसमे स्त्रियाँ, बालक, अशिक्षित तथा उनके सेवक बोलते थे। उस प्राकृतमे भी उतनी ही ध्वनियाँ थी जितनी सस्कृतमे, क्योकि स्वयं पाणिनिने अपनी 'शिक्षा' मे लिखा है—

त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
सस्कृते प्राकृते चापि स्वय प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥

[शिवजीके मतसे सस्कृत और प्राकृत दोनोमे तिरसठ या चौंसठ वर्ण है।]

अतः आजकल जो लोग मानते है कि सस्कृतके पश्चात् प्राकृत हुई और प्राकृतमे पहुँचकर सस्कृतकी कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो गई, ये दोनो मत भ्रामक है। उस समय देशी भाषाएँ तो न जाने कितनी थीं पर प्राकृत वह सस्कृत थी जिसे बोलनेका प्रयत्न करते हुए सस्कृतसे अनभिज्ञ लोग व्याकरण और उच्चारण बिगाडकर बोलते थे। भरतने अपने नाट्य शास्त्रमे स्पष्ट लिखा है—

एतदेव विपर्यस्तं सस्कार-गुणवर्जितम्।
विज्ञेय प्राकृतं पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

[यही (सस्कृत) कुछ उलट-पलटकर, सस्कार (व्याकरण तथा उच्चारण) से रहित करके, अनेक अवस्थाओ (देश-भेद तथा व्यक्ति-भेद) के अनुसार अनेक रूपोमे बोली जाय तो प्राकृत बन जाती है ।]

इतना ही नहीं, आर्योंके शत्रु दस्युओकी भी अपनी भाषा थी किन्तु वह क्या थी यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। जिस सुव्यवस्थित व्याकरण-सिद्ध भाषाका ज्ञान ऋग्वेदमे लिखा है उससे स्पष्ट है कि उतनी प्रौढ, प्राञ्जल, सुव्यवस्थित तथा व्याकरणसिद्ध भाषा कई सहस्र वर्षोंकी प्रगाढ तपस्याका परिणाम था । उस प्रकारकी दार्शनिक और पारिभाषिक शब्दावली, विज्ञानके विभिन्न तत्त्वोका सूक्ष्म निरूपण, ज्योतिष, सगीत, आयुर्वेद, आदि अनेक शास्त्रोका विस्तृत, सटीक तथा सूक्ष्म परिचय इस बातका प्रमाण है कि आर्योंने केवल भाषा ही सिद्ध नही की थी वरन् लौकिक और पारलौकिक ज्ञानकी पूर्णता सिद्ध करके उनके वर्णनकी शब्दावली भी निश्चित कर ली थी। वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयोका इतना अधिक इतना प्रौढ ज्ञान सौ दो सौ वर्षोंमे नही हो सकता। अतः वैदिक सस्कृत निश्चय ही कई सहस्र वर्ष पहले पनप चुकी थी।

योरप इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कई सौ वर्षोंके सस्कारके पश्चात् भी अभीतक वहाँकी भाषाएँ न तो पूर्ण रूपसे स्थिर हो पाईं न उनमे इतना शब्द-भाण्डार ही आ पाया जितना वैदिक सस्कृतमे था। अतः प्राचीन भारतीय आर्य भाषाके सम्बन्धमे इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमे चाहे जितनी भी भाषाएँ रही हो, किन्तु त्रिसप्त-सिधुके शिष्ट तथा पठित आर्योंकी तो भाषा सस्कृत रही, और शेप लोग देशी भाषाएँ प्रयोगमे लाते रहे । इन आर्योंकी व्यवहारकी वह ठेठ बोली ही प्राचीन तथा भारतीय आर्य-भाषा थी, जिसका रूप पाणिनिसे पूर्व ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थोकी भाषाके तुल्य था और जो वैदिक सस्कृतसे कुछ थोड़ी-सी परिवर्तित यद्यपि है। भी उसमे प्रयोग तो वैदिक शब्दावलीका हुआ है किन्तु व्याख्याका ढग और उसकी भाषा थोडी बदली हुई है। पाणिनिसे बहुत पूर्व इन्द्र और व्याडि आदि अनेक वैयाकरणोका भ

परिचय मिलता है, जिन्होने समय-समयपर सस्कृत भाषाको बाँधनेका प्रयत्न किया था। यह भी इस बातका प्रमाण है कि सस्कृत इतनी प्रौढ और व्यवस्थित भाषा हो गई थी कि शिष्ट लोगोमे उसका व्यापक प्रयोग हो चला था और उसके अगणित व्याकरण बन चुके थे।

देशी भाषाएँ—यद्यपि आर्योंके व्यापक प्रभुत्वके कारण आर्य-शासित प्रदेशोमे शिष्टजन तो सस्कृतका ही व्यवहार करते थे किन्तु उसके साथ-साथ भारतके विभिन्न प्रदेशोमे कुछ जन-भाषाएँ भी चलती रहीं। ये देश-भेदसे अर्थात् पर्वत, नदी, मरुभूमि आदिकी बाधाओके कारण अलग रहनेवाली अलग-अलग जातियाके मडलोमे पारस्परिक व्यवहारके लिये बोली जाती रहीं। इस प्रकार मगधमे मागधी, शूरसेनमे शौरसेनी, महाराष्ट्रमे महाराष्ट्री, उत्तर-पश्चिमी सीमान्तपर पैशाची आदि भाषाएँ बोली जाती रही। ये विभिन्न प्रदेशोके लोग अपने उच्चारणके अनुसार जिस प्रकार सस्कृत बोलते थे उसे ही प्राकृत वैयाकरणोने प्राकृत कहकर सबोधित किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये प्राकृते उन देशोकी भाषाएँ थीं। इसका शुद्ध तात्पर्य यह है कि सस्कृत ही सपूर्ण आर्य-भारतकी राष्ट्रभाषा और शिष्टजन-भाषा थी जिसे विभिन्न प्रदेशोके अपठित लोग अपने उच्चारणके अनुसार ढालकर बोलते थे। उदाहरणके लिये नागरीमे कहते है—

'घोडा सडकपर भडककर अड गया'।

इसे बिहारमे कहेगे—

'घोरा सरकपर भरककर अर गया।'

यह नागरीका प्राकृत हो गया। इसी प्रकार 'रामने दशरथसे कहा' नागरी वाक्य है। इसे पूर्वी हिन्दीवाले कहेगे—राम दसरथसे कहे। यह प्राकृत है। इसके विपरीत 'घोरा सरकिया पर भरकके अरक गयल।' और 'राम दसरथसे कहलन्' ये देशी रूप है।

अतः विभिन्न प्राकृतोका अर्थ यही है कि विभिन्न प्रदेशोके लोग

अपने उच्चारणके अनुसार सस्कृतको उन-उन रूपोमे बोलते थे । भारतमे भी जो अनेक जातियाँ आई वे भी अनेक शब्द साथ लेती आई और प्राकृत भाषाओकी सख्यामे योग देती रहीं ।

पीछे बताया जा चुका है कि आर्य भाषाओकी तीन शाखाएँ मानी गई है—ईरानी, दरद और भारतीय । आर्य शाखाकी भारतीय भाषा सबसे प्रमुख रूपसे भारतमे बोली जाती है । इसे कुछ आचार्योने तीन कालोमे बॉट दिया है—

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा [१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०]
२ मध्यकालीन आर्य भाषा [५०० ई० पू० से १००० ई० तक]
३ आधुनिक आर्य भाषा [१००० ई० से वर्तमान काल-तक]

इन तीनो कालोकी आर्य भाषाओका विवरण उन्होने इस प्रकार दिया है ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा—इसके अन्तर्गत वैदिक साहित्य, पुराण तथा काव्योकी सस्कृत (क्लासिकल सस्कृत) आती है । इसके प्राचीनतम रूप ऋग्वेदकी ऋचाओमे, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदिमे प्राप्त होते है। सूत्रकालमे पहुँचकर यह भाषा परिवर्त्तित हो गई क्योकि साधारण जनता वेद समझनेमे असमर्थ होने लगी। धीरे धीरे वैदिक सस्कृतके पश्चात् लौकिक सस्कृत भी लोगोके मुँहमे पडकर बिगड गई। उसे ठीक करनेके लिये पाणिनिने अष्टाध्यायीकी रचना की तथा अन्य वैयाकरणोने भी ऐसा ही प्रयत्न किया। बुद्धके समय तक अर्थात् छह सौ ई० पू० के लगभग-तक भारतके विभिन्न प्रदेशोमे अलग-अलग प्राकृते बन गई। इन विद्वानोने पौराणिक तथा काव्य-सस्कृतको कृत्रिम या बनी हुई भाषा माना है। यही भाषा साहित्यिक और शिष्ट लोगोकी भाषा थी। इसके अतिरिक्त जनता या प्राकृत लोगोकी भाषा प्राकृत नामसे चल चुकी थी किन्तु साहित्यमे सस्कृतका ही बोलबाला था। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी प्राकृतो तथा दक्षिणकी आर्येतर भाषाओने भी सस्कृतके

बहुतसे शब्द ले लिए और सस्कृतने भी उनके बहुतसे शब्द स्वीकार कर लिए। सस्कृत साहित्य इतना प्रौढ, इतना दीर्घजीवी रहा कि ऋग्वेद-कालसे लेकर आजतक उसकी धारा अक्षुण्ण बनी रही और वह हमारे सस्कारोमे, कथा आदिमे ज्योकी त्यो जीवित रही।

इस सस्कृत भाषाकी तुलना यदि मूल हिन्द योरोपीय भाषासे की जाय तो प्रतीत होगा कि सस्कृतमे (जिसमे वैदिक सस्कृत भी सम्मिलित है)—

क. स्वरोकी सख्या कम हो गई।

ख. 'ऌ'का प्रयोग केवल एक 'क्लृप' शब्दमे रह गया।

ग चवर्ग और टवर्गकी ध्वनियाँ बढ गई।

घ. तीन कवर्ग (**क, क, क्व**) के बदले एक कवर्ग रह गया।

ङ. स्पर्श वर्णों (क से म तक) के प्रत्येक वर्गमे एक-एक अनुनासिक ङ, ञ, ण, न, म जोड दिए गए।

च उदासीन स्वर लुप्त हो गया और उसके बदले **इ** का प्रयोग होने लगा।

छ '**श् ष्**' दो नए ऊष्म बन गए।

ज ह् की ध्वनि भी प्रयोगमे आने लगी।

सस्कृतमे कुछ और भी विशेषताएँ थीं। जैसे—

क. **ऐ औ** दोनो क्रमशः 'आइ' और 'आउ' बोले जाते थे।

ख शब्दोमे व्यजनोका लोप नहीं होता था जैसा पीछे होने लगा।

ग शब्दोमे धातुओका अर्थ पहले सुरक्षित था, पीछे चलकर लौकिक सस्कृतमे कुछ-कुछ अर्थ-परिवर्त्तन होने लगा।

घ स्वराघात यद्यपि सगीतके समान था किन्तु वह भी समाप्त हो रहा था।

ङ. तीन लिग, तीन वचन और आठ कारक थे।

च. रूप-रचना बहुत जटिल और बडी अनियमित थी किन्तु काव्य-सस्कृतमे यह जटिलता कुछ कम हो गई।

छ. वाक्यमे कोई भी शब्द कहीं भी रक्खा जा सकता था।

ज मूल शब्दमें उपसर्ग न लगकर वाक्यमें कहीं भी रक्खे जा सकते थे।

मध्यकालीन आर्य-भाषा

(५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक)

आधुनिक आचार्योंने कहा है कि बहुत पहलेसे ही कुछ जन-भाषाएँ भी साहित्यक रूप धारण कर चुकी थीं। इस समय आर्य भाषाएँ बोलचालमें ढलते-ढलते बहुत सरल हो चुकी थी। ध्वनियोमें भी बहुत परिवर्तन हो गए। इसलिये इस कालको लोग तीन भागोमें बाटते हैं—

१. प्रथम काल ५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक। (पालि आदि)

२ द्वितीय काल १ ई० पू० से ५०० ई० तक।

३. तृतीय काल ५०० ई० से १००० ई० तक।

प्रथम कालकी भाषाके अन्तर्गत लोग पालि और अशोकके शिला-लेखोकी प्राकृत मानते है। विन्डिश, गाइगर, राइ डैविस आदि विद्वानोंने पालिको उस समयकी राष्ट्रभाषा माना है और इसे कोशलकी बोलीपर आधारित माना है। साधारणतः यह अर्द्धमागधीकी बोली मानी जाती है। किन्तु कुछ लोगोने विन्डिश आदि विद्वानोका मत मानकर इसे कोशलकी भाषाका रूप माना है।

पालि

पालिके सम्बन्धमें बडा भारी भ्रम है। यह अत्यन्त कृत्रिम भाषा है जिसे बुद्धने स्वय अपनी बुद्धिसे बनाया था। बुद्धने अपना धर्म चलानेके लिये सस्कृतकी प्रतिद्वन्द्विनी भाषाके रूपमें यह भाषा चलाई थी। वास्तवमें जितना कुछ बुद्धने कहा है केवल वही 'पालि' माना जाता है जैसा कि सिहलसे प्राप्त हुए लेखोमें मिलता है, जहाँ कहा गया है—

पालिमत्त इधानीत न तु अट्ठकथा इधा।'

[सिंहलमें पालि अर्थात् बुद्ध-वचन ही लाए गए थे। उन वचनोपर किए गए भाष्य या अर्थ-कथा (अट्ठकथा) नहीं।] यद्यपि बुद्ध-वचन और अर्थकथा दोनो ही एक भाषामें हैं जो मागधी, कोशली और सस्कृतका बड़ा विचित्र रलगड्डम है। वह इतनी कृत्रिम भाषा थी कि

न उसकी कोई परम्परा चली, और न बौद्ध साहित्यके अतिरिक्त उसमे कोई साहित्य ही रचा गया। एक बार बुद्धके पट्टशिष्य आनन्दने बुद्धसे कहा भी था कि 'आप अपने वचनोको सस्कृतमे अनूदित करनेकी आज्ञा दे दीजिए।' किन्तु बुद्धने कहा 'कि मै बम्हण भाषा (सस्कृत) मे अपने वचन नहीं सुरक्षित करना चाहता।' इतनी उन्हे ब्राह्मणोसे चिढ़ थी। कान्चायन (कात्यायन) ने अपने पालि-व्याकरणमे लिखा भी है—

'ततो बुद्ध बचनम्हि'

[पालि केवल बुद्धके वचनमे ही है।]

इसके अतिरिक्त जातको और अर्थकथा (अट्ठकथा)-वालोने भी उसी कृत्रिम भाषाका अनुकरण किया। तात्पर्य यह है कि पालि किसी भाषाका नाम नहीं है। पालि केवल उस साहित्यको कहते है जो बुद्धका वचन माना जाता है। अतः पालिको प्रथम कालकी अलग भाषा मानना भूल है।

पालि भाषा वास्तवमे किसी प्रदेशकी भाषा थी या नहीं और यदि थी तो कव और क्यो उसका नाम 'पालि' पडा, इस सबवमे अनेक अटकलें लगाई गई है। 'पालि' शब्दका सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमे बुद्धघोषकी अट्ठकथाओमे चौथी या पॉचवीं शताब्दी ईसवीमे मिलता है। बुद्ध-घोषने भी 'मूल त्रिपिटक' या बुद्ध-वचनके अर्थमे ही 'पालि' शब्दका प्रयोग किया है। जहॉ उन्होने त्रिपिटकके किसी अशको प्राचीन अर्थकथासे भिन्न दिखानेके लिये उद्धृत किया है वहॉ उसे 'पालि' कहा है। उन्होने पाठान्तरका निर्देश करते हुए भी लिखा है—

'महच्चा इति पि पालि'।

['महच्चा' भी पाठ है।]

यहॉ इसका अर्थ 'पाठ' है। आचार्य बुद्धघोषके पूर्व लकामे जो ग्रन्थ चौथी शताब्दीमे रचे गए उन्होने भी बुद्ध-वचनके अर्थमे ही 'पालि' शब्दका प्रयोग किया है।

कुछ आधुनिक विद्वानोने पालि शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है—

१ बुद्धघोषकी अट्ठकथाओमे पालि शब्दका प्रयोग बुद्धवचन

या मूल त्रिपिटकके अर्थमे आया है अतः बुद्धवचनको ही 'पालि' कहते है। 'पालि' शब्दका प्राचीनतम रूप हमे 'परियाय' मिलता है जिसका प्रयोग त्रिपिटकमे बहुत बार कहीं 'धर्म' शब्दके साथ और कही अकेले आया है जैसे—

'को नाम अय भन्ते धम्म परियायो ति'

यहॉ 'परियाय' शब्दका अर्थ बुद्धका उपदेश है। पीछे चलकर 'परियाय' शब्दका रूप बिगडकर 'पलियाय' हो गया। अशोकके प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेखमे 'पलियाय' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमे मिलता है। धर्मराजने मगधके भिक्खुसघको कहा है—'बुद्धवचनको सुनो और उसका पालन करो' यहॉ 'पालि' शब्दका अर्थ पालन करना है।

२. भिक्खु सिद्धार्थका मत है कि 'पालि' शब्द सस्कृतके पाठ शब्दसे इस प्रकार बना है—पाठ, पाड, पार, पाल, पालि। 'पाठ'से पालि शब्दका विकास इस प्रकार चला कि पहले ब्राह्मण लोग वेदके पाठके लिये 'पाठ' शब्दका प्रयोग करते थे अतः जब महाशाल ब्राह्मण आकर बौद्ध मतमे प्रविष्ट हुए तो उन्होने वेदके लिये प्रयुक्त होनेवाले इस शब्दको बुद्ध-वचनोके लिये प्रयोग करना प्रारम्भ किया। वही 'पाठ' शब्द भिक्खु-सघमे आकर 'पाल' हो गया क्योकि सस्कृतके सभी मूर्धन्य व्यञ्जन (ट, ठ, ड, ढ, ण) पालि और प्राकृतमे 'ल' हो जाते है इसीमे ह्रस्व 'इ'का आगम होनेसे 'पालि' हो गया।

३. पडित विधुशेखर भट्टाचार्यका मत है कि 'पालि' शब्द सस्कृतके 'पक्ति' शब्दका पर्याय है। प्रसिद्ध पालिकोष "अभिधानप्पदीपिका" (१२ वीं शताब्दि)मे पालि शब्दका अर्थ बुद्ध-वचन भी दिया है और पक्ति भी। 'पालि' साहित्यमे 'अम्बपालि' और 'दन्तपालि' जैसे प्रयोग भी 'पक्ति'के अर्थको ही व्यक्त करते है।

४. जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वैलेसरने सन् १९२४ और २५ मे 'पालि'को पाटलि या पाडलिपुत्रकी भाषा कहकर 'पालि' मान लिया।

कुछ लोगोने पल्लि (गॉव) शब्दसे भाषाकी उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताया है। कुछ लोगोने प्राकृत, पाकट, पाउड, पाअल और

'पालि'के क्रमसे प्राकृतसे पालिकी व्युत्पत्ति की है। कुछ लोगोंने संस्कृतके प्रालेय या प्रालेयक (पडोसी) शब्दसे पालिकी उत्पत्ति बताई।

अभिधानप्पदीपिकाका 'पालि' शब्द लेकर कुछ विद्वानोंने 'बुद्ध-वचन' और 'पक्ति'को समानार्थी मानकर उसकी व्युत्पत्ति की है—पा, पालेति, रक्खतीति पालि अर्थात जो पालन करती हो, रक्षा करती हो वह पालि है। अर्थात् जो बुद्ध-वचनका पालन करती हो और रक्षा करती हो अर्थात त्रिपिटकके रूपमे जो भाषा बुद्ध वचनोका पालन और रक्षण करती हो उसे 'पालि' कहते है। किन्तु पालिका अर्थ आज भाषाके रूपमे ही लिया जाता है।

पालि कहाँकी भाषा थी?—सिंहलवाले 'पालि'को मागधी या मगधकी भाषा मानते है। किन्तु सब विद्वान उससे सहमत नहीं है। राइ डैविसका मत है कि 'छठी या सातवीं शताब्दि ई० पू०मे कोशल प्रदेशमें यह भाषा बोली जाती थी। यही भगवान बुद्धकी मातृभाषा थी क्योकि उन्होने कोशलमें ही जन्म लिया था और अपने प्रारम्भिक उपदेश भी इसी प्रदेशमें दिए थे। उनका अधिकाश जीवन भी इसी प्रदेशमे बीता था और भगवान् बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात १०० वर्षके भीतर ही प्रधानतः कोशल प्रदेशमें ही उनके उपदेशोका सग्रह किया गया।'

वेस्टरगार्ड और ई० कूहनका मत है कि 'पालि' उज्जयिनीकी बोली थी क्योकि गिरिनारके अशोकके शिलालेखसे इसका सबसे अधिक साम्य है। कुमारपाल महिन्दने लकामें बौद्ध धर्मका प्रचार किया और वहाँ 'पालि' अर्थात् 'त्रिपिटक' ले जाकर पहुँचाया। यह कुमारपाल उज्जयिनीका था। अत उसने वहाँकी मातृभाषामे ही त्रिपिटक पहुँचाया होगा। आर० ओ० फ्रैकका मत है कि पालि भाषाका उद्गम विन्ध्य प्रदेशमें हुआ। विन्ध्य प्रदेशसे ही लोग लकामें जाकर बसे और वहीं धर्म-प्रचार किया। ई० मूलर और डा० ओल्डनबर्गका मत है कि 'पालि' भाषा कलिगकी भाषा थी। उनका कहना है कि लकाके पडोसी होनेके कारण शताब्दियो-तक कलिगसे ही लकामे धर्मोपदेशका काम होता रहा।

सब विवादोका निष्कर्ष विद्वानोने यही निकाला कि 'पालि मगध देशकी भाषा थी।' गायरने यही माना है कि पालि भाषा मागधीका ही रूप है जिसमे भगवान बुद्धने उपदेश दिए थे। यह भाषा किसी जनपद विशेषकी बोली नहीं थी वरन् सभ्य समाजमे बोली जानेवाली सर्व-सामान्य भाषा थी जिसका विकास बुद्धसे बहुत पहलेसे हो रहा था। यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध देशके नहीं थे किन्तु उनका जीवन कार्य अधिकाश वहीं सम्पादित हुआ। अतः मागधीकी छाप अवश्य उनपर पडी होगी। इसलिये उनकी भाषा मागधी ही कही जा सकती है।

पडित बटुकनाथ शर्माजीने लिखा है—'निःसदेह यह उस समयमे मगधमे उपयुक्त होनेवाली कोई भाषा है। भगवान बुद्ध मागध (?) थे। मगधदेशमे उनका जन्म हुआ यह सर्वत्र विश्रुत ही है। यही उनकी भाषा मागधी थी। परन्तु यह मागधी वह मागधी नहीं है जिसका प्राकृत व्याकरणोमे उल्लेख है क्योकि यह अर्वाचीन है और वह अति प्राचीन। दोनोका भेद बतानेके लिये बुद्ध-प्रयुक्त मागधीको बौद्ध मागधी कहा जाता है। यही बौद्ध मागधी मूल ग्रन्थकी भाषा होनेके कारण बादमे 'पालि' नामसे प्रसिद्ध हो गई।' 'पालि' शब्दका प्रयोग मूल ग्रन्थके अर्थमे कैसे होने लगा, इस सबधमे शर्माजीका अनुमान है कि 'कालक्रमसे बौद्ध-वचन विस्मृति-पथमे आने लगे। तब बौद्ध उन्हे सुरक्षित रखनेकी ओर ध्यान देने लगे और मूल ग्रन्थ तथा उसके अर्थ और उसकी भाषा दोनोको अलग घोषित करनेके लिये 'पालि' शब्दका व्यवहार करने लगे।'

श्रीसुनीतिकुमार चाटुर्ज्याका मत है कि 'बुद्धदेवके समयतक पूर्वीय भाषा वैदिक तथा लौकिक दोनोसे ही भिन्न रूपमे विकसित हो चुकी थी और वह स्वतत्र भाषा समझी जाने लगी थी। जब भगवान् बुद्ध तथा महावीरने अपना दार्शनिक आन्दोलन—वैदिक बलि-प्रदान आदि प्रथाओके प्रतिकूल—छेडा तो उन्होने सस्कृतका आश्रय नहीं लिया। वे एक ऐसी भाषाका आश्रय लेना चाहते थे जिसमे उनके विचार जनसाधारण तक पहुँच सके। अतएव उन्होने आर्य

भाषाके इस पूर्वीय रूपको पकडा जो उस समय पूर्वोत्तरप्रदेश तथा बिहारमे प्रचलित था। भगवान् बुद्ध तथा महावीरने जब अपना उपदेश उस पूर्वीय भाषा (ईस्टन डायलेक्ट) मे दिया था तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त हो चुका था। पालिसे पूर्वकी भाषाके सबधमे यह मत लेवी, ल्यूडर्स आदि विद्वानोका है। इसके बाद पालिका समय आता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओकी तीन अवस्थाएँ है जिनमे पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश आती है। पालिके विपयमे विद्वज्जनोकी यह धारणा है कि यह मगधकी प्राचीन भाषा नहीं है प्रत्युत इसका सबंध यथार्थमे मध्य देशकी भाषासे है। विद्वान् लोग पालिको पश्चिमी हिन्दीकी पूर्वजाके रूपमे मानते है। पहले बुद्ध भगवान्‌के उपदेश पूर्वीय भाषामे ही थे। बादमे वे पालि भाषामे परिणत किए गए। बुद्धके समय तथा मौर्य राजाओके कालमे पाटलिपुत्रमे इस पूर्वीय भाषाकी अधिक उन्नति हुई। इसके बाद पालि भाषाका विकास हुआ और यह विकास पश्चिमी हिन्दीके क्षेत्रमे ही हुआ। ईसवी पाँचवीं शताब्दि-तक पालिका वह स्वछन्द रूप पूर्ववत नहीं रह गया। इसमे कृत्रिमता आने लगी और इसपर सस्कृतका प्रभाव पडने लगा। इस समय यह भारतवर्ष, सिहल, ब्रह्मा तथा स्यामकी कृत्रिम साहित्यिक भाषा हो गइ, साधारण जनतासे इसका सम्पर्क घटने लगा, अतः इसका ह्रास होना स्वाभाविक था।'

लकाके ए० बी० बुद्धदत्त थेराने 'दि न्यू पालि कोर्स'की भूमिकामे लिखा है—'पालि वह भाषा है जिसमे प्राचीनतम बुद्ध-वचन रचे गए थे। इसकी उत्पत्ति प्राचीन मगधमे हुई जहाँ अशोकका राज्य था और जो अनेक शताब्दियोतक बौद्ध-विद्याका केन्द्र रहा। पालि तो साहित्यिक सस्कृतसे प्राचीनतर है।' पालिको सस्कृतसे प्राचीन मानना तो अत्यन्त निराधार अप्रमाणिक और असगत है।

पालि साहित्य—बुद्धने अपने सब उपदेश मौखिक ही दिए थे। एक बार उनके शिष्य आनदने यह भी कहा कि आपके उपदेश सस्कृतमे लिख लिए जायँ। किन्तु बुद्धने 'ब्रह्मण भाषा'मे उन्हे लिखनेकी अनुमति

नहीं दी। यह सभव है कि जैसे गाधीजीके साथ महादेव देसाई उनके सब व्याख्यान या वचन लेख बद्ध करते रहे उसी प्रकार बुद्धके साथ भी कुछ ऐसे लोग रहे हो जो उनके वचन लेखबद्ध करते रहे हो। आनन्दका वचन स्वय इस बातका प्रमाण है कि उनके वचन लेखबद्ध किए जाते रहे होगे अन्यथा वे उन्हे सस्कृतमे अनूदित करनेकी बात ही क्यो छेडते। यह तो निश्चय ही है कि पालि धार्मिक ग्रन्थोका पिटकके रूपमे लेखन बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् ईसाकी प्रथम शताब्दिसे पूर्व ही हुआ क्योकि ईसाकी प्रथम शताब्दिमे लिखे हुए मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) मे उन सब ग्रन्थोका विवरण दिया हुआ है जो उससे पूर्व लिखे जा चुके थे। पालि-ग्रथोका निरतर सशोधन भी होता रहा जिसके लिये तीन महासम्मेलन भारतमे और तीन सिहल (लका)मे हुए। भारतवर्षमे प्रथम सम्मेलन बुद्ध-निर्वाणके पश्चात् अजातशत्रुके समयमे हुआ। दूसरा सम्मेलन कालाशोकके समयमे और तीसरा अशोकके सरक्षणमे। सिहलमे जो सम्मेलन हुए वे अशोकके पुत्र महेन्द्रके सिघल जानेके पश्चात् ईसासे पूर्व हो चुके थे।

विमलाचरण लौने 'पालि साहित्यके इतिहास'मे इन ग्रन्थोका समय विभाजन इस प्रकार किया है—प्रथम काल ४८३से ३८३ ई० पू० तक; द्वितीय काल ३८३से २६५ ई० पू० तक, तृतीय काल २६५से २३० ई० पू० तक, चतुर्थ काल २३० से ८० ई० पू० तक और पचम तथा अंतिम काल ८० से २० ई० पू० तक।

इन बौद्ध ग्रंथोमे तीन पिटक है—१. विनय-पिटक, जिसमे बौद्ध सम्प्रदायमे प्रविष्ट होनेवाले भिक्खुओके व्यवहारके सम्बन्धके नियमोका उल्लेख है, २ सुत्तपिटक, जिसमे भगवान् बुद्धके प्रवचन संग्रह किए गए है और ३. अभिधम्म-पिटक जिनमे भगवान् बुद्धके प्रवचनोकी दार्शनिक व्याख्या की गई है। वास्तवमे इन्हीं ग्रन्थोको पालि कहते है।

इसके पश्चात् इनपर जो अनेक भाष्य लिखे गए वे सब अट्ठकथा (अर्थ-कथा) कहलाते है। बुद्धके जीवन-कालमे उनके साथ जो उनके प्रधान

शिष्य रहते थे उन्होने प्राचीन पद्धतिके अनुसार सब बुद्ध-वचन कंठस्थ कर लिए थे किन्तु बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् यह चिन्ता हुई कि बुद्ध-वचनका सरक्षण कैसे हो। इसीलिये महाकाश्यपने उपालिसे विनय-सबधी और आनदसे धर्म-सबधी जो प्रश्न पूछे और उनके जो उत्तर मिले, उन्हे अन्य भिक्खुओने सुनकर उनका सगायन किया अर्थात् बार-बार उनकी आवृत्ति करके उन्हे कठस्थ कर लिया। इस प्रकार उन भिक्खुओने ठीक उसी प्रकार बुद्ध-वचन कठस्थ कर लिए जैसे भगवान बुद्धके मुँहसे सुने गए थे। जो कुछ उन्होने सगायन किया वह सुत्त और विनयपटिकमे सग्रह किया गया और वही आगे चलकर बौद्धोका प्रधान धर्मग्रन्थ बन गया। इसके अतिरिक्त धम्मपद और जातक-कथाएँ भी पालि साहित्यके अन्तर्गत आती है।

बहुतसे लोगोका मत है कि पालि-भाषा व्यापक बोलचालकी भाषा थी किन्तु यदि ऐसी बात होती तो वह बुद्धके समय उनके दार्शनिक तत्त्वोकी भाषा बननेके साथ-साथ साहित्यकी भाषा भी बन गई होती और उसमें साहित्य भी रचा गया होता किन्तु ऐसी बात हुई नहीं। अतः ठीक यही जान पडता है कि पालिका अर्थ है पालित, पालिअ=पाली हुई अर्थात बुद्ध, धर्म तथा सघ द्वारा पाली हुई भाषा है। जैसे बुद्धने धर्मके सम्बन्धमे मध्यम मार्ग चलाया वैसे ही भाषाके सम्बन्धमे भी उन्होने सस्कृत और देशी भाषाको मिलाकर 'पालि' नामकी अपनी एक मध्यम भाषा वैसे ही गढ ली जैसे सोलहवीं शताब्दीमे कबीर, नानक आदिने एक सधुक्कड़ी भाषा गढ ली थी और गाँधीजीने 'हिन्दुस्तानी' भाषा गढनेकी बात छेडी थी। पीछे चलकर लोगोने अर्थ-कथाओ या भाष्योसे मूल बुद्ध वचनको अलग करनेके लिये बुद्ध-द्वारा 'पालित'के अर्थमे बुद्ध-वचनको 'पालि' कहकर मान लिया। मागधी या कोशलकी भाषा यो भी पालि नहीं बन सकती थी क्योकि शास्त्रीय तथा दार्शनिक शब्दावलीके लिये तो सस्कृतका आश्रय लेना अनिवार्य था अतः 'पालि' निश्चय ही सस्कृत और देशी-भाषा (मागधी या कोशली) का रलगड्डम करके गढी हुई बनावटी भाषा थी इसीलिये वह नहीं पनप पाई।

'पालि'का स्वरूप—पालिमें—

क ऋ ऌ ऐ और औ ध्वनियाँ नही है ।

ख. 'ऐ' और 'औ' के बदले क्रमशः 'ए' और 'ओ' हो गया है ।

ग. सयुक्त व्यजन द्वित्व होगए, जैसे—'कर्म'का 'कम्म', 'सूत्र'का 'सुत्त' ।

घ. विसर्ग और अन्तिम व्यजन (न्) आदि लुप्त हो गए ।

ङ जिन शब्दोमे र ध्वनि आती थी उनमे आनेवाले तवर्ग सब टवर्ग हो गए, जैसे—'प्रथम'का 'पठम' ।

च. य के बदले ज और व के बदले ब हो गया ।

छ. 'स श ष' के बदले 'स' रह गया ।

ज. सगीतात्मक स्वराघातके बदले बलात्मक स्वराघात आने लगा ।

झ. शब्दोके अर्थ बदलने लगे ।

ञ. द्विवचन समाप्त हो गया । केवल एक वचन और बहुवचन रह गए ।

ट. संज्ञाएँ अकारान्त होने लगीं ।

ठ. काल, कारक और वाच्यके रूप बहुत कम हो गए ।

ड. क्रियार्थक सज्ञाका प्रयोग बढ़ने लगा ।

द्वितीय काल (१ ई० पू० से ५०० ई०)

विद्वानोका मत है कि मध्य कालके इस दूसरे भागमे प्राकृतने साहित्यिक रूप धारण कर लिया । अलग-अलग प्रदेशोकी प्राकृतोमे साहित्य रचा जाने लगा और वह इस सीमातक पहुँच गया कि सस्कृत नाटकोमे इन प्राकृतोका प्रयोग होने लगा, विशेषतः स्त्रियो तथा निम्न कोटिके पात्रोके द्वारा प्राकृतका प्रयोग कराया जाने लगा । इसके अतिरिक्त सस्कृत भी वैदिक सस्कृतसे ढलकर व्याकरण-बद्ध सस्कृतके रूपमे द्वितीय कालमे प्राकृतोसे मिलकर गाथाके रूपमे ढल गई ।

यह विचार भी सर्वथा भ्रामक है क्योकि गाथा लिखनेवाले तो

गिने-चुने व्यक्ति हुए हैं जिन्होने उसी प्रकार प्राकृतके कुछ छन्दोमे अपने कलम मॉजे हैं जैसे आजकल कुछ संस्कृतके लेखक संस्कृतमे नई शैलीके प्रगीत और गज़ले लिख रहे हैं। इसे एकागी या छिटफुट प्रयास कहना चाहिए क्योकि यह प्रयास बहुत दिनोतक न चल पाया और स्वय अपनी समाधि बनाकर बैठ गया। रही नाटकोमे प्राकृतके प्रयोगकी बात, उस सम्बन्धमे हम ऊपर बता आए हैं कि नाटककी प्राकृत भाषा कृत्रिम है। किस देशके लोग सस्कृतको कैसा बिगाडकर बोलते थे वही उस देशकी प्राकृत थी जो देशी भाषासे भिन्न थी।

विद्वानोने इस द्वितीय कालमे प्राकृतके निम्नलिखित रूप माने है—

१. पैशाची, २. खोतानी, ३ केकय, ४ खश, ५ पालि (मागधीसे प्रभावित प्राकृत), ६. शौरसेनी, ७ अर्द्धमागधी, ८. मागधी और ९. महाराष्ट्री। दरद, पामीर और पश्चिमोत्तर पजाबकी प्राकृत पैशाची थी। इस प्राकृतमे स्वरके बीचमे आनेवाले स्पर्शघोष सभी अघोष हो गए, जैसे—गगनका गकन, राजाका राचा।

गाधार, पजाब और सीमाप्रान्तमे तीन प्राकृतोका विकास हुआ—१. खोतानी, जो खोतानके शिलालेखोमे मिलती है, पर यह आगे नहीं बढ पाई, वहीं समाप्त हो गई। २. विहिन नामकी प्राकृत सिन्धमे बोली जाती थी जिससे ब्राचडका जन्म हुआ। ३. पश्चिमी पजाबमे केकय प्राकृत थी जिसकी शाखाएँ टक्क और मध्य प्राकृतें थीं।

खश प्राकृतका प्रयोग नेपाल, गढवाल आदि पहाडोमे होता था, जिसपर पैशाचीका भी बहुत प्रभाव था। मागधीसे प्रभावित पालि भाषाकी भी लोगोने कल्पना की है किन्तु ऐसी कोई भाषा नहीं थी। अशोकके गिरनार शिला-लेखोसे उत्पन्न हुई कई प्राकृतें थीं जिनपर शौरसेनीका भी प्रभाव था। इनमे आभीरोकी आभीरी, मालवाकी अवन्ती, आनर्त्त या सौराष्ट्रकी सौराष्ट्री, लाट (गुजरात)की लाटी आदि थीं जिन्हे मिलाकर 'नागर' कहा जा सकता है।

कुरु, पाचाल, पूर्वी पजाब और गगा-यमुनाके कॉठेमे शौरसेनी प्राकृत चलती थी और इसीमे सबसे अधिक प्राचीन सामग्री प्राप्त होती

है। इसका प्रयोग नाटकोमे भी बहुत मिलता है। इसकी विशेषता यह थी कि सस्कृतके त् और थ् जब स्वरोके बीच होते थे तब क्रमशः द् ध् हो जाते थे। शौरसेनी और मागधीके बीच अर्द्धमागधीका क्षेत्र था जिसका प्रयोग जैन ग्रन्थोमे अधिक हुआ है। यही वास्तवमे अशोकके शिला-लेखोकी मूल भाषा है, जिसमे कही कहीं **र** का **ल** हो गया है। (आरभित्वाके बदले आलभित्वा) और **श** तथा **ष** के बदले **स** हो गया है।

मगधकी भाषा मागधी थी जिसमे **स** **ष** के बदले **श** और **र** के बदले **ल** आता है। यहाँतक कि 'राजा' भी 'लाआ' हो गया है। यद्यपि इसका कोई अलग साहित्य नहीं है किन्तु नाटकोमे इसका प्रयोग मिलता है। शकारी, धक्की, चाडाली और शाबरी भी प्राकृते मानी जाती है।

महाराष्ट्रकी प्राकृत महाराष्ट्री थी जिसमे दो स्वरोके बीच आनेवाले अल्पप्राण लुप्त हो जाते थे और महाप्राणका ह् हो जाता था। बहुतसे विद्वान् महाराष्ट्रीको भी शौरसेनकी शाखा मानते हैं। जिन आचार्योंने प्राकृतका व्याकरण लिखा है उन्होने सब प्राकृतोकी चर्चा करके अन्तमे लिखा है—'शेष माहाराष्ट्रीवत्'। अतः महाराष्ट्र शब्द उस व्यापक और विस्तृत प्रदेशके लिये प्रयुक्त हुआ है जिसमे सब देशोमे प्रयुक्त होनेवाले प्राकृतोका समन्वित रूप था, केवल कहीं-कहीं कुछ थोडा-सा विभेद था। इसीलिये महाराष्ट्रीको प्रधान मानकर शेषके विशेष लक्षण अलग करके कह दिए गए।

इस कालकी भाषाकी विशेषताएँ ये थीं—

क दो स्वरोके बीच आनेवाले बहुतसे व्यञ्जन समाप्त हो गए। 'कोकिल'का 'कोइल', 'शकट'का 'शअढ'।

ख बीचमे आनेवाले महाप्राण केवल 'ह' रह गए जैसे 'पृथ्वी'का 'पुहवी'।

ग. बीचमे आनेवाले 'श' भी 'ह' हो गए जैसे 'केशरी'का 'केहरी'।

घ. ओष्ठ्य स्पर्श अधिकाश 'म्' हो गए जैसे—'नीप'का 'नीम' 'आपीड'का 'आमेल।'

ङ ड का **ल** या **र** हो गया जैसे 'गरुड'का 'गरुल'।

च. क्रिया रूपोंमे इतनी कमी हो गई कि सहायक शब्दोंकी आवश्यकता पड़ने लगी अतः भाषा मिलन्त (संयोगात्मक) से अलगन्त (वियोगात्मक) होने लगी किन्तु हिन्दीकी भाँति पूर्ण वियोगात्मक नहीं हुई।

छ. वाक्यमें शब्दोंका स्थान निश्चित हो गया।

ज शब्दोंमे अर्थ-परिवर्त्तन हो गया।

झ भाषा पहलेकी अपेक्षा सरल हो गई।

तृतीय काल (५०० ई० से १००० ई० तक)

तृतीय कालमें लोग अपभ्रंशका अस्तित्व मानते हैं और कहते हैं कि प्राकृतोंमें भी विकार आने लगा जिसे भाषा वैज्ञानिक लोग 'विकार' कहनेके बदले 'विकास' मानते है। उनका कहना है कि सब प्राकृते व्याकरणसे बँध गईं। किन्तु जनताकी बोलीमे तो विकास हो ही रहा था अतः जो रूप बँध गए वे प्राकृत नामसे रह गए और शेष विकसित रूप अपभ्रंश कहलाने लगे।

अपभ्रंशके साहित्यिक रूप कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटकसे लेकर नाथ-सम्प्रदायके ग्रन्थोंमे और विद्यापति आदि कुछ हिन्दीके कवियोंकी रचनाओंमें 'अवहट्ठ' रूपसे मिलते है। 'प्राकृतसर्वस्व'के लेखक मार्कण्डेयने अपभ्रंशके तीन भाग किए है—नागर, उपनागर और व्राचड। इनमेंसे नागर तो गुजरातके नागर ब्राह्मणोंके प्रदेशकी भाषा थी जिसे हेमचन्द्रने शौरसेनी प्राकृतसे निकला हुआ बताया है। व्राचड अपभ्रंश सिन्धमे प्रचलित थी।

उपनागर अपभ्रंश इन दोनों क्षेत्रोंके बीचमें अर्थात सौराष्ट्रमें प्रचलित थी। कुछ लोगोंने माना है कि प्राकृतसे ही अपभ्रंश निकल आई। अतः पैशाचीसे पैशाची और व्राचड, केकयसे केकय, खशसे खश, सिंहलसे सिंहली या एलू, सौराष्ट्रीसे सौराष्ट्री या नागर, शौरसेनीसे शौरसेनी, अर्द्धमागधीसे अर्द्धमागधी, मागधीसे मागधी और माहाराष्ट्रीसे माहाराष्ट्री अपभ्रंश निकली। साहित्यमें शौरसेनी अपभ्रंश-का ही प्रयोग मिलता है।

अपभ्रंशकी विशेषताएँ—

क. अकारान्त शब्द उकारान्त बन गए जैसे—'भ्रमर'का 'भमरु'।

ख दो स्वरोंके बीचका म् भी वँ हो गया जैसे—'कमल'का 'कवँलु'।

ग अनुनासिक व्यजनके साथ साथ अनुनासिक स्वर भी हो गए जैसे—पुत्तें जाएँ।

घ काल और कारकके कारण बननेवाली क्रिया और सज्ञाके रूप कम हो गए इसलिये अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बहुत-सी सहायक क्रियाएँ तथा परसर्ग काममें आने लगे, इसलिये भाषा अलगन्त होती चली गई।

ङ ध्वन्यात्मक शब्दका प्रयोग होने लगा, जैसे—'घडघड, भडभड।'

च कवितामे तुककी प्रचुरता होने लगी।

छ सगीतात्मक स्वराघातके बदले बलात्मक स्वराघात आ गया।

ज सस्कृतसे लिए हुए शब्दोंके तत्समके अर्द्ध-तत्सम और तद्भव रूप भी प्रयुक्त होने लगे। आर्येतर भाषाओंसे भी शब्द लिए जाने लगे। शब्दोंके अर्थोमे बहुत परिवर्तन होने लगा।

अपभ्रंश

अपभ्रशके सम्बन्धमे लोगोकी यह धारणा अत्यन्त निर्मूल है कि वर्त्तमान हिंदी (नागरी या खडी बोली) अथवा अवधी और ब्रजका उद्भव अपभ्रशसे हुआ है। अपभ्रश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पतजलिके महाभाष्यमे, ईसासे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुआ है। भाष्यमे लिखा है—

अल्पीयास' शब्दा. भूयांसोऽपशब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा। तद्यथा एकस्य गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यैवादयो शब्दाः।

[मूल शब्द तो थोडेसे होते हैं किन्तु अपशब्द बहुत होते है। यहाँतक कि एक ही शब्दके बहुतसे बिगड़े हुए रूप (अपभ्रश) होते है जैसे एक ही 'गो' शब्दके 'गावी गोणी, गोता, गोपोतलिका' इत्यादि अपभ्रश शब्द मिलते है।] उन्होने छन्दस् अर्थात् वेद और भाषा अर्थात् सस्कृतके शब्दोको ही साधु शब्द और शेषको अपशब्द माना है। अतः पाणिनिकी

दृष्टिसे अपभ्रंश शब्द वे हैं जो लौकिक और वैदिक शब्दोंसे भिन्न हैं। अर्थात् संस्कृतके शब्दोंको बिगाड़कर, बढ़ाकर, हेरफेर करके जो रूप बनाए गए हैं वे ही अपभ्रंश हैं। कुछ लोगोंका मत है कि 'अपभ्रंशका अर्थ 'बिगड़ा हुआ' या 'विभ्रष्ट' नहीं है क्योंकि 'गावी' शब्द तो 'गो'के विकारसे बन भी सकता है पर 'गोपोतलिका' तो किसी प्रकार भी नहीं बन सकता किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि 'गो'में पोतलिका शब्द लाडमें प्रयुक्त हुआ है जैसे अपने कुत्ते 'मोती'को लोग प्यारसे 'मोतिया' 'सोनमोतिया' और 'मोतीलाल' भी कहते हैं। शब्दागम भी तो विकारमें आ ही जाता है। एक कृष्ण शब्दको लीजिए। उसके रूप मिलते हैं—'कान्ह, कन्ह, कान्हा, कन्हैया, कान्धा, कान्हरो 'कन्हैयालाल' आदि। किन्तु ये सबके सब कृष्णके अपभ्रंश ही हैं।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें तत्सम, तद्भव और देशी तीन प्रकारके शब्दोंका अस्तित्व स्वीकार करते हुए संस्कृतके बिगड़े हुए रूपको ही प्राकृत माना है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—

> **एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।**
> **विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥**

यह प्राकृत पाठ्य भी भरतने तीन प्रकारका बनाया है—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशी और कहा है कि 'कमला, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल' आदि शब्द तो समान शब्द या तत्सम शब्द हैं जो प्राकृतमें पहुँचकर भी अपना संस्कृत रूप बनाए रखते हैं। विभ्रष्ट शब्द वे हैं जो उच्चारण दोषसे बिगड़कर विरूप हो जाते हैं जैसे—'ग्रीष्म'का 'गिम्हो', 'कृष्ण'का 'कण्हो', 'पर्यङ्क'का 'पल्लक' आदि। अब आपकी समझमें आ गया होगा कि विभ्रष्ट और देशी भी प्राकृत ही है।

देशी भाषाके संबंधमें भरतने कहा है कि प्रयोगके अनुसार भाषाएँ चार प्रकारकी होती हैं—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा तथा जात्यंतरी भाषा। देवताओंकी भाषाको अतिभाषा और राजाओंकी भाषाको आर्य भाषा कहते हैं। जाति-भाषा भी दो प्रकारकी होती है—एक तो वह

जिसमें म्लेच्छ शब्दोंका प्रयोग होता था और दूसरी वह जो भारतवर्षमें बोली जाती थी। जात्यंतरी भाषा वह थी जो गाँव या जंगलके पशुओंका अनुकरण करके या अनेक पक्षियोंकी बोलीसे मिलती-जुलती होती थी। इसका अर्थ यह है कि भरतके समयमें भी भाषा बोलनेकी प्रकृति यह थी कि शिष्ट लोग संस्कृतका प्रयोग करते थे, सामान्य लोग प्राकृतका अर्थात संस्कृतको ही उलटपुलटकर या विभ्रष्ट अर्थात बिगाड़कर बोलते थे या अपनी देशी भाषाएँ बोलते थे और ये सब प्राकृतके अन्तर्गत ही थीं। इसके अतिरिक्त अलग-अलग प्रदेशोंमें अलग-अलग देशी भाषाएँ बोली जाती थीं। इस प्रकार देश-भेदसे उन्होंने सात भाषाएँ गिनाई हैं—मागधी, आवन्ती, प्राच्या सूरसेनी, अर्द्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या। शबर, आभीर और द्रविड भाषाओंकी गणना उन्होंने देशीमें की है क्योंकि उनका उच्चारण भ्रष्ट होता है। उन्होंने विभ्रष्टको ही विभाषा बताया है।

भरतने आभीरोंकी भाषाको उकार-बहुला बताया है और उसके उदाहरणमें 'मोरिल्लउ नच्चन्तउ' और इसी आधारपर हमारे बहुतसे मित्र यह समझ बैठे हैं कि केवल अपभ्रंशकी ही प्रकृति उकार-बहुला है इसलिये निश्चय ही आभीर भाषा ही अपभ्रंश है। यदि और भी आगेका साहित्य देखा जाय तो प्रतीत होगा कि अपभ्रंश शब्द संस्कृतके 'बिगड़े हुए' शब्दोंके रूपमें प्राप्त होते हैं।

वलभीके राजा हरिषेणके शिलालेखमें एक वाक्य आता है—

'संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश-भाषात्रय-प्रतिबद्ध-प्रबंधरचना-निपुणान्तःकरण।'

अर्थात् वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओंमें प्रबंध रचना करनेमें निपुण थे। किन्तु छठी सदीके इस लेखसे बहुत पहले भासने भी अपने नाटकोंमें प्राकृतोंका प्रयोग किया और कालिदासने भी अपने नाटकोंमें प्राकृत और अपभ्रंशका खुलकर प्रयोग किया। स्वयं भरतने ही यह प्रमाणित कर दिया है कि नाटकोंमें अमुक अमुक प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग किया जाना चाहिए। भामहने काव्यके गद्य और पद्य भेद बताकर भाषाकी दृष्टिसे उनका भेद बताते हुए कहा है कि—

'काव्य तीन प्रकारकी भाषाओमे लिखे जा सकते है—सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश।' दडीने अपने काव्यादर्शमे लिखा है—

आभीरादिगिर. काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता ।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रश प्रयोजितम् ॥

उन्होने काव्यमे आभीर आदि जातियोकी भाषा अपभ्रश बताई है अर्थात् केवल आभीरोकी ही नहीं वरन् आभीरोके समान अन्य असस्कृत जातियोकी भाषाको भी अपभ्रश कहा है। किन्तु दडीको सभवतः अपभ्रशोका कोई ज्ञान नहीं था अन्यथा वे अपभ्रशके सम्बन्धमे इतनी अप्रामाणिक और चलती-सी बात न कह देते कि 'शास्त्रमे सस्कृतके अतिरिक्त सभी अपभ्रश है।' इस दृष्टिसे उन्होने प्राकृतको भी अपभ्रश ही माना है। अतः उनका विवरण कोई प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

नवीं शताब्दिमे अपने काव्यालकारमे रुद्रटने छह प्रकारकी भाषाएँ मानी है—'प्राकृत, सस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अलग-अलग देशोकी अपभ्रश।' अर्थात् सस्कृतके साथ-साथ प्राकृते भी चल रही थी किन्तु विभिन्न देशामे असस्कृत लोग उन्हे बिगाड-बिगाड़कर अपभ्रश बोल रहे थे।

ग्यारहवीं शताब्दिमे काव्यालकारकी टीका करते हुए नमिसाधुने प्राकृतका अर्थ लोकभाषा अर्थात् साधारण जानपदीय भाषा बताया है।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सब साथ-साथ चलती थीं

इस शास्त्रार्थका परिणाम यह निकला कि भाषाके ये सब रूप एक साथ चलते थे। अत्यन्त पढे-लिखे विद्वान्, शिष्ट पडित लोग सस्कृतका प्रयोग करते थे, साधारण जनता जब सस्कृत बोलनेवालोका अनुकरण करनेके प्रयत्नमे बिगाडकर सस्कृत बोलती थी वह प्राकृत थी, गॉव जगलके लोग उसीको और भी बिगाडकर अपभ्रश कर देते थे और इस प्रकार सब कालोमे भाषाके ये तीनो रूप विद्यमान रहे। आज भी ॲगरेजी पढा-लिखा व्यक्ति 'प्लैटफौर्म' कहता है, स्टेशनोपर काम

करनेवाले अनपढ लोग 'पलेटफारम' कहते है और गाँवके लोग उसे लेटफारम कहते है। यह अपभ्रशकी प्रवृत्ति इस श्रेणीतक पहुँच जाती है कि काशीमे मुकदमा लडनेवाले देहाती लोग 'इजलास'को 'गिलास' कहते है।

इस प्रकार जिस युगमे कोई नया शब्द शिष्ट लोग चलाते हैं तत्काल उसका प्राकृत और अपभ्रश रूप उसी समय चलने लगता है। अतः यह भूल धारणा ही अशुद्ध है कि पहले वैदिक सस्कृत रही और सब लोग शुद्ध रूपसे वैदिक सस्कृत ही बोलते रहे। यदि ऐसी बात होती तो शिक्षाकी आवश्यकता ही न पडती और यह कभी न कहा जाता—

दुष्ट शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु' स्वरतोऽपराधात्।

और महाभाष्यकारको भी यह न लिखना पडता कि—

'उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खडिकोऽपाध्याय तस्मै चपेटा ददाति।'

[जो उदात्तके बदले अनुदात्त उच्चारण करता है उसे पाधाजी एक चाँटा जड देते हैं।]

भाषाके विकासमे इतिहासका हाथ

वैज्ञानिकोका मत है कि प्राचीनतम मनुष्यका जन्म डेढ़ करोड वर्ष पहले हुआ किन्तु वर्तमान रूपवाला मनुष्य साढे बारह लाख वर्ष पूर्व अन्य जीवोसे पृथक् मनुष्य रूपमे व्यक्त हुआ। उसके पश्चात् अनेक प्रकारकी मानव-जातियाँ—भूमध्यसागरके उत्तरमे नियेन्डर्थल और अरिग्नेशी, उत्तर अफ्रीका या दक्षिण एशियामे क्रोमेग्नन और ग्रिमाल्डी और उसके पश्चात दक्षिणी स्पेनमे ऐजीलियन और पश्चिमी योरपमे मन्दग्लिनियन मनुष्य-जातियाँ प्रकट हुई जो पाषाण युग और नवपाषाण युगकी मानव जातियाँ मानी जाती है। उसके पश्चात् ७०००से ६००० वर्ष ई० पू०मे मनुष्य धातुका प्रयोग करने लगा। फ्लिन्डर्स पेत्रीने नील नदीके कछारमे मिस्री सभ्यताका प्रारम्भ १०००० ई० पू० से माना है। लोकमान्य टिळकका मत है कि जिस समय योरप

तथा अन्य भूभागोमे वन्य मानव जातियाँ रहती थीं उस समय १८ सहस्र वर्ष पूर्व वेदकी रचना होने लगी थी। मोहनजो दडो और हरप्पामे जो खुदाइयाँ हुई है उनसे ज्ञात होता है कि ईसासे ६००० वर्ष पूर्व भारतसे मिस्र-तकके देश (मिस्र, असूरिया, बाबुल, ईरान और आर्यावर्त्त) परस्पर एक दूसरेसे बहुत सम्बद्ध हो चुके थे। जब छह सहस्र वर्ष पूर्व ऐसे समृद्ध नगरोका विवरण मिलता है तब यह निश्चय है कि ये जातियाँ कई सहस्र वर्ष पूर्वसे पर्याप्त विकास कर चुकी होगी क्योकि सप्तसिधुमे मोहनजो दडो और हरप्पा, सुमेरियामे निपर नगर मिस्रके फराओकी राजधानी मेम्फिस और असूरियामे असुर नगर और असुर देवताकी प्रतिष्ठा लगभग एक समय अर्थात ६००० से ४००० ई० पू० तक हो चुकी थी। भारतके उत्तरमे प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक यो-किङ् ताओके मूल ग्रन्थकी रचना ३४६८ ई० पू० से हो चुकी थी अर्थात ईसासे चार सहस्र वर्ष पूर्व चीनमे भी पर्याप्त सास्कृतिक जागर्ति हो चुकी थी और उधर उत्तर भारतमे गान्धारसे हस्तिनापुर तथा काशी तक प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे जिनमेसे शान्तनु, भीष्म, विचित्रवीर्य तथा महाभारतके सम्पूर्ण राजाओका पूरा विवरण विस्तारसे मिलता है। कलियुगके आगम अर्थात् ३१०२ ई० पूर्व से उत्तर भारतके विभिन्न क्षेत्रोमे अनेक प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे। इसके पश्चात्का भारतका इतिहास भाषा-वैज्ञानिकोको विशेष रूपसे ध्यानमे रखना चाहिए। महाभारतके पश्चात् जब भगवान् कृष्णका निर्वाण हुआ तब उनकी पत्नियोको लेकर जब अर्जुन आ रहे थे तो बीचमे आभीरोने घेरकर कृष्णकी पत्नियाँ उनसे छीन लीं। अर्थात् ३००० वर्ष ई० पू०मे वर्त्तमान राजस्थानमे दस्युओके रूपमे आभीर विद्यमान थे। उसी समय मिस्रमे पिरैमिड बन रहे थे और सारगोन प्रथमने आकर सुमेरी साम्राज्यका अन्त कर दिया अर्थात् मिस्रके लोग सुमेरिया (ईरानकी सीमा) तक पहुँच गए थे। इसके पश्चात् हम्मूरबीने बाबुल (बैबिलोनियाँ) जीत लिया (२१०० ई० पू०)। फिर अरबोने मिस्रको जीत लिया (१५८० ई० पू०)। इसके पश्चात् १४३५ ई० पू० मे

पश्चिमी एशिया तक भारतके आर्योंका राज्य रहा। १४०० से १२०० ई० पूर्व तक यहूदी फिलस्तीनमे पहुँचे। १३७५ ई० पू० मे भितन्नी अर्थात् पश्चिम एशियामे आर्य देवताओकी पूजा होने लगी थी, मिस्रमे सूर्य-का मन्दिर बन गया था। १००० ई० पू० मे यूनानी लोग एशिया कोचक तक फैल गए थे। ७७० ई० पू० मे यूनानके साथ भारतका व्यापार होने लगा। ७२२ ई० पू० मे असूरियोने इसराइल जीता और ६७० मे मिस्र जीत लिया। ६१२ ई० पूर्व मे खल्दियोने असूरी साम्राज्य उखाड फेका। ६०० ई० पूर्वमे ईरानियोने मिस्र जीत लिया। ५८६ ई० पू० मे बाबुलके राजा नबूशदनजरने यरूसलम ध्वस्त किया और सहस्रो यहूदी नागरिकोको वन्दी बनाकर बाबुल ले गया। ५३९ ई० पू० मे कुरुने खल्दी साम्राज्य नष्ट करके ईरानी राज्य स्थापित किया। ५२५ ई० पू० मे ईरानियोने मिस्रपर अधिकार जमाकर ५२२ ई० पू० मे भारतीय सीमा तक क्षत्रपत्व स्थापित कर लिया। इसके पश्चात् सिकन्दरका आक्रमण हुआ और फिर चन्द्रगुप्तसे हारकर सेल्यूकसने भारतकी पश्चिमी सीमाके पश्चिमी प्रदेश चन्द्रगुप्तको दे दिए और अपनी कन्याका विवाह भी चन्द्रगुप्तसे कर दिया। इसके पश्चात शक, सीथिआई, हूण, अरब, तुर्क मगोल निरन्तर भारतपर आक्रमण करने आते रहे और यहाँ बस जाते रहे। तात्पर्य यह है कि भारतकी सीमासे छेडछाड पहली बार ईरानी राजा कुरुने ५२२ ई० पू० मे की। इसके पूर्व उत्तर भारतमे सस्कृतका बालबाला था।

भाषाविज्ञानके पण्डित यदि इन घटनाओपर दृष्टिपतात करेगे तो उन्हे प्रतीत होगा कि मिस्रसे लेकर ईरान तकका प्रदेश निरन्तर परस्पर मिस्री, यूनानी, असूरी, बाबुली, सुमेरी, ईरानी, अरबी, हूण और शक जातियाके परस्पर सहार, उथल-पुथल, आदान-प्रदानसे बने है। अत जिस समय पडित और राजा लोग सस्कृतका पोषण कर रहे थे उस समय राजनीतिक महत्त्वाकाक्षी राजा और व्यापारी एक दूसरे देशसे सम्पर्क स्थापित करके स्वतत्र रूपसे इधरसे उधर आ-जा रहे थे और जो इन युद्धोमे विजयी होता था वह विजित देशके सैनिको और

नागरिकोको वन्दी बनाकर अपने देशमे ले जाता था। अतः यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि पहले सस्कृत हुई, फिर प्राकृत हुई, फिर अपभ्रश। सस्कृतके साथ-साथ पास-पडोसके प्रदेशोकी न जाने कितनी प्रकारकी भाषाओका मेल यहाँकी भाषाओमे होता रहा, हुआ और उन विभिन्न जातियोके यहाँ आ बसनेके कारण पजाब, राजस्थान, सिन्ध और सोराष्ट्रके विभिन्न प्रदेशोकी भाषाएँ बहुत रूपोमे वैसेही ढल चलीं। पाकिस्तान बननेके कारण सिन्धके जो लोग भारतमे आए हैं यहाँ रहकर अपना सस्कार भी बनाए हुए है और साथ ही यहाँकी भाषाका भी प्रयोग करते है। वैसे ही मिस्र और भारतके बीचकी अनेक प्रतापी और समृद्ध जातियोके परस्पर सघषसे जो भगदड मची उनमेसे कुछने (यहूदियो और पारसियोने) भारतमे ही आश्रय लिया। ऐसी परिस्थितिमे भाषाका निर्माण शान्तिपूर्वक नही हुआ। जो जातियाँ आती गईं वे अपने उच्चारण-क्रमके अनुसार सस्कृतका उच्चारण करती रहीं और वे जहाँ जहाँ आकर बसीं वहाँ वहाँ उनकी अपनी प्राकृत बनीं और विभिन्न प्रदेशोमे बसनेके कारणही उनके द्वारा उच्चरित भाषा ही उस देशकी अपभ्रश बन गई अर्थात् उन प्रदेशोमे जो वहाँके प्राकृत लोग (स्वाभाविक देशवासी) जिस भाषाका प्रयोग करते थे उसीको बिगाडकर ये नए आगन्तुक जो बोलने लगे वही अपभ्रश बन गई। जैसे सस्कृतका 'कुतः' लोकभाषामे 'किधर' हुआ, किन्तु अगरेज़ इसे और भी बिगाडकर 'किडर' कहता है। यही अपभ्रश है। अतः यही निष्कर्ष निकला कि जिस समय सस्कृतका बोलबाला था उस समय भी दुष्ट शब्दोका प्रयोग करनेवाले विद्यमान थे और वे प्राकृत बोलते थे और उसमे भी जो बाहरसे लोग आकर अपनी नई ध्वनिप्रणालीके अनुसार उच्चारण करते थे वह अपभ्रश हो गया। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि राजशेखरने अपभ्रशका जो क्षेत्र बताया है वह वही है जहाँ उत्तर-पश्चिमके मार्गोंसे ईरानी, यूनानी, शाक, सिथियाई, हूण और अरब लोग आकर बसते रहे। उसने कहा है—

सापभ्रशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।'

अर्थात् सारा मरुस्थल, (राजस्थान) टक्क, पूर्वी पजाबसे (आनवानक पहाड या मालवा तक) सबमे अपभ्रंश बोला जाता था।

अपभ्रंश तथा अवहट्टका सम्बन्ध—विद्यापतिने अपनी 'कीर्तिलता'के प्रारम्भमे कहा है—

> **सक्कयवाणी बहुय न भावइ**
> **पाउअ रसको मम्म न जानइ**
> **देसिल वअना सब जन मिट्ठा**
> **ते तैसन जम्पेओ अवहट्टा ॥**

[सस्कृत वाणी बहुत लोगाको अच्छी नहीं लगती और प्राकृतका मर्म बहुतसे लोग जानते नहीं। किन्तु देशी बोली सबको मीठी लगती है इसलिये मैने यह अवहट्ट कहा है।]

राजशेखरने भी कर्पूरमजरीकी भूमिकामे कहा है—

> **परुसा सक्कअबन्धा पाउअ बन्धोवि होइ सुउमारो।**
> **पुरुस महिलाण जेत्तिअ तेत्तिअ मिमन्तरमिमाण ॥**

[सस्कृतकी कविता कठोर होती है और प्राकृतकी कोमल। दोनोमे वही अन्तर है जो पुरुष और स्त्रीमे होता है।] किन्तु प्रश्न यह है कि—विद्यापतिने जब 'देसिल बअना' कह ही दिया है तब उन्हे यह कौन कहनेकी आवश्यकता पडी कि मै अवहट्ट कह रहा हूँ। अतः अवहट्ट भाषा है या शैली है या केवल किसी विशेष प्रकारकी रचनाका नाम है, जैसे रासो एक प्रकार है या भोजपुरमे विदेसिया एक प्रकार है। क्या वैसे ही अवहट्ट तो नहीं है? कीर्तिलतामे वर्णनात्मक इतिवृत्त है अतः अवहट्टका अर्थ क्या कोई चलती कथा तो नहीं है? यह अवहट्ट अवसथ अर्थात् गाव या घरका भी अपभ्रश हो सकता है अर्थात् घरेलू या गाँवकी बात।

अपभ्रंशके विषय

यदि हम अपभ्रशके विपयोका विश्लेषण करें तब भी ज्ञात होगा कि उनमे जो ऐतिहासिक अश प्राप्त होते है वे सबके सब कच्छ, गुजरात

और मारवाडके पश्चिमी प्रदेशके ही है। प्रबध-चिन्तामणिमे उदाहरण दिया गया है—

> **ऊग्या ताविउ जहि न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट।**
> **गणिया लब्भइ दीहड़ा, के दहक अहवा अट्ठ॥**

[जिस उदित अर्थात (प्रसिद्धि-प्राप्त) वीरसे (शत्रु लोग तापित नहीं किए गए) अर्थात् जिस वीरने शक्ति पाकर भी अपने शत्रुओको आक्रान्त नहीं किया तो कुशल लक्खा कहता है कि उसे कुल गिनतीके दस या आठ दिन मिलते है।]

इस दोहेमे कच्छके प्रसिद्ध राजा लक्खाका वक्तव्य दिया हुआ है जो जो मूलराजके हाथसे ६८० ई० मे मारा गया था। दूसरा उदाहरण लीजिए—

> **मुज षडल्ला दोरडी, पेक्खेसि न गम्मारि।**
> **आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि॥**

[हे मुज गँवार। यह जो प्रेमकी डोरी ढीली हो गई है इसे अभी नहीं समझ रहे हो किन्तु आषाढ आनेपर जब बादल गरजने लगेगे और चारो ओर फिसलन हो जायगी तब (इस समय देखता हूँ तुम कैसे अपनेको रोक पाओगे ?) अर्थात यह जो प्रेमकी डोरीका ढीलापन आज दिखाई पडता है वह बरसातमे नहीं रहेगा।]

> **मुज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयुँ न झूरि।**
> **जइ सक्कर सय खंड थिय, तो इस मीठी चूरि॥**

[मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! तुम अपने इस बीते हुए यौवनके लिये चिन्ता न करो क्योकि शक्कर चाहे जितनी चूर-चूर हो जाय, फिर भी उसकी मिठास नहीं जाती।]

> **झाली तुट्टी कि न मुउ, कि न हुयउ छारपुज।**
> **हिडइ दोरी बधीयउ, जिम मकड तिम मुज॥**

[मै जलकर टुकड़े-टुकडे होकर क्यो नहीं मर गया ? क्यो नहीं राखका ढेर हो गया कि आज मेरे होते हुए मुज इस प्रकार बन्दरके समान डोरीमे बँधा हुआ घूम रहा है।]

इस प्रकार उसमे अधिकाश उदाहरण मुंज-मृणालवतीके संबधके ही है जिनका सम्बन्ध गुजरातमें ही है। इसके अतिरिक्त उसमे रुद्रादित्य, भोज, सिद्धराज, जयसिंह, वर्द्धमानपुर (बढवाण), गिरनार आदिकी चर्चा है जिन सबका सम्बन्ध राजस्थानके दक्षिणी भाग, मालवा और गुजरातसे ही है। सोमप्रभसूरिकी कविताओमे भी नलगिरि हाथीकी चर्चा है जो उज्जयिनीके राजा चंडप्रद्योतके यहाँ था—

नलगिरि हत्थिहिँ मि ठितइँ सिवदेवेहि उच्छगि।
अग्गिभीरु रह दारुइहि अग्गि देहि मह अग्गि॥

यह पद भासके नाटकसे लिया गया है जो तीसरी चौथी शताब्द ई० पू० मे माना जाता है। इसमे भी जो कथा आई है वह पश्चिमी भारत अर्थात् उज्जयिनी, राजस्थान और मालवाकी ही है। हेमचन्द्रने अपभ्रश-प्रकाशमे जो उदाहरण दिए है उनमे जितने ऐतिहासिक दोहोंका समावेश है वे निश्चत रूपसे उसी प्रदेशका प्रतिनिधित्व करते है।

अतः अपभ्रश निश्चय ही पश्चिमी प्रदेश (पश्चिमी राजस्थान तथा सौराष्ट्र)की ही भाषा थी जहाँ विदेशी जातियाँ आकर मुख्यतः बसीं।

अपभ्रंश और हिन्दीका सम्बन्ध—बहुतसे आचार्योंने—

पुत्तें जाएँ कवँणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

उदाहरण लेकर और इसमे आए हुए 'बप्पीकी'मे प्रस्तुत 'की' को सम्बन्ध कारकका चिह्न मानकर उसे हिन्दीकी जननी बता दिया। किन्तु भाषाकी परीक्षा करनेपर जान पड़ेगा कि उसका सम्बन्ध गुजराती और पश्चिमी राजस्थानसे अधिक है। कालिदासकी विक्रमोर्वशीयसे जो दोहा दिया जाता है वह यदि कालिदासका मान भी लिया जाय (क्योकि उसे कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं), तब भी इस बातकी पुष्टि होती है कि उस भाषाका सम्बन्ध मालवा और राजस्थानकी ही भाषासे रहा है जो आज भी है क्योकि कालिदास स्वय उज्जयिनीका था। अतः इससे भी सिद्ध होता है कि अपभ्रश उधर की ही भाषा थी, हिन्दीसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अपभ्रंशकी ध्वनियाँ—१ ऋ का अ हो जाता है। आज भी गुजरातमें 'कसण (कृष्ण) भाई' नाम मिलेंगे।

२ भ्रातृका आज भी भाव हो जाता है जो कच्छ और सिन्ध-तक प्रचलित है।

इसी प्रकार **न** के बदले **ण** का प्रयोग राजस्थान, पंजाब और गुजरातमें है, हिन्दीमें नहीं। हिन्दीकी प्रवृत्ति शुद्ध रूपसे **न** की है, **ण** की नहीं। एक विचित्र प्रयोग अपभ्रंशमें **ज** का है जिसका अर्थ है (ही)। आज भी गुजराती भाषामें उसका प्रयोग किया जाता है। एक **ज** = एक ही। इसके लिये मराठीमें **च** का प्रयोग होता है—'एक-**च** प्याला।' इस प्रकार अकारण ही अपभ्रंशको हिन्दीकी जननी मानकर बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया है।

इस सबसे यह परिणाम निकला कि एक ही समय सब भाषाओंमें जहाँ एक ओर शिष्टजन किसी शब्दको भली भाँति व्युत्पन्न करके विशेष नियमके अनुसार उसे गढ़कर उसका प्रयोग करते हैं वहीं असंस्कृत लोग उसका अनुकरण तो करने लगते हैं किन्तु ठीक उच्चारण न करनेके कारण उसे बिगाड़कर बोलने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक साथ एक भाषाके शिष्ट (संस्कृत), प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों रूप चलने लगते हैं। एक विद्वान् जहाँ दूसरे विद्वान्से कहता कि 'तुम कुछ धर्म-कर्म नहीं करते' वहाँ वही विद्वान् किसी अपढ़से कहता है—'अरे भाई! तुम लोग कुछ धरम-करम किया करो।' अतः कभी-कभी शिष्ट लोग भी सम्बोध्यकी प्रकृतिके अनुसार, अर्थात् जिस योग्यताके व्यक्तिसे बातें करनी होती हैं उस योग्यताके व्यक्तिसे बातचीत करते समय, अपनी भाषाको प्राकृत या अपभ्रंश रूपमें ढाल लेते हैं। इसलिये यह धारणा अत्यन्त भ्रामक है कि किसी युगमें कई सौ वर्ष-तक संस्कृत रही, फिर कई सौ वर्षों-तक प्राकृत रही फिर कई सौ वर्षों-तक अपभ्रंश रही और इसी प्रकार भाषाओंका क्रम चलता रहा। यदि व्याकरण-बद्ध हो जानेके कारण संस्कृत आजतक ज्योंकी त्यों बनी रही तो प्राकृत और अपभ्रंश भी व्याकरण बन जानेपर ज्योंकी त्यों क्यों नहीं

बनी रहीं। क्या कारण है कि पालि नामकी तथाकथित भाषा अथवा तथाकथित अन्य प्राकृतें सहसा समाप्त हो गईं और अकारण अपभ्रंशकी प्रधानता हो चली। वास्तविक बात यह है कि प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश सब साथ रहीं जैसा कि भास और कालिदासके नाटकों तथा भरतके नाट्यशास्त्रसे सिद्ध भी है।

८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक उत्तर भारतमें १६ महाजनपद थे जिनमेंसे दो-दोके मेलसे एक-एक युग्म जनपद बन गया था। अंग-मगध, काशी-कोशल, वृज-मल्ल, चेदि-वत्स, कुरु-पांचाल, मत्स्य-शूरसेन, अश्मक-अवन्ती, गांधार-काम्बोज। अब यदि भरतके बताए हुए सूत्रके अनुसार हम परीक्षा करें तो स्पष्ट हो जाजगा कि भरतने जो सात भाषाएँ गिनाई हैं उनमेंसे मागधी तो अंग मगधकी भाषा थी, प्राच्या भी काशी कोशलकी थी, अर्द्ध-मागधी भी वृज मल्लकी थी, वाह्लीका भी गांधार-कम्बोजकी थी, दाक्षिणात्या भी दक्षिणकी भाषाओंकी थी, अवन्तिजा भी अश्मक-अवन्तीकी थी और शौरसेनी भी मत्स्य-शूरसेनकी थी। यह वाह्लीका यदि कुरु-पांचालकी भाषा मान ली जाय तो गांधार-कम्बोजकी भाषा जाति-भाषा होगी, जिसमें म्लेच्छशब्दोंका प्रयोग होता था। इस प्रकार भरतकी बताई हुई उस समयकी सातों देशी भाषाओंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भरतने इन भाषाओंको स्पष्ट रूपसे देशभाषा कहा है, प्राकृत नहीं कहा है। प्राकृतके लिये उन्होंने अलग वर्णन दिया है कि संस्कृत और प्राकृतके साथ चार प्रकारकी भाषाका प्रयोग करना चाहिए—अति-भाषा, आर्यभाषा जातिभाषा, जात्यंतरी भाषा। ये भेद इस दृष्टिको रख कर किए गए हैं कि देवताओंसे अतिभाषा अर्थात् अतिशय संस्कृतनिष्ठ भाषा, राजाओंसे श्रेष्ठ या आर्य संस्कृत भाषा, विभिन्न प्रकारकी जातियोंसे उनकी जाति-भाषाएँ और पशु-पक्षियोंके अनुकरणके लिये जात्यन्तरी भाषा बुलवानी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि एक संस्कृत भाषामें भी शैलीके अनुसार कई प्रकारके वर्ग बनाए जा सकते हैं। अतः अपभ्रंशको हमें कोई अलग ढलकर बनी हुई भाषा नहीं समझनी चाहिए। यदि ऐसा होता तो हमें ऐसी कड़ियाँ

अवश्य मिलती चलतीं जिनसे ज्ञात होता कि अमुक क्रमसे अमुक-अमुक समयमे अमुक-अमुक कारणोसे अमुक-अमुक परिवर्त्तन हुए और भाषाका रूप बदला। पर ऐसे क्रमिक प्रमाणोका पूर्ण अभाव है।

आधुनिक आर्यभाषा-काल

(१००० ई० से वर्त्तमान काल-तक)

आधुनिक आर्य-भाषा कालमे उत्तर भारतकी सभी वर्त्तमान भाषाएँ आ जाती हैं। यद्यपि उनका आरभ तो १००० ई० से ही होने लगा था पर साहित्यमे उनका प्रयोग तेरहवीं शताब्दिसे प्रारम्भ हुआ है। इन भाषाओंको अलग-अलग अपभ्रशोसे निकला हुआ बताना उतना ही भ्रामक है जितना यह कहना कि अपभ्रश ही पुरानी हिन्दी है और उसीसे वर्त्तमान हिन्दी निकली है।

वर्त्तमान आर्य भाषाओके सम्बन्धमे प्रचलित मत नीचे दिया जाता है—

पैशाची अपभ्रशसे कश्मीरीका सम्बन्ध है। ये सब भाषाएँ दरदके अन्तर्गत आती हैं। ब्राचड अपभ्रशसे सिन्धीका सम्बन्ध है। इससे 'बिचौली (केन्द्रीय), सिरैकी, लारी, थरेली और कच्ची' पाँच बोलियाँ निकली हैं। इनमे बिचौली ही सिन्धकी प्रधान बोली है। कच्छी भाषा कच्छमे बोली जाती है जिसपर गुजरातीका प्रभाव है। कैकय अपभ्रंशसे पश्चिमी पञ्जाबकी लहँदा भाषा निकली है जिसे डिलाही, जट्टकी, हिन्दीकी या उच्चीवी कहते हैं। इसकी लिपि लडा है पर वह फारसी मे भी लिखी जाती है। इसमे ग्रामगीत है, साहित्य नहीं। इसकी चार बोलियाँ 'लहँदा, मुलतानी, ओठवारी और घन्नी' है।

पूर्वी पञ्जाबी या पञ्जाबीका जन्म कैकयसे माना जाता है। इसपर शौरसेनी और दरदका भी प्रभाव है। यह मध्य पञ्जाबकी भाषा है। इसकी लिपि लडा और गुरुमुखी है। इसकी प्रसिद्ध बोली डोगरीको टाकरी लिपिमे लिखते है।

पहाड़ी या पर्वतीय भाषाका सम्बन्ध खश अपभ्रंशसे है। इनकी लिपि नागरी है। इनमेसे पूर्वी पहाड़ीकी प्रधान बोली नैपाली है जिसे खसखुरा या गुर्खाली कहते हैं। मध्य पहाडीके दो रूप हैं—गढ़वाली और कमायूँनी, जिनमे कुछ साहित्य भी है। पश्चिमी पहाडीकी लगभग ३० बोलियोमे चम्बाली, जौनसारी और सिरमैरी प्रमुख हैं। इनमेसे चम्बालीकी अपनी लिपि है। राजस्थानियोके आधिपत्यमे होनेके कारण इन पर्वतीय बोलियोपर राजस्थानीका भी बहुत प्रभाव पडा।

मालद्वीपकी माली भाषा और सिंहलकी सिंहलीको कुछ लोगोने पालिसे विकसित हुआ बताया है किन्तु यह भ्रम है। इनमे महाप्राणोका अल्पप्राण और ऊष्मका स् हो गया है। इसके प्राचीन रूप (एलु) अपभ्रंश-पर मराठीका बडा प्रभाव पडा है।

नागर अपभ्रंशसे राजस्थानीका विकास हुआ जिसके पश्चिमी रूपसे गुजराती निकली।

राजस्थानकी प्रधान बोलियोंमे मारवाडी, जयपुरी, मेवाती और मालवी प्रसिद्ध है। इनमेसे मारवाडीमे अच्छा साहित्य है।

भीली भाषा गुजरातीकी शाखा है जो जगलके भील बोलते हैं और खानदेशी बोलियाँ खानदेशमें बोली जाती है।

शौरसेनी अपभ्रंशसे पश्चिमी हिन्दी निकली मानी जाती है जिसके अन्तर्गत कन्नौजीसे निकली हुई ब्रज तथा वह नागरी भी आती है जिसे भूलसे लोग 'खडी बोली' कहते हैं। इस नागरीमे सस्कृतके तद्भव रूपोका प्रयोग होता है। मुसलिम कालमे इसमें फारसी, अरबी, तुर्की आदि सेमेटिक भाषाओके शब्द भी मिल गए थे।

अर्द्धमागधी अपभ्रंशसे पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी, बघेली और छत्तीसगढी बोलियाँ निकली हैं।

मागधी अपभ्रंशसे बिहारी, बँगला और उडिया निकली हैं। इनमेसे बिहारीके अन्तर्गत जोधपुरी, मगही और मैथिली बोलियाँ आती हैं।

बँगलासे दो भाषाएँ निकली—बँगला और असमी। इसमे सस्कृतके शब्द अधिक हैं और अ का उच्चारण ओ के समान, स का श के समान

और व का ब के समान होता है। असमीका क्षेत्र असम (आसाम) है जिसे कुछ लोग बँगलाकी पुत्री न मानकर भगिनी मानते हैं।

उडिया या ओड्री भाषा उत्कलमे बोली जाती है। आजकल इसमे मराठी और तेलुगु शब्द बहुत मिल गए हैं।

मराठीका सम्बन्ध महाराष्ट्री अपभ्रंशसे है और वह बम्बई, पूना, बरार, नागपुर-तकके व्यापक प्रदेशमे बोली जाती है। इसकी तीन प्रधान बोलियाँ हैं—मराठी, बरारी और कोकणी। इसके अतिरिक्त द्रविड बोलियोसे मिली हुई एक हल्वी बोली भी बरारमे बोली जाती है। मराठीकी लिपि मोडी है, जिसका आविष्कार शिवाजीके मत्री बालाजी आवाजीने किया था।

इन आधुनिक भाषाओका जो वर्गीकरण ग्रियर्सनने किया था उसे डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने अशुद्ध सिद्ध करके यह माना है—

१ उदीच्य—सिन्धी, लहँदा, पजाबी।

२ प्रतीच्य—गुजराती।

३ मध्यदेशीय—राजस्थानी, हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी), बिहारी।

४. प्राच्य—उडिया, बँगला, असमी।

५. दाक्षिणात्य—मराठी।

किन्तु यह वर्गीकरण हमे मान्य नहीं है। हम पीछे १५७ पृष्ठपर विवेचना कर चुके हैं कि आधुनिक भाषाओके सात वर्ग है—का, दा, जो, नो, चा, रा, एर्। अगले पृष्ठपर दिए हुए मानचित्रसे इनका प्रत्यक्ष परिचय मिल जायगा।
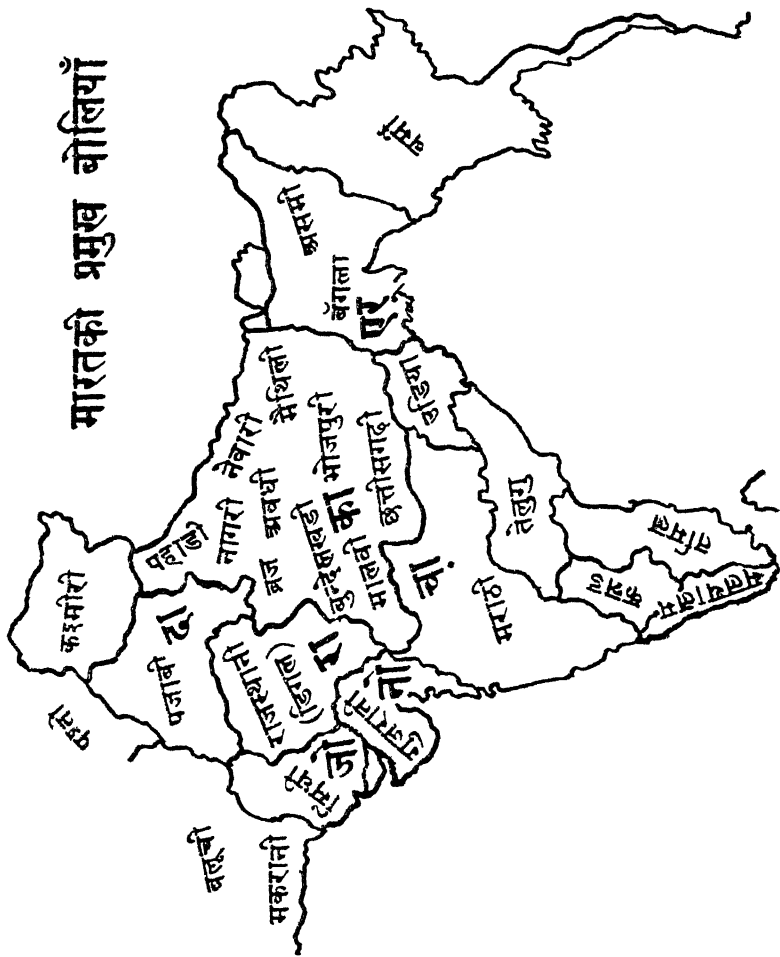
वर्त्तमान भाषाओंके लक्षण—

१. वर्त्तमान भाषाएँ अलगन्त (वियोगात्मक) हो गई हैं, इसलिये सहायक क्रियाओ और परसर्गोंका सहारा लेना पडता है।

२ मराठी, गुजराती और सिहली आदिको छोडकर शेप भाषाओमेसे नपुसक लिग लुप्त हो गया है।

३. द्वित्व वर्ण दूर हो गए है जैसे—कर्मसे काम, धर्मसे धरम। पर पजाबीमे अब भी बहुतसे द्वित्व वर्ण चलते हैं जैसे कित्थे।

४ कारकके दो ही रूप है—विकारी और अविकारी।

५ कालके अलग रूप भी दो ही हैं, शेषको सहायक शब्दोसे बनाना पडता है।

६ वाक्यमे शब्दोका स्थान स्थिर हो गया है।

७. बाहरकी बहुत सी भाषाओके शब्द ले लेनेसे नई ध्वनियॉ 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' आदि आ गई हैं। मुंडा और द्रविड परिवारकी भाषाओसे भी कुछ शब्द ले लिए गए हैं। अब इन भाषाओकी प्रकृति धीरे-धीरे सस्कृतनिष्ठ होती जा रही है और इसलिये इनमे अलगन्तसे जुटन्त अर्थात् वियोगात्मकसे सयोगात्मक होनेकी प्रवृत्ति हो चली है।

हिन्दीके कुछ नए रूप

हिन्दी : बहुतसे लोगोने 'हिन्दी' शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि सस्कृतके 'सिन्धु' और 'सिन्धी' शब्दोसे फारसीमे 'हिन्द' और 'हिन्दी' हो जाते हैं। हमारी समझमे नहीं आता कि यह **स** को **ह** कहनेका श्रेय केवल फ़ारसीको ही क्यो दिया जाता है। स्वय उदयपुरमे 'साढे सात'को 'हाडे हात' कहते हैं। यह **स** को **ह** कहनेकी प्रवृत्ति केवल फारसीमे ही नहीं हमारे यहॉ भी है। अत: 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' शब्द फारसीका समझना अत्यन्त भूल है। पश्चिमी भारतके लोग (जहॉ अब भी **स** को **ह** बोला जाता है) व्यापारके लिये बाहर जाते थे और वहीं ये लोग अपनेको सिन्धवी (सैन्धव या सिन्धी और अपनी बोलीमे

हिन्दी कहते थे)। फारसीमे हिन्दीका अर्थ है हिन्दसे सबध रखनेवाला। भारतके जितने मुसलमान भी हज करने मक्का जाते हैं या व्यापारके लिये उधर जाते है उन्हे वहाँके लोग 'हिन्दी' ही कहते हैं और इसी नाते यहाँकी भाषा भी 'हिन्दी' कहलाती है। पडोसी फारस, अरब आदि देशवाले भारत भरके लोगोको 'हिन्दी' अ र यहाँकी सब बोलियोको भी 'हिन्दी' कहते हैं। जहाँतक 'हिन्दू' शब्दकी बात है, फारस-वाले मुसलमान लोग उन लोगोको हिन्दू कहते हैं जो इस्लाम धर्म नहीं मानते और हिन्दमे रहते हैं। यह अर्थ इसीलिये लगाया गया कि जब मुहम्मद साहबने अपना इस्लाम धर्म चलाया और सम्पूर्ण अरब, फारस, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान और चीन तकका प्रदेश मुसलमान बन बैठा तब भी हिन्दुस्तानवाले उनके धार्मिक सिद्धान्तोसे प्रभावित नहीं हुए, वरन् उलटे शैव और वैष्णव धर्मका प्रचार करके विष्णु या शिवके मदिर बनवाते रहे। इसीलिये 'हिन्दू' शब्दका अर्थ 'इस्लाम धर्म न माननेवाले' और 'हिन्दके निवासी' माना गया। हमारे देशमे हिन्दू शब्दका अर्थ है वह व्यक्ति, जो ईसाई या मुसलमान न हो अर्थात् जो हिन्दू धर्मसे सबंध रखनेवाले धर्म मानता हो यहाँ तक कि सिक्ख, जैन आदि भी व्यापक अर्थमे हिन्दू ही माने जाते है। जहाँतक हिन्दी भाषाकी बात है, हिन्दू मुसलमान सभी यहाँकी बोलियाँ अर्थात् व्यापक दृष्टिसे 'हिन्दी' ही बोलते है।

यद्यपि बाहरके पडोसी देशवाले भारतकी सभी भाषाओंको हिन्दी मानते हैं किन्तु 'भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे हिन्दी वह भाषा है जो उत्तर भारतमे जयपुरसे लेकर पटनेतक विन्ध्याचलके उत्तरमे बोली जाती है अथवा उत्तर-पश्चिममे अम्बालेसे लेकर और पश्चिममे जयपुरसे लेकर पूर्वमें भागलपुर-पटना तक, उत्तरमे शिमलेसे लेकर नैपालके पूर्वी छोर तकके सम्पूर्ण पहाडी प्रदेशके दक्षिणसे लेकर दक्षिण-पूर्वमे रायपुर-बिलासपुर तक और दक्षिण-पश्चिममे खँडवा-तक बोली जाती है और जिसके अन्तर्गत पूर्वी राजस्थानी, जयपुरिया, छत्तीसगढी, बुन्देलखण्डी, मैथिली, ब्रज, अवधी आदि सब भाषाएँ आ जाती है।'

किन्तु यदि पत्र-पत्रिका, शिक्षा-मध्यम और साहित्यकी भाषाकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सम्पूर्ण राजस्थानसे लेकर बिहार-तक और उत्तरमे पहाडी भाषाओंसे लेकर विन्ध्याचलके दक्षिणमे सतपुडातक नागरीका ही बोल-बाला है जिसे कुछ लोग भूलसे खडी बोली कहते है। इस प्रकार नागरी भाषाका व्यवहार करनेवाले लोगोकी सख्या लगभग १८ करोड़ है। पहले इस क्षेत्रमे भी ब्रज भाषा ही काव्य-भाषा या साहित्य भाषा थी। किन्तु अब ये सब भाषाएँ अर्थात् ब्रज, अवधी, मैथिली आदि केवल जानपदीय भाषाएँ रह गई है।

इस सम्पूर्ण नागरीके क्षेत्रमे चार मुख्य प्रादेशिक भाषाएँ मानी जाती थीं, जिनके शिष्ट (साहित्यिक) और ग्रामीण (लोगोकी बोलचालके) दोनो रूप मिलते हैं—

राजस्थानी = राजस्थानकी स्व बोलियॉ।
मैथिली = दरभगाके चारो ओरकी बोलियॉ।
भोजपुरी = पटना-गयासे लेकर बनारस-गोरखपुर-तकके बीचकी बोलियोंका समूह।

पहाडी बोलियॉ=हिमालयकी तराईके पहाडी प्रदेशोंकी बोलियॉ। बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड और मालवाकी बोलियॉ भी इसी श्रेणीमे आती है। कुछ लोगोने इन सब भाषाओके समूहको दो भागोमे विभक्त कर दिया है—पूर्वीय और पश्चिमी। किन्तु इनके रूप तीन माने जाने चाहिएँ—पूर्वी, पश्चिमी और बीचकी। इन सब बोलियोंके समूहको ही भाषाशास्त्रवाले हिन्दी मानते है।

अतः हिन्दी शब्दके तीन अर्थ हुए—

१. हिन्दुस्तान भरकी सब बोलियॉ।
२ उत्तर भारतकी पजाबी, सिन्धी, बँगला और उडियाको छोडकर शेष भाषाएँ।
३. राजस्थानसे लेकर बिहार-तककी भाषाओका समूह।

उर्दू : उर्दूके सबधमे बताया जा चुका है कि उर्दू कृत्रिम भाषा है।

मुसलमानोने यहाँ आकर दिल्लीके आसपासकी भाषामे फारसी और अरबीके शब्द भरभरकर नागरीको ही कृत्रिम भाषाके रूपमे परिवर्तन करके एक खिचडी भाषा बना ली जो आज कुछ भाषाध लोगोके द्वारा हिन्दीकी प्रतियोगिनीके रूपमे खडी कर दी गई है।

हिन्दुस्तानी : अँगरेज़ो तथा अन्य योरोपीय विद्वानोने भारतकी उस बोलचालकी भाषाको हिन्दुस्तानी माना जो मुसलमानी शासन-कालमे उनके राजदरबारमे पनपी और फूली-फली और जिसमे अरबी-फारसीके तत्सम शब्दोका धडल्लेके साथ प्रयोग हुआ। इसे उर्दूका पर्याय ही समझना चाहिए क्योकि भारतवर्षमे इँगलैडसे जो शासक भेजे जाते थे उन्हे यह भाषा (उर्दू कहलानेवाली हिन्दी) पढ़ाई जाती थी और इसीको वे लोग 'हिन्दुस्तानी' कहते थे। यद्यपि इसमे उर्दू-वालोका-सा यह दुराग्रह नहीं है कि छाँट-छाँटकर बल पूर्वक फारसी और अरबीके शब्द भरे ही जायँ किन्तु यह निश्चय है कि उसकी प्रवृत्ति उर्दूकी ओर अधिक है। अँगरेज़ोके जानेके साथ उसका अस्तित्व लुप्त हो गया है और वह स्वाभाविक अवसान प्राप्त कर चुकी है। अँगरेज़ोके शासनके कारण यह इतनी व्यापक हो गई थी कि उत्तर भारतमे व्यापक रूपसे समझी और बोली जाती थी, किन्तु इसका क्षेत्र शासन-क्षेत्र-तक ही सीमित था, लोक-भाषाके क्षेत्रमे नहीं, यद्यपि लोकभाषा-भाषी लोग भी इसे समझते भली प्रकार थे क्योकि कचहरियो-मे इसीका बोलबाला था।

नागरी : ठेठ नागरी भाषा सस्कृत, अरबी और फारसी आदि के तत्सम शब्दोसे रहित होती है। नीचेके उदाहरणसे उसका रूप स्पष्ट हो जायगा—

टीलेकी ऊँची रेतीली चोटीपर चढ़कर जो मैंने चारों ओर आँखें घुमाईं तो देखता क्या हूँ कि दूरपर धरती-अकासके मिलनकी झिलमिलीपर अटपट फैली हुई हरियालीकी झुरमुटमें, अपने लाल खपरैलोंपर पच्छिमकी गोदमें ढलते हुए सूरजकी पिछली धूप-छाँह भरी किरनें लहराता हुआ, एक सुहावना-सा,

लुभावना-सा, नन्हाँ-सा झोंपड़ा उस साँझकी ललाईमें हँसता, मुस्कराता और बुलाता-सा चमक रहा है। मेरे साथ मेरी घरनी चलते-चलते थककर चूर हो चली थी। उसकी साँस फूलने लगी थी और वह रह-रहकर पूछती जा रही थी—'कहिए अभी कितना चलना है ?'

इसीको यदि आजके हिन्दीवाले लिखेंगे तो वे इस प्रकार लिखेंगे—

'वप्रके समुन्नत बालुकामय शिखरपर आरूढ होकर जो मैंने चतुर्दिक् दृष्टि-निक्षेप किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि सुदूर धरणी-आकाशके सम्मिलन-तीर्थपर अनियमित रूपसे विकीर्ण हरीतिमाकी छायामें, अपने रक्तिम खपरैलोंपर पश्चिम दिशाके क्रोडमें अकस्थ होते हुए भास्करके अन्तिम आलोककी छायापूर्ण किरण-माला अंकित करता हुआ, एक सुशोभन, मनोहर, अत्यन्त लघु कुटीर, उस साध्य लालिमामें मन्द स्मितिसे हँसता और निमंत्रण देता-सा उद्भासित हो रहा है। मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी इस सुदूर यात्रासे अत्यन्त श्रान्त और क्लान्त हो चला थी। उसका श्वास वेग बढ़ चला था और क्षण-क्षणपर वह आतुर जिज्ञासा करती जा रही थी—'कहिए अभी कितना मार्ग शेष है ?'

इसी हम ऊपर दिए हुए वाक्यको उर्दूमे लिखना चाहे तो यो लिखेंगे—

'ख़रसगके बलन्द पुर-रेग क़ुलहपर सवार होकर जो मैंने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाई तो मअलूम हुआ कि एक फ़ासले-पर ज़मीन-आसमानके इत्तेहादे-उफ़ुककी बेनूरीमें निहायत बे-क़रीने दराज़ सब्ज़ो-गयाहकी पुश्तमें, मगरिबमें ग़ुरूब होते हुए आफ़ताबकी आख़री शुआएँ अपने सुर्ख़ खपरैलोंपर शापा कराता हुआ एक निहायत ख़ुशनुमा, दिलकश, मुख्तसर-सा झोंपड़ा उस शामकी शफ़क़में हँसता, मुस्कराता और दावत-सा देता आशकार है।

इससे प्रतीत होता है कि वर्त्तमान सस्कृतनिष्ठ नागरी भी नागरीकी वास्तविक ठेठ तद्भवात्मिका भाषाके कृत्रिम रूपमे ढल रही है। उर्दूमे भी वाक्यकी बनावट हमारी अपनी है केवल उसमे कुछ थोड़ेसे सज्ञा और विशेषण फारसी और अरबीसे लाकर भर दिए गए है। उसकी बनावट यो तो नागरीके सज्ञा विशेषणके बदले अरबी-फारसी सज्ञा-विशेषण भरनेसे वनी किन्तु कभी-कभी उसके वाक्योकी बनावट

फारसीके ढगपर भी होने लगी थी जैसे—'आना राजा इन्दरका' यह वाक्य रूप फारसीके 'आमद राजा इन्दर'का अनुवाद है। कभी-कभी बहुवचनका निर्माण भी फारसीके ढगपर होने लगा जैसे 'कागज'का 'कागज़ात' आदि। कहनेका अर्थ यह है कि उर्दू भाषा कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। वह हिन्दीकी ही एक शैली है जिसमे हिन्दीके प्रचलित तद्भवात्मक शब्द हटाकर उनके बदले फारसी और अरबीके शब्द ला भरे जाते हैं। ठीक यही बात वर्त्तमान साहित्यिक हिन्दीके सबधमे भी कही जा सकती है। अर्थात् उसमे भी छाँट-छाँटकर देशी और चलते शब्दोके बदले सस्कृतके शब्द भरनेकी प्रवृत्ति आ गई है।

ग्रियर्सनने भाषा-परीक्षण (लिग्विस्टिक सर्वे)मे दिल्ली मेरठके पास बोली जानेवाली इस भाषाका बडा बेढगा और बेतुका 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' नाम दिया है। कुछ लोगोने इसका नाम 'खडी बोली' और 'सिर हिन्दी' रक्खा है। किन्तु ये सब नाम ठीक नहीं है। इसका वास्तविक नाम 'नागरी' ही उचित है।

कुछ लोगोने खडी बोली, बॉगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुदेलखंडी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढी, भोजपुरी आदिको ग्रामीण बोलियाँ बताया है। किन्तु ये ग्रामीण बोलियाँ नहीं है। इनमेसे नागरी (खडीबोली), ब्रजभाषा और अवधीको तो ग्रामीण कहना अत्यन्त अज्ञताकी बात है क्योकि इनमे साहित्य भी है। हॉ, बॉगरू, कन्नौजी, बुन्देली, बघेली, और भोजपुरीको ग्रामभाषा अवश्य कहा जा सकता है। आगे चलकर यदि इनमे भी साहित्य हो गया तो इनके भी दो रूप हो जायँगे—१. शिष्टजन भाषा और २ ग्रामीण भाषा।

हिन्दीका भाषा-शास्त्रीय परीक्षण : भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे हिन्दीका परीक्षण करनेके लिये निम्नलिखित बातोपर विचार करना होगा—

१. हिन्दीकी ध्वनियाँ।

२. हिन्दीका शब्द-समूह।

३. हिन्दीका वाक्यनिर्माण ।
४. हिन्दी शब्दोंकी अर्थ-प्रकृति ।

नागरी वर्णमाला

अपभ्रंशकी वर्णमाला देखनेसे जान पडता है कि उसमें **अ आ इ ई उ ऊ ए एँ** (ह्रस्व) **ओ ओँ** (ह्रस्व) स्वर वर्ण और **क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व स ह** व्यजन थे। किन्तु नागरी (खडी बोली) के जो भी प्राचीनतम उदाहरण मिलते है उनमेसे किसीमे भी संस्कृत स्वरका लोप नहीं हुआ। अमीर खुसरोकी पहेली लीजिए—

एक थाल मोतीसे भरा, सबके सिरपर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरै ॥

(आकाश)

यह ठीक वही भाषा है जिसका प्रयोग हम आज भी कर रहे है और यही हिन्दीकी तद्भवात्मिका प्रकृति है।

ऋग्वेदका पहला मन्त्र है—

'अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवऋत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्।'

इस मन्त्रमे 'अग्नि, पुरोहित, यज्ञ, देव, होता, रत्न' शब्द हमारी हन्दीमे ठीक सस्कृतके द्वित्व वर्णोंको सरल करके आए हैं, जैसे 'रत्न'का 'रतन' हो गया। यदि यह शब्द प्राकृतसे होकर आता तो 'रत्न' का 'रअण' हो जाता। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं हुई। यदि प्राकृत और अपभ्रशमे ढलकर हिन्दी आई होती तो उसने **औ ऐ** छोड दिया होता। किन्तु ऐसा भी नहीं हुआ। उसकी तद्भवात्मिका प्रकृतिमे 'ऐसा' और 'औढर' दोनो है। इसी प्रकार **धर्म** शब्द भी **धम्म** नहीं बन पाया, **धरम** बन गया और **कर्म** भी एक ओर **करम** बना और दूसरी ओर **कार्य**के अर्थमे **काम** हो गया। अतः यह कहना पूर्णतः निराधार है कि हिन्दीका निर्माण प्राकृत और अपभ्रशमेको ढलकर हुआ।

उसका सीधा विकास अन्तर्वेदकी मूल भाषा सस्कृतसे ही हुआ। वह सीधी सस्कृतकी अन्तर्वेदी प्राकृत है।

अमीर ख़ुसरोने अपनी मुकरियाँ, पहेलियाँ और ढकोसले जिस भाषामे लिखे हैं वह अमीर खुसरोकी मातृभाषा थी जो दिल्लीके पास मेरठ-मुज़फ्फरनगरमे अर्थात् अन्तवेदमे जैसे आजसे ६०० वर्ष पूर्व या उससे पहले पहले बोली जाती थी वैसे ही अब भी बोली जाती है। यह अवश्य है कि अनेक जातियो और सस्कृतियोके सम्पर्कसे उसमे बहुतसे सज्ञा-विशेषण शब्द बाहसे आकर मिले। किन्तु यह कहना नितान्त भ्रामक है कि हिन्दीकी उत्पत्ति अपभ्रंशसे हुई। नागरीका विकास सीधे सस्कृतसे इस प्रकार हुआ कि उसने सस्कृतके सयुक्ताक्षरोको तोडकर सीधा कर लिया और अपना रूप कोमल बनाकर ढाल लिया किन्तु न उसने प्रसिद्ध प्राकृतोमे-को होकर अपनेको कसा, न अपभ्रशमे-को ही। अधिकसे अधिक उसे सस्कृतकी अन्तवेदी प्राकृत भाषा मान सकते है।

२

नागरी भाषाकी ध्वनियाँ

स्वर और व्यञ्जन : हमारे वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं, जिन्हें स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। इनकी संख्या पाणिनीय शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ है[१]। अ आ आ३, इ ई

१—त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
सस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशति।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृता॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳲक ᳳपौ चापि पराश्रितौ।
दु:स्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकार प्लुत एव च॥

ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ, ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम[२], अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः), ᳵक् जिह्वामूलीय, और ᳶप् उपध्मानीय, प्लुत ऌकार और दुःस्पृष्ट।

उच्चारण-स्थान : लौकिक संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ' स्वर वर्ण कहलाते हैं। 'क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह' व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः) और अनुनासिक (ँ) का भी प्रयोग मिलता है। नीचे दिए कोठेसे विदित होगा कि नागरी वर्णों के उच्चारणस्थानका निर्देश क्रम सर्वथा वैज्ञानिक है—

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ आ, ह ❀	कण्ठ	स्वर, अन्तःस्थ
क ख ग घ ङ ❀	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई, च छ ज झ ञ, य श	तालु	स्वर, चवर्ग, अन्तःस्थ
ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण, र ष	मूर्द्धा	स्वर, टवर्ग, अन्तःस्थ
ऌ, त थ द ध न, ल स	दन्त	स्वर, तवर्ग, अन्तःस्थ
उ ऊ, प फ ब भ म	ओष्ठ	स्वर, पवर्ग
ए ऐ	कण्ठ-तालु	स्वर
ओ औ	कण्ठोष्ठ	स्वर
व	दन्तोष्ठ	अन्तःस्थ

२—वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्व-सदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्ध (पलिक्क्नी, चख्ख्नतु, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति ।)—सिद्धान्तकौमुदी सञ्ज्ञाप्रकरण

❀ 'अकुहविसर्जनीयाना कण्ठ.' के अनुसार 'अ आ ह क ख ग घ ङ' के

कारणके अनुसार इन वर्णोंके पाँच भेद माने जाते हैं—(१) स्वरकृत भेद, अर्थात् उदात्त (ऊँचे स्वरसे), अनुदात्त (नीचे या मन्द स्वरसे) और स्वरित (समाहार, अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वरसे न बहुत नीचे स्वरसे) बोलना। याज्ञवल्क्य शिक्षामें इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—गाधार और निषाद उदात्त हैं (क्योकि इनमें दो श्रुतियाँ हैं), ऋषभ और धैवत अनुदात्त हैं (क्योकि इनमे तीन श्रुतियाँ हैं) और षड्ज, मध्यम, और पचम स्वरित हैं (क्योकि उनमे चार श्रुतियाँ हैं)।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमा॥

२. कालकृत भेद, जैसे ह्रस्व (इ), दीर्घ (ई) और प्लुत (ई३) जैसे अर्थात् एक स्वरके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार भेद, ३. स्थानकृत भेद, अर्थात् मुखके भीतर जिन स्थानोसे ध्वनिका उच्चारण हुआ है उनके अनुसार भेद। ४. आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद, अर्थात् कोई ध्वनि उच्चरित करनेमें मुखके भीतर जीभके संयोगसे कितना प्रयत्न करना पड़ता है उसके अनुसार भेद। ५. बाह्य प्रयत्नकृत भेद, अर्थात वर्णको कितनी साँसके साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पडता है, इसके अनुसार भेद।

उच्चारणका स्थान कण्ठ है। किन्तु स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमे संशोधन करते हुए 'अ आ ह' का उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है—'जिह्वामूले तु कु. प्रोक्तः'। पाणिनीय शिक्षापर उक्त मत 'क ख ग' के सम्बन्धमें है। इनका प्रयोग नागरीमें तो नहीं पर विदेशी 'कागज़' आदि शब्दोंमें होता है। नागरीमे उन्हें तद्भव रूपमें ग्रहण करना चाहिए, तत्सम रूपमें नहीं। अतः नागरीमें इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकारकी कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा कार्य 'कागज' लिखकर भी चल जायगा। हाँ, तत्सम लिखते समय शुद्धिके लिये नीचे बिन्दु लगाकर उनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

हमारी भाषापर विदेशी प्रभाव

हमारी भाषाकी ध्वनियोंपर विदेशी ध्वनियोंका भी बहुत प्रभाव पड़ा। कुछ भारतीय भाषाओंमें उन ध्वनियोंके निर्देशक चिह्न भी बना लिए गए, जिनकी देखा-देखी लोग कहीं-कहीं नागरीमें भी उनका प्रयोग करने लगे हैं। उदाहरणके लिये 'कौलेज, जौली, ऐंड' शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं। प्रथम दो शब्दोंमेंसे 'कौ' और 'जौ' का उच्चारण 'आ' और 'औ' के बीचका है और 'ऐंड'में हल्के 'ऐ' का। कुछ लोग प्रायः 'औ' और 'ऐ' पर पूरा बल देते हुए इन शब्दोंका उच्चारण 'कउलेज, जउली, अइड' करते हैं। मराठीमें उक्त ध्वनियोंको स्पष्ट करनेके लिये अनुस्वार-विहीन अर्धचन्द्रका प्रयोग होता है। वे इन शब्दोंको—कॉलेज, जॉली, ऍण्ड लिखते हैं। उक्त ध्वनियोंका निर्देश करनेके लिये हिन्दीमें भी मराठीवाले चिह्नका प्रयोग होने लगा है। किन्तु जब 'बैक' लिखना हो तो इस चिह्नके अनुसार लिखेंगे—'बॅंक', जो अनुनासिक सहित 'ब' बनकर अशुद्ध हो जाता है।

उच्चारण-दोष

इस प्रकारके विदेशी प्रभावके कारण तथा अपने यहाँ सविधि उच्चारण सिखानेकी व्यवस्था छूट जानेसे नागरी लिपि लिखनेवाले तथा नागरी भाषाभाषी भी इन ध्वनियोंके उच्चारणमें भूल करने लगे। कुछ वर्ण तो ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक उच्चारणमें लोगोको बड़ा भ्रम है। ऐसी अनेक ध्वनियोंका उच्चारण भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न ढङ्गसे होने लगा है। नागरी वर्णमालाको पजाबमें 'का, खा, गा, घा' पढते हैं, पश्चिमी सयुक्तप्रान्तमें 'कै खै गै घै', बिहारवाले प्रत्येक वर्णका उच्चारण हल्का ओकार लगाकर किया करते हैं और बगाली तो स्पष्ट गोल मुँह बनाकर सभी अक्षरोंको गोल करते हुए 'को खो गो घो' पढते हैं। बगालियोंका अशुद्ध उच्चारण तो साहित्यिक कहानीकी वस्तु हो गया है। किसी पुराने परिहासप्रिय संस्कृत कविका वह श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें

बङ्गीय उच्चारणसे व्याकुल होकर सरस्वतीजीने ब्रह्माजीसे निवेदन किया है कि 'या तो बगाली लोग गाथा (सस्कृत श्लोक) पढना छोड दें या आप कोई नई सरस्वती बनाइए'—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

सन्तोषकी बात है कि पूरबी उत्तर प्रदेश और नागरी भाषाभाषी मध्यप्रान्तके लोग नागरी ध्वनियोंका उच्चारण शुद्ध करते हैं। इस सम्बन्धमें सबसे बढकर चमत्कारकी बात तो यह है कि जो लोग पृथक् ध्वनियोंका विकृत उच्चारण करते हैं वे भी उनसे शब्द बन जानेपर उसका शुद्ध उच्चारण करने लगते हैं। उदाहरणके लिये पश्चिमी उत्तर-प्रदेशके अलग-अलग 'कै लै मै' कहनेवाले लोग भी मिलाकर 'कलम' ही लिखते और पढते हैं।

अनिश्चित प्रयोग

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। वैदिक सस्कृतमें 'ह्रस्व' अ का उच्चारण विवृत (मुँह खोलकर 'आ' के समान) होना था। पर पीछे चलकर काव्य-सस्कृतमें प्रातिशाख्यों में और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति सवृत ही होने लगा।

ऋ और लृका उच्चारण

'ऋ' और 'लृ' का भी उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न होता था। इसके साथ 'र' ध्वनि तो अवश्य उच्चरित होती थी, क्योकि ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्य इसके प्रमाण है, पर इसका ठीक ठीक उच्चारण निश्चित रूपसे नहीं बताया जा सकता। पालि और प्राकृतमें 'ऋ' का प्रयोग नहीं था। उनमे 'ऋ' के बदले कभी 'अ' कभी 'इ' और कभी 'उ' हो जाता है जैसे—'कृत' का 'कद', 'ऋषि' का 'इसि' और 'वृक्ष' का 'रुक्ख'। 'ऋ' के उक्त तीन विकार सस्कृतमें भी उपलब्ध हैं—'कृ' का 'करण', 'तृ' का 'तीर्ण' और 'पृ' का 'पूर्ति'। ऐसी

स्थितिमें 'ॠ' का उच्चारण न तो 'अमृताञ्जन' वाला ठीक है और न 'रिषि' ही उचित है।

'ऌ' का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें ही अत्यल्प मात्रामें होता था। लौकिक सस्कृतमें तो 'ऌ' का प्रयोग लगभग होता ही नहीं था*। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन 'ऌ' का उच्चारण अँगरेजीके 'लिटिल्' शब्दमें उच्चरित होने वाले 'ल' के समान था। किन्तु वह स्पष्ट रूपसे क्लृपमें उच्चरित होनेवाले ल के समान अर्थात् 'ल' को तालुपर कँपानेसे बोला जाता था। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'ऌ' का प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं है।

स्वरों में सन्ध्यक्षर

'ए ऐ ओ औ' को वैदिक और लौकिक सस्कृतमे सन्ध्यक्षर माना गया है। इनके उच्चारण-स्थान भी (एदौतो कण्ठतालुः। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्) एकके बदले दो बताए गए हैं। महाभाष्यने भी इन्हे सन्ध्यक्षर ही माना है। इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरोंका उच्चारण एक स्वरके समान अर्थात् समान स्वरके समान नहीं वरन् दो स्वरोंके समान, सन्ध्यक्षरके समान होता रहा होगा। पर इनका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह सदिग्ध ही है। प्रायः 'ए ओ ऐ औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अ͜इ अ͜उ आ͜इ आ͜उ' माना जाता है। इसका आधार यह है कि सन्धिस्थलोंके '**ए**' '**ओ**' '**ऐ**' '**औ**' की रचना '**अ+इ**', '**अ+उ**', '**अ+ए**', '**अ+ओ**' के योग-से होती है। 'अ͜ए अ͜ओ' भी **ऐ औ**' का एक उच्चारण माना जाता

---

*अथ ऌकारोपदेश. किमर्थं.। किं विशेषेण ऌकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषां वर्णानामुपदेशश्चोद्यते। यदि किंचिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति ऌकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेष। अयमस्ति विशेष'। अस्य ऌकारस्याल्पीयाँश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषय. स क्लृपिस्थस्यैव। (महाभाष्य १।१।२।२)।

है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर नागरीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें '**ए ओ**' का उच्चारण एक स्वर-सा होता है और '**ऐ औ**' का सन्ध्यक्षर-सा। अतः कुछ निर्णय करनेके पूर्व इन वर्णोंके इतिहासपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। यह कहा जा चुका है कि संस्कृतमें ये स्वर सयुक्ताक्षर माने गए हैं। पालि और प्राकृतमें '**ए ओ**' तो उपलब्ध हैं पर '**ऐ औ**' नहीं मिलते। प्राकृतमें प्रायः '**ऐ**' का '**ए**' और '**औ**' का '**ओ**' हो जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्त्तन भी उपलब्ध हैं जो आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें 'दैत्य' शब्दके 'दै' का उच्चारण 'दइ' और 'पौरव' के 'पौ' का 'पउ' हो जाता है। अतः सस्कृत-कालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर-सा भी रहा हो पर हमारा आधुनिक उच्चारण भी निराधार नहीं है। प्राकृतमे भी इनका उच्चारण आज-सा ही था। अतः **ऐ औ** का शुद्ध उच्चारण '**अइ**' '**अउ**' ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ+ए, अ+ओ से होनेके कारण इनका उच्चारण 'ऐश' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें उच्चरित होनेवाले 'ऐ' 'औ' (अए अओ) का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

इधर कुछ लोगोंने 'आई, आओ' को दो स्वरोंका सयोग और 'भइआ' के 'अइआ' को तीन स्वरोंका सयोग माननेकी भूल भी की है।

ह्रस्व ध्वनियाँ

हिन्दीकी कई भाषाओंमे ह्रस्व '**ए ओ ऐ औ**' का भी प्रयोग मिलता है जैसे कवितावलीमें—'अवलोकिहौं सोच विमोचनको' 'नाथ न नाव चढाइहौं जू' 'बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए'। आधुनिक नागरीमें भी ऐसी ह्रस्व ध्वनियाँ 'लोहार' 'सोनार' एक्का' आदि शब्दोंमें उपलब्ध हैं। प्राकृतके व्याकरणोंमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं मिलता पर गाथाओंमे ह्रस्व '**ए ओ**' मिलते हैं। लौकिक सस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व '**ए ओ**' उपलब्ध नहीं हैं किन्तु वेदकी 'सात्यमुग्रिराणायनीय' शाखामें ह्रस्व '**ए ओ**' का उच्चारण होता था जिसका परिचय महाभाष्यमें

दिया हुआ है[1]। आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनीय पण्डित 'ए ओ' का उच्चारण ह्रस्व ही करते हैं। पर इनके लिये हमारी नागरीमे नये सकेतोंकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम लोग अवधी-ब्रजके कवित्त-सवैयोंमे आनेवाले एव 'एक्का, लोहार, सोनार' के ह्रस्व 'ए ओ' का उच्चारण ठीक रीतिसे कर ही लेते हैं।

बारहवीं शताब्दिमें राजशेखरने भी काव्य-मीमासामे भारतके विभिन्न प्रदेश-वासियोंके उच्चारणका सूक्ष्म परीक्षण किया है—

गौडाद्या सस्कृतस्था परिचितरुचय प्राकृते लाटदेश्या ।
सापभ्रशप्रयोगा. सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
आवन्त्या पारियात्रा. सह दशपुरजैर्भूतभाषा भजन्ते ।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥

[गौड आदि(बगालके निवासी)सस्कृतके प्रेमी होते हैं, गुजरात (लाट)-निवासियोंकी रुचि प्राकृतकी ओर अधिक रहती है, सारे मारवाड और पूर्वी पजाब (टक्क)से आनक (आना सागर, अजमेर) तकके लोग अपभ्रश-का प्रयोग करते हैं। उज्जैन, मालवा (पारियात्र पर्वतके बीच) और दशपुरके निवासी पैशाचीका व्यवहार करते हैं, किन्तु मध्यदेश (हिमालय और विन्ध्यके बीचके देश)मे रहनेवाला भारतके मध्यमें रहनेके कारण सभी भाषाओंमें निष्णात होता है।] उक्त उदाहरणसे मध्यदेश-निवासियोंकी उच्चारण-पटुतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पञ्चम वर्णका प्रयोग

'ङ' का प्रयोग नागरीमें केवल तत्सम शब्दोंमे होता है, जैसे 'गङ्गा' 'विहङ्गम' 'अङ्ग' आदिमें। इनका काम अनुस्वारके द्वारा भी चल

---

१. ननु चैङः सस्थानतरावर्द्धं एकारोऽर्द्धं ओकार । न तौ स्त. । यदि तौ स्याता तावेवायमुपदिशेत् । ननु च भोश्छन्दोगाना सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकार चाधीयते । सुजाते ए अश्वसूनृते । अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्र ते ए अन्यत् । यजत ते ए अन्यत् । इति । (महा० एओङ्, ऐऔच्)

सकता है, जैसे 'गंगा, विहगम, अग'। 'ञ' का प्रयोग तो नागरीमें रह ही नहीं गया है। 'चञ्चल' 'अञ्चल' आदि भी वस्तुतः 'चन्चल, अन्चल' ही पढे जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ्-साञ्' आदि शब्दोंमें ही 'ञ' का उच्चारण होता है। इसी प्रकार सयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण'भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' आदि शब्दोंमें 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम-वर्ण-सयुक्त वर्णोंकी उपर्युक्त स्थितिका एक कारण और भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने भी कहा है कि अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म के पश्चात् यदि **क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, श, ष, स, ह** आवें तो उन्हें (अनुस्वार और **ङ, ञ, ण, न, म** को) नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्गों के पचम वर्णोंका '**न**' जैसा उच्चारण अकारण नहीं है।

नागरी ध्वनियोंके अनिश्चित उच्चारण

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। **ङ ञ ऋ ष ऌ क्ष** और **ज्ञ** ऐसे ही अक्षर हैं। इनमें **ङ ञ** और **ऌ** का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है, शेष **ऋ ष क्ष** और **ज्ञ** का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। लोग प्रायः '**ऋ**' का उच्चारण ह्रस्व '**रि**' की तरह किया करते हैं। वे यह भूल करते हैं। '**रि**' और '**ऋ**' के समान उच्चारणका भ्रम सभवतः दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है। वास्तवमें '**रि**' तो '**र**' पर ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु '**ऋ**' का उच्चारण '**र**' में हल्का कपन देकर होता है। 'कृपण, कृषि, सरीसृप' आदिमें लगी हुई 'ृ', इसी 'ऋ' का दूसरा रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—क्ऽपण, क्ऽषि तथा सरीस्ऽप।
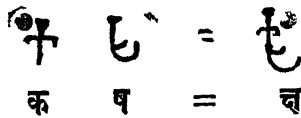
'**ष**' की स्थिति भी '**ऋ**' से मिलती-जुलती है। नागरी वर्णमालामें

यद्यपि दन्त्य '**स**', तालव्य '**श**' और मूर्धन्य '**ष**' अलग-अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य '**श**' और मूर्धन्य '**ष**' में भेद नहीं करते। मूर्धन्य '**ष**' को या तो लोग तालव्य '**श**' पढते हैं या सीधे '**ख**' पढते हैं। इन वर्णोंमें परस्पर इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए भी भ्रमात्मक उच्चारण करना उनकी अनभिज्ञता है।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ '**श**' और '**ष**' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा अपनी पूर्ववर्त्तिनी भाषाओंसे मिली है। '**श**' '**स**' और '**ष**' के उच्चारणका विभेद संस्कृततक तो उपलब्ध है पर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पडता। पालिमें '**श**' '**ष**' और '**स**' के लिये केवल दन्त्य '**स**' का ही प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था। मागधी प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य '**श**' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। पर हमारी आजकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंको शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः हम प्रयोग तो तीनों ध्वनियोंका कर रहे हैं परन्तु उच्चारणमें अबतक केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' का ही उपयोग करते हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो कुछ विशेष परिस्थितियोंमें वस्तुतः दन्त्य 'स' का ही मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अपना ध्वनि-नियम है, जैसे प्रायः **इ ऊ ऋ ए ओ ऐ ह य व र ल क ख ग घ ङ ट ठ ड ढ ण** और **ष** के पश्चात् दन्त्य '**स**' के स्थानमें ही संस्कृतमें मूर्धन्य **ष** हो जाता है। जैसे—विष, ऋषि आदि। किन्तु तालव्य '**श**' और मूर्धन्य '**ष**' में उच्चारणकी गडबडी अनभिज्ञताका ही फल है।

ऐसा भ्रम '**क्ष**' के उच्चारणमें भी दिखाई देता है। विभिन्न स्थानोंमें लोग **क्ष** का उच्चारण **क्ख्य**, **क्श** या **क्स** के समान करते हैं। परन्तु नागरीका **क्ष** वास्तवमें क् और मूर्धन्य **ष** के योगसे बनता है। प्रमाणके

लिये ब्राह्मी शिलालेखोंमें आए हुए क्ष को देखना चाहिए। उसमें क और ष के संयोगसे बने हुए क्ष का यह रूप देखनेमें आता है—

क ष = क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पढनेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि क् ष के संयोगसे 'क्ष' होता है। इसी प्रकार 'बुभुक्षु' 'मोक्ष' आदिमें 'क्ष' की रचना भी क्+ष से ही होती है। अस्तु, इसके उच्चारणमें सन्देहका तनिक भी स्थान न रहना चाहिए। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि क् + ष का संयोग होनेपर इस ध्वनिने एक मिश्रित रूप धारण कर लिया है अतः उसके लिये 'क्ष' अक्षर अलग बना दिया गया है। उसे 'क्ष' लिखनेकी भूल नहीँ करनी चाहिए अन्यथा उसका उच्चारण 'रिक्शा' मेँ प्रयुक्त 'क्श' के समान होने लगेगा। उसका 'क्ष' रूप ही लिखनेमें प्रयुक्त होना चाहिए और उसका उच्चारण भी क्+ष की मिश्रित ध्वनिके साथ होना चाहिए, क् और ष की क्रमिक ध्वनि लेकर नहीँ।

सबसे अधिक गडबडी ज्ञ के उच्चारणमें पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध 'ग्य' बोलते हैं, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रान्तमे 'ग्यँ' कहते हैं, महाराष्ट्रमे यही वर्ण 'द्न्य' उच्चरित होता है, गुजराती 'ग्न' उच्चारण करते हैं और वेदपाठी-मण्डल इसका उच्चारण ज्ञ करता है। ऐसी स्थितिमें इसका प्रामाणिक उच्चारण स्थिर कर लेना परमावश्यक है।

इस सम्बन्धमे सर्वप्रथम हमें एक सूत्र मिलता है 'जञोर्ज्ञः', जो प्रमाणित करता है कि 'ज्ञ' न तो ग् और ञ के योगसे बना है और न तो द् न् और य से, वरन् यह सन्ध्यक्षर ज और ञ से मिलकर बनता है। ईसासे सौ वर्ष पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही बात प्रमाणित होती है, जिसमे ब्राह्मी 'ज्' और 'ञ' के योगसे बना हुआ 'ज्ञ' इस प्रकार लिखा मिलता है—

E h = ɦ
ज अ = ज्ञ

तीसरा प्रमाण यह है कि सर्वथा प्राचीनतावादी वैदिक मंडली भी 'ज्ञ' ही उच्चारण करती है। संस्कृतमें 'ज ञ संयोगे ज्ञ' कहा भी जाता है। अनेक स्थलोंपर 'ज्ञ' वर्ण की रचना भी ज+ञ के योगसे ही होती है। अस्तु, वेदकी विभिन्न शाखाओं, प्रतिशाख्यों और और शिक्षाओंके अनुसार चाहे उच्चारणमें कुछ वैचित्र्य हो किन्तु हमारी नागरीमें इसका उच्चारण 'ज्ञ' ही होना उचित है।

अनुनासिकका प्रयोग

नागरी भाषाके अध्ययनसे सिद्ध होगा कि संस्कृतकी ध्वनियोंके अतिरिक्त नागरी भाषाकी प्रकृतिमें अनुनासिकका प्रयोग अधिक है। 'अँधेरा, आँख, पाँच, कुँआ, इँडुआ, ईँट, उँगली, ऊँट, एँच-पेँच, ऐँठ, ओँठ, औँधा, कँपकँपी, खाँड, गेंद, घुँघरू, चाँदनी, छींक, जाँघ, झाँझ, ताँत, थूँथडा, दाँत, धौंकनी, दोनों, पोंगा, फूँक, बाँध, भाँग, माँ, में, मैं, टाँयँ-टाँयँ, रँगाई, लँगडा, गाँवँ, चाँटा, गाँजा, साँड, हँडिया, हँसना, हैं' आदि 'शब्दों, भाइयों, लेखों, पुस्तकों' आदि बहुवचनों और 'होना' आदि क्रियाओं-के 'हों, हैं, होंगे' आदि रूपों मे अनुनासिक ध्वनिका ही प्रयोग होता है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्राकृत पदोंमें भी यह मिलता है—

ईसीसि चुम्बिआइँ भमरेहिँ सुउमारदरकेसरसिहाइँ।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ॥

और अपभ्रंशमे भी—

पुत्तेँ जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी, चम्पिज्जइ अवरेण॥

—प्राप्त होता है।

हिन्दीकी विशेष ध्वनियाँ

ड़ ढ़ म्ह न्ह ल्ह नागरीकी विशेष ध्वनियाँ हैं। नागरी भाषाकी गढन देखनेसे ज्ञात होगा कि विदेशी जातियोंके सम्पर्क और अपनी देशी प्रकृतिसे इसमें संस्कृतके अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो संस्कृतके वर्णसमाम्नायमें नहीं हैं।

कुछ लोगोंका कहना है क़ ख़ ग़ ज़ फ़ जो अरबी-फ़ारसीके काफ़, ख़े, ग़ैन, ज़े, ज़ोय, ज़्वाद, फ़े से आए हैं उन्हें **क ख ग ज फ** ही पढ़ा-लिखा जाय। यह बात नागरीकी प्रकृतिके अनुकूल भी है। किन्तु फारसी और अरबीका प्रभाव नागरीपर इतना पडा है कि बहुतसे शब्दोंको कभी-कभी तत्सम रूपमें प्रयोग करना ही पड जाता है। नागरीके बहुतसे नाटककारोंने मुसलमान पात्रोंके मुखसे फारसी-निष्ठ नागरी कहलाई है। वह जबतक उसी प्रकार उच्चरित न होगी तबतक उसका ठीक प्रभाव नहीं पड सकता। अतः व्यवहारतः नागरी भाषामें जो फारसी या अरबीके शब्द **क़ ख़ ग़ ज़ फ़** से युक्त आवें उनमें प्रयुक्त होनेवाली ये ध्वनियाँ **क ख ग ज फ** ही उच्चरित की जायँ, किन्तु यदि कहीं तत्सम रूपमें इन ध्वनियोंका प्रयोग कराना हो तो मूल रूपमें कराया जाय।

ड़ और ढ़ का प्रयोग 'बडा, सडा, कड़ा, पडा, जोड, तोड, बड़ाई, बूढा, पढना, गढा, कढ़ी, मढी, गाढ़ा' आदि शब्दोंमें होता है। ये ध्वनियाँ शुद्ध मूर्धन्य न होकर विसर्प मूर्धन्य हैं अर्थात् जीभको मूर्धासे लगाकर उच्चरित करनेके बदले जीभको मूर्धासे रगड़कर इनका उच्चारण किया जाता है। इन दो ध्वनियोंका संस्कार इतना प्रबल हो गया है कि संस्कृतवाले भी 'गरुड़' को 'गरुड' और 'गूढ' को 'गूढ़' पढ़ते-बोलते हैं।

वैदिक ळ का प्रयोग

ळ का प्रयोग वेदों में हुआ है, नागरीमें इसका प्रयोग नहीं होता। मेरठके आसपास 'हल्दी, बैल' आदि कुछ शब्दोंके 'हळदी, बळद' आदि पर्यायोंमें इसका प्रयोग होता है। कुछ लोगोंने ड़ को ही ळ समझने

की भूल की है और वे 'खिचडी'को 'खिचळी' लिखते हैं किन्तु ड़ और ळ में अन्तर यह है कि ड को मूर्धापर जीभ रगडकर बोलनेसे ड़ होता है और तालुपर ल के साथ जीभ रगडकर बोलनेसे ल़ या ळ होता है।

नागरीकी कुछ विचित्र ध्वनियाँ

नागरीकी कुछ ध्वनियाँ बडी विचित्र हैं। ये हैं तो मिश्र ध्वनियाँ किन्तु सन्ध्यक्षरके समान लिखे जानेपर भी उनका उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है, पूर्णाघातसे नहीं। ये ध्वनियाँ हैं **म्ह**, **न्ह** और **ल्ह**। पालि और प्राकृतोंके 'अम्हाक, पन्ह और कल्हार'में जो **म्ह न्ह** और **ल्ह** आते है उनके **म्**, **न्** और **ल्** पूर्ण स्वराघातके साथ 'अम्‌हाक, पन्‌ह' और 'कल्‌हार'में उच्चरित होते हैं। किन्तु नागरीके 'तुम्हारा', 'पिन्हाना' और 'कोल्हू'में आनेवाले **म् न्** और **ल्** अत्यन्त अल्प स्पर्शके साथ बोले जाते हैं। कभी-कभी इन **म्ह** और **न्ह** में प्रयुक्त **म्** और **न्** के अल्प स्पर्शका यह परिणाम हुआ है कि 'कुम्हार'को 'कुँभार', 'जम्हाई'को "जँभाई' और 'कान्हा'को 'काँधा', अर्थात् **म्ह** और **न्ह** को लोग **भ घ** पढ़ने-बोलने लगे।

न्य का प्रयोग ब्रज तथा अवधीमें 'पन्यो, जन्यो, भन्यो' आदिमें होता है और मराठीमें 'दुसन्या'के रूप मे होता है।। इसमे भी **र्** का उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है पूर्णाघातसे नहीं। य से पूर्व मिलने-वाले सभी व्यञ्जनोंका अवधी और ब्रजमें ऐसा ही अल्प स्पर्श होता है जैसे 'छक्यौ, जग्यौ, बन्यौ' आदिमें। इसकी चर्चा प्रथम खडमें की जा चुकी है।

देश-भेदसे उच्चारणमें विकार

नागरीमें उच्चारणकी इतनी व्यवस्था होनेपर भी देश-भेदसे कुछ विकार आ ही गए है। अ या अकारयुक्त सभी व्यजनोंको पजाबमें **का खा गा घा** पढते हैं, पश्चिमी उत्तर प्रदेशवाले **क ख ग घ** को **कै खै गै घै** कहते हैं और 'रहना' को 'रैहना', 'कहना' को कैहना',

'पहले' को 'पैहले' पढ़ते-बोलते हुए भी 'कलम' को ठीक पढते हैं अर्थात ह के पूर्वके स्वरको ही ऐ कर देते है। अक्षरको अलग-अलग **का खा गा घा** उच्चारण करनेवाले पंजाबी भी शब्दोच्चारणमे 'कहना' को 'कैणा' बोलेंगे और पढते समय यदि उन्होंने बडी कृपा की तो 'कैना' पढेंगे। यही अकारकी ध्वनि पूर्वमे जाकर कुछ ओकारकी ओर प्रवृत्त होती है और बगालमें जाकर **क ख ग घ** भी शुद्ध **को खो गो घो** हो जाते हैं। विलक्षण बात यह है कि वे कभी कभी एक शब्दमें एक-दो अक्षरोंको तो गोल ओकारके साथ बोलते हैं और एक-आधको शुद्ध, जैसे 'कमल' शब्दको वे 'कोमोल' बोलते हैं।

शब्दके अन्तकी **इ** और **उ** को दीर्घ पढना—बोलना नागरीवालोंकी साधारण प्रकृति है। वे 'कवि' को 'कवी', 'भानु' को 'भानू', 'वायु' को 'वायू' पढते-बोलते हैं।

ऐ और **औ** के सबध में हम ऊपर विस्तारसे बता आए हैं। 'ऐसा' को 'एसा', 'मैं' को 'में' कहनेकी प्रकृति मारवाड और गुजरातमें बहुत है। मारवाडमें 'और' को 'ओर', 'कौन' को 'कोन' पढा-बोला जाता है। इसके ठीक विपरीत ब्रजमें **ए** को **ऐ** और **ओ** को **औ** पढने-बोलनेका अभ्यास है। वे 'जिसने' को 'जिसनै', 'प्रेम' को 'प्रैम', 'उसको' को 'उसकौ, उसकौं' 'दोनों' को दोनौं' पढते-बोलते हैं।

यद्यपि **ङ** का उच्चारण जीभको घण्टीसे आगे लगाकर नाकसे किया जाता है और इसका प्रयोग भी नागरी में अलग नहीं होता किन्तु वर्णमाला में पढते हुए इसे पजाबवाले 'अगऽ' और 'ङे' पढते हैं।

च छ ज झ हैं तो तालव्य, किन्तु महाराष्ट्रवाले ठेठ मराठी शब्दोमे इन्हें वर्त्स्य और दन्त्य बनाकर **च़ छ़ ज़ झ़** बोलते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि **ड** और **ढ** को प्रायः लोग **ड़** और **ढ़** पढते और बोलते हैं जैसे 'गुडाकेश' को 'गुड़ाकेश', 'गूढ' को 'गूढ़' आदि। किन्तु यदि **ड** औ **ढ** किसी शब्दके प्रारभमें आवें तब वे मूल रूपमें ही बोले जाते हैं जैसे '**डकार, डलिया, ढकना, ढोल, ढमाढम**'। बिहार और

सिधमे '**ड़**' का '**र**' हो जाता है, वहाँ 'सड़क' भी 'सरक' बन जाती है। हमारे कवि लोग भी इसी झोंकमे 'पतझड' को 'पतझर' लिखने लगे हैं।

ण को प्रायः लोग **ड़** से मिला देते हैं। ऐसे लोग 'गरुड' को 'गरुण' और 'गणेश' को 'गडेश' लिखते-बोलते हैं।

ध को पजाबम **त** ही पढ़ते-बोलते हैं और 'धेनु' वहाँ 'तेनू' हो जाती है।

व और **ब** का भी ऐसा ही घपला होता है। उत्तर भारतमें **ब** का अधिक प्रयोग होता है। वहाँ 'वन, वृक्ष, वानर, विमान' भी 'बन, बृक्ष, बानर, बिमान' हो जाते हैं। किन्तु दक्षिणवाले **व** का शुद्ध उच्चारण करते हैं। वहाँ 'वहिणी (बहन), वाँदरा (वानर)' में **व** का ही प्रयोग होता है।

पजाबमें **भ** को **प** बोलते हैं जिससे 'भानु' भी 'पानू' हो जाता है।

य को **ज** पढने-बोलनेकी प्रवृत्ति भी उत्तर भारतके पूर्वी भागमे है। वहाँ 'यज्ञ'को 'जग्य', 'यजमान'को 'जजमान', 'यदाकदा'को 'जदाकदा' कहते हैं किन्तु वहाँ भी 'यहाँ, यार, ये, यहूदी' आदिको 'जहाँ, जार, जे, जहूदी' नहीं कहते अर्थात् तत्सम शब्दोंके प्रारम्भमे आनेवाले **य** को ही वे **ज** बोलते हैं। 'नियन्ता' को 'निजन्ता' नहीं कहते।

श, **स** मे कहीं तो **श** का **स** जैसे 'प्रकाश'का 'प्रकास', कहीं **स** का **श** जैसे 'कैलास' का 'कैलाश' हो जाता है। मेवाडमे **स** का **ह** हो जाता है। वहाँ 'साढ़े सात' भी 'हाड़े हात' बन जाता है।

मध्यभारतमें भी 'वह'को 'वो' कहनेका अभ्यास है।

'रलयोरभेदः' से **ल** का **र** तो बहुधा हो जाता है। 'गाली' भी 'गारी' हो जाती है, 'मन्दिर' भी 'मन्दिल' हो जाता है।

नागरीकी विश्लेषण-प्रकृति

नागरीकी वास्तविक प्रकृति सन्ध्यक्षरोंको तोडकर बोलनेकी है। 'दरपन, करम, धरम, परगट, गुपुत, सरग' आदि सच्चे ठेठ नागरी शब्द

हैं जिनका प्रयोग कवियोंने खुलकर किया है, किन्तु अब प्रवृत्ति है 'दर्पण, कर्म, धर्म, प्रकट, गुप्त, स्वर्ग' आदि तत्सम रूपमें लिखनेकी। अतः लिखते तो लोग तत्सम रूपमें हैं किन्तु प्रायः बोलते हैं 'दरपण, करम, धरम' ही।

स के साथ बने हुए सन्ध्यक्षरोंसे प्रारंभ होनेवाले शब्दों से पहले प्रायः अ या इ जोडकर उनका उच्चारण किया जाता है जैसे 'स्नान'को 'अस्नान', 'स्कूल'को 'इस्कूल', 'स्तोत्र'को 'अस्तोत्र' आदि। अवधके रहनेवालोंकी कुछ अपनी विशेषता हे। वे ए को या, ओ को वा कर देते हैं। उनका 'लोटा' भी 'ल्वाटा' हो जाता है और 'देखो' भी 'द्याखौ' हो जाता है।

राजस्थानमें दो प्रकारके व चलते हैं—

१. दन्त्योष्ठ्य व (v और २ द्व्योष्ठ्य व (w)। एक ही शब्दमे दोनो प्रकारके व लगा देनेसे उनके अर्थमें भेद आ जाता है। जैसे—'वात = वायु' किन्तु 'वात = कहानी'। इसी प्रकार 'वार = दिन' किन्तु 'वार = सहायताके लिये पुकारना।'

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेशमें एक वाक्य-ध्वनि होती है अर्थात् एक विशेष स्वरके आरोह-अवरोहके साथ वाक्य कहनेकी चाल होती है। यह ध्वनि लिखकर नहीं बताई जा सकती।

सिन्धी वर्णमालामें नागरी वर्णमालाकी ध्वनियोंके अनिरिक्त उपध्मानीय ब और अन्तःश्वसित ड हैं जो भीतर ही साँस लेकर बोले जाते हैं।

पजाबवाले पूरी वर्णमालाको आकारके साथ 'का खा गा घा' उच्चारण करते हुए तो पढते ही हैं साथ ही सध्यक्षरोको अलग-अलग उच्चरित करते हैं जैसे 'प्रकार' को 'परकार', 'स्टेशन' को 'सटेशन'।

गुजरातीमें 'च' और 'ज' तो ठीक बोला जाता है पर 'झ' को वे भी 'झ़' कहते हैं।

मध्यभारत और मध्यप्रान्तमे 'रक्खा जाता है' को 'रखा जाता है' लिखते और बोलते हैं।

दक्षिण भारतमे ह्रस्व 'ओ' तथा 'ए' का प्रयोग भी होता है जिसका प्रयोग हमारे यहा भी ब्रज और अवधीमे होता है और जिसकी व्याख्या हम पीछे कर चुके हैं।

'ढ़' को पश्चिमी उत्तरप्रदेशमे 'ढ' ही पढ़ते हैं—'मै तो नागरी पढरया (पढ रहा) हूँ।' कोटा तथा राजपूतानेके कुछ भागोंमें भी 'पड़ा है' को 'पडा है' तथा 'पढ़ता है' को 'पढता है' बोलते हैं। इस ड़ ढ़ के कारण नागरीवाले जब संस्कृत पढते हैं तो 'गुडाकेश' को 'गुड़ाकेश' और 'गूढ' को 'गूढ़' पढ़ते हैं। सिन्धवाले इस 'ढ'को 'न्ह' बोलते हैं जैसे 'पढना' को 'पन्हना'। इसके अतिरिक्त ह्रस्व दीर्घकी अशुद्धियाँ व्यापक रूपसे होती है। मराठी-गुजरातीवाले 'सीताराम' को 'सिताराम' लिखते हैं।

तमिळ, तेलुगु, कन्नड, और मलयाळम्के क्षेत्रमें भी नागरीके उच्चारणमें बहुत दोष आ गए हैं जैसे 'सीताराम' को वे 'सीथाराम' लिखते है या सीताराम लिखकर 'सीथाराम' पढते हैं।

भारतके विभिन्न प्रान्तोंमे दुरुच्चारणकी कुछ विशेषताओका यथासभव परिचय दे दिया गया है। इस समय भारत भरमें नागरी भाषा पढाई तो जा रही है किन्तु उच्चारण और भाषा रूपकी अत्यन्त अवर्णनीय दुर्गति हो रही है।

नागरीके व्यंजनोंका कोष्ठक

उच्चारण-करण		ओष्ठ		जिह्वाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वामध्य	जिह्वामूल	
प्रयत्नकृत भेद	स्थानकृत भेद	द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	दन्त्य-वर्त्स्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	मूर्धन्य	कंठ्य	जिह्वा-मूलीय	काकल्य
स्पर्श	अल्प-प्राण	प् ब्	..	त् द्	...	...	...	.	ट् ड्	...	क् ग्	*
	महाप्राण	फ् भ्	..	थ् ध्	...	...	...	..	ठ् ढ्	..	ख् घ्	..
स्पर्श-घर्ष	अल्प-प्राण	...	..	...	...	...	...	च् ज्	...	..	...	...
	महाप्राण	...	...	...	...	..	...	छ् झ्	...	...	...	...
आनुनासिक	अल्प-प्राण	म्	...	...	न्	...	ञ्	.	ण्	ङ्	...	...
	महाप्राण	+ म्ह्	...	.	+ न्ह्	.	..	...		..	.	...
पार्श्विक	अल्प प्राण	...	...	...	ल्	...	..	..	...	. .	...	..
	महाप्राण	...	.	...	+ ल्ह्	...	...	...	...	...	...	...
लुण्ठित	अल्प-प्राण	. .		...	र्	...	...	...	...	...	...	...
	महाप्राण	...		...	+ र्ह्	...	...	...	.	...	...	...
उत्क्षिप्त	अल्प-प्राण	...	.	..	.		...	..	ड़् (ळ्)	..	...	..
	महाप्राण		.	. .	...	...	...	...	ढ़् (ळ्ह)	...	...	...
घर्ष	.		*फ़	..	. .	स् *ज़्	श्	...	ष्	...	*ख़ *ग़	ह् (:), ह्
अन्तःस्थ (अर्ध-स्वर)	. .	व्	व्	..	...	...	य्	..	..	व् (सयुक्ताक्षरमें)	...	.

देखिए—रेखाङ्कित ध्वनियाँ श्वास ध्वनियाँ हैं। अन्य सभी ध्वनियाँ नाद-ध्वनियाँ हैं। + चिह्न जिन ध्वनियोंके पूर्वमें हैं, वे ध्वनियाँ आधुनिक भाषा-शास्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार नई विकसित हुई हैं।

तृतीय खंड

१

नागरी व्याकरण

पिछले प्रकरणोमे नागरी वर्णमाला तथा शब्द और वाक्यकी परिभाषाएँ बताई जा चुकी है और कहा जा चुका है कि वाक्यस्फोट ही सबसे बडा स्फोट है अर्थात् वास्तविक अर्थ वाक्यमे ही होता है, शब्दमे नहीं। यह भी बताया जा चुका है कि शब्द तीन प्रकारके होते है। नाम (सज्ञा), अव्यय, स्वयस्फुट।

नामके अन्तर्गत वस्तुओ, क्रियाओ और गुणोके नाम आते हैं। इसके अनुसार नामके तीन भेद हो जाते हैं—वस्तुनाम, क्रियानाम और गुण नाम। इनके अनुसार शब्दोके भी तीन रूप हो जाते हैं—१. सज्ञा, २ क्रिया, ३ विशेषण।

अव्ययके अन्तर्गत कुछ शब्द सम्बन्ध-सूचक होते है, कुछ समुच्चयबोधक।

सज्ञाके बदले जो शब्द काम आते है, उन्हे सर्वनाम कहते हैं।

हर्ष, शोक, विस्मय, क्रोध आदिके समय सहसा मुँहसे निकल पडनेवाले शब्द स्वयस्फुट कहलाते है।

इस प्रकार वाक्यमे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोके निम्नलिखित भेद हो जाते है—

१ वस्तुओका नाम बतानेवाले शब्द (सज्ञा)

२. क्रियाका नाम बताने वाले शब्द (क्रिया)

३ व्यक्तियो, तथा वस्तुओके गुण बतानेवाले शब्द (सज्ञा विशेषण)
४ क्रियाओके गुण बतानेवाले शब्द (क्रिया-विशेषण)
५ सज्ञाके बदले आनेवाले शब्द (सर्वनाम)
६ दो शब्दो या वाक्योको मिलानेवाले शब्द (समुच्चय बोधक)
७ क्रियासे सज्ञाका सम्बन्ध बतानेवाले शब्द (सम्बन्ध सूचक)
८ विस्मय, हर्ष, शोक, क्रोध आदिके समय स्वय मुँहसे निकल पडनेवाले शब्द (स्वय-स्फुट) कहलाते हैं ।

ये आठो प्रकारके शब्द विकारी होते है या अविकारी । जिस शब्दके रूप बहुतसे हो सकते हो वे विकारी कहलाते हैं जैसे—'हल, हलो, हलसे, हलोका' ।

जिनमे कोई विकार नहीं आता वे अविकारी या अव्यय कहलाते है, जैसे—'किन्तु, आह, प्रायः' आदि ।

अतः सज्ञा, संज्ञाविशेषण, क्रिया तथा सर्वनाम तो विकारी है और क्रियाविशेषण, सम्बन्ध-सूचक शब्द, समुच्चयबोधक शब्द और स्वयं-स्फुट ये अविकारी या अव्यय है ।

भाषामे जितने शब्द काममे आते है उनकी बनावटके अनुसार उनके चार रूप होते हैं—रूढ, यौगिक, योगरूढ और कूट ।

संज्ञा

जिस शब्दसे किसी वास्तविक या काल्पनिक वस्तुकी पहचान हो उसे सज्ञा कहते है, जैसे—पेड, स्वर्ग, काशी, आत्मा, लालिमा, शक्ति आदि ।

ये सज्ञाएँ निम्नाङ्कित प्रकारकी होती है—

१. व्यक्तिवाचक : जिससे किसी एक वस्तुका नाम जाना जा सके, जैसे—श्रीकृष्ण, काशी, विन्ध्याचल, गगा, नागरीप्रचारिणी सभा ।

२. जातिवाचक सज्ञा : जिससे किसी एक जातिके या एक वर्गकी वस्तुओकी पहचान हो, जैसे—गौ पेड, मनुष्य, नदी, समिति ।

३ भाववाचक सज्ञा : जिससे किसी गुणके नामकी पहचान हो, जैसे—मोटापा, भलाई, लालिमा, खटास।

भावके अन्तर्गत धर्म, गुण, अवस्था तथा व्यापार (कार्य) आदि सब आते है। जाति-वाचक सज्ञासे भी ये भाववाचक सज्ञाएँ बनती है, जैसे—'शत्रु'से 'शत्रुता', विशेषणसे भी बनती है जैसे—'मधुर'से 'मधुरता' और क्रियासे भी बनती है जैसे—'चमकना' से 'चमक'।

कभी-कभी व्यक्तिवाचक सज्ञाएँ भी जातिवाचक बनकर आ जाती है, जैसे—'आप किस **राम**को पूछ रहे हैं। तुम्हारे जैसे सैकडो **भीम** हमने देखे है। वे तो कलियुगके **हरिश्चन्द्र** है। वह बडी **सीता** है।'

कभी कभी जातिवाचक सज्ञाएं भी व्यक्तिवाचक बनकर आती हैं। जैसे—'**देवी**की पूजा चल रही है। यह किस **सम्वत्**की घटना है।' (यहाँ देवीका अर्थ दुर्गा और सम्वत्का अर्थ विक्रम सम्वत् है।) कभी-कभी कुछ उपनाम भी इसी प्रकार चल पडते है जैसे—'भारतेन्दु, पन्त' आदि।

कभी-कभी भाववाचक सज्ञाएं भी जातिवाचकके रूपमे काम आती है जैसे—'ये सब देश देशकी **चलने** है। हमने बहुत **सर्दियाँ** देखी पर ऐसी कभी न देखी।

लिग

जब वाक्यमे किसी सज्ञाका प्रयोग होता है तब लिग, वचन और कारकके अनुसार उस सज्ञाके रूपमे कुछ हेरफेर हो जाता है।

सज्ञाके जिस रूपसे यह बोध होता है कि यह पुरुष है या स्त्री, उस रूपको लिग कहते है। सस्कृतमे तीन लिग माने जाते है—पुलिग (पुलिग शब्द अशुद्ध है), स्त्रीलिग, नपुसकलिग। मराठी, गुजराती आदि कुछ भारतीय भाषाओमे सस्कृतके समान तीन लिंग होते है किन्तु नागरीमे दो ही लिग है—पुलिंग और स्त्रीलिग।

जिनके सम्बन्धमे यह निश्चय है कि ये पुरुष जातिके है, जैसे—'लडका, बैल, साँड, भैसा, हाथी', ये सब पुलिग है। जिनके

सम्बन्धमे यह निश्चय है कि ये स्त्री जातिके है, जैसे—'लडकी, गाय, भैस, हथिनी' आदि, य सब स्त्रीलिग हैं। किन्तु जड पदार्थके लिये नागरीमे लिग निर्णयका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। प्रयोगसे जो सिद्ध हो गया है वही उसका लिग मान लिया गया है।

बहुत-से शब्द उभयलिगी भी होते है। पक्षी, उल्लू, खटमल, केंचुआ, आदि सब शब्द पुलिगमे ही प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार कुछ शब्द सदा स्त्रीलिग मे ही प्रयुक्त होते है, जैसे—मैना, मक्खी, चील, गिलहरी, मछली आदि। कुछ समुदाय-सूचक शब्द भी पुलिग या स्त्रीलिगमे रूढ हो गए है, जैसे—'समूह, झुड, कुटुब, सघ, दल, मडल' तो पुलिग है, किन्तु 'भीड, सरकार, टोली, पुलिस' आदि स्त्रीलिग हैं। यहाँ पुलिसका अर्थ है पुलिसकी टोली। इसी प्रकार 'रामायण' शब्द पुलिग होते हुए भी स्त्रीलिगके रूपमें प्रयुक्त होता है, जैसे—'मेरी रामायण कहाँ गई' वाक्यमे 'रामायण'का अर्थ है 'रामायणकी पोथी'।

लिंग निर्णय

नागरी गद्य-रचनामे प्रायः लोगोको लिग-विषयक कठिनाई पडती है, किन्तु कर्त्ता शब्दके स्वरूप-पर थोडा-सा ध्यान देनेसे ही यह कठिनाई दूर की जा सकती है। हमने बहुतसे शब्द विदेशी भाषाओसे भी लिए है। अतः उनके लिग-निर्णयका सबसे अच्छा मार्ग यह है कि जिस मूल भाषासे शब्द लिया जाय उसीके अनुसार उसका लिग मान लिया जाय। किन्तु कठिनाई तब पड़ती है जब दूसरी भाषाओके नपुसक-लिगी शब्द नागरीमे ले लिए जाते है। नागरीमे नपुसक-लिगी शब्द होता नहीं, इसीलिये कभी हम ऐसे शब्दोको पुलिंग और कभी स्त्रीलिग बना लेते हैं, जैसे—'पुस्तक' शब्द स्त्रीलिग बन गया और 'ज्ञान' 'पुलिग'। ऐसे विदेशी शब्द नागरीमे उभय-लिगी भी होकर चलते है जैसे—'नोटिस, मोटर, पेन (कलम)।'

लिंग-निर्णयकी चार प्रणालियाँ

विदेशी शब्दोके लिंग-निर्णयकी चार प्रणालियाँ है—

१. विदेशी शब्दोका अपने यहाँ भी वही लिंग रक्खा जाय जो उस भाषामे होता है, जैसे—'मेज' फारसीमें स्त्रीलिंग है अतः नागरीमे भी स्त्रीलिंग रहे। यह ठीक नियम है।

२. अपने यहाँ प्रचलित पर्यायके आधारपर विदेशी शब्दका लिंग माना जाय, जैसे—'कलम' शब्द मूलतः पुलिंग है किन्तु हमारे यहाँ उसका पर्याय 'लेखनी' है। अत. लेखनीके लिंगानुसार कुछ लोग 'कलम' को स्त्रीलिंग ही लिखते है और बोलते है। यह अशुद्ध नियम है।

३. किसी दूसरी भाषाके चलते शब्दके बदले अपनी भाषाका पर्याय तो ले लेते है पर लिंग दूसरी भाषाके शब्दका ही रखते है, जैसे अरबीके 'रूह' शब्दके बदले 'आत्मा', 'हवा' के बदले 'वायु' का प्रयोग तो करने लगे पर रक्खा उन्हे स्त्रीलिंग ही। यह अशुद्ध प्रणाली है।

४. शब्द-रूपके अनुसार भी लिंगका निर्णय होता है, जैसे ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग ही होते है किन्तु नागरीमे छह शब्द (दही, मोती, हाथी, घी, जी, पानी) ईकारान्त होते हुए भी पुलिंग ही जाने और माने जाते है। विभक्तिके साथ अकारान्त पुलिंग शब्दोका रूप 'आ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है और यह अकेला 'ए' द्वितीया अर्थात् 'को' का वाचक हो जाता है, जैसे—'आगरे गया' का अर्थ 'आगरेको गया' होता है। पर यह परिवर्त्तन आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोमे नही हो सकता। हम 'कलकत्ते' या 'पटने' तो जा सकते है पर 'मथुरे' नही जा सकते।

साधारणत विशिष्ट लेखकोके प्रयोगानुसार ही लिंग-निर्णय होता है।

बहुत-सी भाषाओमे सज्ञाका ही लिंग परिवर्त्तन होता है पर क्रियाका रूप स्थिर रहता है। किन्तु नागरीमे सज्ञाके साथ साथ

विशेषण और क्रियाका भी लिंग-परिवर्त्तन होता है। जैसे—'**अच्छा** लडका **पढ़ता** है,' '**अच्छी** लडकी **पढ़ती** है।' पर विशेषणके लिंगका यह बन्धन केवल तद्भव शब्दोंके लिये ही है। तत्सम विशेषण के साथ हम कहते है—'**सुन्दर** बालक पढता है।' '**सुन्दर** बालिका पढती है।' कभी कभी किसी शब्दका तत्सम रूप पुलिंग होता है और तद्भव रूप स्त्रीलिंग हो जाता है, जैसे 'श्वास' और 'पृष्ठ' पुलिंग हैं, 'साँस' और 'पीठ' स्त्रीलिंग है।

वचन

संस्कृतमे प्रत्येक संज्ञा तथा विकारी शब्दके तीन वचन होते हैं—एक-वचन, द्विवचन, और बहुवचन। किन्तु नागरीमे दो ही वचन होते है—एकवचन और बहुवचन। जब किसी शब्दको पढने या सुननेसे यह बोध होता हो कि यह एक संख्याका सूचक है तब वह एकवचन कहलाता है, जैसे—डंडा, झोला। जब किसी शब्दको पढने या सुननेसे प्रतीत हो कि यह एकसे अधिक संख्याका बोधक है तब वह बहुवचन कहलाता है, जैसे—डंडे, झोले।

इनके कुछ रूप नीचे देखिए—

लडका—लडके, दूधवाला—दूधवाले, राजा—राजे, बहन—बहनें, तिथि—तिथियाँ, चिडिया—चिडिएँ, लता—लताएँ।

बहुतसे लोग उर्दूके शब्दोका बहुवचन फारसीके नियमसे बनाते हैं, जैसे—शरीफसे अशराफ, हाकिमसे हुक्काम, कागजसे कागजात, पटवारीसे पटवारियान। यह अनागरी प्रवृत्ति अशुद्ध है।

नागरीमे बहुतसे अकारान्त पुलिंग शब्द ऐसे है जो विभक्ति न लगनेपर एकवचन और बहुवचन दोनोमे एकसे रहते है जैसे—

वहाँ एक **छात्र** पढ़ रहा है। वहाँ बहुतसे **छात्र** पढ रहे है।

सामने जामुनका एक **पेड़** खडा है। सामने जामुनके बहुतसे **पेड़** खडे है।

इन वाक्योमे **छात्र** और **पेड़** एकवचन और बहुवचन दोनोमे एक ही रूपमे रहते हैं किन्तु विभक्ति लगनेपर उनके बहुवचनके रूपोमे विकार आ जाता है जैसे—

छात्रने पुस्तक पढी। **छात्रोंने** पुस्तकें पढीं।

पेड़में फल लगे है। **पेड़ोंमे** फल लगे हैं।

कारक और पद

जब किसी वाक्यमे आया हुआ सज्ञा या सर्वनाम शब्द उस वाक्यके किसी दूसरे शब्दसे सम्बन्ध जोडता है तो उस सज्ञा या सर्वनामके साथ '**ने, को, से, पर, का, के लिये, में**' आदि जोडकर जो रूप बनाया जाता है उसे कारक कहते है, जैसे—'रामने लकाके राजा रावणको बाणसे बेधकर लोककी रक्षाके लिये रथसे गिराकर युद्धक्षेत्रमे मार डाला।' इसमे 'रामने, लकाके, रावणको, बाणसे, रक्षाके लिये, रथसे, युद्धक्षेत्रमें' शब्द कारक कहलाते है। कारककी पहचानके लिये सज्ञा या सर्वनामके आगे जो **ने, को, से, के लिये, पर, में, का, की, के,** आदि जोडे जाते है, उन्हे विभक्तियाँ कहते है। ये विभक्ति लगाकर बने हुए शब्द ही 'पद' कहलाते है।

सस्कृतमे उन्हीं पदोको कारक कहते है जिनका सम्बन्ध क्रियासे होता है, किन्तु नागरीमे सज्ञाके साथ सज्ञाका सम्बन्ध बतलानेवाले '**का, की, के** लगे हुए पद भी कारक माने जाते है, जैसे—रामका रथ, रामके भाई, रामकी धर्मपत्नी।

नागरीमे आठ कारक माने गए है, जिनके नाम और उनके साथ लगनेवाली विभक्तियाँ नीचे दी जाती है—

१. कर्त्ता : ने।	५. अपादान : से।
२. कर्म : को।	६. सम्बन्ध : का, की, के।
३. करण : से।	७. अधिकरण : ने, पर।
४. सम्प्रदान : को, के, लिये।	८. सम्बोधन : अरे, ओ, अजी, हे।

कर्त्ता : वाक्यमे जो सज्ञा सीधे कार्य करती या कुछ होती हुई बताई जाती है उसे कर्त्ता कहते है, जैसे—**मोहन** पढता है। **कृष्णने** गौएँ चराई। **घर** खोला जायगा।

कर्म क्रियामे बताए हुए कामका प्रभाव जिसपर पडता है उस सज्ञाके रूपको कर्म कारक कहते है, जैसे—मोहन **गेंद** खेलता है, कृष्णने **यशोदाको** पुकारा।

करण : सज्ञाके जिस रूपसे यह जाना जाता है कि कार्य कैसे (किस व्यक्ति या वस्तु या साधनके द्वारा) किया गया उसे करण कहते है। जैसे—यशोदाने कृष्णको **रस्सीसे** बाँधा। लक्ष्मणने मेघनादको **बाणसे** मारा। राधाने **कानसे** सुना, **आँखोंसे** देखा।

सम्प्रदान . जिसके लिये कार्य किया जाता है उसका परिचय देनेवाले सज्ञाके रूपको सम्प्रदान कारक कहते है। जैसे—रामने **विभीषणको** राज्य दिया। माताजीने **बच्चोंके लिये** मिठाई भेजी है। बलराम **सोने** (**सोनेको** या **सोनेके लिये**) जा रहे है।

अपादान : जिस सज्ञाके रूपसे जाना जाता है कि वह किसी वस्तुसे अलग होनेकी सूचना दे रहा है वह अपादान कारक कहलाता है। जैसे—**पर्वतसे** प्रह्लाद गिरा। **मेकलसे** नर्मदा निकलती है।

सम्बन्ध सज्ञाके जिस रूपका, वाक्यकी किसी दूसरी संज्ञासे अपनेपनका सबध दिखलाया जाय उसे सम्बन्धकारक कहते है। जैसे—**शिवजीका** धनुष। **अयोध्याके** राजा। **सीताजीकी** सखियाँ।

सम्बन्ध कारकमे जिन दो सज्ञाओका सम्बन्ध जोडा जाता है उनमेसे जिसके साथ 'का, के, की' जोडा जाता है उसे भेदक कहते है और जिससे सम्बन्ध जोडा जाता है उसे भेद्य कहते हैं जैसे—'शिवका धनुष'मे '**शिवका**' भेदक है और '**धनुष**' भेद्य। भेद्यके लिग, वचन और कारकके असुसार यह 'का' बदलकर 'की' और 'के' भी हो जाता है।

अधिकरण : संज्ञाके जिस रूपसे यह बताया जाय कि क्रिया कहाँ हुई उसे अधिकरण कारक कहते है। जैसे—राम **चित्रकूटपर** रहने लगे।

लक्ष्मणने **पंचवटीमे** पर्णकुटी बनाई।

सम्बोधन : सज्ञाके जिस रूपसे किसीको पुकारा जाता है उसे सम्बोधन कारक कहते है। जैसे--**हे राम** ! **ऐ लड़के** ! **ओ बेटे** ! **अरी फलवाली** ! आदि।

कभी-कभी 'हे, ऐ, ओ, अरे'के बिना भी सम्बोधन होता है, जैसे—कल्लू !

सम्बोधन कारककी कोई विभक्ति नहीं होती। इस कारकमे सज्ञाके पहले विस्मयादिबोधक अव्यय (स्वयस्फुट) का प्रायः प्रयोग होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि विभक्तियोके पश्चात् और कोई प्रत्यय नहीं लगता।

विभक्तियोंकी उत्पत्ति

कर्त्ताके चिह्न '**ने**' की उत्पत्ति सस्कृतकी तृतीया विभक्ति (करण) के टा (एण) प्रत्यय का बिगडा हुआ रूप है। जैसे—बालकेन शुकः पालितः। [बालकने सुग्गा पाला]।

कर्म और सम्प्रदानकी विभक्ति '**को**' की उत्पत्ति व्यासजी तथा बीम्सके मतानुसार स्वार्थिक 'क' से निकली है किन्तु पंडित गोविन्दनारायण मिश्रजीने विभक्ति-विचारमे लिखा है कि 'कात्यायनने अपने व्याकरणमें 'अम्हाक पस्ससि, सब्बको, अमुको' आदि प्राकृतके उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया है कि इन्हींसे नागरीमे **को** प्रत्यय लगाकर 'हमको, हमे, तुम्हे, सबको' आदि पद बने है।

पडित गोविन्दनारायण मिश्र और हर्नलेके मतानुसार प्राकृतकी 'सुन्तो'से पचमी (अपादान) विभक्ति '**से**' निकला है और इसीसे नागरीके करण और अपादान कारकके पुराने रूप '**तें**' (पुर'**तें**' निकसी) और '**सों**' आदि रूप निकले हैं। केलौगने इसे 'सम' शब्दसे उत्पन्न माना है किन्तु यह ठीक नहीं है।

सम्बन्ध-कारकके चिह्न '**का, के, की**' के सम्बन्धमे कई मत है—

क. सस्कृतके इक प्रत्यय लगनेसे 'का' बना।

ख क प्रत्ययसे मद्रक (मद्रदेशका रहनेवाला) और रोमक (रोमदेशका रहनेवाला) शब्दोके 'क' का 'का' बन गया। जायसीने भी प्रयोग किया है—'तेहिक धुआँ हम लाग।'

ग प्राकृतके 'केरओ, केरिया, केरकं, केर' आदि प्रत्ययोसे (कस्य केरकं एद पवहण = कस्य सन्बन्धिनं इद प्रवहणं = यह किसका रथ है) 'केरा, केरो' और 'का, के, की' प्रत्यय बन गए है।

घ : प्राकृतके 'क्क, इक्क, एच्चय' आदि रूपोसे वर्तमान 'का, केरे, की' प्रत्यय बने।

ङ : सर्वनामोके 'रा, रे, रा' (हमारा, हमारे, हमारा) आदि प्रत्यय 'केरा, केरो' आदि प्रत्ययोके 'क' का लोप होनेसे बने हैं।

चः किन्तु हमारा मत है कि सस्कृतके 'मामकाः' (हमारे) 'तन्निमित्तक कार्य' के 'काः' और 'क' का सीधे 'का' बना जिससे नागरीकी प्रकृतिके अनुसार स्त्रीलिगमे 'की' और बहुवचन पुलिगमे 'के' बन गया।

अधिकरणके 'में' और 'पर'मेसे 'में' की उत्पत्ति सस्कृतकी सप्तमीमे आए हुए 'स्मिन्' या प्राकृतकी सप्तमी विभक्ति 'म्मि' का बिगडा हुआ रूप है। यह 'मध्ये'का अपभ्रश नही है। 'पै' और 'पर' शब्द 'उपरि'से बना हुआ स्वतन्त्र शब्द ही घिसकर विभक्ति बनकर जुट गया है और सस्कृतके 'तदुपरि' जैसे शब्दोकी ढलनपर 'तिसपर' बनकर शब्दमे घुल गया है।

क्रिया

जिस शब्दसे किसीकी कोई गति या स्थिति जानी जाती हो उसे क्रिया कहते है जैसे—वह **है**, वह **जाता है**, वह **भागा**, वह **पढ़ेगा**, आकाश नीला **होता है**।

पीछे बताया जा चुका है कि खाना, पीना, जाना, सोना ये सब क्रियाओंके नाम है। कुछ लोग तो इन्हे धातु कहते है किन्तु कुछ लोग 'खा, पी, सो'को धातु मानते है। नागरी वास्तवमे सस्कृतजन्य भाषा होनेके कारण धातु-मूलक नहीं मानी जा सकती, फिर भी व्यवहारके लिये 'जाना, खाना, पीना' आदिको ही धातु मानना ठीक होगा क्योकि जा खा, पी आदि तो विधिके रूप हो जाते है--तू खा, तू सो, तो पढ आदि। इन्हीं 'जाना, खाना' आदिके रूपोमे हेरफेर करके विभिन्न कालोकी क्रिया बना ली जाती है। जैसे **खाना**से—'खा रहा है, खाता है, खा सकता है, खायगा, खा चुका, खाया' आदि क्रियाएँ बन जाती है।

ये धातुएँ दो प्रकारकी होती हैं—१ सकर्मक और २ अकर्मक। जो धातु बिना किसी कर्मके ही पूरा अर्थ देती है उसे अकर्मक और जिसका अर्थ पूरा करनेके लिये किसी कर्म की आवश्यकता पडे उसे सकर्मक कहते है, जैसे—'**वह सो रहा है**' वाक्यमे '**सो रहा है**' क्रियाके लिये किसी कर्मकी आवश्यकता नही पडती। किन्तु '**वह तोड़ रहा है**', वाक्य कहनेसे यह जिज्ञासा बनी रह जाती है कि 'वह **क्या** तोड रहा है?' अतः यह आवश्यक है कि उसके साथ कोई कर्म लगाकर यह बताया जाय कि 'वह फल तोड रहा है या कोई दूसरी वस्तु तोड रहा है।'

जो व्यक्ति क्रिया करता है उसे कर्त्ता कहते है और कर्त्ता जिस वस्तु या व्यक्तिके प्रति कोई व्यवहार करता सूचित किया जाता है उसे कर्म कहते है जैसे—'रामने रावणको मारा'। यहाँ '**राम**' कर्त्ता है और '**रावण**' कर्म है।

कुछ धातुएँ सकर्मक और अकर्मक दोनो ही होती हैं। जैसे—भूलना, बदलना, ललचाना।

वे भूलते बहुत है (अकर्मक)। वे सब बातें भूल गए (सकर्मक)। जब किसी सकर्मक क्रियाका परिणाम व्यापक होता है तब कर्म बतानेकी आवश्यकता नहीं होती, जैसे—इस क्षेत्रमे कितने सन्यासी खाते हैं।

कुछ अकर्मक धातुएँ ऐसी भी होती है जिनका अर्थ केवल कर्त्ता-से पूर्ण नहीं होता। ऐसी धातुओके साथ सज्ञा या विशेषण जोड दिए जाते है और उन क्रियाओको अपूर्ण क्रिया कहते है जैसे—'होना, रहना, निकलना, ठहरना' आदि। आदमी ढीठ है। नौकर खटपटी **निकला**। वे उनके सहपाठी **ठहरे**। यह डाक्टर चालाक दिखाई **देता है**।

धातुओके दो भेद होते हैं : मूल धातु और यौगिक धातु। मूल धातु किसी दूसरे शब्दसे मिलकर नहीं बनती, जैसे—करना, चलना, लेना। किन्तु जब कोई धातु किसी दूसरे शब्दसे बनाई जाती है तब वह यौगिक कहलाती है जैसे—हाथसे हथियाना, पीटनासे पिटवाना।

क्रियाका उपयोग स्थिति या गतिकी जानकारी करानेके अर्थमे होता है, अतः कर्त्ताके लिग, वचन, पुरुष, काल आदिके अनुसार इसमे रूपान्तर होना अनिवार्य है। इसलिये क्रिया भी विकारी शब्द है। वाच्य, भाव (विधि), पुरुष, लिग, वचन और कालके कारण क्रियामे विकारकी अवस्था होती है।

वाच्य

वाच्य तीन प्रकारके होते है—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

क्रियाके जिस रूपसे वाक्यमे कर्ताके विषयमे कुछ कहा जाता है उसे कर्तृवाच्य कहते है, जैसे—'राम पढता है। वह पत्र लिखता है।' इन वाक्यो मे 'पढता है' और 'लिखता है' क्रियाएँ, कर्ता 'राम' के विषयमे कुछ बताती है, अतएव यहाँ कर्तृवाच्य है।

क्रियाके जिस रूपसे यह प्रकट होता है कि वाक्यमे **कर्मके** विषयमे कुछ कहा गया है, उसे कर्मवाच्य कहते हैं। पुस्तक पढी गई। **पत्र लिखा गया**—इन वाक्यो मे **'पढ़ी गई'** और **'लिखा गया'**

क्रियाओ-द्वारा कर्म 'पुस्तक' और 'पत्र'के सम्बन्धमे कहा गया है, अतः यहाँ कर्मवाच्य है।

क्रियाके जिस रूपसे यह प्रकट होता है कि वाक्यमे कर्त्ता और कर्म इन दोनोके विषयमे न कहकर साधारण रूपसे बात कह दी गई है उसे भाववाच्य कहते है। आजकल पढा नहीं जा रहा है। वहाँ लिखा कैसे जाय। इन वाक्योमे कर्ता या कर्म के विषयमे नहीं कहा गया है। इसलिये यहाँ भाववाच्य है। कर्तृवाच्य तो अकर्मक और सकर्मक दोनो क्रियाओमे होता है किन्तु कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियामे और भाववाच्य केवल अकर्मक क्रिया मे होता है।

भाव या विधि (मूड)

भाव या विधिका अर्थ है रीति या ढग। क्रियाके जिस रूपसे काम करनेके ढगका बोध होता है उसे भाव या विधि कहते है। राम खाता है, राम खाता होगा, कदाचित् राम जाय, तुम पढो, राम खाता तो अच्छा होता, राम जाय, आदि उदाहरणोमे क्रियाके व्यापारके कई भाव बताए गए है, इनसे क्रमश सूचना (निश्चय), सन्देह, सम्भावना, आदेश, सकेत आदिके भाव प्रकट होते है। अत, हम कह सकते है कि क्रियाओके कार्य-व्यापारके अनेक भाव या विधियाँ है—इन भावो (विधियो)को यदि काल-रचनाके अनुसार विभाजित किया जाय तो विदित होगा कि हिन्दीमे कालोके अनेक रूप होते हैं—

१ सूचनात्मक (निश्चयात्मक) : (क) राम खाता है, (ख) राम खा रहा है, (ग) राम खाता था, (घ) राम खा चुका था, (ङ) राम खा रहा था, (च) राम खायगा।

२ सन्देहात्मक : (क) राम खाता होगा (ख) राम खा चुका होगा।

३ सम्भावनात्मक · (क) कदाचित् राम खाता हो, (ख) कदाचित् राम खा चुका हो, (ग) कदाचित् राम खाय।

४ आदेशात्मक (क) तुम चलो, (ख) तुम कल आना, (ग) वह जाय।

५ सकेतात्मक—(क) यदि राम खाता, (ख) यदि राम खा चुका होता, (ग) यदि राम खाता रहता, (घ) वे आते तो अच्छा होता।

६ समर्थनात्मक : (क) राम खाय तो खाय (मुझे कोई आपत्ति नहीं), राम खा सकता है।

७. समाह्वानात्मक (तर्जनात्मक) सामने आवे तो सही! आ चुके! (वे क्यो खाकर मेरे सामने आवेंगे?) आवे तो? समझ न लूँगा? वह उठ चुका! आ जाओ एक-एक करके!

८ : कामनात्मक . बेचारेकी नौकरी लग जाती! पोता हो जाता तो सुखसे सोती। भगवान करे वह सौ बरस जिए।

९. आशीर्वादात्मक दूधो नहाओ, पूतो फलो।

१०. प्रश्नात्मक (क) क्या राम वहाँ गया था? (ख) क्या राम नहीं जायगा? (ग) जब राम कृष्णके पास गया और उसने मेरे विषयमे पूछा तब कृष्णके मुँहका भाव कैसा हो गया था?

११. उपदेशात्मक : बडोकी सेवा करोगे तो तुम्हे लाभ ही होगा।

१२ अधिकारात्मक : रामको यह काम करना ही होगा।

१३. प्रार्थनात्मक (क) अनुनय है कि इस बार इसे मुक्त कर दीजिए। (ख) अनुरोध करता हूँ मेरी प्रार्थना मत ठुकराइए।

१४. व्यग्रतासूचक मेरी जवाएँ टूट गई? कैसे? किसने तोड दीं? तलवार तो लाओ।

१५. हास्यात्मक नाक क्या जैसे सिघाडा छीलकर टाँक दिया हो।

१६ उपेक्षात्मक : उनके उठाए उठ चुका।

१७ व्यग्यात्मक : उडा लो मौज चार दिन अपने चचाके बलपर।

१८. चाटुकारितायुक्त . आपके समान दाता तो कर्ण भी नहीं था।

इससे स्पष्ट होता है कि कार्यके भाव (विधि)के अनुसार क्रियाओंके अनेक रूप हो सकते है।

पुरुष, लिग और वचन

पहले बताया जा चुका है कि हिन्दीमे तीन पुरुष (उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष) दो लिग पुलिग और स्त्रीलिग तथा दो वचन (एकवचन और बहुवचन) होते है। पुरुषका मुख्य विचार सर्वनामोमे ही होता है क्योकि सभी सज्ञाएँ अन्य पुरुष (प्रथम पुरुष) मे होती है।

पुरुष, लिग और वचनके अनुसार कर्त्ताका जो रूप होता है, वही क्रियाका भी होता है। नीचेके उदाहरणोसे यह बात स्पष्ट हो जायगी—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	मै खाता हूँ (खाती हूँ)	हम खाते है (खाती है)
म० पु०	तू खाता है (खाती है)	तुम खाते हो (खाती हो)
अ० पु०	वह खाता है (खाती है)	वे खाते है (खाती है)

किसी वाक्यमे कर्त्ता अथवा कर्मके पुरुष, लिग और वचनके अनुसार क्रियाका जो अन्वय होता है उसे **प्रयोग** कहते है। हिन्दीमे 'कर्त्तरि, कर्मणि और भावे' ये तीन प्रयोग होते है।

कर्त्ताके पुरुष, लिग एव वचनके अनुसार जिस क्रियाका रूप परिवर्तन होता है उसे कर्त्तरि प्रयोग कहते है, जैसे—राम खाता है। राम पढता है। रमा खाती है।

कर्मके पुरुष, लिग एव वचनके अनुसार जिस क्रियाका रूप परिवर्तन

होता है उसे कर्मणि प्रयोग कहते है, जैसे—रामने पुस्तक माल ली, रामने पत्र लिखा।

कर्ता अथवा कर्मके अनुसार जिस क्रियाके पुरुष, लिग एव वचन नहीं होते अर्थात् जो क्रिया सदा अन्य पुरुष, पुलिंग एकवचनमे रहती है उसे भावे प्रयोग कहते हे—कपडा सिया जाता है, खाना खाया जाता है।

जब कर्मसे 'को' लगा रहता है तब क्रिया सदा पुल्लिगमे होती है। 'रामने कुटियाको छोडा। रामने कुटिया छोडी।'

यद्यपि ये दोनो वाक्य शुद्ध है किन्तु व्यवहारकी दृष्टिसे दूसरे वाक्य-रूपका प्रयोग ही अधिक सगत है।

काल

कालका अर्थ हे समय। किसी कार्यके सम्पादनके तीन समय होते है—१. कार्य पहले किया गया हो, २. कार्य इसी समय हो रहा हो, ३. कार्य आगे चलकर किया जानेवाला हो। इसे ही क्रमशः भूत, वर्त्तमान और भविष्य काल कहते है। 'रामने लिखा' यह कार्य पहले हुआ, इसलिये यहाँ क्रिया भूतकालकी है। 'राम लिख रहा है' यह कार्य उसी समयकी है जब यह बात कही जा रही है, इसलिये यहाँ क्रिया वर्तमानकालकी है। 'राम लिखेगा' यह कार्य आगे चलकर होनेवाला है, इसलिये यहाँ क्रिया भविष्यत्काल की हुई।

इन तीनो कालोमे भी पूर्णता, अपूर्णता, सभावना आदिकी दृष्टिसे इनके कई भेद किए गए है। क्रियाके जिस रूपसे कार्य-व्यापारकी सामान्य अवस्थाका बोध होता है, उसकी पूर्णता या अपूर्णताका ज्ञान नहीं होता, उसे कालकी सामान्य अवस्था कहते हैं। कार्यकी सामान्य, अपूर्ण और पूर्ण अवस्थाके भेदसे कालोके भेद इस प्रकार किए जा सकते है—

वर्त्तमान काल—राम खाता है (सामान्य अवस्था), राम खा रहा है (अपूर्णावस्था), राम खा चुका है (पूर्णावस्था)।

भूत काल—रामने खाया (सामान्य अवस्था), राम खा रहा था या राम खाता था (अपूर्णावस्था), राम खा चुका था (पूर्णावस्था)। भविष्यत्कालके विषयमे पूर्णता या अपूर्णताकी बात नहीं बताई जा सकती। अतः भविष्यत्कालका बोध केवल सामान्य भविष्यत्से होता है, जैसे—राम खायगा।

सामान्य वर्तमान कालसे ज्ञात होता है कि कार्यका आरम्भ कहनेके समय हुआ है, जैसे—राम खाता है। लड़का जाता है। गाडी आती है।

अपूर्ण वर्तमान कालसे ज्ञात होता है कि कहनेके समय कार्य हो रहा है, पूरा नही हुआ है, जैसे—राम पढ़ रहा है। श्याम पत्र लिख रहा है।

पूर्ण वर्तमान कालसे ज्ञात होता है कि कार्य वर्तमान कालमे ही पूरा हुआ है, जैसे—राम खा चुका है। पत्र भेजा गया है।

सामान्य भूत कालसे ज्ञात होता है कि कार्य कहनेके पूर्व हुआ, जैसे—रामने खाना खाया। उसने पुस्तक पढ़ी।

अपूर्ण भूतकालसे ज्ञात होता है कि कार्य भूत कालमे पूरा नहीं हुआ वरन् होता चलता रहा, जैसे—राम खा रहा था। श्याम चलता था।

पूर्ण भूतकालसे प्रकट होता है कि कार्य बहुत पहले सम्पन्न हो चुका था, जैसे—राम खा चुका था। श्याम जा चुका था।

सामान्य भविष्यत्कालसे बोध होता है कि कार्य आगे चलकर आरम्भ होनेवाला है, जैसे—राम भोजन करेगा। वह पत्र लिखेगा।

भाव (विधि) के प्रकरणमे बताया जा चुका है कि क्रियाओके अनेक रूप हो सकते है। इनमे सोलह रूप कालके अनुसार ही होते है। इनमे चार रूप वर्तमान कालके, पॉच रूप भूतकालके, दो रूप भविष्यत्कालके, तीन रूप विधि और आदेशके तथा तीन रूप संकेतात्मक या हेतु-हेतुमद्भूतके हैं। विशुद्ध कालकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वर्तमान कालके छह रूप (दो

विधि और आदेशके सहित जैसे—तुम चलो, वह पढे), भूतकालके तीन रूप (हेतुहेतुमद्भूतके सहित, जिन्हे हम संकेतात्मक लिख चुके है) और भविष्यकालके तीन रूप (विधिके एक रूप सहित, जैसे—तुम कल आना) होते है।

वर्तमान काल

१. सामान्य (अपूर्ण) वर्तमान—राम खाता है। राम जाता है।
२ पूर्ण वर्तमान (आसन्नभूत)—राम आया है।
३ सन्दिग्ध वर्तमान—राम खाता होगा।
४ तात्कालिक वर्तमान—राम खा रहा है।
५. विधि—राम खावे।
६ आदेश—तुम चलो।

भूतकाल

१. सामान्य भूत—रामने खाना खाया।
२. अपूर्ण भूतकाल—राम खाना खाता था।
३ पूर्ण भूतकाल—रामने खाना खाया था।
४. सन्दिग्धभूत—राम खाता होगा।
५ तात्कालिक भूत—राम खा रहा था।
६. सामान्य सकेतात्मक भूत—(हेतुहेतुमद्भूत)—राम खाता।
७. अपूर्ण सकेतात्मक भूत—(हेतुहेतुमद्भूत)—राम खाता तो अच्छा होता।
८. पूर्णसकेतात्मक भूत—(हेतुहेतुमद्भूत)—राम खाता तो अच्छा होता।

भविष्यत्काल

१. सामान्य भविष्य—राम खायगा।
२. आदेशात्मक—तुम कल आना।
३. संभाव्य भविष्य—कदाचित् राम खाय।

हिन्दीके सभी क्रियापद चार धातुरूपोकी सहायतासे ही बनते है। ये चार रूप 'ह, था, गा और हो' हैं। 'ह' के रूप केवल वर्तमान कालमे और 'था' के रूप केवल भूतकालमे पाए जाते है।

नीचे इन धातुओ के रूप दिए जाते हैं—

'ह' धातु

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुप	मै हूँ	हम है
मध्यम पुरुप	तू है	तुम हो
अन्य पुरुप	वह है	वे है

'था' धातु

	एकवचन	बहुबचन
उत्तम पुरुप	मै था (थी)	हम (थीं)
मध्यम पुरुप	तू था (थी)	तुम थे (थीं)
अन्य पुरुष	वह था (थी)	वे थे (थीं)

नीचे अन्य धातुओके विविध रूपोके उदाहरण दिए जाते हैं—

'हो' धातु

विधि और आदेश

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुप	मै होऊँ (हूँ)	हम होवें (हो)
मध्यम पुरुष	तू होवे (हो)	तुम होओ (हो)
अन्य पुरुष	वह होवे (हो)	वे होवें (हो)

भविष्यत्काल—'गा' प्रत्ययान्त

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	मै होऊँगा (हूँगा) (गी)	हम होवेंगे (होगे) (गी)
मध्यम पुरुष	तू होवेगा (होगा) (गी)	तुम होओगे (होगे) (गी)
अन्य पुरुष	वह होवेगा (होगा) (गी)	वे होवेंगे (होगे) (गी)

भूतकाल—'ता' प्रत्ययान्त

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	मै होता (ती)	हम होते (ती)
मध्यम पुरुष	तू होता (ती)	तुम होते (तीं)
अन्य पुरुष	वह होती (ता)	वे होते (तीं)

भूतकाल—'आ' प्रत्ययान्त

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुप	मै हुआ (ई)	हम हुए (ई)
मध्यम पुरुष	तू हुआ (ई)	तुम हुए (ई)
अन्य पुरुष	वह हुआ (ई)	वे हुए (ई)

'है' 'था' और 'गा' धातु के साथ अन्य धातुओके विधि, हेतुहेतुमद्-भूत और सामान्य भूतके रूपोके योगसे ही समस्त क्रियापद बनाए जाते है ।

सामान्य वर्तमानकाल

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	मै होता (होती) हूँ	हम होते (होती) हैं
मध्यम पुरुष	तू होता (होती) है	तुम होते (होती) हो
अन्य पुरुष	वह होती (होती) है	वे होते (होती) है

तात्कालिक वर्तमानकाल

उत्तम पुरुष	मै हो रहा (हो रही) हूँ	हम हो रहे (हो रही) हैं
मध्यम पुरुष	तू हो रहा (हो रही) है	तुम हो रहे (हो रही) हो
अन्य पुरुष	वह हो रहा (हो रही) है	वे हो रहे (हो रही) है

पूर्ण वर्तमानकाल

उत्तम पुरुष	मै हुआ (हुई) हूँ	हम हुए (हुई) है
मध्यम पुरुष	तू हुआ (हुई) है	तुम हुए (हुई) हो
अन्य पुरुष	वह हुआ (हुई) हे	वे हुए (हुई) हैं

सन्दिग्ध वर्तमानकाल

उत्तम पुरुष	मै होता हूँगा (होती, हूँगी)	हम होते (होती होगी)
मध्यम पुरुष	तू होता होगा (होती होगी)	हम होते होगे (होती होगी)
अन्य पुरुष	वह होता होगा (होती होगी)	वे होते होगे (होती होगी)

अपूर्ण वर्तमानकाल

उत्तम पुरुष	मै होता होऊँ (होती होऊँ)	हम होते हो (होती हो)
मध्यम पुरुष	तू होता हो (होती हो)	तुम होते हो (होती हो)
अन्य पुरुष	वह होता हो (होती हो)	वे होते हो (होती हो)

सामान्य भूतकाल

उत्तम पुरुष	मै हुआ (हुई)	हम हुए (हुई)
मध्यम पुरुष	तू हुआ (हुई)	तुम हुए (हुईं)
अन्य पुरुष	वह हुआ (हुई)	वे हुए (हुईं)

हेतुहेतुमद्भूतकाल

उत्तम पुरुष	मै होता (होती)	हम होते (होतीं)
मध्यम पुरुष	तू होता (होती)	तुम होते (होतीं)
अन्य पुरुष	वह होता (होती)	वे होते (होतीं)

अपूर्ण भूतकाल

उत्तम पुरुष	मैं होता था (होती थी)	हम होते थे (होती थीं)
मध्यम पुरुष	तू होता था (होती थी)	तुम होते थे (होती थीं)
अन्य पुरुष	वह होता था (होती थी)	वे होते थे (होती थीं)

तात्कालिक अपूर्णभूत काल

उत्तम पुरुष	मैं हो रहा था (हो रही थी)	हम हो रहे थे (रही थीं)
मध्यम पुरुष	तू हो रहा था (हो रही थी)	तुम हो रहे थे (हो रही थीं)
अन्य पुरुष	वह हो रहा था (हो रही थी)	वे हो रहे थे (हो रही थीं)

पूर्ण भूत काल

उत्तम पुरुष	मैं हुआ था (हुई थी)	हम हुए थे (हुई थीं)
मध्यम पुरुष	तू हुआ था (हुई थी)	तुम हुए थे (हुई थीं)
अन्य पुरुष	वह हुआ था (हुई थी)	वे हुए थे (हुई थीं)

सन्दिग्ध भूत काल

उत्तम पुरुष	मैं हुआ हूँगा (हुई हूँगी)	हम हुए होंगे (हुई होंगी)
मध्यम पुरुष	तू हुआ होगा (हुई होगी)	तुम हुए होगे (हुई होगी)
अन्य पुरुष	वह हुआ होगा (हुई होगी)	वे हुए होंगे (हुई होंगी)

सम्भाव्य पूर्ण भूत

उत्तम पुरुष	मैं हुआ होता (गई होती)	हम गए होते (गई होती)
मध्यम पुरुष	तू हुआ होता (गई होती)	तुम गए होते (गई होतीं)
अन्य पुरुष	वह हुआ होता (गई होती)	वे हुए होते (गई होतीं)

सम्भाव्य अपूर्णभूत

उत्तम पुरुष	मैं जाता होता (जाती होती)	हम जाते होते (जाती होतीं)
मध्यम पुरुष	तू जाता होता (जाती होती)	तुम जाते होते (जाती होतीं)
अन्य पुरुष	वह जाता होता (जाती होती)	वे जाते होते (जाती होतीं)

अकर्मक क्रियाओके रूप इसी प्रकारके बनते है। सकर्मक क्रियाओ के पूर्ण वर्तमान, सम्भाव्य पूर्ण वर्तमान, पूर्णभूत, सम्भाव्य पूर्णभूत और सन्दिग्ध भूतके रूपोको छोडकर शेप सब रूप अकर्मक क्रियाओके समान बनते है। सकर्मक क्रियाओके उपर्युक्त रूपोमे कर्म कारक होता है, इसलिये इनमे वचन और कर्मके अनुसार लिग बनते है, कर्ताके अनुसार नहीं—

मैने पुस्तक पढी। रामने पुस्तक पढी।

मैने पत्र पढा। रमाने पत्र पढा।

इन उदाहरणोसे स्पष्ट हो जायगा कि क्रियाका रूप कर्मके अनुसार बना है, कर्ताका उसपर कोई प्रभाव नहीं पडा है। क्रियाके जिन पाँच कालोका उल्लेख किया गया है उन सबमे यही बात होती है।

प्रेरणार्थक क्रियाएँ

किसी दूसरेको प्रेरित करके क्रिया कराई जाती है उसे प्रेरणार्थक क्रिया कहते है, जैसे—लिखवाना, पढवाना, दौडाना। प्रेरणार्थक क्रियाओके दो रूप होते है—

पढना	से	पढाना	या	पढवाना
लिखना	से	लिखाना	या	लिखवाना
चलना	से	चलाना	या	चलवाना
देखना	से	दिखाना	या	दिखवाना

इन उदाहरणोसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि इन दो रूपोके अर्थ भी दो हैं। एक अर्थ यह है कि जिसे प्रवृत्त किया जाता है वह स्वय कार्य करता है, जैसे—मैने उसे **पढ़ाया**। दूसरा यह कि जिसे प्रवृत्त किया जाता है वह दूसरेसे काम कराता है, जैसे आप यह पत्र **पढ़वा लीजिएगा**।

संयुक्त क्रियाएँ

दो या अनेक क्रियाओके योगसे जो क्रिया बनती है उसे सयुक्त क्रिया कहते है। आदेश एव विधि रूपोको छोडकर सभी क्रियापद

सयुक्त क्रियाओंसे बनते हैं। सयुक्त क्रियाओका एक भाग कृदन्त और दूसरा भाग क्रियापद रहता है। इस प्रकारकी क्रियाओके कई रूप होते है। यहाँ कुछ मुख्य रूप उदाहरण-सहित दिए जा रहे है—

१. दृढता या सामर्थ्य सूचक सयुक्त क्रिया : उठ बैठना, चल देना, खा डालना, पचा लेना, दौड सकना आदि उदाहरणोसे स्पष्ट हो जायगा कि क्रियाके दूसरे पदसे दृढता या सामर्थ्यके भाव की पुष्टि होती है, अतः यह दृढता या सामर्थ्य सूचक सयुक्त क्रिया है।

२. स्वभाव या इच्छा-सूचक सयुक्त क्रिया • चला करना, लिखा करना, लिखा जाना पढा जाना आदि रूपोसे विदित होगा कि इस क्रियाका दूसरा पद स्वभाव या इच्छाके भावको सूचित करता है। अतः यह स्वभाव या इच्छा-सूचक सयुक्त क्रिया है। 'राम जाया चाहता है' भी इस क्रियाका एक रूप होता है। जिससे कार्य शीघ्र होनेका भाव प्रकट होता है।

३. आरम्भ और आज्ञा-सूचक सयुक्त क्रियाएँ : वह रोने लगा, मैंने उसे जाने नहीं दिया, वह खा नही पाया' आदि उदाहरणोमे जो क्रियाएँ आई है वे आरम्भ और आदेशके भावकी पुष्टि करती हैं।

४ • जाना, आना, रहनाके योगसे बनी सयुक्त क्रियाएँ : वह खाता जाता है, यह प्रथा चलती आती है, श्याम सोता रहता है। कभी-कभी तीन-तीन चार-चार क्रियाएँ एक साथ आती है • राम चलते-चलते आया। वह हँसते-खेलते गया। तुम उछलते-कूदते चले जाओ।

५. देना, ओढना, पहनना आदिके योगसे बनी क्रियाएँ : 'बच्चे सब बात कह देते है। वह पत्र लिख देता है।' यह रूप केवल वर्तमान कालमे होता है। वह सब बात खोले देता है। वह शाल ओढ़े जाता है, मै कुर्त्ता पहने आता हूँ' आदि उदाहरणोमे क्रियाका जो दूसरा पद है उसकी ही साधना होती है और यह साधना तीनो कालोमे होती है।

६. एक ही अर्थकी सूचक दो क्रियाओका एक साथ आना वह मार-पीटकर चलता बना। मुझे बिना सूचित किए वह भाग गया।

७ 'जाना' क्रियाके योगसे बननेवाली सयुक्त क्रियाएँ : खट्टे आम नहीं खाए जाते। झूठी बात नहीं कही जाती। इन उदाहरणोसे विदित होगा कि 'जाना' क्रियाके रूपमे कोई परिवर्त्तन नहीं होता किन्तु पूर्व पदमे जो क्रिया आती है वह यद्यपि सदा भूत कालमे होती है तथापि लिग-वचनके अनुसार उसमे विकार हो जाता है। यह क्रिया सदा कर्मवाच्य या भाववाच्यमें होती है।

कुछ क्रियाएँ कई क्रियाओसे मिलकर अर्थमे विशेष चमत्कार और रंगीनी उत्पन्न कर देती है : वह क्या मेरे **रोके रुक पाते है**।

हनुमानजी पहाड उठाए लिए उडे चले जा रहे थे। पट्टीको क्यो पोछे-मिटाए चले जा रहे हो।

नामधातु

संज्ञासे जो धातुएँ बनती है उन्हे नाम-धातु कहते हैं—

१. कील कीलना।

इन उदाहरणोसे विदित होगा कि कुछ संज्ञाओमे केवल 'ना' प्रत्यय लगाकर ही क्रिया बना लेते हैं।

२. खट-खट खटखटाना, छटपट : छटपटाना।

इन उदाहरणोसे विदित होगा कि कुछ सज्ञाओंमे 'आना' प्रत्यय लगाकर क्रियाएँ बनालेते हैं।

३. हाथ : हथियाना, पानी . पनियाना।

यहाँ सज्ञामे 'इया' प्रत्यय लगाकर पीछे 'ना' प्रत्यय जोड कर क्रया बना लेते हैं।

विशेषण

जिस शब्दसे किसी सज्ञाकी कोई विशेषता बताई जाती हो उसे विशेषण कहते हैं, जैसे—अच्छा, ठढा, चार, पीला, हरी, आदि।

जिस सज्ञामे कोई विशेषण लगता है उसे विशेष्य कहते है जैसे—गरम पानी लाओ। यहाँ **गरम** विशेषण है और **पानी** विशेष्य है।

विशेष्यके लिये जो विशेषण आता है या तो सज्ञाके साथ लगता है या क्रियाके। सज्ञाके साथ लगनेवाले विशेषणको विशेष्य-विशेषण कहते है, क्रियाके साथ लगनेवाले विशेषणको विधेय विशेषण कहते है। **ऐसा बढ़िया** कुत्ता कहाँ मिलता है। (विशेष्य विशेषण)। **बातें खोखली** दिखाई पड़ती हैं। (विधेय विशेषण)

सज्ञा और सर्वनामोकी भाँति विशेषणोका भी लिंग, वचन आदिके अनुसार रूप-परिवर्तन होता है। अतः इन्हे भी विकारी शब्द कहते है।

समानाविकरण विशेषण वे होते है जो किसी एक व्यक्तिवाचक सज्ञाकी कोई विशेषता बताते हो, जैसे—सती सावित्री, चड कौशिक। इनमे जो विशेषण आए है वे उस विशेष सज्ञाकी ही विशेषता बताते है। अतः ये समानाधिकरण कहलाते हैं। इसी प्रकार जातिवाचक सज्ञाके साथ जो साधारण गुण बतानेवाला विशेषण आता है वह भी समानाधिकरण होता है, जैसे—गरम लू, अबोध बालक, काला कौवा आदि।

विधेय विशेषण भी समानाधिकरण होता है अर्थात् किसी शब्दका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये लाया जाता है जैसे—यह लड़का **नटखट** है।

विशेषणके तीन भेद हैं : सर्वनाम विशेषण, गुणवाची विशेषण और सख्यावाची विशेषण।

सर्वनाम विशेषण

पुरुषवाची और आत्मवाची सर्वनामोको छोडकर शेष सब सर्वनामोका प्रयोग विशेषणके रूपमे हो सकता है। जब वे शब्द बिना किसी विशेष्यके आते है तब सर्वनाम होते हैं और जब उनके साथ संज्ञाएँ आती हैं तब वे विशेषण हो जाते हैं, जैसे—**वह** मनुष्य नहीं दिखाई देता। यहाँपर '**वह**' विशेषण है। **किसी** सुनारने ठग लिया। यहाँ भी '**किसी**' विशेषण है।

ये सर्वनाम विशेषण दो प्रकारके होते हैं—१. मुख्य सर्वनाम जो बिना कोई रूप बदले सज्ञाके पहले लगते हैं, जैसे—**यह** बच्चा, **वह** बँगला, **कोई**

पुस्तक, कुछ बात। यौगिक सर्वनाम वे होते है जो मुख्य सर्वनामोमे प्रत्यय लगनेसे बनते और सज्ञाके पहले लगते है, जैसे—**ऐसा** लडका, **किसी** बात, **उतना** ढेर, **जैसा** काम **वैसा** दाम आदि।

गुणवाचक विशेषण

अधिक प्रयोगमे आनेवाले गुणवाचक विशेषण ही होते है। काल, दशा, देश, गुण, अवगुण आदिका बोध करानेवाले शब्दोको गुणवाचक विशेषण कहते है।

काल : नवीन, प्राचीन, आगामी, भावी आदि।

दशा मोटा, पतला, भारी, हलका, धनी, निर्धन आदि।

देश भारतीय, बनारसी, कलकतिया, बलियाटिक आदि।

गुण : सुन्दर, अच्छा, सीधा, सज्जन आदि।

अवगुण . असुन्दर, वक्र, दुर्जन आदि।

ऊपर दिए हुए शब्दोसे सज्ञा अथवा सर्वनाम पदो की विशेषता प्रकट होती है। इसी प्रकार भीतरी, बाहरी, गोरा, काला, लाल, पीला आदि शब्द भी पदार्थोंकी विशेषताएँ बताते है। अतः ये सब शब्द गुणवाचक विशेषण है।

सख्यावाची विशेषण

सख्यावाची विशेषण तीन प्रकारके होते हैं · क. निश्चित सख्यावाची जैसे—**पाँच** सेर, **आठवाँ** बालक, **दुगुनी** मिठाई, **सातों** पर्वत, **प्रत्येक** व्यक्ति। इन निश्चित सख्यावाची विशेषणोके पाँच भेद होते हैं : १. गणनावाची, जैसे—एक, दो, तीन, चार आदि, २ क्रमवाची, जैसे—आठवाँ बालक; ३. आवृत्तिवाची, जैसे—अठगुना; ४. समुदायवाची, जैसे—पाँचो सवार, प्रत्येक बोधक, जैसे—प्रतिदिन, प्रत्येक मनुष्य, प्रति पन्द्रहवें वर्ष।

ख. अनिश्चित सख्यावाची विशेषणमे संख्याका अनिश्चित रूप विशेषणके रूपमे आता है, जैसे—**एक** राजा था। सब लोग, बहुत लोग, अधिक लोग, कम लोग, कुछ लोग या अमुक।

ग. परिणामबोधक विशेषणके द्वारा किसी वस्तुकी नाप या तोल जानी जाती है जैसे—सब, और, सारा, बहुत, तनिक, थोड़ा, कुछ, अधूरा आदि।

क्रियाविशेषण

जो शब्द क्रियाओंकी विशेषता बताते है उन्हे क्रिया-विशेषण कहते हैं, जैसे—यहाँ, वहाँ, झटपट, धीरे, बहुत, कम, अभी, आदि।

ये क्रियाविशेषण तीन प्रकारके होते है—१. एकाकी, २. योजक और ३. सम्बद्ध। एकाकी क्रियाविशेषण अकेले आते है, जैसे—अरे **झटपट** आओ। योजक क्रियाविशेषण वहाँ होता है जहाँ कोई दूसरा उपवाक्य होता है जैसे—**जहाँ** आज नई दिल्ली बनी है **वहाँ** बीस वर्ष पूर्व घना जङ्गल था। सबद्ध क्रियाविशेषण वे होते है जो बीच-बीचमे बल देनेके लिये लाए जाते है, जैसे—मै **तो** वह **ही** हूँ जिसकी ओर आपने ध्यान **तक** नहीं दिया।

जिन क्रिया-विशेषणोमे प्रत्यय या शब्द जोडे जाते हैं उन्हे **यौगिक** क्रियाविशेषण कहते हैं जैसे—दिनमे, रातको, स्नेहपूर्वक, चुपकेसे, देखते हुए आदि।

कभी-कभी द्विरुक्ति या भिन्न सज्ञाओसे सयुक्त क्रियाविशेषण भी बनते है, जेसे—घर-घर, रातदिन, ठीक-ठीक, धीरे-धीरे, एक-एक करके।

नागरीमे सस्कृतके तत्सम अव्यय भी क्रियाविशेषण बनकर आते है—जैसे—प्रायः, व्यथ, सवत्र, और तद्भव होकर भी, जैसे—परसो, कल, बारबार।

कभी-कभी विशेषण भी क्रियाविशेषणके रूपमें व्यवहृत होते हैं, जैसे—उसने **बुरा** किया, जो रहस्य खोल दिया। आप **अच्छा** गाते हैं। तुम **बढ़िया** लिखते हो।

कुछ क्रियाविशेषण अव्ययीभाव समाससे भी बनते हैं, जैसे—**मैं यथाशक्ति** सोचूँगा, **बेकार** मत बोलो, **हरघड़ी** खेलना ठीक नहीं है।

सामान्यतया क्रियाविशेषण उन्नीस प्रकारके होते है—

१. स्थान वाचक : यहाँ, वहाँ, भीतर, बाहर, दूर, पास, ऊपर, नीचे

२. दिशा-वाचक · इधर, उधर, किधर, जिधर, इस ओर, उस ओर।

३. आवृत्ति-वाचक · बार-बार, हर घडी, दिन-दिन।

४. अवधि-वाचक : आजकल, नित्य, सदा, निरन्तर, कभी-कभी।

५. समय-वाचक : परसो, नरसो, साय, प्रातः।

६ अधिकता-बोधक : बहुत, अति, बडा, भारी।

७. न्यूनता-बोधक : कुछ, थोडा, किंचित्।

८ पर्याप्ति बोधक केवल, बस, यथेष्ट, ठीक, अस्तु।

९. तुलनाबोधक : इतना, उतना, कितना, जितना, बढकर, घटकर, बराबर।

१०. क्रम-वाचक : यथाक्रम, थोडा-थोडा, एक-एक करके।

११. प्रकार-वाचक : अचानक, सहसा, झटपट, एकाएक, जैसे-तैसे।

१२. निषेधार्थक : न, नहीं, मत।

१३. स्वीकृत्यात्मक : हाँ, सच, जी हाँ, सही।

१४. निश्चय-बोधक : निस्सन्देह, अवश्य, सचमुच।

१५. अनिश्चय-बोधक : कदाचित्, यथासभव।

१६. आवश्यकता-बोधक : चाहिए।

१७. अवधारण-बोधक : तो, ही, मात्र, भर तक।

१८. अवतरण-बोधक : अथ, इति।

१९. कारण-बोधक—इसलिये, किसलिये, क्यो, काहेको।

दूसरे शब्दोमे पूर्वक (ध्यान-पूर्वक), वश (भयवश), वत् (विषवत्), चित् (कदाचित्), त्र (सर्वत्र), दा (सर्वदा), ता, ते (दौडता, चलते), को (इधरको), तक (आजतक, यहाँतक), भर (रातभर, पलभर) आदि लगानेसे भी क्रिया-विशेषण बनते है।

कोई कोई क्रियाविशेषण तीन-तीन शब्दोके होते हैं—कभी न कभी, कहीं न कहीं, हो न हो।

सर्वनाम

किसी सञ्ज्ञाकी बात चलाकर उसकी आवृत्ति बार-बार न होने देनेके लिये उसके बदले जो 'यह, वह, उस, जिस' आदि शब्द लगा दिए जाते हैं उन्हे सर्वनाम कहते हैं। जैसे—'शकुन्तलाका जब जन्म हुआ तब **वह** एक पक्षीके पखोके तले पडी पाई गई थी **जो उसकी अपने** पखोसे रक्षा कर रहा था।' इस वाक्यमे '**वह, जो, उसकी अपने**' सर्वनाम है।

कभी-कभी विशेषणके लिये उचित शब्द न जाननेके कारण लोग सर्वनामका प्रयोग करते हैं जैसे—'वह बड़े **ये** हैं।' ऐसे शब्दोके लिये विभिन्न प्रदेशोमे 'एथी, ऊ, क्या नाम कि' आदिका प्रयोग होता है।

कभी कभी विशेषण भी सञ्ज्ञाके बदले सञ्ज्ञाके समान आ-जाता है जैसे—

'छमा बड़नको चाहिए, छोटनको उत्पात।'

इसमे **बड़न** और **छोटन** दोनोका प्रयोग 'लोगो'के लिये हुआ है।

कभी-कभी क्रिया-विशेषण भी सञ्ज्ञाके बदले सञ्ज्ञाके समान आ जाते हैं जैसे— 'आप **नहीं** न कीजिएगा।

कभी-कभी स्वयस्फुट भी सञ्ज्ञाके समान काममे आते है जैसे— 'इतनी **हाय-हाय**मे क्या पडे हो। तुम **वाह वाही** लूटना चाहते हो।' पर ये सब सर्वनाम नहीं हैं।

वास्तवमे सर्वनाम वे ही शब्द है जो सञ्ज्ञाके बदले आवें। 'मै, इस, तू, तुम, वह, यह, आप, जो, कोई, कुछ, कौन, क्या, ये' दस सर्वनाम है। इन्हींके साथ ग्यारहवॉ 'सो' का भी प्रयोग कभी कभी हो जाता है। ये सर्वनाम छह प्रकारके होते है—

१. पुरुष-वाचक : मैं, तू, आप, तुम, हम (आदर-सूचक)।

२. आत्मवाचक : आप (स्वय या अपने आप)।

३. निश्चय-वाचक : यह, ये, वह, वे, सो।

४. सम्बन्ध-वाचक : जो।

५ प्रश्न-वाचक · कौन, क्या।

६ अनिश्चय-वाचक : कोई, कुछ।

इन सर्वनामोके और भी रूप बनते हैं—'**मैं**से मुझे, मुझको, **तू** से तुझे, तैने, **वह** से उसका उन्हे, उनसे, **यह** से इस, इन्हे, **कोई**से किसी, किन्हीं, **जो** से जिन्हे, जिन्होने, जिनसे आदि।'

यह से परिणाम वाचक विशेषण **इतना** और गुणवाचक विशेषण **ऐसा** बनता है। **वह** से परिणाम-वाचक विशेषण **उतना** और गुण-वाचक **वैसा** बनता है। **सो**से परिणाम-वाचक विशेषण **तितना** और गुणवाचक-विशेषण **तैसा** बनता है। **जो** से परिणाम-वाचक विशेषण **जितना** और गुणवाचक विशेषण **जैसा** बनता है। **कौन**से परिणाम-वाचक विशेषण **कितना** और गुणवाचक विशेषण **कैसा** बनता है।

सर्वनामोंकी व्युत्पत्ति

इन सर्वनामोकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

मै = मया (स०), मइँ (अपभ्रश) अथवा फारसीके 'मन'से।

हम : अहम् (स०) से

तुम : त्वम् (स०) से

तू : फारसीके '**तो**' से।

यह · एषः (स०), एह, (अप०) यह।

सो सः, सो (स०) से, वह, वे।

जो यः, यो (स०) से

को : कः, को (स०) से

क्या : कि (सं०) से

कोई : कोपि (स०), कोवि (प्रा०), कोई

आप : आत्म (स०), अ ज (प्रा०), अप्प

कुछ : किचित्(स०), किञ्चि (प्रा०), किछ, कुछ

पुरुषवाचक सवनामके अन्तर्गत तीन पुरुष आते है—उत्तम पुरुष (जो कहता है), मध्यम पुरुष (जिससे कहा जाता है), अन्य पुरुष (जिसके सम्बन्धमे कहा जाता है) ।

'मै' उत्तम पुरुष है, 'तू' या 'आप' मध्यम पुरुष है, और शेष सब सर्वनाम अन्य पुरुप है ।

जिस प्रकार सज्ञाओमे कारक और वचन होते हैं उसी प्रकार सर्वनामोमे भी होते है, किन्तु लिगके कारण सर्वनामोका रूप-परिवर्तन नहीं होता । कारक और वचनके अनुसार होनेवाले रूप-परिवर्तनका प्रभाव भी केवल नीचे लिखे चार सर्वनामोपर ही पड़ता है—

वचनके अनुसार

परिवर्तनीय सर्वनाम		अपरिवर्तनीय सर्वनाम	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
मै	हम	सो	सो
तू	तुम	जो	जो
यह	ये	आप	आप
वह	वह	क्या	क्या
		कौन	कौन
		कोई	कोई
		कुछ	कुछ

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्त्ता	मै, मैने	हम, हमने
कर्म	मुझको, मुझे	हमको, हमे
करण	मुझसे	हमसे
सम्प्रदान	मुझको, मुझे, मेरे लिये	हमको, हमे, हमारे लिये

अपादान	मुझसे	हमसे
सम्बन्ध	मेरा, मेरी, मेरे	हमारा, हमारी, हमारे
अधिकरण	मुझमे	हममे

सर्वनामोमे सम्बोधन नहीं होता।

इसी प्रकार मध्यम पुरुष 'तू' का भी रूप कारकके अनुसार बदलता है।

'आप' शब्द मध्यम पुरुषमे 'तू' के स्थानपर आदरार्थ प्रयोग किया जाता है, किन्तु बहुत बार इसका प्रयोग अन्य पुरुषके रूपमे होता है, जैसे—आचार्य शुक्लजी उच्चकोटि के निबन्ध लेखक थे, साथ ही आप उच्चकोटि के समीक्षक भी थे।

मध्यम पुरुष 'तू' का बहुवचन 'तुम' है, किन्तु 'तू' से तिरस्कार या निरादरका भाव प्रकट होता है। अत 'तू' के स्थानपर एकवचनमे 'तुम'का प्रयोग करनेकी चाल अधिक है। ऐसी स्थितिमे 'तुम' का बहुवचन करनेके लिये 'तुम लोग' का प्रयोग करते है। इसी प्रकार उत्तम पुरुष 'मैं' के स्थानपर एकवचनमे 'हम'का भी प्रयोग करते है और उसका बहुवचनका रूप 'हम लोग' कर लेते हैं। इनके वचन और कारकके रूप ऊपर दी हुई विधिसे ही चलते है।

सर्वनामोकी सख्या और वर्गीकरणके सम्बन्धमे वैयाकरणोमे मतभेद है। कुछने सात, कुछने आठ, कुछने ग्यारह और कुछने सत्रह सर्वनाम माने है। परन्तु ऊपर जो संख्या दी गई है और जो वर्गीकरण किया गया है वही बहुसम्मत शुद्ध प्रामाणिक है।

अव्यय

जो शब्द सदा एकसे (अविकृत) रहते है, उन्हे अव्यय कहते हैं। इस दृष्टिसे क्रिया-विशेषण भी अव्यय ही है, किन्तु प्रायः वैयाकरणोने सम्बन्धसूचक, समुच्चय-बोधक और स्वयस्फुट (विस्मयादि बोधक) को ही अव्ययमे रक्खा है। अतः यहॉ इन्हींपर विचार किया जायगा।

सम्बन्ध-सूचक अव्यय

जो अव्यय किसी सञ्ज्ञाके आगे पहुँचकर वाक्यके किसी दूसरे शब्दसे उसका सम्बन्ध मिलाता है उसे सम्बन्ध-सूचक-अव्यय कहते है। जैसे—आपके **बिना** मेरा उद्धार नही हो सकता। दिन **भर** पढना अच्छी बात नहीं है। आप उनके घर-**तक** चले जाइए। ऊपर दिए हुए वाक्योमे **बिना, तक** और **भर** सम्बन्ध-सूचक अव्यय है क्योकि **बिना** शब्द **आपके** शब्दका सम्बन्ध **सकता** क्रियासे जोडता है। **भर** शब्द **दिन** शब्दका सम्बन्ध **पढ़ना** शब्दसे जोडता है और **तक** शब्द **घर** शब्दका सम्बन्ध **चले जाइए** शब्दसे जोडता है।

वास्तवमे नागरीमे सम्बन्ध-सूचक शब्द है ही नहीं। किन्तु कुछ वैयाकरणोने अँगरेजीका परसर्ग (प्रिपोजीशन) रूप लेकर उसका अनुवाद सम्बन्ध सूचक कर दिया है। इन अव्ययोमे अधिक तो सञ्ज्ञाएँ हैं जो साथकी विभक्तियोके लुप्त हो जानेसे अव्ययके समान काम आती है।

ऐसे शब्दोमे जो काल या स्थान बतानेवाले अव्यय हैं वे कभी क्रियाविशेषण और कभी सम्बन्ध-सूचक बनकर आते है। जब वे क्रियाकी विशेषता बताते है तब क्रिया-विशेषण होते है और जब सञ्ज्ञाके साथ आते है तब सम्बन्ध सूचक कहलाते है। जैसे—मै **यहाँ** बैठता हूँ (क्रिया-विशेषण), वे अपने गुरुके **यहाँ** रहते है (सम्बन्ध सूचक)।

'बिना, समान, पहले, तक, सहित, समेत, भर, लिये, मारे, पास, अपेक्षा, और, बदले, सम्मुख, मध्य, योग्य, आगे, पीछे आदि अनेक सम्बन्ध-सूचक अव्यय होते है।

समुच्चय-बोधक अव्यय

जो अव्यय किसी एक वाक्यका सम्बन्ध दूसरे वाक्यसे जोडता है उसे समुच्चय-बोधक अव्यय कहते है, जैसे—राम **और** लक्ष्मण वन गए। आया **और** घरमे पहुँच गया। **यदि** वायु न होता **तो** सब प्राणी निर्जीव हो जाते।

ये समुच्चय-बोधक-अव्यय केवल वाक्योको ही नहीं वरन् शब्दोको भी जोडते है, जैसे— एक **और** एक मिलकर ग्यारह हो जाते है। यहाँ **और** शब्द दो शब्दोको जोड़ता है।

और, व, तथा, एव, भी, तो, यथा, या, किवा, अथवा, कि (या), क्या, न, नकि, नहीं तो, पर, परन्तु, किन्तु, वरन्, इसलिये, अतः, अतएव, क्योकि, जोकि, इसलिये कि, यद्यपि, तथापि, अर्थात्, चाहे, तो भी, मानो, ऐसा, इतना, यहाँतक आदि सभी समुच्चय-बोधक शब्द हैं।

स्वयंस्फुट (विस्मयादि-बोधक) अव्यय

जो अव्यय वाक्यसे तो कोई सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु बोलनेवालेके क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा आदि भाव व्यक्त करते समय स्वय मुँहसे फूट पडते है उन्हें विस्मयादिबोधक कहते हैं। जैसे— छि॰, एँ, ओह, हाय, है, आह, आहा, वाह, धन्य, जय, ठीक, अच्छा, भला, ऊह, हाय राम, बाप रे, धिक्, धिक्कार है, चुप, हट, अरे, दूर हो, हाँ, जी हाँ, बहुत अच्छा, है, अजी, लो, क्या, क्यो, हे भगवन्, अस्तु, आदि।

४

शब्दोंकी बनावट

नागरीमे चार प्रकारके शब्द प्रयागमे आते है १. शुद्ध सस्कृत शब्द, जिन्हे तत्सम शब्द कहते है पुस्तक, बालक, लेखनी आदि। २ सस्कृत अथवा प्राकृतसे बिगडकर आए हुए शब्द, जिन्हे तद्भव कहते है घी (घृतसे), दही (दधिसे), दूध (दुग्धसे), कुआँ (कूपसे), कौआ (काकसे) आदि। ३. नागरीके अपने शब्द, जो लोकमे प्रचलित हो गए हैं और जिन्हे देशज शब्द कहते है—ठेठ, ठेला, भूसा, डगर, डफली आदि। ४. विदेशी भाषाओसे आए शब्द: किताब, टिकट, रेल, मोटर, मालूम, फुरसत। विदेशी भाषाओसे आए

शब्दोंके भी तद्भव रूप बनने लगे है : टेसन (स्टेशनसे), माचिस (मैचेजसे), मजूरी (मज़दूरीसे), लालटेन (लैटर्नसे)।

मूल शब्दके रूपोंमे परिवर्तन करके या उसके आगे-पीछे कुछ अक्षर या शब्द जोड़कर भी नये शब्द बना लिए जाते हैं। इस प्रकारके जो शब्द बनते है उन्हे तद्धित, कृदन्त और समस्तपद (समास) कहते है।

जो अक्षर या अक्षर-समूह जोडे जाते हैं उन्हे उपसर्ग (शब्दके पूर्व जोड़े जानेवाले अक्षर) या प्रत्यय (शब्दके पश्चात् जोड़े जानेवाले अक्षर) कहते हैं।

उपसर्ग

उपसर्ग भी अव्यय ही है, किन्तु ये अव्यय कभी अकेले नहीं आते। ये मूल शब्दके पहले जोडे जाते है और तब उस मूल शब्दका अर्थ बदल जाता है। नागरी शब्दोंमें संस्कृतके तथा कुछ फ़ारसी-अरबीके उपसर्ग जोडे जाते है।

संस्कृतके उपसर्ग

अति—अतिशय, अतिरंजना, अतिक्रमण।

अधि—अधिकार, अधिवास, अधिपति।

अनु—अनुगमन, अनुधावन, अनुवाद।

अप—अपकार, अपयश, अपमान।

अभि—अभिभावक, अभिवादन, अभीप्सित।

अव—अवगुण, अवलम्ब, अवज्ञा।

आ—आहार, आजीवन, आचरण।

उत्—उद्गम, उत्साह, उत्क्षेपण।

उप—उपमान, उपनाम, उपचार।

दु—दुर्बुद्धि, दु:शील, दुराग्रह।

निः—निःश्रेयस, निश्चित, निर्दोष।

नि—निकृष्ट, निवेदन, निबन्ध।

परि—परिग्रह, परिधान, परिपूर्ण।

प्र—प्रयोग, प्रसन्न, प्रबल।

परा—पराभव, पराजय, पराक्रम।

प्रति—प्रतिकूल, प्रतिफल, प्रत्यावर्तन।

वि—विवाद, विमुख, वियोग।

स—सम्मान, ससार, सम्मेलन।

सु—सुयोग, सुसवाद, सुमुख।

अन्तः—अन्तःकरण, अन्तर्भाव, अन्तर्दर्शन।

आविः—आविष्कार, आविर्भाव।

पुर—पुरस्कार, पुरश्चरण, पुरोगमन।

अ, अन्, कु, पुनः, किञ्चित्, तिरस्, स्वय, पुरा आदिसे भी इसी प्रकार अनिकेत, अनार्य, कुमार्ग, पुनर्जन्म, किञ्चिन्मात्र, तिरोभाव, स्वयभू, पुरागम आदि शब्द बनते है।

फारसी-अरबीके उपसर्ग

बद्—बदनाम।

बे—बेकार

ना—नासमझ।

प्रत्यय

प्रत्यय मूल शब्दके पश्चात् जोडे जाते है। उपसर्गोंकी भाँति प्रत्ययोकी सख्या निश्चित नही है। किन्तु सामान्यतया प्रत्यय पॉच प्रकारके होते हैं--विभक्ति-प्रत्यय, लिग-प्रत्यय, तद्धित-प्रत्यय, क्रिया प्रत्यय और कृत् प्रत्यय।

विभक्ति प्रत्यय--विभक्ति-प्रत्ययोसे **कारक** का बोध होता है, इसलिये इन्हे कारक चिह्न भी कहते है--राम**ने**, उस**को**, घर**में**, रमा-**द्वारा**।

लिगप्रत्यय--पुलिगसे स्त्रीलिग और स्त्रीलिगसे पुलिग बनानेके लिये जो प्रत्यय लगाए जाते हैं, उन्हे लिग प्रत्यय कहते है--

स्त्रीप्रत्यय : अहीर + इन = अहीरिन, सुअर + ई = सुअरी, ऊँट + नी = ऊँटनी, ठाकुर + आइन = ठकुराइन, चौधरी + आइन = चौधराइन, चौधरी + आनी = चौधरानी, गुरु + आनी = गुरुवानी।

पुरुष प्रत्यय : झोली, रस्सी, अधन्नी आदिमे 'ई' हटाकर 'आ' कर देते है और तब झोला, रस्सा, अधन्ना आदि बन जाते है। इसी प्रकार रोटीकी 'ई' के बदले 'अ' करनेसे रोट, गठरीसे गट्ठर आदि बनते है।

तद्धित प्रत्यय—सज्ञा, विशेषण और सर्वनाममे जो प्रत्यय लगते है वे तद्धित प्रत्यय कहे जाते है। प्रयाग + वाल = प्रयागवाल, लकडी + हारा = लकडहारा, गाडी + वान = गाडीवान, जूआ + री = जुआरी, भीख + आरी = भिखारी, बनारस + ई = बनारसी, कलकत्ता + इया = कलकतिया, घडी + आल = घडियाल, रग + ईला = रँगीला, सुन्दर + ता = सुन्दरता, लडक + पन = लडकपन, खेल + औना = खिलौना, ठीक + आना = ठिकाना।

क्रिया-प्रत्यय—धातुओमे जो प्रत्यय लगकर क्रियापद बनते हैं वे क्रिया-प्रत्यय कहे जाते है। रँग + ना = रगना, खटखट + आना = खटखटाना, लात + इया + ना = लतियाना, फूट + ना = फोडना।

कृत् प्रत्यय (कृदन्त प्रत्यय)—धातुमे जिन प्रत्ययोके लगनेसे सज्ञा, विशेषण आदि बनते है वे कृत् प्रत्यय कहलाते है, जैसे—कृ + त = कृत, पठ + इत = पठित, धृ + ति = धृति, गम् + न = गमन, भेद् + न = भेदन, मथ् + आनी = मथानी, चल् + न = चलन, छाप + आई = छपाई आदि।

तद्धित

जब सज्ञाओ या विशेषणोमे प्रत्यय लगाकर दूसरी सज्ञा या विशेषण बनाते हैं तो वे प्रत्यय तद्धित प्रत्यय कहे जाते है और जो शब्द इस प्रकार बनते है उन्हे तद्धितान्त शब्द कहते है।

नागरीमे सस्कृतके तद्धितान्त शब्दोके अतिरिक्त स्वय नागरीके तथा फारसी-अरबीके तद्धितान्त शब्द प्रयोगमे आते है।

सस्कृत

अपत्यवाचक—प्रथम स्वरकी वृद्धि होती है और अन्तमे इ, अ या एय आदि लगते है—दशरथसे दाशरथि, सुमित्रासे सौमित्र, सौमित्रेय।

सम्बन्धवाचक—१. मत् या वत् जोडकर—बुद्धिसे बुद्धिमान, भग (ऐश्वर्य) भगवान्। २ इन् जोडकर—पाप-पापी, धन-धनी। ३. इत् जोडकर—लज्जा-लज्जित। ४. इक् जोडकर, इसमे प्रथम स्वरकी वृद्धि हो जाती है—वर्ष-वार्षिक। इनके अतिरिक्त विष्णुसे वैष्णव, शिवसे शैव, रुद्रसे रौद्र, ब्रह्मासे ब्राह्म आदि शब्द भी बनते है।

भाववाचक—त्व, ता जोडकर, जैसे मनुष्यसे मनुष्यत्व, प्रचुरसे प्रचुरता (प्राचुर्य भी बनता है), महत्से महिमा, गुरुसे गौरव या गरिमा आदि बनते है।

नागरी

सम्बन्धवाचक—पैसासे पैसेवाला, लोहासे लुहार, बहनसे बहनोई, तेलसे तेली, सॉपसे सॅपेरा, पहाडसे पहाडी।

भाववाचक—बूढासे बुढापा।

विशेषण—बनारससे बनारसी, आगेसे अगला

फ़ारसी-अरबी—

दोस्तसे दोस्ती, दुश्मनसे दुश्मनी, कीमतसे कीमती, देहलीसे देहलवी, हुक्मसे हाकिम।

कृदन्त

जब धातु (मूलक्रिया) मे प्रत्यय लगता है तब उसे कृत् प्रत्ययान्त या कृदन्त कहते है।

नागरीमे तद्धितकी भॉति कृदन्त भी सस्कृतके, स्वय नागरी के और फारसी-अरबीके होते है—

सस्कृत

त (न) : कृ+त=कृत, खित्+न=खिन्न।

ति : धृ+ति=धृति।

न : भेद्+न=भेदन, शय+न=शयन।

तव्य, अनीय, य : कर्+तव्य=कर्तव्य, कर+अनीय=करणीय।

तृ : भोग+तृ=भोक्तृ (भोक्ता), कर्+तृ=कर्तृ (कर्ता)।

अ : हृ्+अ=हृर, दम्+अ=दम।

क : लेख+क=लेखक, गाय+क=गायक

नागरी

कर्तृवाचक मानना+वाला=माननेवाला, टूटना+हार=टूटनहार, धुनना+इया=धुननिया (धुनिया) आदि।

कर्मवाचक : देखनासे देखाहुआ, पढनासे पढाहुआ, सूँघनासे सुँघनी।

भाववाचक : पुकारनासे पुकार, लूटनासे लूट, लडनासे लडाई, सजानासे सजावट, ऐठनासे ऐठन, बुलानासे बुलावा, कहनासे कहावत, छूनासे छून, उडनासे उडान, बहनासे बहाव।

विशेषण. टिकनासे टिकाऊ, जडनासे जडाऊ, मारनासे मारू, चलनासे चलतू, हँसनासे हँसोड, अडनासे अडियल आदि।

फ़ारसी-अरबी

इन भाषाओके थोडे ही कृदन्त शब्दोंका प्रयोग नागरीमे होता है,— आमदनी, कुश्ती, खूराक आदि जो क्रमशः आमद, कुश्तः, खूर आदि धातुओसे बनते है।

समास

जब दो या दो से अधिक शब्द मिलकर एक हो जाते है तब मेलकी इस क्रियाको समास कहते है तथा इस प्रकार जो शब्द बनता है उसे समस्त पद कहते है। इसमे कभी तो प्रथम पद मुख्य होता है, कभी दूसरा या अन्तिम, कभी इन दोनोके अर्थोंके अतिरिक्त पदका

कोई भिन्न अर्थ निकलता है। इस प्रकार अर्थोंकी जो भिन्नता होती है उसको ध्यानमे रखकर समासके छह भेद किए गए हैं : अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, द्वन्द्व और बहुव्रीहि।

अव्ययीभाव—इसमे पहला पद (शब्द) अव्यय होता है और उसीका अर्थ मुख्य होता है। पूरे पदका प्रयोग क्रिया-विशेषणकी भॉति होता है। हरघडी, प्रतिदिन, यथाशक्ति, दिन-दिन, यावज्जीवन, भरपूर।

तत्पुरुष—इसमे दूसरा शब्द मुख्य होता है तथा पहले पदमे कर्ता कारकको छोडकर शेष सभी कारक आ जाते है। उसके छह भेद होते है—

१. पूर्व भागमे कर्मकारक और दूसरे भागमे कृदन्त सज्ञा हो—चिडीमार, ऑखफोडा, घसकटा, भूधर, जलद।

२ पूर्वभागमे करण कारक होता है और अन्तिम भागमे कृदन्त सज्ञा हो—ठकुरसुहाती, हथकडी, कष्ट साध्य।

३ पहले भागमे सम्प्रदान कारक और दूसरे भागमे कृदन्त सज्ञा हो—मुँहमॉगा, मनमाना, देश-निकाला।

४ पहले भागमे अपादान कारक और दूसरे भागमे कृदन्त सज्ञा या विशेषण हो—जन्मान्ध, ऋणमुक्त, कामचोर, दईमारा।

५. पहले भागमे सम्बन्धकारक हो तथा दूसरे भागमे सज्ञा हो—सेना-नायक, देवालय, नरेश, लखपती, अमचूर।

६. पहले भागमें अधिकरण कारक हो तथा दूसरे भागमें कृदन्त या सज्ञा हो—ग्राम-वास, आनन्द-मग्न, आप-बीती, निशाचर, दान-वीर।

कर्मधारय—बहुत लोग कर्मधारयको स्वतन्त्र समास न मानकर तत्पुरुष समासका एक भेद 'समानाधिकरण तत्पुरुष' मानते है। इसमे विशेषण-विशेष्यका योग होता है : (विशेषण-विशेष्य) कालापानी, नीलगाय, पूर्वकाल, शुभागमन, मँझधार। (विशेषण—विशेषण) लाल-पीला, भला-बुरा, मोटा-ताजा, शीतोष्ण, श्यामसुन्दर।

जहॉ उपमा दिखाई जाय या उपमान और उपमेयको एक ही मान

लिया जाय (रूपकमे) या उपमानका चिह्न उडा दिया जाय तब भी कर्मधारय समास होता है—मुखचन्द्र, घनश्याम, चरणकमल ।

द्विगु—इसमे दूसरा पद मुख्य होता है और पहला पद सख्या-वाचक होता है · नवरत्न, पचकोण, तिकोना ।

द्वन्द्व—इसमे दोनो या सभी पद प्रधान होते है और उनके बीचमें 'और'का भाव छिपा रहता है : माता-पिता, हाथ-पैर, सर्दी-गर्मी, पाप-पुण्य । इसमे प्रायः अन्तिम पदके अनुसार ही लिग होता है और यह शब्द बहुवचन ही होता है ।

बहुव्रीहि—इसमे जितने पद आए रहते है उनके अर्थ छोडकर उनसे भिन्न कोई दूसरा ही अर्थ होना है—'चन्द्रशेखर' का अर्थ 'चन्द्र' और 'शेखरसे' भिन्न 'शिव' है । इसमे न चन्द्रमाका अर्थ लिया गया है और न शिवका । इसका अर्थ किया जायगा—शेखर पर चन्द्र है जिसके (महादेव) । इसी प्रकार चतुर्मुख और चतुर्भुज से ब्रह्मा और विष्णुका बोध होता है, अतः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ । दिगम्बर (शिव), दशग्रीव (रावण), लाल पगडी, (सिपाही), पिकबैनी (पिककी वाणीके साथ समान वाणी हो जिसकी), वज्रायुध (वज्र है आयुध जिसका अर्थात् इन्द्र), सिरकटा, घुडमुँहा, कनफटा आदि इसके अन्य उदाहरण है ।

ऊपरके उदाहरणोमे 'पिकबैनी' शब्दका अर्थ किया गया है 'पिककी वाणीके समान वाणी हो जिसकी,' किन्तु इसमे वाणी (वचन) शब्द एक ही बार आया है । इस प्रकारके बहुव्रीहि समासको **मध्यम पदलोपी बहुव्रीहि** समास कहते है । इसी प्रकार कोकिलकठी, घुडमुँहा आदि है ।

समासके शब्दोको मिलाकर लिखना चाहिए और जहाँ समास किए हुए शब्द तत्सम हो वहाँ एक एक शब्दके पश्चात् आडी लकीर दे देनी चाहिए जैसे—कोकिल कण्ठी, क्योकि जो लोग शब्दोका

रूप न जानते हो उन्हे भ्रम हो सकता है और वे कोकिलकठीको 'कोकि-लकंठी' भी समझ सकते हैं जिसका कोई अर्थ नहीं होता।

५

वाक्योंकी बनावट

मनुष्य वाणीके द्वारा अपने मनका भाव प्रकट करता है। वाणीका आधार वाक्य है जिसके कई शब्द मिलकर पूरा अर्थ देते है। उन्हीं शब्दोका समूह वाक्य कहलाता है जो पूरा अर्थ दे। किन्तु वाक्यमे शब्द किन्हीं निश्चित नियमोके अनुसार रक्खे जाते है। केवल शब्द एकत्र कर देनेसे वाक्य नहीं बन सकता। पुस्तक राम है पढता अपनी—यहाँ पॉच शब्द है किन्तु इनका कोई अर्थ नहीं निकला। वस्तुतः हम कहना चाहते है—'राम अपनी पुस्तक पढता है।' पहले भी ये ही शब्द दिए गए है किन्तु उनसे किसी अर्थका बोध नहीं होता। बादमे भी ये ही शब्द आए है किन्तु उनसे एक निश्चित अर्थका बोध होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि शब्दोके उस समूहको वाक्य कहते है जिसमे शब्द किसी नियमके अनुसार रक्खे गए हो और जिससे किसी निश्चित अर्थका बोध हो। साधारणतया नागरीके वाक्योमे शब्दका क्रम इस प्रकार होता है—

कर्त्ता (सञ्ज्ञा या सर्वनाम) सबसे पहले हो. **मै** पढता हूँ। **राम** पढेगा।

कर्म कर्ताके पीछे और क्रियाके पूर्व हो वह **पुस्तक** पढेगा।

विशषण प्रायः विशेष्यके पूर्व हो : **अच्छे** लडके मन लगाकर पढते है। कभी कभी विशेषण पीछे भी आते है और तब वे वाक्यका अर्थ पूरा करनेका काम देते है, किन्तु वे होते विशेषण ही है—यह पुस्तक **अच्छी** है।

क्रियाविशेषण प्रायः क्रियाके पूर्व हो : **यहाँ** आओ।

क्रिया प्राय वाक्यके अन्तमे हो : मै पुस्तक **पढ़ता हूँ**।

सम्बन्धसूचक प्रायः सम्बन्धकारके पश्चात् हो . तुम उसके **पीछे** चलो ।

समुच्चय बोधक जिन दो शब्दोको जोडता हो उनके बीचमे हो : राम **और** श्याम अच्छे लडके है ।

स्वयस्फुट (विस्मयादिबोधक) प्राय वाक्यके आरम्भमे हो . **हाय राम** ! तुमने यह क्या किया ?

वाक्यमें कर्त्ताका रूप—सज्ञा और सर्वनामके अतिरिक्त कभी-कभी विशेषण (**भूखोंने** लूट लिया), मूल-धातु रूप (**पढ़ना** जरूरी है) तथा शब्द-समूह ('**राम जा रहा है**' मे राम सज्ञा शब्द है) भी कर्त्ता बनकर आते है ।

'ने' का प्रयोग

सामान्यत आसन्नभूत, सामान्यभूत, पूर्णभूत और सन्दिग्धभूतमे यदि सकर्मक क्रिया हो और क्रिया कर्तृवाच्यमे हो तो कर्तामे 'ने का चिह्न लगता है, अन्यत्र नहीं । कर्तामे 'ने'का प्रयोग मुख्य क्रियाके अनुसार होता है, सहायक क्रियाके अनुसार नहीं । रामने लेटकर पुस्तक पढी और राम पुस्तक पढकर लेटा । इन वाक्योमे लेटना और पढना क्रियाएँ दोनो वाच्योमे है । किन्तु पहले वाक्यमे मुख्य क्रिया **पढ़ना** सकर्मक और दूसरे वाक्यमें मुख्य क्रिया **लेटना** अकर्मक है, इसलिये पहले वाक्यमे 'ने' का चिह्न लगा है, दूसरेमे नहीं ।

सकर्मक क्रिया भूलना, लाना, बोलनाके रहने पर कर्तामे 'ने' नहीं लगता : मै पुस्तक लाना भूल गया ।

प्रधान सकर्मक क्रियाके साथ अकर्मक क्रियाएँ (सकना, चुकना, जाना, पडना, उठना, बैठना, रहना, लगना, पाना) के रहनेपर कर्त्तामे 'ने' नहीं लगता—मै जा पाया । राम पढ सका । वह तुरत खाने लगा ।

'को' का प्रयोग—इसके सम्बन्धमे यही नियम है कि 'को' का प्रयोग ऐसा न हो कि वाक्य भद्दा लगे—'मैने पुस्तकको पढ लिया' भद्दा है किन्तु 'बिल्ली चूहेको खा गई' अच्छा लगता है ।

क्रियाका प्रयोग सदा कर्त्ताके अनुकूल होना चाहिए ।

प्रश्नके लिये वाक्यके आरम्भमे **क्या** लगता है—क्या राम आ रहा है ?

वाक्यमे प्रभाव लानेके लिये शब्दोके क्रममे परिवर्तन भी हो जाता है—है तो वह सुशील, पर मूर्ख है।

इसी प्रकार आवश्यकतानुसार और रूप भी हो सकते हैं।

वाक्योंके भेद

वाक्योके दो खण्ड होते है—उद्देश्य और विधेय।

उद्देश्यमे (सज्ञा, कर्त्ता या सर्वनाम) और उसके विशेषण सम्मिलित होते है।

विधेयमे वाक्यका शेष अश रहता है।

'दशरथके पितृभक्त पुत्र राम अपने भाई लक्ष्मण और पत्नीके साथ चौदह वर्ष वनमे जाकर रहे।'

उपर्युक्त वाक्यमे 'दशरथके पितृभक्त पुत्र राम' **उद्देश्य** है। शेष वाक्याश **विधेय** है।

वाक्य तीन प्रकारके होते है सरल, मिश्रित और सयुक्त।

सरल—जिस वाक्यमे एक ही उद्देश्य और एक ही विधेय हो, उसे सरल वाक्य कहते है : राम अच्छा लडका है।

मिश्रित : जब दो या दोसे अधिक वाक्योको जोडकर एक वाक्य बनाते है और उसमे एक वाक्य प्रधान एव दूसरा अप्रधान (प्रधानपर अवलम्बित) होता है : उसने कहा कि मै घर जाऊँगा। उसने कहा (प्रधान वाक्य), मै घर जाऊँगा (अप्रधान वाक्य)

सयुक्त वाक्य—सयुक्त वाक्यमे कई सरल और मिश्रित वाक्य होते है और वे एक दूसरेसे स्वतन्त्र होते है (केवल उनके बीचमे सयोजक अव्यय होते है)—राम घर गया, उसने भोजन किया, पुस्तक पढ़ी और सो गया।

६

रूढोक्ति, लोकोक्ति, सूक्ति

भाषाकी अवयुति वाक्य है। योग्यता, आकाक्षा और आसत्तियुक्त पद समूह ही वाक्य कहलाता है। किसीने कहा 'पानी बरसता है'। इस वाक्यमे **पानी** और **बरसना** शब्दोके अर्थोंमे अबाध सम्बन्ध है। श्रोता या पाठक इस वाक्यको सुनकर या पढकर समझेगा कि 'आकाशसे जल गिर रहा है'। जलका गिरना तथ्य है। वाक्यने इस तथ्यके ज्ञानकी पूर्त्ति की। व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य पूर्णतः ठीक उतरा।

अब मान लीजिए ग्रीष्म ऋतु है। भयकर गर्मी पड रही है। सूर्य तप रहा है। आँखें आकाशकी ओर उठनेमे असमर्थ हैं। किसीको गर्मीकी तीव्र अनुभूति हुई। इस अनुभूतिको उसकी तीव्रताके अनुसार ही प्रकट करनेके लिये उसने कहा 'आग बरस रही है'। अत्यधिक गर्मीकी सूचना देनेके लिये उसने इस वाक्यका प्रयोग किया। अग्निमे उष्णता और जलानेकी शक्ति होती है। इधर गर्मीकी मात्रा इतनी बढी हुई है कि शरीर जलता-सा जान पडता है। अतः गर्मीकी अधिकता और अग्निमे एक स्वाभाविक साम्य स्थापित हुआ। अत्यधिक गर्मीकी उत्पत्तिसे पृथ्वीका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता वरन् सूर्य ही उसका गोचर कारण लक्षित होता है। सूर्य आकाशमे है और पानी भी आकाशसे ही बरसता है। पानीकी **बरसना** क्रिया लेकर **आग**के साथ जोड दी गई। अतः "**आग बरस रही है**" वाक्यका अर्थ यह न लगाया जायगा कि आगके अगारे अथवा चिनगारियाँ आकाशसे भूमिपर गिर रही है। उपर्युक्त वाक्यसे गर्मीकी अधिकता ही व्यञ्जित होगी। अर्थात् वाक्यका अभिधेयार्थ (प्रचलित अर्थ) न लेकर लक्ष्यार्थ (विशेष लक्ष्यवाला अर्थ) ही लिया जायगा। अभिधेयार्थका निषेध करके शब्दकी जिस शक्तिसे लक्ष्यार्थ लिया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा-शक्तिरर्पिता ॥ साहित्यदर्पण।

इसी प्रकारका एक और उदाहरण "सिर उडाना" भी है। सिर कोई पक्षी, पतग या पखवाला पदार्थ तो है नहीं जो उडाया जा सके। वायुमे निराधार सचरणके व्यापारको **उड़ना** कहते है। तलवारके द्वारा कटनेपर सिर उछलकर भूमिपर गिरता है। निराधार सचरणके व्यापारका आरोप **सिरपर** किया गया अत॰ 'सिर उडाना' का लक्ष्यार्थ हुआ सिर काट देना। यही आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोप अथवा लक्षणा ही रूढोक्ति या मुहावरेका मूल है। कोई भी आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त पद निरन्तर प्रयोगके द्वारा रूढ हो जानेपर रूढोक्ति या मुहावरा कहलाने लगता है। प्रारम्भमे तो आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपोकी गिनती प्रयोजनवती लक्षणामें होती है किन्तु निरन्तर प्रयोग-द्वारा कुछ समय बीत जानेपर वही रूढा लक्षणा हो जाती है और लोग उसे रूढोक्ति, मुहावरा या व्यवहारोक्ति कहने लगते है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य या वाक्याश रूढ हुए बिना रूढोक्ति (मुहावरा) नहीं बन सकता।

रूढोक्ति या मुहावरेकी परिभाषा

मुहावरा स्वय अरबी भाषाका शब्द है। इसकी उत्पत्ति **हौर** अथवा **हर्रार** शब्दसे बताई जाती है। अरबी भाषामे **'हौर'** शब्दका अर्थ गर्म होता है। **गर्म** शब्दके अभिधेयार्थका निषेध करके यदि उसके लक्ष्यार्थपर विचार करे तो इसका अर्थ होगा अत्यधिक प्रयोगमे आनेवाली वस्तु। जैसे, 'वहॉ घूसका बाजार गर्म है' कहनेसे कोई यह न समझेगा कि घूसका कोई बाजार है और उस बाजारमे आग लग गई है। इसका लाक्षणिक अर्थ यही होगा कि वहॉ बहुत घूस ली जाती है। ससारकी विभिन्न भाषाओके प्रामाणिक कोषोमे **मुहावरा** शब्दके कई अर्थ किए गए है पर सबमे पाया जानेवाला व्यापक लक्षण है उसका चिर और निश्चित प्रयोग। सबके विचारोमे सामान्यतया एकरूपता है

और सभीने लक्षणाके ही लक्षणको किसी न किसी रूपमे स्वीकार किया है। परन्तु मुहावरेका एक प्रचलित अर्थ अभ्यास भी है। यदि यह अर्थ भी दृष्टिमे रखकर विचार करे तो मुहावरेकी यह परिभाषा होगी कि "सतत अभ्यास-द्वारा सस्कृत, सर्वसम्मत तथा रूढ आलङ्कारिक अनुकरणात्मक आरोपसे युक्त चामत्कारिक प्रयोगको रूढोक्ति या मुहावरा कहते हैं।"

रूढोक्तिकी उत्पत्ति

रूढोक्तिकी उत्पत्तिमे ग्रामो और ग्रामीण जनताका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। अधिकाश रूढोक्तियाँ हमारी अपढ और अशिक्षित जनता-द्वारा उत्पन्न की गई हैं। प्रकृतिके सहज, सुन्दर और चिर-परिचित स्वरूपो, उपकरणो तथा व्यापारोका अन्य स्थलोपर आरोप करके उन्होने उसे रूढ कर दिया। विद्वानो-द्वारा वे ही रूढ प्रयोग कट-छँट, सँवर-सुधरकर भाषाको सजानेवाले अनमोल आभूषण बन गए।

अशिक्षितोंकी देन

जिस प्रकार अशिक्षित समाजने बहुत-सी शब्द रचना की उसी प्रकार रूढ शब्द समुदायकी रचना भी उन्होने ही की है। हमारे सुन्दर और सजीव शब्दोके समान हमारी सर्वोत्तम रूढोक्तियाँ भी बैठकघरो, सभाओ अथवा पुस्तकालयोमे न उत्पन्न होकर कल-कारखाने, रसोईघर और खेत-खलिहानमे उत्पन्न हुई है। किसान, श्रमिक, अशिक्षित स्त्रियाँ तथा समाजकी नीची श्रेणीके अज्ञजन अपने भाव प्रकट करनेके लिये कभी-कभी ठेठ घरेलू शब्दोको जोड-तोडकर बोल बैठते है। ये प्रयोग इतने सधे हुए, शब्द-लाघवतायुक्त और सामान्य भाव-भूमिके इतने समीप पहुँचे होते हैं कि आगे चलकर इनकी गणना सरलतापूर्वक रूढोक्तियोमे हो जाती है।

अन्य भाषाओंकी रूढोक्तियाँ

प्रोफेसर आज़ादका कहना कि 'एक ज़ुबानके मुहावरेका दूसरी ज़ुबानमे तरजुमा करना जायज़ नहीं' पूर्णत. ठीक नहीं जान पड़ता।

परस्पर सम्पर्कमे आनेपर विभिन्न भाषाओका एक दूसरेपर प्रभाव पडना और परस्पर रूढोक्तियोका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही है किन्तु रूढोक्तियोका शब्दानुवाद न करके भावानुवाद ही करना अच्छा होता है। दूसरी भाषाकी रूढोक्तिका अनुवाद अपनी भाषामे करते समय यह प्रयत्न भी करना चाहिए कि जहाँतक हो सके अन्य भाषाकी रूढोक्तिके अर्थकी द्योतिका जो रूढोक्ति अपने यहाँ प्रचलित हो उसीका प्रयोग किया जाय जैसे—'टु टेक टु वन्स हील्स' का अनुवाद 'अपनी एडीपर लेना' के बदले 'सिरपर पैर रखकर भागना' ही ठीक हो सकता है। इसी प्रकार 'बर्ड्स आइ व्यू', 'टु थ्रो डस्ट इन वन्स आइज़' और 'टु स्ले दी स्लेन' का शाब्दिक अनुवाद क्रमशः 'विहगम दृष्टि, आँखमे धूल झोकना, मरेको मारना' किया जा सकता है। परन्तु 'नौट् टु लेट् ग्रास ग्रो अन्डर वन्स फीट' और 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' का अनुवाद 'पैर तले घास न उगने देना' या 'नक्राश्रु' बहुत ही अनुचित है। नागरीमे इन उक्तियोका कोई अर्थ ही नही। प्रत्येक जातिकी धार्मिक भावनाओ और रूढ विश्वासोमे अन्तर होता है। यदि कोई अपने इस विश्वासके अनुसार कि घडियाल अपने आखेटको खानेसे पहले रोता है, किसी प्रच्छन्न पातकीके आँसुओको 'क्रोकोडाइल्स टीयर्स' कहे तो अनुचित नहीं, पर जिस जातिके यहाँ कभी ऐसी बात सुनी ही न गई हो उसकी भाषामे इसका अनुवाद 'नक्राश्रु' करना व्यर्थ ही है। हम अपने यहाँ उसे 'बिलैया दडवत' कह सकते है।

शब्द-बद्ध रूढोक्तियाँ

नागरीके लेखकोकी एक और भी शकाजनक प्रवृत्ति है जिससे सावधान हो जाना चाहिए। आजकल उर्दू रूढोक्तियोको हिन्दी रूप देनेका भी प्रयत्न किया जा रहा है और यह ठीक भी है किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रूढोक्तियोका रूप कभी-कभी उनके शब्दोके साथ ही ढला होता है। 'जमीन-आसमानका फर्क है' कहनेके बदले

हम सकते है 'आकाश-पातालका अन्तर है' किन्तु 'उसकी छातीपर साँप लोटने लगे' के स्थानपर यह नहीं कह सकते कि 'उसके वक्षःस्थलपर सर्प लुंठित होने लगे' और न हम किसी ईर्ष्यालु व्यक्तिको 'तुम हमसे क्यो जलते हो' कहनेके बदले 'तुम हमसे क्यो प्रज्वलित होते हो' कह सकते है। ऐसी उक्तियाँ शब्दोमे बँधी होती हैं। उनका ज्योका त्यो प्रयोग करना चाहिए।

रूढोक्तिके प्रयोगमें सावधानी

रूढोक्तिके प्रयोगमे यह सावधानी बरतनी चाहिए कि कुछ रूढोक्तियाँ किसी विशेष काल (भूत, भविष्य या वर्त्तमान) मे ही प्रयुक्त होती है, सब कालोमे नहीं। अतः रूढोक्तियोका प्रयोग करते समय इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए। निम्नलिखित रूढोक्ति लीजिए—

'होश उड जाना' एक रूढोक्ति है जिसका प्रयोग भूतकालमे ही होता है : **उसके होश उड़ गए** इसका प्रयोग हम इस प्रकार नहीं कर सकते—

मै उसके होश उड़ा रहा हूँ।

कुछ रूढोक्तियाँ भविष्यमे ही सुन्दर उतरती हैं, जैसे—**ऐसे कीड़े पड़ेंगे**। इसका प्रयोग यही अच्छा होता है—

तुम मुझपर झूठा अभियोग चला रहे हो, तुम्हे ऐसे कीड़े पड़ेंगे कि माँगे पानी नहीं मिलेगा।

इसके बदले यह नहीं कह सकते—

उन्हें ऐसे कीड़े पड़े कि माँगे पानी नहीं मिला।

या

उन्हें ऐसे कीड़े पड़ रहे हैं कि माँगे पानी नहीं मिल रहा है।

तात्पर्य यह है कि उनके प्रयोगकी विधि, अवस्था, परिस्थिति तथा कालका विचार करके रूढोक्तिका प्रयोग करना चाहिए।

नीचे नागरीमे प्रचलित कुछ रूढोक्तियोके शुद्ध रूप और उनके अर्थ दिए जा रहे हैं—

रूढोक्तियाँ

अंकुश देना : नियन्त्रण करना।
अंगार बरसना : अत्यन्त गर्मी पड़ना।
अंगारोंपर पैर रखना सकटका काम करना।
अँगूठा चूमना : चाटुकारी करना, वशमें होना।
अँगूठा दिखाना : अनादरपूर्वक अस्वीकार करना।
अंजर-पंजर ढीले करना : त्रस्त कर देना।
अटाचित्त होना . पराजित होना, सन्न हो जाना।
अँतड़ियाँ कुलबुलाना : बहुत भूख लगना।
अँतड़ियोंमें आग लगना : बहुत भूख लगना।
अंधा बनाना : मूर्ख बनाना, धोखा देना।
अंधेकी लाठी, होना : एकमात्र सहारा होना, इकलौता लड़का होना।
अँधेरा छाना . उदासी आना, सब कुछ नष्ट होना।
अँधेरे घरका उजाला एकलौता योग्य लड़का।
अक्षरसे भेंट न होना अपढ़ रहना।
अगर-मगर करना : टालना, व्यर्थ विवाद करना।
अगाड़ी-पिछाड़ी लगाना नियंत्रणमें रखना।
अगियाबैताल होना : वीर, असंभव काम करनेवाला होना।
अन्न-जल उठना जीविका समाप्त होना।
अपना उल्लू सीधा करना : अपना स्वार्थ साधना।
अपना-सा मुँह लेकर रह जाना : लज्जित या असफल हो जाना।
अपनी बातका एक होना : दृढप्रतिज्ञ होना।
अपने पाँवमें आप कुल्हाड़ी मारना जान-बूझकर विपत्ति मोल लेना।
अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना : अपनी प्रशंसा स्वयं करना।
अबतब करना : देर करना, बहाना करना, टालना।
अर्द्धचन्द्र देना : निरादरपूर्वक निकाल देना।

अवस्था ढलना बुढापा आना ।
आँख उलट जाना : अभिमान करने लगना, कृतघ्नता करना ।
आँख ऊँची न होना : लज्जित होना ।
आँखका अन्धा गाँठका पूरा : अनाडी धनी ।
आँखका तारा : सतान ।
आँखका पानी ढल जाना : लज्जा न रह जाना ।
आँखकी किरकिरी : खटकनेवाली वस्तु या व्यक्ति ।
आँखकी पुतली प्रिय व्यक्ति या सन्तान ।
आँखके सामने अँधेरा छाना : दुःखसे मूर्च्छित होना ।
आँखोके बल चलना : सँभलकर चलना ।
आँख खुलना चेत होना, नीद टूटना, समझमें आना ।
आँखें चार होना : देखना ।
आँख चुराना लजाना, ध्यान न देना ।
आँख छिपाना दृष्टि बचाना, दुःशील होना ।
आँख ठढी होना इच्छा पूरी होना ।
आँख तरसना देखनेके लिये व्याकुल होना ।
आँखोदेखा : सच्चा ।
आँखें नीची होना : लज्जित होना ।
आँखोपर पट्टी बाँधना : जान-बूझकर ध्यान न देना ।
आँखोपर परदा पडना : विवेक जाता रहना ।
आँखोपर बिठाना : आदर-सत्कार करना ।
आँख फेरना : पहलेका-सा स्नेह भाव न रखना ।
आँख बचा जाना : छिपकर निकल जाना ।
आँख बदलना : स्नेहहीन होना ।
आँख मूँदना ध्यान न देना, मरना ।
आँखोमे लहू उतरना : क्रोध आना ।
आँखोमे चर्बी छाना : मदान्ध होना ।

आँखोंका काँटा होना : कष्टदायक होना।
आँसुओंसे मुँह धोना : बहुत रोना, विलाप करना।
आकाशके तारे तोड़ लाना : असम्भव काम करना।
आकाशपर दिया जलाना : इतराना, घमंड करना।
आकाश चूमना : बहुत ऊँचा होना।
आकाश टूट पड़ना : अचानक घोर विपत्तिमें पड़ जाना।
आकाशपर थूकना : अपनेसे बड़ेको अपमानित करना।
आकाश-पातालका अन्तर : बहुत बड़ा भेद।
आकाशसे बातें करना : बहुत ऊँचा होना।
आगका पुतला : क्रोधी, चिड़चिड़ा।
आगबगूला होना : बहुत क्रोध करना।
आग बोना या लगाना : झगड़ा लगाना।
आगके मोल : बहुत महँगा।
आगमें घी डालना : क्रोध भड़का देना।
आगमें पानी डालना : झगड़ा शान्त करना।
आग लगाकर पानी लाने दौड़ना : झगड़ा लगाकर शान्ति करना।
आग लगेपर कुआँ खोदना : काम आ पड़नेपर युक्ति सोचना।
आगमें कूदना : विपत्ति मोल लेना।
आगा-पीछा करना : टालना
आगे होना : मुखिया बनना।
आटा गीला होना : अभावमें व्यय बढ़ना।
आटे-दालका भाव जानना : कठिनाइयोंका ज्ञान होना।
आटेके साथ घुन पिसना : बड़ेके साथ छोटेको भी हानि उठाना।
आठ-आठ आँसू रोना : बहुत विलाप करना।
आड़े आना : संकटके समय सहायक होना।
आड़े हाथों लेना : ताने मारकर लज्जित करना।
आड़-तिरछे होना : त्योरी बदलना, अप्रसन्न होना।

आधा तीतर आधा बटेर : अपूर्ण, अधूरा, असगत ।
आपेमे न रहना घबराना ।
आपेसे बाहर होना घबराना, क्षुब्ध होना, क्रुद्ध होना ।
आसन जमाना : स्थिर भावसे बैठना, जमकर टिक जाना ।
आस्तीनका साँप : मित्र बनकर घात करनेवाला
इन्द्रायनका फल : खोटा ।
इस कान सुनना उस कान उडा देना ध्यान देकर न सुनना ।
ईंटसे ईंट बजाना : फूट डालकर नाशकारी लडाई कराना ।
उँगली उठाना : किसीको बदनाम करना, दोष निकालना ।
उँगली पकडते पहुँचा पकडना : थोडा प्रोत्साहन पाकर सब ले-लेनेका प्रयत्न करना ।
उँगलियो पर नचाना : इच्छानुसार चलाना, वशमे करना ।
उछल-कूद करना : निरर्थक आत्मप्रदर्शन करना ।
उठल्लूका चूल्हा होना . स्थिर न रहना ।
उडदपर सफेदी : नाममात्रको ।
उलटा लटकना किसी वस्तुके लिये प्राण-तक देनेको तैयार होना ।
उलटी गगा बहना : अनहोनी बात होना ।
ऊँच-नीच समझाना : हानि-लाभ समझाना ।
ऊँचा-नीचा सोचना : हानि-लाभका विचार करना ।
एक डाल पर न रहना : मत या विचार बदलते रहना ।
एक लाठीसे हाँकना : बड़े-छोटेका ध्यान न रखकर सबसे एक-सा व्यवहार करना ।
ऐंठ दिखाना . घमडका भाव दिखाना ।
ओखलीमे सिर देना : जान-बूझकर विपत्ति मोल लेना ।
कगालीमे आटा गीला होना : निर्धनताकी दशामे व्यय बढना ।
कठी देना चेला बनाना ।
कंधेसे कंधा छिलना : भारी भीड होना ।

कठपुतली होना : दूसरेके सकेतपर चलना।
कडी दृष्टि रखना : भली भाँति देखरेख करना।
कपडे उतार लेना : अपमानित करना।
कमर कसना : तैयार होना।
कमर टूटना : उत्साह न रह जाना।
कलेजा थामकर बैठ जाना : शोकका वेग दबाकर रह जाना।
कलेजा निकालकर रखना : प्रिय वस्तु या सर्वस्व दे देना।
कलेजा फटना : दुखी होना, डाहसे जलना।
कहींका न होना या रहना : किसी योग्य न रहना।
काटो तो लहू नहीं : स्तब्ध हो जाना।
काँटोमे घसीटना : व्यर्थ प्रशसा करके लज्जित करना।
कान खाना : बहुत हल्ला करना।
कान पर जूँ न रेंगना : कुछ भी चिन्ता न करना।
कानमे तेल डालकर बैठना सुनकर भी ध्यान न देना।
काम आना : मारा जाना।
कुआँ खोदना : दूसरेकी बुराई करना।
कुएँमे भाँग पडना : सब लोगोका मूर्खतापूर्ण कार्य करना।
कोल्हू काटकर मूगरी बनाना : थाडे लाभके लिये बडी हानि करना।
कोल्हूका बैल होना दिनरात काम करना।
क्रोध पीना : कोध रोकना।
खटाईमे डालना : किसी कामको लटकाए रखना।
खेत आना : लडाईमे मारा जाना।
खोपडी चाट जाना : बकबक करके तग करना।
गगा नहाना : निश्चिन्त हो जाना।
गगा लाभ होना : मर जाना।
गठरी बाँधना : यात्राकी तैयारी करना।
गाडे मुर्दे उखाडना : पुराने दोष निकालना।

गरम होना : क्रुद्ध होना।
गला काटना मार डालना, अनुचित हानि पहुँचाना।
गले लगाना : बलपूर्वक गले मढना।
गहरा हाथ मारना : भरपूर वार करना, बहुत धन हथियाना।
गाँठपर गाँठ पडना : उलझन (वैर) बढती जाना।
गाँठ रखना (मनमे) : वैर मानना।
गाँठ पडना ' वैर होना।
गाँठ काटना : जेब काटना।
गागरमे सागर भरना : सक्षेपमे सब कुछ कह देना।
गाढेकी कमाई होना : परिश्रमसे कमाया धन होना।
गिरगिट-सा रग बदलना : झटझट मत बदलते रहना।
गीदड भभकी दिखाना : दिखाऊ क्रोध या तर्जन करना।
गुड दिखाकर ढेला मारना : सुखका प्रलोभन देकर दुःख देना।
गुडियोका खेल होना : सरल काम होना।
गुलछर्रे उडाना : आनन्द करना।
गूलरका फूल होना कभी देखनेमे न आना।
घडी गिनना : बाट जोहना।
घर बिगाडना : घर नष्ट करना।
घर बैठे रोटी तोड़ना : बिना परिश्रम किए आनन्द करना।
घास खोदना : व्यर्थका काम करना।
घीके दिये जलाना : हर्ष मनाना।
घुलघुलकर बातें करना घनिष्ठतासे बातें करना।
घोडा बेचकर सोना : निश्चिन्त सोना।
चग पर चढाना : भुलावेमे डालना, झूठा बढावा देना।
चगुलमे फँसना : वशमे होना।
चट कर जाना सब हडप जाना।
चाँदीका जूता लगाना ' घूस देना।

चादरसे बाहर पैर फैलाना : सीमा या शक्तिसे बाहर काम करना।
चार चाँद लगाना : चौगुनी सुन्दरता बढाना।
चिकना घडा होना : निर्लज्ज होना।
चिकने घडेपर पानी पडना : कोई प्रभाव न पड़ना।
चिकनी-चुपडी बाते करना : बनावटी या चाटुकारी-भरी बातें करना।
चारो शाने (खाने) चित होना : हक्का-बक्का होना, परास्त होना।
चिट्टे (चट्टे-बट्टे) लडाना : झगडा लगाना।
चित्तसे उतरना : विरक्ति होना।
चुटकियोमें उडाना कुछ न समझना, मूर्ख बनाना।
चुटिया हाथमें होना . अपने वशमें होना।
चोलीदामनका साथ होना : घनिष्ठता होना।
चौथका चाँद होना कलक लगाना।
छक्के छुडाना परास्त करना, तग करना।
छठीका दूध याद आना : भारी सकटमे पडना।
छातीपर मूँग या कोदो दरना : बहुत कष्ट देना, ईर्ष्या बढ़ाना।
छातीपर पत्थर रखना : हृदय कडा करना।
छातीपर साँप लोटना दुःख होना, दाह होना।
छींकते नाक काटना : थोडी बातपर चिढना या दड देना।
जलेपर नमक छिडकना : दुखीको और दुखी करना।
जानपर खेलना : प्राण संकटमे डालकर काम करना।
जीती मक्खी निगलना : सरासर बेईमानी करना।
जीते जी मर जाना : मृत्युसे भी अधिक कष्ट भोगना।
जी फडक उठना : चित्त प्रसन्न होना।
जी भर जाना : सतुष्ट हो जाना।
जीभ पकड़ना : बोलने न देना।
जीभ खींचना : कडा दड देना।
जूतियाँ चटकाते फिरना : मारे-मारे फिरना।

जूती चाटना चाटुकारी करना।
जौहर खुलना : गुण, (व्यग्यमे) भेद या पाप प्रकट होना।
झख मारना : समय नष्ट करना।
झाँसेमे आना : धोखेमे आना।
झाडू फेरना सब नष्ट करना।
टटा खडा करना : झगडा आरभ करना।
टकासा मुँह लेकर रह जाना : लज्जित होकर रह जाना।
टट्टीकी ओटमे शिकार खेलना छिपकर चाल चलना।
टससे मस न होना : तनिक भी न खिसकना या सुनना।
टायँ-टायँ-फिस होना बकवाद बहुत पर फल कुछ होना।
टाटमे पाटका बखिया लगाना : बेमेलका साज सजाना।
टुकडा माँगना : भीख माँगना।
टेढ़ी आँखसे देखना : क्रोधसे देखना।
ठिकाने लगना समाप्त होना, धन्धा लगना।
ठेंगा दिखाना : बुरे ढगसे अस्वीकार करना।
ठोकर खाना मारे मारे फिरना।
डकेकी चोट कहना : खुल्लमखुल्ला कहना।
डाढी होना (पेटमें). छोटी अवस्थामे बडोकी सी बात करना।
डेढ चावलकी खिचडी पकाना : अपनी बात सबसे अलग रखना।
ढेर करना : मारकर गिरा देना।
ढेर हो जाना : जीता न बचना।
तंग होना (हाथ) : धन-कष्ट होना।
तहतक पहुँचना : वास्तविक बात जान लेना।
तालू चटकना : सिरमे बहुत गर्मी जान पड़ना।
ताव दिखाना : रौब (अधिकार) जमाना।
ताव देना (मूँछोपर): अभिमान करना, हर्षसे गर्व दिखाना।
तिनका दाँतोसे पकड़ना : गिड़गिड़ाना।

तिनका तोडना बलैया लेना ।
तिल धरनेकी जगह न होना : बहुत भीड होना ।
तीन तेरह करना नष्ट-भ्रष्ट करना ।
तीन-पॉच करना : निरर्थक बकवाद करना ।
तूती बोलना : प्रभाव होना ।
तेलीका बैल होना : सदा काममे लगा रहना ।
दलदलमे फँसना : कठिनाईमे पडना ।
दॉत उखाडना : कठोर दड देना ।
दॉत खट्टे करना : परास्त करना ।
दालमे काला होना : कुछ भेदकी बात होना ।
दिन फिरना : अच्छा समय आना ।
दीवाला निकलना आर्थिक स्थिति बिगड जाना ।
दूजका चॉद होना : बहुत दिनोपर दिखाई पडना ।
दूधका दूध और पानीका पानी करना : ठीक ठीक न्याय करना।
दूधकी मक्खी बनाना : निकाल देना, छोड़ देना ।
दूधके दॉत न टूटना : भोला होना ।
दो नावोपर पैर रखना : दोनो पक्षोसे मिले रहना ।
धज्जियॉ उडाना : किसीके सब दोष उधेडना, बोटी-बोटी काट डालना ।
धरतीपर पैर न रखना अभिमान करना ।
धुनका पक्का होना आरभ किए कामको पूरा करके ही छोडना ।
धूल चाटना गिडगिडाना ।
नमक-मिर्च लगाना: अपनी ओरसे घटा-बढाकर कहना ।
नया गुल खिलना नई भेदभरी (बदनामी करानेवाली) बात होना ।
नाक-भौं सिकोडना चिढना ।
नाक रख लेना प्रतिष्ठा बचा लेना ।
नाको चने चबाना अत्यन्त तग करना ।
नानी याद आना : परास्त होना, कष्टमे पड़ना ।

नींद हराम होना सो न पाना।
नौ-दो ग्यारह होना धोखा देकर भाग जाना।
पगडी उछालना अपमानित करना, हसी उडाना।
पगडी उतारना : अपमानित करना।
पटरा कर देना सर्वनाश कर देना।
पत्थरपर दूब जमाना असम्भव काम करना।
पत्थर पसीजना : अनहोनी बात होना।
परदा डालना : दोष छिपाना।
परदा रखना : दुराव रखना, कपट रखना।
पाँच सवारोंमें नाम गिनाना अपनेको भी बडोंमें गिनना।
पाँचो उँगलियाँ घीमें होना आनन्द करना।
पाँचो उँगलियाँ बराबर न होना : सबका एक समान न होना।
पानी उतारना अपमानित करना।
पानी फिर जाना . चौपट हो जाना।
पानी रखना मान बचाना।
पार उतरना : काम पूरा कर लेना।
पार करना : पूरा करना।
पार पाना जीतना।
पाँव पसारना : सुखसे सोना।
पाँवमें बेडी पडना : झंझटमें फँसना।
पासा पलटना : सकटमें पडना।
पिंड छुडाना झंझटसे बचना।
पीछे पडना : बार बार कहना या करना।
पीठ दिखाना : भाग खडे होना।
पैसेके तीन अधेले करना या भुनाना कजूस होना।
पौ बाहर होना : काम बन जाना।
प्राणोपर आ पडना : संकटमें पड़ना।

फूँक-फूँककर पैर रखना . सावधानीसे काम करना ।
फूटी आँखो न भाना : बहुत बुरा लगना ।
फूल सूँघकर रहना : बहुत कम खाना ।
फेरमे डालना : सकटमे डालना ।
फेरना (हाथ) : उडा लेना ।
बखिया उधेडना सब भेद खोलना ।
बट्टा लगाना : बदनाम करना, कलक लगाना ।
बट्टे-खाते लिखना रुपया न मिलनेवाला समझ लेना ।
बहती गगामे हाथ धोना सब जिससे लाभ उठाते हो उससे लाभ उठाना ।
बाँसो उछलना : बहुत प्रसन्न होना ।
बात काटना : बातके बीच टोकना ।
बातका बतगड करना : छोटी बातको बढाकर सकट उत्पन्न करना ।
बात खुलना भेद खुल जाना ।
बात बदलना : कहकर मुकरना ।
बालकी खाल खींचना छोटे-छोटे दोष ढूँढना ।
बाल बराबर न समझना : कुछ भी महत्त्व न देना ।
बाल बाँका न होना . आँच न आना ।
बाल-बाल बचना : किसी-किसी प्रकार बच जाना ।
बावन तोले पाव रत्तीकी बात कहना · ठीक-ठीक या सत्य कहना ।
बासी कढीमे उबाल आना असमर्थमे सामर्थ्य दिखाई पडना ।
बीचमे पडना : मध्यस्थ होना, अपने सिर उत्तरदायित्व लेना ।
बीडा उठाना : भार लेना ।
बेपेंदीका लोटा होना : दूसरेके कहनेपर चलना ।
बेसिर-पैरकी बातें करना : निरर्थक बात करना ।
भाग खडा होना : भाग जाना ।
भाड झोकना : समय गँवाना ।

भाडेका टट्टू होना : पैसा लेकर कुछ भी काम कर देना।
भीगी बिल्ली होना : डरसे बिलकुल चुप रह जाना।
भूत सिरपर सवार होना : क्रुद्ध होना या हठ करना।
मक्खीचूस होना भारी कजूस होना।
मनमैला करना . मनमे कपट होना।
मनमुटाव होना : अनबन होना।
माथा मारना : बहुत सोचना।
माथा पीटना : पछताना।
माथा ठनकना : आशका करना।
मारा-मारा फिरना : अकारथ दीनताके साथ दिन बिताना।
मुँहकी खाना लज्जित होना, हारना।
मुँह मीठा करना : कुछ देकर वशमे करना, प्रसन्न होना।
मुँह लेकर रह जाना : (अपनासा) लजाकर रह जाना।
मुँहसे फूल झड़ना : मधुर वाणी होना।
मूँछोपर ताव देना : अकड दिखाना।
रग उखड जाना : प्रभाव नष्ट हो जाना।
रग बदलना : स्नेह-बन्धन तोड़ना।
राईरत्ती करना या बनाना : सब कुछ कह डालना।
रुपया पानीमें फेंकना : धन नष्ट करना।
रोटी कमाना जीविका चलाना।
लँगोटिया यार होना : गहरा मित्र होना।
लम्बी साँस लेना : शोकातुर होना।
लट्टू होना : आसक्त होना, रीझना।
लट्ठ लिए फिरना : सदा विरोध करना।
लहूके घूँट पीना : क्रोध दबाकर रह जाना।
लाग-लपेट होना : सम्बन्ध होना।
लाज ढोना : न इच्छा रहते हुए भी हित चाहना।

लाज घोलकर पी जाना : अत्यन्त निर्लज्ज हो जाना।
लाजसे गड़ना : अत्यन्त लज्जित होना।
लाजसे पानी-पानी होना : अत्यन्त लज्जित होना।
लात खाना : मार खाना।
लीप-पोत बराबर कर देना : नष्ट कर देना।
लीक पीटना पुरानी रीतिपर चलना।
लोहा लेना युद्धमें सामने लड़ना, डटकर विरोध करना।
लोहेके चने चबाना : कठिन काम करना।
वचन तोड़ना (छोड़ना) प्रतिज्ञा भग करना।
वचन देना : प्रतिज्ञा करना।
वचन निभाना : अपनी बातपर दृढ रहना।
वचन बद्ध करना : प्रतिज्ञा करा लेना।
वचन हारना : प्रतिज्ञा करना।
विष उगलना : गाली देना, निन्दा करना।
विषका घूँट पीना : क्रोध प्रकट न करना।
शख वजाना दूसरेकी हानि देखकर प्रसन्न होना।
शरीर घुल जाना : बहुत दुर्बल हो जाना।
सबको एक लाठीसे हाँकना : सबसे समान व्यवहार करना।
सस्ते छूटना कोई काम थोड़े श्रम व्यय या कष्टसे हो जाना।
स्वाहा करना नष्ट करना।
साँप सूँघना : सन्न रह जाना।
साँसतक न लेना : चुप लगा जाना, न बताना।
सात-पाँच करना : छल-कपट या बहाना करना।
सिर उठाना : विद्रोह करना, अनधिकार चेष्टा करना।
सिर ओखलीमे देना : जान बूझकर विपत्ति मोल लेना।
सिर खाना : बकवाद करके जी उबाना।
सिरके बल चलना : आदरके साथ किसीके पास जाना।

सिर खपाना : किसी काममे बहुत परिश्रम करना ।
सिर चढाना अनावश्यक महत्त्व देना ।
सिर चाटना . निरर्थक बकवाद करना ।
सिर देना . प्राण देना ।
सिर थामके बैठ रहना . शोकसे अविभूत होना ।
सिरपर रखना सम्मान करना ।
सिर मुड़ाते ही ओले पडना : आरभमे ही काम बिगडना ।
सिरसे बोझ उतरना . झझट दूर होना ।
सीधे मुँह बात न करना . अभिमान करना ।
सूखे खेत लहलहाना : अच्छे दिन आना ।
सूरजको दीपक दिखाना : प्रसिद्ध व्यक्तिका परिचय देना ।
सूरजपर थूकना (धूल फेंकना) : सज्जनपर लाछन लगाना ।
हड़प कर जाना : कुछ लेकर फिर न देना ।
हरा हो जाना : प्रसन्न हो जाना ।
हाथके तोते उड जाना . अचानक विपत्तिसे स्तब्ध हो जाना ।
हाथ धोके पीछे पडना . तग करते रहना ।
हाथ धो बैठना : निराश होना ।
हाथपर हाथ धरकर बैठना . बेकार रहना ।
हाथ पकडना . रोकना, सहायता करना ।
हाथ रीते होना : बेकार होना ।
हाथ बटाना : सहायता देना ।
हाथ-पॉव मारना : अत्यन्त प्रयत्न करना ।
हाथ फैलाना . मॉगनेके लिये हाथ पसारना ।
हाथ रोकना कम व्यय करना ।
हाथ लगाना (मारना) : सहायता या स्वीकृति देना, बदना ।
हाथ साफ करना : हड़प लेना, उठा ले जाना ।
हाथापाई होना : झगड़ा होना ।

लोकोक्ति या कहावत

किसी विशेष घटनाके फलस्वरूप किसी कविकी कोई उक्ति, या मानव-जीवनकी विशिष्ट घटना अथवा व्यवहारका समाधान, समर्थन या परिहार करनेके लिये कही हुई कोई उक्ति ऐसी सटीक बैठ जाती है कि वह एक कानसे दूसरे कान और एक मुँहसे दूसरे मुँहमे पहुँचकर लोकजिह्वापर ऐसी सध जाती है कि जब-जब उस प्रकारकी परिस्थिति उत्पन्न या उपस्थित होती है तब-तब लोग उसका प्रयोग करते रहते है। ये ही उक्तियॉ, लोकोक्ति या कहावत बन जाती है। किसी राधा नामकी नर्तकीने न नाचनेका बहाना बनानेके लिये कभी कह दिया होगा कि मै 'नाचने लगूँगी तो चारो ओर इतने अधिक लूको (मशालो) या तैलदीपोका प्रकाश होना चाहिए कि उसके लिये नौ मन तेल लगेगा और जबतक इतना तेल न जुट जायगा तबतक मै नहीं नाचूँगी।' न नौ मन तेल जुट पाया और न राधा नाची। अतः जहॉ कहीं कोई किसी कार्यके लिये समर्थ होनेपर भी ऐसा अडगा लगा दे कि उसका पूरा होना सम्भव न हो वहॉ लोग कह देते हैं—न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। यह वाक्य अब लोकोक्ति बन गया।

हिन्दीकी कुछ प्रचलित लोकोक्तियॉ अर्थ-सहित यहॉ दी जा रही हैं—

अडा सिखावे बच्चेको चीं ची मत कर : जब कोई छोटा बड़ेको उपदेश दे।

अन्धा क्या चाहे दो ऑखें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वही वस्तु मिल जानेपर।

अन्धी पीसे कुत्ता खाय . जब मनुष्य अपने उपार्जित धनको रखनेकी व्यवस्था न कर सके और दूसरे उस धनको भोग करें।

अन्धे आगे रोना अपने दीदे खोना : जब कोई किसीको अपना दुख सुनावे और सुननेवाला उसपर ध्यान न दे।

अन्धेको आरसी . जब किसीको ऐसी वस्तु दी जाय जो उसके काम न आवे।

अन्धेने चोर पकड़ा दौडियो मियाँ लॅगडे : ऐसी असम्भव बातपर जहाँ कार्य-कर्ता और उसके सहायक दोनो ही असमर्थ हो।

अन्धोने गाँव मारा दौडियो बे लगडो : असम्भव बातपर।

अकेला चना भाड नहीं फोड सकता : अकेला व्यक्ति भारी काम नहीं कर सकता।

अच्छे घर बयाना दिया : अपनेसे अधिक शक्तिशालीसे उलझनेपर।

अढाई हाथकी ककडी नौ हाथका बीज बेमेल बात पर।

अधजल गगरी छलकत जाय : ओछे आदमीके इतरानेपर।

अपना-अपना घोलो—अपना अपना पियो : जब किसी समाज या कुटुम्बके आदमी मिल-जुलकर न रहे अथवा एक साथ काम न करके अलग-अलग बर्ताव करे।

अपना ढेढर न देखे दूसरेकी फुल्ली निहारे : अपना बडा दोष न देखकर दूसरेके छोटे दोषका बखान करनेपर।

अपना पैसा खोटा तो परखवैयेका क्या दोष : उस बाहरवालेपर जो आपसमे बिगाड करा दे।

अपना मरन जगतकी हँसी : असावधानीपर।

अपना माल अपनी छाती तले अपनी वस्तु अपनी ही सुरक्षामे रखनी ठीक है।

अपना-सा मुँह लेकर रह गए : जब कोई आदमी अपनी बातपर परास्त हो जाता है।

अपना ही राग अलापते हैं : जब कोई अपनी ही कहे, दूसरेकी न सुने।

अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग : जब कोई नियम न मानकर सब अपनी मनमानी करें।

अपनी करनी पार उतरनी : अपने कर्मका फल आप ही भोगना पड़ता है।

अपनी नाक कटाकर दूसरेका असगुन मानना जब दूसरेकी हानि करनेके लिये कोई अपनी भी हानि कर डाले।

अपने दहीको कोई खट्टा नहीं कहता : अपनी वस्तुको कोई बुरा नहीं कहता।

अपने पाँव कुल्हाडी मारना : अपनी हानि आप ही करना।

अपने पूत कुँआरे फिरें, पडोसिनके फेरे : जब कोई अपने घरकी भलाई न देखकर दूसरेकी भलाई करता फिरे।

अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दीखता : बिना अपने किए काम नहीं होता।

अपने हाथसे अपने पेटमें छुरी नहीं मारी जाती : अपना हानि आप नहीं की जाती।

अब तो पत्थरके तले हाथ दबा है : जब कोई किसीके फन्देमें फँस जाय या किसीका द्रव्य किसीके पास रह जाय।

अब पछताए होत क्या, चिड़िया चुग गई खेत . समय निकल जानेपर पछताना व्यर्थ है।

अभी तो तुम्हारे दूधके दाँत भी नहीं टूटे हैं : जब कोई लड़का बड़प्पनकी बात करे।

अभी दिल्ली दूर है . जब थोड़ा ही काम करके समझ ले कि मैंने सब काम कर लिया।

अरहरकी टट्टी गुजराती ताला : जब कम मूल्यकी वस्तुके लिये अधिक सावधानी बरती जाय।

अला बला बन्दरके सिर : दुर्बलके सिर दोष मढ़ना।

अशर्फियाँ लुटें और कोयलोपर छाप : आवश्यक अवसरपर व्यय

न करके अनावश्यक अवसरपर धन व्यय करनेवालेपर।

आँख कानमे चार अगुलका अन्तर है : बिना देखे विश्वास नहीं करना चाहिए।

आँख फूटी पीर गई : जिससे बराबर कष्ट मिले उसे त्यागना ही अच्छा है।

आँखमे फुल्ली नाम कमलनयन : नामके अनुसार गुण न होनेपर।

आँखसे दूर तो मनसे दूर दूर रहनेपर प्रीति नहीं रहती।

आँखका अधा नाम नयनसुख : गुणके विरुद्ध नाम होनेपर।

आँखोका काजल चुराता है : बहुत धूर्त्त व्यक्तिपर।

आँखो देखी मानूँ, कानो सुनी न मानूँ : देखी हुई बातपर विश्वास होता है सुनी बातोपर नहीं।

आँखोपर ठीकरी रखना : किसी बातको जानबूझकर न देखना।

आग और बैरीको कम न समझो : इन्हे बढते देर नहीं लगती।

आगका जला आगसे ही अच्छा होता है : जैसा जिसे देखना वैसा उससे बर्ताव करना।

आग खायगा, अगारे उगलेगा : बुरे कामका बुरा फल।

आग लगाकर तमाशा देखना : लडाई-झगडा करा देनेवालोपर।

आगे कुँआ पीछे खाई : जब दोनो ओर विपत्ति दिखाई दे।

आगे नाथ न पीछे पगहा : जिसका कोई पूछनेवाला न हो।

आज किधर चाँद निकला : जब कोई बहुत दिनोके पश्चात् मिलता है।

आठ कनौजिए नौ चूल्हे : मतभेद होनेपर।

आठ जुलाहे नौ हुक्के : जुलाहोकी मूर्खतापर।

आती लक्ष्मीको लात मारना ठीक नहीं लाभ छोडना अच्छा नहीं।

आधा तजे पडित, सरबस तजे गँवार . समय पडनेपर बुद्धिमान थोड़ा व्यय करके शेष बचा लेता है।

-आधे गाँव दीवाली, आधे गाँव फाग : जहाँ आपसमे मेल नहीं होता।

आप डूबे तो जग डूबा . जब अपनी ही हानि हो तो दूसरेकी हानिपर क्या विचार ।

आमके आम गुठलीके दाम : किसी वस्तु या काममे दुहरा लाभ ।

आम खाने है या पेड गिनने है ? : जब कोई वास्तविक बात न करके व्यर्थकी बातें करे ।

आए थे हरिभजनको ओटन लगे कपास · जिस कामके लिये जाय वह न करके दूसरे ही काममे फँस जाना ।

आशा मरे निराशा जिए : आशामे असन्तोष और निराशामे सन्तोष होता है ।

इतना नफा खाओ जितना आटेमे नून : बहुत लाभके फेरमे नहीं पडना चाहिए ।

इधरके रहे न उधरके जब दोनो ओरसे हानि हो ।

इधर गिरूँ तो कुँआ, उधर गिरूँ तो खाई : असमजसमे पडनेपर या आत्मीयोमे झगड़ा होनेपर ।

इनकी नाकपर क्रोध रक्खा ही रहता है : जिसको बात-बातपर क्रोध आ जाय ।

इन तिलो तेल नही निकलता : यहाँ कुछ मिलनेकी आशा नहीं ।

इस हाथ देना उस हाथ लेना : तत्काल फल मिलना ।

ईटका घर मिट्टी करना : बना-बनाया काम बिगाडना ।

ईटकी देवी, झाँवेका प्रसाद : जैसा मनुष्य वैसा व्यवहार ।

उकतानी कुम्हारी नहसे मिट्टी खोदे : बहुत दु खकी अवस्थामे धैर्य नहीं होता ।

उगले तो अधा निगले तो कोढ़ी : जब दोनो ओर कठिनाई हो ।

उठते लात बैठते घूँसा बिना दोषके दोष निकालकर मरम्मत करना ।

उठाऊका माल बटाऊमे जाय : बिना परिश्रमके मिला माल यो ही नष्ट हो जाता है ।

उडती चिडिया परखते है : देखते ही पहचान जाते है ।

उडतेके पर काटते है : बहुत धूर्त्तको ।

उतावला सो बावला, धीरा सो गम्भीरा : गभीरतापूर्वक काम करनेसे सफलता मिलती है ।

उधार खाना फूस तापना बराबर है : बहुत दिनतक न चलनेकी स्थितिपर ।

उधार खाए बैठे है : तैयार बैठे है ।

उलटा चोर कोतवालको डॉटै : जब कोई मनुष्य अपराध करके उलटे उसीको डॉटे जिसका काम बिगड़ा हो ।

उलटी अँतडी गलेमे आई : सुलझनेके बदले काम उलझ जाना ।

उलटी गगा पहाडको चली : असम्भव घटना होना ।

उसकी टॉग उसीके गले : अपनी ही करनीसे विपत्तिमे फँसना ।

ऊँची दूकान फीका पकवान : जहॉ केवल दिखावटी काम हो ।

ऊँटे ऊँट केदारा गावै : जब दो मूर्ख एक-सम्मत न होकर अपना ही राग अलापें ।

ऊँटकी चोरी और झुके-झुके : बडा पाप छिपता नहीं ।

ऊँटके गलेमे बिल्ली · किसी काममे ऐसा अडगा लगाना कि न हो सके ।

ऊँटके मुँहमे जीरा · बहुत खानेवालेको थोडी-सी वस्तु देना ।

ऊँटको दगते देख मेढकीने भी टॉग फैलाई : जब कोई छोटा आदमी बडे आदमीका अनुकरण करे ।

ऊँट-घोडे बहे जायँ, गदहा कहे कित्ता पानी · जब कोई काम सामर्थ्यवान् पुरुष न कर सके और असमर्थ उसे करनेके लिये साहस दिखावे ।

ऊँट चढेपर कूकुर काटे : दुर्भाग्य आनेपर असभव विपत्तियोमे फँसना ।

एक और एक ग्यारह होते है : सघमे बडी शक्ति है ।

एक तो करेला कडुआ, दूसरे नीम चढा : एक तो स्वभाव ही ही बुरा दूसरे कुसगतमे पडना ।

एक थैलीके चट्टे-बट्टे : जहॉ सब एक ही प्रकारके हो ।

एक पथ दो काज . एक काममे हाथ लगानेसे दूसरा भी सफल होना।

एक पापी सारी नावको ले डुबोता है : एक मनुष्य नीच काम करे तो घरभरको नीचा देखना पड़ता है।

एक मछली सारे जलको गंदा करती है : घर या संगतका एक मनुष्य भी बदनाम होता है तो सबकी बदनामी हो जाती है।

एक म्यानमे दो तलवारें नहीं रहती : एक उद्देश्यवाले दो व्यक्तियोका साथ नहीं हो सकता।

एक हाथसे ताली नहीं बजती : जब दो मनुष्य आपसमे झगड़ा करते हो और उनमेसे एक अपनेको निर्दोष बतावे।

ऐसे गए जैसे गदहेके सिरसे सींग : पूर्णतः लुप्त हो जाना।

ओछेकी प्रीत, बालूकी भीत नीचकी दोस्ती टिकाऊ नहीं होती।

ओठ (ओस)-चाटे प्यास नहीं बुझती . थोड़ी वस्तु मिलनेसे तृप्ति नहीं होती।

कनौडी बिल्ली चूहोसे कान कटावे : जब बलवान्को निर्बलसे दबना पडे।

कभी गाडी नावपर, कभी नाव गाडीपर : समय पड़नेपर एक दूसरेकी सहायता करनी ही पडती है।

कमली ही नहीं छोडती . जब कोई मनुष्य या काम ऐसा पीछे लग जाय कि छोडनेपर भी न छुटे।

कमरमे लँगोटी, नाम पीताम्बरदास गुण अथवा सामर्थ्यके विरुद्ध नाम।

करनबकी विद्या है : कोई गुण अभ्याससे ही आता है।

करमहीन खेती करे बैल मरे या सूखा परे कर्महीनके किए कोई काम सिद्ध नहीं होता।

करे दाढीवाला, पकडा जाय मूछोवाला : अपराध कोई करे, दड किसीको मिले।

कहै खेतकी सुनै खलिहानकी : बात कुछ कही जाय, सुने कुछ।

कहेसे कुम्हार गधेपर नहीं चढ़ता जब मनुष्य अपने मनसे काम भले ही करे पर कहनेसे न करे।

कहेसे कोई कुएँमे नहीं गिरता : कहनेसे कोई अपनेको सकटमे नहीं डालता।

कागजकी नाव नहीं चलती . बेईमानीका काम अधिक दिन नहीं टिकता।

काजल कजलौटी और फूलोका हार : जब कुरूप स्त्री या व्यक्ति श्रृंगार करे।

काठका घोडा नहीं चलता · निकम्मा आदमी काम नहीं कर सकता।

कान छिदाय सो गुड खाय . जो कष्ट उठाएगा उसीको सुख मिलेगा।

कामको काम सिखाता है : अभ्याससे ही काम आता है।

काम प्यारा है चाम नहीं : जब कोई नौकर इच्छानुसार काम नही करता।

काले कोसो बहुत दूर।

किसीका लडका, कोई मन्नत माने : अनधिकार चेष्टापर।

किसीका घर जले, कोई तापे दूसरेकी विपत्तिसे लाभ उठानेपर।

कुछ खोके ही सीखते है : बिना ठोकर खाए समझ नहीं आती।

कुत्ता घास खाय तो सभी पाल लें : व्यय न हो तो सभी विलास करें।

कुत्तेके भोकनेसे हाथी नहीं डरते · बडे लोग ओछोके तानेसे नहीं डरते।

कोई मरे कोई मलार गावे : दूसरेकी विपत्तिपर हँसना।

कोठेवाला रोवे, छप्परवाला सोवे : धनीकी अपेक्षा निर्धन अधिक निश्चिंत होता है।

कोयलेकी दलालीमे हाथ-मुँह काली : बुरी सगतसे बुराई ही मिलती है।

कौड़ीके तीन : बहुत सस्ता निरर्थक।

कौन-सी चक्कीका पिसा खाता है : बहुत मोटेके लिये।

क्या गोमतीका पानी पिया है ? : बहुत सुकुमार व्यक्तिको, विशेषतः लखनऊवालोको।

क्या मक्खीने छींक दिया ? : जब कोई काम करते-करते सहसा छोड दे।

क्या हाथ पैरोमे मेहदी लगी है ? : आलसी मनुष्यको।

खरबूजेको देखकर खरबूजा रग पकडता है : देखा-देखी व्यवहार या व्यसन बढ़ाना।

खरी मजूरी चोखा काम : नगद दाम देकर अच्छा काम होता है।

खलीलखाँ फाख्ता उड़ाते थे : अनहोनी बात सदा नहीं होती।

खाँडकी रोटी, जहाँ तोडो वहीं मीठी : बढ़िया वस्तुपर।

खाता भी जाय बर्राता (गुर्राता) भी जाय : खाना और बुराई करना।

खानेके दाँत और, दिखानेके और : कपटी मनुष्यपर।

खायँ चने, कहे खुट्टियाँ : लखनऊवालोपर व्यग्य।

खायँ घीसे नहीं जायँ जीसे . चटोरे मनुष्यको।

खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे : लज्जित होकर क्रोध दिखाना।

ख़ुदा लड़नेकी रात दे, बिछुड़नेका दिन न दे : साथ रहकर लड़ाई अच्छी, वियोग होनेपर सुख नहीं अच्छा।

खूँटेके बल बछड़ा कूदे : मालिकके बलपर नौकर अभिमान करते हैं।

खोटा बेटा और खोटा पैसा भी समयपर काम आ जाता है : किसी वस्तुको बेकार नहीं फेकना चाहिए।

खोदा पहाड़ निकली चुहिया . बहुत परिश्रम करके साधारण लाभ।

गगा गए गगादास, जमुना गए जमुनादास : जहाँ जाय वैसी बात कहना।

गँजेडी (सुल्फैया) यार किसके, दम लगाए खिसके : स्वार्थी मनुष्यपर।

गधा धोएसे बछडा नहीं होता : प्रकृति नहीं बदलती।

गधेके खिलाए न पाप न पुण्य कृतघ्नके साथ भलाई करना व्यर्थ है।

गधेसे हल चले तो बैल कौन ले : मूर्खोंसे काम हो तो विद्वानोको कौन पूछे।

गया मर्द जिन खाई खटाई, गई नारि जिन खाई मिठाई : खटाई खानेसे पुरुष और मिठाई खानेसे स्त्री बिगड़ जाती है।

गए रोजा छुडाने, नमाज गले पडी : सुखके लिये जानेपर दुःख मिले।

गले पडी ढोल बजाए सिद्ध : बिपदा आनेपर झेलनी ही पड़ती है।

गाँठमे पैसा नहीं, बाँकीपुरकी सैर : झूठे मनोरथ करना।

गुड़ खाय गुलगुलोसे छी-छी : बनावटी छुआछूत करना।

गुड़ न दे गुडकी-सी बात करे : लाभ न करे फिर भी मधुर तो बोले।

गुरु गुड ही रहे चेले चीनी हो गए : गुरुसे चेले बढ़ जानेपर।

गूँगेका गुड, न खट्टा न मीठा : जब किसी बातका भेद न जाना जा सके।

गोदमे लडका शहरमे ढिढोरा : पास रहते हुए भी उसके लिये पूछताछ करना।

ग्वालिन अपने दहीको खट्टा नहीं बताती : अपनी वस्तुको कोई बुरा नहीं कहता।

घडीमे घर जले नौ घडी भद्रा : समय पड़नेपर टालमटोल करना।

घमडीका सिर नीचा : अभिमानीका पतन होता है।

घर आए कुत्तेको भी नहीं निकालते . आए हुए शत्रुका भी स्वागत करना चाहिए।

घरकी बिल्ली घरमे ही शिकार : जब घरका आदमी ही घरवालोको धोखा दे।

घरकी मुरगी दाल बराबर : घरकी वस्तुका आदर नहीं होता।

घरका जोगी जोगना आन गाँवका सिद्ध : घरमे आदर नहीं होता।

घर-घर मटियाले चूल्हे : सब घरोकी एक सी दशा है।

घरफूँक तमाशा देखना : अपना धन नष्ट करके राग-रग मनाना।

घरमे चूहे डड पेलते हैं : उपवासकी स्थिति।

घरमे दिया जलाकर मसजिदमे जलाओ : अपना काम पहले देखकर तब बाहरका करना।

घायलकी गति घायल जाने : जिसपर बीतती है वही जानता है।

चट मँगनी पट ब्याह : हडबडीमे काम करना।

चमगीदडोके घर मेहमान आए, आओ मियाँ लटको : जैसी संगत करोगे वैसा भोगोगे।

चमडी जाय पर दमडी न जाय : कजूसपर।

चार दिनोकी चाँदनी, फेर अँधेरी रात : सदा एक-सा समय नहीं बीतता।

चिडियाकी जान गई खानेवालेको स्वाद न आया : बहुत कष्ट उठानेपर भी प्रशसा न होना।

जलमे रहकर मगरसे बैर : जहाँ नौकरी करे वहाँ झगडा न करे।

जहाँ चार बासन होगे वहाँ खडकेंगे ही : जहाँ चार आदमी होगे वहाँ झगड़ा होगा ही।

जहाँ जाय भूखा, वहाँ पडे सूखा : जब विपत्ति आती है तो सभी स्थानोपर आती है।

जहाँ मुर्गा नहीं होता वहाँ क्या सबेरा नहीं होता ? : किसीके बिना किसीका काम नहीं रुकता।

जाके हाथ डोई, वाका सब कोई : सब स्वार्थके सगे हैं।

जागेगा सो पावेगा, सोवेगा सो खोवेगा : कर्मठको ही सफलता मिलती है, आलसीको नहीं।

जान न पहचान, बड़ी बी सलाम : बिना पहचानके सम्बन्ध जोड़नेपर।

जान बची लाखो पाए : किसी बडे सकटसे बचनेपर।

जान-बूझकर कुएँमे ढकेलना (गिरना) : दूसरेको कष्टमे डालना, स्वयं झझटमे फँसना।

जानि न जाय निशाचर माया कपटी या धूर्त मनुष्यपर।

जाही बिधि राखै राम, वाही बिधि रहिए : दूसरेको धैर्य देनेके लिये।

जितना छानो उतना ही किरकिरा : जितना जाँचोगे उतने ही दोष निकलेंगे।

जितना गुड डालोगे उतना ही मीठा होगा : जितना अधिक व्यय करोगे उतना ही अच्छा फल मिलेगा।

जितने मुँह उतनी बातें : किंवदन्ती-पर।

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ परिश्रम करनेसे फल मिलता है।

जिसकी बँदरी वही नचावे : जिसका काम वही ठीक करता है।

जिसकी लाठी उसकी भैंस : बलवाला सब काम करा लेता है।

जिसके लिये चोरी करे वही कहै चोर जिसकी भलाई करै वही दोष निकाले।

जिसके सिर पडती है वही जानता है कष्ट पानेवाला ही उसकी कठिनाइयोंको समझता है।

जिस डालीपर बैठे उसीको काटे : कृतघ्न व्यक्तिपर।

जिसने लगाई वही बुझावेगा जिसने काम छेडा वही पूरा करेगा।

जिसने शालिग्राम भून डाले, उसे बैंगन भूनते क्या देर जो बड़ा पाप कर डाले उसे छोटा पाप करते क्या देर।

जिस बर्तन (हाँडी) में खाना उसीमें छेद करना कृतघ्न मनुष्यपर।

जिसे पिया चाहे वही सोहागिन, क्या साँवरी क्या गोरी : स्वामीकी कृपा जिसपर हो वही सुखी रहता है।

जीती मक्खी नहीं निगली जाती : जान-बूझकर आपत्ति नहीं मोल ली जाती।

चूहेके डरसे गुदड़ी नहीं फेंकी जाती : साधारण कष्टके भयसे काम नहीं छोड़ा जाता।

जैसी देखे गाँवकी रीत, वैसी करै लोगसे प्रीत : जहाँ रहै वहाँका-सा ही आचरण करना चाहिए।

जैसा देस वैसा भेस : जहाँ रहे वैसा ही आचरण करना चाहिए।

जैसी नीयत वैसी बरकत : मनुष्यकी वृत्ति अच्छी हो तो लाभ होता है।

जैसी गजी देवी वैसे ऊत पुजारी : जैसेको तैसेका सम्बन्ध मिलता है।

जैसेको तैसा : जो जैसा करे उसके साथ वैसा व्यवहार करे।

जैसे साँपनाथ वैसे नागनाथ : दोनो एकसे।

जो गरजते हैं सो बरसते नहीं : डींग हाँकनेवाले कुछ नहीं करते।

जोगी जोगी लडे खप्परोकी हानि : बडोकी लडाईमें छोटोकी हानि होती है।

जो दूसरेके लिये कुआँ खोदे उसके लिये खाई तैयार : जो दूसरोंका बुरा करे उसका बुरा होता है।

जो बोले सो घीको जाय : जो परामर्श दे वही कार्य पूरा करे।

जो सिर उठाकर चलेगा सो ठोकर खायगा : घमडीका सिर नीचा।

जोहरको जौहरी पहचानता है : गुणीको गुणी पहचानता है।

झगडेकी तीन जड, जन जमीन जर : स्त्री, भूमि और धनके लिये झगड़ा होता है।

झूठके पाँव नहीं होते : झूठकी पोल शीघ्र खुल जाती है।

झूठेका मुँह काला : झूठा सदा मुँहकी खाता है।

टकासा जवाब देना : स्पष्ट अस्वीकार करना।

टकेका सारा खेल है : सब पैसेके बलपर है।

टट्टीकी ओट शिकार : छिपकर बुरा काम करना।

टाटका लँगोटा नवाबसे यारी : छोटा होकर बडोसे मेल करनेका दम भरे।

टेढी खीर है : कठिन काम।

ठनठन मदनगोपाल : दरिद्र होना।

ठगाए बिना ठाकुर नहीं होता : बिना कष्ट पाए अनुभव नहीं होता।

ठठेरे ठठेरे बदलौवल : एक व्यवसायवाले दूसरेको चकमा नहीं दे सकते।

डाइन भी दस घर छोड़कर खाती है : दुष्ट भी अपने पड़ोसीका ध्यान् रखते हैं।

डूबतेको तिनकेका सहारा : विपत्तिमे पड़े हुएको थोडा सहारा भी बहुत होता है।

डेढ पाव आटा पुलपर रसोई : झूठा प्रदर्शन करनेपर।

डेढ चावलकी खिचडी पकाना : सबसे निराली चाल चलना।

ढपोरसख : बहुत झूठा।

ढाकके तीन पात : सदा एक सी दशा रहना।

ढोलमे पोल : बाहर बहुत टीमटाम पर भीतर कुछ नहीं।

तडकेका भूला साँझको आ जाय तो भूला नहीं कहाता : देरसे भी बुद्धिमानीका काम करना ठीक होता है।

तनको कपडा न पेटको रोटी : अत्यन्त दरिद्र।

तनपर नहीं लत्ता, पान खाय अलबत्ता : अपने सामर्थ्यसे बाहर काम करना।

तन सुखी तो मन सुखी शरीर सुखी होनेपर ही सब काम अच्छा लगता है।

तलेका साँस तले और ऊपरका ऊपर रह जाना : बुरा समाचार सुनकर सन्न रह जाना।

तवे परकी बूँद : शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तु।

तबेलेकी बला बन्दरके सिर एककी बुराई दूसरेके सिर मढ़ना।

तत्ते दूध बिलार नाचै : प्रलोभनकी वस्तु और अपनी रक्षा दोनो देखकर आगा-पीछा करना।

ताली दोनो हाथ बजती है : झगडा दोनो पक्षोंकी ओरसे किए ही होता है।

तिनकेकी ओट पहाड़ : थोड़े सहारेसे भी बड़ा काम हो जाता है।

तीन बुलाए तेरह आए दे दालमे पानी : आवश्यकतासे अधिक भीड बढ जानेपर सामग्रीकी अच्छाईपर ध्यान नहीं दिया जाता।

तीनमे न तेरहमे : किसी गिनतीमे भी न हो।

तीन लोकसे मथुरा न्यारी : निराला काम करना।

तीर नहीं तो तुक्का ही सही : कार्य हो जाय तो भी अच्छा, न हो तो भी अच्छा।

तुम्हारे मुँहमे घी-शक्कर • अच्छा समाचार सुनानेपर।

तुरत दान महा कल्यान : जो देना हो सो तत्काल दे देना चाहिए।

तुलसीके पत्तेमे कौन छोटा कोन बडा : सब समान है।

तू गधी कुम्हारकी तुझे रामसे क्या काम : बिना बातके टाँग अडानेवालेके लिये।

तू डाल-डाल मै पात-पात : तुम्हारी चाल हम सब समझते है।

तेते पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर : अपने सामर्थ्यमे ही काम करना चाहिए।

तेरा माल सो मेरा माल, मेरा माल सो हे हे : दूसरेके धनपर दृष्टि लगानेवालेपर।

तेल देखो तेलकी धार देखो . धैर्यके साथ विचारकर काम करना चाहिए।

थोथा चना बाजै घना : जो बक-बक बहुत करे पर करे कुछ नहीं।

दबी बिल्ली चूहोसे कान कटाए : सकटमे पड़ने-पर बडोका भी छोटोकी फबतियाँ सुननी पडती है।

दमड़ीकी हँडिया गई, कुत्तेकी जात पहचानी गई : थोडी वस्तुके लिये बेइमानी करनेपर।

दातासे सूम भला ठावे दे जवाब : बहुत दौड़ानेकी अपेक्षा सीधे 'नहीं' कर देना अच्छा।

दादा मरेंगे तब बैल बटेंगे : बहुत दिनकी अवधि देकर प्रतिज्ञा करना।

दाना न घास, खरहरा छह छह बार : आवश्यक कार्य न करके अनावश्यक कार्य अधिक करना ।

दिल्लीके लड्डू जो खाय वह भी पछताय, जो न खाय वह भी पछताय : किसी कामको करने न करने दोनोमे हानि ।

दिया तले अँधेरा : अधिकारीके यहाँ अधिक दोष होता है ।

दीवारके भी कान होते है कोई बात छिपी नहीं रहती ।

दीवालीका दिया चाटके आए, होलीकी जूतियाँ खाकर जायँगे . निकृष्ट मनुष्यपर ।

दुधारी गायकी दो लात भी भली जिससे सुख मिले उसकी दो बात भी सहनी पडती है ।

दुबिधामे दोऊ गए माया मिली न राम : दोनोसे एक भी काम न होना ।

दूधका जला छॉछ फूँक फूँकके पीता है : एक बार हानि हो जानेपर मनुष्य सावधान हो जाता है ।

दूरके ढोल सुहावने : दूरसे सब अच्छे लगते है ।

देसी कुतिया बिदेसी बोली : अपनी बोली छोडकर विदेशी बोली बोलना ।

दोनो हाथ लड्डू है : सब स्थितियोमे लाभ ही लाभ है ।

धन्ना सेठके नाती है : थोड़ी पूँजीमे अपनेको साहूकार समझना ।

धूपमे बाल सफेद नहीं किए है : अनुभवमे जीवन व्यतीत किया है ।

धोखेकी टट्टी : धूर्तता काम ।

धोबिन-पर बस न चले, गदहियाके कान उमेठे : बलवानको छोड़कर निर्बलको सतावे ।

धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका : जब कोई मनुष्य किसी कामका न हो ।

नकटीके सामने नाक पकड़ना : चिढाना ।

नदी-नाव सयोग : सहसा मिल जानेपर ।

न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी : असम्भव टेक लगाकर काम करनेकी बात कहना।

नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारे : जो नया धर्म या मत स्वीकार करता है उसमे अधिक उत्साह होता है।

नाईकी बरातमे जने जने ठाकुर : बहुतसे स्वामियोका होना।

नाक काटके दुशालेसे पोछना . हानि करके सहानुभूति दिखाना।

नाकपर मक्खी नहीं बैठने देते : जो किसीकी कृपा नहीं लेना चाहते।

नाकपर सुपारी तोडते है : चिडचिडा व्यक्ति।

नाको चने चबाना : अत्यन्त दुःख देना।

नाच न जाने ऑगन टेढा : अपना दोष छोड़कर दूसरोको दोष देना।

नाचने निकली तो घूँघट क्या : कोई छोटा काम प्रारभ करके फिर लजाना नही चाहिए।

नानीके आगे ननिहालकी बाते : अपनेसे अधिक जाननेवालेको ज्ञान सिखानेपर।

निन्यानबेके फेरमे पड़ गया : कजूसीके साथ धन इकट्ठा करने लगा।

नेकी और पूछ-पूछ : भलाई करनेमे पूछना क्या ?

नौ दिन चले अढाई कोस : आलस्यके साथ काम करनेवालेको।

नौ नगद न तेरह उधार : अधिक उधारसे कम नकद अच्छा।

नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हजको चली : जन्म-भर पाप करके साधु बननेका ढोग करना।

पचोका कहना सिर-माथे, पर पतनाला यहीं बहेगा : हठी मनुष्यपर।

पत्थरको जोक नहीं लगती : मूर्खको उपदेश नहीं लगता।

पराए धनपर लक्ष्मीनारायण : दूसरेके मालपर अपना उत्सव मनाना।

पॉचो उँगलियॉ घीमे, छठा कडाहीमे : आनन्दमग्न रहना।

पानी पीकर जात पूछना . काम कर चुकनेपर परिणाम सोचना।

पाव भर चून चौबारे (पुलपर) रसोई : थोडी पूँजीसे बडा व्यापार करनेकी सोचना।

पूतके पॉव पालनेमे ही पहचाने जाते है : लडकपनमे ही भविष्य ज्ञात हो जाता है।

पेटमे चूहे कलाबाजी खा रहे है : अधिक भूख लग रही है।

पैसा गठ विद्या अट : विद्या कठ कर रखनी चाहिए और पैसा सदा अपने पास रखना चाहिए।

हटा मन और फटा दूध फिर नहीं मिलता : जब मनमे गॉठ पड़ जाय तब दूर नही होती।

फिसल पडे कि हर गगा : भूलसे काम बिगाड़कर ऐसा दिखाना मानो जानबूझकर किया हो।

बन्दर क्या जाने अदरकका स्वाद : जो गुण न पहचानता हो उसे गुणकी वस्तु देना।

बडे मियॉ सो बडे मियाँ, छोटे मियॉ सुभानअल्ला : जहॉ छोटे-बडे सब एकसे निकम्मे स्वभाववाले हो।

बत्तीस दॉतोमे जीभ : सकटसे घिरा हुआ।

बद अच्छा बदनाम बुरा : बदनामीका काम नहीं करना चाहिए।

बदलीकी छॉह क्या : अस्थायी दशापर।

बॉझ कि जान प्रसवकी पीरा जिसपर पडती है वही जानता है।

बॉह गहेकी लाज : जिसका हाथ पकड़े उसे निबाहे।

बाप न मारी मेढकी बेटा तीरन्दाज : डींग मारनेवालेको।

बिन मॉगे मोती मिलै, मॉगे मिले न भीख : जो मिलना होता है अपने आप मिलता है।

बिना दबाए तिलमेसे भी तेल नहीं निकलता : बिना दबाए काम नहीं बनता।

बुड्ढी घोड़ी लाल लगाम : बेमेल बातपर।

बूढा तोता राम-नाम नहीं पढता बुढापेमे कुछ नहीं सीखा जा सकता।

बूँदका चूका घड़े ढुलकावे : समयपर लज्जास्पद काम करके पीछे अधिक हानि उठाकर लज्जा ढकनेका यत्न करनेपर।

बूँद-बूँद करके तालाब भरता है : थोडा-थोडा करके बडा काम हो जाता है।

ब्याह नहीं किया तो क्या बारात भी नहीं गए है : स्वय कोई काम न करके दूसरोको करते तो देखा है।

भइ गति सॉप छछूँदर केरी : जब कोई काम न करते बने, न छोडते बने।

भरी थालीमे लात मारना : बना बनाया काम छोड देना।

भीख मॉगे और ऑख दिखावे : नीच होकर अधिकार जताना।

भूखमे किवाड पापड़ : भूखमे स्वाद-बेस्वादका विचार नहीं होता।

भूखे भजन न होइ गोपाला : भूखमे ईश्वर-भजन भी नहीं होता।

भेडिया-धँसान : औरोको करते देखकर वैसा ही करना।

भैसके आगे बीन बजावे, भैस खडी पगुराय : मूर्खको उपदेश देना निष्फल होता है।

मँगनी बैलके (दानकी बछिया के) दॉत नहीं देखते हैं : निःशुल्क पाई हुई वस्तुमे गुण-दोष नहीं देखा जाता।

मक्खीचूस : कजूस।

मक्खी छोडना और हाथी निगलना : पाखडीको कहते हैं।

मक्षिका स्थाने मक्षिका : ज्योका त्यो प्रतिलिपि करना।

मछलीके बच्चोको तैरना कौन सिखावे : सब कुछ स्वभावसे आता है।

मट्टीका घडा भी ठोक-बजाकर लेते हैं : बिना सोचे-बिचारे काममे हाथ नहीं डालना चाहिए।

मनके लड्डुओसे भूख नहीं मिटती : केवल विचार मात्रसे काम नहीं बनता।

मन चगा तो कठौतीमे गगा : अपना हृदय शुद्ध है तो पूजा-पाठ कुछ नहीं।

मरता क्या न करता : जब अत्याचारकी अति हो जाती है तब दुर्बल भी विरोध कर बैठता है।

मरेको क्या मारना : निर्बलको नहीं सताना चाहिए।

मर्दकी बात और गाड़ीका पहिया आगेको ही चलता है : भले आदमी अपनी बात नहीं बदलते।

महाजनो येन गतः स पंथा : जो अधिक लोग करें वही करना।

मान न मान मै तेरा मेहमान : बलपूर्वक गले पडना।

मारके आगे भूत भागे : मारसे सब डरते है।

मारतेके अगाडी, भागतेके पिछाडी : डरपोकको कहते हैं।

मियाँकी जूती मियाँका सिर : जिसकी वस्तु हो उसीसे उसकी हानि की जाय।

मीठा-मीठा गप, कडवा कडवा थू : लाभकी बात ग्रहण करना, हानिकी छोड देना।

मीठी छुरी : कपटी।

मुँह धो आओ : अनुचित माँग करनेपर।

मुँहमे राम-राम बगलमे छुरी : कपटी मनुष्यपर।

मुल्लाकी दौड मस्जिदतक : जिसकी कार्य करनेको शक्ति परिमित हो।

मेंढकीको भी जुकाम हुआ : छोटा होकर इतराना।

मेरी ही बिल्ली मुझसे ही म्याऊँ : जिसका खाय उसीको डाँटे।

मेरे बापने घी खाया मेरा हाथ सूँघो : बड़ोकी कीर्त्तिपर घमंड।

म्याऊँका ठौर : कठिन काम।

रंगमे भग होना : आनन्दमे विघ्न पड़ना।

रस्सी जल गई ऐंठन नहीं गई : नष्ट होनेपर भी घमंड करना।

राजा रूठेगा अपनी नगरी लेगा : अपनी मनस्विताके लिये सब कष्ट सहनेके लिये तैयार रहना।

राम मिलाई जोडी एक अधा एक कोढ़ी : दो दुष्टोका सम्बन्ध ।

रावणका साला : अत्यन्त अत्याचारी ।

रुपएको रुपया कमाता है : पैसा लगानेसे ही पैसा आता है ।

लातोके देवता बातोसे नहीं मानते : नीच लोग बातोसे नहीं मानते ।

लाल गुदड़ीमें नहीं छिपता : सज्जन व्यक्ति बुरे वेषमे भी पहचान लिया जाता है ।

लेना एक न देना दो : किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं ।

लेना देना साढ़े बाइस : जो मोल-तोल करनेपर भी कुछ न मोल ले ।

लेनेके देने पड गए : उलटा परिणाम हुआ ।

वह गुड नहीं जिनपर चींटे लगें : यहाँ तुम्हे कुछ नहीं मिलेगा ।

शेरोका मुँह किसने धोया है : महापुरुष स्वभावसे ही बड़े लगते है ।

शैतानकी नानी : कर्कशा स्त्री ।

श्रीगणेश करो : काम प्रारम्भ करो ।

सैया भए कोतवाल अब डर काहेका : जब कोई अपना मित्र या सम्बन्धी अधिकारी हो जाता है ।

सत्तर चूहे खाकर बिल्ली हजको चली : जन्मभर पाप करके अन्तमे साधु बनना ।

सब एक ही थैलीके चट्टे-बट्टे है : सब एकसे ही हैं ।

सब गुड गोबर हो जाना : बना बनाया काम नष्ट हो जाना ।

सब धान बाइस पसेरी : जहाँ न्याय-अन्याय, अच्छे-बुरेपर कोई विचार न हो ।

सबसे भली चुप : बहुत बोलनेसे मौन रहना अच्छा है ।

सभाकी चूकी डोमनी और डालका चूका बन्दर बराबर है : अवसर चूकनेपर असफलता ही मिलती है ।

सरकारसे मिला तेल, ला पल्लेमे मेल : बडेसे मिली हुई वस्तुको आदरसे ग्रहण करना चाहिए ।

सरगसे गिरी खजूरमे अटकी : एकसे छुटकारा पाया तो दूसरा आ धमका।

सस्ता रोवे बार-बार, महँगा रोवे एक बार : सस्ती वस्तु लेनेके बदले महँगी वस्तु एक बार ले लेनी चाहिए।

सॉप भी अपने बिलमे सीधा ही जाता है : अपने लोगोसे कपट नहीं करना चाहिए।

सॉपका काटा पानी नहीं मॉगता : कपटी मनुष्यका परामर्श पाकर किसीको सुख नहीं मिलता।

सॉपका बच्चा सँपोलिया : जैसा व्यक्ति होता है उसकी सन्तान भी वैसी ही होती है।

सॉपका मन्तर न जाने, बिलमे हाथ दे . बिना बचावका उपाय जाने सकटका काम करनेपर ।

सॉपको दूध पिलाकर पालना : दुष्ट या धूर्तको अपने साथ रखना।

सॉप मरे, लाठी न टूटे ' बिना हानि उठाए काम साध लेना।

सारी रामायण सुनके पूछा सीता किसका बाप है : मूर्ख या असावधान व्यक्तिपर।

सालिग्रामकी बटिया क्या छोटी क्या बडी : आदरणीय पुरुष सभी बराबर होते है।

सावनके अधेको हरा ही हरा दिखाई देता है : अनुचित उपायसे बड़े होनेवाले लोग सबको वैसा ही समझते है।

सावन हरे न भादो सूखे : सदा एकसा रहनेवाला।

सिर तो नहीं फिरा है : पागलपनकी बातपर।

सिर मुँडाते ही ओले पडे : काम प्रारभ होते ही बाधा पडी।

सींग कटाकर बछडोमे मिलना : बडी अवस्थाका होकर लड़कोके साथ उठना-बैठना।

सीतला-बाहन : गधा।

सीधी उँगलियो घी नहीं निकलता : बिना कडाई किए काम नही बनता।

सुनिए सबकी, कीजिए मनकी : बात सबकी सुने पर काम अपने मनका करे।

सुईका भाला हो गया : छोटी सी बात बहुत बढ गई।

सूपके बजाएसे ऊँट नहीं भागते छोटे उपायसे बडोपर कुछ प्रभाव नहीं पडता।

सूप बोले तो बोले चलनी भी बोले जिसमे बहत्तर छेद : जब स्वय अवगुणोसे भरा हुआ व्यक्ति भी दूसरोमे दोष निकाले।

सेरको सवा सेर मिल गया : दुष्टको उससे बढ़कर दुष्ट मिलनेपर।

सोता नाग जगाना : किसी बलवानसे छेडछाड़ करना।

सोनेमे सुगन्ध : एक गुणमें और भी गुण।

सोनेकी कटारी पेटमे नहीं मारी जाती : प्राण सबसे अधिक प्यारा होता है।

सोनेकी चिडिया : धनी यजमान।

सोनेमें सुहागा : सुन्दर सयोग।

सोलह ड ड एकादशी : दिन भर भूखा रहना।

सौ घडे पानी पडना : अत्यन्त लज्जित होना।

सौ चोट सुनारकी, एक चोट लोहारकी : जब कोई बार-बार तग करे, उसे सहसा अधिक हानि पहुँचा देना।

सौत तो चूनकी भी बुरी कोई स्त्री सौतको नहीं सह सकती।

सौ बातकी एक बात : तत्त्वकी बात।

सौ सयाने एक मत : सब बुद्धिमानोकी एक सम्मति।

हँसते देर न रोते देर : स्त्रियोके लिये।

हर्रै लगे न फिटकिरी रग चोखा आवे : बिना कुछ काम किए फल निकलना।

हथेलीपर जान लिए फिरना : मरनेका डर न होना।

हथेलीपर सरसो नहीं जमती : बात कहते काम नहीं हो जाता।

हल्दी लगे न फिटकिरी रग चोखा आवै : बिना व्ययके काम होना।

हॉडीमे एक चावल टटोला जाता है : एक उदाहरणसे ही परिणाम निकाल लिया जाता है।

हाथ कगनको आरसी क्या ? : प्रत्यक्षको प्रमाण क्या ?

हाथको हाथ नहीं सूझता : घना अधकार।

हाथीके दॉत खानेके और, दिखानेके और : दिखावटी काम करना।

हाथी-घाडे बहते जायँ, गधा कहे कित्ता पानी : जिस कामको बडे न कर पावें उसे छोटा करने जाय।

होनहार बिरवानके होत चीकने पात : होनहारके लक्षण पहलेसे दिखाई दे जाते हैं।

सूक्ति

किसी विशेष परिस्थितिमे जब लोग उस परिस्थितिसे सबद्ध किसी कवि-वचनका निरन्तर प्रयोग करने लगते है तो वह भी लोकोक्तिके रूपमे ही चल निकलती है। उदाहरणके लिये, किसीपर जब कोई दैवी आपत्ति आती है और मनुष्य उसका परिहार करनेमे अशक्त प्रतीत होता हे तो लोग अपनेको या उसको सान्त्वना देते हुए अपनी विवशता व्यक्त करनेके लिये कह देते है—

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

ऊपर वर्णन की हुई घटनासे सबद्ध लोकोक्तिसे इस प्रकारकी सार्वभौम उक्तियोको अलग करनेके लिये इन्हे सूक्ति कहते हैं। नीतिके सब दोहे और पद आदि इसी सूक्तिके अन्तर्गत ही आते हैं। यह समझ लेना चाहिए कि सूक्तियॉ छन्दोबद्ध होती है और लोकोक्तियोके लिये ऐसा कोई नियम नहीं है।

हिन्दीकी कुछ सूक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम ॥ १ ॥
अतिका भला न बरसना, अतिकी भली न धुप्प।
अतिका भला न बोलना, अतिकी भली न चुप्प ॥ २ ॥
आँखें अजन दाँतें मजन, नित कर नित कर नित कर नित कर।
काने लकडी नाके उँगली, मत कर मत कर मत कर मत कर ॥३॥
आग, जवासा, आगरी, चौथा गाडीवान।
ज्यो ज्यो चमके बीजली, त्यो त्यो तजे परान ॥ ४ ॥

[आगरी = नमकका व्यापारी]

आधी तज सारीको धावै। आधी रहै न सारी पावै ॥ ५ ॥
आप लगावे आप बुझावै, आपहि करै बहाना।
आग लगा पानीको दौड़े, उसका कौन ठिकाना ॥ ६ ॥
आए थे हरिभजनको ओटन लगे कपास ॥ ७ ॥
आवत ही आदर नहीं, जात न लाग्यो हस्त।
ते दोनो भूखो मरैं, पडित और गृहस्थ ॥ ८ ॥

[आदर = आदर, आर्द्रा नक्षत्र। हस्त = हत्थ, हस्त नक्षत्र]

आवत ही हरसै नहीं, नयनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कचन बरसै मेह ॥ ९ ॥
उघरे अत न होहि निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥१०॥
उडदी उडदोकी भली, रसकी आछी खीर।
लाज जो राखे पीवकी, साई आछी बीर ॥११॥

[बीर = स्त्री]

उत्तम विद्या लीजिए, जदपि नीच पै होय।
पर्यो अपावन ठौरमे कचन तजत न कोय ॥१२॥
ले उधार व्यवहार चलावै, छप्पर डाले ताला।
सालेके सँग बहिनी भेजे, तीनोका मुँह काला ॥१३॥

उपजहि एक संग जल माहीं। जलज जोक जिमि गुन बिलगाहीं ॥१४॥
उमा दारु-योषितकी नाई। सबहि नचावत राम गोसाई ॥१५॥
एक पानि जो बरसै स्वाती।
कुरमिन पहनै सोनकी पाती ॥ १६ ॥
एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय ॥ १७ ॥
ओछे बडे न ह्वै सकै, लगि सतरौहैं बैन।
दीरघ होहि न नैकहूँ, फारि निहारे नैन ॥ १८ ॥
कनक कनकते सोगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय ॥ १९ ॥
करघा छोड तमाशे जाय। नाहक चोट जुलाहा खाय ॥ २० ॥
करनी करै तो क्यो डरै, करके क्यो पछताय।
रोपै पेड बबूलका, आम कहाँसे खाय ॥ २१ ॥
करमहीन सागर गए, जहाँ रतनका ढेर।
कर परसत घोघा भए, यही करमका फेर ॥ २२ ॥
करे बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेड बबूरका, आम कहाँसे होय ॥ २३ ॥
कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस कीन सो तस फल चाखा ॥ २४ ॥
कलजुगमे दो भगत हैं, बैरागी औ ऊँट।
वे तुलसी-बन काटहीं, इन किय पीपर ठूँठ ॥ २५ ॥
कहा न अबला करि सकै, कहा न सिन्धु समाय।
कहा न पावक महँ जरै, काहि काल नहि खाय ॥ २६ ॥
कहु रहीम कैसे निभै, बैर-केरको सग।
वे झूमत रस आपने, उनके फाटत अग ॥ २७ ॥
कहूँ कहूँ गुन कारने, उपजत दुःख सरीर।
मधुरी बानी बोलके, मरत पींजरे कीर ॥ २८ ॥

काबुलमे मेवा करी, ब्रजमे करी बबूल।
कहूँ कहूँ गोपालकी, गई चौकडी भूल ॥ २६ ॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पलमे परलै होयगी, बहुरि करोगे कब्ब ॥ ३० ॥
कागा काको धन हरै, कोयल काको देइ।
मीठे बचन सुनाइके, जग अपनो करि लेइ ॥ ३१ ॥
काजरकी कोठरीमे कैसोहू सयानो जाय।
एक रेख काजरकी, लागिहै पै लागिहै ॥ ३२ ॥
काटे पै कदली फरै, कोटि जतन कर सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटे पै नव नीच ॥ ३३ ॥
फेर न ह्वैहै कपट सो, जो कीजै ब्यौहार।
जैसे हाँडी काठकी, चढै न दूजी बार ॥ ३४ ॥
काना, याना, लाडला, तीनो हठकी खान।
अन्धा गूगा काँजरा, ये पूरे शैतान ॥ ३५ ॥
[याना = छोटा लड़का, काँजरा = कजी आँखवाला ।]
काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जान ॥ ३६ ॥
काबुल गए मुगल बनि आए, बोलन लागे बानी।
आब-आब करि प्रान निकरिगे, सिरहे रक्खा पानी ॥ ३७ ॥
कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फरै, केतक सींचहु नीर ॥ ३८ ॥
का बरखा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने ॥ ३९ ॥
दीबो अवसरको भलो, जासो सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो, धनको कौने काम ॥ ४० ॥
कूएँमेकी मेढकी, करै सिधुकी बात ॥ ४१ ॥
नसकट खटिया बतकट जोय। जौ पहिलौठी बिटिया होय।
पातर कृषी, बौरहा भाय। कहै घाघ दुख कहाँ समाय ॥ ४२ ॥
कोउ न काहु दुख-सुखकर दाता। निज-कृत कर्म-भोग सब भ्राता ॥ ४३ ॥

कोउ नृप होहि हमैका हानी। चेरि छॉडि नहि हाउब रानी ॥ ४४ ॥

को कहि सकैं बडेन सो, देखि बडीयौ भूल।
दीने दई गुलाबकी, इन डारनि वे फूल ॥ ४५ ॥

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच।
नल-बल जल ऊँचो चढै, अंत नीचको नीच ॥ ४६ ॥

कोटिन दाख खवाइ मरौ, पर ऊँटहि काठ कठेरोइ भावै ॥ ४७ ॥

कोटिन रग दिखावत है, जब अगमे आवत भंग भवानी ॥ ४८ ॥

कोता गरदन, दूम दराज, कञ्जी आँख कबूतर-बाज।
सौमे एक, सहसमे काना, सवा लाखमे ऐचाताना ॥
ऐंचाताना करे पुकार, कजेसे रहियो हुशियार।
जाकी छाती एक न बार, सो मानो मबका सरदार ॥ ४९ ॥

कौडी कौडी जोड़िके, निधन होत धनवान।
अच्छर-अच्छरके पढे, मूरख होत सुजान ॥ ५० ॥

खरको गग न्हवाइए, तऊ न छॉडत छार ॥ ५१ ॥

खर्च बडा और पैदा थोडी। किस-पर बाँधू घोडा-घोडी ॥ ५२ ॥

खर्च बडा और कम व्यापार। घरके लोग सभी सुकुमार ॥
टटिया घरमे लूका बरै। सो घर कुसल बिधाता करै ॥ ५३ ॥

खाके झटपट चलिए कोस। मरिए आप, दैवको दोस ॥ ५४ ॥

खेती करै न बनजे जाय, विद्याके बल बैठा खाय ॥ ५५ ॥

खेती, पाती, बीनती, औ घोडेका तग।
अपने हाथ सँवारिए, लाख क्यो न हो सग ॥ ५६ ॥

[पाती = चिठ्ठी। बीनती = प्रार्थना]

खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीत, मधुपान।
रहिमन दाबे ना दबै, जानत सकल जहान ॥ ५७ ॥

गजभर लुगडी, नौ गज पूँछ ॥ ५८ ॥

गया मर्द जिन खाई खटाई। गई नारि जिन खाई मिठाई ॥ ५९ ॥

गए ऊनके लेनको, आए बाल मुँडाय ॥ ६० ॥

गरीब तेरे तीन नाम। झूठा, पाजी, बेईमान ॥ ६१ ॥
ठंडा खावै, ठंढा न्हावै, और ओसमे सोवै।
उसके आगे बैठ बैठकर, बैद हसन्ता होवै ॥ ६२ ॥
गरम नहावै गरमै खावै, ओस बचाके सोवै।
उसके घरके पिछवाडे जा, बैद बैठके रोवै ॥ ६३ ॥

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहिं सोई ॥ ६४ ॥

गुनी-गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अरक तें, अरक समान उदोत ॥ ६५ ॥
गुरु तो ऐसा चाहिए, ज्यों सिकलीगर होय।
जनम-जनमका मोरचा, छिनमे डारै धोय ॥ ६६ ॥
गुरू, बैद औ ज्योतिषी, देव, मन्त्रि अरु राज।
इनहि भेट-बिन जो मिलै, होय न पूरन काज ॥ ६७ ॥
गुरू शुक्रकी बादली, रहै सनीचर छाय।
घाघ कहै सुन घाघनी, बिन बरसे नहि जाय ॥ ६८ ॥
गुरु सो कपट, मित्र सो चोरी।
या हो निर्धन, या हो कोढी ॥ ६९ ॥

घरका जोगी जोगना, आन गाँवँका सिद्ध ॥ ७० ॥
घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जाँचत जाइ।
दिएँ लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बडो लखाइ ॥ ७१ ॥

घरमे नहीं दाने, बुढिया चली भुनाने ॥ ७२ ॥
चन्दन पर्‍यौ चमारके, नित उठि कूटै चाम।
रो रो चन्दन महि फिरै, पर्‍यौ नीचसे काम ॥ ७३ ॥
चटक न छाँडत घटत हू, सज्जन-नेह गँभीर।
फीको परै न बरु घटै, रँग्यौ चोल रँग चीर ॥ ७४ ॥

चढते बरसे आर्द्रा, उतरत बरसै हस्त।
कितना राजा दंड लें, रहैं अनन्द गिरस्त ॥ ७५ ॥

चलती चक्की देखके दिया कबीरा रोय।
दो पाटनके बीचमें, साबुत रहा न कोय ॥७६॥
चलनो भलो तो कोसको, दुहिता भली तो एक।
माँगन भलो तो बाप सो, जो माँगे पर देत ॥७७॥
चलबो भलो न कोसको, दुहिता भली न एक।
माँगन भलो न बाप सो, जो विधि राखै टेक ॥७८॥
चल्यो जाइ ह्याँ को करै, हाथिनको ब्यौपार।
नहिं जानत इहि पुर बसै, धोबी ओड़ कुम्हार ॥७९॥

[ओड़ = बेलदार, मिट्टी ढोनेवाले]

चातुर तो बैरी भला, मूरख भला न मीत।
साधु कहत है मत करो, कोउ मूरख सो प्रीत ॥८०॥
चार दिनाकी चाँदनी फेर अँधेरी रात ॥८१॥
चुक्की डाढी गाल पचक्की, नहिं छातीपर बाल।
जिसकी लम्बी टँगडी होवै, सो चारो हत्यार ॥८२॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचै नाचै वृथा, साँचै राचै राम ॥८३॥

जब आया देहीका अन्त।
जैसा गदहा वैसा सन्त ॥८४॥

जब तुम जनमे जगतमे, जगत हँसा तुम रोए।
ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसमुख जग रोए ॥८५॥
साईं या ससारमे, मतलबको ब्यौहार।
जब लगि पैसा गाँठमे तबलगि ताको यार ॥८६॥
जलमें बसै कुमोदिनी, चन्दा बसै अकास।
जो जन जाके मन बसै, सो जन ताके पास ॥८७॥
जहँ जहँ चरन परै सन्तनके, तहँ तहँ बटाढार ॥८८॥
जहाँ जाय भूखा, तहाँ पड़े सूखा ॥८९॥

जहाँ न जाको गुन लहै, तहाँ न ताको ठाँवँ।
धोबी बाँसके क्या करें, दिगम्बरोके गाँवँ ॥९०॥

जहाँ न पहुँचे रवि, तहा पहुँचे कवि ॥९१॥

जहाँ पुहुप तहँ बास है, जहाँ बास तहँ भौर ॥९२॥

जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥९३॥

जाकी यहाँ चाहना है, वाकी वहाँ चाह ना है।
जाकी यहाँ चाह ना है, वाकी वहाँ चाहना है ॥ ९४ ॥

जाकी रही भावना जैसी।
हरि मूरति देखी तिन तैसी ॥ ९५ ॥

जाके कारन पहरी सारी।
सोई टँगिया रही उघारी ॥ ९६ ॥

जाके घरमे नौ सै गाय।
सो क्यो छाछ पराई खाय ॥ ९७ ॥

जाके पाँवँ न फटी बिवाई।
सो क्या जाने पीर पराई ॥ ९८ ॥

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि सुहाय।
चोर न प्यारी चाँदनी, जैसी काली रात ॥ ९९ ॥

जाकर जापर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू ॥१००॥

जाको डडा ताकी गाय ॥१०१॥

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं।
ताकी मति पहले हरि लेहीं ॥१०२॥

जाको राखै साइयाँ, मारि न सक्कै कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥१०३॥

जात-पाँत पूछै नहि कोई, हरिको भजै सो हरिका होई ॥१०४॥

हारिए न हिम्मत बिसारिए न हरिनाम।
जाही बिधि राखैं राम, वाही बिधि रहिए ॥१०५॥
तेते पाँवँ पसारिए, जेती लाँबी सौर ॥१०६॥
जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
हौ बौरी ढूँढन गई, रही किनारे बैठ ॥१०७॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाबमें, अपत कँटीली डार ॥१०८॥
इही आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाबके मूल।
ह्वै है फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनि वे फूल ॥१०९॥
जे गरीब पर हित करैं, ते रहीम बड लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृस्न मिताई जोग ॥११०॥
जे न मित्र दुख-होहि दुखारी।
तिनहि बिलोकत पातक भारी ॥१११॥
जैसा मुँह वैसा तमाचा ॥११२॥
जैसा देस वैसा भेस ॥११३॥
जैसा दाम वैसा काम ॥११४॥
जैसा राजा वैसी प्रजा ॥११५॥
जैसा साजन पाय, तैसी सेज बिछाय ॥११६॥
जैसी करनी, वैसी भरनी ॥११७॥
जैसी देखै गाँवकी रीति, वैसी उठावे अपनी भीत ॥११८॥
जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै ॥११९॥
जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे बिदेस ॥१२०॥
जैसेको तैसा मिले, सुनियो राजा भील।
लोहा चूहा खा गया, लडका ले गई चील ॥१२१॥
जैसेको तैसा मिले मिले नीचको नीच।
पानीसे पानी मिले, मिलै कीचसे कीच ॥१२२॥

ये दुनिया सराय-फानी देखी, हर चीज यहाँ आनी-जानी देखी।
जो आकर न जाए वह बुढ़ापा देखा, जो जाकर न आए वह
जवानी देखी ॥१२३॥

जो कबिरा कासी मरै, रामहि कौन निहोरा ॥१२४॥

जो कोइ खाय चनेका टूँट।
पानी पीवै सौ सौ घूँट ॥१२५॥

जोड जोड मर जायँगे।
माल जँवाई खायँगे ॥१२६॥

जो जल षाढ लगत ही बरसे।
नाज न्यार बिनु कोइ न तरसै ॥१२७॥

(न्यार = चारा)

जो धन जाता देखिए, आधा दीजै बाँट ॥१२८॥

तो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोको फूलके फूल है, वाको है तिरसूल ॥१२९॥

जो धावै सो पावै, जो सावै सो खोवै ॥१३०॥

जो बैरी हो बहुतसे, और तू होवे एक।
मीठा बनकर निकल जा, यही जतन है नेक ॥१३१॥

जो भादोमे बरखा होय।
काल पड़े और सब जग रोय ॥१३२॥

जो मै ऐसा जानती, प्रीति किए दुख होय।
नगर ढिढोरा पीटती, प्रीति न कीजो कोय ॥१३३॥

जोबन था, जब रूप था, गाहक थे सब कोय।
जोबन-रतन गँवायके, बात न पूछे कोय ॥१३४॥

जो सावनमे बरखा होय।
तो अकालका भय नहि होय ॥१३५॥

हितकी कहिए न तिहि, जो नर होय अबोध।
ज्यो नकटेको आरसी, होत दिखाए क्रोध ॥१३६॥

जो झुके उससे झुक जाय, जो रुके उससे रुक जाय ॥१३७॥

टाटकी अँगिया मूँजकी तनी।
देख मेरे देवरा मै कैसी बनी ॥१३८॥

टेढ़ जानि सका सब काहू।
बक्र चन्द्र जिमि ग्रसै न राहू ॥१३९॥

ठहर ठहरके चालिए, जब हो दूर पडाव।
डूब जात अधियावमे, बेग-चलन्ती नाव ॥१४०॥

बूडा बस कबीरका, उपजा पूत कमाल ॥१४१॥

तनका बैरी ताप है, मनका बैरी नेह।
जिस तनमे ये दो रमे, गए जीव औ देह ॥१४२॥

तन उजला मन सॉवला, बगलेका-सा भेक।
तोसो तो कागा भला, बाहर-भीतर एक ॥१४३॥

तपै नछत्र मृगसिरा जोय।
तउ बरसा पूरन कर होय ॥१४४॥

छुरीका तीरका तलवारका तो घाव भरा।
लगा जो जख्म जबॉका रहा हमेशा हरा ॥१४५॥

तॉत सी देह पॉव ना हाथ।
लडने चली सुरोके साथ ॥१४६॥

ताक-पर बैठा उल्लू।
मॉगे भर-भर चिल्लू ॥१४७॥

ताता, तीता, आमला, तीनो घात निवास ॥१४८॥

ताल सूख पटपर भयो, हसा कहीं न जाय।
मरे पुरानी प्रीतको, चुन-चुन ककर खाय ॥१४९॥

सिह-गमन, सुपुरुष-वचन, कदलि फरै इक सार।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार ॥१५०॥

तिरिया थिरकत जो चलै, वाको भली न जान।
जैसे हाथ लिखेरका, कॉपत ही अति हानि ॥१५१॥

तिरिया बिन नर ऐसा।
राह-बटाऊ जैसा ॥१५२॥
तिल तीखुर दाना, घी शक्करमे साना।
खाय बूढ़ा हाय जवाना ॥१५३॥
तीतर बाएँ बोल जा, तो कारज हो ठीक।
दहिने बोलत ना भला, साँच जान यह सीख ॥१५४॥
तीरथ गए सो तीन जन, मन चचल चित चोर।
एक पाप ना काटिया, सौ मन लादा और ॥१५५॥
तुम्हे गैरोसे कब फुरसत, हम अपने गमसे कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना, न तुम खाली
न हम खाली ॥१५६॥
तुरत दान महा कल्यान ॥१५७॥
तुलसी अपने रामको, रीझ भजो कै खीज।
खेत पड़े सब ऊपजै, उलटे सीधे बीज ॥१५८॥
नीच निचाई नहि तजै, जो पावै सत्सग।
तुलसी चंदन बिटप बसि, विष नहि तजत भुजग ॥१५९॥
तुलसी जगमे आयके, सीख ऊखसे लेव।
जो तुमको अनरथ करै, वाको तुम रस देव ॥१६०॥
तुलसी तहाँ न जाइए जहाँ जनकको ठाँव।
गुन-अवगुन जानै नहीं, धरै पाछिलो नावँ ॥१६१॥
तुलसी दया न छाँड़िए, जब-लगि घटमे प्रान।
कबहुँ कि दीनदयालके, भनक पडेगी कान ॥१६२॥
तुलसी परघर जायके दुःख न कहिए रोय।
भरम गँवावै आपनो, बाँटि न लैहै कोय ॥१६३॥
तुलसी मीठे बचनतें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन यह मत्र है, परिहरु बचन कठोर ॥१६४॥
दस नकटोमे नाकवाला नक्कू ॥१६५॥

दहिने सुर भोजन करै, बाएँ पीवै नीर।
बाईं करवट सोइए, तब सुख होय सरीर ॥१६६॥

दातासे सूम भला, ठावें देय जबाब ॥१६७॥

दाता देवे और शरमाय।
बादल बरसै और गरमाय ॥१६८॥

दाता दान दे और भंडारी पेट पीटे ॥१६९॥

दिन दस आदर पायके, कर ले आपु बखान।
जौ लगि काग सराध-पख, तौ लगि तो सनमान ॥१७०॥

कादर मनकर एक अधारा।
दैव-दैव आलसी पुकारा ॥१७१॥

दैबो अवसरको भलो, जाते सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो, घनको कौने काम ॥१७२॥

धनवन्तीको काँटा लगा, दौड़े लोग हजार।
निर्धन गिरा पहाडसे, कोई न आया कार ॥१७३॥

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपतकाल परखिए चारी ॥१७४॥

धूमउ तजइ सहज करुवाई।
अगरु प्रसग सुगध बसाई ॥१७५॥

धूम कुसगति कारिख होई।
लिखिय पुरान मजु मसि सोई ॥१७६॥

नदी किनारे रूखडा, जब-तब होत बिनास।
भवसागर मधि नित्य तन, रहे न तजि बिस्वास ॥१७७॥

न ए बिससिए अति नए, दुर्जन दुसह सुभाव।
आँटे परि प्रानन हरत, काँटे लौ लगि पाँव ॥१७८॥

नहि असि कोउ जनमेउ जग माहीं।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥१७९॥

नसकट खटिया, दुलकन घोड़ ।
कहैं घाघ यह बिपति कऽ ओर ॥१८०॥

बाछा बैल पतुरिया जोय ।
ना घर रहै न खेती होय ॥१८१॥

नहि असत्य सम पातक पुजा ॥१८२॥
नहि कलि कर्म न भक्ति बिबेकू ।
राम नाम अवलम्बन एकू ॥१८३॥

नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ।
सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं ॥१८४॥

नहि विष-बेलि अमिय फल फरहीं ॥१८५॥

नाचै कूदै तोरै तान ।
वाका दुनिया राखै मान ॥१८६॥

नारि मुए कुल सम्पति नासी ।
मूड मुडाय भए सन्यासी ॥१८७॥

नैना देत बताय सब, हियको हेत अहेत ।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥१८८॥

नौका, दूती, बैद प्रवीन ।
काम सरे पुछियत नहि तीन ॥१८९॥

पडित और मसालची, दोनो उलटी रीति ।
औरन देवैं चाँदनी, आप अँधेरे बीच ॥१९०॥

पानी बाढ़ै नावमे, घरमें बाढ़ै दाम ।
दोनो हाथ उलीचिए, यही सयानो काम ॥१९१॥

पानी पीजै छानके । गुरू कीजै जानके ॥१९२॥

प्रीतम तू मत जानियो, भयो दूरको बास ।
देह गेह कितहू रहै, प्रान तिहारे पास ॥१९३॥

पीपल पूजन मै चली निगमबोधके घाट ।
पीपल पूजत पी मिले, एक पन्थ दो काज ॥१९४॥
चलो सखी तहँ जाइए, जहाँ बसैं ब्रजराज ।
गोरस बेचत हरि मिलें, एक पन्थ दो काज ॥१९५॥
पैसे विन माता कहै, जनमा पूत कपूत ।
भाई भी पैसे बिना, लाख लगावै जूत ॥१९६॥
पोथी तो थोथी भई, पंडित भया न कोय ।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़े सो पंडित होय ॥१९७॥
प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिलते न मिलाय ।
दूध दही तें जमत है, काँजी ते फट जाय ॥१९८॥
फीकी पै नीकी लगे, कहिए समय विचारि ।
सबको मन हर्षित करै, ज्यों विवाहमें गारि ॥१९९॥
फूलै फलै न बेत, जदपि सुधा बरषहि जलद ।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम ॥२००॥
फूले फूले फिरत है, आज हमारो ब्याह ।
तुलसी गाय बजायके, देत काठमें पाँव ॥२०१॥
फूले फूले मत फिरो, ऐ प्रभातके फूल ।
अबहीं तोडे जायँगे, फूले फूले फूल ॥२०२॥
बचन परम हित, सुनत कठोरे । कहहि सुनहि ते नरवर थोरे ॥२०३॥
बन, बालक और भैस, उखारी । जेठ मास यह चार दुखारी ॥२०४॥
[उखारी = ईखका खेत]
बसै बुराई जासु तन, ताहीको सम्मान ।
भलो भला कहि छाँडिए, खोटे ग्रह जप दान ॥२०५॥
बहता पानी निर्मला, बँधा गँदीला होय ।
साधू जन रमता भला, दाग न लागै कोय ॥२०६॥
बाँह छुडाए जात हौ, निबल जानिकै मोहि ।
हिरदैतें जब जाउगे, मर्द बदौगो तोहि ॥२०७॥
बाढ़े पूत पिताके धर्मा, खेती उपजै अपने कर्मा ॥२०८॥

बातें कहिए जग-भाती । भोजन करिए मनभाती ॥२०९॥
बिन गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु ।
गावहि बेद-पुरान, सुख कि लहिय हरिभक्ति बिनु ॥२१०॥
बिन माँगे मोती मिलै, माँगे मिलै न भीख ॥२११॥
बिनु सतसग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥२१२॥
बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछताय ।
काम बिगारै आपनो, जगमे होत हँसाय ॥२१३॥
बुरा जो ढूँढन मै चला, बुरा न दीखा कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ॥२१४॥
भले बुरे सब एकसे, जब लौं बोलत नाहि ।
जान परत है काक-पिक, ऋतु बसनके माहि ॥२१५॥
मक्खी मधुपै बैठिगी, पंख गए लपटाय ।
हाथ मलै और सिर धुनै, लालच बुरी बलाय ॥२१६॥
मरे सूम सरदार मरै वह कट्टर टट्टू ।
मरै हठीली नारि, मरै वह खसम निखट्टू ॥
बाह्मन वह मरिजाय, हाथ ले मदिरा प्यावै ।
पुत्र वहै मरिजाय, गोतमें दाग लगावै ॥
बेनियाव राजा मरै, नींद धडाधड़ सोइए ।
बैताल कहै विक्रम सुनो, एते मरे न रोइए ॥२१७॥
मर्द सीस पर नवै, मर्द बोली पहचानै ।
मर्द खिलावै खाय, मर्द चिता नहिं मानै ॥
मर्द देइ अरु लेइ, मर्दको मर्द बचावै ।
गाढे-सँकरे काम, मर्दके मर्दहि आवै ॥
पुनि मर्द उन्हींको जानिए, साथी सुख-दुख-दर्दके ।
बैताल कहै विक्रम सुनो, ये लच्छन हैं मर्दके ॥२१८॥
माँगन गए सो मरि गए, मरे जे माँगन जाहि ।
ते नर पहले तें मुए, जिन मुख निकसत नाहि ॥२१९॥

माली चाहे बरसना, धोबी चाहे धूप ।
साहू चाहै बोलना, चोर चाहता चूप ॥२२०॥
मिट्टी कहै कुम्हारसे, तू क्या रूधै मोहि ।
एक दिन ऐसा आयगा- मै रूँधूँगी तोहि ॥२२१॥
मिले एक समरत्थके, सबै सुन्न दस गुन्न ।
मिटे एक समरत्थके, सबै सुन्नके सुन्न ॥२२२॥
मूसे और बिलारमें, कबहुँ प्रीति नहि होइ ॥२२३॥
यह कूकुर दर-दर फिरै, दर-दर दुर-दुर होय ।
एकहि घरको ह्वै रहै, दुर-दुर करै न कोय ॥२२४॥
यह ससार कालका खाजा । जैसा गदहा तैसा राजा ॥२२५॥
रहिमन रहिलाकी भली, जो परसै मन लाय ।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय ॥२२६॥

[रहिला = चना]

रागी बागी पारखी, नारी और नियाव ।
इन पाँचोके गुरु सही, उपजत अग सुभाव ॥२२७॥

[रागी = गवैया, बागी = घुड़सवार, पारखी = रत्नपरीक्षक, नारी = नाड़ी-ज्ञान, नियाव = न्याय-रीति]

राजा किसके पाहुने, जोगी किसके मीत ॥२२८॥
रामनामको आलसी, भोजनको तैयार ।
तुलसी ऐसे नरनको, बार-बार धिक्कार ॥२२९॥
रामनाम-मनि दीप धरु, जीह-देहरी-द्वार ।
तुलसी भीतर-बाहिरौ, जो चाहसि उजियार ॥२३०॥
राम मिलाई जोडी । एक अंधा एक कोढी ॥२३१॥
रामनाम जपना, पराया माल अपना ॥२३२॥
लालाका घोड़ा, खाय बहुत चलै थोडा ॥२३३॥
लिखें ईसा पढें मूसा ॥२३४॥

लोभ पापका मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कबहुँ नहि कीजिए, यामे नरक निदान ॥२३५॥
लोभी गुरु लालची चेला, दाउ नरकमे ठेलम ठेला ॥२३६॥
सब जीते जीके झगड़े हैं, यह तेरा है यह मेरा है।
जब कूच हुई इस दुनियासे, ना तेरा है ना मेरा है ॥२३७॥
जद्यपि जग दारुण दुख नाना।
सबते अधिक जाति अपमाना ॥२३८॥
सबतें लघु है माँगिबो, यामे करें न सार।
बलिपै जाचत ही भए, बावन-तन करतार ॥२३९॥
पचो मिलिकै कीजै काज।
हारे जीते होय न लाज ॥२४०॥
सबसे बडी भूख, जो पावै सो चूख ॥२४१॥
सबसे रल मिल चालिए, जब लग पार बसाय।
मिष्ट बचन मुख बोलिए, नेकी ही रह जाय ॥२४२॥
सुरकी चूकी डोमिनी, गावै ताल बेताल ॥२४३॥
सबै भूमि गोपालकी, यामें अटक कहा।
जाके मनमे अटक है, सोई अटक रहा ॥२४४॥
सबहि सहायक सबलके, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आगको, दीपहि देत बुझाय ॥२४५॥
समरथको नहि दोष गोसाईं ॥२४६॥
सहस बाहु सुरनाथ त्रिसकू।
केहि न राजमद दीन कलकू ॥२४७॥
साईं अपने चित्तकी, भूल न कहिए कोय।
तब लगि मनमे राखिए, जब लगि कारज होय ॥२४८॥
साईं या ससारमे, भाँति भाँतिके लोग।
सबसे मिलिके बैठिए, नदी-नाव-सयोग ॥२४९॥

साईंका घर दूर है, जैसे दूर खजूर।
चढे तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर ॥२५०॥
साजन हम तुम एक है, देखत हीके दोय।
मनसे मनको तौलिये, दो मन कभी न होय ॥२५१॥
सात हाथ हाथीसे रहिए, पाच हाथ सिगवारेसे।
बीस हाथ नारीसे रहिए, तीस हाथ मतवारेसे ॥२५२॥
सावन खीर जो खाय सकारे, मिरिरा भाँति कुरचालैं मारे ॥२५३॥
सावन घोडी भादो गाय, माघ मासमे भैंस बियाय।
कहे घाघ यह सुनो विचार, जीसे जाय या खसमे खाय ॥२५४॥
सावन मास बहै पुरवैया।
खेलैं पूत बलाले मैया ॥२५५॥
सावन शुक्ला सप्तमी, छिपके ऊगैं भानु।
कहै घाघ सुन घाघनी, बरखा देय उठान ॥२५६॥
सावन साग न भादो दही, क्वार करैला कातिक मही।
अगहन जीरा, पूसे धना, माघे मिसिरी फागुन चना ॥
चैते गुड बैसाखे तेल, जेठे राई असाढे बैल।
इन बारहसे बचे जो भाई, ताके घरमे बैद न जाई ॥२५७॥
सावन सोवे साँथरे, माह खुरैरी खाट।
आपहिसे मरि जायगे, जेठ चलें जो बाट ॥२५८॥
सास भी रानी, बहू भी रानी।
कौन भरे कुएका पानी ॥२५९॥
सीखा वाको दीजिये जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजे बाँदरा कि घर बएका जाय ॥२६०॥
सूना खेत कुलच्छना, हिरना ही चुग जाय।
खेत बिराना बोयके, बीज अकारथ जाय ॥२६१॥
सूर समर करनी करैं, कहि न जनावहिं आप।
विद्यमान रण पाय रिपु कायर करहिं प्रलाप ॥२६२॥

सेवक सठ नृप कृपण कुनारी, कपटी मित्र शत्रु सम चारी ॥२६३॥

सेवक सोई जानिए, रहै विपतिमे सग।
तन छाया ज्यो धूपमे, रहै साथ इक रग ॥२६४॥

सोना लेने पी गए, सूना करिगे देस।
सोना मिला न पी मिले, रूपा हो गए केस ॥२६५॥

हँसता ठाकुर खँसता चोर। इन दोनोका आया छोर ॥२६६॥

हंसा थे सो उड गए कागा भए दिवान ॥२६७॥

हथिया बरसे तीन होत हैं, शक्कर, शाली, मास।
हथिया बरसै तीन जात हैं, कोदो, तिली, कपास ॥२६८॥

[मास = उड़द, हथिया = हस्त नक्षत्र, शाली = धान]

हानि लाभ जीवन मरन, जस-अपजस बिधि हाथ ॥२६९॥

होत सुसगति सहज सुख, दु ख कुसगके थान।
गधी और लुहारकी, देखो बैठ दुकान ॥२७०॥

नवतिय अँग-अँग बढत छबि, सुन्दरता सरसात।
होनहार बिरवानके, होत चीकने पात ॥२७१॥

होनहार हिरदै बसै बिसर जाय सब सुद्ध।
जैसी हो होतव्यता, तैसी उपजै बुद्ध ॥२७२॥

होय भलेके अनभले, होय दानिके सूम।
होय कपूत सपूतके ज्यो पावकमे धूम ॥२७३॥

७

सन्धि

दो अक्षरोके मेलको सन्धि कहते हैं। सन्धि होनेपर ये दो अक्षर मिलकर एक नया रूप ग्रहण कर लेते है। सन्धिका नियम मुख्यतः सस्कृत व्याकरणका विषय है। यतः नागरीमे सस्कृतके शब्द पर्याप्त सख्यामे व्यवहारमे आते है और उनमे सन्धि होती है अतः

नागरीके व्याकरणमे उन नियमोका उल्लेख आवश्यक हो गया है जिनके कारण अक्षरोके रूपमे परिवर्तन होकर सन्धि होती है।

सस्कृतका प्रभाव प्राकृतपर पडा और प्राकृतका नागरीपर अत नागरीके अक्षरोमे परिवर्तनकी यह स्थिति दोनो भाषाओके नियमोके अनुसार होती है।

सन्धिके नियम संस्कृतके सब शब्दोमे एक रूपसे लागू नहीं होते। सर्वत्र सन्धि होती भी नहीं। नीचे दिए श्लोकसे ज्ञात हो जायगा कि कहाँ सन्धि अनिवार्य है और कहाँ ऐच्छिक—

सन्धिरेकपदेनित्यो नित्यो धातूपसर्गयो।
समासेऽपि च नित्यः स्यात् सचान्यत्र विभाषितः॥

—एक पदमे, धातु और उपसर्गमे और समासमे सन्धि होनी ही चाहिए, अन्य स्थानोमे करे या न करे।

ऊपर कहा गया है कि सन्धिके नियम सर्वत्र एक रूपसे नहीं लागू होते। सन्धिके तीन भेद है—(१) स्वर सन्धि, (२) व्यञ्जन सन्धि, (३) विसर्ग सन्धि।

स्वर सन्धि—स्वरसन्धि वहाँ होती है जहाँ दो स्वर मिलते है—राम+इन्द्र=रामेन्द्र। इसमे 'राम' के 'म' मे 'अ' लगा है इसलिये यह स्वर है, 'इन्द्र' मे 'इ' स्वर है अतः दोनो स्वरोका मेल होकर 'म' और 'इ' का 'मे' हो गया।

व्यञ्जन सन्धि—व्यञ्जन सन्धि वहाँ होती है जहाँ कोई व्यञ्जन किसी व्यञ्जन या स्वरसे मिलता है—दिग्+गज=दिग्गज। इसमे 'दिग्' का 'ग्' व्यञ्जन वर्ण है और गजका 'ग' भी व्यञ्जन वर्ण है तथा दोनो मिलकर 'ग्ग' हो गए। इसी प्रकार वाक्+ईश=वागीश। इसमे 'वाक्' का 'क्' व्यञ्जन वर्ण है तथा 'ईश' का 'ई' स्वर वर्ण तथा दोनो मिलकर 'गी' हो गए। ('क्' का सन्धि होनेपर 'ग्' हो जाता है।)

विसर्ग सन्धि—विसर्ग सन्धि वहाँ होती है जहाँ विसर्ग किसी स्वर या व्यञ्जनसे मिलता है—पुरः+सर=पुरस्सर। इसमे 'पुर.'

के 'रः' मे विसर्ग है और 'सर' का 'स' व्यञ्जन वर्ण है। इनमे सन्धि होने पर 'विसर्ग, और 'स' मिलकर 'स्स' हो गए। पुनः + अपि = पुनरपि। इसमे 'पुन.' के 'नः' मे विसर्ग है और 'अपि' का 'अ' वर्ण स्वर है। दोनो मिलकर 'र' हो गए।

अक्षरोके इस मेलके कई नियम है, जो प्रत्येक सन्धिमे भिन्न-भिन्न हैं। नीचे वे सब नियम दिए जा रहे हैं।

स्वर सन्धि

१. अ या आ के बाद अ या आ रहे तो दोनो मिलकर आ हो जाते है—राम + अनुज = रामानुज, राम + आज्ञा = रामाज्ञा, रमा + अनुचर = रमानुचर, रमा + आश्रय = रमाश्रय।

२. इ या ई के बाद इ या ई रहे तो ई, उ या ऊ के बाद उ या ऊ रहे ऊ, ऋ या ॠ के वाद ऋ रहे तो ॠ हो जाता है—कवि + इन्द्र= कवीन्द्र, गौरी + ईश = गौरीश, मही + इन्द्र = महीन्द्र, श्री + ईश = श्रीश, भानु + उदय = भानूदय, बधू + उत्सव = बधूत्सव, पितृ + ऋण = पितॄण।

३ अ या आ के बाद इ या ई रहे तो दोनो मिलकर ए, उ या ऊ रहे तो ओ और ऋ रहे तो अर् हो जाते हैं—राम + इन्द्र = रामेन्द्र, सुर + इश = सुरेश, महा + इन्द्र = महेन्द्र, रमा + ईश = रमेश, राम + उदार = रामोदार, महा + ऊर्मि = महोर्मि, जल + उर्मि = जलोर्मि, महा + उपदेशक = महोपदेशक, ग्रीष्म + ऋतु = ग्रीष्मर्तु, महा + ऋषि = महर्षि।

४ अ या आ के बाद ए या ऐ रहे तो दानो मिलकर ऐ तथा ओ या औ रहे तो औ हो जाते है—स्वर्ग + ऐश्वर्य = स्वर्गैश्वर्य, काष्ठ + ओषधि काष्ठौषधि, महा + औदार्य = महौदार्य।

५ इ या ई के बाद इ, ई को छोडकर अन्य स्वर हो तो य हो जाता है—बुद्धि + अनुसार = बुध्यनुसार, प्रति + एक = प्रत्येक।

६. उ या ऊ के बाद उ या ऊ को छोडकर अन्य स्वर हो तो व हो जाता है—लघु + अंचल = लघ्वचल, सु + आगत = स्वागत।

७ ऋ या ॠ के बाद कोई अन्य स्वर हो तो र हो जाता है—पितृ + अनुमति = पित्रनुमति ।

ए, ऐ, ओ, औ के पश्चात् कोई स्वर हो तो क्रमशः अय आय, अव और आव हो जाता है—ने + अन = नयन, नै + अक = नायक, पो + अन = पवन, पौ + अक = पावक ।

व्यञ्जन सन्धि

१ क्, च्, ट्, प् के पश्चात् किसी वर्गका तीसरा या चौथा अक्षर हो या कोई अन्तःस्थ वर्ण हो या ह हो या स्वर हो तो क्, च्, ट्, प् अपने ही वर्गके तीसरे वर्णमे परिवर्तित हो जाते हैं—दिक् + जाल = दिग्जाल, दिक् + भ्रम = दिग्भ्रम, वाक् + रोध = वाग्रोध, दिक् + हस्ती = दिग्हस्ती, दिक + ईश = दिगीश ।

२. इन्हीं चार वर्णोंके परे यदि किसी वर्ग का पचम वर्ण (अनुस्वार) आए तो ये अक्षर अपने ही वर्गके अनुस्वारमे बदल जाते हैं—दिक् + मण्डल = दिङ्मण्डल ।

३. त् के पश्चात् कोई स्वर हो या ग्, घ्, द्, ध्, ब्, भ्, य्, र् व् हो तो त् का द् हो जाता है—किञ्चित् + अपि = किञ्चिदपि, जगत् + गति = जगद्गति, बृहत् + घट = बृहद्घट आदि ।

४. किसी ह्रस्व स्वरके परे यदि छ हो तो सन्धि होनेपर छ के पहले च् जुट जाता है—परि + छेद = परिच्छेद ।

५. त् या द् के परे चवर्ग या टवर्गका पहला या दूसरा अक्षर हो तो त् और द् का च् या ट् हो जाता है—महत् + छत्र = महच्छत्र, सत् + ठकार = सट्ठकार आदि ।

६—त् या द् के बाद ज् या झ् हो तो ज, ड तथा ढ हो तो ड हो जाता है—यावत् + जीवन = यावज्जीवन, महत् + झझा = महज्झझा, उत् = डीन = उड्डीन, उत् + डयन = उड्डयन ।

७—त् के बाद च् या छ् हो त् का च हो जाता है—

उत् + चारण = उच्चारण ।

८—त् के परे न या म हो तो त् का न् हो जाता है—जगत् + नाथ = जगन्नाथ, आयत् + मित्र = आयन्मित्र ।

९—त् के परे ल् हो तो त् का ल् हो जाता है—तत् + लीन = तल्लीन ।

१०—त् के परे श् हो तो दोनो मिलकर च्छ हो जाते है—महत् + शब्द = महच्छब्द ।

११—त् के परे ह् हो तो दोनो मिलकर 'द्ध्' हो जाते है—तत् + हित = तद्धित ।

१२—यदि अनुस्वारके पश्चात् स्वर आए तो अनुस्वार का म् हो जाता है—सं + आचार = समाचार, सं + ऋद्धि = समृद्धि ।

विसर्ग सन्धि

१—विसर्गके पश्चात् यदि च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ, हो तो क्, छ्, के पूर्व श्, ट्, ठ् के पूव ष् और त, थ् के पूर्व स् लगता है—हरिः + चन्द्रः = हरिश्चन्द्र., धावितः + छाग = धावितश्छागः, भीतिः + टलतिः = भीतष्टलतिः, उन्नतिः + तरु = उन्नतिस्तरुः आदि ।

२—विसगके पूर्व और परे अ होतो विसर्गका ओ हो जाता है, परेका अ लुप्त हो जाता है और उसके स्थानपर लुप्ताकार (ऽ) लगा दिया जाता है—मनः + अनुकूल = मनोनुकूल ।

३—विसर्गके पूर्व अ हो और परे किसी वर्गका तीसरा, चौथा, पॉचवॉ वर्ण हो या य, र, ल, व, ह, हो तो विसर्गका ओ हो जाता है—शोभनः + गन्धः = शोभनोगन्धः, मधुरः + झङ्कारः = मधुरोझङ्कारः आदि ।

४—विसर्गके पूर्व अ हो और बादमे अ को छोडकर अन्य स्वर हो तो विसर्गका लोप हो जाता है और सन्धि नहीं होती—चन्द्रः + उदेति = चन्द्र उदेति ।

५—विसर्गके पूर्व अ हो और बादमें किसी वर्गका तीसरा, चौथा या पाँचवाँ अक्षर हो या य, र, ल, व हो तो विसर्गका र, हो जाता है—पुनः + अपि = पुनरपि ।

६—विसर्गके पूर्व अ या आ को छोड़कर कोई स्वर हो और बादमें र् हो तो विसर्गका लोप होकर पूर्वका स्वर दीर्घ हो जाता है—निः + रोग = नीरोग ।

७—र् के बाद र हो तो र् का लोप हो जाता है और उसके पूर्वका आकार दीर्घ हो जाता है—पितर् + रक्ष = पितारक्ष ।

८—निः, आविः, बहिः, प्रादुः, चतुः, हविः, सर्पिः आयु, धनुः के विसर्गके बाद क, ख, प, फ, हो तो विसर्गका 'ष्' हो जाता है—निः + काम निष्काम, चतु + फल = चतुष्फल ।

९—नमः, पुरः, तिरः के बाद 'कृ' हो तो विसर्गका स् हो जाता है—पुरः + कृत = पुरस्कृत ।

१०—भ्रातुः के बाद पुत्रः हो तो भ्रातुष्पुत्रः हो जाता है ।

८

विराम

वाक्योंका अर्थ स्पष्ट करने और उनका परस्पर सम्बन्ध बोधगम्य बनानेके लिए कतिपय चिह्नोंका प्रयोग किया जाता है जिन्हें विराम कहते हैं । नागरीमें सब विराम चिह्न अँगरेजीसे आए हैं, केवल खड़ी पाई नागरीका अपना चिह्न है । मुख्य रूपसे व्यवहृत चिह्न इस प्रकार है—

अल्प विराम—कामा (,), अर्द्ध विराम—सेमीकोलन (;), पूर्ण विराम—फुलस्टाप (. इसकी जगह खड़ी पाई लगाते हैं), प्रश्नका चिह्न (?), उलटे विराम (" "), आश्चर्य अथवा सम्बोधनका चिह्न (!), हाइफन (-), डैश (—) । इनके अतिरिक्त शून्यका

प्रयोग वहाँ करते है जहाँ किसी शब्दके बदले केवल अक्षर लिखते है, जैसे—डा० (डाक्टर), बा० (बाबू), प० (पडित) ।

वाक्य पूर्ण हो जानेपर खडी पाई, अल्प ठहरावपर अल्प विराम, किसीका कथन उद्धृत करनेपर उलटे विराम, प्रश्न किए जानेपर प्रश्नका चिह्न, सम्बोधन अथवा आश्चर्यकी स्थितिमे '!' चिह्न लगाते हैं।

नीचेके वाक्यमे सभी विराम चिह्नोका एक साथ प्रयोग किया गया है—

राम ! तुमसे, कृष्णसे और मोहनसे मैं कई बार कह चुका हूँ—"तुम लोग अपनी-अपनी पोथियाँ साथ लाया करो, इसके बिना ठीक ढगसे पढाई नहीं हो सकती, परन्तु तुम लोग मेरी बातें सुनते ही नहीं। क्या इस प्रकार तुम लोग कुछ सीख सकोगे ?"

६

नागरीमें व्यापक अशुद्धियाँ

नागरी भाषा लिखनेमे अशुद्धि करनेवाले प्रायः वे लोग हैं जिन्हे सस्कृतका ज्ञान नहीं है या जो अन्य भाषाओके ज्ञानका आधार लेकर नागरीमे लिखने लगते है। ऐसे सभी लोगोकी अशुद्धियाँ निम्नाकित प्रकारकी होती है—

१ ह्रस्व-दीर्घकी अशुद्धि, जैसे—

किसी को **कीसी**, **परीक्षा** को **परिक्षा**, **कुशल** को **कूशल**, **पूज्य** को **पुज्य**, **बेर** को **बैर**, **जैमिनी** को **जेमिनी**, **गोरखनाथ** को **गौरखनाथ**, **गौतम** को **गोतम** लिखना।

२. सन्धिकी अशुद्धि, जैसे—

अन्तःकथा को **अन्तर्कथा**, **अन्तस्साक्ष्य** या अन्तःसाक्ष्य को **अन्तर्साक्ष्य**, **अत्यधिक** **अत्याधिक** लिखना।

३. शब्दरूपकी अशुद्धि, जैसे—
बाएँको **बायें**, **दाएँ**को **दाये**, **हँसना**को **हंसना**, **गाँव**को **गॉव** या **गावँ**, **कैलास**को **कैलाश** लिखना।

४. वाक्य-विन्यासकी अशुद्धि, जैसे—

१ उसने कहा—"मै जाऊँगा" को 'उसने कहा कि वह जायगा' लिखना। इसे लिखना चाहिए—उसने कहा कि मै जाऊँगा।

२: राम, जो कि दशरथके पुत्र थे, ने सुग्रीवसे कहा' वाक्य अशुद्ध है इसका शुद्ध इस प्रकार होगा—दशरथके पुत्र रामने सुग्रीवसे कहा।

५. विभक्तिकी अशुद्धि, जैसे—
रामने को **राम ने**, **रामको** को **राम को**, **उसने** को **उस ने**, **उन्होंने** को **उन्हों ने** आदि लिखना।
(विभक्तियाँ सदा सज्ञाके साथ सटी रहनी चाहिए)

६. लिगकी, जैसे—

दही, **हाथी**, **कलम**, **तारा**, **पवन**, **समीर**, **आत्मा**, **जी**, **मोती**, **सामर्थ्य**को स्त्रीलिग समझना अशुद्ध है। ये पुलिग है। इसी प्रकार **पुस्तक**, **परिषद्**को पुलिग समझना अशुद्ध है जो वास्तवमे स्त्रीलिग है।

७ समस्त पदके लिगकी, जैसे—
आपकी आज्ञानुसार अशुद्ध है, यह होना चाहिए आपके आज्ञानुसार।

८. शुद्धको अशुद्ध समझना, जैसे—
कलस, **वसिष्ठ**, **भ्रुकुटि** आदि जिनके दो या दोसे अधिक रूप शुद्ध होते है।

९. अशुद्धको शुद्ध समझना, जैसे—
कैलाश और **सन्यासी**; जो वास्तवमे है **कैलास** और **सन्यासी** हैं।

१०. अशुद्ध सन्धिको शुद्ध मानना, जैसे—
दीपावलीको **दीप+अवली**का सन्धि-रूप मानना जो वास्तवमे **दीप+आवलि**से बनता है।

११. अनुनासिकके बदले अनुस्वारका प्रयोग करना, जैसे—**आँख**को **आंख**, **ऊँचा**को **ऊंचा**, **गेँद**को **गेंद**, **है**को **हैं** लिखना।

१२ समस्त पदके शब्द अलग-अलग लिखना, जैसे—**पर्वतमाला** को **पर्वत माला**, **शरीर-विज्ञान** को **शरीर विज्ञान** लिखना।

१३. श्री और जी को नामके साथ न जोड़कर अलग लिखना, जैसे—

श्रीगणेशदत्त को **श्री गणेश दत्त**,
गणेशदत्तजी को **गणेश दत्त जी**,
श्रीगणेशदत्त को **श्रीगणेशदत्तजी** लिखना।

अल्लके साथ लिखते समय **श्रीगणेशदत्त आचार्य**को इतने प्रकारसे लिखा जा सकता है—**आचार्यजी** (सम्बोधनमे), **गणेशदत्तजी आचार्य**, **श्रीआचार्यजी** (सम्बोधनमे) **श्रीगणेशदत्त आचार्य**, किन्तु **श्रीगणेशदत्त जी आचार्य** या **श्रीगणेशदत्त आचार्यजी** लिखना अशुद्ध है।

१४. फारसी-अरबीके ढगपर बहुवचन बनाना, जैसे—**कागजों**को **कागजात**, **साहबों** को **साहिबान**, **साहबान** या **असहाब**, **सबबसे** को **बसबब** लिखना।

१५. सस्कृतके तत्सम शब्दोमे आनेवाले ड, ढ के नीचे बिन्दी लगाना, जैसे—गरुडको गरुड़, गूढको गूढ़ लिखना।

१६. स्त्रीलिगके बहुवचनमे तथा अन्य शब्दोके अन्तमे एँ लगता है, यें या वें नहीं, जैसे—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
सभायें	सभाएँ	बायें	बाएँ
भाषायें	भाषाएँ	दायें	बाएँ
गौवें,गौयें	गौएँ	पुस्तिकायें	पुस्तिकाएँ

१७. क्रियाओंमे जहाँ जहाँ 'ये' का प्रयोग होता है वहाँ 'ए' का प्रयोग होना चाहिए, जैसे—

जाइए, लिए हुए, गए, आए, सोए, पीए, पीजिए, होइए, चाहिए आदि।

'**लिये**' मे '**ये**' का प्रयोग वहाँ करना चाहिए जहाँ उसका अर्थ हो—'**वास्ते**', जैसे—रामके **लिये** यह पोथी **लिए** जा रहा हूँ।

१८. **जायगा, जायेगा, जावेगा, जावैगा** मे से केवल पहले रूपका ही प्रयोग करना चाहिए और उसका सिद्धान्त है 'मात्रा लाघव।'

[यद्यपि मुद्रणमें समाचारपत्रोंकी सुविधाके लिये यह छूट दे दी गई है कि जहाँ इ, ई, ए, ऐ, ओ औ की मात्राएँ लगी हो वहाँ अनुनासिका चिह्न चन्द्रबिन्दु (ँ) न लगाकर अनुस्वार (ं) लगाया जाय किन्तु हाथसे लिखे हुएमे यह छूट नहीं देनी चाहिए और यथास्थान अनुनासिकका प्रयोग करना चाहिए।]

आजकल प्रमादवश अथवा अज्ञानवश समाचार पत्रोंमे तथा पुस्तकोंमे ऐसे शब्दोका धड़ल्लेसे प्रयोग हो रहा है जो व्याकरणसे कभी सिद्ध नहीं होते। देशज और तद्भव शब्दोके सम्बन्धमे तो नहीं किन्तु तत्सम शब्दोके सम्बन्धमे अत्यन्त ही अव्यवस्था चल रही है। यहाँ हम कतिपय ऐसे बहुप्रचलित शब्दोकी सूची दे रहे हैं जो अशुद्ध रूपमे लिखे जाते है। उनके सामने उनके शुद्ध रूप भी दे दिए गए हैं—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
अँगुली	उँगली	अन्तर्साद्य	अन्तः साद्य अन्तस्साद्य
अंग्रेज अगरेज	अँगरेज	अन्तःस्तल अन्तर्तल	अन्तस्तल
अत्याधिक	अत्यधिक	अन्ताक्षरी	अन्त्याक्षरी
अद्मुत अद्भुत् अजभुत	अद्भुत	अपन्हुति अष्टम् अहिल्या	अपह्नुति अष्टम अहल्या
अध्यात्मिक	आध्यात्मिक	आध्यात्म	अध्यात्म
अनुगृह	अनुग्रह	आभ्यान्तर	अभ्यन्तर
अनुग्रहीत	अनुगृहीत	आयी	आई
अनुयाई	अनुयायी	आशिर्वाद	आशीर्वाद
अनुयाइओ अनुयाइयो	अनुयायियो	इक्षा	इच्छा
अनुसूया	अनसूया	ईर्षा	ईर्ष्या
अन्तर्पट	अन्तःपट अन्तरपट	उत्तरदाई उत्तरदाइत्व	उत्तरदायी उत्तरदायित्व
अन्तर्ध्यान	अन्तर्धान	उद्देश (लक्ष्य)	उद्देश्य
अन्तर्प्रेरणा	अन्तःप्रेरणा	उपरोक्त	उपर्युक्त
अन्तस्थ	अन्तःस्थ	औषधि	ओषधि(वनस्पति) औषध (दवा)
अन्तर्कालीन	अन्तःकालीन		
अन्तर्कथा	अन्त कथा		
अन्तर्राष्ट्रीय	अन्तर-राष्ट्रिय अन्तरराष्ट्रीय अन्ताराष्ट्रीय	कवी कनिष्ट	कवि कनिष्ठ

अशुद्ध	शुद्ध
कामरू या, कावरू-कामाछा, कामछा, कमच्छा	कामरूप, कामाख्या
कामायिनी	कामायनी
कुम्भार	कुम्हार
केकई	कैकेयी
कैलाश	कैलास
कौशिल्या	कौशल्या, कौसल्या
छात्र (विद्यार्थी)	छात्र
छात्रवृति	छात्रवृत्ति
गयी	गई
गरिष्ट	गरिष्ठ
गरुण, गरुड	गरुड
गान्धी	गाँधी
गुरू	गुरु
गूढ़	गूढ
गौड (अप्रमुख)	गौण
ग्यान	ज्ञान
घनिष्ट	घनिष्ठ
घूसा	घूँसा
चिन्ह	चिह्न
चिरंजीवि	चिरंजीवी
चिरजीवि	चिरजीवी
छ, छः, छे	छह
छठाँ, छठवाँ	छठा

अशुद्ध	शुद्ध
छन्दभंग	छन्दोभंग
छन्दबद्ध	छन्दोबद्ध
छन्द शास्त्र	छन्दः शास्त्र
जगत	जगत्
जागृत	जाग्रत (विशेषण), जागरित (क्रिया)
जागृति	जागर्ति, जाग्रति, जागरण
जिभ्या, जिव्हा	जिह्वा
जेष्ठ, जेष्ट, ज्येष्ट	ज्येष्ठ
जोज्ञता, योग्यता	योग्यता
ज्योतिष शास्त्र	ज्यौतिष शास्त्र
ज्योत्सना	ज्योत्स्ना
ज्यौतिषी	ज्योतिषी
तत्व	तत्त्व
तुछ	तुच्छ
तुलशी	तुलसी
दुख	दुःख
दुःखी	दुखी, दुःखित
दुरावस्था	दुरवस्था
दृष्टा	द्रष्टा
द्वेश	द्वेष

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
नर्क	नरक	प्रथक्	पृथक्
नमश्कार	नमस्कार	प्रल्हाद, प्रहलाद	प्रह्लाद
नवम्	नवम		
निर्पेक्ष	निरपेक्ष	प्रशाद	प्रसाद
निरीन्द्रिय	निरिन्द्रिय	बन्दना	वन्दना
निरिक्षण	निरीक्षण	बन्दी	वन्दी
निश्पक्ष	निष्पक्ष	बशी, बन्शी	वशी
पाॅव	पाँव	बहिन	वहन
पचम्	पचम	बाणप्रस्थ, वाणप्रस्थ	वानप्रस्थ
परिणित	परिणत		
परिषद	परिषत्, परिषद्, पर्षत्, पर्षद्	बिधि	विधि
		विधिवत	विधिवत्
पहिचान	पहचान	बृज	ब्रज, व्रज
पहिनावा, पहिरावा	पहनावा		
पहिला	पहला	ब्यग, व्यग	व्यग्य
पाषड	पाखड	ब्रत	व्रत
पारिषद्	पारिषद, पार्षद	ब्रम्ह	ब्रह्म
		ब्रम्हांड	ब्रह्माड, ब्रह्माण्ड
पुरष्कार	पुरस्कार		
पुल्लिग	पुलिंग	भगवान	भगवान्
पुज्यनीय	पूजनीय	भिज्ञ	अभिज्ञ
पुज्यनीय	पूज्य	भृष्ट	भ्रष्ट
पूँछना	पूछना	मॅहगा	महँगा
पृष्ठ (पीठ)	पृष्ठ	महत्व	महत्त्व
पृष्ठपेशण	पिष्टपेषण	महात्म	माहात्म्य
पोशण	पोषण	महानता	महत्ता

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
माधुर्यता	माधुर्य मधुरता	श्रीमान	श्रीमान्
मालवी	मालवीय	श्रीयुत्	श्रीयुत
मिश्र (देश)	मिस्र, मिसर	श्रेष्ट	श्रेष्ठ
मिस्री (मीठा)	मिश्री, मिसरी	षटकोण	षट्कोण
मूढ	मूढ	षटदर्शन षट्दर्शन	षड्दर्शन
मृत्युलोक	मर्त्यलोक	षडज (स्वर)	षड्ज
याज्ञवल्क	याज्ञवल्क्य	षडयन्त्र	षड्यन्त्र
रखा है	रक्खा है	षष्ठम् षष्ठम	षष्ठ
राजनैतिक	राजनीतिक	षोडश	षोडश
रितु	ऋतु	सतोगुण	सत्त्वगुण
रिद्धि	ऋद्धि	सत्व	सत्त्व
रिषि	ऋषि	सन्यासी	सन्यासी
रूढ़, रूढि	रूढ , रूढि	सप्तम्	सप्तम
लक्ष (उद्देश्य)	लक्ष्य	समुन्द्र	समुद्र
लक्षमण	लक्ष्मण	सहस्त्र	सहस्र
वाङ्गमय	वाङ्मय, वाङ्मय	सहस्राब्दि	सहस्राब्दी
विराट	विराट्	साक्ष (गवाही)	साक्ष्य
वैशाष	वैशाख	साम्प्रदायक	साम्प्रदायिक
शताब्दि	शताब्दी	सिंचन	सेचन
शाशन	शासन	सिख	सिक्ख
शिषर	शिखर	सीमित	परिमित
शीक्षा	शिक्षा	सुभास	सुभाष
शुनहशेप	शुनःशेप	सुश्रूषा	शुश्रूषा
शेषर	शेखर	सृजन	सर्जन
शैया	शय्या		

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
सृष्टा	स्रष्टा	स्वच्च	स्वच्छ
सौहार्द्र	सौहार्द, सौहार्द्य	स्वस्थ्य	स्वस्थ
सौजन्यता	सौजन्य, सुजनता	स्वास्थ	स्वास्थ्य
सौन्दर्यता	सौन्दर्य, सुन्दरता	स्वेच्चा	स्वेच्छा
स्रष्टि	सृष्टि	हितैशी	हितैषी
		हिन्दु	हिन्दू (हिन्दुओ)

निम्नलिखित शब्दोके सभी रूप शुद्ध है—

अपाहज, अपाहिज
असम (देश), आसाम
आश्रय (सहारा), प्राश्रय (आदर)
उद्दाम, उद्दाम
उषःकाल, उषाकाल, ऊषाकाल
उष॰, उपस्, उषा, ऊषा
उष्म, ऊष्म, ऊष्मा उष्मा,
ओठ, ओठ, होठ, होंठ
कलश, कलस
कश्मीर, काश्मीर, काशमीर, कशमीर
कुतूहल, कौतूहल
कोश, कोष
कोशल, कोसल
कौटिल्य, कौटल्य
कौशिक, (विश्वामित्र), कौषिक (रेशमी वस्त्र)
चन्द्रमा, चन्द्रिमा
चुनाई, चिनाई
छत्र (छतरी), क्षत्र (बल, क्षत्रिय) छात्र (विद्यार्थी), क्षात्र (क्षत्रिय सबन्धी)
जवनिका, यवनिका
झोपडा, झोपडा
थड, ठढ,
ढलुवॉ, ढलवॉ, ढालवॉ, ढालुवॉ
तमाखू, तम्बाकू
तमोली, तमोली
तोलना, तौलना
तौल, तोल
त्यौहार, त्योहार
दपति, दम्पती
दिक्पाल, दिग्पाल
दिवाला, दीवाला
दीपावली, दीपाली, दीपावलि दीवाली
दुकान, दूकान
द्दष्टव्य, द्रष्टव्य

द्वन्द, द्वन्द्व
धूआँ, धुवाँ
धूल, धूलि
निःसकोच, निस्सकोच
निःसन्देह, निस्सन्देह
निःसीम, निस्सीम
नूत्न, नूतन
न्योछावर, न्यौछावर
पछवाँ, पछुवाँ, पछुआँ
परछाई, परछाहीं
परिषत् (द्), पर्षत् (द्)
पर्यंक, पल्यक
पृथ्वी, पृथिवी
पृष्ठ (पूछा हुआ), पृष्ठ (पीठ)
प्रतिहार (री), प्रतीहार (री)
ब्रह्म ड, ब्रह्माड
भृकुटि, भृकुटी, भ्रुकुटि
भ्रुकुटी, भ्रूकुटि, भ्रूकुटी,
भ्रकुटि, भ्रकुटी

मट्टी, मिट्टी
मनुष्य, मानुष
मुसकान, मुस्कान
वंग, बग
वशिष्ठ, वसिष्ठ
विदा (ई), बिदा (ई)
बहिष्कृत, वहिष्कृत
वाण, बाण
वाल्मीक, वाल्मीकि
वाष्प, वाष्प
विकाश, विकास
विन्दु, बिन्दु
बिस्तार (विस्तृत), विस्तार
वीभत्स, बीभत्स
वृहत, बृहत्
वेश, वेष
ब्रज, व्रज
शृखला, श्रखला
सागूदानाना, साबूदाना
सौहार्द, सौदार्य

चतुर्थ खंड

१

लिपियोंका विकास

हमारी धरती जब जङ्गलीपनकी नींदसे अँगड़ाई लेकर, आँखें मलकर, जँभाकर जाग उठी तब उसके बच्चोने जो बहुतसे भले काम किए उनमे एक था लिखनेका ढङ्ग निकालना। पर यह काम मन बहलाने-भरके लिये ही नहीं किया गया था। उन्हे भूख मारकर इस काममे हाथ डालना पड़ा। पौ फटी, सूरज निकला, दोपहर हुई, दिन ढला। पर इन्हीं चार पहरोमे न जाने कितनी बार वे जूझ जाते थे। कल्लनका घड़ा कहीं जल्लनके घडो मे पहुँच गया तो बस महाभारत हुआ समझो। कल्लनके घड़ेपर मोती तो टँके नहीं थे कि लाखोमे धरा हो, कोई पहचान ले। घडे-घडे एकसे। वे दरबारी चाल-ढाल तो जानते न थे। बस पहले भौंहे तनतीं, फिर डडे तुलते और बात-बातमे सिर फूट जाते, बर्छियाँ चलने लगतीं। पलक मारते मारते धरती लाल हो उठती। पर धीरे-धीरे उन लोगोने सोचा कि अपनी कोई पहचान बना लें, तब तो टंटा ही जाता रहे। बस एक-एक टोलीने अपनी-अपनी अलग-अलग पहचान बना ली और अपने डगर-ढोर, कपड़े-लत्ते, लोहे-लक्कड सबको आँक दिया। यहींतक नहीं, उन्होने अपने घरके बूढे-बच्चे, छोटे-बड़े, सबपर यह पहचान लगा दी।

फिर जङ्गलमे घूमते-घामते सैकड़ो जड़ी-बूटियाँ, पेड़-पौधे, बेल-पत्ते उन्हे मिलते। उनमेसे कोई उनकी खाँसी हरता, कोई उनकी आँखोंकी ललाई काट देता। अब इनमेसे किसे-किसे वे मनकी कोठरियोमे तहा-

तहाकर रखते। उन्होने इन पेड-पौधोके नाम रक्खे और सबके लिये चिह्न बना डाले।

फिर जब एक-एक झुण्डके लोग दूर-दूर जा बसे, दो भाइयोंके बीच कई-कई कोसका बीच पड गया, तब उन दूर बैठे हुए भाई-बन्दो, गोती-नातियो, हेली मेलियोमे लेन देन, काम काज, कीन-बेंचका व्यवहार रखनेके लिये भी उन्हे लिखावटका आसरा लेना पडा।

जब इन सब बातोने उन्हे लिखनेका ढङ्ग चलानेके लिये बेवस कर दिया तब उन्होने आडी-तिरछी लकीरोसे एक लिखावट बना ली। उससे उन्होने अपने घर-बरका काम नी चलाया ही, साथ ही इन्हीं लकीरोमे वे अपने गीत भी लिखने लगे। पर हाँ, बहुत दिनोतक इने-गिने लोग ही थे जो लिखना सीखते थे और लिखा हुआ बाँच सकते थे। ऐसे लोगोपर अपढ लोग बडा अचरज करते और समझते कि 'ये लोग योगी हैं, भूतोसे खेलते है।'

देखा जाय तो सबसे पुरानी लिखावट पत्थरोपर लिखे हुए कुछ बेतुके, बेढङ्ग किरन-कॉटेभर ही हैं। गुनी लोग यह मानते है कि पत्थरकी इन लिखावटोको पहले किसी लिखैयने मट्टी, गेरू या सेलखडीमे पाटीपर लिख डाला होगा और फिर किसी 'काला अच्छर भैस बराबर' समझनेवाले पथरकटने छीनी लेकर उस लिखावटको गहरा खोद डाला होगा और फिर तो पत्थर, लकडी, कागज, कपडे सभीपर लिखने लगे होगे। ऐसी खपड-पोथियाँ पहले-पहल सर हेनरी लअर्डको कैल्डियाकी खोजमे हाथ लगी थी।

इन खपड-पोथियोमे से एक लदनके अचरज-घरमे रक्खी है जिसमे बाढ की कहानी लिखी है। यह पोथी लिखावटकी सबसे पुरानी साख है जो ईसासे लगभग चालीस सौ बरस पहले लिखी गई थी। ये कैल्डियावाले फन्नीदार अच्चरोमे ऐसे लिखते थे कि एक-एक अच्चर एक-एक फन्नी या कई-कई फन्नियोकी मिलावटसे बना होता था और उन्हे वे चौकोर नोकवाले तकुओसे बाईंसे दाईं ओरको लिखते थे।

कैल्डियाकी लिखावट—

पुरानेपनमे दूसरी बारी मिस्रवालोकी पोथियोकी आती है। ये पोथियाँ बेंत, बाँस या नरकटके कलमसे पसारोपर लिखी जाती थीं। इन पसारोको पैपाइरस या पपुरस कहते हैं। ये पसारे नील नदीकी घाटियोमे उगनेवाले सरपतोकी गुद्दी कूटकर बनाए जाते थे। अबतक मिली हुई मिस्री पोथियोमे सबसे पुरानी पोथीका नाम "मरोकी पोथी" है। यह तब लिखी गई थी जब बडे पिरेमिडोकी नींव डाली जा रही थी।

मिस्रियोकी लिखावटमे अक्षरोके बदले मछली, कौवा, सिंह, चिडिया और उन दिनोके बर्तन-भाँडो-जैसे अक्षर बनाए जाते थे।

(मिस्री अक्षर)

चीनी पोथियाँ—

इन पोथियोके पीछे चीनकी पोथियोकी बारी आती है। चीनी साधु कनफूचीने विक्रमसे ४५० बरस पहले ही कथा, कहानियो, गीतो और सीखोकी पोथियाँ लिखनेका चलन चला दिया था। ये पोथियाँ बाँसके चौडे फच्चरोपर लिखी जाती थीं। कभी तो तीखे नुकीले तकुए से इनपर अक्षर कोचे जाते थे और कभी-कभी वे कोचे हुए अक्षर हिन्दुई कालिखसे रँग दिए जाते थे। चीनी लोग पाटके कडोपर लिखा करते थे। उन्होने विक्रमसे पचास बरस पहले ही कागज बनानेका काम चालू कर दिया गया था। ईसाके जनमके

थोडे दिनो पीछे ही चीनियोने ठोस काठ के समतल टुकडोपर उल्टे खोदकर उनसे छपनेका लग्गा भी लगा दिया था और योरपमे छापनेका काम चलनेसे तीन सौ बरस पहले ही वे उठौवा छापे छापने लगे थे।

(चीनी अक्षर, जो ऊपरसे नीचेको लिखे जाते हैं)

हिब्रू

सबसे पुरानी हिब्रूकी पोथियाँ भी ईसासे लगभग छह सौ बरस पहले लिख डाली गई थीं।

यूनानमें लिखावट—

किन्हीं दिनो उत्तरी अफ्रीकामे कार्थेज धरतीकी सबसे बडी बस्ती थी। वहाँ के व्यापारी फोनीसियोने पहले-पहल यूनानियोको कलम थामना सिखाया और मिस्रियोने उन्हे पोथी बनाना। यो तो यूनानी अक्षर ईसासे आठ सौ बरस पहले ही जनम ले चुके थे पर वे छिट-फुट बिखरे हुए थे, कोई उन्हे पूछता न था।

(फोनीसी अक्षर)

जेवंसीका कहना है कि यूनानमे पढ़ने-लिखनेकी चलन विक्रमसे पाँच सौ बरस पहले चल निकली थी।

सिकन्दरियामें—

एथेन्सके पीछे सिकन्दरियामे यूनानियोने अपनी जड़ जमाई और वहाँ प्तोलैमी भाइयोने अच्छा-अच्छी सात लाख यूनानी

पोथियाँ बटोर लीं जिन्हे जूलियस साजरने विक्रमसे नौ बरस पीछे सिकन्दरियामे आग लगा कर जला डाला।

रोममें लिखावट—

पहले-पहल रोमवालोकी पोथियोमे सब मसाला औरोकी मँगनीका था। पहले तो बहुत दिनोतक यूनानी बोलीका बोलबाला रहा पर जब रोमी बोली कुछ ताव पकडने लगी तब भी उसकी नींव और ढॉचा यूनानी ही रहा।

ब्राह्मी—

अपने देशमे लिखनेकी चाल तो न जाने कब चल पडी थी। मोहनजोदडो और हरप्पामे खपडोपर जो लिखावट है वह ईसासे पॉच हजार बरस पहलेकी बताई जाती है और यह भी कहा जाता है कि

(मोहनजोदड़ोकी लिखावट)

सिधके मैदानमे रहनेवाले आर्योंने बेबिलोन और मिस्रवालोसे अपना मेल-जोल बना रक्खा था और वहॉवालोसे लेन-देन भी चलाते थे। हॉ सबसे पुरानी हमारी ब्राह्मी लिखावट हमे प्रिपावाके उस घडेके ढकनेमे मिलती है जिसमे भगवान् बुद्धके फूल रक्खे मिले है। इसके पीछे अशोकने लाट, टीले और पहाडकी चट्टानो पर ब्राह्मी और खरोष्ठीमे बुद्धके धरमकी और भलेपनकी बाते खुदवाई थीं। धीरे-धीरे ताडके और बॉसके पत्तोपर लिखाई होने लगी और फिर तो भोजपत्रो-पर भी लोग लिखने लगे। इस ब्राह्मीके न जाने कितने रूप बदले और आज यह देवनागरी, गुजराती और बँगला लिखावटो मे थोडा-सा हेरफेर लेकर छापेमे आजानेसे कुछ सॉचेमे बँध गई है।

कुछ लोगो ने द्राविडी लिखावटो को भी ब्राह्मीसे निकला बताया है पर यह ठीक नहीं है। नागरी अक और अक्षरका ब्यौरा इस बातको ठीक समझा देगा।

लिखावटकी चार अवस्थाएँ—

कुछ विद्वानो का मत है कि लिखावट एक ढगसे चार अवस्थाओमे ढलकर बनी है—

१. एक बातके लिये एक संकेतवाली (आइडियोग्रैफिक या विचार-लिपि)

२ चित्र लिखावट (पिक्टोग्रैफिक या चित्र-लिपि)

३. बोलीकी एक-एक लहरपर लिखावट (सिलेबिक या लयान्विति-लिपि)

४. एक ध्वनिवाले अक्षरो की लिखावट (अल्फाबेटिक या ध्वन्यक्षर-लिपि)

मानते है कि सबसे पहले लोग एक पूरी बातके लिए एक चिह्न बना देते थे। यदि उन्हे कहना होता कि 'मै जा रहा हूँ' तो वे एक चिह्न बना देते थे। इसके पीछे आई चित्र लिपि, जिसमे एक-एक चित्र बनाते थे। जैसे उन्हे घोडा बताना हुआ तो घोड़ेका चित्र बना देते थे। आज भी ये दोनो ढङ्गकी लिखावटे पुरानी अनपढ जातियोमे ज्योकी त्यो मिलती है। तीसरी लयान्विति (सस्वराक्षर या सिलेबिक) लिपि है जिसमे व्यञ्जन के साथ स्वर मिले रहते है। "क" अक्षर बराबर है क् + अ। इसलिये बहुतसे लोग हमारी देवनागरी लिखावटको लयान्विति मूलक (सस्वराक्षर या सिलेबिक) मानते हैं, पर वे यह भूल जाते है कि सिलेबिल या लयान्विति तो किसी शब्दकी बहुत सी ध्वनियोका यह सबसे छोटा मेल है, जो एक झटकेमे बोला जाता हो, जैसे "संसार" शब्द लीजिए। सिलेबिक या लयान्वितिको देखते हुए इसमे दो झटके या सिलेबल् हैं—एक सम्, दूसरा सार। पर इसमे अक्षर तीन हैं सं, सा, र और ध्वनियाँ छह हैं (स्, अ, स्, आ,

र्, अ)। इसलिये जो लोग देवनागरी लिखावटको सिलेबिक मानते हैं, वे भूल करते है। चौथी लिखावटें वे है जिनमें ध्वनिके लिए अक्षर आता है जैसे अँगरेजीका 'बी = 'व' है।

हमारा मत है कि नागरी सस्वराक्षर लिखावट न होकर ध्वन्यात्मक है और इसीलिये वह सब लिखावटोमें सबसे अच्छी सुलझी हुई लिखावट है, क्योकि हम जैसा बोलते है वैसा ही उसमें लिखते हैं। अँगरेजी जैसी लिखावटोमें गडबड यह है कि वहाँ अक्षरका नाम है "बी" पर वह आता है व के लिये। अक्षरका नाम है "ए" और आता है अ, आ, ए, ऐ और औ के लिये, इसलिये, उनमें बहुत झंझट करनी पडती है। पर देवनागरी लिखावटमें जो अक्षरका नाम है वही उसे देखकर बोला जाता है। इसलिये हम देवनागरीको पूरी लिखावट मानते हैं और उसे पाँचवीं 'ध्वन्यात्मक अवस्था' में मानते है।

लिखावट कैसे चलती है?—

दुनियामें जितनी कुछ लिखावट है सब तीन ढंगसे चलती है—

१ बाएँसे दाएँ, जैसे देवनागरी या योरोपकी रोमन लिखावटें।

२. दाएँसे बाएँ जैसे अरबी, फारसी।

३. ऊपरसे नीचे, जैसे चीनी बोलीकी लिखावट।

सङ्केत विद्या—

लिखावटके ही समान लोगोने गुपचुप बातचीतके लिये हाथके संकेत बना लिए जिनमें अक्षर, मात्रा सब वैसी ही जानी जा सकती थी जैसे लिखावटमें। कहा जाता है कि जब लङ्कामें राम और हनुमान आपसमें बातचीतमें करते थे तो उन्होने अपना एक गुर बना रक्खा था—

अहिफन कमल चक्र टकार। ताल पवन यौवन सिसकार॥
उँगली अक्षर चुटकी मात्रा। राम पवनसुत करते वात्रा॥

इसे यों समझ सकते है कि हाथको साँपके फन जैसा बना दिया तो उसमें "अ" से अः तक सब आ गए। कमल जैसा बनाया तो क, ख, ग, घ, ङ आ गया। चक्रके ढंगसे उँगली घुमाई तो च, छ,

ज, झ, ञ आ गए। मुँहसे टकार दिया तो ट, ठ, ड, ढ, ण आ गए। हाथसे ताल दी तो त, थ, द, ध, न आ गए। पखेके ढगसे हाथ घुमाने लगे तो प, फ, ब, भ, म आ गए। मुँहपर हाथ फेरा तो य, र, ल, व आ गए और मुँहसे सिसकारी भरी तो श, ष, स, ह आ गए। जिस वर्गका जो अक्षर बताना हुआ उतनी उँगलियाँ उठा दीं जैसे "ग" कहना हुआ तो कमल जैसा हाथ बनाकर तीन उँगलियाँ उठा दीं और "गा" कहना हुआ तो चुटकियाँ भी बजा दीं। इस प्रकारके अपने-अपने अलग-अलग सकेत लोगोने बना लिए है और उन्हे काममें भी लाते है पर वे बोलियोकी छानबीनके लिये किसी कामके नहीं है।

२

नागरी अङ्क और अक्षर

प्रथम अध्यायमे बताया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मी लिपि ही अनेक रूप परिवर्तनोके पश्चात् वर्तमान देवनागरी लिपिका रूप प्राप्त कर सकी है। आगे हम नागरी अंको और अक्षरोके विकास क्रमका विवेचन करेगे।

नागरी अङ्क

स्वर्गीय रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचन्द ओझाने नागरी अकोके विकासके सम्पन्धमे विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि जैसे नागरी लिपिके प्राचीन और वर्तमान अक्षरोके बीच बडा अन्तर है वैसे ही नागरीके प्राचीन और वर्तमान अकोमे भी बडा अन्तर है। यह अन्तर केवल अकोके रूपोमे ही नहीं पाया जाता वरन् प्राचीन तथा अर्वाचीन अकोकी लेखन शैलीमे भी बडा भेद है। इस समय जैसे एक ही अक इकाई, दहाई, सैकडा, हजार, लाख आदिके स्थानोमे आ सकता है वैसे प्राचीन अक-क्रममे न था। प्राचीन अक-क्रममे शून्यका व्यवहार न था। एकसे नवतककी सख्या बतलानेके लिए ९

अक चिह्न नियत थे और ऐसे ही १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, १०००, १००००० आदिके लिये भी भिन्न-भिन्न चिह्न नियत थे। प्राचीन क्रम विशेष जटिल था। क्रम-क्रमसे विकास और सुधारकी अवस्था पार करते हुए हमारे अकोको वर्तमान रूप प्राप्त हुआ है। समय-समयपर जो रूप-परिवर्तन होते रहे हैं उसके ये दो मुख्य कारण अनुमान किए जा सकते हैं—

(१) अकोको सुन्दर बनानेका प्रयत्न तथा (२) शीघ्रतासे तथा लेखनीको उठाए बिना अकको पूरा लिखनेकी चेष्टा। साथमे दिए हुए चित्रसे विकासकी अवस्था स्पष्ट हो जायगी।

१—इसका चिह्न प्राचीनकालमे एक आडी लकीर था (—)। लगभग ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दी तक १ का अक प्रायः इसी प्रकार लिखा जाता था और अब भी व्यापारी लोग जहाँ रुपयोके अकोके साथ आनेका अक लिखना होता है वहाँ यही चिह्न काममे लाते है। दूसरे रूपमे थोडा सा घुमाव डालकर सुन्दर बनानेका यत्न पाया जाता है। तीसरा रूप दूसरेसे मिलता हुआ ही है, परन्तु उसमे आरम्भके हिस्सेमे छोटी सी गाँठ लगाने तथा घुमावको बढानेका यत्न किया गया है। तीसरे रूपका नीचेकी तरफ अधिक बढानेसे चौथा रूप बना है। इसीसे पाँचवाँ तथा छठा रूप बना है जो अबतक लिखा जाता है।

२—इसका चिह्न पहले दो आडी लकीरें (=) था (जिसका विवरण १ के पहले रूपके अनुसार ही है)। दूसरे रूपमे इन लकीरोमे कुछ घुमाव पाया जाता है, जो सुन्दरताके विचारसे ही डाला गया होगा। इसका विवरण १ के दूसरे रूपके अनुसार ही है। तीसरा रूप लकीरोका नीचेकी ओरका झुकाव बढा हुआ पाया जाता है। इन दोनो लकीरोके परस्पर मिल जानेसे चौथा रूप बना है जो वर्तमान २ के अंकसे मिलता हुआ है। यह रूप लेखनीको उठाए बिना दोनो लकीरोको लिखनेसे बना हे और अनेक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको, शिलालेखो तथा ताम्रपत्रोमे मिलता है।

३—इसका चिह्न पहिले तीन आडी लकीरें (≡) था, जिनमे घुमाव डालनेसे दूसरा रूप तथा प्रारम्भमे छोटी सी गॉठ लगानेसे तीसरा रूप बना है। बिना लेखनी उठाए लिखनेका यत्न करनेसे चौथा रूप बना है, जो वर्तमान ३ के अकसे मिलता हुआ है। इन भिन्न-भिन्न रूपान्तरोका विवरण अक २ के रूपान्तरोके अनुसार ही है। व्यापारी लोग अबतक २ और ३ आनोके लिए क्रमशः दो और तीन आडी लकीरें (=, ≡) बनाते है, जो वास्तवमे प्राचीन अक ही है।

४—इसका पहला रूप अशोकके समयकी (प्राचीन) नागरी लिपिके 'क' अक्षरसे मिलता हुआ है। दूसरा रूप नानाघाट आदि अनेक स्थानोके प्राचीन शिलालेखोमे मिलता है। तीसरा रूप क्षत्रियवशी राजाओके सिक्कोमे मिलता है जिसमे नीचेकी ओरकी खडी लकीरके अन्तमे घुमाव डाला गया है। उसी घुमावको जल्दी लिखनेमे गॉठका रूप देने तथा बीचकी आड़ी लकीरके साथ उसको मिला देनेसे चौथा रूप बना है, जो वर्तमान ४ के अकसे बहुत ही मिलता हुआ है और दसवीं शताब्दीके आसपासकी हस्तलिखित पुस्तको आदिमे पाया जाता है।

५—इसका पहला रूप आध्रभृत्यो तथा क्षत्रियोके लेखोमे मिलता है। दूसरा रूप गुप्तोके शिलालेखोमे मिलता है जिसमे खडी लकीरको कुछ टेढ़ी बनाकर सुन्दरता लानेका प्रयत्न पाया जाता है। तीसरा रूप नेपालके शिलालेखोमे तथा प्राचीन पुस्तकोमे मिलता है। चौथा तथा पॉचवॉ दोनो रूप ईसवी सन् की नवीं तथा दसवीं शताब्दीके लेखोमे मिलता है और नागरीके वर्तमान पॉचके अकसे मिलता है। पॉचवॉ तथा छठा—ये दोनो रूप इस समय लिखे जाते हैं।

६—इसका पहला रूप मौर्यवशी राजा अशोकके सहस्राराम (बिहारके शाहाबाद जिलेमे) और रूपनाथ (जबलपुर जिलेमे) के लेखोमे पाया जाता है, जो वर्तमान ६ के अकसे बहुत कुछ मिलता

हुआ है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा रूप दूसरेसे तथा वर्तमान ६ के रूपसे विशेष मिलता हुआ है।

नागरी अंकों का विकास

= १

= २

= ३

= ४

= ५

= ६

= ७

= ८

= ९

७—इसका पहला रूप आंध्र भृत्यवंशी राजाओंके शिलालेखोंमें

मिलता है। दूसरा रूप क्षत्रिय राजाओके सिक्कोमे पाया जाता है जिसमे खडी लकीरके नीचेके हिस्सेको कुछ बाएँ हाथकी ओर घुमा दिया गया है। इसी घुमावको कुछ और बढानेसे तीसरा तथा चौथा रूप बना है। ये दोनो रूप क्षत्रियोके सिक्को तथा वल्लभी राजाओके ताम्रपत्रोमे मिलते है। इन्हींसे वर्तमान ७ के अकको उत्पत्ति हुई है।

८—इसका पहला रूप आध्र भृत्यवशी राजाओके शिलालेखोमे पाया जाता हैं। दूसरा तथा तीसरा रूप गुप्तवशी राजाओके लेखोमे मिलता है। इन्हींसे वर्तमान ८ का अक बना है।

९—इसका पहला तथा दूसरा रुप ऑध्रभृत्योके लेखोमे मिलता है तीसरा रूप क्षत्रियोके सिक्कोमें पाया जाता है। तीसरेको शीघ्रतासे लिखनेके कारण चौथे रूपका प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह रूप तीसरे रूपसे और नागरीके 'उ' अक्षरसे भी मिलता हुआ है। चौथेसे पाँचवाँ रूप बना है, जिसमे बाई ओरके नीचेके हिस्सेकी गोलाई बढ जानेसे वर्तमान ६ के अकसे कुछ समानता आ जाती है। यह रूप ईसवी सन् की दसवीं शताब्दीके लेखोमे मिलता है। इसीका रूपान्तर छठा रूप है, जो वर्तमान समय मे भी कोई-कोई लिखते है। उसीसे वतमान ९ का अक बना है।

९—नव का यह रूप विशेष कर दक्षिणमे प्रचलित है। इसके पहले तथा दूसरे रूपका विवरण ऊपर लिखे अनुसार ही है। तीसरा रूप दूसरेसे मिलता हुआ है केवल ऊपरके हिस्सेमे गाँठ लगा दी गई है। इसीसे शीघ्रतासे लिखनेके कारण चौथे रूपकी उत्पत्ति हुई है।

१०—शून्यका प्रचार ईसवी सन् की छठी शताब्दी तकके शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा सिक्कोमें नहीं पाया जाता, जिसका कारण यह है कि लगभग उस समय तक अक प्राचीन क्रमसे लिखे जाते थे, जिसमे शून्य की आवश्यकता ही न थी, क्योकि १०, २०, ३० आदि अकोके लिए भिन्न-भिन्न चिह्न नियत थे।

नागरी अक्षर

नागरी अक्षरोके सम्बन्धमे ओझाजीका मत है कि वर्तमान नागरी लिपिका मूल अर्थात् प्राचीन रूप अशोकके शिलालेखोकी लिपिमे मिलता है जो विक्रम सवत से लगभग २०० वर्ष पूर्व का है और काठियावाडसे उडीसा तक और नेपालकी तराईसे मैसूरतक अनेक स्थानोमें मिला है । अशोकके समय वह लिपि बहुधा सारे भारतमे वैसी ही प्रचलित थी जैसा कि इस समय नागरी लिपि है। अशोकके पूर्व नागरीका क्या रूप था और उसमे कैसे-कैसे परिवर्तन होनेके पश्चात् वह उस स्थिततिक पहुँची यह जाननेके लिए अबतक ठीक साधन उपलब्ध नहीं हुए है[1] अतएव अभी तो हमे अशोकके समयकी लिपिको ही अपनी नागरी लिपिका उत्पत्ति-स्थान मानना चाहिए।

अशोकके समयकी लिपिका नाम 'ललितविस्तातर'मे 'ब्राह्मी' लिपि मिलता है और 'नित्याषोडषिकार्णव' के भाष्य 'सेतुबधु'मे भास्करानन्द उसका नाम 'नागर' (नागरी) लिपि होना मानता है क्योकि वह लिखता है कि "नागरी लिपिमे 'ए' का रूप त्रिकोण है जैसा कि अशोकके लेखोमे मिलता है।

'नागरी' 'देवनागरी'का संक्षिप्त रूप है और इस लिपिका नाम 'देवनागरी' कहलानेका कारण शाम शास्त्रीके मतानुसार यह है कि देवताओकी प्रतिमाओके बननेके पूर्व उनकी उपासना साकेतिक चिह्नो द्वारा होती थी जो कई प्रकारके त्रिकोणादि यन्त्रोके मध्यमे लिखे जाते थे। और वे यन्त्र 'देवनगर' कहलाते थे। उन देवनगरोके मध्य

---

१ अशोकके समयसे पूर्वका अबतक एक ही छोटा सा लेख मिला है। उसमें नागरी लिपिके केवल १४ अक्षरोंके प्राचीन रूप मिलते है। उनमे और अशोकके लेखोकी लिपिमे विशेष अन्तर नहीं है। भेद इतना ही है कि उनमे दीर्घ स्वर चिह्नका अभाव है।

लिखे जानेवाले अनेक प्रकारके सांकेतिक चिह्न कालान्तरमें अक्षर माने जाने लगे, इसीसे उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।

यह कहना अनुचित न होगाकि अशोकके लेखोंकी नागरी लिपि वर्तमान नागरीसे अधिक सरल थी और गुजराती लिपिकी तरह उसके अक्षरोंके सिर नहीं बनते थे, परन्तु पीछेके लेखकोंके हाथसे उसके अनेक रूपान्तर हुए जिनके मुख्य चार कारण अनुमान किये जा सकते हैं—

(१) अक्षरोंके सिर बनाना। (२) अक्षरोंको सुन्दर बनानेका प्रयत्न करना। (३) त्वरासे लिखना तथा (४) कलमको उठाये बिना अक्षरको पूरा लिखना।

साथके चित्रमें अक्षरोंके अशोकके समयके रूप तथा समय समयपर हुए उनके समस्त रूपान्तर दिए गए है। इन रूपान्तरोंका विवरण नीचे लिखा जाता है। प्रत्येक अक्षरका पहला रूप अशोकके समयका है। नीचे जहाँ जहाँ 'पहला रूप' लिखा है वहाँ-वहाँ दूसरे रूपसे ही उसका अर्थ समझना चाहिए।

अ—इसका पहला रूप गिरनार पर्वत (काठियावाड़में) के पास की एक चट्टानपर खुदे हुए अशोकके लेखसे लिया गया है। दूसरा रूप कुशाणवशी राजाओंके लेखोंमें (जो ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीके आसपासके हैं) मिलता है। इसमें सिर बनानेका यत्न स्पष्ट पाया जाता है। प्रारम्भमें अक्षरोंके सिर बहुत छोटे बनते थे परन्तु पीछेसे बहुधा सारे अक्षरपर बनने लगे। ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भमें यह यत्न भी अक्षरको सुन्दर बनानेके उद्देश्यसे किया गया होगा। तीसरा रूप दूसरे रूपसे मिलता हुआ है, अन्तर केवल इतना ही है कि दूसरे रूपमें नीचेके बाईं ओरके हिस्सेमें सुन्दरताकी दृष्टिसे जो घुमाव डाला गया है उसका सम्बन्ध मूल अक्षरसे तोड़ दिया है। चौथे और पाँचवें रूपमें 'अ' की दाहिनी ओरकी खड़ी लकीरको सुन्दर बनानेका यत्न पाया जाता है, जिससे अक्षरकी आकृतिमें विशेष अन्तर

आ गया है। ये रूप ईसवी सन् की नवीं शताब्दीके आसपाससे लगाकर तेरहवीं शताब्दीतकके अनेक लेखो तथा हस्तलिखित पुस्तकोंमे मिलते हैं। कई जैन लेखक तो अबतक हर खडी लकीरके अन्तको सुन्दरताके विचारसे हलतके चिह्नका सा रूप दे देते हैं।

अ—अका यह रूप अब बहुधा दक्षिणमे लिखा जाता है और ऊपर लिखे हुए 'अ' के तीसरे रूपको उसकी वास्तविक स्थितिमे रहने देने अर्थात् उसमे सुन्दरता लानेका यत्न न करनेसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।

इ—का दूसरा रूप गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्तके इलाहाबादके लेखमे तथा स्कन्दगुप्तके समयके कुमाऊँके लेखमे मिलता है जिसमे 'इ' की बिन्दियोपर सिर बनानेका यत्न किया गया है। चौथा रूप हैहय (कलचुरी) वशी राजा जाज्वलदेवके लेखमे तथा कई हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकोमे पाया जाता है। पॉचवॉ रूप १३ वीं शताब्दीके आसपासके शिलालेखो तथा पुस्तकोमे मिलता है और वर्तमान 'इ' से बहुत कुछ मिलता हुआ है।

उ—के दूसरे रूपमे सिर बना है और नीचेकी आडी लकीरके अन्तिम भागको सुन्दरताके विचारसे कुछ नीचेको झुकाया गया है। उक्त झुकावको बढ़ा देनेसे चौथे रूपकी सृष्टि हुई है जो अनेक लेखोमे मिलता है।

ए—के दूसरे रूपमे त्रिकोणको उल्टा कर दिया गया है जिससे ऊपरकी ओर सिर-सा दिखता है। चौथे रूपमे त्रिकोणको पलटकर वर्तमान 'रा' का प्रादुर्भाव दीख पडता है। पॉचवॉ रूप जो वर्तमान 'ए' से बहुत ही मिलता हुआ है, राठौड राजा गोविन्दराज (तीसरे) के शक सवत् ७३० (वि० स० ८६५ = ई० स० ८०७) के, ताम्रपत्रोमे तथा कइ अन्य शिलालेखो एवं पुस्तकोमे मिलता है।

क—के दूसरे रूपमें सिर बनानेका यत्न पाया जाता है एवं बीचकी आडी लकीरको झुका दिया गया है। तीसरे रूपमें बीचकी लकीरका

झुकाव बढा दिया गया है । चौथा रूप अनेक लेखोंमें पाया जाता है ।

ख—का दूसरा रूप कुशाणवशी राजाओंके लेखोंमें तथा गिरनार पर्वतके पास उपर्युक्त चट्टान पर खुदे हुए लेखमे, जो ई० स० की दूसरी शताब्दीका है, मिलता है । तीसरे रूपमे सिर बनानेके कारण अक्षरके दो खड हो गये हैं, जिनमेसे पहले अर्थात् खडी लकीरके हिस्सेको सुन्दर बनानेका यत्न किया गया है । इस प्रकार उक्त अक्षरके 'र' और 'व' ये दो रूप बन गए जिनको मिलाकर लिखनेसे ही 'ख' बनता है ।

ग—'ख' की नाई 'ग' के रूपान्तरोका मुख्य कारण सिर बनाना है । दूसरे रूपमे ऊपरके कोणके स्थानमे वक्रता पायी जाती है । इसी रूपके ऊपर सिर बनाने तथा पहली खडी लकीरको तनिक बाई ओर मोड देनेसे तीसरे रूपकी उत्पत्ति हुई है जो वर्तमान 'ग' से मिलता हुआ ही है ।

घ—के दूसरे रूपमे सिर बनाया गया है और दाहिनी ओरकी दोनो ऊर्ध्व रेखाओंकी ऊचाई बढाई गई है । इसी का सिर पूरा बनाने तथा त्वराके कारण अक्षरको कुछ टेढा लिखनेसे तीसरा रूप बना है जो वर्तमान 'घ' से मिलता हुआ है। चौथा रूप भी उसीसे मिलता हुआ ही है ।

ङ—यह अक्षर अशोकके किसी लेखमे नहीं मिलता । यह पहले-पहले कुशाणवशियोंके लेखोंमे संयुक्ताक्षरोंमे पाया जाता है। इसका पहला रूप समुद्रगुप्तके लेखके एक सयुक्ताक्षरसे लिया गया है । पीछेसे इसके नीचेके हिस्सेकी गोलाई बढती गई और इसकी आकृति 'ड' से मिलने लगी जिससे इसको उससे भिन्न बनानेके लिए इसके सिरके अन्तमें गाँठ लगाई जाने लगी जो कहीं चतुरस्र कहीं गोल और कहीं त्रिकोण-सी मिलती है । इस गाँठका प्रादुर्भाव ई० स० की आठवीं शताब्दीके आस-पास पाया जाता है । पीछेसे यह बिन्दीके रूपमे अक्षरके मध्यभागमे लगाई जाने लगी ।

नागरी अक्षरो का विकास

= अ
= अ
= इ
= उ
= ए
= क
= ख
= ग
= घ
= ङ
= च
= छ
= ज
= झ
= झ
= ञ
= ट
= ठ
= ड
= ढ
= णा
= ण
= त
= थ

= द
= ध
= न
= प
= फ
= ब
= भ
= म
= य
= र
= ल
= व
= श
= ष
= स
= ह
= ळ
= क्ष
= ज्ञ
= का
= कि
= की
= कु
= कू
= कै

च—के दूसरे हिस्सेमें सिरके अतिरिक्त बाईं ओरके नीचेके हिस्से पर नोक-सी बनी है। तीसरे रूपमें वर्तमान 'च' की आकृति कुछ दीख पडती है जो चौथे रूपमें पूरी तरह बन गई है।

छ—के दूसरे रूपमें खडी लकीर वृत्तको पार कर बाहर निकल गई है। जयचदके और मालवाके परमार वशी महाकुमार उदयवर्मा के वि० स० १२५६ के ताम्रपत्रमें मिलता है।

ज—के दूसरे रूपमें नीचेके हिस्सेको कुछ आगे बढ़ाकर सुन्दर बनानेके लिए कुछ नीचे झुकाया गया है। उसी हिस्सेको बाईं ओर घुमानेसे तीसरा रूप बना है। चौथा रूप वर्तमान 'ज' से मिलता ही है और पाँचवाँ रूप तो इस समय तक कहीं-कहीं लिखा जाता है।

झ—वर्तमान नागरी लिपिमें जो 'झ' अक्षर लिखा जाता है उसकी उत्पत्ति कैसे हुई यह नहीं पाया जाता क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंमें उसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

ञ—यह वर्ण प्राकृत लेखोंमें मिलता है और सस्कृत लेखोंमें बहुधा संयुक्ताक्षरोंमें ही पाया जाता है। इसका दूसरा रूप मेवाडके राजा अपराजितके समयके वि० स० ७१८ के लेखमें और तीसरा कुमारगुप्तके समयके मन्दसौरके लेखमें मिलता है, जो वि० स० ५२९ (ई० स० ४७२) का है। तीसरे रूपकी दाहिनी ओरकी खडी लकीरको ऊपरकी ओर बढानेसे चौथा रूप बना है, जो वर्तमान 'ञ' से मिलता हुआ ही है।

ट—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ है और सिर बनानेके कारण ऊपरके हिस्सेमें कुछ परिवर्तन मालूम होता है। तीसरा तथा चौथा रूप वर्तमान 'ट' से मिलता है।

ठ—का दूसरा रूप केवल सिर बनाये जानेके कारण बना है। बाकी इसमें और पहले रूपमें कोई भेद नहीं है। तीसरे रूपमें सिर तथा नीचेमें वृत्ताकार हिस्सेके बीचमें छोटीसी खडी लकीर रहनेके कारण ठीक वर्तमान 'ठ' बन गया है।

ड—इसके तीसरे रूपमें मध्यका घुमाव बढा देनेके कारण उसकी आकृति वर्तमान 'ड' के सदृश बन गई है।

ढ—वर्तमान नागरी लिपिकी वर्णमालामें केवल एक 'ढ' अक्षर ही अपनी प्राचीन स्थितिमें बना हुआ है। केवल उसपर सिर बढाया गया है।

ण—का दूसरा तथा तीसरा रूप कुशाणोंके लेखोंमें मिलता है। चौथेसे छठेतकके रूप अनेक लेखादिमें पाये जाते हैं। छठे रूपमें सिर बढा देनेसे वर्तमान 'ण' बना है।

ण—'ण' का यह रूप दक्षिणमें प्रचलित है। इसके भेद ऊपरके 'ण' के अनुसार ही है। इसके चौथे रूपमें सिर जोड देनेसे यह रूप बना है।

त—का दूसरा रूप वर्तमान "त" से मिलता हुआ है।

थ—का दूसरा रूप समुद्रगुप्तके लेखमें मिलता है। तीसरेसे पाँचवें तकके रूप अनेक लेखोंमें पाए जाते हैं।

द—का दूसरा रूप अशोकके जोगडके लेखसे तथा पभोसाके लेखोंमें (जो ई० स० पूर्वकी दसरी शताब्दीके है) मिलता है। तीसरा कुशाणोंके लेखोंमें और चौथा अनेक लेखोंमें पाया जाता है। पाँचवाँ रूप वर्तमान 'द' से मिलता हुआ है।

ध—का दूसरा रूप कन्नौजके परिहार राजा भोजदेवके ग्वालियरके लेखमें तथा देवलगाँवकी प्रशस्तिमें पाया जाता है। तीसरा रूप कन्नौजके राजा जयचन्दके ताम्रपत्रमें मिलता है। चौथा रूप वर्तमान "ध" से बहुत कुछ मिलता हुआ है।

न—का दूसरा रूप उपर्युक्त क्षत्रप राजा रुद्रदम्माके लेखमें और तीसरा राजानक लक्ष्मणचन्द्रके समय वैद्यनाथके लेखमें मिलता है। चौथा तीसरेका ही रूपान्तर है।

प—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा अनेक लेखोंमें पाया जाता है।

फ—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा रूप समुद्रगुप्तके लेखमे पाया जाता है। चौथा रूप तीसरेको त्वरासे लिखनेके कारण उत्पन्न प्रतीत होता है, और अनेक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोमे मिलता है। पॉचवॉ चौथेसे मिलता हुआ है और उसीसे छठा रूप बना है।

ब—का दूसरा रूप राजा यशोधर्मके लेखमे तथा अन्य कई लेखोमे मिलता है। तीसरा रूप "प" से मिलता हुआ है, कहीं कहीं "व" के समान भी पाया जाता है। इसको उक्त अक्षरो "प" और "व" से भिन्न बनानेके लिए इसके बीचमे एक बिन्दी लगाने लगे जिससे चौथा रूप बना। पॉचवॉ रूप चौथेसे मिलता हुआ है और गुजरातीके सोलकी राजा भीमदेवके ताम्रपत्रमे मिलता है।

भ—का दूसरा रूप कुशाणवशियोके लेखोमे और तीसरा गुप्तवशके राजा स्कन्दगुप्तके इन्दौरसे मिले हुए ताम्रपत्रमे, जो गुप्त स० १४६ का है, मिलता है। चौथा रूप तीसरेसे मिलता हुआ ही है।

म—के पहले तीन रूप एक दूसरेसे मिलते हुए ही है और चौथा रूप वर्तमान "म" के सदृश ही है।

य—के पहले दो रूप अशोकके लेखोमे मिलते हैं। दूसरेको कलम उठाए बिना लिखनेसे तीसरा रूप बना है और चौथा उसीका भेद है जो वर्तमान "य" के सदृश है।

र—का दूसरा रूप पहले रूपकी खडी लकीरके अन्तको सुन्दरताके विचारसे दाहिनी ओर कुछ नीचे झुकानेसे बना है। यह रूप बौद्ध श्रमण महानामनके वि० स० ६४५ के लेखमे पाया जाता है। तीसरा रूप वर्तमान "र" से मिलता हुआ है।

ल—का दूसरा रूप हूणवशी राजा तोरमाणके लेखमे, जो ई० स० ५०० के लगभगका है, मिलता है। तीसरा रूप कई लेखोमे पाया जाता है। तीसरेको सुन्दर बनानेका यत्न करनेसे चौथे रूपकी उत्पत्ति हुई है और पॉचवॉ रूप वर्तमान "ल" से मिलता हुआ है।

व—के पहले रूपको बिना कलमको उठाए लिखनेसे दूसरा रूप बना है और उसके नीचेके हिस्सेमे सुन्दरता लानेका यत्न करनेसे तीसरे रूपकी सृष्टि हुई।

श—का दूसरा रूपान्तर पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा एवं चौथा ये दोनो दूसरेके ही रूपान्तर है। पाँचवाँ रूप कई लेखोमे मिलता है। छठा रूप पाँचवेंका ही रूपान्तर है।

ष—यह अक्षर अशोकके लेखोमे नहीं मिलता। इसका पहला रूप घोसुडा (मेवाड में) के शिलालेखसे उद्धृत किया गया है, जो (लेख) ई० स० पूर्वकी दूसरी शताब्दीका है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है और तीसरा कई लेखोमे मिलता है।

स—का दूसरा रूप पहलेके सदृश ही है। तीसरा समुद्रगुप्तके लेखोमे मिलता है और चौथा कई लेखोमे पाया जाता है।

ह—का दूसरा रूप पहलेके समान ही है। तीसरा उच्छकल्पके महाराज शर्वनाथके वि० स० ५२० के ताम्रपत्रसे उद्धृत किया गया है और चौथा अनेक लेखोमे पाया जाता है।

ळ—वेदोके अतिरिक्त सस्कृत-साहित्यमे इस अक्षरका प्रयोग नहीं मिलता परन्तु सस्कृत शिलालेखोमे इसका प्रयोग 'ल' या 'ड' के स्थानोमे मिल जाता है। दक्षिणके शिलालेखोमे यह विशेष रूपसे मिलता है। गुजरातसे कन्याकुमारी तक यह अक्षर अबतक बोला और लिखा जाता है।

क्ष—यह वर्ण नहीं किन्तु सयुक्त वर्ण है, जो क और ष के मिलनेसे बना है। ई० स० की दसवीं शताब्दीतकके शिलालेखो, ताम्रपत्रों, सिक्को और पुस्तकोमे इसके दोनो वर्ण अन्य सयुक्ताक्षरोके समान मिलाकर लिखे जाते थे। परन्तु पीछेके लेखकोने सुन्दरताकी धुनमे इसका रूप ऐसा विलक्षण बना दिया कि उक्त वर्णोंका कहीं लेश भी बचने न पाया और एक विलक्षण हो रूप बन गया, जिससे कई लेखकोने इसको वर्णमालामे स्थान दिया, जैसे कि 'त्र' को अब दिया

जाता है। इसका पहला रूप क्षत्रप राजा सोडासके मथुराके लेखसे उद्धृत किया गया है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ है और तीसरा हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकोमे मिल जाता है। अन्य दो रूप तीसरेके ही भेद है।

ज्ञ—यह भी वर्ण नहीं किन्तु सयुक्त वर्ण है जो 'ज' और 'ञ' के मिलनेसे बना है। ऊपर 'त्र' के विषयमे जो लिखा गया है वह इसके लिए भी चरितार्थ होता है। इसका पहला रूप रुद्रदम्माके लेखमे मिलता है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है, अन्तिम दो रूप हस्त-लिखित पुस्तकोमे मिलते हैं।

व्यजनोके साथ जुडनेवाले स्वरचिह्नोकी उत्पत्ति कैसे हुई यह पृष्ठ ३६२ पर दिए चित्रसे स्पष्ट हो जायगा।

३

नागरी लिपिमें संशोधन

पिछले कुछ वर्षोंसे कुछ लोगो द्वारा नागर लिपिमे सशोधनकी चर्चा चलाई जा रही थी। इस कार्यमे उत्तर प्रदेशकी सरकार विशेष रूपसे अग्रसर हुई और उसने इस प्रश्नपर विचार करनेके लिये प्रायः सरकारी अधिकारियोका ही सम्मेलन सन् १९५२ के २८-२९ नवम्बरको लखनऊमे आमन्त्रित किया। इस देवनागरी-लिपि सुधार सम्मेलनने नागरी लिपिमे सशोधनके सम्बन्धमे जो प्रस्ताव स्वीकार किया उसका देवनागरी लिपिपर कैसा प्रभाव पडेगा तथा नागरी-लिपि कितनी भ्रष्ट हो जायगी, इसपर भी लिपि सम्बन्धी इस खडमे विचार कर लेना आवश्यक है।

उत्तर प्रदेश सरकारके मुख्य सचिवने सभी मुद्रणालयो और मुद्राकारोके व्यवस्थापकोके पास पत्र भेजकर उपर्युक्त सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव प्रेषित किया और उन्हे अपनानेका सुझाव दिया प्रस्ताव इस प्रकार है—

देवनागरी लिपि सुधार सम्मेलन, लखनऊ

(२८ व २६ नवम्बर, सन् १६५३ द्वारा) स्वीकृत प्रस्तावके अनुसार

(१) वर्तमान देवनागरी अक्षरोंके निम्नलिखित रूप कुछ राज्य सरकारोंने मान लिया है—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ

ए ऐ ओ औ अं अः क

ख ग घ ङ च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श

ष स ह क्ष ज्ञ ळ

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

(२) शिरोरेखाका प्रयोग प्रचलित रहे।

(३) (अ) ह्रस्व 'इ' की मात्रा को छोड़कर शेष मात्राओंके वर्तमान स्वरूप यथावत् रहे।

(ब) ह्रस्व 'इ' की मात्रा अक्षरके बाईं ओर न लिखकर दाहिनी ओर लिखी जाय।

(इ) ह्रस्व 'इ' की मात्रा वैसी ही होनी चाहिए जैसी दीर्घ 'इ' की है, अन्तर दोनोमे यह रहेगा कि ह्रस्व 'ि' की मात्रा ऊपरसे नीचे आती हुई शिरोरेखा पार करते ही समाप्त हो जायगी जैसे—

ि (की)

(४) क "फुलस्टाप" और कोलनको छोड़कर शेष विरामादि चिह्न वही ग्रहण कर लिए जाएँ जो अँगरेजीमे प्रचलित है —

- — , ; ! ?

ख. पूर्ण विरामके लिये खडी पाई (।) का प्रयोग किया जाय।

ग. जहाँतक संभव हो, टाइपराइटरके मुद्री-पटल (की बोर्ड) मे निम्नलिखित चिह्नोको सम्मिलित कर लिया जाय—

. / ` ^ % " " ( ) + × - * = †

(५) सयुक्ताक्षर दो प्रकारसे बनाए जायँ—(१) जहाँ सम्भव हो अक्षरके अन्तवाली खडी रेखाको हटाकर, या (२) सयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षरके अन्तमे हलन्त (्) लगाकर। क, फ और ह को यदि यदि किसी अक्षरके आरम्भमे सयुक्त करना हो तो इसके लिये, बिना हलन्तका प्रयोग किए, इस समय प्रचलित ढग ही काममे लाया जाय।

(६) अनुस्वार और अनुनासिकके दो रूपो (ं ँ) मेसे एक-को त्याग देनेका सुझाव स्वीकार न किया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि अकोके सम्बन्धमे परिवर्तनका जो प्रस्ताव है वह सविधानके उपबन्धोके अधीन होगा।

इस सुधारके अनुसार—

१. नागरीके **अ आ ओ औ अं अः** के बदले **अ आ ओ औ अं अः** का प्रयोग होगा।

२. नागरीके **झ ण क्ष** के बदले **झ ण क्ष** का प्रयोग होगा

३. प्रचलित **ख छ ध भ** के बदले नई बनावटके।

ख छ ध भ

का प्रयोग होगा।

अकोमे १ के बदले १ और ६ के बदले ९ का प्रयोग होगा। ह्रस्व इ की मात्रा 'ि' हटाकर उसके बदले अक्षरके दाहिनी ओर 'ि' मात्रा थोडी-सी लटककर लगेगी।

४. एक नया अक्षर वैदिक 'ळ' वर्णमालामे बढ़ा दिया गया।

५. **प्र, श्र, त्र** हटाकर उनके बदले **'प्र, श्र, त्र'** लिखा जायगा।

६. सयुक्ताक्षर लिखनेके ये नियम होगे—

(क) समस्त सन्ध्यक्षरोमे अन्तिम अक्षरके पूर्वके आधे अक्षर हलन्त करके लिखे जायँगे जैसे यदि **'अन्तर्द्वन्द्व'** लिखना हो तो लिखेंगे—**'अन्‌तर्‌द्‌वन्‌द्‌व'**

या

(ख) **क च ज** को ऊपर-नीचे (**क्क च्च ज्ज**) जोडनेके बदले आधा करके जोडा जायगा—जैसे **क्क, च्च, ज्ज, (पक्का कच्चा छज्जा)**

[ऐसा अब भी लिखा और छापा जाता है। पहले **'पक्का, कच्चा, छज्जा'** लिखा और छापा जाता था। इनके अतिरिक्त ल्ल, **न्न** सयुक्ताक्षर

भी नीचे-ऊपर मिलाकर लिखे जाते है और 'त्त' विशेष प्रकारसे मिलकर बनता ह । इनके सम्बन्धमे कुछ नहीं कहा गया ।]

(ग) ट ठ ड ढ द् को हलन्त करके ही जोडा जायगा जैसे **टट्टू , ठठ्ठा, ढढ्ढा, दद्दा ।**

(घ) यदि किसी व्यजनसे पहले ह जोडा जायगा तो वह 'ह्' हो जायगा जैसे 'ह्य' के बदले **'ह्य'** ।

(ङ) यदि किसी व्यजनस पहले **फ्** जुटेगा तो वह **'फ'** हो जायगा (**हफ्ता**) ।

७ अँगरेजीके फुलस्टौप **(.)** और कोलन (:) को छोड़कर शेष सभी अँगरेजीके विरामादि चिह्न ग्रहण किए जायँगे—

– —, , ! ?

समयकी आवश्यकता क्या थी ?

यह कहा गया है कि **'देवनागरी लिपिके प्रतिमानीकरण (स्टेन्डर्डाइजेशन)'** तथा **'समयकी आवश्यकताओंको देखते हुए आवश्यक सुधार'** किया गया है किन्तु न तो यही किसीने बताया कि प्रचलित देवनागरी लिपि क्यो ससिद्ध (स्टैडर्ड) नहीं है और न यही बताया कि समयकी कौन-सी **'आवश्यकताओं'** ने उसमे सुधारकी क्या समस्या ला खडी की ।

राष्ट्रिय दृष्टि

कहा गया है कि **'लिपिपर राष्ट्रिय दृष्टिसे विचार'** करके परिवर्त्तन किया गया है किन्तु यदि राष्ट्रिय दृष्टिका अर्थ यह भी हो कि 'राष्ट्रकी अन्य लिपियोमे जिस प्रकार मात्राएँ लगती है उसी प्रकार मात्राएँ लगाई जायँ और जिस रूपमे भारतकी अन्य लिपियोके अधिकाश अक्षर लिखे जाते हैं उसी रूपमे अक्षर लिखे जायँ', तब भी **'लिपि-सुधार-सम्मेलन'**के सुझाव सगत सिद्ध नहीं होते। उत्तर भारतकी शारदा, टाकरी, गुरुमुखी, कैथी, बँगला, मैथिली, मराठी और गुजराती लिपियोमे ह्रस्व 'इ' की मात्रा बाईं ओर ही लगती है ।

ि अ झ ण क्ष ख छ ध भ नागरी

शारदा

टाकरी

गुरुमुखी

कैथी

बँगला

मैथिली

गुजराती

मोड़ी

तेलुगु

कन्नड़ी

ग्रन्थ

मलयाली

तुलु

उड़िया

तमिल

ि अ झ ण क्ष ख छ ध भ {नवीन अक्षर

मात्राओके विकास क्रमको पीछेके अक्षर विकासके मानचित्रको देखें तो भी वह बाई ओर ही बढती आई है। अत. परम्पराकी दृष्टिसे भी वही ठीक है।

मात्राके प्रयोगके सम्बन्धमे हमारे यहाँ स्पष्ट सिद्धान्त था—

चतुर्दिग्योजनीया च मात्रा वर्णस्य सगतौ।
यस्माद्भ्रान्तिर्न भूयाच्च ह्रस्वदीर्घविवेचने॥

[मात्राएँ वर्णके चारो ओर नीचे, ऊपर, दाएँ, बाएँ जोडनी चाहिए जिससे ह्रस्व-दीर्घके वाचनमे कोई गडबडी न हो।] इसलिये भी बाई ओर की रीति क्यो छोडी जाय जब उधर लगानेसे उच्चारणकी शुद्धता बनी रह सकती है।

यो भी लिपिका सस्कार कलाकी दृष्टिसे हुआ है और गुप्तकालसे ही समरूपता, रेखाविन्यास और अनुपात सभी दृष्टियोसे अक्षरोके साथ मात्राओको भी सुन्दर बनानेका प्रयत्न होता आया है। नीचे उसका प्रयास देखिए—

हर्षकालीन

इसकी तुलनामे यदि हम **कीसी (किसी)** शब्दमे अपना 'ि' मात्रा देखे तो वह **'सी'** के आगे पूरी और **'की'** के आगे आधी लटकी हुई क्या किसी प्रकार भी कलासे मेल खाती है ?

इस हथटुटी 'ि' **से सबसे** बडी हानि तो यह हो रही है कि **ह्रस्व**-दीर्घका भेद मिट रहा है और बालक अशुद्ध लिखने और बोलने लगे है। वे **विद्याको वीद्या, मिल जाता है, को मील जाता है** लिखते पढते है क्योकि वे यही नहीं भेद कर पा रहे है कि यह लटकाव कितनी दूर तक हो।

आध्यात्मिक दृष्टिसे

वर्णनिघटुमे लिखा है कि प्रत्येक समात्रिक वर्ण साग दैवत होता है अर्थात् प्रत्येक वर्ण सब मात्राओके साथ पूर्ण देव-रूप बन जाता है—

समात्रिको सरेफश्च वर्णस्तत्सानुनासिक ।

सानुस्वारविसर्गो हि पूर्णदेवत्वमृच्छति ॥

[मात्रा, रफ, अनुनासिक, अनुस्वार और विसर्गको साथ लेकर वर्णका पूर्ण देवता रूप बन जाता है।] उसी प्रसगमे **'ह'** अक्षरके समात्रिक स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'ह'** अक्षर शिवका पर्याय **है**, **'र'** इच्छा (शिवकी शक्ति) का अर्थात् मूलाधार चक्रका। अतः **ह्र** बना। **ह्रस्व इ** और दीर्घ **ई** की मात्राके दोनो दड **'ह'** के भुजदड हैं। ये ही शिवकी सृष्टि-शक्तिके कारण माने जाते है। इन मात्राओके ऊपर उढाई हुई वर्तुल रेखा (सिर) ज्ञानशक्ति है। **ए** और **ऐ** की मात्राएँ क्रमशः नासिका और आँखे (प्राणायाम और ध्यान-शक्तियाँ) है। **ओ और औ** की दोनो मात्राऍ कान (श्रुति) है, अनासिकका चन्द्र ही द्वितीयाका चन्द्र है, बिन्दु ही गङ्गयुक्त जटा है, अनुस्वार ही मुख है और ॐ ध्वनि (नाद ब्रह्म ॐ) का प्रतीक है। दोनो **उ** की मात्राएँ (ु ू) पद्मासनमे बँधे हुए दोनो पैर

(आसन-शक्ति) है। इस प्रकार वर्ण दैवतकी यह पूरी मूर्त्ति बन जाती है। देखो चित्र १।
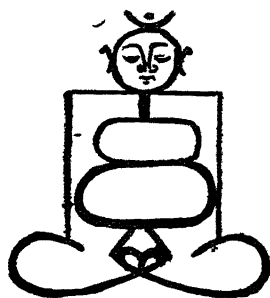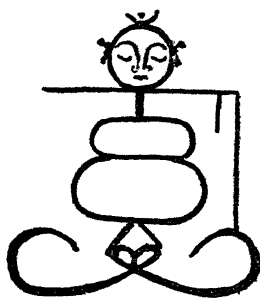
पूर्ण वर्णदैवत १ खडित वर्णदैवत २

चित्रकलाकी दृष्टिसे तो अननुपात, असमपक्ष, दुर्विन्यस्त मूर्त्ति विद्रूप होती ही है किन्तु धार्मिक दृष्टिसे भी खडित मूर्त्तिका पूजन और प्रयोग निषिद्ध है। किन्तु लिपि-कुठार सम्मेलनके बुतशिकनो (मूर्त्ति-भजको) ने वर्ण-दैवतकी मूर्त्ति ही भग कर डाली। उनके अनुसार अब इस वर्ण-विग्रहका दाहिना हाथ कटकर, आधा टूटकर बाई ओर ही लटक जायगा। कलाकी दृष्टिसे भी यह मूर्त्ति कितनी अभव्य बनेगी इसका प्रत्यक्ष परिचय पानेके लिये देखिए ऊपर चित्र २।

अ के सम्बन्धमे लिपि-शास्त्रके आचार्य महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझाने कहा है—'अ' का 'अ' (मराठीवाला) रूप बहुधा दक्षिणमे लिखा जाता है और सुन्दरता लानेका यत्न न करनेसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।

उपर्युक्त उद्धरणोमे दिए हुए अक्षरोकी बनावट देखनेसे ज्ञात होगा कि अ ण झ ध भ ख सिखना सरल है क्योकि कलमकी लाग इनपर ठीक बैठती है—

अ ण झ ध भ ख

किन्तु **ख भ ध** मे कलमकी लागसे **भ** तथा **ध**

की घुडियाँ और **ख** के नीचेकी टिकान तो बन ही नहीं सकती।

उनके लिये कलमका कोना घुमाना पडेगा जिसके प्रयासमे बालक अवश्य ही कलमकी नोक तोड डालेंगे।

ख छ ध भ

'**ख**' अक्षर मे कुछ लोगोको '**रव**' का भ्रम होता है जिससे '**खाना**' को '**रवाना**' पढा जा सकता है। किन्तु आजतक किसीने '**मै खाना खा रहा हूँ**' को '**मै रवाना रवा रहा हूँ**' नहीं पढा। अर्थ स्वयं इस प्रकारके दोषोंका निरन्तर विवेकपूर्ण निराकरण करना चलता है। पाठक स्वय अर्थका अनर्थ देखकर उसका सुधार करते चलते है। एक वाक्य लीजिए—

'खदेरू खाटपर खड़ा खोआ खा रहा है।'

इसे कौन मूर्ख पडेगा—

'रवदेरू रवाटपर रवड़ा रवोआ रवा रहा है।'

फिर वर्णमाला सीखते समय बालक **ख** अक्षर पहले सीखता है, **र** और **व** बहुत पीछे। अतः **ख** की पहचानमे उसे भ्रम हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त हमारी लिपि एक परम्परा-विशेषके अन्तर्भुक्त है जिसमे उसकी परम्पराका नाता जोडा जा सकता है। उदाहरणके लिये **ख** को ही ले लीजिए। क्रमसे इसका रूप यो बदलता गया।

ʔ ʎ ƃ ʚ = ख

ये रूप उस समयके हैं जब हमारी वर्णमाला रोमनके समान विश्लिष्ट अवस्थामें थी। इसे सश्लिष्टावस्थामें लानेका श्रेय सम्राट् हर्षवर्द्धनको है जिन्होंने सारी ब्राह्मी लिपिको कलात्मक बनाया। कलात्मक विकासके इस प्रयासमें शिरोरेखाके साथ सुन्दर, कलात्मक, सानुपात और सुघर बनते-बनते वर्तमान मुद्रित देवनागरीके स्वरूपतक पहुँचते पहुँचते वह पूर्णतः विकसित होकर वर्तमान ख बन गया। यदि 'ख' में 'र' और 'व' की मिलावटका भ्रम होनेकी सभावना ही हो तो इसका रूप बिना बिगाड़े हम इसके नीचे लटकनेवाली आडी और सीधी रेखाओंको जोडकर इस प्रकार लिख सकते है—

ख

इससे—१ 'र व' का भ्रम भी मिट जायगा, २ 'ख' का रूप अपनी परम्परामें भी बँधा रहेगा और ३ कलमकी लागसे ठीक लिखा भी जा सकेगा।

छ का नया रूप भी नागरीकी लिपि-प्रकृतिसे भिन्न है। नागरी लिपिमें जहाँ कहीं भी नीचे झुकनेवाली आडी रेखा समाप्त होती है वह सदा दो रूपसे आती है—१ ऊपरसे नीचेको ढलती हुई, जैसे इ त स र ह ज्ञ श में, २ हाथीकी सूँडके अग्रभागके समान घूमी हुई जैसे छ या ए के नीचेकी रेखा। किन्तु यह नये छ की बीचमें ही लुप्त हो जानेवाली प्रवृत्ति नागरी लिपिके प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त इ ङ ट ठ ड ढ द ह आदि जितने वर्तुल अक्षर हैं उन सबमें ऊपरकी शिरोरेखासे नीचे एक छोटी-सी खडी पाई लगती है जिसमे

ये आवर्त्त जोड दिए जाते है, सीधे शिरोरेखासे नहीं जोडे जाते। अतः यह नया पूँछकटा छ भी नागरीकी प्रकृतिसे भिन्न और असुन्दर है।

ध और **भ** भी शुद्ध रूपसे देवनागरीकी प्रकृतिसे भिन्न है।

यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे यहाँ पहले घुडी लगानेकी प्रथा नहीं थी। पृथ्वीसेन आदिके पाँचवींसे आठवीं शताब्दीतकके दानपत्रोंमें सब अक्षरोंके सिरे चौकोर करनेकी प्रवृत्ति थी और दसवीं शताब्दीमें चालुक्योंकी प्रवृत्ति सब अक्षरोंके सिरोंको तिकोना करके बाँधनेकी थी, जिसके कारण वे दोनों लिपियाँ क्रमशः चौकोर सिरेवाली (बौक्स हेडेड टाइप) और कील-जैसे सिरोंवाली (नेल हेडेड टाइप) कहलाती है। किन्तु यह प्रवृत्ति उनमें समान रूपसे सब अक्षरोंमें होती थी—

ऐसा नहीं था कि एक आध अक्षरमें घुडी-लगा दी, दो चारमें चौकोर बना दिया और पाँच सातको तिकोना बाँध दिया। अत

ध और **भ** मे घुडी लगानेकी विकृत प्रवृत्ति न तो कलाकी दृष्टिसे ठीक है, न परम्पराकी दृष्टिसे और न एकरूपताकी दृष्टिसे।

यदि धमे घका और भमे मका भ्रम होनेकी कल्पित संभावना है भी और यदि उसे दूर करना ही लिपि-सुधारकोंको अभीष्ट है तो वे नागरी लिपिकी प्रकृति, कलात्मकता और सौन्दर्य सबकी रक्षा करते हुए उन्हें ऊपरसे पर्याप्त खोलकर इस प्रकार लिख सकते है—ध

इससे ध भ स्पष्ट भी हो जायगे और परम्परामे बँधे रह सकेंगे।

झ ण

शिक्षण-सुविधाकी दृष्टिसे भ मे अंकुश लगाकर झ बनाना सरल है। उसका विकास क्रम और रचना भी झ की अपेक्षा सरल है।

ण की रचना भी ण की अपेक्षा सरल है क्योंकि र मे दो रेखा खींचनेसे ही इसका रूप बन जाता है। उसे भी यदि स्पष्ट करना हो तो ऐसा बना सकते है—

ण

ये दोनो रूप सरल और नागरीकी परम्परामे बँधे हुए है।

१ अंक भी १ की अपेक्षा अधिक सुन्दर और कलात्मक है।

जहाँ ९ अंककी बात है उसके लिये ९ अंकमे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ९ अंकमे ६ का भ्रम हो सकता है।

संयुक्ताक्षरकी विभीषिका

इस विकृत लिपिमे संयुक्ताक्षर बनानेकी प्रक्रिया सबसे अधिक भयंकर है। उनका प्रस्ताव है—

'संयुक्ताक्षर दो प्रकारसे बनाए जायँ—१ जहाँ संभव हो अक्षरके अंतवाली खडी रेखाको हटाकर, या २ संयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षरके अंतमे हलन्त लगाकर। क, फ और ह यदि किसी अक्षरके आरंभमे संयुक्त करने हो तो इसके लिये बिना हलंतका प्रयोग किए इस समय प्रचलित ढंग (क, फ, ह) ही काममे लाया जाय।'

इसका अर्थ यह है कि सयुक्ताक्षरके लिये उन्होने तीन सिद्धान्त माने हैं—१. कहीं तो अक्षरके अतवाली खडी रेखा हटाकर, २ कहीं अक्षरके अतमे हलन्त लगाकर, और ३ कहीं वर्त्तमान **क ह और फ** का रूप ज्योंका त्यों रखकर।

इस विधानके अनुसार 'इन्द्रप्रकाश' भी 'इन्द्रप्रकाश', इन्दरपूकाश हो जायगा। प्र, **त्र** और **श्र** भी प्र, त्र, श्र लिखे जानेपर **पू, तू, शू** ही पढे जायँगे।

सयुक्ताक्षरके सम्बन्ध हमारे यहाँ विधान था—

सयुक्तध्वनिवर्णो हि प्राक्स्पर्शाच्चैव ध्वन्यते।
धनुर्लिपिसम कश्चिन्नकुर्याद् योगछेदनम् ॥

[सयुक्त वर्णके पहले आनेवाली ध्वनि अगली ध्वनिसे मिलकर रहनेसे ही ठीक उच्चरित होती है। धनुर्लिपिके समान सयुक्ताक्षरोके मिले रूपको तोडना उचित नहीं है।]

व्यंजनाक्षरोंका संयोग

सयुक्ताक्षरमे पहले जुडी हुई व्यजन ध्वनियाँ चार प्रकारसे ध्वनित होती है—

१ व्यक्त ध्वनि. जैसे खड्गमे ड की ध्वनि।

२. स्पर्श ध्वनि: जैसे '**उन्होने, कुम्हार, कोल्हू**' के **न्ह, म्ह, ल्ह** मे आनेवाली **न् म् ल्** ध्वनियाँ।

३ लीन ध्वनि—जैसे '**गड्ढा, अद्धा, बग्घी, रक्खा, अच्छा**' मे **ड् द् ग् क्** और **च्** ध्वनियाँ, जो उच्चरित न होकर अपने आगे आनेवाली ध्वनियोमे पूर्णतः लीन हो जाती हैं।

४. आघात ध्वनि—जैसे '**अद्वैत**' और '**सुप्रकाश**' मे 'द्' और 'प्', जो वास्तवमे **अद् द्वैत** और **सुप् प्रकाश** बोले और पढे जाते है।

हलन्तका प्रयोग

इनमेसे केवल प्रथम अर्थात् जहाँ सयुक्ताक्षरकी पहली ध्वनि व्यक्त हो, वहाँ तो हल लगाना ठीक हो सकता है, किन्तु अन्य सब परिस्थितियोमे वह अत्यन्त अशुद्ध है। हल कोई मात्रा नहीं है। वह तो विकल्पमे स्वरहीन उच्चारणका सकेत है और वह भी वैयाकरणोके लिये। आरभिक छात्र तो इसका कुछ अर्थ लगा ही नहीं सकते, इसीलिये वे 'रामचन्द्र' को नई लिपिमें 'रामचन्द्र्' लिखकर 'रामचन्दर' ही पढ रहे है जिससे अत्यन्त वेगसे बच्चोका उच्चारण भ्रष्ट होता चला रहा है।

हलका प्रयोग उर्दूके जेर, जबर, पेशके समान स्वय बडा भ्रामक है, जैसे उर्दूमे धीरे-धीरे उनके प्रयोग मिट गए वैसे ही हल भी मिटकर गडबड घोटाला खडा कर देगा। हलका प्रयोग हमारे यहाँ विकल्पमे और विशिष्ट स्थानोमे किया जाता था। इसके लिये हमारे यहाँ स्पष्ट नियम था—

हलयोगः क्वचित्कार्यं शब्दसंयोगतस्त्वत ।
तद्वच्छब्दे तु शुद्धं स्यात्तद्धिते दुष्टयोजनम् ॥

[हलका प्रयोग कहीं-कहीं शब्दोके ठीक मेलको समझकर करना चाहिये जैसे '**तद्वत्**' शब्दको '**तद्‌वत्**' लिखना तो ठीक हो सकता है किन्तु '**तद्धित**' को '**तद्‌धित**' लिखना अत्यन्त दुष्ट अर्थात् अशुद्ध है क्योकि वह तो अलग होकर तद्‌हित हो जाता है।]

हम '**शरद्वान्**' को '**शरद्‌वान्**' लिखे तो ठीक है किन्तु 'अद्वैत'को 'अद्‌वैत' नहीं लिख सकते। हलका व्यापक प्रयोग होनेसे ऐसी अराजकता फैलेगी कि 'निर्देश' भी नीरदेश होकर 'नीरदेश' हो जायगा, इससे अर्थ समझना तो कठिन हो ही जायगा साथ ही उच्चारणमें भी ऐसी भयकर अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी कि '**राष्ट्रपति**' भी आगे चलकर '**राष्टरपती**' हो जायँगे

इन सन्ध्यक्षरोंमें भी जहाँ दो ही अक्षरोंकी सन्धि होती है वहाँ तो कुछ ठीक भी हो सकता है किन्तु जहाँ अधिक अक्षरोंकी (सन्धि) होगी वहाँ तो निश्चय ही पढना कठिन हो जायगा। पढिए ये क्या शब्द हैं—'शार्ङ्गरव' या **अन्तर्द्वन्द्व, कार्त्स्न्य।**

नागरीकी ध्वनि-प्रकृति

नागरीकी एक और भी विचित्र ध्वनि-प्रकृति है कि किसी भी शब्दका अन्तिम अकारान्त व्यंजन या समस्त पदके विभिन्न पदोंके अकारान्त व्यंजन हलन्तके समान उच्चरित होते हैं जैसे कमल = कमल्, सोमलता = साम्लता, मदभरा = मद्भरा, झटपट = झट्पट्। ऐसी स्थितिमें अतिशय हल प्रयोग तो और भी उपद्रव खडा कर देगा और व्युत्पत्ति अशुद्ध करने लगेंगे जैसे **'हरिद्रा'** को **'हरिद्‌रा'** लिखकर वे समझेंगे कि यह हरित् + रा से बना है।

रकार

र के सम्बन्धमें एक पुराना वचन ही है—

> **शीर्षे पादे तनौ तिष्ठन् रकारो रूपमृच्छति।**
> **अर्के मेढ्रे च विप्रे च त्रिरूपेण स्थितः सदा॥**

ळ अक्षर निरर्थक बढ़ाया गया है। नागरीमें उसका कोई प्रयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त ड, ढ, को नागरी वर्णमालामें नहीं गिना गया।

> **रेफो मूर्ध्निगतो शीर्षे तालुस्थो मध्यभावजः।**
> **पादौ वर्त्संस्थ भूमिस्थस्तद्वृत्तद्योजन मतम्॥**

[र अक्षर कुछ व्यंजनोंके सिरपर 'कुछके पैरोंतले और कुछके शरीरमें पैठकर तीन रूपोंमें रहता है, जैसे—'अर्क' में सिरपर, 'मेढ्र'में नीचे और 'विप्र'के बीचमें, क्योंकि मूर्धासे टकराकर बोला जानेवाला

र, वर्णके सिरपर चढता है, तालुसे टकरानेवाला बीचमे लगता है और वर्त्स (मसूडे) से बोला जानेवाला नीचे जोडा जाता है ।]

ब्रज, अवधी, मराठी आदि कुछ भाषाओमे र का एक और भी स्पर्श प्रयोग होता है—'अजौ तर्‍यौना ही रह्यौ ।' यह 'तर्‍यौना' यदि 'तर्‌यौना' लिखा जायगा तो अशुद्ध होकर 'तरयौना' हो जायाग । इसी प्रकार 'पर्‍योको' भी 'पर्‌यो' लिखना अशुद्ध होगा क्योकि हिन्दीकी ध्वनि-योजनाके अनुसार 'पर्यो' और 'पर्‌यौ'मे कोई अन्तर नहीं ।

अतः ये सुधारके नामपर चलाए हुए प्रयोग अशुद्ध और विनाशक है ।

टंकण-यंत्रकी दृष्टिसे

प्रारम्भमे जब लिपि-सुधारकी पुकार मचाई गई तब टकणयत्र (टाइपराइटर) की सुविधाका प्रश्न उठाया गया और कहा गया कि अक्षर कम हो, स्थान अधिक न घेरें । फलतः 'अ' की बारह खडीसे 'अ इ उ' को अर्द्धचन्द्र मिला । किन्तु हलके प्रयोगने तो समस्या घटानेके बदले बढा ही दी है । टाइपराइटरमे आधे अक्षरोके लिये तो पहलेसे ही व्यवस्था है । अब यदि सब हल लगाकर सध्यक्षर बनाने पडे गे तो उन्हे एक झटकेके बदले दो झटके लगाने पडे गे, जिसमे गति मन्द पड जायगी । वर्तमान नागरीका 'भ्र' बनाते समय 'भ' मे '्र' लगा देनेसे 'भ्र' बन जाता है । अब उसके लिये एक नया अक्षर 'भ्र' जोडना पडेगा ।

ळ अक्षर और १ अक बढ गया है। ६ अक भी जो ८ मे ै लगानेसे बन जाता था उसके लिये नया चिह्न ९ तथा ब्रुतसे विराम-चिह्न ले लिए गए हे। इन परिवर्द्धनोके कारण अक्षरोकी सख्या ११३ हो गई है। टाइपराइटरके दोनो सटकोमे ८८ से अधिक अक्षर नहीं आ सकते तब इन बढे हुए २५ चिह्नोकी क्या गति होगी? दूसरा प्रश्न यह है कि जब सुधारकोने र का हलन्त करके लिखनेका विधान किया तब मुद्री-पटलमें अार ॣ चिह्न क्यो लिए। 'ॆ' चिह्न तो 'ई' मे लगनेके लिये मान भी लिया जाय पर 'ॣ' की क्या आवश्यकता थी।

मुद्रणकी दृष्टिसे

मुद्रणकी दृष्टिसे भी ये नए सशोधन अत्यन्त अव्यवहार्य है क्योकि इनमे तीन दोष है—१ सयुक्ताक्षर अधिक स्थान घेरेंगे। २ हल लगाकर अक्षर बैठानेमें समय अधिक लगेगा और वह टूट जायगा। ३ नये अक्षर नागरीकी प्रकृतिसे अलग होनेके कारण असुन्दर लगेंगे। एक उदाहरण लीजिए—

'अन्तर्द्वन्द्व' शब्द नई प्रणालीसे यो लिखा जायगा—'अन्‌तर्‌द्‌वन्‌द्‌व' या अधिकसे अधिक अन्तर्‌द्‌वन्द्‌व।'

इन दोनो रूपोको देखनेसे ही मुद्रणकी असुविधा स्पष्ट हो जाती है। मुद्रण-कला, अक्षर समरूपता तथा अनुपातकी दृष्टिसे ह्रस्व इ की मात्रा 'ि' स्वतः असगत प्रतीत होती है। जहाँ अन्य सब मात्राएँ अक्षरके नीचे तक पहुँचती है वहाँ यह बीचमे त्रिशकुके समान लटकी हुई अत्यन्त अशोभन प्रतीत होती है। नये ख छ ध भ भी अपनी विचित्र बनावटके कारण नागरी अक्षरोके मेलमे नहीं बैठते। 'शिक्षा

वोभाग उत्तर प्रदेश' द्वारा प्रकाशित 'वेसीक रीडर' का एक पाठ लीजिए—

वींदुया की गाय

(बीना पाई वाले अक्षरों का मेल)

क+ख=क्ख   ह+म=ह्म   फ+त=फ्त

यह गाय है। यह वींदुया की गाय है। वींदुया ब्राह्मण की लडकी है। वींदुया अपनी गाय को वहुत प्यार करती है।

वींदुया की गाय के दो सींग हैं। इसके चार थन हैं। यह दूध देती है। वींदुया की मा दूध से मक्खन नींकालती है। दूध से दही बनता है। दही बींलोकर घी नींकाला जाता है।

वींदुया की गाय बछडे देती है। ये बछड़े ही बड़े होकर बैल बन जाते हैं। ये बैल ही बैलगाडी खींचते हैं। इन्ही से खेत जोते जाते हैं।

गाय से हमे गोबर मुफ्त मींल जाता है। गोबर की खाद बनती है। गाय से हमें बहुत लाभ हैं। हमे गाय की अच्छी तरह सेवा करनी चाहींये।

उपर्युक्त उद्धरणमे नए अक्षर कितने असंगत प्रतीत होते हैं।

परिवर्त्तनसे अधिक स्थान घिरेगा जिसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपर प्रतिदिन कई लाख रुपयेका अनावश्यक व्यय भी बढ़ जायगा और पुस्तक मोल लेनेवालोपर अनावश्यक भार पड़ेगा। इस प्रकारका अनर्थकारी (अन-इकोनौमिकल) प्रस्ताव उपस्थित करनेवाले लोगोको राष्ट्रका शत्रु समझना चाहिए, मित्र नहीं। कहाँ तो माना जाता था कि 'एकमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवम्मन्यते वैय्याकरणः' [एक मात्रा कम करके लिखा जा सके तो वैयाकरण लोग पुत्रोत्सव समझते हैं।] कहाँ 'अतिमात्राप्रसारेण परिणवोत्सवम्मन्यन्ते लिपि-सुधारक' [लिपिमे

अत्यन्त प्रसार करके लिपि-सुधारकोंको ऐसा हर्ष हो रहा है मानो उनका विवाह हो रहा है।]

वर्ण-संस्कार-प्रदीपिकामें सन्ध्यक्षरको एक रूपमें प्रस्तुत करनेका कारण स्पष्ट लिखा है—

यथैकमात्रालोपेन हृष्टो भवति शब्दवित् ।
तथैवाक्षरसंयोगात्तुष्टो भवति लेखकः ॥

[जैसे एक मात्रा कम हो जानेसे वैयाकरण प्रसन्न होता है उसी प्रकार अक्षरोंको मिलाकर लिखनेसे लेखक संतुष्ट हो जाता है।]

अतः मुद्रणकी दृष्टिसे भी ये सुधार असुविधाजनक हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिसे

कुछ लोग कहते हैं कि ये परिवर्त्तन वैज्ञानिक दृष्टिसे किए गए हैं। वे संभवतः रोमन लिपिको वैज्ञानिक मानते हैं क्योंकि उसमें व्यञ्जनके पश्चात् ही सभी स्वर लगते हैं। किन्तु यह उसकी वैज्ञानिकता नहीं, बड़ा भारी दोष है। हमारे यहाँ तो स्वरसे युक्त होकर ही व्यंजन पूर्ण होता है। अतः उस पूर्णको खंड कर देना कहाँतक युक्तिसंगत है? यों भी रोमन शब्दोंके अन्तिम व्यंजनमें प्रायः स्वर लगता ही नहीं—'रोमन' (Roman) शब्दको ही ले लीजिए। अन्य भी उसके जितने व्यंजनांत शब्द हैं उनमें कहीं भी वे स्वर नहीं लगाते। अतः वे तो स्वयं अवैज्ञानिक हैं कि वे कहीं तो स्वर लगाते हैं, कहीं नहीं लगाते। यदि यह सिद्धान्त मानकर चला भी जाय तो हमें प्रत्येक व्यंजनमें 'अ' की मात्रा भी लगाते हुए **महामना मदनमोहन मालवीय** नामको रोमनके क्रमानुसार (Mahamana Madana Mohana Malaviya) 'म्‌अह्‌अम्‌अन्‌अ म्‌अद्‌अन्‌अ मोह्‌अन्‌अ माल्‌अवीय्‌अ' लिखना चाहिए। फिर यदि आगे मात्रा लगाना ही वैज्ञानिकता है तो उ ऊ ए ऐ की मात्राएँ (ु ू े ै) भी क्यों नहीं लगा दी गईं। किन्तु कठिनाई संभवतः यह हो गई कि द और रका संयोग करनेके लिये उनके नीचे हल्

लगाना स्वीकार कर लेनेपर यदि '**द्विवचन**' लिखना होगा तो लिखा जायगा 'द्विवचन' जो आगे चलकर 'दवी-वचन' हो जायगा। ऐसी स्थितिमे उनके सम्मुख स्वभावतः यह कठिनाई उपस्थित हुई होगी कि ह्रस्व 'इ' की मात्रा बाईं ओर लगानेके नियमानुसार **द्व** अक्षर 'इ' की मात्रा **द्** से पहले लगाई जाय या '**व**' से पहले। जब कोई उपाय न सूझा तो उन्होने यही निर्णय किया कि चलो इसे आगे पूँछ काटकर लटका दिया जाय।

वैज्ञानिक लिपि

लिपिशास्त्रियोने वैज्ञानिक लिपिमे निम्नलिखित गुण बताए है—

१. लिपि कलात्मक हो, देखनेमे सुन्दर हो, उससे आँखोको कष्ट न हो, सुख मिले, अर्थात् अक्षरोके रूप, उनके अगोका अनुपात और उनकी रेखाओका पतलापन या मोटापन यथाक्रम हो।

२ जिस भाषाके लिये उस लिपिका प्रयोग हो उसकी सब भाषा-प्रयुक्त ध्वनियोके प्रतीक उसमे आ जायँ।

३. जो लिखा जाय, वही पढा भी जाय।

४ एक ध्वनिके लिये निरन्तर एक चिह्न हो। फारसीके समान यह न हो कि केवल **स** ध्वनिके लिये कहीं 'सीन', कहीं 'स्वाद', कहीं 'से' नामके तीन-तीन अक्षर लेकर 'सरगम' शब्दमे 'सीन', 'सन्दूक' शब्दमे 'स्वाद' और 'असर' शब्दमे 'से' का प्रयोग हो।

५. एक चिह्नसे एक ही ध्वनिका बोध हो। ऐसा न हो कि अँगरेजीके समान एक **ए** (A) **से 'अ, आ, ए, ऐ, औ'** सबका काम ले लिया जाय।

६. लिखते समय प्रत्येक शब्दक अक्षर मिलकर एक पूर्ण शब्द-रूप धारण कर लें, अँगरेज़ीके समान केवल अक्षरोके समूह मात्र न बने रह जायँ। शिरोरेखाके कारण मिलकर '**परमेश्वर**' एक पूर्ण शब्द-रूप बन जाता है। इसे अलग-अलग 'प र मेश् व र' या 'प् अ र् अ म् ए श् व अ र् अ' (Parameshwara) न लिखा जाय।

७. इतनी तीव्र गतिसे लिखा जा सके कि वह शुद्ध पढा जा सके।

८. अक्षरोके लिखित और मुद्रित रूपोमे भ्रम न हो जैसे 'त्र' मे 'तू' का, 'श्र' मे 'शू' का और 'प्र' मे 'पू' का भ्रम हो गया है।

उपर्युक्त कसौटीपर कसकर देखनेसे प्रकट हो जायगा कि नागरी लिपि जितनी निर्दोष, सर्वगुण-सम्पन्न और वैज्ञानिक है उतनी ससारकी कोई लिपि नहीं है।

ध्वनि-प्रतीकोंकी पूर्णता

नागरी लिपिमे नागरी भाषाकी ध्वनियाँ ही नहीं वरन् सारे सभ्य संसारकी ध्वनियाँ स्पष्टतापूर्वक अकित की जा सकती हैं। रोमन लिपि यह काम कभी नहीं कर सकती। ऋ, ङ, ञ, ण, त, थ, द, ध, ष, ज्ञ, क्ष, ढ, ड, ळ आदि ध्वनियो के स्पष्टीकरणका कोई उपाय रोमन लिपिमे नहीं है।

लेखनमे तीव्रगति

रोमन लिपिके पक्षमे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वह उर्दूके समान बहुत शीघ्रतासे लिखी जा सकती है। किन्तु यह तर्क भी निःसार है। शीघ्रतासे लिखा जाना ही किसी लिपिका गुण नहीं हो सकता। लिपिकी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह गतिसे लिखी जानेके साथ-साथ शुद्ध पढ़ी भी जाय।

जो लिखो वही पढ़ो

ध्वनिपूर्णताके सम्बन्धमे हम फारसी लिपिकी अक्षमता दिखा चुके हैं। अब रोमनकी दुर्बलता देखिए। मान लीजिए हमे **'असर'** लिखना है। रोमनमे इसे लिखेंगे—'Asar' जिसे हम **'असर, आसार, आसर, असार'** सब कुछ पढ़ सकते है। **'असर'** (प्रभाव) और **'आसार'** (लक्षण) में भूत-भविष्यका भेद है। **'आसर'** और **असार'**मे एक पूरबको जाता है तो दूसरा पच्छिमको। किन्तु देवनागरी

लिपिकी सबसे बडी विशेषता यही है कि उसमे जो लिखा जाता है वही पढा भी जाता है और नागरीकी सम्पूर्ण ध्वनियोके प्रतीक उसमे आ भी गए हैं ।

ध्वनि और प्रतीककी एकता

नागरीमे एक ध्वनिके लिये एक ही चिह्नका प्रयोग होता है तथा एक चिह्नसे एक ही ध्वनिका बोध होता है। अतः इस दृष्टिसे भी नागरीसे कोई लिपि स्पर्द्धा नहीं कर सकती।

नागरी लिपिमें अक्षर अलग-अलग भी रहते हैं और शिरोरेखाके कारण शब्दमे एकरूपता भी आ जाती है। यदि शिरोरेखा न लगाई जाती तो अलग अक्षर रहनेसे उन्हे पढनेमे आँखोको बडा परिश्रम करना पडता है। शब्दकी एकरूपता रहनेसे केवल आदि और अन्तके अक्षरो पर दृष्टि पडते ही पूरे शब्दकी प्रतीति हा जाती हे। यदि भिन्न-भिन्न रङ्गोकी पचास चिडिएँ अलग-अलग बैठी हो तो एकाएक उनकी सख्या और रङ्गका अनुमान करना कठिन हो जायगा, परन्तु यदि पचास हाथ लम्बा और रग-बिरगा अजगर आ जाय तो वह तुरन्त आँखकी पकड़मे आ जायगा। इसका कारण यह है कि आँखको जितने कम रूप देखने पडते है उतना ही कम उसे कष्ट होता है। अक्षर मिलाकर लिखनेसे वे आँखोको सुन्दर लगते हैं। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि अक्षरका भला-बुरा लगना अभ्यासपर निर्भर है। परन्तु रोमनके लिखित और टाइपवाले अक्षरोके तुलनात्मक मननसे यह आपत्ति मिट जायगी। रोमन टाइपमे प्रत्येक अक्षरका रूप अलग-अलग रहता है और आँखोमे भालेके समान चुभता है। यह दूसरी बात है कि सतत अभ्यासके कारण हम इसका अनुभव न करें किन्तु हमारे युवकोकी आँखोपर पड़े हुए चश्मे इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसी दोषके कारण वे लिखते समय उन अक्षरोको मिलाकर शाब्दिक एकरूपता लानेकी चेष्टा करते हैं।

शब्दकी एकरूपता

सबसे बडी कठिनाई तो व्यावहारिक है। चाहे हम कोई भी नई लिपि चलावें या उसमे सुधार करे किन्तु आजतकके छपे हुए साहित्यको हम फेंक नहीं देंगे। इसके अतिरिक्त जितने विवेकशील तथा बुद्धिमान विद्वान है वे सरकारके कहने मात्रसे कोई अशुद्ध प्रणाली ग्रहण नहीं करेंगे। अतः उनके ग्रन्थ लोगोको पढने पढेगे ही। दक्षिण भारतके कुछ क्षेत्रोमे 'अ' की बारह खडीमेसे **इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ,** निकालकर उनके बदले **अि, अी, अु, अू, अे, अै** का प्रचलन किया गया और **क्ष** के बदले **क्ष** चलाया गया किन्तु उन्हे भी झख मारकर अपने नये अक्षरोके साथ-साथ देवनागरीके अक्षर सीखने ही पडते है। अतः, पढनेवालोकी समस्या घटानेके बदले ये सब सुधार उनकी समस्या बढा रहे है और उनके सिरपर अनेक नये अक्षर सीखनेका भार लाद रहे हैं। भारतके विभिन्न प्रदेशोमे और भारतके बाहर अन्य देशो मे जहॉ नागरी लिपि चल रही है वे तो पहली लिपि चलाते ही रहेगे। अतः, वहॉके पढे लिखे लोग जब इस नई सुधरी (?) हुई लिपिके प्रदेशमे आवेंगे तब क्या पहली लिपिमें उनका लिखा हुआ अशुद्ध मान लिया जायगा ? जो लोग अपने बच्चो को घरपर वर्णमाला पढाकर भेजेंगे, उनके बच्चो के लिये भी यही कठिनाई उत्पन्न हो जायगी कि वे पिताको प्रमाण मानें या अध्यापकको। इससे देशमे भाषा-विषयक बडी भारी अराजकता उत्पन्न हो जायगी। अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह परिवर्तन ठीक नहीं है।

चाहिए तो यह था कि नागरी लिपिको सुन्दर बनानेका प्रयास किया जाता, उसके अक्षर-विन्यासका अनुपात ठीक किया जाता, **एक्का, ओसारा** आदि शब्दोमे आनेवाले ह्रस्व **ए** और **ओ** के लिये कुछ व्यवस्था होती, जैसे अल्प र् के लिये पर्‍यौ आदि शब्दो मे लगानेके लिये —— चिह्न लिया गया वैसे '**तुम्हारा, उन्होंने, कोल्हू**' आदि

शब्दों मे आनेवाले 'म्ह न्ह ल्ह' के लिये कोई अल्प स्पर्श-चिन्ह बनता पर यह सब कुछ न हुआ। बनी बनाई खीरमे चीनीके बदले नमक छोडकर सब गुडगोबर कर दिया गया। अब यह किस भलेमानुसके गले उतरेगी।

परिणाम

अतः ये तथाकथित सुधार—

१. परम्परासे बाहर है।
२ नागरी अक्षरो की प्रकृतिसे भिन्न है।
३ टकणकी दृष्टिसे अत्यन्त अव्यवहार्य है।
४. असुदर तथा कलाहीन हैं।
५. अधिक स्थान घेरते हैं, अतः अनार्थिक है।
६ मुद्रणमे असुविधा उत्पन्न करते हैं।
७ उच्चारण भ्रष्ट करनेवाले हैं।
८ व्यावहारिक दृष्टिसे असगत हैं।
९. अवैज्ञानिक है।
१०. अनावश्यक हैं।
११. अराष्ट्रिय हैं।
१२ शिक्षणमें असुविधा उत्पन्न करते हैं

इसलिये ऐसे घातक प्रयाग तत्काल बन्द करने चाहिए।

———

पंचम खंड

साहित्य-शास्त्र

१

कला और साहित्य

वात्स्यायनने कामसूत्रमे चौसठ कलाओकी जो सूची दी है उनमेसे कुछ तो नेत्रको आनन्द देनेवाली है जैसे चित्र और मूर्ति, कुछ कानको जैसे सङ्गीत, कुछ रसनाको जैसे मधुर व्यजन, कुछ त्वचाको जैसे कोमल, चिकने, शीतल पुष्पोकी रचना और कुछ नासिकाको तृप्त करनेवाली हैं जैसे सुगन्धित वस्तुएँ। किन्तु शेष ऐसी है जो हमारे मनको प्रसन्न करनेवाली या हमारे दैनिक व्यवहारमे कुशलता, प्रवीणता तथा योग्यता दिलानेवाली है। इस दृष्टिसे यदि हम कलाकी परिभाषा करें तो कहेगे—'कर्मेन्द्रियोका वह कौशलपूर्ण नियोजन कला कहलाता है जो ज्ञानेन्द्रियोको तृप्त करता हुआ मनको प्रसन्न और तुष्ट करता है।' इन सब प्रकारकी कलाओमे भी साहित्य या काव्य ही ऐसी कला है जो किसी एक इन्द्रियको तृप्त न करके हमारे मनको तुष्ट करती है, उदात्त तथा नैतिक आदर्शोके द्वारा आत्माको ऊँचा उठाती है, विवेककी स्थापनाके द्वारा बुद्धिका परिष्कार करती है, सूक्तियोके सयोजनसे वाणीका सस्कार करती है और घटनाओके नियोजनसे व्यावहारिक ज्ञान सिखाती है।

किन्तु कलाका उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकता है जब उस वस्तुमे

सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुततामेसे किसी एक या अनेक गुणतत्त्वोका सम्मिश्रण हो।

कलाका कार्य

कला पाँच कार्य करती है—

१. सजावट या अलङ्करण : अर्थात् किसी एक वस्तुमे इस प्रकारकी क्रिया करती है कि वह पहलेकी अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होने लगे।

२. मिश्रण . कई रङ्गो, वस्तुओ या रूपाकारो (पैटर्न) को इस प्रकार मिलाकर उपस्थित करती है कि उनके सम्मिश्रणसे कुछ नया, निराला सुन्दर रूप उपस्थित हो जाय।

३. क्रम-सज्जा : बिखरी पडी अनेक वस्तुओको ऐसे क्रमसे सजा देती है कि वे अधिक सुन्दर प्रतीत होने लगे।

४. अनुकरण : किसीकी क्रिया, वाणी और रूप आदिको ज्योका त्यो दिखला कर उसमे सरसता उत्पन्न करती है।

५ कल्पनाभिव्यक्ति : देखी या सुनी अथवा कल्पनामे आई हुई वस्तु, क्रिया या भावको आकर्षक ढङ्गसे व्यक्त कर देती है।

इनमेसे वाणीके द्वारा जो कला अलकरण, मिश्रण, क्रम सख्या, अनुकरण और कल्पनाभिव्यक्ति करती है वही साहित्य बन जाती है।

क्या साहित्य भी कला है ?

कविता तो एक मतसे कला मान ली गई है, किन्तु साहित्य तो मानवीय भावनाओं और अनुभवोका वह विस्तृत अभिव्यक्ति क्षेत्र है जिसकी परिभाषा यह दी गई कि 'हृद्य भाषा शैलीमे अभिव्यक्त अनुभूति ही साहित्य है।' अतः इसके अन्तर्गत कविताके अतिरिक्त भाषात्मक अभिव्यक्तिके वे सब रूप समा जाते है जो कवितासे भिन्न या उसके विरोधी हैं।

साहित्य और कवितामें अन्तर

भारतीय साहित्याचार्योंने गद्य और पद्य दोनोमे की हुई रचनाको काव्य कहा है। उपर्यङ्कित दृष्टिसे विचार करनेपर भी यह प्रतीत होगा कि कविता अर्थात् छन्दोबद्ध साहित्य और अ-कविता-शील साहित्यमे कोई मोटा भेद नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिसे उपन्यास भी अ-कविताशील साहित्यमे आता है किन्तु अपने तत्त्व, प्रभाव, विन्यास तथा ग्रन्थकी दृष्टिसे वह भी कविनाके पदपर ही पहुँच जाता है। इसीलिये कभी-कभी यह कहा जाता है कि 'साहित्यिक रूपकी दृष्टिसे उपन्यासकी प्रकृति भी काव्यमय ही होनी चाहिए।' हमारे यहाँ तो पहले ही गद्य और पद्यमे रचे हुए सम्पूर्ण रसमय वाङ्मयको काव्य ही कहा है और गद्यको भी वृत्तानुगवी (पद्यकी लयपर चलनेवाला) बताया है। इस दृष्टिसे 'साहित्य वास्तवमे किसी एक जातिके कल्पनात्मक और बौद्धिक जीवन-क्रमका वह परिचय है जो कलात्मक भाषाके माध्यमसे अभिव्यक्त किया जाता है और जिसके विस्तृत साम्राज्यका एक छोटासा अश कविता भी है, जो सूक्ष्म रूपमे साहित्यके सम्पूर्ण क्षेत्रमे व्यापक ही रहती है।'

सङ्गीत और साहित्य

हमारे यहाँ कहा गया है कि—साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुःपुच्छविषाणहीनः [साहित्य और सङ्गीत जिसे नहीं आता है, वह बिना पूँछ और सींगका पशु है]। साहित्य और सङ्गीत दोनो श्रव्य शास्त्र है अर्थात् इनका कानपर प्रभाव पडता है। ये दोनो चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला आदि उन दृश्य कलाओसे भिन्न हैं जो नभ (स्पेस) पर विकसित होती हैं। साहित्य और सङ्गीत तो काल या समयमें विकसित होते है। सङ्गीत और साहित्यमे यह समता रहते हुए भी उनमे भेद यह है कि सङ्गीतकी ध्वनियाँ तो स्वत अपनेमे पूर्ण होती है किन्तु साहित्यमे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोका अर्थ भी होता है। प्रायः प्राचीन कवियोने साहित्य और सङ्गीतका मधुर समन्वय

करते हुए यह निर्देश भी दे दिया है कि 'कान-सा गीत किस रागमें किस लयमें, किस समय गाना चाहिए।' जितना गीतात्मक सङ्गीत होता है उसमें साहित्य और सगीतका इसी प्रकार सम्मिलन होता है।' इन दोनो कलाओंने एक दूसरेपर बहुत प्रभाव डाला।

साहित्य और समाज

हिरोदोतससे लेकर पीछे-तकके पश्चिमी ससारके इतिहासकारोंने यह स्वीकार किया है कि 'मानव व्यवहारपर सामाजिक सस्थाओ का बडा प्रभाव पडता है।

सामाजिक कारणो से कलाकृतियो में कुछ दोप भी आ जाते है, जो लेखक और जनताके विचारो मे मतभेद होने, जनताके सकुचित विचारवाली होने तथा समाजकी अत्याचार पूर्ण रूढियोके कारण आ जाते है। इससे हम परिणाम निकाल सकते है कि समाज जितना ही स्वस्थ होगा उतना ही साहित्य भी स्वस्थ उत्पन्न हो सकती है।' क्योकि हमारी परिभापाके अनुसार व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति ही कला है।

२

साहित्यकी प्रेरणा-शक्तियाँ

सब कलाओमे सर्वश्रेष्ठ साहित्य ही इसलिये है कि अन्य कलाओंके कलाकार अधिकाश या तो प्राचीन रूढ शैलियोका अनुकरण करते है अथवा किसी अन्य व्यक्तिके निर्देशपर किसी कलाकृतिकी रचना करते है। इन दोनो अवस्थाओंमे वे निरन्तर अभ्यासके कारण अपनी सधी हुई उँगलीसे अथवा अपने सधे हुए कठसे किसी भी समय जैसा चाहे वैसा चित्र या मूर्ति बना सकते है या गीत गा सकते हैं। उन कलाकारोके लिये उनकी उँगलियाँ और उनके कण्ठ सदा सन्नद्ध रहते है। किन्तु काव्यकी रचनाके लिये केवल बाह्य इन्द्रियोका संस्कार

पर्याप्त नहीं है। भाषा, छन्द और शब्द-कोषपर अधिकार प्राप्त करनेसे ही कोई कवि नही हो जाता है। उसके लिये एक ऐसी प्रेरणा-शक्ति, वृत्ति और प्रवृत्ति आवश्यक है जो उसे अङ्कुश दे-देकर उत्तेजना प्रदान करती रहे। यह प्रेरणा-शक्ति एक है या अनेक, सात्त्विक है या बाह्य, इस विषयपर विश्व साहित्यमे बडा शास्त्रार्थ हुआ है।

प्रेरणा-शक्ति (एलॉ वाइताल)

सन १९०० से १९१४ तक फ्रासीसी साहित्यिक मण्डलके सर्वमान्य नेता तथा प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी बर्गसन (१८५९ से १९४१) ने यह मत प्रतिपादित किया था कि 'स्वय ससारमे ही एक ऐसी प्रेरणा-शक्ति है जो कविकी कारयित्री प्रतिभाके समान है, जिसे हम केवल स्वान्त - प्रेरणा (इन्ट्यूशन) से ही समझ सकते है और जो कविको काव्य-रचनाके लिये उत्साहित करती है।'

साहित्य क्या है?

यद्यपि हमारी परिभाषाके अनुसार 'हृद्य भाषा-शैलीमे की हुई अभिव्यक्ति ही साहित्य है', तथापि किसी वैज्ञानिक परिभाषाके समान साहित्य शब्दकी विवरणात्मक परिभाषा नही दी जा सकती। ज़ेनोफनेस् और हिरेक्लितसने जो यह कहा कि 'दर्शनमे सत्य और ज्ञान है तथा साहित्यमे जनमतका सघर्ष है' इसका तात्पर्य यही था कि 'साहित्य और दर्शन दोनो एक दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी हैं।' यह मत अरस्तू और अफलातूनके समयमे ही इतना पुराना पड़ चुका था कि उन्होने मौलिक रचनाका विरोध करते हुए कहा था कि 'साहित्यिक कलाकारको केवल अनुकरण करना चाहिए।' होरेसका मत था कि 'साहित्यका उद्देश्य व्यवहार सिखाना, ज्ञान देना और शिक्षा देना है। कविका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह आनन्दप्रद और उपादेय तत्त्वोका उचित सम्मिश्रण करे।' प्लूटार्कका भी यही मत था कि 'काव्यका उद्देश्य शिक्षा देना है और पाठकका भी यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह साहित्यमेसे अच्छे

गुण ग्रहण कर ले और उसमे आई हुई समस्त बुरी बातें छोड दे।
लौगिनसका मत है कि 'साहित्य (मुख्यतः भाषण-कला) तो ऐसे
श्रेष्ठात्माओके श्रेष्ठ विचारोकी अभिव्यक्ति है जो हमारे मस्तिष्कको
महत्ताकी ओर प्रवृत्त करती है और जो हमे देवताओ तथा वीरोके
सम्बन्धमे उद्वृत्त (सब्लाइम) विचार प्रदान करती है।' अरस्तूके
मतका एक पक्ष यह भी है कि साहित्यमे प्रकृतिका अनुकरण होना
चाहिए' अर्थात् उसमे वस्तुओकी वास्तविकता दिखानी चाहिए।
किन्तु इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा गया कि 'अनुकरणमे जो बात
व्यक्त की जाय वह सत्यसे अधिकाधिक मिलती-जुलती होनी चाहिए।'
सिडनी आदि भी यही मानते थे कि 'काव्य जीवनके अनुकूल ही
होना चाहिए।' कल्पनाके सयागसे काव्य-गुणके संवर्द्धनका सुझाव देते
हुए अपोलोनियसने कहा है—'कल्पना ही ऐसी शक्ति है जिसके सहारे
हम अदृष्ट वस्तुको भी प्रत्यक्ष तत्त्वके समान देख सकते है।' सिसरोका
मत है कि 'कविके मस्तिष्कमे काव्य लिखनेसे पहले अपने इष्ट नेताका
मूर्त रूप आ ही जाता है। दियोक्रुसोस्तमका मत है कि 'आदर्श
प्रतिकृति तबतक स्पष्ट नहीं होती, जबतक कलाकार ही उसे रूप देकर
पूर्ण न कर दे।' इस दृष्टिसे योरोपमे अनुकरण और कल्पना ही
साहित्य-कलाके वास्तविक आधार माने गए है।

देकार्तें, हौब्स और बीचोने कल्पनाको ऐसी शक्ति माना है जो
स्वय अपनेमे पूर्ण है और आध्यात्मिक दृष्टिसे शुद्ध है। उनका कहना
है कि 'कविताको किन्हीं श्रेणियोमे विभक्त नहीं करना चाहिए।
कविताको तो उसी प्रकारकी प्रेरणा माननी चाहिए जैसा स्वय-स्फुरण
(इन्स्पिरेशन) होता है।' हौब्सने इस कविताको कुछ और व्यापक
करके सम्बद्ध विचारोके क्षेत्रमे स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए कहा है कि
'कल्पना वह उदार क्षेत्र है जिसमे एक कवि कविताको साधारण श्रेणीकी
रूढियोसे परे पहुँचा देता है।' ब्यालोका मत है कि 'सहसा उत्पन्न
होनेवाली कल्पना तभीतक उन नियमोके द्वारा सञ्चालित होनी चाहिए

जबतक कोई साहित्यिक कृति एक निश्चित बौद्धिक क्रममे उपस्थित न हो जाय।'

इसी मतके कारण स्वाभाविक प्रतिभा और रूढिगत कलाका विवाद छिड गया। स्पेन्सरसे लेकर आगे तकके सब लेखकोने इन तुलनात्मक सिद्धान्तोकी विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। पोपने कहा है कि—'साहित्य-कला तो मानव-प्रकृतिका अनुकरणमात्र है' अर्थात् 'किसी एक विशेष समयके समाज और जीवनके सार्वभौम और बुद्धिसगत तत्त्वको ही साहित्य-कला मानना चाहिए।' कान्टका मत है कि—'कल्पना वह ज्ञान-शक्ति है जो इस प्रकार रचना करती है मानो वास्तविक प्रकृति-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीमेसे उत्पन्न हुई दूसरी प्रकृति हो। हमारे ज्ञानकी विभिन्न शक्तियाँ जब किसी वस्तु या पदार्थको समझनेके लिये प्रयुक्त की जाती है तब वे उस वस्तु या पदार्थको भलीभाँति समझनेके गम्भीर कार्यकी स्पर्धा करनेके लिये कल्पनाको स्वतन्त्र छोड़ देती है जो इतनी पूर्ण होती है कि स्वय प्रकृतिमे भी उसके समान कोई वस्तु नहीं रहती।' इससे ठीक विपरीत दिशामे विचार करते हुए शिलरने कहा है कि 'कल्पनाका उच्चतम उद्देश्य यह है कि वह इन्द्रियातीत वास्तविकताको इस प्रकार प्रस्तुत करे कि हम उसकी प्रकृतिकी ठीक-ठीक खोज कर सकें। प्रस्तुत करनेकी यह क्रिया मनुष्यके भीतर रहनेवाली वह परा शक्ति है जिसे हम पूर्ण चेतना कह सकते हैं।' शिलर और शैलिङ्ग दोनो इस ससारको ही कलाकृति मानते हैं और शैलिङ्गने तो कलाकी भावनाको अपनी दार्शनिक प्रणालीका एक अग ही मान लिया है। उसके अनुसार 'साहित्य अपने रूपमे ससीम और निःसीमके बीचका मध्यबिन्दु अर्थात् वह केन्द्र है जहाँ आत्मा (सरल) और पदार्थ (मैटर) दोनोका एकीकरण हो जाता है।' गेटेका भी मत है कि 'कविता वह स्वतः प्रवाहित कल्पनाकी सृष्टि है जो सार्वभौम युक्ति-सङ्गतताके उच्च स्तरतक पहुँच जाती है और जो मनुष्य-मात्रको सार्वभौम मानवकी दृष्टिसे उपदेश देती है। उस समय साहित्यिक

कलाकार उच्चतम गोचर रूप धारण करनेके लिये सम्पूर्ण प्रकृतिको आत्मसात् कर लेता है।' नोवालिसका मत है कि 'कविता वास्तवमे पूर्ण तथ्य है।' हेगेलका मत है कि 'साहित्य वह धारा है जिसमे पूर्ण आत्मा कलाकी सुन्दरतामे अभिव्यक्त होता है' अर्थात् जहाँ पदार्थपर आत्माका शासन होता है, जहाँ गोचर बिम्बका प्रयोग करके आत्माका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है और जहाँ मानसिक बिम्ब भी सामग्रीके रूपमे ज्योका त्यो बना रहता है।' श्लेगलका मत है—'साहित्यमे जो सार्वभौम तथ्य दिखाई पडता है वह उन विशेष रचनाओके सामञ्जस्यसे उत्पन्न होता है, जिनके द्वारा कोई एक युग या राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति करता है। सोलगेरका कथन है कि 'साहित्य तो सार्वभौम विश्व-विचार है जो कलाकारकी अतिचेतनतामे प्रकट होता है और उसके विभिन्न रूप उसी क्रमसे निश्चित रहते है जिस परिणाममे वह पूर्ण तथ्य और उसके विभिन्न रूपोमे सन्तुलित होता है।'

बर्गसनके सभी समर्थकोका विश्वास है कि 'कविको रचनाके लिये स्वयं ससारसे प्रेरणा मिलती है।'

कल्पना (इमैजिनेशन)

अधिकाश विदेशी विद्वानोका मत है कि काव्य-प्रेरणाका आधार 'कल्पना' है। इस कल्पनाको कुछ लोगाने एक या सम्बद्ध दृश्य-बिम्ब उपस्थित करनेवाली शक्ति मानी है।' कुछ ने कल्पनाका ऐसी समर्थता माना है जो एक ओर तो इन बिम्बोसे मानव-चरित्र और बाह्य प्रकृतिके आदर्श समन्वय (साहित्य) की सृष्टि करती है और दूसरी ओर किमेरा (सिहके सिर, सर्पकी पूँछ और बकरेके शरीरवाला भयङ्कर कल्पित जीव) अर्थात् शेखचिल्लीके सपने या हवाई दुर्गकी रचना करती है।' कुछ लोग मानते है कि 'कल्पना वास्तवमे कलाकारकी वह सहानुभूति-भावना है जिसे वह पात्र और परिस्थितिमे प्रविष्ट कर देता है।' कुछके अनुसार 'कल्पना वह शक्ति है जो भावात्मक विचारोके प्रतीक उपस्थित करती है।' कुछका कथन है कि 'कल्पना रहस्यात्मक

स्वान्तः प्रेरणाकी वह काव्यात्मक समरूपिणी है जिसमे विवेक और इन्द्रियानुभव दोनोका सम्पर्क नहीं हो पाता।' कुछ लोग इसे 'स्वयं रचना-शक्ति' ही मानते हुए कहते है कि मनुष्यमे एक स्वाभाविक मूर्त्तिकरणकी प्रवृत्ति होती है जिसका नाम 'कल्पना' है।' हमारे यहाँ भी नई उद्भावना उत्पन्न करनेवाली मानसिक शक्तिको 'कल्पना' कहा गया है, (कल्पनायाः नवोद्भावनस्य शक्तिः कल्पनाशक्तिः)। काव्य भी नई उद्भावनाओसे भरा रहता है और इसी नवीनताके कारण ही साहित्यकी ओर लोगोका आकर्षण होता है। अतः उन्होने भी एक प्रकारसे कल्पनाको ही काव्यकी प्रेरणा-शक्ति मान लिया है। विश्वमे अधिकाश दार्शनिको, विचारको और साहित्य-शास्त्रियोका मत है कि काव्यकी उत्पत्तिका आधार कल्पना है।

मानसबिम्ब (फ़ैन्टेजिया)

कुछ लोग मानसबिम्बको काव्यका कारण मानते है। प्लेटोने 'मानस-बिम्ब' (फ़ैन्टेजिया) को 'निम्न कोटिकी आत्माका ऐसा कार्य माना जो प्रायः भ्रामक रूप और धारणाओकी सृष्टि करता है।' उसने यह कहा कि 'वास्तवमे यह मानस-बिम्ब कविताका नहीं वरन् मिथ्या कथा (उपन्यास आदि) और उस प्रेरणाका उद्गम है जो विवेकको विचलित करनेवाले भावोको जन्म देती है।' 'पौराणिक गाथा' (मिथ) का विवेचन करते हुए उसने स्वीकार किया है कि 'एक इस प्रकारकी कल्पना-वृत्ति अवश्य होती है जो विवेकको पार करके कुछ रहस्यात्मक दृश्य उपस्थित करती है और यह सम्भव है कि इस रहस्यात्मक दृश्यके द्वारा ईश्वर भी मनुष्यको कोई सन्देश देता हो। अरस्तूने कहा है कि 'कल्पनामे सबसे बडी शक्ति यह होती है कि वह विचारकी योजना प्रदान करती है और जबतक वह शक्ति उपस्थित नहीं होती तबतक कोई धारणा नहीं उपस्थित होती।' क्विन्तीलमनका मत है कि 'मानस-बिम्बके आधारपर इस प्रकार दृश्य उपस्थित किया जा सकता है मानो आँखके सामने हो रहा हो।' यही बात ड्राइडन

आदिने भी कही है। लातिनके पिछले युगमे 'फैन्टेजिया' के पर्यायके रूपमे 'इमैजिनेशियो' शब्दका प्रयोग हुआ और आगे चलकर कल्पनाका अर्थ तो केवल 'ज्योका त्यो सरल रूपसे बिम्बको प्रस्थापित कर देना' हुआ और 'फैन्टेसी' का अर्थ हुआ 'मानस-बिम्बोका सयोजन या उत्पादन करना।' यही अन्तर आगे चलकर विवे ड्राइडन और जीन पौल रिख्टरने भी माना।

मध्यकालमे यह माना जाने लगा कि 'मस्तिष्कके तीन भागोमेसे सबसे अगले भागमे तो कल्पना विराजमान रहती है और शेष दो भागोमे विवेक और स्मृति।' उसने बिस्तारके साथ बताया है कि 'किस प्रकार सजाने, इकट्ठा करने, पुनः स्मरण करने और मिश्रण करनेके लिये बुद्धि अपनी सामग्री कल्पनाको दे देती है और फिर कल्पना इस सामग्रीको लेकर विवेकको दे देती है कि वह उससे विचार या सिद्धान्त निश्चय करे।' औगस्टाइन, बोनावेन्तुरा और विक्टोरिया-कालीन लेखकोने एक 'पराप्रज्ञात्मक (सुप्रासैन्सिबिल) कल्पना' मानकर एक रहस्यात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसपर दाँतेने अपने 'सौन्दर्यवाद'मे विचार करते हुए कहा कि 'इसी परम कल्पनाके सहारे ही मुझे वह काव्यशक्ति मिली जिसके द्वारा मैंने दृश्योके दर्शन भी किए और उनकी अभिव्यक्ति भी की और जब यह परम कल्पना समाप्त हो गई तब कविता भी समाप्त हो गई।' सन् १८०० से पूर्व योरोपीय 'काव्य-कल्पना'का यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विवरण है।

पुनर्जागरण-कालमें कल्पनाको अविश्वस्त बताते हुए कहा गया कि 'वह (कल्पना) विवेकद्वारा भावित होनी चाहिए।' कुछ लेखकोंने 'कल्पनामे ऐसी जादूकी शक्ति बताई जिसकी सहायतासे दानवी शक्तियाँ व्यक्तियोपर शासन करती हैं।' दानववादने इस प्रभावकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'किसी एक व्यक्तिकी कल्पना किसी दूसरेपर प्रभाव डाल सकती है।'

सत्रहवीं शताब्दीमे देकार्ते, गार्सेंदी और मालेब्रान्खेने बताया कि

'कल्पनाका संसर्ग बडा भयानक होता है और वह पूर्ण रूपसे विवेकता हीन होती है।' हौब्सने बताया है कि 'मेरी समीक्षा-वृत्तिमें कल्पना केवल सजानेका काम करती है।' उसका यह मत स्वीकार करते हुए कहा गया कि—विवेक तो काव्य-सामर्थ्य और रूप उत्पन करता है तथा कल्पना काव्यके लिये अलकार उत्पन्नी करती है।' नवोदात्तवादियोंने फ्रान्स और इंग्लैंड दोनोंमें बुद्धिका यह प्राधान्य स्वीकार कर लिया था। कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जो मानते थे कि 'विवेक वास्तवमें कल्पनाका ठीक उलटा है।'

ड्राइडनने कल्पनाकी जो व्याख्या की उसमें माना जाता रहा कि 'कविकी कल्पना स्वतन्त्र चलनी चाहिए और विवेक तथा अनुभूतिवादके दार्शनिक पक्षसे तनिक भी प्रभावित नहीं होनी चाहिए।' कुछका मत है कि 'कल्पना विवेकका उतना ही अङ्ग है जितना स्मृति या निर्णय है या कहना चाहिए कि वह उससे और भी अधिक प्रकाशमान उन्मेषण है।'

शेलीने 'कल्पनाको एक सश्लेषणात्मक सामर्थ्य' बताते हुए उन्हींको कवि माना है 'जो इस अच्छेद्य क्रमकी कल्पना और अभिव्यक्ति करते है।' यह कल्पनाको 'नैतिक शक्ति मानता था।

द्वितीय कल्पना

इससे भी अधिक विस्तारसे विचार हुआ कौलरिजकी 'द्वितीय कल्पना' पर जो कल्पनासे उद्भूत या कौलरिजके अनुसार 'मूल कल्पनाकी प्रतिध्वनि' अर्थात् 'वह ठेठ काव्यात्मक कल्पना है जो जान-बूझकर किसी ओर प्रवृत्त की गई हो।' जिन सामग्रियोंको वर्ड्सवर्थने लचीला, ढालने योग्य, लुजलुजा और अनिश्चित बताया है उन्हे लेकर यह द्वितीय कल्पना घोलती है, फैलाती है और उनसे पुनः रचना करनेके लिये उनका विस्तार करती है। उन्होंने पाठकोंको सावधान किया कि 'जिस काव्यात्मक भाषाके द्वारा हम समानता और भेदका संप्रेक्षण करते हैं, वह कोई साधारण शक्ति नहीं है, उसमें

कविका सम्पूर्ण आत्मा समाया रहता है। इस प्रकार कविता उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओंकी जटिलताका परिणाम है जिसे हम कल्पना कहते हैं।'

उधर फ्रौयडके मनोविज्ञानसे भी काव्य-कल्पनाका सम्बन्ध जोडा जा रहा है। कुछ लोग यह कह रहे हैं कि 'जो प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है वह सब क्षेत्रोमें समान रूपसे रचना कर सकता है क्योंकि उसमें रचनात्मक कल्पना (क्रिएटिव इमेजिनेशन) होती है।' यह शास्त्रार्थ शेरवुड एन्डरसनके 'वास्तविक अनुभूतिकी परिस्थितियोंसे सम्बद्ध चरित्रसे क्रोचेके उस 'सौन्दर्यवाद' (ऐस्थैटिक, १६०२) तक व्याप्त है जिसमें कल्पना (स्वान्तः प्रेरणा) को बुद्धिका प्रतिद्वन्द्वी बताया गया है और जिसके विरुद्ध एलेनने अपने प्रोपीसमें भयकर विरोध करते हुए कहा है कि 'केवल रचनामें ही वास्तविकता होती है और क्रोचेकी 'कल्पना' जबतक 'कल्पना' है तबतक वह वन्ध्या है।' इ० डी० फौसेटने अपने जर्मन अध्यात्म विज्ञानमें कल्पनाको और भी बहुतसे काम सौंप दिये हैं और कहा है कि 'कल्पनाकी शक्तियाँ अत्यन्त विस्तृत और उदार हैं, उसका क्षेत्र अपरिमित है और जितना कार्य अभीतक उससे लिया गया है उससे भी अधिक कार्य करनेका उसमें सामर्थ्य है।

व्यामोह, आकस्मिक धारणा या भावना (फ़ैन्सी)

लातन-साहित्यमें पीछे चलकर 'इमैजिनेशियो' शब्द यूनानी शब्द 'फ़ैन्टेजिया' का पर्यायवाची हो गया और मध्ययुगतक इसी अर्थमें चलता रहा। अन्तर इतना ही रहा कि कभी-कभी इस 'बिम्बसे नया सम्पर्क स्थापित करनेकी शक्ति' (फ़ैन्टेजिया) को लोग प्रतिजननशील कल्पनासे भिन्न समझने लगे। पुनर्जागरण कालमें व्यामोह (फ़ैन्सी) का सम्बन्ध प्रायः प्रेमकी दशा, भूत या प्रेतसे आविष्टकी दशा या विक्षिप्त, भ्रान्त तथा उन्मत्तकी मनःस्थितिसे जोड दिया गया और तभीसे लोगोंने मानसिक बिम्ब (फ़ैन्टेसी) तथा आकस्मिक सनक या

व्यामोह (फैन्टेस्टिकैलिटी) मे भेद कर दिया। आगे चलकर इस व्यामोह (फैन्सी) शब्दका अर्थ हो गया अन्वेषण या नई खोज करना और सत्रहवीं शताब्दीमे यह ऐसे वाग्वैग्ध्य या तुरत-बुद्धि (विट्) का भी पर्याय समझा जाने लगा जिसके लिये विवेक अपेक्षित होता था। हम जो कुछ देखते या अनुभव करते है अथवा जो भावना सहसा हमारे मस्तिष्कमे कौंध जाती है वह भी आकस्मिक धारणा ही तो होती है इसीलिये इस आकस्मिक धारणा या धुन (फैन्सी) को भी लोग साहित्यका कारण मानते हैं।

कल्पना-बिम्ब या मानस-चित्र (इमेजरी)

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'प्रत्येक मनुष्यके मनमे कुछ मानसचित्र या काल्पनिक बिम्ब (इमेजरी) उद्भूत होते है। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने बताया है कि 'किसी भी वस्तुको अपनी किसी इन्द्रियके द्वारा अनुभव करनेसे हमपर जो प्रभाव पड़ता है और उससे जिस प्रकारकी मानस अभिव्यक्ति होती है वही बिम्ब कहलाता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि वह हमारे हृदयपर पडे प्रभावको अत्यन्त निश्चित कर दे और मनको मूल विचारके पास ले जाकर पहुँचा दे।' एफ्० ई० स्पर्जियन तथा उसके अनुयायी वाल्टर ह्विटर (सत्रहवीं शताब्दी) तथा कुमारी कैरोलाइनने इन मानस चित्रो या कल्पना-बिम्बोको इतना महत्त्व दिया कि वे किसी साहित्यिक रचनाकी व्याख्या करने, किसी ग्रन्थके मूल लेखकका परिज्ञान करने तथा उसकी प्रकृतिका अध्ययन करनेके लिये उन अप्रस्तुत विधानो या कल्पना-बिम्बोका अध्ययन करते है जिन्हे कवि अपनी रचनामे प्रस्तुत करता है। आर० टूवेने बताया है कि 'ये बिम्ब दो प्रकारके होते है—धारणात्मक और दृश्यात्मक। धारणात्मक बिम्ब वे होते है जो हमारे मनमे केवल कल्पनासे आते है (जैसे रेडियोपर किसीका गीत सुनकर हम बैठे-बैठे अपने मनमे उसका एक काल्पनिक रूप बना लेते हैं)। दृश्यात्मक बिम्ब वह है जो हम प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुके आधारपर बनाते हैं',

जैसे किसीका मुख देखकर तत्काल कमल या चन्द्रका मानसबिम्ब प्रस्तुत कर लेना। किन्तु इस प्रकार किसी रचनाका अध्ययन इसलिये मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि कविने अपने जीवनमे कभी कमल देखा ही न हो और केवल सुनी-सुनाईके आधारपर उसका प्रयोग कर दिया हो। काव्यमे कल्पवृक्ष, आकाश-गङ्गा, स्वर्ग और नरक आदिके ऐसे अनेक विवरण प्रस्तुत किए जाते है जिनके सम्बन्धका कल्पनाबिम्ब निराधार और रूढि-सिद्ध ही होता है। अत. कल्पना-बिम्बको काव्यका प्रेरणा-कारण मानना पूर्णतः असङ्गत है।

काव्य-चातुर्य (साबे)

कुछ लोगोंका मत है कि 'कविमे एक प्रकारका काव्य-चातुर्य (साबे) होता है जिसके कारण वह रचना कर पाता है।' 'साब' शब्द फ्रान्समे पहले तो बुद्धिके लिये और पीछे चलकर काव्य-कौशलके लिये प्रयुक्त होने लगा। चौदहवीं शताब्दीमे प्रौवेनङ्गस वालोंने अपनी भाषा (लाग्वे द औक) मे अपनी स्वामिनी भद्र महिलाको सम्बाधित करके प्रेम और वीरताके गीत बनाकर गानेके लिये जो नियम बनाए उन्हे 'गाय सायन्सा' कहा गया। उनका कहना है कि 'यह एक प्रकारका उल्लास-विज्ञान' (दि गे सायन्स) है और इसीके सहारे कवि सुन्दर भावनाएँ ग्रहण करता और काव्यकी रचना करता है।'

काव्योन्माद (फ्रेन्ज़ी)

कुछ आचार्योंका मत है कि 'कविमे काव्यका सीधा स्फुरण भी होता है और वह अत्यन्त प्रबल सनक या काव्योन्मादका रूप धारण कर लेता है। उस अवस्थामे कविके मनमे इतने प्रकारके अनेक भाव एकत्र हो जाते है कि वह पागल हो जाता है और इस प्रकार आचरण करता है मानो उसका ससारसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध न हो। जैसे जादू टोना करनेवाले बहुतसे लोग आविष्ट होनेपर ही किसी प्रकारकी भविष्यवाणी या सत्योद्घाटन करते हैं वैसे ही कवि भी जब साधारण मानव-जीवनसे हटकर किसी एक विशेष भावसे आविष्ट होकर

उसीमे उन्मत्त हो जाता है तभी वह काव्यकी रचना कर सकता है। किन्तु यह मत भी मान्य नहीं है क्योंकि किसी भी कविके जीवनमे ऐसे अवसर बहुत कम आते है जब वह इस प्रकारकी सनक या भावावेशसे आविष्ट हो सकता हो। यह आवेश या तो उस समय आता है जब मनुष्य किसी प्रेयसी या प्रेमीको प्राप्त करनेके लिए छटपटाता है अथवा किसी आकस्मिक दुःख, विपत्ति या व्यथाके कारण उद्विग्न हो जाता है। कुछ कवियोंके सम्बन्धमे यह सुना अवश्य गया है कि 'जब उनके मस्तिष्कमे कोई एक विषय (मजमून) आता है तब उन्हे एक प्रकारका उन्माद या जुनून होता है, इसीलिये फारसीमे 'जुनूने-शायरी' (काव्योन्माद) की चर्चा की गई है । फारसके कुछ सूफी आचार्योंने, माना है कि 'जबतक इस जुनूनमे समाधि (हाल) की अवस्था प्राप्त नहीं होती तबतक सत्यप्रेम (इश्क हकीकी) तथा काव्यका सच्चा स्फुरण ही नहीं होता ।' किन्तु यह समाधि स्थिति वहाँ ही होती है जहाँ कवि अपने वर्ण्य विषयके साथ सात्विक तन्मयता प्राप्त कर लेता है । जहाँ कवि द्रष्टाके रूपमे भावक होकर वस्तुका वर्णन करता है, वहाँ यदि काव्योन्माद होगा तो निश्चित रूपसे वह पक्षपातपूर्ण तथा अतिरंजित भावाभिव्यक्ति मात्र होगी, शुद्ध काव्य नहीं। अतः इसे भी काव्यका आधार नहीं मान सकते ।

मिथ्या कल्पना (फैन्टेसी)

वर्त्तमान साहित्य-समीक्षा और व्यवहारमे मिथ्या कल्पना (फैन्टेसी) का जो अर्थ लगाया गया है उसका 'फैन्टेसी' शब्दकी निरुक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्यके सब प्रकारोंमे यह माना गया है कि 'कविको सम्भवके बदले विश्वसनीय वस्तु प्रस्तुत करनी चाहिए', किन्तु 'फैन्टेसी' मे यह बात मान्य नहीं है। अरस्तूका 'विश्वसनीय असम्भव भी इसी श्रेणीमे रक्खा जा सकता है।

उसमे अन्य जीवों तथा मानव-जीवनका भेद समाप्त हो जाता है। मेढक मनुष्योसे बातचीत करते है। चिड़िएँ दुर्ग बनाती हैं। एक

विद्वान् गधा बन जाता है। जङ्गलके जानवर मनुष्यके बच्चेको बुद्धि सिखाते हैं। जादूकी दरीपर लोग उडने लगते है।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकारकी सभी मिथ्या बातोसे भरी हुई कृति ही 'फैन्टेसी' कहला सकती है। उसमे ऐसी ऐतिहासिक घटनाओका भी वर्णन हो सकता है जो आजकी दृष्टिसे सम्भव या परिचित हो। किन्तु यदि उसमे सब घटनाएँ वास्तविक किन्तु अलौकिक हो तब वह फैन्टेस्टिक नहीं हो सकती। केवल वही विषय फैन्टेसी कहला सकता है जिसे कविने शुद्ध काल्पनिक रूपमे बनाया और माना हो और उसे बुद्धिमान सयाने पाठक भी शुद्ध काल्पनिक मानते हो।

प्राचीन कृतियोमे प्रायः सब देशोमे इस प्रकारकी फैन्टेसीका यथावसर प्रयोग होता रहा है जैसे मारीचका स्वर्णमृग बनना।

शुद्ध विनोदके क्षेत्रमे 'फैन्टेसी' सबसे अधिक मनोरञ्जक है। यही अद्भुतका क्षेत्र है और अद्भुत होनेके कारण ही यह आकर्षक है।

उन्माद और काव्योन्मेष

शेक्सपियरने अपने एक नाटकमे कहा है—'पागल, प्रेमी और कवि तीनो कल्पनासे ओतप्रोत रहते हैं', किन्तु शेक्सपियरसे बहुत पूर्व प्लेटोने भी दैवी अन्तःप्रेरणा या अन्तःकरणको काव्यात्मक उत्तेजनाका कारण बताते हुए कहा था कि किसी प्रकारसे भावाविष्ट होना और अन्तःस्फुरण दोनो परस्पर सम्बद्ध तो हैं किन्तु दोनोमे थोडा अन्तर होता है। पागल व्यक्ति यह विश्वास करता है कि 'मै जो सोच रहा हूँ वह ठीक है' और इसीमे मग्न रहता है, किन्तु कवि जो भाव कल्पनाएँ करता है उन्हे लिखकर उनसे मुक्त हो जाता है, पागलके समान उन्हे चौबीस घन्टे कन्धेपर लादे नहीं फिरता।'

प्रायः यह पागलपन अन्तःस्फुरण अथवा अन्तःस्फुरणकी उपजके लिये प्रयुक्त होता है।

अन्तःस्फुरण (इन्स्पिरेशन)

किसी कविको उस समय अन्तःस्फूर्त्त (इन्स्पायर्ड) कहते हैं जब यह विश्वास किया जाता है कि 'वह अन्य कार्य-कर्ताओंसे भिन्न मानसिक स्थितिमें कार्य कर रहा है और उस समय अपने बौद्धिक शक्तिपर अवलम्बित न रहकर किसी दैवी शक्तिपर अवलम्बित रहता है जो उसके कार्यकी प्रकृति निश्चय करती है।' प्लेटोने अपने 'इयोन'में कहा है कि 'अत्यन्त दरिद्र कवि भी यदि दैव-प्रेरित हो जाय तो वह अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यका उत्पादन कर सकता है और इसी प्रेरणासे हीन अत्यन्त श्रेष्ठ कवि भी निःसार वस्तुकी रचना करने लगता है।'

सर्वप्रथम प्लेटोने इस विषयको महत्त्वपूर्ण समझकर कहा—'सब अच्छे महाकाव्य-रचयिताओंने जो सुन्दर कविताएँ लिखी हैं वे कलाके कारण नहीं, वरन इसलिये कि वे दैव-प्रेरित थीं और कवि आविष्ट होकर लिखते थे।'

अरस्तूने अपना दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है अपने काव्य-शास्त्रमें। वह कहता है—'काव्यकला या तो सिद्ध पुरुषका काम है या पागलका' (कुछ लोगोंने अभी हालमें अरस्तूके उस वाक्यका एक दूसरा पाठ लेकर इसका अर्थ यह किया है कि 'काव्यकला सिद्ध पुरुषका काम है, पागलका नहीं', कास्तेलवेत्रो) और ड्राइडनने भी इसी अर्थकी सम्भावना मानी है। हेरिजने भी कहा है कि 'कविके आत्मामें बहुत कुछ दैवी शक्ति होनी ही चाहिए।' मिल्टनने भी 'प्रतिभा और अभ्यासकी आवश्यकता बतानेके साथ-साथ यह भी कहा है कि 'ये तकतक व्यर्थ हैं जबतक उस शाश्वत परमात्माकी सहायता न मिले जो सब प्रकारकी वाणी तथा ज्ञानको समृद्ध करता है अपनी वेदीकी अग्निके साथ ऐसा देवदूत भेज देता है जो उस व्यक्तिके ओठोंको स्पर्श करके शुद्ध कर देता है जिसपर वह प्रसन्न होता है।' इसे हम ईसाई ढङ्गकी दैव-प्रेरणा कह सकते हैं।

तीसरा सिद्धान्त शेलीका है जो कहता है कि 'रचना करनेवाली बुद्धि तो बुझते हुए कोयलेके समान है जिसे कोई अप्रत्यक्ष प्रभाव (जैसे पवनका झोंका) जगाकर चमका देता है। यह शक्ति वैसे ही भीतरसे आती है जैसे फूलका रङ्ग फूलके विकासके साथ-साथ ढलता और बदलता चलता है और हमारी प्रकृतिकी चेतन शक्तियाँ उस अदृश्य प्रभावका न आना जानती हैं, न जाना।'

चौथे प्रकारकी व्याख्या 'पोएजिया' में क्रोचेकी है। वह कहता है—

'कविका व्यक्तित्व एओलियाकी तन्त्री (हार्प) है जिसे विश्वका वायु झनकारता रहता है।' यहाँ सम्भवतः वह विश्व भी उस मानवताकी प्रतिभासे सम्बद्ध प्रतीत होता है जिसके हृदयमें अध्वसनीय रचनात्मिका शक्ति विराजमान है।

फ्रोयडने माना है कि 'यह दैवी प्रेरणा या अन्तःप्रेरणा अचेतनसे उद्भूत होती है।' राजशेखरने जो अनेक प्रकारके कवि बताए हैं उनमें एक प्रकारका सारस्वत कवि ही है जो दैवाविष्ट हो।

अन्त स्फोट (अगनिप्पे)

हैलकिन पर्वतपर अगनिप्पे नामक एक जलस्रोत है जो योरोपीय काव्यदेवी 'म्यूजेज' के नामपर एक तीर्थ बन गया है और जिसके कारण उन काव्य-देवियोंको भी 'अगनेपिदेस' कहते हैं। इसीके आधारपर योरोपीय काव्य-शास्त्रियोंने काव्यके अन्तःस्फोट (पोइटिक इन्स्पिरेशन) को ही अगनिप्पे कहना आरम्भ किया। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पर्वतके अंकसे सहसा अदृश्य रूपसे उस जलस्रोतका उद्गम हुआ है उसी प्रकार सहसा मनुष्यके हृदयसे भी वाग्धाराके रूपमें कविता फूट पड़ती है और उसके पश्चात् वह प्रशस्त पयस्विनी बनकर मानव-समाजरूपी क्षेत्रको आनन्दसे परिप्लावित्त करती रहती है।

आकस्मिक स्फुरण (स्पौन्टेनेटी)

कुछ आचार्योंका मत है कि काव्यका स्फुरण सहसा अकस्मात् होता

है। बिना पहलेसे विचार किए कोई बात सहसा मस्तिष्कमे आ कूदती है। यही आकस्मिक स्फुरण (स्पौन्टेनेटी) होती है। स्वैरवादी (रोमान्टिस्ट) लोग इसका बडा महत्त्व समझते हैं। तथ्यातिरेकवादी (सररीयलिस्ट) भी उस आकस्मिक स्वयस्फुरणके इतने पक्षपाती है कि वे किसी विचार प्रणालीके अभावको ही अपनी प्रणाली मानते है, अर्थात् वे मानते है कि 'विचार स्वय बिना प्रयासके बिना क्रमके आते रहते है और साहित्य बन जाते है।' तथ्यातिरेकवादी यह प्रयत्न करता है कि 'वह विवेकको हटाकर इस आकस्मिक स्वयस्फुरणको ही अभिव्यक्तिके लिये स्वतन्त्र छोड दे।'

भाविकता (सेन्टिमेन्टिलिटी)

जब हम भाविकताकी दृष्टिसे कलाकी परीक्षा करते है तो 'हम उसमें यह ढूँढते है कि सामाजिक या सहानुभूतिपूर्ण भाव उसमे कितने अतिरेक पूर्ण अथवा दोषपूर्ण ढगसे प्रयोग किए गए है।' अर्थात 'कोमलता, दया तथा मानव प्रकृतिमे स्वाभाविक विश्वास इस ढङ्गसे काव्यमे व्याप्त है कि उससे नैतिक अनुभव होनेके बदले करुणाकी सृष्टि होती है।' किसी भावनाकी अभिव्यक्ति तबतक भाविकतापूर्ण नही होती जबतक वह उचित, सर्वसामान्य और न्याय्य समझी जाती हो। भावाके इस अतिरेकपूर्ण और अनुचित चित्रणका प्रयोग अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियोमे भी प्राप्त हो सकता है।

मेरेडिथने भाविकताको 'कामुकताके तारोपर बजाई हुई तान' कहा था किन्तु कल्पनाके स्तरपर इस प्रकारकी भावनाको उस भाविकता-पूर्ण साहित्यसे भिन्न समझना चाहिए जो तथ्यात्मक होनेके कारण वास्तविक जीवन ही समझ लिया जाता है। तथ्यकी ऐसी अतिरेकताके आधारपर रूसोने भाविकताका एक नया दार्शनिक सिद्धान्त ही खडा कर दिया जिसका उन्नीसवीं शताब्दीके उपन्यासकारोने समाजसे बहिष्कृत व्यक्तियोको नायक नायिका बनाना प्रारम्भ किया। प्रकृतवादमे भी जो

उस प्रकारके प्रयोग किए गए उनमे भी जीवनके प्रति नैतिक वृत्तिकी अपेक्षा करुणावृत्ति हो अधिक व्यक्त होती है।

यह भाविकता साहित्यके लिये बडी घातक होती है क्योकि भाविकतामे मनुष्यका विवेक लुप्त हो जाता है और वह किसी एक विशेष भावावेशमे मग्न होकर तदनुसार अपनी भावनाओको रँगता चलता है। उस क्रियासे जिस साहित्यकी सृष्टि होती है वह न तो स्वस्थ हो सकना है, न सुन्दर और न लोक कल्याणकारी। उलटे साहित्यसे पाठकोकी मानस धारणाएँ इतनी विकृत हो जाती है कि वे भली प्रकार उचित और अनुचितका विवेचन नहीं कर पाते।

उल्लास (एक्स्टैसी)

जिस प्रकार किसी मल्लयुद्धको देखते हुए अथवा किसी प्रकारका खेल देखते हुए हम उनसे अलग होकर उनकी प्रत्येक क्रियाका आनन्द लेते हैं उसी प्रकार 'साहित्यकारको भी सम्पूर्ण सृष्टिका द्रष्टा होकर ससारकी क्रियाओका आनन्द लेकर उनका चित्रण करना चाहिए।' इसी आधारपर उन लोगोने उल्लास (एक्स्टैसी) को ऐसी शक्ति माना है जिसके द्वारा हम अपनेसे बाहर होकर खडे हो सकने हैं अर्थात् जिसमे हम ऐसे रसमग्न हो जाते है कि हमे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। यह मनःस्थिनि उस तन्मयता या समाधिके समान होती है जो काव्यके अन्तःस्फुरणाकी बेलामे उस समय उपस्थित होती है जब सब प्रकारके विचार या इन्द्रियानुभूतियाँ पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

मन.स्थिति (मूड या स्टिमूङ्ग)

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'कविता या साहित्यकी व्यवस्थित सृष्टिके लिये एक विशेष प्रकारकी मनःस्थिति (मूड या स्टिमूङ्ग) आवश्यक है।' उनका कहना है कि 'प्रकृति या कलाके सौन्दर्य दर्शनमे निमग्न हो जानेपर जब मनुष्य एकाग्र होकर समाधिकी स्थितिमें पहुँच जाता है तथा अपनी भावात्मक वृत्तिका पूर्णतः समस्त सासारिक भावोसे निर्लिप्त कर लेता है, तब जो मनःस्थिति (मूड या स्टिमूङ्ग)

होती है उसीके आधारपर साहित्यकी सृष्टि होती है।' इसीको कुछ लोगोने समाधि (ट्रान्स) कहा है।

समाधि (ट्रान्स)

कविके मस्तिष्क या मनःस्थितिकी उस अवस्थाको समाधि कहते है जिसमे वह अत्यन्त भावमग्न, आनन्दमग्न और तन्मय होकर अपनी और ससारकी सुध-बुध भुलाकर किसी आकर्षणके केन्द्रमे तन्मय होकर बैठ रहता है और ससारसे पूर्णतः मानसिक सम्बन्ध तोड देता है। काव्यकी यह समाधि सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारणके प्रत्यक्ष या मानस अनुभवसे सिद्ध होती है। रुद्रट और राजशेखरने भी इस समाधिको काव्यका कारण माना है। इस समाधिके सिद्धान्तको ही दूसरे रूपसे तन्मयता (ऐम्पेथी या आइनफ्यूहलुङ्ग) कहते है।

तन्मयता (ऐम्पेथी या आइन्फ्यूहलुङ्ग)

जब हम किसी वस्तुमे बिना इच्छाके अपने आपको प्रविष्ट कर देते हैं तब वह कल्पनात्मक अनुभवकी अवस्था ही तन्मयता कहलाती है। तन्मयता वास्तवमे किसी उत्पन्न कल्पनाके प्रति एक प्रतिक्रिया है जो रूपो, शरीरो और गतियोके अनुभवसे उत्पन्न होती है। इसे यो समझा सकते है कि यदि हम किसी विशाल दृढ दुर्गको देखे तो उसकी दृढता, भार, ठोसपन, अडिगता और बहुत दिन चल सकनेकी शक्तिका जो ज्ञान होता है वह इसलिये नहीं कि हमे उसकी बनावट और उसमे प्रयुक्त सामग्रीका पूरा ज्ञान है वरन् इसलिये कि हमने जीवनमें बहुतसे ऐसे पदार्थ देखे है जिनमे पुट्ठोकी शक्ति तथा अन्य अवयवोके तनाव आदिका अनुभव दृढ पदार्थोके सम्पर्कमे हुआ है। इसी प्रकार जब एक समुद्री पक्षी सरलतासे उड चलता है तब हमारे मनके भीतर वे सब जटिल गतियाँ सहसा स्मृतिमे एकत्र हो जाती है जिनका जीवनमें हमने वास्तविक या काल्पनिक अनुभव किया है। उस स्मृतिमात्रसे हमारी भावना भी अनायास उडने लगती है और हम भी पक्षीके साथ

उडने लगते है अर्थात् उस समय हम स्वय उल्लास और आनन्दका जो अनुभव करते है उसे हम पक्षीके साथ जोड देते हैं।

अणुकरण (मिमेसिस या इमिटेशन)

बहुतसे लोग 'अनुकरणको ही कलाके उद्भवका मूल सिद्धान्त' मानते है, प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार साहित्यिक आदर्शोंके अनुकरणका भाषा सम्बन्धी सयम ही 'अनुकरण' कहलाता था। प्राचीन समीक्षा-पद्धतिमे दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें हुई हैं—१. कवियोपर प्लेटोकी यह आपत्ति कि 'वे सत्यसे दुहरी दूरीपर अनुकरण करते है' और २ अरस्तूका यह कथन कि 'काव्य उन उद्देश्योका अनुकरण या प्रदर्शन है जिनकी ओर विश्व-प्रकृति प्रवृत्त होती है।' किन्तु प्लेटोकी आपत्तिका भी प्राचीन साहित्यिक व्यवहारपर बहुत कम प्रभाव पडा और अरस्तूका काव्यशास्त्र भी शीघ्र ही आँखसे ओझल हो गया। आदर्श ग्रन्थोका अनुकरण करनेके भाषा-सम्बन्धी सयमकी बात सर्व-प्रथम इसोक्रितेसने कही थी जिसका पीछे जर्मन-भाषा-शास्त्रियोने विस्तार किया।

अनुभव (ऐक्सपीरिएन्स)

जर्मन समीक्षामे डिल्थेके समयसे किसी भी रचनात्मक कृतिमे अन्तस्तत्त्व या अनुभूतिपर (ऐर्लेब्निस) बड़ा बल दिया जाता है। शेरेअरके अनुयायी तो 'कलाकारकी अनुभूतिको शरीर-विज्ञान और समाजका प्रभाव मानते है और यह कहते है कि 'इन्हीं प्रभावोसे वह रचना करता है।' पीछे चलकर कहा जाने लगा कि 'अनुभूतिका विषय या सामग्री निश्चित रूपसे गौण महत्त्वकी है' और कलाकारकी बौद्धिक तथा भावात्मक स्थितिको महत्त्व दिया जाने लगा जैसे—सीमेलने कलाकारकी यह परिभाषा की है कि 'कलाकार वह व्यक्ति है जो साधारण वस्तुओको वैसे ही कलाकी शक्तिशाली कृति समझता है जैसे कोई धार्मिक व्यक्ति सर्वत्र ईश्वरकी उँगलियाँ देखता है।'

अलौकिक (सुपरनेचुरल)

कुछ विद्वानोने माना है कि अलौकिक शक्तियोसे भयभीत होनेके कारण उन्हें प्रसन्न करने या व्यक्त करनेकी भावनासे ही साहित्य उत्पन्न हुआ। ये कृतियाँ अलौकिकता युक्त कहलाती है 'अलौकिक' या अतिलौकिक' (सुपरनेचुरल) शब्दका प्रयोग उन कृतियोके लिये होता है जिनमे—

१. रहस्योका दार्शनिक, आध्यात्मिक या रहस्यात्मक विवेचन हों। अतः सब प्रकारके दार्शनिक, धार्मिक या रहस्यातमक प्रकारके साहित्यके लिये 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग होता है।

२. अधिकाशतः अदृश्य शक्तियोके कार्यों, देवताओ, राक्षसों, भूत-प्रेतो, टोना-टोटका, जन्तर-मन्तर, जादू आदि ऐसे तत्त्वोका प्रयोग होता हो जो साधारणतः प्रकृतिमे ही विद्यमान दिखाए गए हो। परियोकी कहानियाँ भी इसीमे आती हैं। कौलरिजने इसे 'स्वाभाविकसे परे' (प्रिटरनैचुरल) कहा है जिसके भौतिक स्वरूपके लिये तो अविश्वास दूर रखते है अर्थात् मान लेते हैं किन्तु जिसका नैतिक प्रभाव नहीं मानते।

३ वे सब कथाएँ भी पूर्णतः सम्मिलित कर ली जाती हैं जिनमे दिव्य लोककी शक्तियोके अस्तित्वका भाव उपस्थित किया जाता है। भय, आश्चर्य तथा अप्रत्याशित घटनाके समर्थनके लिये ये सब तत्त्व लाए जाते हैं। नाटक, उपन्यास आदिमें इनका प्रयोग बहुत किया जाता है। विवेकवादी लोग मानते हैं कि इनका प्रयोग अनावश्यक और अनुचित है।

अन्धविश्वास (सुपरस्टिशन)

कुछ लोगोने अन्ध-विश्वासको कला और साहित्यकी प्रेरणा समझा है। इसीलिये लोक-साहित्य और कलात्मक साहित्य दोनोमें ही अन्धविश्वासका बडा प्रयोग किया गया है। वह तीन प्रकारसे हुआ है—

१. यथार्थवादी २. रूपकात्मक या प्रतीकात्मक और ३. स्वैरवादी।

यथार्थवादी विवरणमे लोक-व्यवहारमे प्रचलित सब प्रकारके विश्वासो, शङ्काओ तथा शकुनोका वास्तविक चित्रण किया जाता है और इसलिये किया जाता है कि जिन लोगोका वर्णन हो उन लोगोकी सास्कृतिक पृष्ठभूमिका आधार और रूप स्पष्ट हो जाय। प्रतीकात्मक या रूपकात्मक विवरणमे इन विश्वासोका इसलिये प्रयोग किया जाता है कि उनके द्वारा नैतिक भावोका स्पष्ट या नाटकीय प्रदर्शन हो। इन अन्धविश्वासोका स्वैरवादी प्रयोग शुद्ध कल्पनात्मक कृतियोके लिये होता है, जैसे शेक्सपियरने अपने 'मिड-समर-नाइट्स ड्रीम' मे किया है।

उद्वृत्तीकरण (सब्लिमेशन)

जेम्स और मैकडूगल आदि मानते हैं कि 'मनुष्य जितने प्रकारके काम करता है उन सबमे प्रेरणा देनेवाली उसकी सहज वृत्तियाँ (इन्सटिंक्ट) होती हैं'।

मनोविश्लेषण (साइकोएनैलिसिस)

वर्त्तमान साहित्य-योजनामे मनोविश्लेषणने कलाकार और समीक्षक दोनोको बड़ी सहायता दी है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र (साइको-एनैलिसिस) के प्रवर्त्तक फ्रौयडका सिद्धान्त है कि 'मनुष्यकी सम्पूर्ण इच्छाओ और क्रियाओके मूलमे केवल एक ही शक्ति काम करती है जिसे प्रेरणाशक्ति (लिबिडो) कह सकते है।' फ्रौयडका मत है कि 'यह मूल शक्ति काम-वासनासे ही भरी हुई है' अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी करता है, यहाँतक कि यदि साहियकी रचना करता है तो वह इसी प्रेरणाशक्तिसे, जो मनुष्यकी इच्छा या काम-वासनाकी तृप्तिके लिये उसे साहित्य-रचनामे प्रवृत्त करती है। पहले तो यह सीधे-सीधे मनुष्य कामवासनाकी तृप्तिके लिये प्रोत्साहन देती है किन्तु जब साधारण रूपसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती तब यह बलवती कामशक्ति अपनी तृप्तिके लिये अन्य दूसरे मार्ग प्रस्तुत करती है जिनमे इच्छावरोध (इनहिबिशन), पथान्तरण (रिडाइरेक्शन) रूपान्तरण (ट्रान्सफौर्मेशन) और उद्वृत्तीकरण

(सब्लिमेशन) की गणना की जाती है। इसकी व्याख्या करते हुए फ्रौयडने बताया है कि कामकी यह इच्छा तीन रूपोमे दिखाई पड़ती है—

१ सम्भोगकी इच्छा अर्थात् मैथुन करनेकी वासना,
२ मानसिक सयोग अर्थात् एक दूसरेके प्रति प्रेम, और
३. अपने बाल-बच्चोके प्रति स्नेह तथा उनकी रक्षा।

किन्तु जब इन तीनो इच्छाओका दमन होता है और वह इच्छा उद्वृत्त हो जाती है अर्थात् ऊपर उठ जाती है तब कला या साहित्यकी उत्पत्ति होती है।

फ्रौयडने प्राचीन स्वैरवादी स्वतन्त्रताका नये विश्लेषणात्मक विचारसे समाधान करते हुए कहा—'जो दबी हुई वासनाएँ, भावनाएँ, इच्छाएँ और कामनाएँ है उन सबको निकाल डालो। किसी बातसे घृणा न करो, मनमे कुछ रक्खो मत, कोई भी काम करनेमे हिचको मत।' इसका अर्थ कुछ लोगोने समझा 'अभिव्यक्तिमे पूर्ण स्वतन्त्रता।'

स्वप्न (ड्रीम)

कुछ लोग स्वप्नको कला-कृतियोका उद्गम तथा कला-कृतियोके लिये प्रयुक्त होनेवाली विधिके रूपमे ग्राह्य मानते है।

१. स्वैरवादियोने जाग्रत स्वप्न, सुखचिन्तन या निद्रामे आनेवाले अन्तःस्फुरणको काव्यकी प्रेरणा समझकर इसका प्रयोग किया है। कभी-कभी तो इस प्रकारके स्वप्न-रूपोको निमन्त्रण देनेके लिये लोगोने अफीम, गाँजा आदि मादक पदार्थोंका सेवन भी किया है जैसे कि आजकलके अतितथ्यवादी लोग अपने भीतरके आत्मको समझनेके लिये मूर्छा (हिस्टीरिया) 'आत्म भ्रान्त या आत्मतन्मय' (पैरेनोरिया) हो जानेका रूपक दिखाया करते है। स्वैरवादियोके पश्चात् इस स्वप्नवादका बडा विरोध हुआ। रोजर फ्राइने अत्यन्त स्पष्ट रूपमे कह दिया है कि 'स्वप्नसे बढकर सौन्दर्यात्मक भावनाकी विरोधिनी और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।' इस बीच थोरेऊने स्वप्नकी बड़ी

प्रशंसा गाई किन्तु वह अन्तःस्फुरणके रूपमे नहीं वरन् आकांक्षाके रूपमे, और यह बताया कि 'हमारे स्वप्न ही हमारे सबसे अधिक कठोर सत्य हैं।' फ्रौयडवादियोने स्वप्नको आदर्शके रूपमे तो नहीं किन्तु वास्तविकताके रूपमे रचनात्मक प्रेरणा देनेके साधनके रूपमे मानते हुए कहा है कि स्वप्न छद्मवेशसे या अन्य रूप धारण करके हमारी इच्छा और हमारे भयको व्यक्त करते हैं। जाग्रत अवस्थामे भी ये चेतन रहते हैं और मुँहसे कुछका कुछ निकल जानेके रूपमे, कुछ बोल जानेके रूपमे और कुछ काव्यकी पंक्ति गुनगुनानेके रूपमे व्यक्त होते हैं क्योंकि कला भी एक प्रकारका जाग्रत् स्वप्न है जिसमे हम अपनी अनुचित और अशक्त वासनाओंको अपनेसे छिपाते है और कलाके द्वारा उसे करते या कमसे कम उस वासनासे मेल-जोल स्थापित कर लेते है जो जीवनमे अतृप्त रही है।' फ्रौयडका यह स्वप्न-सिद्धान्त अनेक विद्वानो-द्वारा खण्डित किया गया है।

बाह्य शृंखला (ऑब्जेक्टिव कौरिलेटिव)

टी० एस्० इलियटने कहा है कि 'कलामे भावकी अभिव्यक्तिका एक ही ढङ्ग यह है कि बाह्य शृङ्खला (ऑब्जेक्टिव कौरिलेटिव) को ढूँढ लिया जाय', दूसरे शब्दोमे 'कुछ वस्तुओंकी स्थिति या घटनाओंकी एक शृंखला ढूँढ़ ली जाय जो उस विशिष्ट भावको व्यक्त करनेका गुर हो। यह ऐसा हो कि यदि बाह्य वस्तुएँ उपस्थित कर दी जायँ तो इसके इन्द्रियानुभवसे निर्दिष्ट भाव तत्काल प्रकट हो सके।' किन्तु केवल यह 'बाह्य शृङ्खला' ही तो काव्य-प्रेरणा नहीं हो सकती।

वातावरण (एन्वायरनमेन्ट या मील्यू)

बहुतसे समीक्ष्यवादियोका मत है कि 'वातावरण भी काव्यका कारण होता है।' हिपोलाइत तेन (१८२८—१८९३) ने जाति, अवसर और वातावरणको कलाकृतिकी उत्पत्तिका कारण और आधार माना है। समाजवादी समीक्ष्यवादियोने इन्हींको आधार माना है। जो लोग

वातावरण बदलनेका सिद्धान्त मानते है अर्थात् यह कहते हैं कि 'कविको सामाजिक वातावरण ही बदल देना चाहिए', वे इस वातावरणको काव्यका अधिक आधार और कारण मानते है। ऐतिहासिक समीक्ष्यवादी भी मानते हैं कि 'कवि अपने युगका प्रतिनिधि होता है।' इसका तात्पर्य यही है कि कवि अपने युगके वातावरणसे प्रभावित होकर अपने युगकी प्रवृत्तियो, वासनाओ और आकाक्षाओको व्यक्त करता है किन्तु परिस्थिति केवल प्रभाव ही डालती है, उसके कारण काव्यका जन्म नही होता, अर्थात् वातावरण स्वय काव्यकी प्रेरणा-शक्ति नहीं है और यदि है तो वह बाह्य है।

नारी

बहुतसे आचार्योंका मत है कि 'काव्यकी वास्तविक प्रेरणा-शक्ति नारी है।' 'ससारमे जितने महाकाव्य है, सबके पीछे कोई नारी अवश्य रही है। रामायणमे सीता, ईलिआदमे हेलन, महाभारतमे द्रौपदी, दिवाइन कौमेदीमे बिएत्रिस सभी नारियाँ ही है। और भी ससारमे जितनी साहित्य-कथाएँ है, वे चाहे नाटकके रूपमे हो, कथाके रूपमे हो या कविताके रूपमे हो, सबमे नारीका ही विशेष वर्णन है। किंतु यह भी बाह्य और ऐकान्तिक प्रेरणा शक्ति है।

मानसिक विकार (डीजेनेरेशन)

उन्नीसवीं शताब्दीके पिछले भागमे कलाकारकी प्रतिभाका मनोवैज्ञानिक, नर-शास्त्रीय तथा मानसोपचारीय विवेचन करते हुए कहा गया कि 'कलात्मक प्रतिभा एक प्रकारका उन्माद और विकार है।' मैक्स नोरडाऊ (मैक्स साइमन स्यूडफेल्ड, (१८४६—१९२३) और मानसिक उपचारकर्त्ता तथा कानूनी औषधि-विज्ञानके आचार्य लोम्ब्रोसोने (१८३५—१९०७)कलात्मक प्रतिभाको उन्मादका एक प्रकार बताया और कहा कि 'जलवायु, तापमान, रोग, वश परम्परा आदिके कारण यह उन्माद होता है तथा यह भी अन्य उन्मादोके समान ही है।' प्रतिभाको भी उसने विकृत मानसिक दशा बताया है। उसके मतानुसार योरपके

सभी प्रमुख साहित्याकर विकृत मस्तिष्कवाले थे जो समकालीन सभ्यताके स्नायविक तनावसे अति श्रान्त होनेके कारण नैतिक उन्माद, मूर्छा आदिके आखेट हो गए। उसने अपने समयके रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म), अहवाद (ईगोमेनिया) और तथ्यवाद (रीअलिज्म) की आलोचना करते हुए कहा है कि 'ये सब उदासी रोग (मैलकोलिया) की श्रेणीके उन्मादसे निकले हैं जो अवसन्न केन्द्रीय स्नायु-प्रणालीका मानसोपचारीय लक्षण है।' इस सिद्धान्तका समर्थन मैक्स नोरडाऊ ने भी किया किन्तु बर्नार्ड शौने अपने 'कलाकी सज्ञानता' (दि सैनिटी औफ आर्ट, १८६५) मे और ए० ई० हेकने अपने 'पुनरुत्पत्ति' (रीजेनरेशन, १८६६) मे कलाप्रतिभाको मानसोन्माद बतानेके सिद्धान्तका विरोध किया। लोम्ब्रोसो और नोरडाऊ दोनो वर्त्तमान मानसोपचारीय समाचाके प्रवर्त्तक है। इसीसे मिलता जुलता जियानेत माकका सिद्धान्त है जिसने बताया कि पो, जेम्स, थौम्सन, स्विन्बर्न, फ्रान्सिस आदिने मदिरा, मादक द्रव्य तथा रोग आदिके प्रभावसे रचनाएँ की है। इनके अतिरिक्त आजकल लोग किसी कलाकारकी रचनाको उसकी अचेतन-गत इच्छाओ और असफलताओका परिणाम मानते है।

काव्यके दो रूप होते हैं : अनायास और सायास

कविकी वाणी दो प्रकारसे व्यक्त होती है—एक अनायास अर्थात् बिना किसी प्रकारके बौद्धिक या मानसिक प्रयत्नके, जैसे भगवान् प्राचेतसके मुखसे क्रौञ्च-मिथुनका वध करनेवाले निषादके प्रति 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्व अगमः' उक्ति सहसा फूट पडी थी और जिसके लिये कहा गया है—'शोकः श्लोकत्वमागतः', अर्थात् शोक ही श्लोक बनकर निकला। यही अनायास, स्वाभाविक, नैसर्गिक और स्वयव्यक्त कविता है। केवल भावात्मक मुक्तक अथवा तन्मयतायुक्त गीत ही इस श्रेणीकी सात्त्विक रचनाएँ होती है।

इनके अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य गद्यकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा

निबन्ध इत्यादि जितने साहित्यिक रूप हैं, सब सायास होते है क्योकि उनमे कवि अपनी बुद्धि तथा कल्पना इत्यादिसे गढ़कर कृत्रिम, कलापूर्ण रचना-कौशल प्रकट करता है। ये सब रचनाएँ अस्वाभाविक होते हुए भी कवि-कौशलके कारण स्वाभाविक-तुल्य प्रतीत होती है। इन्हींमे जो काव्य-कौशलसे हीन होती हैं वे लोकप्रिय नहीं हो पातीं और जिनमे कवि लोक-जिज्ञासा और लोकाकाक्षाकी तृप्ति करनेके साधन उपस्थित करते हैं, वे लोकप्रिय और लोक-प्रसिद्ध हो जाती हैं। ऐसे काव्य सायास और सोद्देश्य होते है। इसके विपरीत जो अनायास या स्वाभाविक काव्य होते हैं वे 'स्वान्तः सुखाय' या कविके अपने मनस्तोषके लिये रचे जाते हैं और वे ही सात्त्विक तथा उद्वृत्त काव्य होते है।

सम्भव है बहुतसे प्रबन्ध-काव्योमे 'स्वान्तःसुखायकी वृत्ति'के साथ-साथ लोक-कल्याणकी भावना भी निहित हो, जैसे गोस्वामी तुलसी-दासजीके रामचरितमानसमे। किन्तु नाटक तो काव्यका वह रूप है जो कभी 'स्वान्त -सुखाय' हो नहीं सकता, क्योकि वह दृश्य होता है, उसका प्रयोजन ही है दूसरोके सम्मुख दिखाया जाना। अतः नाटक सोद्देश्य और सायास होता है। इसीलिये कहा गया है—'काव्येषु नाटक रम्यम्' और यही कारण है कि ससारमे निबन्ध, उपन्यास, कविता और कहानीके लेखक तो बहुत हुए पर नाटककार बहुत कम। यही बात श्रव्य काव्यके लिये भी है। अतः साहित्यकी सृष्टि दो प्रकारसे हुई—सायास और अनायास।

प्रतिभा

भारतीय साहित्याचार्योंने माना है कि 'काव्यकी एक प्रेरणा-शक्ति होती है जिसे प्रतिभा कहते हैं। इसी शक्तिसे सम्पन्न होकर मनुष्य कवि बन सकता है।' इस प्रतिभाकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध आलङ्कारिक भामहने कहा है—'मूर्ख मनुष्य भी गुरुसे शिक्षा लेकर शास्त्रका भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु काव्य रचनेकी प्रेरणा उसी व्यक्तिमे होगी जिसमे प्रतिभा होगी—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥

भट्टतौतने प्रतिभाका लक्षण बताया है—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'

[नई-नई बातें सुझानेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है ।]

कुन्तकका मत है—

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति ।

[वक्रोक्तिजीवित]

[पिछले जन्म और इस जन्मके संस्कारसे पककर दृढ़ बनी हुई एक अनोखी कवित्व शक्ति ही प्रतिभा कहलाती है ।]

वामनने अपने 'काव्यालङ्कार' में कहा है कि 'जैसे बीचसे एक नया वृक्ष निकल आता है वैसे ही प्रतिभान या प्रतिभासे कविताका प्रादुर्भाव होता है । यह प्रतिभा पूर्व जन्मसे चला आता हुआ कोई एक विशेष संस्कार होता है जो कविके जन्मके साथ उसे मिल जाता है और जिसके बिना काव्य उत्पन्न नहीं होता, और यदि उसके बिना काव्य रचा भी गया तो उससे कविकी हँसी ही होती है ।'

भट्टगोपालने कहा है कि 'जैसे वृक्षको देखकर हम समझ जाते हैं कि इसकी उत्पत्ति इसी बीजसे हुई होगी, वैसे ही हम किसी कविताको देखकर समझ जाते है कि इसके मूलमें कोई शक्ति रही होगी ।'

राजशेखरने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में कहा है कि 'प्रतिभा वह शक्ति है जो कविके हृदयमें शब्द-समूह, अर्थ-समूह, उक्तिके ढङ्ग आदि ऐसी सब सामग्री सुझाती है जो कि प्रतिभाहीन व्यक्ति कभी सोच भी नहीं सकता ।' प्रतिभावाले व्यक्तिको अन्धे होनेपर भी सब पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाई पड़ते है और इसीलिये वे उसे उस प्रकार वर्णन कर सकते है मानो उन्होंने स्वयं खुली आँखोंसे देखा हो । यही आन्तरिक शक्ति 'प्रतिभा' है । इन सब आचार्योंका यही मत है कि "प्रतिभा एक विशेष संस्कार है जो कविको पिछले जन्मसे ही अपने

जीवात्माके साथ प्राप्त हो जाता है और जो दूसरे जन्ममे कवित्व सस्कार मिलनेपर सहसा उद्बुद्ध हो जाता है। इसीलिये कवि लोग ऐसे विचित्र वर्णन भी कर डालते हैं जिसतक साधारण मनुष्यकी बुद्धि भी नहीं पहुँचती।'

प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास

दण्डीने भी प्रतिभाको काव्यका कारण माना है, किन्तु उसने उसके साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान और अभ्यास भी जोड दिया है। दण्डीका मत है कि 'केवल प्रतिभासे ही काव्यका स्फुरण नहीं होता, उसके साथ शास्त्रोंका परिचय तथा काव्य-रचनाका अभ्यास भी अपेक्षित है।' किन्तु उसने भी अपने 'काव्यादर्श'मे प्रतिभाको स्वाभाविक ही मानकर उसे पूर्वजन्मकी वासना बताया है। अन्य आचार्योंके समान दण्डीने प्रतिभा-हीन कविको मुँह छिपाकर घर बैठानेका परामर्श नहीं दिया है। उसने आशा दिलाई है कि 'यदि शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय और सरस्वतीकी उपासना की जाय तो निश्चित रूपसे सरस्वतीजी उसपर कृपा करती हैं।' कहनेका तात्पर्य यह है कि दण्डीने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनोकी प्रधानता मानी है।

अवधान

वामनने प्रतिभा, काव्यज्ञान, काव्यरचनामे परिश्रम, गुरुकी सेवा, शास्त्रज्ञानके साथ-साथ एकाग्रता (अवधान) को भी काव्यकी प्रेरणा माना है।

शक्ति

रुद्रटने भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति (अनेक शास्त्रोंका ज्ञान) तथा अभ्यासको काव्यकी प्रेरणाका कारण माना है। उसने प्रतिभाको 'शक्ति' कहा है। उसका मत है कि 'जब मनुष्य एकाग्रचित्त हो जाता है तब अनेक प्रकारके अर्थ उसके मनमे चमक जाने जाते है और सुन्दर पदोकी लड़ी कविके सामने ऐसी लहरा जाती है मानो किसीने बिजलीके अक्षरोमे लिख टाँगी हो।' इस प्रकार अर्थों और पदोकी कविके सामने ला खड़ी कर देनेवाली प्रतिभा ही शक्ति कहलाती है।

व्युत्पत्तिसे श्रेष्ठ प्रतिभा

आनन्दवर्धनने व्युत्पत्ति और प्रतिभा, दोनोको काव्य-साधन मानते हुए भी प्रतिभाको व्युत्पत्तिसे श्रेष्ठतर बताया है। आनन्दवर्धनका मत है कि 'जिस व्यक्तिमे प्रतिभा नहीं है वह अपनी रचनामे दोष कर सकता है और जिसे व्युत्पत्ति ज्ञान नहीं है वह भी, किन्तु प्रतिभा न होनेसे जो दोष होते है वे भयङ्कर होते हैं। अतः सत्साहित्यके लिये प्रतिभाका होना अत्यन्त आवश्यक है।'

व्युत्पत्तिकी श्रेष्ठता

आचार्य मङ्गलने ठीक इससे विपरीत, व्युत्पत्तिको ही श्रेष्ठतर माना है। वे कहते हैं कि 'व्युत्पत्ति (बहुज्ञता) होनेसे कवि सब दिशाओमे अप्रतिहत गतिसे चल सकता है।' प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुका वर्णन तो कोई भी कवि कर सकता है किन्तु जिस कविमे व्युत्पत्ति है वह तो सम्भव-असम्भव, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सबका वर्णन कर सकता है इसलिये आचार्य मङ्गलने व्युत्पत्तिको प्रतिभासे श्रेष्ठ मानते हुए कहा है कि 'प्रतिभा न होनेके कारण कवि जो दोष कर सकता है वे सब व्युत्पत्तिसे ढक दिये जाते है।'

राजशेखर कहता है कि 'वे सारस्वत कवि ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहोकी झोपडीसे लेकर राजप्रासादतक समान रूपसे आहृत होते हैं। इन कारयित्रि प्रतिभावाले सारस्वत कवियोको ही यदि काव्यार्थकी भावनामे परिपक्व बुद्धिवाले सहृदयोके हृदयको आह्लादित करनेवालोकी भावयित्री प्रतिभा मिल जाय तब तो सोनेमे सुगन्ध समझनी चाहिए। वास्तवमे भावयित्री प्रतिभावाले व्यक्ति वे हैं जो भावक हो। जो व्यक्ति स्वय सहृदयके समान रस ले सकता हो वही भावयित्री प्रतिभावाला भावक कहलाता है। क्योकि जबतक वह काव्यार्थकी भावना न करेगा तबतक दूसरोको रसमग्न कैसे कर पावेगा? यह कला अर्थात् कारयित्रि और भावयित्री प्रतिभाओका समन्वय, काव्यात्मक व्यापार और पात्रोकी योजनाके लिये भी उतना ही आवश्यक

है, जितना शब्द और अर्थके उचित प्रभावशाली सयोगके लिये। इसका अर्थ यह है कि कविको यह कला आनी चाहिए कि 'किस शब्दको वाक्यमे किस प्रकार प्रयुक्त करे कि उससे उद्दिष्ट अर्थ व्यक्त हो सके और भावना-चमत्कार भी बना रह जाय।'

काव्य-सस्कार

किन्तु कविके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसमे काव्य-संस्कार भी होना चाहिए अर्थात् उसे काव्य-रचनाके विधानोका सम्यक् ज्ञान और लोक व्यापारका विस्तृत परिचय होना ही चाहिए। इसके बिना सारस्वत कवि भी असफल ही सिद्ध होगा और दुर्बुद्धि कवि भी यदि निरन्तर काव्य-शास्त्र या कवियोके सम्पर्कमे रहे तो वह बुद्धिमान और आहार्यबुद्धिसे कहीं बढ़कर अच्छा कवि हो सकता है।

समाधि

श्यामदेवका मत है कि 'कविको काव्य-रचनामे समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताकी अधिक आवश्यकता होती है क्योकि अर्थोके चयनके लिये चित्तकी एकाग्रता अधिक उपयोगी होती है।'

अभ्यास और समाधि

आचार्यवर मङ्गलका कहना है कि 'काव्य-स्फूर्तिका प्रधान साधन 'अभ्यास' है। अभ्यास कहते है निरन्तर ग्रन्थोके परिशीलन करनेको। अभ्याससे सभी विषयोमे अप्रतिहत गति हो जाती है। समाधि और अभ्यासमे भेद यह है कि समाधिमे आन्तरिक व्यापारकी प्रधानता होती है और अभ्यासमे बाह्य प्रयत्नकी। समाधि और अभ्यास दोनो ही काव्य-प्रणयनकी शक्ति बढ़ाते है। यायावरीय 'राजशेखर'का मत है कि काव्य-रचनामे शक्ति ही मुख्य कारण है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति ये दोनो शक्तिके ही परिणाम है। जिस व्यक्तिमे काव्य-रचना शक्ति होती है उसीमे प्रतिभा और व्युत्पत्तिका भी स्फुरण होता है। जो शक्तिविशेष काव्य-रचनाके प्रसारमे कविके मानसमे काव्य-रचनाके अनुकूल शब्द-समुदाय, सहृदयके हृदयको मुग्ध कर सकनेवाली शब्द-राशि, शब्दार्थो-

शब्दालङ्कार-प्रपञ्च और कवि-सिद्धान्तानुकूल उक्ति-वैचित्र्यका स्फुरण कराती है उसे प्रतिभा कहते हैं। अप्रतिभावान् व्यक्तिके सम्मुख शब्द तथा अर्थ दोनो अप्रत्यक्ष रहते है और प्रतिभाशालीके सम्मुख शब्द और अर्थ प्रत्यक्ष स्वानुभूतिके समान मूर्त्त रूप लेकर उपस्थित होते हैं। इस प्रतिभाका ही प्रताप है कि मेधावि रुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियो द्वारा प्रस्तुत वर्णनोमे भी पाठकको प्रत्यक्षानुभूतिका दर्शन मिलता है। यह प्रतिभाका ही बल है कि कवि अपनी कुटियामे बैठा हुआ देशान्तरो और द्वीपान्तरोकी वस्तुओका भी अपने काव्यमे ऐसा सच्चा और सजीव चित्र खींच देता है कि पाठकोके मनमे यह सन्देह ही नहीं हो पाता कि कविने उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है।

कारयित्रि प्रतिभा

प्रतिभा दो प्रकारकी होती है—१. कारयित्रि और २. भावयित्रि। जो प्रतिभा काव्यकी रचनामे रचयिताकी सहायता करती है वह कारयित्रि प्रतिभा कही जाती है। उसके भी तीन भेद है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। प्राक्तन जन्मान्तर सस्कारसे प्राप्त प्रतिभाको सहजा कहते हैं, वर्त्तमान जन्मके सस्कारोसे उत्पन्न तथा अत्यन्त अभ्याससे उद्बुद्ध होनेवाली प्रतिभाको आहार्या कहते है और मन्त्र-तन्त्र या तपस्यासे जो प्रतिभा प्राप्त होती है वह औपदेशिकी कहलाती है।

भावयित्री प्रतिभा

काव्यके अर्थकी भावनासे जिनकी बुद्धि पक गई है उन सहृदयोके हृदयको आह्लादित करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। भावयित्री प्रतिभा कविके काव्य-रचना-व्यापार-रूपी वृक्षको सफल बनाती है। बिना इस प्रतिभाके वह फलहीन तथा निरर्थक ही रह जाती हैं। कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला भावक।

राजशेखरका मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो मिलकर

कविकी विशेषताका सम्पादन करती हैं।' कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिभा या व्युत्पत्ति अकेले ही किसीको काव्यको उत्तमता नहीं प्रदान कर सकती किन्तु प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो मिलकर रचनाको प्रशस्यतर बना देती है। लोकमे भी केवल लावण्यवान् या रूपवानके लिये सुन्दर शब्दका व्यवहार नहीं होता वरन् जिसमे लावण्य और रूप-सम्पत्ति दोनो हो, वही वास्तविक सुन्दर कहलानेका पात्र हो पाता है।'

छन्दोयोजना-मात्र, कर देनेसे कोई कवि नहीं हो सकता। कवि बननेके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोकी आवश्यकता होती है।

उपयङ्कित बातोको हम सक्षेपमे इस प्रकार व्यक्त कर सकते है—

१. श्यामदेवका मत है कि समाधि ही काव्य-प्रेरक तत्त्व है।

२. मङ्गलका कथन है कि काव्यकी स्फूर्ति अभ्याससे मिलती है।'

३. रुद्रट और राजशेखर मानते है कि 'समाधि और अभ्याससे जो शक्ति पनपती है वही काव्यकी जननी है।'

४. आनन्दवर्धनने प्रतिभाको प्रेरणा-शक्ति माना है और मङ्गलने व्युत्पत्तिको।

५. प्रतिभा दो प्रकारकी होती है—कारयित्री और भावयित्री।

६. कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति भावक, किन्तु 'सच्चे कविमे दोनो प्रतिभाएँ होनी चाहिएँ।'

७. कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकारकी होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी, जिनके अनुसार क्रमश तीन प्रकारके कवि होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक।

बाह्य प्रेरणा

काव्यका स्फुरण बाहरसे भी होता है—वाल्मीकिका 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इसका प्रमाण है, किन्तु यह अनायास काव्यके लिये है; सायास काव्यमे ससर्ग, अभ्यास आदिकी आवश्यकता पड़ती है।

शक्ति निपुणता और अभ्यास

आचार्य मम्मटका मत है कि 'काव्यकी उत्पत्तिमे शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीन कारण होते है।' शक्तिका अर्थ वही है जो प्रतिभाका है। मम्मटका मत है कि इस शक्ति या प्रतिभाके बिना या तो काव्यकी सृष्टि ही नहीं होती या होती भी है तो अत्यन्त हास्यास्पद।' अन्य आचार्योंने जिसे व्युत्पत्तिकहा है उसीका नाम मम्मटने निपुणता रक्खा है और बताया है कि 'काव्य' शास्त्र तथा अन्य अनेक विद्याओके अध्ययनसे जो कुशलता प्राप्त होती है वही निपुणता है।' किसी काव्य मर्मज्ञ गुरुके पास जाकर उससे काव्य रचनाकी शिक्षा लेकर उसका निरन्तर प्रयोग करनेको अभ्यास कहते है जिसे फारसी या उर्दूमे इसलाह कहते हैं।

३

साहित्यके विषय

साहित्य-रचनामे हमारी स्वान्तः-प्रेरणा, अनुकरण-भावना और प्रतिक्रिया वृत्ति ही मूल प्रेरणा-शक्तियाँ हैं। इनमेसे स्वान्तः-प्रेरणाको तो उद्‌बुद्ध होनेके लिए मूर्त्त आधार नहीं चाहिये किन्तु अनुकरण और प्रतिक्रिया-वृत्तिको उकसानेवाली मूर्त्त सामग्री तो चाहिए ही। यह मूर्त्त सामग्री उस प्रत्यक्ष संसारसे प्राप्त हो सकती है जिसमे मानव-प्रकृति और मानव-व्यापार, जीव-प्रकृति और उनकी क्रिया तथा जड प्रकृति, सभी सम्मिलित हैं।

इस प्रत्यक्ष जगत्‌के अतिरिक्त एक मानस जगत् भी है जो अन्य जीवोमे भी थोड़ा बहुत होता है किन्तु जिसकी अभिव्यक्तिका साधन उनके पास न होनेसे उसका ठीक विवरण हम नहीं दे सकते। किन्तु वाणीके कारण मनुष्यके मानस जगत् या भाव-जगत्‌का भी व्यापक परिचय प्राप्त किया जा चुका है और इसीलिये हम विस्तारसे उस

मानव-प्रकृति, जड प्रकृति तथा मानस जगत्का परिचय देंगे जो आज तक ससार-भरके साहित्यका आधार बनी रही है और जिसमेसे निरन्तर सामग्री लेकर साहित्यकार अपनी काव्य-श्री सम्मुन्नत करते आए और कर रहे हैं ।

स्थान-महत्त्व

काव्यमे 'कोई घटना कहाँ दिखाई जाय' इसका भी बडा महत्त्व होता है। जिस स्थानमें कोई दृश्यपीठ न हो, किसी प्रकारका आकर्षण न हो, कथामे आनेवाले पात्रोके आश्रय या व्यापारके लिये दृश्य-विधानकी योजना न हो, सर्व विदित या सर्व-साधारण, पूर्व-परिज्ञात स्थान न हो वह कथा-व्यापारको उदात्त, लोकप्रिय, रुचिकर और आकर्षक बनानेमे असफल होता है। प्रायः वही स्थान अधिक कथानुकूल होता है जो नया हो, जिसका प्रयोग पहले न हुआ हो, जिसे किसीने पहले न देखा सुना हो या पूर्व ज्ञात होनेपर भी जिसमे कोई नया चमत्कार, नई सजावट-बनावट हो, जिसके विविध भागोको कथा-व्यापारके लिये पात्र प्रयोग कर सकते हो।

साहित्यमें व्यापार-योजना

प्रबन्ध काव्य-रचनामे पात्र, और व्यापारकी आवश्यकता पड़ती है और जबतक व्यापार या कार्य न हो तबतक पात्र या स्थानका कोई महत्त्व नहीं। निश्चेष्ट पात्र और निर्जन स्थान चाहे जितने सुन्दर या भव्य हो, वे तबतक नाटकके लिये व्यर्थ है जबतक कि वे किसी घटनाके अङ्ग न बनें। इन घटनाओमे मनुष्यकी स्वाभाविक गति, उसकी मानसिक क्रियाके अनुरूप चेष्टाएँ, दैवी घटनाएँ, आकस्मिक घटनाएँ सभी नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आ सकती है। इनमे कुछ तो व्यक्तिगत होती है जिन्हे करने या न करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको होता है जैसे—चोरी करना, कहीं जाना, किसीसे प्रेम करना आदि, कुछ सामूहिक होती है, जैसे—आक्रमण करना, मिलकर व्यापार करना, सहसंस्थापन करना आदि; कुछ दैवी होती हैं, जैसे—बिजली गिरना, आग

लगना, घर या वृक्षका गिरना, बाढ़ आना, नाव उलटना, बाँध टूटना, इत्यादि, कुछ सामाजिक होती हे जो सामाजिक नियमोके पालन करने या करानेके लिये की जाती है, जैसे—किसी असामाजिक कार्य करने, जाति बहिष्कार या देश-द्रोह करने और देश-निष्कासन होने आदिपर। कभी कभी किसी विशेष सिद्धान्तकी रक्षा या आदर्शकी स्थापनाके लिये भी कोई व्यापार करना पड़ता है, जैसे—रामका वनवास। कुछ ऐसी भी घटनाएँ है जो मनुष्यकी इच्छा पर्ण न होनेपर उसके मानसिक फलस्वरूप होती हैं, जैसे—व्यापार नष्ट होने या किसी कामके सफल न होनेपर पागल होना, हत्या कर लेना आदि। ये सब बडी-बड़ी घटनाएँ है और ये घटनाएँ या तो कथाकी पूर्ण घटना हो सकती हैं या अङ्ग-घटना हो सकती है, किन्तु एक घटनाके अन्तर्गत भी बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाएँ होती है और उन उपघटनाओकी भी अङ्गीभूत अन्य उपाङ्ग घटनाएँ हो सकती हैं।

साहित्यके विषयपर भारतीय आचार्य

अत संसार और ससारके बाहरकी तथा मनुष्यकी कल्पनामे आनेवाली कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो साहित्यमे वर्णित न की जा सके। इसीलिये भरत मुनिने नट्यशास्त्रके प्रारम्भमे कहा है—

> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

[कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, कर्म और योग ऐसा नहीं है जो नाट्यमे न दिखाया जा सके।]

भामहने भी अपने काव्यालङ्कारमे काव्यके विषयकी मीमांसा करते हुए कहा है—

> न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
> जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः॥

[कोई शब्द, अर्थ, शिल्प और क्रिया ससारमे ऐसी नहीं है जो

काव्यका अङ्ग न बन जाय, इसीलिये कविके ऊपर सचमुच बडा भारी भार है ।]

आनन्दवर्धनने भी यही सङ्केत करते हुए कहा है—

वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्य कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। न तदस्ति वस्तु किञ्चित्, यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् ।

[ससारमे कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी न किसी रसका अङ्ग न बन जाती हो। ससारमे कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कविके मनमे एक विशेष प्रकारका भाव न उत्पन्न कर देती हो क्योकि यदि वह किसी विशेष प्रकारका भाव उत्पन्न न करे तो वह काव्यका विषय ही नहीं बन सकती। कहनेका तात्पर्य यह है कि ससारकी सब वस्तुएँ साहित्यका विषय बन सकती है।]

आनन्दवर्धनने तो ससारकी वस्तुओकी ही बात कही है किन्तु हम पीछे बता आए है कि कवि केवल प्रत्यक्ष ससारका ही नहीं वरन् मानस ससारका भी वर्णन और चित्रण करता है। धनञ्जयने अपने दशरूपकमे कहा है—

रम्य जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम् ।
उग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु ॥
यद् वाप्यवस्तु कविभावकभावनीय ।
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥

[सुन्दर, घृणित, उच्च, नीच; भयानक, हर्षदायक, गम्भीर और विकृत कोई भी वस्तु हो, वह कवि या सहृदयकी भावनासे भावित होकर ससारमे रस बन जाती है।]

शेक्सपियरने अपने 'मिड्-समर नाइट्स ड्रीम'मे काव्य-विषयका सङ्केत करते हुए कहा है 'कविकी दृष्टि अत्यन्त तन्मयतापूर्ण आनन्दोन्मादसे घूमती हुई स्वर्गसे पृथ्वी और पृथ्वीसे स्वर्ग तक देख जाती है और जैसे जैसे अज्ञात वस्तुओके रूपोको कल्पना मूर्त करने लगती

वे वैसे वैसे कविकी लेखनी उनको आकार प्रदान करती है और जो वस्तुएँ तुच्छ प्रतीप्र होती है उनका भी नामकरण और स्थानयोजन कर देती है।'

शेलीने 'काव्यका समर्थन' (डिफेन्स ऑफ पोइट्री) मे लिखा है—

'कविता प्रत्येक वस्तुको मनोहरता प्रदान करती है। जो अत्यन्त सुन्दर है उसके सौन्दर्यको सवर्धित करती है और जो अत्यन्त विरूप होती है उसे सौन्दर्य प्रदान करती है।' ले हन्टने अपने 'कविता क्या है?' (ह्वाट इज पोइट्री ?) शीर्षक निबन्धमे कहा है कि विश्व-भरमे जो कुछ है सभी काव्यका विषय है।' प्रसिद्ध दार्शनिक शौपेनहावरने कहा है कि 'ससारमे कोई निश्चित सुन्दर वश्तुएँ नहीं है, अर्थात् कोई वस्तु अपनेमे सुन्दर नहीं होती। प्रत्येक वस्तु सुन्दर समझी जानेके योग्य है और यदि हममे उसे समझनेकी आवश्यक प्रतिभा हो तो सम्भवतः अनेक प्रकारसे सुन्दर समझी जा सकती है।'

आचार्य शुक्लजीने कविके इस व्यापक साम्राज्यका विवरण देते हुए कहा है—

लोकमे फैली हुई दुःखकी छायाको हटानेमे ब्रह्मकी आनन्द-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणतामे भी अद्भुत मनोहरता, कटुतामे भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डतामे भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरोधोका यही सामञ्जस्य कर्म-क्षेत्रका सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुलताका सामञ्जस्य ही लोकधर्मका सौन्दर्य है।' और यह केवल कर्म-क्षेत्र और लोक-धर्मका ही नही, साहित्यका भी सौन्दर्य है क्योकि कवि कर्म-क्षेत्र और लोक-धर्मके इसी सौन्दर्यका दर्शन करता, उसीसे भावित होता और उसीका निरूपण करता है अतः जितने विषय गोचर हो सकते हैं और जिनकी कल्पना की जा सकती है वे सभी काव्यके विषय हो सकते है।

४

साहित्यका प्रयोजन

प्रत्येक व्यक्ति कुछ कहना चाहता है, किसी ढङ्गसे कहना चाहता है, किसी प्रेरणासे कहना चाहता है और किसीके लिये कहना चाहता है।

मम्मटने 'काव्य प्रकाश'मे काव्यका प्रयोजन समझाते हुए कहा है—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्य परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततनोपदेशयुजे॥

[यशके लिये, द्रव्य कमानेके लिये, व्यवहार सिखानेके लिये, विपत्ति दूर करनेके लिये, तत्काल आनन्द प्राप्त करनेके लिये और स्त्रियोंके समान मधुर ढगसे सदुपदेश देनेके लिये काव्य रचा जाता है।]

किन्तु इसके अतिरिक्त अपने किसी प्रियको प्रसन्न करनेके लिये, काव्यकला दिखानेके लिये, राजनीतिक या सामाजिक सिद्धान्तो तथा नीतियोके प्रचारके लिये, वर्णनके लिये, वस्तुका विज्ञापन करनेके लिये, किसी विशेष व्यक्ति या वर्गकी निन्दा-स्तुतिके लिये, किसीके प्रति शोकोद्गार व्यक्त करनेके लिये भी काव्यका प्रयोग किया जाता है। किन्तु ये सब विज्ञापन है और साहित्यका प्रयोग ऐसे काव्योके लिये करना साहित्य-व्यभिचार है। इस दृष्टिसे साहित्यके चार प्रकारके प्रयोजन हो गए हैं—

१. स्वार्थ-सिद्धिके लिये।
२. निःस्वार्थ भावसे उपदेश देने या लोकमङ्गलके लिये।
३. कला-प्रदर्शनके लिये।
४. आनन्द-सिद्धिके लिये।

टौल्स्टायने कहा है—'साहित्य या कलाका उद्देश्य है लोक-जीवनका

सस्कार', और वह भी साधारण जीवनका सुधार नहीं वरन् उससे और भी बहुत आगे। आचार्य शुक्लजीने कहा है—हृदयपर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपो और व्यापारोको सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृतिके साथ मनुष्यकी अन्तःप्रकृतिका सामञ्जस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ताके प्रकाशका प्रयास करती है।'

योरोपीय आचार्योंका मत उपदेश और आनन्द

काव्यके प्रयोजनके सम्बन्धमे योरोपमे बड़ा त्वङ्खाहङ्ख चला। वहाँ उदात्तवादी (क्लासिसिस्ट्स) तथा नवोदात्तवादी (निओक्लासिसिस्ट्स) यही मानते रहे कि 'काव्यका प्रयोजन शिक्षा देना है'। किन्तु एमील ज़ोला और फ्लाउबे आदि फ्रान्सीसी प्रकृतिवादियो (नैचुरलिस्ट्स) और तथ्यवादियो (रीअलिस्ट्स) ने यह हल्ला मचाया कि 'कला कलाके लिये है, शिक्षाके लिये नहीं।' किन्तु उन सब मतोको जान लेना चाहिए जिन्होने काव्यके उद्देश्यके सम्बन्धमे कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए है।

यूनानमे प्लेटोके समयमे बहुत दिनोतक यही माना जाता रहा कि 'काव्यका प्रथम उद्देश्य शिक्षा देना ही है।' यूनानमे बालकोको कविता इसलिये पढ़ाई जाती थी कि उससे वे देवताओके सम्बन्धमे ज्ञान प्राप्त करें, अनुकरणीय चरित्रोका अध्ययन करें और सैन्य-सञ्चालन आदि अनेक विषयोका ज्ञान प्राप्त करें। प्लेटोने होमरको अपने गणतन्त्रसे इसीलिये बाहर रक्खा कि उसने देवताओको अनैतिक रूपमे चित्रित किया, अखेलेस्को रुलाया और उसका काव्य किसीको भी सेनापति नहीं बना सका। प्लेटोके इस सिद्धान्तको क्रोचेने 'कलाका अनस्तित्व मानना' (निगेशन औफ आर्ट्स)' बताया है। उसने यह भी कहा है कि 'यह उपदेशवादका सिद्धान्त अत्यन्त असङ्गत है क्योकि होमरने सेनापतित्वपर पुस्तक नहीं लिखी थी, उसने तो काव्य लिखा था।' सर्वप्रथम अरस्तूने ही योरोपमे कविताको सौन्दर्यकी दृष्टिसे देखना प्रारम्भ किया। हौरेसने अपने 'आर्सपोइतिका'मे कहा—'कविको

चाहिए कि वह शिक्षा दे, प्रसन्न करे या दोनो कार्य करे।' लुक्रेतियसने उपदेशकी बात तो मानी किन्तु उसके साथ मम्मटके कान्ता-सम्मित उपदेशकी योजना भी जोड दी। इसे समझाते हुए उसने कहा कि 'जैसे वैद्य लोग बच्चोको कडवी औषधि पिलाते समय पात्रके चारो ओर मधु लगा देते हैं उसी प्रकार कविताका बाह्य रूप सुन्दर होना चाहिए, जिससे कि उसकी मधुरताके कारण लोग उसे ग्रहण करें और फिर उसके उपदेशको आत्मसात् कर जायँ।' मध्य युगमे पहुँचकर भी लोग उपदेशको ही काव्यका लक्ष्य मानते रहे और दाँतेने भी कहा कि 'कविता इसलिये होनी चाहिये कि वह हमे दुःखसे आनन्दकी ओर ले जाय।' सिडनीने हौरेसके मतसे कुछ थोडा-सा भिन्न होकर कहा कि 'कवितासे आनन्दप्रद शिक्षा (डिलाइटफुल टीचिंग) प्राप्त होनी चाहिए।' तासोने हौरेसके सिद्धान्तका विवेचन करते हुए कहा कि 'जितना महाकाव्य (इपिक) है वह आनन्द देनेके साथ हितकर होता है। सम्पूर्ण काव्यका ही उद्देश्य सम्भवतः यही है कि 'वह आनन्दके द्वारा लाभ सिद्ध करे।' इसपर बडा मतभेद हुआ। कास्तेलवेत्रोने कहा कि 'कविता केवल जनताको प्रसन्न करने और मनोविनोदके लिये ही प्रारम्भ हुई अर्थात् इसलिये कि वह अपढ जनता और साधारण मनुष्यके मस्तिष्कको प्रसन्नता दे और उसका मनोविनोद करे। सत्रहवीं शताब्दीमे पियरे कौर्नीलने कहा—'नाट्यकाव्यका उद्देश्य केवल यही है कि वह दर्शकोंको आनन्द दे' किन्तु साथ-साथ उसने यह भी कहा कि 'मैं उसका विरोध नहीं करता हूँ जो आनन्दके साथ-साथ हितकर होनेकी भी बात करते हैं।' ड्राइडनने अपने 'नाटकीय काव्यपर निबन्ध' ('ऐसे औन ड्रैमेटिक पोइट्री) में कहा है कि "यह मानव-मात्रके आनन्द और उपदेशके लिये है"। वर्ड्सवर्थने अपने 'प्रगीत काव्य' (लिरिकल बैलेड्स)की भूमिकामें कहा हैं कि 'कवि केवल एक यही बन्धन मानकर लिखता हैं कि मनुष्यको मनुष्य होनेके नाते जितना ज्ञान होना चाहिए उसके अनुसार उसे तात्कालिक आनन्द प्राप्त हो जाय।'

शेली कुछ अधिक मुँहफट था, उसने कहा—'उपदेशात्मक कवितासे तो मै घृणा करता हूँ', किन्तु आगे चलकर वह कहता है—'मेरा उद्देश्य अबतक केवल यही रहा है कि पाठकोके विशिष्ट वर्गोंकी अत्यन्य उदात्त कल्पनाको नैतिक उच्चताके श्रेष्ठतम आदर्शोसे परिचित करा दूँ क्योकि मैं जानता हूँ कि जबतक मनुष्य नैतिक सदाचारके सिद्धान्तोसे स्नेह न करे, प्रभावित न हो, उनमे विश्वास न करे और उन्हे सहन न करे तबतक ये सिद्धान्त उन बीजोके समान है जो चलती सड़कपर अज्ञात पथिकोके पैरोसे कुचले जाकर लूले बन गए हैं।' गेटेने इसमे तनिक-सा परिवर्त्तन करते हुए कहा—'अच्छी साहित्य-कृति हमे शिक्षा नहीं देती, हमे बल देती है।' कीट्सने पोपके काव्यकी आलोचना करते हुए कहा—'कविताका महान उद्देश्य यह है कि वह मित्र बनकर हमारी चिन्ताओंका शमन करे और मनुष्योके विचार ऊपर उठा दे।'

कलार्थं कला

काव्य-द्वारा शिक्षा देनेके सिद्धान्तका विरोध करते हुए पोने कहा—'जब कविता कविताके लिये हो, तभी श्रेष्ठ होती है।' इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा कि 'मनुष्यका अन्तिम ध्येय आनन्द है। शिक्षा तो केवल इस आनन्दके लिये मार्ग प्रदर्शित करती है किन्तु कलाएँ तो हमें ठीक उस सुखतक पहुँचा देती हैं।' 'कलार्थे कला' (आर्ट्स फौर आर्ट्स सेक) के सिद्धान्तवालोने इस शिक्षावाले उद्देश्यका विरोध करते हुए बहुत-सी बातें कही हैं—बौदेलियाने कहा है कि 'सब वस्तुएँ स्वभावसे बुरी होती है। प्रत्येक युगमे मानवताको ऐसे कलाकारो और महापुरुषोकी आवश्यकता पड़ती रही है जो सन्मार्ग दिखावें अतः सम्पूर्ण गुणोके उद्भवका आधार होनेके कारण कला ही प्रधान है।' औस्कर वाइल्ड आदिने बताया कि 'जीवन सदा कलाका अनुकरण करता है और कला ही जीवनकी श्रेष्ठताके मान स्थापित करती है।' इसीलिये पेटरने कहा कि 'जीवनको ललित कलाके रूपमे ही बिताना चाहिए।' रैमी दे गौर्मीने और भी एक पग आगे बढकर कहा—कलासे

यह नहीं समझना चाहिए कि वह किसी व्यक्ति या समूहको सुधारकर ऊँचा उठा देगी। उससे ऐसी आशा करना तो ऐसा ही है जैसे गुलाबको इसलिये श्रेष्ठ समझना कि उससे गुलाबजल निकालकर आँख भी अच्छी की जा सकती है।'

इसी युगमें ऐसे भी लोग उत्पन्न हुए जो काव्यका उद्देश्य पुनः शिक्षा देना ही मानने लगे। रस्किनने स्पष्ट कहा था, 'कलाओंका मुख्य उद्देश्य ही यह होना चाहिए कि वे जनताको शिक्षा दें।' उसने कविता या कलाके तिहरे उद्देश्य बताए—१. मनुष्योंकी धार्मिक भावनाओंको शक्तिशाली बनावे, २. उनकी नैतिक स्थिति ठीक करे और ३. उन्हें व्यवहार-ज्ञान सिखावे।

उसका मत था कि 'आनन्द तो उन कलाओंके उचित रूपसे कार्य करनेका चिह्न-मात्र है। वह उद्देश्य नहीं वरन् कलाके साथकी उपज है।' टौल्स्टौयने रस्किनके इन तीन उद्देश्योंमेंसे प्रथम दोका समर्थन किया और हौरेसने अन्तिम दो का। बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें उदार कहलानेवाले अनेक व्यक्तियोंने 'कलार्थे कला' की ही पुकार मचाई। इसपर लोगोंने यह टिप्पणी की कि 'अपनी मूर्खताके कारण और नियम-पालन करनेमें असमर्थता होनेके कारण उनसे मुक्त होनेके लिये ही यह कोलाहल किया जा रहा है।' टी० एस्० ईलियटने इस सिद्धान्तको निरर्थक बताते हुए कहा कि 'इस सिद्धान्तका हल्ला तो बहुत होता है किन्तु व्यवहार कुछ नहीं, क्योंकि सब लोग कुछ न कुछ सिखाने और बतानेके लिये ही साहित्य-रचना करते हैं। कोई भी ऐसा लेखक नहीं है जो कलाके लिये उसकी रचना करके उसे प्रदर्शनकी सामग्री बनावे, प्रचारकी नहीं।'

नव मानवतावादी (निओह्यूमेनिस्ट्स) लोग तथा उस सिद्धान्तको माननेवाले समीक्षक, उपन्यासकार, नाटककार और कवि सभी अपने समाजवादी दृष्टिकोणके कारण अपनी सब रचनाओंमें उपदेशवादको ही प्रधानता देते हैं, 'कलावाद'को नहीं।

वास्तविक प्रयोजन

यदि हम कवियोके जीवन-चरितका विश्लेपण करें तो प्रतीत होगा कि कविता निम्नलिखित उद्देश्योसे ही की गई है—

१ आत्म-विज्ञापन, २ अर्थ-प्राप्ति, ३. किसी सम्प्रदाय या नीतिका समर्थन, ४. किसी वादका प्रतिपादन, ५. उपदेश, ६. प्रार्थना, ७. स्तुति, ८. वर्णन, ९. समाज-सुधार, १० भावाभिव्यञ्जन, ११. स्वान्त सुखाय तथा १२ काव्य चातुर्य-प्रदर्शन। अधिकाश कवि आजकल केवल अर्थलिप्सा और यशोलिप्साके लिये अथवा किसी वादके फेरमे पडकर-कविता रचते है इसलिये ये साहित्यकार या तो व्यापारी रह गए हैं या भाट।

५
कवि

जो रचना करता है वह साधारणतः कवि या लेखक कहा जाता रहा है। इधर थोडे दिनोमे उसके लिये साहित्यकार और कलाकार शब्दका प्रयोग चल पडा है। हम कवि और साहित्यकार नामसे ही उसकी विवेचना कर रहे हैं।

प्रकृति और अभ्यास

यूनानी आचार्य पिण्डरने दो प्रकारके कवि बताए हैं—

१ जो प्रकृतित बहुत-सी बातें जानते है।

२ जिन्होने विद्याके द्वारा काव्य कला सीखी है।

पिडर आदिका कहना था कि कवि जन्मसे ही होता है, बनाया नहीं जाता।' पीछे चलकर वहाँ भी यह माना जाने लगा कि 'कविमें कुछ तत्त्व ता स्वाभाविक होते हैं और कुछ अध्ययन तथा प्रयास-द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।

रोमन युगमे सिसरोसे लेकर लौङ्गिनसतक सभीने यह कहा कि "साहित्यिक पूर्णताके लिये प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक शक्ति और कला दोनोका पारस्परिक सहयोग आवश्यक है।

कवि और वैज्ञानिकमें अन्तर

कुछ लोगोका मत है कि कवि भी वैज्ञानिक होता है क्योंकि वह भी प्राचीन सामग्रीकी खोज करता है, नईकी रचना करता है और सत्यकी स्थापना करता है।' किन्तु यह मत अत्यन्त भ्रामक है। कवि और वैज्ञानिकमे सबसे बडा अन्तर यह है कि कवि प्राचीन सामग्री लेता तो है किन्तु उसमे कल्पनाका योग देकर उसके संश्लिष्ट रूपको सजाता और सुन्दर बनाता है। उधर वैज्ञानिक, प्रत्येक प्रत्यक्ष पदार्थका विश्लेषण करके उसके तत्व समझाता और उसके सम्बन्धमे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसके प्रयोगकी प्रक्रियाका विधान करता है। कल्पनासे उसका कोई काम नहीं निकलता। अन्य कलाकारोकी अपेक्षा कवि इसलिये अच्छा है कि वह स्वय कल्पना करता है, स्वयं रचता है, जब कि अन्य कलाकार (मूर्त्तिकार, चित्रकार तथा वास्तुकार) प्रायः दूसरोकी प्रेरणा और दूसरोकी कल्पनाके अनुसार रचना करते है।

लेखक

कुछ लोगोंने साहित्यकारको लेखक कहा है। उन्होने लेखकोके बहुतसे वर्ग भी बनाए है, जिनमेसे प्रायः दो विशेष मान्य हैं—

(क) वह मनुष्य, जो कोई कथा या भाव प्रदान करना चाहता है और उसके लिये शब्द ग्रहण करता है।

(ख) वह मनुष्य जो शब्द, भाषा और अभिव्यक्तिके चमत्कारसे प्रभावित करना चाहता है और उसके लिये कोई कहानी ग्रहण कर लेता है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी वर्गीकरण है—

१. चारण (ट्रेलब्लेज़र्स,) जैसे—होमरसे पूर्वके चारण।

२. महालेखक, जैसे—वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपियर आदि।

३. अनुकरणकर्त्ता (डायल्यूटर्स)।

५. प्रतिनिधि (रिप्रेजेन्टेटिव) या वे छोटे तुच्छ लेखक, जो अपने युगका चित्रण करते हैं।

५. विशिष्ट कलाकार (बेल्स-लेत्रिस्त), जो किसी विशेष प्रकारके काव्य-रचना-कौशलको उच्च श्रेणीतक पहुँचा देते हैं।

६. सनकी, जो एक विशेष सनकमे कोई नई शैली चला देते हैं, जैसे—गोंगोरा या जौएस।

कारयित्री प्रतिभाके अनुसार कवियोंके भेद

राजशेखरने काव्य मीमासामे बडे विस्तारके साथ कवियोके भेदोपभेद गिनाए है। उसने दो प्रकारकी प्रतिभा बताई है—कारयित्री और भावयित्री। इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि जो प्रतिभा कविको रचनाके लिये उत्तेजित करती और उसकी सहायता करती है वह कारयित्री कहलाती है।उसके तीन भेद होते हैं—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इनके अनुसार क्रमशः तीन प्रकारके कवि होते है—१. सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३. औपदेशिक। जिस बुद्धिमान् पुरुषका अध्ययनके बिना ही केवल जन्मान्तर सस्कारोसे सारस्वत अनुभवोका ज्ञान हा जाता है उसे सारस्वत कवि कहते हैं। जिसे इसी जन्मके अभ्याससे प्रतिभा-सम्पत्ति प्राप्त होती है वह आहार्यबुद्धि या आभ्यासिक कहलाता है। मन्त्रादिके अनुष्ठानसे जिसमे कवित्व-शक्तिका उद्भव हो वह दुर्बुद्धि-शिष्य औपदेशिक कवि कहा जाता है। इन तीनो प्रकारके कवियोमे क्रमशः औपदेशिकसे आभ्यासिक और आभ्यासिकसे सारस्वत कवि उत्तरोत्तर कुशल होते हैं।

राजशेखरका मत है कि 'तीनो प्रकारके कवियोमे जिसकी रचनामे उत्कर्षकी मात्रा अधिक होगी वही उत्तम कवि कहा जायगा, चाहे वह औपदेशिक हो, आभ्यासिक हो या सारस्वत हो।' गुणोंकी अधिकतासे उत्कर्ष होता है। जिस कविमे जितने ही गुण होगे उसकी कविता उतनी ही उत्कृष्ट मानी जायगी।

भावयित्री प्रतिभा

राजशेखरने कहा है कि 'जो प्रतिभा काव्यके अर्थको भली प्रकार समझ सकनेवाले, परिपक्व बुद्धिवाले सहृदयोंके आह्लादित करती है उसे भावयित्री कहते है। यही प्रतिभा काव्य-रचनाको सफल करती है।' इस प्रसङ्गमे राजशेखरने बताया है कि, 'कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि और भावयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति भावक कहलाता है।' आचार्योंका मत है कि 'कवि तो काव्यके अर्थकी वास्तविक भावना करता है और भावक उसकी रचना करता है।' अतः कवि और भावकमे कोई अन्तर नहीं समझना चाहिए—

प्रतिभा तारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कवि प्रायो न भजत्यधमा दशाम्॥

[प्रतिभाकी कमी और अधिकताके आधारपर ही कवियोंके अलग-अलग वर्ग बनते है। भावोमे रमण करनेवाला व्यक्ति भावक कवि ही सर्वश्रेष्ठ और लोकमान्य होता है। कवि और भावकमे स्वरूपका कोई भेद नहीं है।]

कवि और भावक भिन्न होते है

कवि और भावकमे एकताके प्रतिपादन करनेवाले आचार्योंके मतसे कालिदास सहमत नहीं है। उनका कहना है कि 'कवि और भावकमे महान् अन्तर है। काव्यके रचयिताको कवि कहा जाता है और काव्यार्थकी भावनामे परिपक्व बुद्धिवाला वह सहृदय व्यक्ति भावक कहलाता है जो वर्णनीय वस्तुमे तन्मय होकर रसास्वादनकी अवस्थाको पहुँचाता है।' कवि और भावकके विषयमे भी बहुत अन्तर है। कविके वर्णनीय घट, पट आदि पदार्थ विषय होते हैं और रसमात्रके आस्वादनमे लीन भावका विषय रसास्वादन-मात्र होता है। ऐसी स्थितिमे कवि और भावकके परस्पर स्वरूप तथा विषय दोनोंमे भेद होनेके कारण कवित्व और भावकत्व भिन्न-भिन्न हैं।

दो प्रकारके भावक

मङ्गलका मत है कि 'भावक दो प्रकारके होते हैं—अरोचकी और सतृष्णाभ्यवहारी।' यायावरीय 'राजशेखर' का मत है कि 'अरोचकी, सतृष्णाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी ये चार प्रकारके भावक होते हैं।'

१. जिस प्रकार आरोचक रोगमे मनुष्यको सुस्वादयुक्त भोज्यमे भी स्वाद नहीं प्रतीत होता उसी प्रकार अरोचकी भावकको सरस काव्यमे भी सन्तोष नहीं होता। वह नाक भौ सिकोडकर अपनी अरोचकताकी व्यञ्जना कर देता है। सतृष्णाभ्यवहारी भावक उन मरभुखोके समान होता है जो परोसे हुए अन्न, व्यञ्जनमेसे एक दाना भी नहीं छोडता, सम्पूर्ण काव्य-मात्रमे रसास्वादन करनेको उत्सुक रहता है। अब विचारणीय यह है कि 'अरोचकी भावकोमे स्वाभाविक अरोचकता होती है या ज्ञान पूर्विका'। इनमे यदि स्वाभाविक अरोचकता हो तब तो सैकडो प्रयत्न करनेपर भी बङ्ग रसकी स्वाभाविक कालिमाके समान दूर नहीं हो सकेगी। हॉ, यदि वह ज्ञान-पूर्वक उत्पन्न हुई होगी तो विशेष रस और ध्वनियोसे पूर्ण काव्यको सुनकर दूर हो जायगी और उसमे रसास्वादनकी रुचि जागरित हो जायगी।

२. काव्य-निर्माणके क्षेत्रमे पहले-पहल आनेवाले व्यक्तिकी वृत्ति सतृष्णाभ्यवहारिताकी ही हुआ करती है। प्रारम्भावस्थामे विवेककी कमीके कारण काव्योके गुणागुणका विचार कठिन होता है। पर आगे चलकर इन गुणोको पहचाननेकी क्षमता आने लगती है।

३. जो स्वभावसे ही दूसरोके गुणोसे द्वेष करनेका अभ्यासी होता है उस मत्सरी भावकको काव्यके अच्छे गुण प्रकट करनेमे भी हिचक होती है और इस डरसे वह काव्यके यथार्थ गुणोको प्रकट नहीं करता कि कहीं 'दूसरे कविकी ख्याति न हो जाय'। ऐसे कम भावक देखनेमे आते हैं जो मत्सर-हीन हो।

४. तत्त्वाभिनिवेशी भावक वह होता है जो काव्यके सम्पूर्ण गुण-

तत्त्वोको भली-भाँति जानकर निःशङ्क और निष्पक्ष होकर उनका विवेचन करता है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोगोने हृदय-भावक, वाग्भावक, गूढ भावक और तत्त्वाभिनिवेशी चार प्रकारके भावक माने हैं।

जो व्यक्ति स्वय किसी काव्यका आनन्द लेकर अपने मनमे ही रक्खे रहता है, बाहर नहीं कहता उसे 'हृदय-भावक' या 'समीक्षक', जो काव्यके गुण-दोषोकी शाब्दिक व्याख्या करता है उसे 'वाग्भावक', जो तन्मय होकर काव्य-पाठ करता हुआ कभी 'आह', कभी 'वाह' करता हुआ, हँसता रीझता, खीझता हुआ अनुभाव व्यक्त करता चलता है वह 'गूढ़-भावक' कहलाता है। तत्त्वाभिनिवेशीका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। किन्तु वास्तवमे ये समीक्षकके भेद हैं, कविके नहीं।

तीन प्रकारके कवि

राजशेखरने यह बताया है कि 'छन्दोयोजना-मात्र कर देनेसे कोई कवि नहीं हो जाता। उसके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति अपेक्षित है। इन दोनों शक्तियोसे सम्पन्न कवि तीन प्रकारके होते हैं—१. शास्त्र-कवि, २. काव्य-कवि और ३. उभय-कवि।

श्यामदेवाचार्यका मत है कि 'शास्त्र कविसे काव्य-कवि और काव्य-कविसे शास्त्र-काव्योभय कवि उत्तरोत्तर अच्छे होते हैं' पर राजशेखरका कहना है कि 'सभी कवि अपने अभ्यस्त विषयोंमें उत्कृष्ट होते हैं। अत दो प्रकारकी रचना करनेवालोमे किसीको एक दूसरेसे उत्कृष्ट कहना अनुचित है।

शास्त्र-कवि

शास्त्र-कवि तीन प्रकारके होते हैं जो शास्त्रीय ग्रन्थ रचते हैं वे एक प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं, जो शास्त्रीय पदार्थोंको काव्यका स्वरूप प्रदान करते हैं वे दूसरे प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं और जो काव्योमे भी शास्त्रार्थ अर्थात् शास्त्रीय परिभाषाओका निवेश करते हैं

वे तीसरे प्रकारके शास्त्र-कवि कहलाते है। साहित्यके लिये तीनो प्रकारके शास्त्र-कवि निषिद्ध है क्योकि वे काव्यको दुर्बोध और अस्पष्ट बनाए बिना मान नहीं सकते।

काव्य-कवि

काव्य-कवि आठ प्रकारके होते हैं—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलङ्कार-कवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि, और शास्त्रार्थ कवि।

श्रुति-सुखद और प्रगाढ, प्रौढ पदबन्धोवाली रचना करनेवाला कवि रचना कवि कहलाता है।

शब्द-कवि तीन प्रकारके होते हैं—नाम-कवि, आख्यात कवि, तथा नामाख्यात कवि। उनमे नामाख्यात कवि प्रधान रचनावाला कवि नाम-कवि कहा जाता है। जो कवि अपनी रचनामे आख्यात अर्थात् क्रिया-शब्दोका ही अधिक प्रयोग करे वह आख्यात कवि कहा जाता है। जिन कवियोकी रचनाओमे नाम और आख्यात दोनोका समान रूपसे प्रयोग पाया जाता है वे नामाख्यात कवि कहे जाते है।

अलङ्कार, रस, भाव आदिकी अपेक्षा न कर अर्थ-मात्रका वर्णन करनेवाला कवि अर्थ-कवि कहा जाता है।

अलङ्कार-कवि दो प्रकारके होते है—शब्दालङ्कार-कवि और अर्थालङ्कार-कवि।

सामान्य रूपसे जो वस्तु कही जानेवाली है उसे भङ्गयन्तरसे कहकर सहृदय-हृदयाह्लादकर्ताका रूप जो दे उसे उक्ति कवि कहते है। अपने काव्यमे रसके ही विधानकी ओर अधिक प्रवृत्ति रखनेवाला कवि रस-कवि कहलाता है। रीतिप्रधान कविता करनेवाला कवि मार्ग-कवि कहलाता है। जो कविगण शास्त्रीय विषयोको काव्यमे निबद्ध करते हैं वे शास्त्रार्थ-कवि कहलाते हैं।

भेद निरर्थक

अभिनवभरतका मत है कि 'ये आठ प्रकारके भेद निरर्थक हैं क्योकि कवि अपने-अपने काव्योमे शब्द, अर्थ, अलङ्कार, रस आदिका यथा

स्थान प्रयोग करते ही हैं। जो इनमेंसे केवल एकको लेकर रचना करता है वह काव्य-कवि नहीं है, वह तो गढ़िया है। जो काव्यकी सायास रचना करता है वह कवि नहीं कहला सकता। अतः कवि एक ही प्रकारका होता है और वह कवि या रचनाकार है।'

युग-प्रतिनिधि कवि

जो कवि अपनी रचनाओंमें अपने युगकी सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक तथा सामूहिक वृत्ति, प्रवृत्ति, भावना, आकांक्षाका समर्थन और प्रतिपादन करते हैं उन्हें युग-प्रतिनिधि कहते हैं। ऐसे कवियोंमें विषय चुननेकी प्रतिभा नहीं होती। ये तो किसी विशिष्ट जनान्दोलन अथवा विशिष्ट व्यक्तिद्वारा प्रवर्तित तथा प्रभावित विचार-धाराके मुख बनकर उसका प्रचार करनेमें योग देते हैं। ये सब भी तृतीय श्रेणीके कवि होते हैं और एक प्रकारके भाट कवि होते हैं।

राष्ट्र-कवि

'राष्ट्रकवि'का अर्थ तो है 'राष्ट्रका कवि'। किन्तु 'राष्ट्रकवि' शब्दका अर्थ लगाया जाता है 'राष्ट्रकी आकांक्षाओं और भावनाओंको व्यक्त करनेवाला व्यक्ति'। यह भी युग-प्रतिनिधिके समान या तो भाटकी श्रेणीमें आता है जो शुद्ध व्यवसायी होता है, जो समय देखकर तदनुरूप रचना करता जाता है और 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजे' उक्तिको चरितार्थ करता रहता है। उसकी रचनाएँ किसी विशिष्ट राजनीतिक आकांक्षाकी भावनाको प्रेरणा देने या उसकी व्याख्या करनेवाली होती है। वास्तविक राष्ट्रकवि वह है जिसकी रचनाओंमें आद्यन्त अपने देशकी संस्कृति, इतिहास, आचार-विचार, वनश्री, सरित-सरोवर-सिन्धु वन-भूधर-मरुस्थलका संस्कार भरा हो, जो चाहे जिस कथा या विषयको लेकर साहित्य-रचना करे किन्तु उसमें व्यापक रूपसे अपने देशके सांस्कृतिक विवरणकी छाप हो।

इस दृष्टिसे वास्तविक राष्ट्र-कवि व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास

तुलसी आदि है जिनकी रचनाओमे अपने देशकी महत्ता पग-पगपर प्रतिध्वनित होती है।

जन-कवि

इधर प्रकृतिवादियो, लोकवादियो तथा यथार्थवादियोके अनुसार एक लोक-कवि भी होता है जो निम्न श्रेणीकी साधारण जनताके भावों और विचारोको प्रोत्साहन दे, इनकी भावनाओको, उन्हींकी शब्दावलीमे, उन्हींमे प्रचलित अप्रस्तुत विधानो द्वारा उन्हींकी मनोवृत्तिके अनुकूल अभिव्यक्त करे।' ये कवि भी दो प्रकारके होते हैं—१. जो साधारण अर्थात् निम्न कोटिकी जनताका नेतृत्व करके उन्हे उद्बोधित करके अपने अधिकारो, स्वत्वो और कर्तव्योके प्रति जागरूक करते है। २. जो स्वयं उस साधारण जन-वर्गका एक अङ्ग बनकर उनकी इच्छा, लालसा, कामना, आकाक्षा और वासनाकी काव्यमय अभिव्यक्ति करते है और इस अभिव्यक्तिके लिये लोक-प्रचलित छन्दो और गीतोकी लय, उनमे प्रचलित अलङ्कार, वर्ण-विन्यास, भाव-व्यञ्जना आदिका ही प्रयोग करके जनताकी रुचिका प्रतिनिधित्व करके उन्हे यह सान्त्वना देते हैं कि 'तुम लोग जो कुछ जिस ढङ्गसे आत्माभिव्यञ्जन करते हो वह सब भी उतना ही मान्य और आदरणीय है जितना राजाश्रित या नागरिक कवियोका काव्य।'

युग-निर्माता

'सर्वश्रेष्ठ तथा वास्तविक कवि वह होता है जो चतुर वैद्यके समान मानव-मात्रकी मानसिक नाडी पहचानकर ऐसी रामबाण काव्यौषधि प्रस्तुत करे कि उसे प्राप्त करनेके लिये स्वय सम्पूर्ण मानव-जाति लालायित हो और उस सञ्जीवनीको प्राप्त करके अपना कायाकल्प कर ले।' ऐसे कवि ससारमे कोई बिरले योगभ्रष्ट होकर उत्पन्न हो जाते है जिनकी लेखनीका स्पर्श पाकर कविता धन्य हो जाती है, जिनके काव्यामृतका सद्यःपान करके मानव सजीव हो जाता है, जिसकी

पङ्क्ति-पङ्क्तिसे शाश्वत सार्वभौम सौन्दर्य लोक-मानसको आह्लादित करता है, जिसके असाधारण आदर्शका दिव्य दर्शन करके मानव अपनेसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा प्राप्त करता है और जिसके कौतूहलपूर्ण अद्भुतको वह एकटक होकर देखता रह जाता है, उसकी ओरसे आँखें नहीं हटाता और जिसकी रचना इतनी सरल, इतनी व्यापक, इतनी गम्भीर किन्तु इतनी तरल होती है कि छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, पण्डित-मूर्ख, राजा-रङ्क सब समान रूपसे उसमें अवगाहन करके समान स्फूर्त्ति तथा आनन्द प्राप्त कर सकते है—

> **सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।**
> **सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥**
> **कीरति भनिति भूति भलि सोई।**
> **सुरसरि-सम सबकर हित होई॥**

वास्तविक कवि वही है जो मानव-मात्रकी भावनाओंमें व्याप्त होकर उनकी शाश्वत महत्त्वाकाङ्क्षाओंको तुष्ट करनेका मार्ग प्रदर्शित करता हुआ उन्हे आह्लादित करे।

६

कविता

ससार-भरके समस्त साहित्योमे कवितापर जितना विचार हुआ है उतना साहित्यके किसी अङ्गपर नहीं हुआ, यहाँतक कि साहित्यके सिद्धान्तोपर भी जो वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन हुआ उसके लिये भी उन आचार्योंने कविताको ही आधार बनाया क्योंकि आरम्भमे साधारण बातचीतके अतिरिक्त साहित्यिक कृतिके रूपमे जो कुछ भी व्यक्त हुआ वह कविताके ही रूपमें हुआ जिसमें कुछ तो छन्दोमयी कथाएँ थीं, कुछ गीत थे, कुछ मन्त्र या स्तोत्र थे और कुछ प्रेमाभिव्यक्ति थी। अतः कविता मानव-भावनाओंका पूर्ण प्रतिबिम्बित्व करनेका साधन

बनी हुई थी। यह काव्य ही वास्तवमे साहित्यका प्रतिनिधित्व करता था।

कविताकी परिभाषा

योरोपीय आचार्योंने कविताकी परिभाषाएँ अनेक प्रकारसे की है। अरस्तूने कहा है—'महाकाव्य (इपिक, कविता, त्रासद, प्रहसन, और स्तोत्र-काव्य (दिथुरम्बिक पोइट्री) तथा वशी और तन्त्रीका सङ्गीत अपने अधिकाश रूपोमे तथा अपनी भावनाओमे अनुकरणके रूप-मात्र हैं।' पी० सिडनीने कहा है कि 'कविता तो अनुकरणकी कला है या इसे रूपककी भाषामे कहा जाय तो वह बोलता हुआ चित्र है, जिसका उद्देश्य है शिक्षा और आनन्द देना।' जौन मिल्टनने कहा है कि 'कविता सरल इन्द्रियोको आनन्द देनेवाली तथा सावात्मक होनी चाहिए।' जौन ड्राइडनने कहा है कि 'यह सत्य है कि कविका कार्य भली प्रकार अनुकरण करना है, किन्तु आत्माको प्रभावित करना, भावोको उत्तेजित करना और हमारी रीझका उत्तेजित करनेका काम केवल अनुकरणसे नहीं हो सकता।' जे० डैनिसने कहा है कि अत्यन्त करुण तथा सख्यातीत शब्दोके द्वारा प्रकृतिका अनुकरण ही काव्य है और तीव्र भाव (पैशन) ही काव्यका विशिष्ट चिह्न है।' जौन्सनने कहा है कि 'कविता केवल छन्दात्मक रचना है तथा कविता वह कला है, जिसके द्वारा सत्यसे आनन्दका गठबन्धन हो सके और विवेककी सहायताके लिये कल्पनाको निमन्त्रित किया जा सके। कविताका तत्त्व ही नई खोज है और कविताका उद्देश्य है आनन्द देकर शिक्षा देना।' विलियम वर्ड्सवर्थने कहा है कि 'कविता सम्पूर्ण ज्ञानकी साँस और सूक्ष्मतर चेतना है। कविता शक्तिशाली भावोका तथा शान्तिके समय स्मरण किए हुए भावो और उद्वेगोका स्वय प्रवाह है।' एस्० टी० कौलरिजने कहा है कि 'कविता साहित्य-रचनाका वह प्रकार है, जो विज्ञानसे उल्टा है, जिसका तात्कालिक उद्देश्य आनन्द देना है, सत्य नहीं।' एक और स्थानपर उसने कहा है—'सर्वश्रेष्ठ क्रमसे शब्दोको

सजाना गद्य कहलाता है और सर्वश्रेष्ठ शब्दोको सर्वश्रेष्ठ क्रमसे सजाना कविता।' पी० बी० शेलीने कहा है कि 'व्यापक अर्थमे कविताको हम कल्पनाकी अभिव्यक्ति कह सकते है क्योकि वह सदा आनन्दसे संयुक्त रहती है।' जे० एच० न्यूमैनने कहा है कि 'अरस्तूके अनुसार आदर्शका प्रदर्शन ही कविता है और कविताका तत्त्व है कल्पना (फिक्शन)।' टी० कार्लाइलने कहा है कि 'मै तो पुरानी अनगढ बातको ही ठीक समझता हूँ कि कविता छन्दोमयी होनी चाहिए जिसमे सङ्गीन हो, जो गेय हो। ऐसा सङ्गीतमय विचार ऐसे मस्तिष्ककी उपज हो सकता है, जो किसी वस्तुके अत्यन्त अन्तरालमे प्रविष्ट हुआ है और उसके गूढतम रहस्यको खोज पाया है।' लार्ड मैकौलेने बताया है कि 'शब्दोका इस प्रकारसे प्रयोग करना ही कविता है कि वे कल्पनामे भ्रान्ति उत्पन्न करें अर्थात् शब्दोके द्वारा वह क्रिया करें जो चित्रकार रङ्गोसे करता है।' ले हन्टने कहा है 'कविता तो सत्य, सौन्दर्य और शक्तिके तीव्र भावकी अभिव्यक्ति है, जो अपने विचारोको कल्पना और भावनाके द्वारा स्पष्ट करती है।' ऐडगर एलेन पोने कहा है—आनन्ददायक भावके साथ सयुक्त सङ्गीत ही कविता है और बिना सङ्गीतका विचार ही गद्य है।' मैथ्यू आरनोल्डने कहा है—'कविता तो केवल उस अभिव्यक्तिका अत्यन्त आनन्ददायक और पूर्ण रूप है जिसतक मानव-शब्द पहुँच सकते है।' उसीने एक स्थलपर कहा है—'कविता तो मनुष्यकी सबसे अधिक पूर्ण वाणी है, जिसमे वह सत्य कहनेकी अवस्थाके निकटतम पहुँच जाता है।' आगे चलकर उसने कहा है कि 'कविता तो जीवनकी समीक्षा है।' जे० एस मिल्नने कहा है कि 'कविता तो विचारो और शब्दोका वह समन्वय है, जिसमे हमारा भावावेग सहसा मूर्त हो जाता है।' वौट्स-डन्टनने कहा है—'मात्रात्मक तथा लयात्मक भाषामे मानव मस्तिष्ककी प्रत्यक्ष और कलात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।' विलियम हैजलिटने कहा है कि 'कविता तो कल्पना और भावोकी भाषा है।' केम्लिने कहा है—'पूर्ण कल्पना और अति सगृहीत

भावनाका मुक्ति-द्वार ही कविता है।' रस्किनने बताया है कि 'कल्पनाके द्वारा उदात्त भावोके लिये उदात्त भूमिका जो सङ्केत मिलता है, वही कविता है।' कोर्टहोपने कहा है कि 'छन्दोमयी भाषामे काल्पनिक विचार और भावनाका उचित अभिव्यञ्जन करके आनन्द उत्पन्न करनेकी कला ही कविता है।' बैनेदेत्तो क्रोचेने कहा है कि 'कला (कविता) अन्तःप्रेरणा है।' किन्तु हमारा मत है—'कविता उस लयवती अथवा छन्दोवती वाग्योजनाको कहते हैं, जिसमे असाधारण अर्थारोपसे किसी पदार्थ वर्णन या भावाभिव्यक्तिको सहृदय-हृद्य किया जाय।'

शब्दमे काव्यत्व

भारतीय आचार्योंने काव्यकी अनेक परिभाषाएँ दी है। १. दण्डीने 'काव्यादर्श'मे और २. कान्तिचन्द्रने अपनी 'काव्यदीपिका'मे 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावलिः' [इच्छित अर्थको व्यक्त कर देनेवाली पदावली] को ही काव्य बताया है। ३. शौद्धोदनिने 'अलङ्कारशेखर'मे और ४. वृत्तिकार केशव मिश्रने 'काव्य रसादिमद् वाक्य श्रुतं सुखविशेषकृत' [रस आदि गुणोसे युक्त, सुननेमे सुखद वाक्य] को ही काव्य बताया है। ५. भोजने 'सरस्वती-कण्ठाभरण'मे कहा है—

> **निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।**
> **रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥**

[जो कवि दोषरहित, गुण-सहित और अलङ्कारोसे सजा हुआ रसात्मक वाक्य रचता है, उसे कीर्त्ति और प्रीति मिलती है।] ६. विश्वनाथ कविराजने 'साहित्यदर्पणमे' 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' [रसभरे (रसीले) वाक्यको ही काव्य] बताया है। ७. जयदेवने 'चन्द्रालोक'मे कहा है—

> **निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता।**
> **सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥**

[दोषरहित, लक्षणोवाली, रीति तथा गुणोसे गुँथी हुई, अलङ्कार और रसोवाली, अनेक छन्दोमे सजी हुई वाणी ही काव्य कहला सकती है।] ८. पण्डितराज जगन्नाथने माना है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' [रमणीय अर्थका बोध करानेवाला शब्द ही काव्य है।] इन आठ मतोने शब्दमे ही काव्यत्व माना गया है।

शब्द और अर्थ दोनोंमें काव्यत्व

कुछ ऐसे भी आचार्य है जिन्होने शब्द और अर्थ दोनोमे काव्यत्व माना है। १ भामह, २. उद्भट, ३. रुद्रट और ४. आनन्दवर्धनने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' [जो शब्द और अर्थके सहित हो वही काव्य है।] माना है। ५. वामनने 'काव्यालङ्कार'मे 'काव्यशब्दोऽयम् गुणालङ्कारसस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते' [गुण और अलङ्कारसे परिष्कृत शब्द और अर्थ] को ही काव्य बताया है। ६. कुन्तकने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'मे कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी॥

[असाधारण कवि-व्यापारसे युक्त और असाधारण कवि-कर्म जाननेवाले लोगोको प्रसन्न करनेवाली रचनामे जो व्यवस्थित हितकर शब्द और अर्थ होते हैं, उन्हींको काव्य कहते हैं।] ७. मम्मटने 'काव्य-प्रकाश' मे और ८. 'हेमचन्द' ने 'काव्यानुशासन'में 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' [जो शब्द और अर्थ दोषरहित हो, गुण-युक्त हो और कहीं-कहीं अलङ्कारसे हीन भी हो] उसे ही काव्य माना है। ९. वाग्भट्टने माना है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेत काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये॥

[जो कवि कीर्त्ति पाना चाहे उसे चाहिए कि भले शब्द और अर्थके ऐसे समूहसे काव्यकी रचना करे जो गुण और अलङ्कारोसे सजा हुआ

हो, जिसकी रीति स्पष्ट हो और जो रसोंसे पूर्ण हो।] १०. विद्याधरने 'एकावली' में सीधे-सीधे कहा है—

शब्दार्थौ वपुरस्य शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम्।

[शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं इसलिये शब्द और अर्थके शरीरवाली रचना ही काव्य कहलाती है।] ११. विद्यानाथने 'प्रताप-रुद्रीय' में कहा है—

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥

[गद्य तथा पद्य या दोनोंमें गुण और अलङ्कारसे युक्त, दोषसे रहित शब्द और अर्थसे जो रचना की जाती है, उसीको काव्यके पण्डित, लोग काव्य मानते हैं।] १२. अच्युतरायने 'साहित्य-सार' में लिखा है—

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्॥

[जो गद्य-पद्य आदिमें बँधा हुआ, गुणसे युक्त शब्द और अर्थ होता है वही काव्यका साधारण लक्षण है।] १३. धर्मसूरिने 'साहित्यरत्नाकर'में कहा है—'सगुणालङ्कृतिः काव्यम् पदार्थौ दोषवर्जितौ।' [गुणयुक्त, अलङ्कृत और दोषहीन शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं।] १४. क्षेमेन्द्रने 'कविकण्ठाभरण'में 'काव्यं विशिष्टशब्दार्थ-साहित्य-सदलङ्कृतिः' [अर्थात् वह विशिष्ट शब्द और अर्थ जो साहित्य-शास्त्रमें वर्णित श्रेष्ठ अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो] को काव्य बताया है। १५. न्यायवागीशने 'अलङ्कार-चन्द्रिका'में कहा है—

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ।
नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते॥

[गुण और अलङ्कारसे युक्त, भावमें पगे हुए, सदा दोषसे मुक्त शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं।]

ये पन्द्रह मत शब्द और अर्थमें ही काव्य बताते हैं।

अनुभाव-विभावका वर्णन ही काव्य

कुछ लोगोने 'अनुभावविभावाना वर्णना काव्यमुच्यते' [अनुभाव और विभावके वर्णनको ही काव्य] कहा है।

आचार्य मम्मटके कथनानुसार 'दोषरहित, गुणसहित, प्रायः अलकृत किन्तु कभी-कभी अनलकृत शब्द और अर्थ ही काव्य है' किन्तु चन्द्रालोककार जयदेवने मम्मटकी परिभाषाका खण्डन करते हुए लिखा है—

अङ्गीकरोति य काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णामनलकृती॥

[जो अलङ्कारहीन शब्दार्थको भी काव्य मान सकता है, वह यह क्यो नहीं मान लेता कि अग्नि ठण्ढी भी हो सकती है।]

रीति

इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामनने रीतिको काव्यका आत्मा बतलाया है। रीतिसे अर्थ है—गौडी, वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे अर्थात् इसका सम्बन्ध कानोपर पडनेवाले प्रभावसे है। वामन काव्यमे सङ्गीत तत्त्वके समर्थक है। वे इसे ही कविता मानते है।

अलङ्कार

भामह और दण्डीने काव्यमे अलङ्कारका होना आवश्यक माना है। शोभामे वृद्धि करनेवाली वस्तुओको अलङ्कार कहते हैं अर्थात् अलङ्कार तो पहलेसे ही सुन्दर वस्तुकी शोभा बढ़ाता है।

रमणीयता

इस सम्बन्धमे पण्डितराज जगन्नाथने काव्यकी परिभाषा की है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' [रमणीय अर्थ सुझानेवाला शब्द ही काव्य है।] और रमणीयताकी परिभाषा यह है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप-रमणीयतायाः।' [क्षण-क्षणमे जो नया-नया रूप धारण करे वही रमणीयता कहलाती है।]

रसात्मकता

विश्वनाथ कविराजने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' कहकर बताया है कि रसीला वाक्य ही काव्य है।

ध्वनि

आनन्दवर्धनाचार्यने अपने 'ध्वन्यालोक'मे ध्वनिको ही काव्यका आत्मा माना है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।' वे लोग उस विशेष अर्थको 'ध्वनि' कहते है जो शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धका अतिक्रमण करके श्रोता या दर्शकको किसी 'विशेष अर्थ' की प्रतीति करावे।

तुलसीकी काव्य-परिभाषा

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमे प्रसङ्गवश काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहि सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरिसम सब कहँ हित होई॥

अँगरेज कवि कीट्सने पोपके 'रेप औफ दि लौक' काव्यपर टिप्पणी करते हुए काव्यकी यह परिभाषा बताई थी—

···फौर्गेटिंग दि ग्रेट एन्ड
औफ पोइट्री, दैट इट शुड बी ए फ्रेन्ड
टु सूद दि केअर्स ऐन्ड लिफ्ट दि थौट्स औफ मैन्।

[पोपने ध्यानमे नहीं रक्खा कि कविता (काव्य) का महान् उद्देश्य है मित्रके समान मनुष्यकी चिन्ताओका शमन करना और मनुष्यके विचारोको उदात्त बनाना।]

अभिनवभरतका मत

अभिनवभरतने 'प्रबन्ध सारस्य काव्यम्', कहकर बताया है कि प्रबन्धकी सरसता ही काव्य है। अद्भुत, अलौकिक वस्तुओ, व्यक्तियो या व्यापारोका समावेश हो, उसकी भाषा सरल हो, असाधारण होते

हुए भी सर्वबोध उक्तियोसे पूर्ण हो और ऐसी शैलीमे हो कि उससे लोगोका जी न ऊबे वरन् उत्तरोत्तर उनके कुतूहलकी वृद्धि होती चले। इसलिये अभिनवभरतका मत है—'कौतूहलाविरलत्वं काव्यसारस्यम्।' [अविरल कौतूहल ही काव्यकी सरसता कहलाती है।]

आचार्य शुक्लकी परिभाषा

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने 'कविता क्या है' निबन्धमे कविता या काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

'कविता वह साधन है जिसके द्वारा हम शेष सृष्टिके साथ अपने रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह करते है।'

कविताकी सबसे सरल परिभाषा स्वय काव्य शब्द ही है। कवि-कर्मको ही काव्य कहते है। अतः किसी प्रकारका भी कविकर्म काव्य हो सकता है।

गद्य और पद्य

हमारे देशमे गद्य और पद्य दोनो काव्यके अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँतक कि 'गद्य कवीना निकषं वदन्ति' [गद्य ही कवियोकी सच्ची कसौटी कही गई है] कहकर गद्यकारको ही श्रेष्ठ कवि बताया गया है। आचार्योंने गद्यको 'वृत्तानुगन्धी' अर्थात् छन्दोमय कविताके-से रस भरे हुए गद्यको ही अच्छा गद्य बताया है। किन्तु योरोपमे गद्य और पद्य दोनो अलग-अलग माने गए। मोटे रूपसे सरस छन्दोबद्ध रचनाको पद्य और नीरस छन्दहीन रचनाको गद्य बताया गया है। यहाँतक कि यदि कोई नीरस कविता हो तो उसे भी वे प्रोजेक (गद्यात्मक) अर्थात् नीरस कहते है अर्थात् गद्य वहाँ नीरसताका द्योतक है। जौन्सनने कहा है कि 'कवि और तुक्कड़ दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। पद्यमें लिखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं, वह तो बेचारा कवितासे पेट पालनेवाला होता है।' वर्ड्सवर्थने प्रीफेसमें कहा है कि 'काव्यका उलटा छन्दहीन शब्द नहीं वरन् विज्ञान या तथ्य होता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि कविता और गद्यमे उनके रूपका नहीं, वरन् सामग्रीका विभेद

है। सर पी० हार्टोंगने इसपर टिप्पणी करते हुए अपने 'कविता और पद्यके सम्बन्धपर' (औन दि रिलेशन औफ पोएट्री टु प्रोज़) मे कहा है कि 'कवितामे एक विशेष अर्थ या भावसामग्री होनी चाहिए, जो पद्यमे नहीं प्राप्त हो सकती।' इतना सब शास्त्रार्थ होनेपर भी कविता और पद्य दोनो समानार्थी शब्द माने जाते हैं। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो लोग पद्यको कवितासे भिन्न मानते हैं, वे भी यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि 'सम्पूर्ण कविता पद्यमे ही लिखी जानी चाहिए' और यह बात हेगेल जैस दार्शनिक और आर्नोल्ड जैसे समीक्ष्यवादियोने भी मानी है।

तेरहवीं शताब्दीमे ब्यूवेके विंसेंटने कविताकी एक विचित्र परिभाषा बताई, जिसमे कहा गया है—'कविता वह काल्पनिक वस्तु है जो अलङ्कार तथा भाषाके अन्य उदात्त सौन्दर्योंसे आकर्षक बन गई हो।' उसी समयके लगभग दाँतेने 'कविताको सङ्गीतमय आलङ्कारिक कल्पना' बताया था। यह अलङ्कारका रोग ऐसा लगा कि पीछेके कवि लोग अलङ्कार-शास्त्री ही कहे जाने लगे। मैथ्यू आर्नोल्डने कविताके विषयमे कहा है—'कविताके दो कार्य हैं; १. एक तो मनुष्यके विचारो और भावोके कोषोका अभिवर्धन करना और २ दूसरे, मस्तिष्कको एक नियमित भावके साथ, अनेक अन्तःकथाओंके साथ और भव्य शैलीसे सयत और विकसित करना।'

७

भारतीय साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त

वेदान्ती लोग मायाको आनन्दमे बाधक मानते है किन्तु कविकी माया अर्थात् साहित्य अपने जन्मकालसे लेकर आजतक रसिको तथा सहृदयोको निरन्तर आनन्द देती रही है। इसीलिये हमारे यहाँ काव्यानन्दको 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' या 'ब्रह्मानन्दका सगा भाई' कहा गया

है। दोनो आनन्दोमे अन्तर यह है कि ब्रह्मानन्द शाश्वत, नित्य और स्थायी है किन्तु काव्यानन्द अशाश्वत, अनित्य और अस्थायी है। यह अन्तर होते हुए भी दोनोमे अत्यन्त समता यह है कि दोनोकी प्रकृति एक है, अर्थात् जिस प्रकार निर्विकल्प समाधिमे परात्पर ब्रह्मका ध्यान करते हुए योगी परमान्दका अनुभव करता है और संसारके माया-जालसे पूर्णतः निर्लिप्त तथा विविक्त हो जाता है, उसी प्रकार काव्यानन्दका रस लेनेवाला व्यक्ति काव्यानन्द लेनेकी अवस्थामे संसारसे पूर्णत विविक्त होकर आनन्दमग्न रहता है। भारतीय आचार्योंने काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दका सहोदर बताते हुए समझाया है—

'जब हमारी चित्तवृत्ति साक्षात् ब्रह्ममय हो जाती है तब चैतन्य या ज्ञानका उद्बोध होता है। उस समय हमारी चित्तवृत्ति (मनकी सब क्रियाएँ) उसी ब्रह्ममें लीन होकर लुप्त हो जाती हैं और केवल चैतन्य (परमात्मा) ही रह जाता है। यह तो ब्रह्मानन्दकी अवस्था होती है। इसी प्रकार जब हम काव्य पढते या नाटक देखते है तब हमारी चित्तवृत्ति सहसा स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारीके रूपमे बदल जाती है और इसीसे हमे काव्यमे एक प्रकारका आनन्द मिलता है। यही काव्यानन्द है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द दोनोमें ही चित्तवृत्तिका परिणमन (ब्रह्मानन्दके समय ब्रह्मरूपमें और काव्यानन्दके समय स्थायी भाव, विभाव आदिके रूपमे) होता है अतः काव्यानन्द भी ब्रह्मानन्दका सहोदर है।' अतः जिन महापुरुषोने परात्पर आनन्दका निरूपण किया वे काव्यानन्दको कैसे अछूता छोड़ सकते थे।

काव्यानन्द क्या है?

यह तो स्पष्ट है कि काव्यके पढ़नेसे, सुननेसे और देखनेसे एक विशेष प्रकारका विचित्र आनन्द मिलता है। किन्तु 'यह आनन्द देनेकी शक्ति काव्यके शब्दमें है या उसके अर्थमें है या उसके प्रस्तुत करनेके ढङ्गमे है' इसपर हमारे यहाँके काव्याचार्योंने अनेक प्रकारसे विचार किया और उन विचारोंके अनुसार अनेक सिद्धान्त चले, जिनके

आधारपर हमारे यहाँ काव्योका परीक्षण होता रहा। अतः उनके विवेचनको इस दृष्टिसे हम 'भारतीय समीक्षा-सम्प्रदाय' कह सकते हैं।

काव्यका तत्त्व

हमारे यहाँ आचार्योंने यह माना है कि 'काव्यमे शब्द और अर्थका ही सन्निवेश होता है अतः काव्यका परम तत्त्व या काव्यका आत्मा इन्हीं दोमेसे किसी एक या दोनोको होना चाहिए।' इसी विवादके कारण अनेक सम्प्रदाय उदित हुए। 'अलङ्कार-सर्वस्व'पर टीका लिखनेवाले समुद्रबन्धनने भी कहा है कि 'विशिष्ट शब्द और अर्थोके मिलनेसे ही काव्यकी सृष्टि होती है। इन शब्दो और अर्थोंमे तीन प्रकारसे ही विशेषता आ सकती है—१. धर्म (विशेषता) से, २. व्यापार (क्रिया) से और ३. व्यग्य (विशिष्टार्थ) से।' इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि 'धर्म दो प्रकारके होते हैं—१ नित्य (सदा रहनेवाले) और २ अनित्य (सदा न रहनेवाले)। काव्यमे नित्य धर्म ही अधिक आवश्यक होता है, अनित्य धर्म नहीं। अलङ्कार आदि है काव्यके अनित्य धर्म और गुण है काव्यके नित्य धर्म।' इस दृष्टिसे धर्मके आधारपर शब्द और अर्थकी विशेषता सिद्ध करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—क. अलङ्कार-सम्प्रदाय और ख. गुण (रीति) सम्प्रदाय।

व्यापार (क्रिया) की दृष्टिसे शब्द और अर्थकी दो प्रकारकी विशेषताएँ होती है—१. वक्रोक्ति या उक्ति-वैचित्र्य, और २. भोजकत्व। आचार्य कुन्तकने वक्रोक्तिको ही काव्यका चमत्कार और प्राण माना है अतः उनके नामसे 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' प्रसिद्ध हुआ। भरतने रसकी जो परिभाषा की थी उसकी व्याख्या करते हुए भट्टनायकने भोजकत्व-व्यापारकी बात उठाई इसीलिये इसे भी भरत मुनिके रस-सम्प्रदायके भीतर ही मान लेना चाहिए। भट्टनायकने वहाँ यह समझाया है कि 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावके सयोगसे रसकी निष्पत्ति इसी भोजकत्व-व्यापार (क्रिया) के कारण होती है।'

आनन्दवर्धनने शब्द और अर्थमे व्यञ्जनाका होना ही काव्यका लक्षण माना है इसलिये उन्होने ध्वनिको ही सर्वोत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्धनने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'के प्रारम्भमे अपनेसे पूर्वके उन तीन मतोका विवरण दिया है जो काव्यमे ध्वनिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानते। ये तीन मत है—१. अभाववादी, २. भक्तिवादी ३. अनिर्वचनीयतावादी ।

अभाववाद

भामह, उद्भट आदि आचार्य काव्यमे ध्वनिकी सत्ता ही नहीं मानते इसलिये वे अभाववादी कहलाते है। इनमेसे कुछ लोग १. गुण और अलङ्कार आदिको ही काव्यका एकमात्र साधन मानते हैं और कुछ लोग २. ध्वनिको भी अलङ्कारके भीतर ही सम्मिलित कर लेते है। ये समन्वयवादी ही अन्तर्भाववादी कहलाते है।

भक्तिवादी या लक्षणवादी

भक्तिवादी मानते है कि 'ध्वनि तो भक्ति या लक्षणके द्वारा ही जानी जा सकती है अतः वह लक्षणके अन्तर्गत ही आ जाती है। अतः वह स्वतन्त्र रूपसे काव्यकी विशेषता नहीं मानी जा सकती।'

अनिर्वचनीयतावादी

अनिर्वचनीयतावादियोका मत है कि 'ध्वनि तो अनिर्वचनीय पदार्थ है। वह केवल बुद्धिसे समझा जा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।' इस ध्वनिके विरोधमे बारह मत चले जिन्हे जयरथने 'अलङ्कार-सर्वस्व'की टीकामे इस प्रकार गिनाया है—१. तात्पर्य-शक्ति, २. अभिधा, ३. लक्षणा, ४. अनुमिति, ५. अर्थापत्ति, ६. तन्त्र, ७. समासोक्ति, ८. अलङ्कार, ९. रस-कार्य, १०. आभोग, ११. व्यापार १२. अन्तर्बाधन। इन सब बारह सिद्धान्तोको जयरथने उन तीनो (अभाववाद, भक्तिवाद अनिर्वचनीयतावाद) के भीतर ही समाविष्ट मान लिया है। इन तीनोका पूर्ण रूपसे खण्डन करके ही ध्वनिको विशेष रूपसे काव्यका आत्मा माना गया है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)।

पाँच सम्प्रदाय

समुद्रबन्धने 'अलङ्कार-सर्वस्व'की टीकामे लिखा है कि 'दो तो धर्म (अलङ्कार और गुण) की प्रधानता माननेवालोंके, दो व्यापार (उक्ति-वैचित्र्य और भोजकत्व) की प्रधानता माननेवालोके तथा एक प्रकारके व्यञ्जनाको प्रधान माननेवालोका, कुल मिलाकर पाँच सम्प्रदाय चले—अलङ्कार-सम्प्रदाय, उद्भट आदिका, २. गुण (रीति) सम्प्रदाय, वामनका, ३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तकका; ४. भोजकत्व-सम्प्रदाय, भट्टनायकका और ५. ध्वनि-सम्प्रदाय, आनन्द-वर्धनका। इनमेसे भोजकत्व सम्प्रदाय तो भरतके रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत ही आ जाता है अतः उसे तो रस सम्प्रदाय ही मान लेना चाहिए। इन पाँचके अतिरिक्त एक और सम्प्रदाय है क्षेमेन्द्रके औचित्यका, जो औचित्यको ही काव्यका आनन्द-स्रोत मानता है।

इन्हे यदि हम क्रमसे रक्खें तो ये छह भारतीय समीक्षा-सम्प्रदाय इस प्रकार होगे—१. भरतका रस-सम्प्रदाय, २., भामह, उद्भट तथा रुद्रटका अलङ्कार-सम्प्रदाय, ३, दण्डी तथा वामनका रीति-सम्प्रदाय, ४. कुन्तकका वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ५. आनन्दवर्धनका ध्वनि-सम्प्रदाय और ६. क्षेमेन्द्रका औचित्य-सम्प्रदाय।

शब्द और अर्थ

यद्यपि अङ्ग-सञ्चालन और सङ्केतसे भी हम अपने मनकी बात प्रकट कर सकते है पर वाणीके द्वारा जितनी स्पष्टता और विशदतासे भाव व्यक्त हो सकता है उतना सङ्केत या अङ्ग-सञ्चालनसे नहीं। अतः किसी भी प्रकारकी सोद्देश्य बातचीतमे जितने शब्दोका प्रयोग होगा उन सबका अर्थ होना आवश्यक है। इसीलिये शब्द और अर्थका नित्य या शाश्वत सम्बन्ध माना जाता है। इस अर्थको समाज एक बार निश्चय कर लेता है, तदनन्तर वह प्रयोगसे सिद्ध होता जाता है। शब्द और अर्थके बिना सवाद भी असम्भव है। इसीलिये शब्द और

अर्थका ठीक प्रयोग समझ लेना चाहिए। प्रायः सभी आचार्योंने काव्यकी परिभाषामे शब्द और अर्थको ही महत्त्व दिया है अतः शब्द और अर्थकी मीमासा कर ही लेनी चाहिए।

पीछे कविताकी परिभाषाके प्रकरणमे हम बता आए हैं कि अधिकाश आचार्योंने शब्द और अर्थमे ही काव्यत्व माना है।

मम्मटने अपने काव्य-प्रकाशमे तीन प्रकारके काव्य माने है—१. उत्तम, जिसमे वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यग्यार्थमे अधिक चमत्कार हो [इदमुत्तममतिशयिनि व्यग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।] इसीको ध्वनि-काव्य कहते है। २. मध्यम, जहॉ व्यग्यार्थमे वाच्यार्थसे कम या गौण चमत्कार हो वहॉ गुणीभूत व्यग्य होता है। ३. अधम, जहॉ केवल वाच्यार्थमे ही चमत्कार हो, व्यग्यार्थ कुछ भी न हो। यही अलङ्कार कहलाता है।

काव्यमे प्रयुक्त होनेवाले शब्द तीन प्रकारके होते हैं—१. वाचक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको वाच्यार्थ कहते है और जिस शक्तिसे यह अर्थ जाना जाता है उसे अभिधा शक्ति कहते है। २. लक्षक या लाक्षणिक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको लक्ष्यार्थ कहते है और जिस शक्तिसे यह लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है उसे लक्षणा कहते हैं। ३. व्यञ्जक, जिसके सहारे जाने हुए अर्थको व्यग्यार्थ कहते है और जिस शक्तिसे यह व्यग्यार्थ जाना जाता है उसे व्यञ्जना कहते हैं।

अभिधा शक्ति और वाचक शब्द

अभिनवभरतका सूत्र है—'प्रत्यक्षेङ्गितार्थसूचको वाचकः' अर्थात् प्रत्यक्ष इङ्गित अर्थका सूचक शब्द वाचक कहलाता है। बहुतसे शब्दोंको सुनते ही उनका एक ऐसा स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाता है जिसके सम्बन्धमे किसी प्रकारका सन्देह या वितर्क नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष किया हुआ सकेत या परिचय कई कारणोंसे जैसे व्यवहार, प्रसिद्ध शब्दका साहचर्य, आप्तवाक्य, उपमान, कोष और व्याकरण आदिसे ग्रहण

किया जाता है। जैसे हम कहे कि 'लेखनी लाओ' तो हमने जिस वस्तुकी ओर सकेत करके कहा है उसका ठीक नाम पहले न जाननेवाला भी उस व्यवहारसे जान जायगा कि यह लेखनी है। इसे व्यवहार सकेत कहते हैं। जब हम सुनते है कि 'रामके अनुजने कसको पछाड डाला' तो हम प्रसिद्ध शब्द 'कस'के साहचर्यसे रामका अर्थ बलराम और रामके अनुजका अर्थ कृष्ण ही लगावेंगे, लक्ष्मण नहीं। कभी-कभी हम एक वस्तुको नहीं जानते हैं और उस वस्तुकी विद्यासे सम्बन्ध रखनेवाला आचार्य कहता है—'यह वीणा है, यह सितार है, यह तान पूरा है' तो हम आप्तवाक्यसे उन तीनो तारके यन्त्रोके अलग-अलग नाम जान और मान लेते हैं। हमने बनमानुसका यही विवरण पढ़ा है कि उसके पूँछ नहीं होती, मनुष्यके समान होता है पर बन्दरोके समान पेडोपर कूदता और झूलता है। जन्तुशालामे पहुँचकर हम तत्काल मनुष्यके आकारवाले उस जीवको देखकर उपमानके द्वारा पहचान जाते है कि यही बनमानुस है। इसी प्रकार कुछ शब्द व्याकरणसे सिद्ध होते है जैसे भीष्मका 'गाङ्गेय' (गङ्गाका पुत्र) नाम व्याकरणसे ही जाना जा सकता है।

प्रत्येक वस्तुके धर्म या उसकी विशेषता (उपाधि) मे ही ऐसे प्रत्यक्ष सकेत रहते जिनसे अर्थ प्रकट होते है। इन धर्म या विशेषनाओके अनुसार वाचक शब्द चार प्रकारके हुए—१ जातिवाचक, जैसे वृक्ष, पशु, गौ आदि, २. गुणवाचक, जैसे 'हरा वृक्ष' मे 'हरा' शब्द; ३ क्रियावाचक, जैसे 'राम दौडता है' वाक्यमे रामकी क्रिया 'दौडता है' और ४ यदृच्छावाचक शब्द, जैसे अपनी इच्छाके अनुसार किसीको मोहन, लक्ष्मण, भरत आदि नामसे सम्बोधित करना। कभी-कभी लोग गौ, कुत्ते या बिल्लीके भी कुछ नाम रख लेते हैं। ये सब नाम भी यदृच्छावाचक शब्द होते है।

वाचक शब्दका जो अर्थ होता है वही वाच्यार्थ कहलाता है।

इसीको मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं क्योंकि अभिधा शक्तिसे यह अर्थ व्यक्त होता है।

अभिधा

'निश्चितार्थविधायिनी शक्तिरभिधा' अर्थात् शब्दोंके निश्चित अर्थोंके अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निश्चित अथवा मुख्य अर्थको प्रकट करनेवाली शक्तिको अभिधा शक्ति कहते है, जैसे 'फुलवारीमे केलेका एक वृक्ष है' इस वाक्यका कोई अन्य अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि इस वाक्यके सब शब्द अपने निश्चित या मुख्य अर्थ ही प्रकट कर रहे है। यहॉ ये मुख्य अर्थ शब्दोंकी अभिधा शक्तिसे प्रकट हुए है। इस अभिधा शक्तिसे चार प्रकारके शब्दोंके अर्थ प्रकट होते है—१ रूढ, २. यौगिक, ३. योगरूढ और ४. कूट।

लक्षणा

'मुख्यार्थभिन्नाभिन्नार्थसूचको लक्ष्यार्थः।' [मुख्य अर्थसे भिन्न किन्तु उससे कुछ सम्बद्ध अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं।] अर्थात् जब किसी शब्दका मुख्य अर्थ छोड दिया जाता है और किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेसे या किसी विशेष प्रयाजनसे कोई दूसरा अर्थ लगा दिया जाता है जो उसके मुख्य अर्थसे भिन्न होनेपर भी उससे कुछ सम्बन्ध रखता हो, वहाँ जिस शक्तिसे यह दूसरा अर्थ लगाया जाता हैं उसे लक्षणा शक्ति कहते है। जैसे यदि हम कहे—'सारा देश व्याकुल है' तो इसमे यद्यपि देश कभी व्याकुल नहीं होता किन्तु देशवासियोंके लिए 'देश' कहनेकी रूढि हो गई है। यहॉ 'देश व्याकुल है' का अर्थ हुआ—'सारे देशवासी व्याकुल हैं।' अतः यहॉ रूढा लक्षणा हुई।

जहॉ किसी प्रयोजन शब्दका मुख्य अर्थ छोड़कर उसका दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है वहॉ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसके कई भेद हैं। पहले दो भेद हैं—१. शुद्धा और २. गौणी। फिर शुद्धाके

१ उपादान, २. लक्षण, ३. सारोपा और ४. साध्यवसाना चार भेद हैं, और गौणीके दो भेद हैं १. सारोपा और २. साध्यवसाना।

प्रयोजनवती लक्षणा

शुद्धा — गौणी

सारोपा साध्यवसाना उपादान लक्षणा लक्षण-लक्षणा सारोपा साध्यवसाना
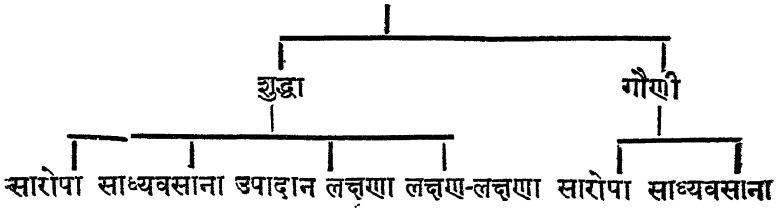
१. उपादान-शुद्धा-प्रयोजन लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थके साथ कोई दूसरा अथ भी लक्षित हो और दूसरेका गुण ग्रहण किया गया हो, जैसे 'वहाँ गोली चल रही थी'। यहाँ गोलीमें चलनेका गुण नहीं, अतः यह दोष मिटानेके लिये 'मनुष्यने बन्दूकसे जो गोली छोडी है उस शक्तिसे गोली दूरतक आगे चलती है', इतने अर्थकी कल्पना करनी पडती है। साथ ही गोली चलनेकी क्रिया होती ही है यह मुख्य अर्थ भी साथ बँधा है।

२. लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड दिया जाता है, जैसे 'वह ज्ञानवापीपर रहता है' वाक्यका अर्थ यह है कि वह ज्ञानवापीके चारोओर बने हुए किसी भवनमें रहता है, ज्ञानवापीकूपके ऊपर नहीं।' यहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड दिया गया है, प्रयोजन इतना ही है कि स्थान ज्ञानवापीके निकट है।

३. सारोपा-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ केवल कुछ थोडी-सी समानताके कारण मुख्य अर्थ छोडकर दूसरा अर्थ ले लिया जाता है, जैसे 'तेरे ये नेत्र क्या हैं पैने वाण हैं।' यहाँ 'ये' शब्द नेत्रोंके लिये न आकर कटाक्षके लिये आया है। इसी सारोपालक्षणासे रूपक अलङ्कारकी उत्पत्ति होती है।

४. साध्यावसाना शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ एक शब्दकी लक्षणा शक्ति और दूसरे शब्दकी अभिधा शक्तिसे निकले अर्थमे समानता होनेपर भी दोनोमेंसे एक अर्थात् विषय या उपमेय न दिया गया हो। कोई प्रेमी अपनी प्रेयसीसे मिलनेपर उससे कहता है 'तुमने मुझे अमृत पिला दिया'। यहाँ 'अमृत' वाचक शब्द है जिसका लक्ष्यार्थ है प्रेयसीसे मिलना किन्तु यहाँ अमृत और प्रेयसीसे मिलना एक हो गया है।

गौणी लक्षणा

जहाँ समानताके कारण लक्ष्यार्थ लिया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। गौणका अर्थ है गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली, जैसे 'भुजदण्ड' शब्द लीजिए। यहाँ भुज और दण्ड दोनोमे समान रूपसे शत्रुको पीडित करनेकी शक्ति है अतः इस गुणके कारण 'भुजा दण्डके समान है' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया।

गौणी शुद्धा लक्षणा

जहाँ किसी समान सम्बन्धके अतिरिक्त किसी दूसरे ही सम्बन्धसे दूसरा अर्थ ले लिया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। 'कुएँपर मेरा घर है' का अर्थ है कुएँके पास मेरा घर है। यहाँ सामीप्य-सम्बन्धसे लक्ष्यार्थ ले लिया गया है। 'मैं विष्णुकी पूजा कर रहा हूँ', का अर्थ है 'मै विष्णुकी मूर्त्तिकी पूजा कर रहा हूँ।' यहाँ तादार्थ्य-सम्बन्ध है क्योकि विष्णुकी मूर्त्ति ही विष्णुकी स्थानापन्न मानी जाती है। 'मैंने अपने हाथसे पुस्तक लिखी है' का अर्थ है 'मैने अपनी उँगलियोसे लिखी है' किन्तु उँगलियोका और हाथका अङ्गाङ्गि सम्बन्ध है इसलिये यहाँ अङ्गाङ्गिभावसे लक्ष्य अर्थ ग्रहण किया है। यदि ब्राह्मण न होनेपर भी कोई वैश्य पौरोहित्यका काम करता है तो लोग उसे पण्डितजी और पुरोहितजी कहते हैं। यहाँ पुरोहितजी और पण्डितजीका और

अर्थ है पुरोहित या ब्राह्मणका काम करनेवाला व्यक्ति। यह लक्ष्य अर्थ तात्कर्म सम्बन्धसे लिया गया है।

उपादान लक्षणा

जब अपना निर्दिष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरा अर्थ ग्रहण कर लिया जाय अर्थात् जहाँ मुख्य अर्थ न छोडते हुए दूसरा अर्थ खींचकर लाया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। इसीलिये इसे अजहत्स्वार्था भी कहते है। 'वहाँ लाठियाँ चल रही थीं' कहनेका अर्थ यह है कि कुछ लोग लाठियाँ ले-लेकर मारनेकी क्रियामे लाठियाँ चला रहे थे। यहाँ मुख्य अर्थ लाठी भी लिया गया है और साथ-साथ 'लाठी धारण करनेवाले पुरुष' यह लक्ष्यार्थ भी ग्रहण किया गया है।

इसके विपरीत जहाँ वाक्यका अर्थ सिद्ध करनेके लिये मुख्य अर्थको छोडकर दूसरा लक्ष्य अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। जब हम कहते हैं 'कुएँपर घर है' तब यहाँ कुएँपरका मुख्य अर्थ पूर्णतः छोड दिया गया है और दूसरा 'कुएँके पास' लक्ष्य अर्थ ग्रहण कर लिया गया है।

जहाँ किसी एक वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका आरोप किया जाय अर्थात् अभेद सिद्ध कर दिया जाय और दोनोका स्पष्ट निर्देश कर दिया जाय वहाँ सारोपा लक्षणा होती है, जैसे किसी चापलूसको देखकर यह कहना कि 'वह कुत्ता है'। यहाँ निर्दिष्ट व्यक्तिमे कुत्तेका आरोप किया गया है और दोनोका निर्देश किया गया है क्योकि यह आरोप इस गुणके कारण किया गया है कि जैसे कुत्ता अपने स्वामीको देखकर या किसीके हाथमे भोज्य पदार्थ देखकर पूँछ हिलाने लगता है वैसे ही वह व्यक्ति भी जिससे स्वार्थ निकलता है उसकी चाटुकारी करता है। इसलिये यह सारोपा-गौणी-लक्षणा है।

सारोपा-शुद्धा-उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ धार्य्य-धारक होता है। जैसे 'वह लाल पगडी चली आ रही है' इसका अर्थ है 'लाल

पगडी पहने हुए सिपाही चला आ रहा है।' यहाँ 'वह' का अर्थ 'पगडी धारण करनेवाला पुरुष' है। इस लक्ष्य अर्थके साथ मुख्य अर्थ पगडी भी लगी हुई है और धार्य्य-धारक सम्बन्ध भी है।

सारोपा-शुद्धा-लक्षण-लक्षणामे मुख्य अर्थ छोड दिया जाता है किन्तु एक वस्तुका दूसरेमे आरोप होता है, जैसे मालवीयजी भारतीय-सस्कृतिके प्राण है' यहाँ मालवीयजी आरोप्य विषय है और प्राण आरोप्यमाण है। यहाँ मालवीयजी व्यक्तिका अर्थ पूर्णतः छोड दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अन्य सब व्यक्तियोकी अपेक्षा मालवीयजी भारतीय सस्कृतिका अधिक कल्याण करनेवाले है।

जहाँ केवल आरोप्यमाण अर्थात् जिस वस्तुका आरोप किया जाय उसीका वर्णन हो और जिसमे आरोप किया जाय उसका वर्णन न हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है, जैसे किसीके यह पूछनेपर कि 'आप अमुकको जानते है' वह उत्तर दे—'कुत्तोकी बात मुझसे न करो'। यहाँ साध्यावसाना गौणी लक्षणा है क्योकि यहाँ केवल आरोप्यमाणका कथन है, जिसका अर्थ यह है कि वह कुत्तेके समान अपने स्वार्थके लिये दूसरोकी चापलूसी करता है, ऐसे चापलूसोकी बात मुझसे न करो। यहाँ आरोप्यमाण 'कुत्तो' का तो कथन है किन्तु आरोप्यके विषयका अर्थात् उस व्यक्तिका कथन नहीं है अतः यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

इसी प्रकार 'लाल पगडी चली आ रही है' कहनेमे 'वह' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है केवल आरोप्यमाण पगडीका ही कथन है, अत यहाँ साध्यवसाना है। इसी प्रकार यदि मालवीयजीको देखकर कोई कहे—'हे भारतीय सस्कृतिके प्राण! आपकी जय हो।' तो इसमें मालवीयजीका कहीं नाम नहीं आया है किन्तु आरोप्यमाण वस्तुका कथन है अतः साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षण-लक्षणा है।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणाके छहो भेदोमे जो लक्षण दिए गए हैं उनमे जो प्रयोजन बताया गया है वह व्यग्यार्थसे सिद्ध होता है,

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे नहीं। व्यंग्यार्थ गूढ और अगूढ भेदसे दो प्रकारका होता है, अतः ऊपर बताई हुई प्रयोजनवती लक्षणाके छहो भेदोमे गूढ-व्यंग्या और अगूढ-व्यंग्या दोनो प्रकारकी लक्षणाएँ होती है।

जहाँ व्यंग्य अर्थ इतना गूढ होता है कि उसे केवल काव्य-मर्मज्ञ ही समझ पावें वहीं गूढ-व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ व्यंग्य अर्थ सुबोध और सबकी समझमे आ सके वहाँ अगूढ व्यंग्या लक्षणा होती है। नाटकमे केवल अगूढ-व्यंग्या लक्षणाका ही प्रयोग होना चाहिए क्योकि वहाँ सभी श्रेणीके ऐसे दर्शक भी होते है जिनका भाषा-ज्ञान अथवा साहित्य-ज्ञान अपरिपक्व होता है। इसीलिये नाटकमे भूलकर भी गूढ-व्यंग्या लक्षणाका प्रयोग न करके अगूढ-व्यंग्यका ही प्रयोग करना चाहिए।

साहित्यदर्पणमे विश्वनाथ कविराजने गौणी लक्षणाके भी उपादान और लक्षण-लक्षणा दो भेद मान लिए है। इस प्रकार गौणीके चार और शुद्धाके चार मिलाकर आठ भेद जब गूढ-व्यंग्य और अगूढ-व्यंग्य होते है तो इन सोलहके भी पदगत लक्षणा और वाक्यगत लक्षणाके भेदसे बत्तीस और इन बत्तीसके भी धर्मगत और धर्मिगत भेदसे प्रयोजनवती लक्षणाके चौसठ भेद हो जाते हैं। रूढा लक्षणाके भी साहित्यदर्पणमे शुद्धा और गौणी दो भेद किए गए हैं और इन दोनोके भी उपादान और लक्षण लक्षणाके भेदसे चार रूप माने गए है। इस प्रकार रूढा और प्रयोजनवती लक्षणाके अस्सी भेदतक बना लिए गए है।

व्यञ्जना

आचार्योने व्यञ्जनाकी परिभाषा बताते हुए कहा है कि जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ अर्थ न प्रकट कर पावें और उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्तिसे अर्थका बोध हो उस शक्तिको व्यञ्जना कहते हैं। उसके द्वारा जो अर्थ निकलता हो उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं

और जिस शब्दसे यह व्यग्य अर्थ निकलता हो उसे व्यञ्जक कहते है। व्यग्य अर्थको ध्वन्यथ, सूच्यर्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमान आदि भी कहते है। व्यञ्जना दो प्रकारकी मानी गई है—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। यह सयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरके अनुसार चौदह प्रकारकी होती है अर्थात् जहाँ अनेक अर्थवाले शब्द उपयुक्त चौदह कारणोसे प्रभावित होकर जिस शक्तिके द्वारा व्यग्य अर्थ ध्वनित करते है उसे अभिधामूला व्यञ्जना कहते है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजनके लिये जब लाक्षणिक शब्दका प्रयोग किया जाय तब उस प्रयोजनकी प्रतीति हो। काव्य-प्रकाशके अनुसार इसके बारह और साहित्य-दर्पणके अनुसार चौसठ भेद होते हैं।

आर्थी-व्यञ्जनाके वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा-वैशिष्ट्यके अनुसार दस भेद होते है और इनके भी वाक्य-सम्भवा, लक्षणा-सम्भवा और व्यग्य-सम्भवाके भेदसे तीन प्रकार होते है। किन्तु व्यञ्जनाका काम वास्तवमे यही है कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे भिन्न कोई तीसरा अर्थ ध्वनित करे। यदि कोई कहे कि 'तुमने आकाश क्यो सिरपर उठा रक्खा है' तो वह यही पूछना चाहता है कि 'तुम कोलाहल क्यो मचा रहे हो' किन्तु 'आकाशको सिरपर उठाने' इस इष्ट-अर्थकी प्रतीत शब्दोके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थसे नहीं होती।

तात्पर्याख्या-वृत्ति

कुछ आचार्योंका मत है कि 'वाक्यके भिन्न-भिन्न पदोके अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध समझानेवाली शक्तिको तात्पर्याख्या-वृत्ति कहते है।' यद्यपि यह वृत्ति सर्वमान्य नहीं है किन्तु मम्मट आदिने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाके साथ इस तात्पर्याख्या-वृत्तिको भी माना है। इनका मत

है कि 'योग्यता, आकाङ्क्षा और आसक्तिके होनेपर ही 'वाक्य' बनता है।' तात्पर्याख्या वृत्तिवाले मानते हैं कि 'शब्दसे अर्थ नहीं निकलता, वाक्यसे निकलता है। अभिधा तो केवल वाक्यके अन्तर्गत पृथक्-पृथक् शब्दोंका अर्थात् सम्बन्ध-रहित शब्दोंका अर्थ बताती है किन्तु उन शब्दोंके जोड़नेसे जो वाक्य बनता है उसका अर्थ तात्पर्याख्या-वृत्तिसे ही जाना जा सकता है। इस वृत्तिसे जो अर्थ निकलता है उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं और यह तात्पर्यार्थ निकलता है वाक्यमेंसे ही।' इस विचारका प्रतिपादन करनेवाले मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं।

८

रस-सम्प्रदाय

राजशेखरने काव्य-मीमांसामें बताया है कि 'ब्रह्माके कहनेसे नन्दिकेश्वरने सर्वप्रथम रसका निरूपण किया था।' नन्दिकेश्वरने कहा है कि नाटकमें 'अप ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिक मतम्' अर्थात् नाटकका आनन्द परमानन्दसे भी बढ़कर है।' यह आनन्द ही रस है।

रसकी परिभाषा और व्याख्या

रसका सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन भरतके नाट्य-शास्त्रमें हुआ है। उन्होंने बताया है कि 'नाटकका साध्य रस है।' रसकी परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' [विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव (आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य भाव-प्रदर्शन) और सञ्चारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है।] अरस्तूने काव्यके सब रूपोंमें नाटकको ही सर्वश्रेष्ठ माना है और भारतीय पण्डितोंने भी 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' (काव्योंमें नाटक ही सबसे सुन्दर) बताया है। इसलिये नाटकके आनन्दको भी उन्होंने नाट्य-रस कहा है।

नाट्यरस

भरतने अपने उपर्यङ्कित सूत्रकी विस्तारसे व्याख्या करते हुए छठे अध्यायमें कहा है—'न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्त्तते' (रसके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता), अर्थात् जितने भी अर्थ है वे सभी रसमय होते है। वास्तवमें यही रस सिद्धान्त है। रसकी व्याख्या करते हुए दृष्टान्त देकर भरतने समझाया है कि 'जैसे अनेक प्रकारके द्रव्य, औषधि, व्यञ्जन आदिके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है और जैसे गुड आदि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषायके सम्मिश्रणसे विलक्षण प्रकारके रस बनते है, उसी प्रकार स्थायी भाव भी अनेक भावोमें पडकर रस बन जाते है। रस क्या पदार्थ है? उत्तर है—'स्वादिष्ट पदार्थ है।' इसका स्वाद कैसे लिया जाता है? उत्तर है—जैसे अनेक व्यञ्जनोसे सिद्ध किए हुए अन्नको भक्षण करते हुए सुमनस पुरुष रसोका आस्वादन करते है और हर्ष आदिका अनुभव करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकारके वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयोके प्रभावसे व्यक्त होनेवाले स्थायी भावोका सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं अर्थात् हर्ष आदिका अनुभव करते है। इसीलिये हमने इनको नाट्य रस कहा है।'

इसी प्रसङ्गमे भरतने अरस्तूके भावोकी अभिनिर्वृत्तिकी भी व्याख्या की है और कहा है—'क्या रसोसे भावोकी या भावोसे रसोंकी अभिनिर्वृत्ति (सिद्धि) होती है?' कुछ लोगोका मत है कि 'परस्पर सम्बन्ध होनेसे इनकी अभिनिष्पत्ति होती है। किन्तु यह बात नहीं है क्योकि भावोसे रसोकी अभिनिर्वृत्ति (सिद्धि) तो दिखाई देती है किन्तु रसोसे भावोकी अभिनिर्वृत्ति नहीं दिखाई देती।'

इतनी स्पष्ट व्याख्या हो चुकनेपर भी इस विपयपर यह वाद-विवाद हुआ कि 'भरतने अपनी परिभाषामे 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दोका जो प्रयोग किया है उनका वास्तविक अर्थ क्या है।' इस बातको लेकर चार मत बड़े प्रसिद्ध हैं—१. भट्ट लोल्लटका उत्पत्तिवाद, २. भट्ट

शङ्कुकका अनुमानवाद, ३. भट्ट नायकका मुक्तिवाद और ४. अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद। इन चारो शास्त्रार्थोंमे यह विचार किया गया कि 'रस उत्पन्न होता है, या उसका अनुमान होता है, या वह भोगा जाता है, या उसका अभिव्यञ्जन या प्रकटीकरण-मात्र होता है और यह रस भी कथाके मूल नायक या पात्रोमे ही होता है या अभिनेतामे होता है या दर्शकमे ?'

भट्ट लोल्लट्टका उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भट्ट लोल्लट्टका मत है कि 'रस तो मुख्य रूपसे नाटकीय कथाके मूल नायकमे ही होता है और रसका सम्बन्ध उसीसे है। अर्थात् नाटककी कथामे सीताजीका साक्षात्कार होनेपर रामके हृदयमे जो स्नेह विशिष्ट परिस्थितियोमे अङ्कुरित होकर उन्हे सीताजीमे अनुरक्त कर देता है वही वास्तविक रस है। जब कुशल अभिनेता रामका अभिनय करने लगता है तब उसके अभिनय-कौशलका ऐसा प्रभाव दर्शकपर पड़ता है कि वह रामका अभिनय करनेवाले अभिनेतामे रामका आरोप कर देता है अर्थात् दर्शक उस अभिनेता (अनुकरण करनेवाले अनुकर्त्ता) को ही राम (अनुकार्य अर्थात् जिसका अनुकरण किया जाय) समझ लेता है। वास्तवमे विभावो १. आलम्बन अर्थात् रामके हृदयका रति भाव (स्थायी), सीताजी और २. उद्दीपन पुष्पवाटिकाके सहारे (आलम्बित होकर) जागकर (उद्दीप्त होकर), अनुभावो (स्वेद, रोमाञ्च, कम्प आदि) से प्रतीत होकर और सञ्चारी भाव (हर्ष, औत्सुक्य आदि) से पुष्ट होकर रस बनता है। यह रस राममे ही उत्पन्न होता है किन्तु अभिनेता भी रामका ऐसा सच्चा अनुकरण करता है कि दर्शक उसीको राम समझ लेते है और उसके अभिनय-कौशलसे प्रभावित होकर आनन्द लेते है अर्थात् सामाजिक या दर्शकको जो आनन्द मिलता है वह अभिनेतामे रामकी समानता पा जानेसे ही मिलता है (नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशात् आरोप्यमाणः सामाजिकाना चमत्कारहेतु।) अतः दर्शकोको रसकी प्रतीति अभिनेतामे

रामका आरोप करनेसे हुई। इसी आरोपके सिद्धान्तके कारण भट्ट लोल्लट्टका मत आरोपवाद कहलाता है।

इनके मतानुसार 'सयोग' का अर्थ है सम्बन्ध। यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. उत्पाद्योत्पादक भाव, २. गम्य-गमक भाव, ३. पोष्य-पोषक भाव, अर्थात् विभाव, अनुभाव, सञ्चारीके संयोग (सम्बन्ध) से रसकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती तो है किन्तु ये तीनो तीन प्रकारके सयोग (सम्बन्ध) से रस उत्पन्न करते हैं—१. विभावके द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है इसलिये विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) उत्पादक हुए और रस उत्पाद्य। २. अनुभावोके द्वारा रसकी अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है इसलिये अनुभाव हुआ गमक (प्रतीति करानेवाला) और रस हुआ गम्य (प्रतीत होनेवाला)। ३. सञ्चारी भावसे रसकी पुष्टि होती है इसलिये वे सब रसके पोषक हैं और रस पोष्य है। इसके अनुसार 'निष्पत्ति' के तीन अर्थ हुए—१. उत्पत्ति, २. अभिव्यक्ति या प्रतीति, ३ पुष्टि। इसीलिये भरतने जो सयोग कहा है वह सयोग एक प्रकारका न होकर उपर्यङ्कित तीन प्रकारका होता है। इसी सयोगसे भरतने रसकी निष्पत्ति बताई है जिसका तात्पर्य है रसकी उत्पत्ति।

उपर्यङ्कित विवरणसे यह सिद्ध होता है कि—१. भट्ट लोल्लट्टने नाटकके नायकमे ही रसका उत्पन्न होना और अभिनेतामे उस रसकी प्रतीति होना माना है, अर्थात् वे इस बातकी चर्चा ही नहीं करते कि दर्शकका रससे या नाटकसे क्या सम्बन्ध है? दर्शक क्यो नाटकमे जाता है और क्यो देखता है? पहला प्रश्न तो यह है कि यदि नाटकमे किसी प्रकारका आनन्द नहीं है तो दर्शक नाटक देखने जाते ही क्यो हैं? फिर दूसरी कठिनाई यह है कि राम या सीता या अन्य ऐतिहासिक पात्र न जाने किस युगमे हुए, न जाने किस परिस्थितिमें उन्होंने किन आचरणोपर, किस प्रकारके भाव व्यक्त किए। अब यदि उनमें रसकी उत्पत्ति मानें भी, तो उसका प्रमाण हमारे पास क्या है?

तीसरी बात यह है कि विभिन्न कवियोंने एक ही कथाको विभिन्न रूपसे वर्णित किया है। ऐसी स्थितिमें नायकके मनमें क्या मुख्य रस उत्पन्न हुआ होगा यह कैसे निर्णय किया जाय। चौथी सबसे प्रमुख बात तो यह है कि बहुतसे नाटकोंकी कथा तो पूर्णतः कल्पित होती है। ऐसी स्थितिमें क्या रसकी उत्पत्ति ही नहीं होती? कल्पित कथामें रस किसमें माना जाय?

भट्ट लोल्लटने यह भी कहा है कि 'अभिनय करनेवाले अभिनेताओंको भी रसकी प्रतीति होती है अर्थात् उनमें भी मूल पात्रोंका अनुकरण करनेके कारण रसकी उत्पत्ति होती है।' यदि अभिनेताओंमें रसकी उत्पत्ति हुआ करती तो केवल अभिनेता ही नाटक किया करते और वे ही रस लिया करते। दर्शकोंकी क्या आवश्यकता रह जाती? और दर्शक उनके आनन्दके साक्षी-मात्र बनकर क्यों जाते? भरतने अपने नाट्य-शास्त्रके इक्कीसवें अध्यायमें कहा है—

यस्मात्स्वभाव सहृत्य साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद् वै नाटकं स्मृतम्॥

[क्योंकि इसमें अङ्गों, उपाङ्गों और गतियोंके क्रमसे व्यवस्थित करके स्वभावका अभिनय किया जाता है और यह भाव दर्शकोंतक पहुँचाया जाता है, इसीलिये यह नाटक कहलाता है।] तात्पर्य यह है कि अभिनयके द्वारा नाटकका भाव दर्शकोंतक पहुँचाया जाता है अर्थात् उसका विशेष रस या प्रभाव केवल दर्शकोंके लिये होता है जिसका उपभोग या आनन्द दर्शक लेते हैं। भरतने जहाँ नाटककी परिभाषा दी है वहाँ भी उन्होंने स्पष्ट रूपसे कहा है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं।
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्॥
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्य नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

[जिसमे कोमल ललित पद और अर्थ हो, गूढ शब्दार्थ न हो, जो विद्वानोको सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान जिसे खेल सकें, जिसमे बहुतसे रसोके प्रवाहके लिये अवकाश हो और सब नाट्य-सन्धियाँ ठीकसे बँधी हुई हो, इस प्रकारका नाटक प्रेक्षकोके लिये ससारमे श्रेष्ठ समझा जाता है ।]

इस श्लोकमे 'बहुरसकृतमार्ग' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसका तात्पर्य यह है कि नाटकमे प्रेक्षकोके लिये अनेक रसोके मार्ग बनते हैं। इतनी स्पष्ट व्याख्या होनेपर भी भट्ट लोल्लट्टको को जो भ्रम हुआ उसके चार कारण हैं—१. भट्ट लोल्लट्ट कोरे दार्शनिक थे, २. भट्ट लोल्लट्टने कभी नाटक नहीं देखा, ३. आदिसे अन्ततक नाट्यशास्त्र नहीं पढ़ा और ४. नाटकका आनन्द क्या वस्तु है इसका ठीक-ठीक अनुभव नहीं किया। इसी कारण अन्य आचार्योंने इस मतको अमान्य समझा।

शंकुकका अनुमितिवाद या अनुमानवाद

शकुकका मत है कि 'रस केवल अनुमानका विषय है वास्तविक नहीं। जब रङ्गमञ्चपर कोई अत्यन्त अभिनय-कुशल तथा काव्य-नाटकमे रुचि रखनेवाला अभिनेता नाटकके नायको तथा पात्रोका अभिनय अत्यन्त स्वाभाविकता, प्रभावशीलता तथा रोचकतासे करता है तब उसे देखकर दर्शक आनन्दमग्न हो जाते हैं और वे उस नटको ही वास्तविक (राम या सीता) समझने लगते हैं। जैसे किसी चित्रमे बने हुए घोडेको देखकर उसे लोग घोडा ही मान लेते है वैसे ही रामकी भूमिका ग्रहण करनेवाले नटको भी लोग इस चित्र-तुरग-न्यायसे राम ही मान लेते हैं। इसलिये जो रस वस्तुतः राममे उत्पन्न होता है उसीका अनुमान अभिनय-कुशल नटमे भी कर लिया जाता है और दर्शक-मण्डली भी इसी अनुमानके बलपर रस ग्रहण करती तथा आनन्दित होती है। अतः भरतके सूत्रमे 'सयोगात्' शब्दका अर्थ हुआ 'अनुमानसे' (अनुमानात्) और 'निष्पत्ति'का अर्थ हुआ 'अनुमिति' (किसी कारणके आधारपर उत्पन्न हुआ ज्ञान), अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारीके अनुमानसे

रसकी अनुमिति होती है। किन्तु यह अनुमान न्यायशास्त्रके अनुमान-प्रमाणसे भिन्न होता है क्योंकि यद्यपि न्यायवालोका अनुमान वास्तविकताका उद्घाटन करता है, जैसे 'जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि भी होगी' किन्तु यह सब अनुमान रूखा और नीरस होता है, इसका अनुमान उससे पूर्णतः भिन्न आनन्दप्रद होता है।'

इस प्रकार शकुकने माना है कि १. अनुकरण करनेवाले नटमें दर्शकगण रसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं और इसी अनुमानके कारण अनुमान करनेवाले दर्शकको भी आनन्द मिलता है।' अतः शंकुक मानते हैं कि 'अभिनेताको राम मानकर उनकी रतिका अनुमान ही रस बन जाता है। अत रसका वास्तविक आधार अनुमान है।'

भट्ट तौत

अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तौतने शकुकके अनुमानवादका बडा खण्डन किया और कहा कि 'अनुमानके आधारपर रस-निष्पत्तिका कभी विचार ही नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान तो हेतुकी विशुद्धिपर आश्रित होता है अर्थात् अनुमानके लिये स्वयं कोई कारण चाहिए किन्तु रसकी उत्पत्तिके लिये कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टिसे अनुमानका कोई अस्तित्व नहीं होता। इस मतकी सबसे बडी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता क्योंकि मनमोदकतें नहीं भूख बुझानी।' चित्रमें घोडा देखकर और उसे घोड़ा मानकर भी आप उसपर चढ़कर जा नहीं सक्ते, मोदकका चित्र देखकर आपको उसका स्वाद नहीं आ सकता अतः कल्पनासे आनन्द नहीं मिल सकता।" यद्यपि इस मतमें भी यह बात मानी गई है कि दर्शकके हृदयमें भी अनुमानके बलपर आनन्द प्राप्त होता है किन्तु यह सिद्धान्त ही पूर्णतः निराधार है क्योंकि रङ्गमञ्चपर जिस विभाव (आलम्बन), अनुभाव और सञ्चारी भावका प्रदर्शन होता है और जिससे रसका अनुमान दर्शक-द्वारा होनेकी बात कही गई है, वह तो नटमें ही रहता है, अतः दर्शकको भले ही अनुमानसे थोड़ा-बहुत आनन्द मिल जाता हो किन्तु

वह उस कोटिका आनन्द कभी नहीं हो सकता जो साक्षात् रसानुभूतिके समय होता है। स्वादिष्ट भोजनको दूरसे देखकर मुँहमें पानी तो आ सकता है किन्तु वह इसी बातका व्यञ्जक है कि उसके आस्वादनके लिये अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा है, वह आस्वादनका आनन्द नहीं है।

भट्ट तौतके इस खण्डनके अतिरिक्त भी यह स्पष्ट है कि आनन्द कभी अनुमानमें नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूतिमें ही होता है और उसी समय होता है जब कि हमारी इन्द्रियाँ मनके संयोगसे उस आनन्दमें भागी बनें। किन्तु नाटकमें तो दर्शककी समस्त इन्द्रियाँ मनके साथ इतनी रम जाती है कि वे अभिनेताओंकी गति-विधि, गीत, दृश्य आदि सबमें पूर्णतः तन्मय हो जाती है। ऐसी स्थितिमें उसे अनुमान करनेका अवसर कहाँ मिलता है। अनुमानके लिये तो ऐसी अनिश्चित वस्तु चाहिए जिसके सहारे वह निश्चितका अनुमान कर सके। किन्तु नाटकमें तो प्रत्येक अभिनेता सजीव मूल नायक या पात्र ही समझ लिया जाता है और वह जितना भी कुछ आचरण करता है उस आचरणसे दर्शक आनन्द लेता चलता है। अतः अनुमानसे रस कभी उत्पन्न नहीं होता।

भट्ट नायकका भुक्तिवाद

भट्ट नायकने ही रसकी मीमांसा करते हुए दर्शकका महत्त्व सिद्ध किया है। ये न तो लोल्लट्टकी भाँति रसको उत्पन्न हुआ मानते है, न उसकी प्रतीति मानते है और न उसको व्यक्त या प्रकट हुआ मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि 'काव्यमें तीन प्रकारकी क्रियाएँ होती है—१. अभिधा क्रिया, जिसके द्वारा नाटकके शब्दोंका अर्थ जाना जाता है। २. भावकत्व-क्रिया, या साधारणीकरणकी क्रिया, जिस भावना (बार-बार चिन्तन) के द्वारा हम नाटकके पात्रों या नायक आदिको विशिष्ट व्यक्ति (राम, सीता आदि) न समझकर उन्हें अपने ही जैसा साधारण पुरुष और स्त्री समझ लेते हैं। इस क्रियासे नाटककी कथाके व्यक्तियोंका ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप हट जाता है

और वे सामान्य पुरुष और स्त्री समझ लिए जाते हैं, अर्थात् अभिज्ञान शाकुन्तल नाटकके दुष्यन्त-शकुन्तलाके प्रेमको दुष्यन्त-शकुन्तलाका प्रेम-व्यापार न समझकर सामान्य पुरुष-स्त्रीका प्रेम व्यापार समझ लेते हैं। जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य अर्थात् विशेषको साधारण समझ लेनेकी क्रिया होती है, उसीको भावकत्व क्रिया या भावकत्व-व्यापार कहते है। इस क्रियासे दर्शक सहसा दुष्यन्त शकुन्तलाके प्रेम-व्यापारको सबका व्यापार, अर्थात् अपना भी व्यापार मान बैठता। भावनाकी यही क्रिया 'साधारणीकरण' कहलाती है। ३. भोजकत्व क्रिया, जिसके द्वारा दर्शक नाटकके रसका भोग करता या आनन्द लेता है। इसी भोग करनेके अवसरपर उसके हृदयमे सब प्रकारके राजस और तामस भाव अर्थात् ससार-भरके अन्य सम्बन्धोके सब भाव दबकर पूर्णरूपसे शुद्ध अकेला सात्त्विक भाव उत्पन्न होता है जिसके प्रकट होते ही प्रकाश रूपसे आनन्दका ज्ञान अर्थात् आत्मानन्दमे वह तल्लीनता प्राप्त होती है जिसके द्वारा रसका अनुभव होता है। यही रस-भोग करनेकी अवस्था है।' इस मतके अनुसार भरतके सूत्रका अर्थ यह होगा कि 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी तो भोजक या भावक है और वे भोज्य (भोजन करने योग्य) अथवा भाव्य (भावित होने योग्य) रसकी निष्पत्ति (अर्थात् भुक्ति या भोग) कराते है। इसीलिये इनके मतको भुक्तिवाद कहते है।'

अतः भट्ट नायक ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने दर्शककी महत्ता समझकर रसके वास्तविक पात्रका विवेचन किया और उसकी ही दृष्टिसे विचार किया किन्तु उनके सिद्धान्तमे भी यह दोष रहा कि उन्होने सीधे रसकी अवतारणा न मानकर भावकत्व और भोजकत्वका अड्ङ्गा लगा दिया। उन्होने यह माना है कि १. दर्शककी दृष्टिसे रसकी मीमासा होनी चाहिए, २. अभिनय देखने या काव्य पढनेसे अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व-क्रियाके द्वारा द्रष्टा या श्रोता रसका भोग करता है। जहाँतक अभिधाकी बात है, उसमे तो किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इन्होने काव्यमे (शब्दोके अर्थमे) भावकत्व और

भोजकत्वकी जो कल्पना की है उसका कोई आधार नहीं। वास्तवमें यदि भावकत्व-क्रिया या साधारणीकरणकी क्रिया होती भी है तो वह केवल शब्दसे न होकर रङ्गमञ्चपर उपस्थित अभिनेताओंकी चेष्टाओं, वेश-भूषा, दृश्य आदि सभी साधनोंके समन्वयसे उत्पन्न होती है और उस समय भी साधारणीकरण अर्थात् उस मुख्य पात्रको साधारण व्यक्ति मानना सम्भव नहीं होता। यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि जो दर्शक नाटक देखने आता है वह रामको साधारण व्यक्ति समझता है। जिस समय राम बन जाते है उस समय यही समझकर दर्शककी आँखोंमें आँसू आते है कि दशरथके पुत्र राम इतना बडा राज्य छोडकर जङ्गलोंका दु:ख उठानेके लिये चले जा रहे हैं, जिसका उन्हे तनिक भी अभ्यास नहीं। वह रामकी दृष्टिसे, उनके महत्त्वपूर्ण पदकी दृष्टिसे, उनके भावी कष्टकी कल्पना करके दुखी होता है। यदि वह उन्हें साधारण मनुष्य समझता तो कभी दुखी ही न होता। अतः इस प्रकारके साधारणीकरण या भावकत्वका सिद्धान्त ठीक नहीं है। यही बात भोजकत्वके सम्बन्धमें है। यह ठीक है कि दर्शक जिस समय नाटक देखता है उस समय वह तन्मय होता है किन्तु इस तन्मयतामें कोई ऐसी विशेष स्थिति नहीं आती कि उसके राजस और तामस भाव सहसा दब जायँ और सात्त्विक भावका उदय हो जाय। यह रसानुभूतिकी स्थिति तो नाटकमें आदिसे अन्ततक भी व्याप्त रह सकती है और बीच-बीचमें भी आ सकती है। इसके अतिरिक्त केवल शब्द-व्यापार या अभिधा-व्यापारको महत्त्व देना तो पागलके प्रलापको महत्त्व देना है क्योंकि स्वतः शब्दमें किसी प्रकारकी कोई शक्ति नहीं होती। इसीलिये आलङ्कारिकोंने भावकत्वको अमान्य ठहराया और भोजकत्व क्रियाको व्यञ्जना ही मानकर साधारणीकरण आदिको उसी व्यञ्जनाका कार्य माना है।

अभिनवगुप्तका अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्तने इन सब मतोंका विरोध करते हुए कहा कि 'भरतके

सूत्रमे विभावानुभाव-व्यभिचारीके सयोगका अर्थ है कि ये विभाव, अनुभाव, सञ्चारी तो व्यञ्जक या व्यक्त करनेवाले हैं और रस है व्यग्य (जो व्यक्त किया जाने योग्य है) तथा निष्पत्तिका अर्थ है 'रसकी अभिव्यक्ति' या व्यञ्जना।' इनका मत है कि 'प्रत्येक श्रोता या दर्शकमे स्थायी भाव (रति, शोक, हास, उत्साह आदि) वासनाके रूपमे निरन्तर रहते है। यह वासना या तो पूर्वजन्मके सस्कारसे या इस जन्ममे काव्य आदिका अध्ययन करके या गुणियों और कवियोका सत्सङ्ग करके उत्पन्न होती है और निरन्तर निश्चित सस्कार-रूपमे रहती है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावके द्वारा इसी स्थायी भावकी अभिव्यञ्जना (प्रकटी-करण) होती है। ये स्थायी भाव सामान्य या सबमे साधारण रूपसे होते ही है।' अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'जब कोई भी वस्तु हमारे सम्मुख आती है उस समय उस वस्तुको हम साधारण रूपसे तथा सम्बन्ध-रहित होकर स्वीकृत करते हैं, अर्थात् यदि हम किसी सुन्दर वस्तुको देखते है तो हम आनन्दित तो होते हैं किन्तु उस वस्तुको ग्रहण करनेके लिये न आगे बढ़ते है, न उसे शत्रुकी समझकर उससे दूर भागते है और न किसी उदासीन व्यक्तिकी समझकर उससे विरक्त ही होते है। वरन् उसे सबकी सुन्दर वस्तु समझते है।' अभिनवगुप्तका मत है कि 'यही सामान्यता अर्थात् रागहीन आनन्दानुभूति ही साधारणीकरण है अर्थात् रसको जगानेवाले जितने भाव है वे सर्व-सामान्यके समझ लिए जाते है तभी रसकी अभिव्यक्ति होती है। उस रसकी अभिव्यक्तिके समय रसका अनुभव करनेवाला दर्शक भी अपनेको सामान्य समझता है और अनुभव करनेके समय यह समझता है कि जितने भी सहृदय है उन सबके हृदयमे उस रसकी अनुभूति समान रूपसे होती है।

इस दृष्टिसे अभिनवगुप्त भी साधारणीकरणके पक्षपाती हैं किन्तु भट्टनायक और अभिनवगुप्तके साधारणीकरणमे थोडा-सा अन्तर है। भट्टनायकने तो यह माना है कि 'कथाके पात्रोको साधारण बनाकर

दर्शक रसानुभूति करता है' और अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि 'दर्शक जब यह निर्लिप्त भावसे मानता है कि किसी वस्तुको देखकर मेरे मनमे आनन्दकी जैसी अनुभूति हुई है वैसी ही प्रत्येक सहृदयके हृदयमे होती है तभी उसके हृदयमे रसकी अनुभूति या अभिव्यक्ति होती है। वह दुष्यन्त - शकुन्तलाको देखकर यह समझने लगता है कि यह दुष्यन्त-शकुन्तला मै ही हूँ और ऐसा समझनेसे ही उसे आनन्द या रस मिलता है। अभिनवगुप्त यह मानते है कि 'दर्शकके हृदयमे जो रति आदि स्थायी भाव अव्यक्त थे वे विभाव आदि (व्यञ्जको) के द्वारा प्रकट हो जाते है अर्थात् रस उत्पन्न नहीं वरन् अभिव्यक्त होता है या जाग उठता है और वासनाका यह जागना ही रसका उपभोग है।'

रस वास्तवमे आनन्दको ही कहते है। ससारमे साधारणतः जो घटनाएँ शोक, क्रोध या भय उत्पन्न करती है, वे ही जब काव्यमे वर्णित होती है तब ऐसा अलौकिक रूप धारण कर लेती है कि हम उन्हे पढनेमे दत्तचित्त हो जाते है और उसमे एक प्रकारका ऐसा आकर्षण प्राप्त करते है जिसके कारण हम उसे पूरा किए बिना नहीं छोडते। इसका तात्पर्य यह है कि शोक, क्रोध या भयके वर्णनमे भी कुछ सौन्दर्य या अलौकिकता आ जाती है जिससे हम उसको ओर आकृष्ट होते हैं। यही 'रमना' या 'काव्यमे डूबना' ही रस कहलाता है और यही वस्तु काव्यमे वर्णित होकर अलौकिक रूप धारण कर लेती है, इसीलिये आनन्द उत्पन्न करती है। प्राय सभी विद्वान् अभिनवगुप्तके इस साधारणीकरणका ही सिद्धान्त मानते है।

साधारणीकरण

अभिनवगुप्त, मम्मट, आनन्दवर्धन और पण्डितराज जगन्नाथके मतको सक्षेपमे इस प्रकार समझा जा सकता है—'कवि जब एक विशिष्ट सुन्दर शैलीमे शब्दोका प्रयोग करता है तब काव्योमे व्यञ्जनाकी प्रतीति होती है। कारण, कार्य और सहायताका बोध करानेवाले शब्दोंके समन्वयको ही काव्य कहते है। काव्यमे जितने शब्दोका प्रयोग होता

है उनमेंसे कुछ तो कारण अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) का बोध करते हैं। यह बोध करानेवाली शक्ति विभावन व्यञ्जना कहलाती है। कुछ शब्दोंसे कार्य अर्थात् अनुभाव (सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक, आहार्य) का बोध होता है। जिस शक्तिसे इस अनुभावका बोध होता है उसे अनुभावन व्यञ्जना कहते हैं। कुछ शब्दोंसे सहायता देनेवाले तत्त्वों अर्थात् सञ्चारी भावोंका बोध होता है। जिस शक्तिसे यह बोध होता है उसे सञ्चारण व्यञ्जना कहते है। इसी विभावन, अनुभावना और सञ्चारण व्यञ्जनाओंकी प्रतीतिको साधारणीकरण कहते है।

इसका तात्पर्य यह है कि दर्शक नाटक देखते समय आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारीको नाटकके किसी पात्रका न समझकर सब दर्शकोंका समझने लगता है। ऐसा समझनेसे दर्शक उसे अपना अनुभव मान बैठता है। इस प्रकार बार-बार माननेसे विभाव, अनुभाव और सञ्चारी हमारे अन्तःकरण या मनके धर्म (गुण) बन जाते हैं और बार-बार ऐसा समझने या भावना करनेसे हमारा मन ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारी बन जाता है। इस एकात्मकतासे हमारी वह अविद्या या भ्रान्ति दूर हो जाती है जिसके कारण विभाव, अनुभाव और सञ्चारीको हम अलग समझते थे, उस समय विभाव आदिके मूल चैतन्य (ज्ञान) का प्रकाश होता है। यही प्रकाश रस कहलाता है। इस प्रकारकी स्थितिको कुछ लोगोंने चैतन्य-विशिष्टविभावादि कहा है, किसीने विभावादि-विशिष्ट-चैतन्य कहा है किन्तु दोनोंमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

इसे हम एक उदाहरण-द्वारा समझा दें तो स्पष्ट हो जायगा। अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकमें दुष्यन्तके विरहमें शकुन्तलाको परितप्त होते देखकर दर्शक भी अपनेको शकुन्तला ही समझकर (अर्थात् शकुन्तलाके बदले स्वयं आश्रय बनकर दुष्यन्तको आलम्बन और शकुन्तलाके अनुभावों और सञ्चारी भावोंको अपने अनुभाव और

सञ्चारी भाव मानने लगता है। इस साधारणीकरण (एक विशेष व्यक्तिके अनुभावो और सञ्चारी भावोको सबका अर्थात् सर्वसाधारणका मान लेने) से ही दर्शकको रस प्राप्त होता है अर्थात् आश्रयके साथ तादात्म्य (तन्मयता) स्थापित करना ही रसकी अवस्था है।

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

साधारणीकरणपर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्लजीने कहा है—'कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृतिका पात्र यदि किसी निरपराध या दीनपर क्रोधकी प्रबल व्यञ्जना कर रहा है तो श्रोता या दर्शकके मनमे क्रोधका रसात्मक सञ्चार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्रके प्रति अश्रद्धा, घृणा आदिका भाव जागेगा। ऐसी दशामें आश्रयके साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्रके शीलद्रष्टा या प्रकृतिके रूपमे प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।' इसे उन्होने सवेदना रसानुभूतिसे भिन्न शीलद्रष्टात्मक रस नुभूति कहा है और इसे मध्यम कोटिकी रसानुभूति माना है। इसी प्रसङ्गमे यह भी कहा गया कि 'कवि जब कोई ऐसी अनुभूति व्यक्त करता है जो सबके अनुभवकी हो तो पाठक या श्राताके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है किन्तु जब कविकी अनुभूति असाधारण या ससारके अनुभवसे भिन्न होती है तब पाठकके साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। ऐसी अनुभूतियोका विवरण पढ़कर भिन्न-भिन्न श्रोताओ या पाठकोके मनमे भिन्न-भिन्न ऐसे भाव व्यक्त होगे जिनमे वह उस रचनापर हा खीझेगा, हँसेगा, रुष्ट होगा।' अर्थात् कविके भावोसे पाठक या श्रोताके वैषम्य होनेसे पाठक या श्रोताके मनमे कवि या उसकी रचनाके प्रति अनेक प्रकारकी भावनाएँ उठती हैं जिसका कारण व्यक्ति-वैचित्र्य या प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि-भिन्नता ही है।

अभिनवभरतका तन्मयतावाद

अभिनवभरतका मत है—'तन्मयत्व रसः।' [तन्मयता ही रस है]

रसपर जितना विचार और शास्त्रार्थ हुआ है सब दार्शनिक दृष्टिसे किया गया, साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टिसे नहीं, और सम्भवतः जितने लोगोने इसपर मीमासाकी है उनमेसे कोई भी ऐसा नाट्य रसिक नहीं रहा, जिसने स्वत नाटक देखे हो, अभिनय किया हो और नाट्य-प्रयोक्ता बनकर नाटकका प्रयोग कराया हो। वास्तवमे रसका विवेचन तीन दृष्टियोसे करना चाहिए—१ नाटककारकी दृष्टिसे, २ अभिनेताकी दृष्टिसे और ३. सामाजिककी दृष्टिसे। किन्तु इससे पूर्व हमे यह समझ लेना चाहिए कि रस है क्या।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमे रसकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति. ।

[विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है।] जब आलम्बन और उद्दीपन ठीक हो, उनके प्रभावसे आश्रयमे आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अनुभाव प्रकट हो तथा विभिन्न सञ्चारी भाव उस आश्रयके स्थायी भावको यथोचित रूपसे पुष्ट करते चलें, उस समय इन सबके सयोग (सम्यक् योग अर्थात् ठीक मेल) से रसकी निष्पत्ति या सिद्धि होती है।' इसे यो समझना चाहिए कि 'जब रङ्गमञ्चपर नायक या नायिका या दोनो या कोई पात्र किसी विशेष स्थल (उपवन, नदी, पर्वत, घर, बन्दीगृह आदि) मे इस दशामे दिखाए जायँ कि उन्हे पसीना छूटता हो, कँपकँपी चढी हो, सुध-बुध भूल गए हो, जँभाई ले रहे हो, आँसू बहा रहे हो, हाथ-पैर पटकते हो या विशेष रूपसे शरीरके अङ्ग हिलाते-डुलाते या चलाते हो या अन्टसन्ट कपडे पहनते हो, त्रास, हर्ष, उद्वेग, स्वप्न, विबोध, चिन्ता, क्रोध, चिढ़ आदि अनेक प्रकारके भाव उनके मुँहपर आते-जाते हो तब इन सबके ठीक इकट्ठे होनेसे एक विशेष प्रभावपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसका परिणाम जाननेकी उत्कट व्यग्रताके कारण दर्शककी समस्त इन्द्रियोके अन्य व्यापार रुक जाते है। उस परिस्थितिमे वह एकाग्र होकर जो तन्मयता

स्थापित कर लेता है उसीको रस कहते है अर्थात् असाधारण तन्मयताकी स्थितिको ही रस कहते है।

रसके अनुबन्ध

रसके सम्बन्धमे अग्राङ्कित बातें भली-भॉति स्मरण रखनी चाहिएँ—१. दर्शक, पाठक या श्रोतामे स्थायी भाव रहता है। २. रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्र (नायक-नायिका आदि) आलम्बन है। ३. ये पात्र या नायक-नायिका आदि जिन परिस्थितियो या दृश्योमे कार्य करते दिखाई देते है वे परिस्थितियॉ उद्दीपन विभाव है। ४ रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्र अपनी चेष्टाओ और अपनी बातचीतमे जो अनेक प्रकारके भाव चिन्ता, उत्सुकता, व्यग्रता, धैर्य आदि प्रकट करते है वही सञ्चारी भाव है। ५. इन सब पात्रो (आलम्बन विभाव), परिस्थितियो (उद्दीपन विभाव), पात्रोकी चेष्टाओ, मुखमुद्राओ, वचनो आदिसे व्यक्त होनेवाले भाव (अनुभाव) और सञ्चारी भाव जब ठीक मेलके साथ इकट्ठे दिखाई देते है (उनका सयोग होता है) तब दर्शकके हृदयमे उपस्थित रहनेवाला स्थायी भाव उभडता है और उसके उभड़नेसे दर्शक उस कथामे तन्मय हो जाता है और यही तन्मयताकी अवस्था रस कहलाती है।

काव्यमे रसानुभूति

नाटकमे तो दर्शक प्रत्यक्ष रूपसे अपनी ऑखोके सामने पात्रोको देखता, उनकी वाणी सुनता और चेष्टाओका सम्प्रेक्षण करता है किन्तु काव्यमे पाठक या श्रोता प्रत्यक्ष देखनेके बदले इन पात्रो, परिस्थितियों तथा चेष्टाओ और वाणी-द्वारा व्यक्त भावोका मानस प्रत्यक्षीकरण करता है। अतः इस दृष्टिसे काव्यसे भी पाठक या श्रोताके हृदयमे रसकी अनुभूति हो सकती है। किन्तु काव्यमे प्रायः भाषाकी कठिनाई सदा रस-बोधमे बाधक होती रही है। अतः आल्हा आदि जो काव्य सर्वबोध हो उनमे तो सार्वजनिक रूपसे श्रोताओके हृदयमे रस उत्पन्न हो सकता हैं किन्तु महाकाव्योमे केवल विद्वज्जन ही रस प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि

वहाँ रसानुभवके लिये केवल सहृदयता ही नहीं वरन् विद्वत्ता भी अपेक्षित है। अतः काव्यमें तो भाषाकी कठिनाईके कारण रसानुभूतिमें बाधा पड सकती है, किन्तु दृश्य होनेके कारण नाटकमें तो रसानुभूति होती ही है और वह रसानुभूति अनेक प्रकारकी होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि शृंगार, हास आदिको भरतने नाट्यरस कहा है काव्यरस नहीं।

रसके अनेक रूप

शारदातनयने 'भावप्रकाशनम्'में स्पष्ट कहा है कि 'नाटकमें लोग अलग-अलग रूपसे रस लेते हैं, यहाँतक कि कुछ लोग केवल नायक-नायिकाओंके रूपका, कुछ वाणीका, कुछ लीलाका, कुछ हावका, कुछ उक्तिका, कुछ सङ्गीतका, कुछ सज्जाका और कुछ दृश्यका ही रस लेते हैं।' अतः नाटकके रसको केवल उपर्यङ्कित भावात्मक रसतक ही परिमित नहीं समझना चाहिए, उसमें शब्दात्मक, सज्जात्मक, सङ्गीतात्मक अर्थात् रूपात्मक रसोंको बाह्य रस समझना चाहिए, जो उतने ही महत्त्वके होते हैं जितने भावात्मक रस। शारदातनयने अपने 'भाव-प्रकाशनम्'के अष्टम अधिकारमें विस्तारसे निरूपण किया है कि सब प्रकारके लोगोंको नाट्यमें किस प्रकार आनन्द मिलता है—

कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः।
शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धैः रसभावविवेचकैः॥
बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्य यन्नाट्यमुच्यते।
तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम्॥
तुष्यन्ति तरुणा कामे विदग्धा समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः॥
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यश॥
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा।
बाला मूर्खा स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा॥

[कामी, सभा-चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढे, रस और भावके पारखी गुणीजन, यहाँतक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ, सभी नाट्यका आनन्द ले सकते हैं, क्योकि नाट्यसे वे अपने-अपने मनकी रुचिके अनुसार आनन्द या हर्ष प्राप्त करते हैं। तरुण लोग कामकी बातोमे, सभा-चतुर लोग नीतिकी बातोमे, सेठ लोग पैसा कमानेकी बातोमे विरागी लोग मोक्षकी बातोमे, वीर लोग बीभत्स, रौद्र और युद्धकी बातोमे, बड़े-बूढे लोग धर्मकी कथाओमे और पण्डित लोग सात्त्विक भावोमे आनन्द प्राप्त करते हैं। यहाँतक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ हँसी-विनोदकी बातें सुनकर और नटोकी वेशभूषा देखकर ही मगन हो जाती है।]

तीन प्रकारसे रसानुभूति

तात्पर्य यह है कि रसानुभूति तीन प्रकारसे होती है—१. द्रष्टा-रूपसे, जिसमे दर्शक उस विषयमे अर्थात् नटोकी चेष्टा, बातचीत आदिमे द्रष्टा-रूपसे अलग होकर आनन्द लेता है। यह रसानुभूति हास्य, रौद्र, बीभत्स और अद्भुतमे होती है। २. तादात्म्य रूपसे, जिसमे नाटकके किसी पात्रसे दर्शक तन्मयत्व सिद्ध कर लेता है और उसका दुःख-सुख अपना दुःख-सुख समझता है। इसमे स्त्रियाँ तो नायिका या स्त्री पात्रसे और पुरुष दर्शक किसी नायक या पुरुष पात्रसे तादात्म्य स्थापित्त कर लेते है। शृङ्गार और वीर-नाटक तथा काव्यमें यही तादात्म्य-भाव होता है। यदि नायक या नायिका पूज्य या पूज्या हो तब द्रष्टा-भावसे ही रसानुभूति होती है। ३. सम्वादी रूपसे, जिसमे भाव या घटनाके परिणामके कारण समवेदनाका भाव व्याप्त होता है अर्थात् यह भाव होता है कि 'कहीं यह बेचारा मारा न जाय' आदि। करुण और भयानक रसोंमें यही समवेदनाके भावकी सम्वादी रसानुभूति होती है।

रसोंकी संख्या

भरतने आठ रस माने हैं—१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण,

४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स और ८. अद्भुत। कुछ लोगोने शान्तको नवाँ रस माना है किन्तु भरत और धनञ्जयने नाटकमे शान्त रसका प्रयोग पूर्णतः अमान्य कर दिया है। [शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक] यह मत ठीक भी है क्योंकि नाटकमे तो आङ्गिक, वाचिक सात्त्विक और आहार्य क्रियाओंके द्वारा ही नाटकका प्रदर्शन होता है और ये सब अभिनय कार्यके द्योतक हैं। कार्य होना शान्तिका लक्षण नहीं क्योंकि शान्तिकी अवस्थामे सब बाह्य और मानसिक क्रियाओंका शमन या अवसान हो जाना चाहिए। अतः नाट्यमे शान्तिकी कल्पना ही करना व्यर्थ है। कुछ लोगोने यह विचार किया है कि 'नाट्यमे तो नहीं किन्तु काव्यमे शान्त रस अवश्य होता है जैसे आनन्दवर्धनने महाभारतमे शान्तको ही मुख्य रस माना है।' किन्तु यह भी उनका भ्रम है। महाभारतका अन्त बड़ा करुण है और वह वास्तवमे शान्त न होकर करुण रसका परिचायक है। इसके अतिरिक्त महाभारतमे अनेक व्यापारोमे अनेक रस विद्यमान हैं। बहुतसे आचार्योंने पूरे काव्यमे ही एक रस मान लिया है। यह उनकी सबसे बड़ी भूल है। रस तो प्रत्येक कथासे उत्पन्न होनेवाला वह 'आनन्द' है जो भिन्न कथाओंमे भिन्न रूपसे उत्पन्न होता है। अतः आनन्दवर्धनका यह कहना नितान्त भ्रामक है कि 'महाभारत जैसे पूरे काव्यमे एक रस शान्त ही है।' रूद्रटने अपने काव्यालङ्कारमे 'प्रेयान्' नामका दशम रस माना है। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमे 'वात्सल्य'को भी रस मान लिया है। गौडीय सम्प्रदायके वैष्णवोंने 'माधुर्य' रसको ही सर्वश्रेष्ठ रस माना है। इसी प्रकार कुछ भक्तोंने 'भक्ति' को रस माना है और भानुभट्टने तो 'रसतरङ्गिणी' मे 'माया'को ही रस मान लिया है। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो देश-प्रेम, जाति-प्रेम और धर्म-प्रेम भी अलग-अलग रस हो सकते हैं। किन्तु वास्तवमे ये सब राग या रतिके ही विभिन्न रूप और उसकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

काव्यमें रस

ध्वनिवादी आचार्योंने काव्यमे रसका ही विशेष महत्त्व माना है। उन्होने तीन प्रकारकी ध्वनियाँ मानी हैं—१. वस्तुध्वनि, २. अलङ्कार-ध्वनि और ३. रसध्वनि और इन तीनोमे उन्होने रसध्वनिको ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। भोजराजने सम्पूर्ण वाङ्मयको ही तीन भागोमे बाँट दिया है—(क) स्वभावोक्ति, (ख) वक्रोक्ति और (ग) रसोक्ति, जिनमेसे वे रसोक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और शृङ्गारको ही प्रधान रस (शृङ्गारैक रसः) मानते हैं। विश्वनाथ कविराजने तो रसको 'काव्यका आत्मा' मानते हुए काव्यका लक्षण ही बताया है—'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और 'रस्यते इति रसः' (जो आनन्द दे वह रस है)। ध्वनिवालोने ध्वनिके दो भेद १. लक्षणामूला और २. अभिधामूला बताते हुए अभिधामूलाके दो भेद किए हैं—१. सलक्ष्यक्रम-व्यग्य और २. असलक्ष्यक्रम-व्यग्य। उनमेसे असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यको आठ प्रकारका बताया है—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भाव-शान्ति, ६. भावोदय, ७. भाव-सन्धि, ८. भाव-शबलता। यह व्याख्या करके भाव, भावाभास, रसाभास आदि सबको उन्होने रसके अन्तर्गत ही ले लिया है और इस प्रकार रसको अत्यन्त व्यापक बनाकर उसे काव्यका मूल तत्त्व मान लिया है। रुद्रटने भी भरतकी व्याख्या मानते हुए रसको ही काव्यका आत्मा माना है। अग्निपुराणमे काव्यमे वक्रोक्तिसे उत्पन्न चमत्कारको प्रधान माना है किन्तु साथ ही काव्यका प्राण उसमे रस ही माना गया है—'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेति रस एवात्र जीवितम्।' राजशेखरने भी अपनी 'काव्यमीमासा'मे रसको काव्यका आत्मा माना है जो शौद्धोदनिको भी स्वीकार्य है—'अलकारस्तु शोभाया रस आत्मा परे मनः।' शोभामे अलकार होता है किन्तु आत्मा रस ही है।] इस प्रकार यह रस सम्प्रदाय व्यापक रूपसे आजतक मान्य सिद्धान्त रहा है।

स्थायी भाव

रसोके अनुसार अग्राकित भाव स्थायी माने गए हैं—१. शृङ्गारका स्थायी भाव अनुराग या रति, २. हास्यका हास, ३. करुणाका शोक, ४. वीरका उत्साह, ५. भयानकका भय, ६ रौद्रका क्रोध, ७ अद्‌भुतका विस्मय, आश्चर्य, ८. बीभत्सका जुगुप्सा या घृणा और ९. यदि शान्तिको भी रस मान लिया जाय तो उसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति मान लिया जायगा। ये भाव ही विभाव, अनुभाव और सचारी भावके संयोग (उचित मेल) से रसकी सिद्धि करते है।

आगे हम इन स्थायी भावोकी सक्षेपमे व्याख्या दे रहे हैं, जिससे इन्हे समझनेमे सुविधा हो।

१. अनुराग

किसीके प्रति स्थायी तथा घनी आसक्तिको अनुराग कहते हैं। यह पॉच प्रकारका होता है—क. वात्सल्य, ख. श्रद्धा, ग. मैत्री, घ. भक्ति और ङ. प्रेम।

२ हास

हँसनेके भावको हास कहते हैं अर्थात् किसीके मूर्खतापूर्ण, मर्यादाहीन, सनकसे भरे, अनवसरोचित कार्य देखकर या वचन सुनकर अथवा किसीकी अव्यवस्थित वेशभूषा या रूप-सज्जा देखकर अथवा कुरूप, बौने या स्थायी विकलाङ्ग व्यक्तिका अपनेको सुरूप, सर्वाङ्ग सुन्दर बताने आदिपर जो मनोविनोद होता है उसे हास कहते हैं।

३ शोक

अपने इष्ट (शरीर, इष्ट व्यक्ति, प्रिय, सम्बन्धी, मित्र, वस्तु, सम्पत्ति आदि) पर आनेवाले सकटकी आशङ्कासे, कल्पनासे या आए हुए संकटके कष्टसे मनमे जो सन्ताप होता है उसे शोक कहते है।

४. उत्साह

असाधारण कार्य करनेकी सात्त्विक प्रेरणाको उत्साह कहते हैं।

स्पर्द्धा, हर्ष, पररक्षण, परहित, यश-प्राप्ति तथा विजयकी भावनासे मनमें जो असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणा होती है उसे उत्साह कहते हैं।

इस उत्साहके निम्नलिखित रूप है—

वीरता, उदारता, आत्म-त्याग, सेवा और विजय।

५. भय

अपने इष्ट, जीविका, सम्पत्ति, यश, देह, आदि स्वसम्बद्ध अथवा इष्टसम्बद्ध जन या वस्तुपर आघात करनेवाले भूत-प्रेत, राक्षस, जीव, मनुष्यो (चोर, डाकू, हत्यारे, दुष्ट, सेना, राजा, शत्रु) से अथवा अग्नि, वर्षा, आँधी, भूकम्प आदिसे आघात होने या आघातकी सम्भावना होनेपर या इन सम्भावनोके अनिश्चिय अथवा सन्देहकी दशामे जो अधीरता या घबराहट होती है उसे भय कहते हैं।

६. क्रोध

अपना या अपने इष्टका अहित करनेवाले या अहित करनेकी इच्छा करनेवाले अथवा अपना कहना न सुनने और करनेवालेके प्रति उसकी यह अवहेलना न सह सकनेके कारण मनमे जो विक्षोभ होता है उसे क्रोध कहते हैं। यह क्रोध दो प्रकारका होता है—१ स्वाभाविक और २. अस्वाभाविक। पद या अवस्थामे अपनेसे छोटे या बराबरवाले लोगोके प्रति जो क्रोध होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। बड़ोंके प्रति होनेवाले क्रोधको अस्वाभाविक क्रोध कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—क्षोभ (खीझ) और २. दुःशीलता (बढ-बढ़कर बोलना और जीभ लडाना।)

दूसरोपर अत्याचार करनेवालेके प्रति अत्याचार-निवारणार्थ जो क्रोध होता है उसे सात्त्विक क्रोध कहते हैं।

अपने पदके अनुसार नीति-रक्षणके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे राजस क्रोध कहते हैं।

अपने स्वार्थके लिये अथवा निरर्थक दूसरोंको पीड़ित करनेके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे तामस क्रोध कहते हैं।

७ आश्चर्य

किसी अनोखे, अद्भुत, असम्भव, अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व, अलौकिक या असाधारण किन्तु सुखकर व्यक्ति, वस्तु या क्रियाके साक्षात्कारसे अथवा अप्रत्याशित स्थलपर या दशामे इष्ट या परिचितका मिलन या अभिज्ञान ही आश्चर्य कहलाता है। यदि हमने सहसा जङ्गलमे गैंडा (शार्दूल) देख लिया तो वहाँ भय होगा आश्चर्य नहीं, किन्तु उसी गैंडेको जन्तुशालामे देखनेसे आश्चर्य होता है। अतः आश्चर्यके लिये कुतूहलजनक व्यक्ति या वस्तुका अदुःखकर होना अत्यन्त आवश्यक है।

८. घृणा

दु स्पर्श, दु स्वादु, अरुचिकर, अश्लील, अभव्य तथा अशुद्ध वस्तु, व्यक्ति, स्थान तथा क्रियाके प्रति जो विराग, अरुचि, चिढ, जुगुप्सा और ग्लानि होती है उसे घृणा कहते हैं।

९. निर्वेद

जिस अवस्थामे इन्द्रियोका व्यापार पूर्णरूपसे स्तब्ध या शान्त हो जाय उसे निर्वेद कहते है। वस्तुतः यह रसानुभूतिकी अवस्था नहीं है।

विभाव

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावके सयोगसे रसकी निष्पत्ति या सिद्धि होती है। विभावका अर्थ है विभावन करनेवाला या स्वाद लेनेके योग्य बनानेवाला। ये विभाव दो प्रकारके होते हैं—१. आलम्बन, जिसके अन्तर्गत नायक या नायिका अथवा कोई ऐसा व्यक्ति आता है जिसके कारण दर्शकको रस प्राप्त हो, किन्तु वह कोई मनुष्य ही होना चाहिए। २. उद्दीपन, जिसके अन्तर्गत वे सब ऋतु, स्थान और परिस्थितियाँ आती हैं जिनकी अवस्थितिमे अवलम्बन कार्य करता है।

आश्रय और आलम्बन

आचार्य मानते हैं कि 'आलम्बनकी क्रिया, चेष्टा या रूपसे जिसका

हृदय प्रभावित हो उसे आश्रय कहते है, जैसे राम (आलम्बन) को लताकुञ्ज (उद्दीपन) मे देखकर सीताजीके मनमे रतिका उद्बोधन हुआ तो सीताजी 'आश्रय' हो गई । उसी समय सीताजी (आलम्बन) को फुलवारी (उद्दीपन) मे देखकर रामके मनमे अनुरागका उद्बोधन हुआ तो राम ही आश्रय हो गए। अर्थात् नाटक या प्रबन्ध काव्यमे आलम्बनके रूप, कार्य या वाणीका जिसपर प्रभाव पडना दिखाया या वर्णित किया जाय उसे आश्रय कहते हैं। जहाँ ऐसा कोई व्यक्ति दिखाया या वर्णित न किया गया हो वहाँ उस 'आश्रय'की कल्पना कर ली जाती है ।'

अनुभाव

विभावोके कारण जो आश्रयके हृदयमे भाव उत्पन्न होकर प्रकट या अनुभूत होते हैं, उन्हे अनुभाव कहते हैं। ये तीन प्रकारके होते है—१. सात्त्विक, २. आङ्गिक और ३. वाचिक। सात्त्विकके अन्तर्गत आठ भाव लिए गए हैं—१. स्तम्भ : ठक रह जाना या जड़ हो जाना, २. स्वेद पसीना आना, ३. रोमाञ्च : शरीरके रोगटे खड़े हो जाना, ४. स्वरभङ्ग : बोली न निकलना, ५. कम्प : कॅपकँपी छूटना, ६. वैवर्ण्य मुँह पीला पड जाना, ७ अश्रु : आँसू बहाना और ८. प्रलय : हक्का-बक्का होकर चेतनाहीन व्यक्तिके समान गुमसुम हो जाना।

सञ्चारी भाव

स्थायी भावोका पोपण उन सहायक भावोके द्वारा होता है जो अस्थिर होते हैं अर्थात् जो कुछ कालके लिये आते है, फिर लुप्त हो जाते हैं, एक साथ कई आते हैं या या एक एक करके किसी विशेष क्रमसे आते है।

नाट्य-ग्रन्थोमे तथा साहित्य-ग्रन्थोमे तेंतीस सञ्चारी भाव गिनाए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध,

व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क अवहित्था, व्याधि उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता।

किन्तु अभिनवभरतका मत है कि सत्रह और भी सञ्चारी भाव है— लोभ, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिहिंसा, प्रवञ्चना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्द्धा और विजय।

इस प्रकार कुल पचास सञ्चारी भाव होते है किन्तु वास्तवमे सञ्चारी भाव बत्तीस ही होते है। इन सब भावोके साथ अनेक लक्षण प्रकट होते है। कुछ लोगोने मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा आदि भावोको भी सञ्चारी माना है किन्तु रसतरङ्गिणीकारके अनुसार असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति, धृति, औत्सुक्य और चपलतामे ही इनका समावेश हो जाता है। देवने 'छल'को चौतीसवाँ सञ्चारी माना है। यह अभिनवभरतके प्रवञ्चनाके अन्तर्गत आ जाता है।

१. निर्वेद : तत्त्वज्ञान, साधुसङ्गति, ईर्ष्या, पराजय, अपमान, असफलता आदिके कारण जब मनुष्य अपनेको धिक्कारने लगता है और ससारके सब पदार्थों और जीवोको व्यर्थ, निकृष्ट, नश्वर, अविश्वस्त घृणित और अनिष्टकर समझने लगता है तब वह निर्वेद भाव कहलाता है। निःश्वास छोड़ना, उदास रहना, रोना, मौन रहना, दैन्य, मुँह सूखना, एकान्तवास करना, सबसे दूर रहना, चिन्ता करना इसके लक्षण हैं।

२. ग्लानि : रति (सम्भोग), भूख. प्यास, परिश्रम, मनस्ताप आदि कारणोसे जो अनुत्साह, शिथिलता, तथा अशक्ति उत्पन्न होती है उसे ग्लानि कहते हैं।

३. शङ्का : दूसरोके द्वारा अथवा अपने ही दुर्व्यवहारसे अपनी इष्ट-हानि या अपने प्रियकी इष्ट-हानिका पूर्वाभास मिलनेको शङ्का कहते है। इसमे इष्टहानिके भयकी व्याकुलता रहती है।

४. श्रम : यात्रा, रति, परिश्रम, दौड़-धूप आदि कारणोसे जो थकावट हो, उसे श्रम कहते है।

५ धृति : ज्ञान, सस्कार अथवा शक्ति आदिके कारण जो अत्यन्त आनन्द तथा विश्वास देनेवाला सन्तोष होता है उसे धृति या धैर्य कहते ह।

६. जडता : किसी इष्ट अथवा अनिष्ट बातको देखने अथवा सुननेसे कुछ क्षणोके लिये कार्य करनेकी शक्ति खो जानेको जडता कहते है। अचञ्चल भाव से स्तम्भित रह जाना, ठक रह जाना, और निर्निमेष दृष्टि उसके लक्षण हैं।

७. हर्ष : किसी कार्यके सिद्ध होनेसे अथवा उत्सवादिसे मनको जो अत्यन्त प्रसन्नता होती है उसे हर्ष कहते हैं।

८ दैन्य : विरह अथवा आपत्तिके कारण जब कोई निस्तेज हो जाता है तब उसके इस भावको दैन्य कहते हैं।

९. उग्रता : किसी दुष्टके दुष्कर्मों, दुर्वचनो, अथवा क्रूरतासे स्वभावके प्रचण्ड हो जानेको उग्रता कहते है।

१० चिन्ता : किसी व्यक्ति या इष्ट पदार्थके न मिलनेपर अथवा उसके विरहमें उसीका ध्यान बना रहना चिन्ता कहलाता है।

११. त्रास : बादल अथवा सिंह आदिके गर्जन, शत्रुओकी चढाई डाकू आदिके आक्रमण अथवा ऐसी ही और भयप्रद घटनाओसे मनमें जो घबराहट उत्पन्न होती है, उसे त्रास कहते हैं।

१२. असूया : दूसरेकी उन्नति न सह सकनेको असूया कहते हैं। इसकी उत्पत्ति तीन कारणोसे हो सकती है—गर्वसे, दुष्ट स्वभावसे अथवा क्रोधसे।

१३. अमर्ष : किसीके दुर्वचनोंसे अथवा किसीके द्वारा किए गए अपमानके कारण उसके बदलेमें उस व्यक्तिके अहङ्कारको नष्ट करनेकी उत्कट अभिलाषाको अमर्ष कहते हैं।

१४ गर्व : अपने कुल, सौन्दर्य, बल, ऐश्वर्य, पद आदिकी ऐंठको गर्व कहते हैं। गर्वके कारण मनुष्य दूसरोंको उपेक्षा और घृणाकी दृष्टिसे देखता है और सबसे अपना सम्मान कराना चाहता है इसीको दम्भ भी कहते हैं। गर्वीले व्यक्तिका एक यह भी लक्षण है कि वह अपने शरीर, बल, सम्पत्ति, बेषभूषा आदिको बड़े अभिमानसे देखता, दिखाता और उनका वर्णन करता रहता है।

१५ स्मृति : पहलेकी देखी हुई वस्तुके समान अथवा उससे सम्बद्ध किसी अन्य वस्तुको देखकर धारणा-शक्तिके द्वारा मनमे उस पहले देखी हुई वस्तुका जो रूप जाग उठता है वही स्मृति कहलाता है।

१६ मरण . धनञ्जयने मरणकी व्याख्या इसलिये नहीं की है कि उन्होने मरणका अभिप्राय 'प्राणोका छूट जाना' माना है। कुछ लोगोंने मरणसे यहाँ मृत्युसे पूर्वकी उस अवस्थाको माना है जिसमे प्राणोका सयोग रहनेपर भी शरीर मृत अवस्थाके समान निश्चेष्ट रहता है और जिससे व्यक्ति पुनरुज्जीवित भी हो सकता है। इस अवस्थाको उन्होने मूर्च्छा भी बताया है। पण्डितराज जगन्नाथने भी यही माना है। किन्तु मरण मनकी वह अवस्था है जब मनुष्य सम्पूर्ण शरीरिक चेष्टाएँ छोड़कर मृत्युके लिये अपनेको आत्मसमर्पित कर देता है जैसे राजा दिलीपने गुरु वशिष्ठकी गौकी रक्षाके लिये माया-सिंहके आगे अपनेको समर्पित कर दिया था। यह भाव अत्यन्त वियोग या त्यागकी अवस्थामे होता है। यह वास्तवमे मनकी वह अवस्था या भाव (मरणका भाव) है जब मनुष्य अत्यन्त दुःखमे पडकर यही चाहता है कि मै प्राण दे दूँ और उस प्रकारकी चेष्टाएँ भी करता है।

१७ मद : मदिरा आदि मादक पदार्थोंके पानसे उत्पन्न होनेवाली अत्यन्त प्रसन्नता या अचेतनताके आनन्दको मद कहते है। मदके कारण अङ्ग, वाणी और गति शिथिल या अव्यवस्थित पड जाती है। मद्यपोमे श्रेष्ठ लोग नशा चढ़नेपर सो जाते है, मध्यम श्रेणीके लोग

हँसी ठट्ठा करते है और अधम श्रेणीके लोग बकते झकते, मारपीट करते या रोने लगते है।

१८ स्वप्न : स्वप्नावस्थाका उदय निद्रामे होता है। इसका प्रधान लक्षण श्वासोच्छ्वास तथा बर्राना है। कभी भयानक स्वप्न भी आ जाते हैं जिसमे रोना चिल्लाना या घिग्घि बँधना और चौकना भी होता है।

१९ निद्राः चिन्ता, आलस्य, थकावट आदिसे मनकी क्रियाओके रुक जानेको निद्रा कहते है। इसमे जँभाई आती है, हाथ-पॉव ताननेको जी करता है, आँखें झँपने लगती हैं और रह-रहकर नींद उचट जाती है।

२० विबोध : नींदके टूट जानेको विबोध कहते है। विबोधमे जँभाई आती है और मनुष्य अपनी आँखें मलता है।

२१ व्रीड़ा दुराचरण, कामवासना, प्रशसा, गुरुजनोकी मान-मर्यादा तथा अन्यकारणोसे चपलताके अभावको व्रीडा कहते है। जिस व्यक्तिको व्रीडा होती है वह सिकुडता सा रहता है, अपने मुँह या शरीरको छिपानेका प्रयत्न करता है, उसका रङ्ग फीका पड जाता है, सिर झुक जाता है, गाल लाल हो जाते है और झेंप आती है।

२२ अपस्मार : ग्रहोके योगसे, देवी-देवता तथा भूत-प्रेतसे आविष्ट होनेपर अथवा विपत्ति तथा किसी अन्य ऐसे ही कारणसे आए हुए आवेगको अपस्मार कहते है। अपस्मारसे आक्रान्त व्यक्ति पृथ्वीपर गिर जाता है, उसके शरीरसे पसीना बहने लगता है, साँस वेगसे चलने लगती है और मुखसे फेन निकलने लगता है।

२३ मोह या मूर्च्छा : भय, विपत्ति, आवेग अथवा स्मृतिके कारण उत्पन्न हुए चित्तके विक्षेपको मोह या मूर्च्छा कहते है। इसमे अज्ञान, भ्रम, पछाड खाना, लड़खडाना, देख न सकना आदि लक्षण दिखाई देते है।

२४ मति : शास्त्र आदिके उपदेश ग्रहण करके तथा भ्रान्तिका

उच्छेदन करके तत्त्वका ज्ञान करानेवाली बुद्धिका नाम मति है।

२५ आलस्य : थकावट, गर्भ आदि कारणोसे उत्पन्न हुई अकर्मण्यता या काम न करनेकी भावनाको आलस्य कहते हैं। आलस्यमे जँभाई और अँगडाई आती है तथा लेटने या बैठे ही रहनेको जी चाहता है।

२६ आवेग : मनकी घबराहटको आवेग कहते हैं। यह कई कारणोसे हो सकता है। यदि राज्य-विप्लव अथवा आक्रमणसे हो तो वीर लोग शस्त्रास्त्र ढूँढते है और हाथी-घोडे सजाते है किन्तु कायर लोग भागने और छिपनेका उपाय करते है। आँधी, पानी, बिजली, बाढ़ आदिके कारण भी आवेग होता है। इसमे कभी मनुष्य दौडता है, कभी अपनेको छिपाता है, कभी भगवान्को पुकारता है। यदि उत्पातसे हो तो अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। यदि इष्ट अथवा अनिष्ट-सयोगोसे हो तो तदनुसार हर्ष अथवा शोक होता है। अग्निके कारण जो आवेग होता हैं उसमे मुँह धुएँसे भर जाता है और जब आवेगका कारण हाथी या सिह आदि होते है तब भय, स्तम्भ, कम्प और भागनेका प्रयत्न होता है।

२७ तर्क : सन्देह दूर करनेके लिये अथवा मानसिक द्वन्द्वके समय विचारमे पड़ना तर्क कहलाता है।

२८ अवहित्था : लज्जा आदि भावोके कारण अङ्गके विकार छिपानेको अवहित्था कहते हैं।

२९ व्याधि . शारीरिक रोगको व्याधि कहते हैं। वियोगके कारण सन्निपात आदि व्याधियाँ हो जाती है जिनका रूपको तथा काव्योमे बहुधा वर्णन पाया जाता है।

३० उन्माद : बिना सोचे-विचारे कोई काम करना उन्माद कहलाता है। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगोसे भी हो सकता है और ग्रह-योग आदि अन्य कारणोसे भी।

३१ विषाद : किसी आरम्भ किए हुए काममे सफलता न प्राप्त कर सकनेके कारण धैर्य खो जानेको विषाद कहते है।

३२ औत्सुक्य : किसी सुखदायक वस्तु या इष्ट व्यक्तिकी आकाङ्क्षासे अथवा प्रेमास्वादके अभावमे या घबराहटके कारण समय न बिता सकनेको औत्सुक्य कहते है।

३३ चपलता : राग, द्वेष, मात्सर्य आदिके कारण एक स्थितिमे न रह सकनेको चपलता कहते है।

नए सञ्चारी भाव

आचार्यों-द्वारा गिनाए हुए इन तेंतीस सञ्चारी भावोमे श्रम, जडता, उग्रता, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध अपस्मार, मोह, मति, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद और चपलता ये तो भावानुगत शारीरिक या बौद्धिक दशाएँ और क्रियाएँ हैं अतः इन्हे सञ्चारी भाव नहीं मानना चाहिए। अतः शेष उन्नीस ही सञ्चारी भाव हैं। अभिनव-भरतने अपने अभिनव नाट्य शास्त्रमे सत्रह सञ्चारी भाव या पोषक भाव मिलाकर कुल बत्तीस सञ्चारी भाव गिनाए हैं।

अभिनवभरतके मतसे केवल निम्नलिखित बत्तीस सञ्चारी भाव है—
१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३ शङ्का, ४. धृति, ५. हर्ष, ६. दैन्य, ७. चिन्ता, ८. त्रास, ६ असूया, १०. अमर्ष, ११ गर्व, १२. व्रीडा, १३. आलस्य, १४. विषाद, १५. औत्सुक्य, १६. लोभ, १७. ईर्ष्या, १८. लालसा, १९. कामना, २० आसक्ति, २१. कुतूहल, २२. श्रद्धा, २३. विश्वास, २४. विनोद, २५. प्रतिकार, २६. प्रवञ्चना, २७. आशा, २८. निराशा, २९. मान, ३० उपेक्षा, ३१. स्पर्द्धा और ३२ विजय।

इनमेंसे प्रथम पन्द्रह सञ्चारी भावोका वर्णन ऊपर हो चुका है, शेष सत्रहका विवरण नीचे दिया जाता है।

१. लोभ : किसी व्यक्ति या वस्तुके सौन्दर्य अथवा उसके किसी अन्य गुणके अपने लिये अप्राप्य होनेपर, उसे देख-देखकर उसपर

रीझने तथा जब उसका स्मरण हो तब उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छाको लोभ कहते है।

२. ईर्ष्या : जिस व्यक्ति या वस्तुको हम अपना समझते हो, उसके भोगमे किसी दूसरेका हस्तक्षेप होनेपर हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तिके प्रति जो मनमे कुढ़न, डाह या जलन होती है अथवा अपने किसी समबुद्धि, समसामर्थ्य, सहधर्मी तथा सहकर्मीके अनुचित ढङ्गके अभ्युदयपर जो मनमे अपने छोटे होनेकी ग्लानि हो जाती है वह ईर्ष्या कहलाती है।

३ लालसा : सुन्दर या लोक-हितकारी व्यक्तिको या अपने किसी अभ्युदय-प्राप्त इष्टको देखने या उससे मिलनेकी उत्कट इच्छा अथवा कोई सुन्दर या विलक्षण वस्तु देखनेकी तीव्र इच्छाको लालसा कहते हैं।

४. कामना : अपने या अपने इष्टके लिये मङ्गल और अभ्युदय चाहनेकी भावनाको कामना कहते हैं।

५ आसक्ति जब किसी अप्राप्य व्यक्ति, दृश्य या वस्तुके प्रति इतनी ममता हो जाती है कि उसके आँखोसे ओझल होने या दूर होनेमे मानसिक व्यथा हो वहाँ आसक्ति सञ्चारी होता है।

६ कुतूहल : अद्भुत व्यक्ति या वस्तुको देखने अथवा उनकी कथा सुननेके लिये मनमे जो चाव और गुदगुदी होती है उसे कुतूहल कहते हैं।

७. श्रद्धा : स्वहितकारी या लोकहितकारी तथा अपनेसे अवस्था, विद्या, त्याग अथवा गुणमे बडे व्यक्तियोके गुण-श्रवण करने या दर्शन करनेके कारण मनमे उनके प्रति जो अस्थायी सात्त्विक आदर उत्पन्न हो जाता है उसे श्रद्धा कहते है।

८. विश्वास : किसी व्यक्तिकी अवस्था या उसका आचरण देख-सुनकर अथवा किसी घटनाको देख-सुनकर उसके परिणाममे निश्चयताके भावको विश्वास कहते है।

९. विनोद : किसी व्यक्तिकी दुर्बलता या मूर्खतासे लाभ उठाकर

उसकी मूर्खतासे जी वहलानेको विनोद कहते है है। इसमे किसीको कष्ट देने और स्वार्थ सिद्ध करनेकी बात नहीं होनी चाहिए।

१०. प्रतिकार : अपने साथ भलाई करनेवालेके साथ भलाई और बुराई करनेवालेके साथ बुराई करनेकी भावनाको प्रतिकार कहते है।

११ प्रवञ्चना : मूर्ख या सीधे व्यक्तिको ठगनेकी भावनाको प्रवञ्चना कहते है।

१२. आशा : अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी घटनाके परिणामकी सफलतामे अनिश्चित विश्वासको आशा कहते है।

१३. निराशा : अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी स्वसम्बद्ध घटनाके परिणामकी असफलतामे निश्चित विश्वासको निराशा कहते है।

१४. मान : अपने इष्ट या परम आत्मीयके द्वारा अपनी उपेक्षा या अपमान देखकर उससे रूठनेके भावको मान कहते हैं।

१५. उपेक्षा किसी व्यक्ति, वस्तु या कार्यके प्रति रुचि न दिखानेको तथा उसके प्रति उदासीन रहनेकी भावनाको उपेक्षा कहते हैं।

१६. स्पर्द्धा : अपने सहकर्मीकी उन्नति देखकर उसके समकक्ष या उससे आगे बढनेकी भावनाको स्पर्द्धा कहते है।

१७, विजय : ऐसा कार्य करनेकी भावना जो पहले किसीने न की हो, विजय कहलाती है।

इन बत्तीस सञ्चारी भावोके ज्ञानके बिना कोई भी साहित्यकार ठीक-ठीक चरित्र-निर्वाह नहीं कर सकना क्योकि किसी दृश्य या वर्णनके ग्रथनसे साहित्यकार जो विशिष्ट परिणाम उपस्थित करना चाहता है वह तबतक ठीक और उचित नहीं हो सकता जबतक पात्रोंकी उक्तियो, चेष्टाओ तथा व्यापारोमे तत्सम्बद्ध सञ्चारी भावोका समावेश नहीं हो जाता।

मम्मटका विवेचन

मम्मटने 'काव्यप्रकाश'मे कहा है कि 'जैसे दूध ही जमकर दही बन

जाता है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोसे प्रेरित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है।' उनका कहना है कि 'सहृदयोके हृदयमे रति, हास, शोक आदि भाव छिपे या दबे हुए रहते हैं किन्तु काव्य सुनने या पढ़ने अथवा नाटक देखनेसे वे उभडकर रस बन जाते हैं।

शृङ्गार-रस

शृङ्गारको रसराज (सब रसोका राजा) कहा गया है क्योकि शृङ्गारमे दो आलम्बन (नायक-नायिका) होते है, सभी अनुभाव हो सकते हैं और सभी सञ्चारी भाव हो सकते हैं। शृङ्गारके दो पक्ष हैं—१. सम्भोग या संयोग शृङ्गार, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिकाका पारस्परिक अवलोकन, आलिङ्गन आदि आते हैं, २. विप्रलम्भ या वियोग शृङ्गार, जिसमे शङ्का, उत्सुकता, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रमाद, चिन्ता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव माने गए हैं और सन्ताप, निद्राभङ्ग, कृशता तथा प्रलाप आदि अनुभाव माने गए है। यह वियोग पाँच कारणोसे माना गया है—(क) अभिलाषा, (ख) ईर्ष्या, (ग) विरह, (घ) प्रवास, (ङ) शाप। इनमे अभिलाषासे वह वियोग होता है जहाँ चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण आदिसे पूर्वानुराग होता है। इस वियोग शृङ्गारमे दस काम-दशाएँ मानी गई हैं—१. अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुणकथन, ५. उद्वेग, ६ प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. दृढता और १०. मृति।

हास्य रस

बेढङ्गा आकार, बेढङ्गी बोली और वेश-भूषा तथा चेष्टा आदिसे हास्य उत्पन्न होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. आत्मस्थ और २. परस्थ। हास्यकी वस्तु देखनेसे जो हास स्वय उत्पन्न होता है वह आत्मस्थ और जो दूसरेको हँसते देखकर उत्पन्न होता है वह परस्थ कहलाता है। इस हास्यके छह भेद होते हैं—(क) स्मित, (ख) हसित, (ग) विहसित, (घ) अवहसित, (ङ) अपहसित और

(च) अतिहसित। ये सब भेद कम और अधिक हँसनेके परिणामके अनुसार बनाए गए हैं।

करुण रस

बन्धुओके विनाशका और वियोगसे अथवा धर्मपर आपत्ति या द्रव्यनाश आदि अनिष्ट घटनाओसे करुण रस उत्पन्न होता है।

रौद्र रस

शत्रुका सम्मुख होना या कार्य करना, अपमानित होना, किसीके द्वारा बुराई होना या गुरुजनोकी निन्दा आदिसे रौद्र रस होता है।

वीर रस

अत्यन्त उत्साहसे वीर रसकी उत्पत्ति मानी गई है। इस वीर रसके चार भेद है—१. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर। किन्तु अब इनमे पाँचवाँ 'विक्रमवीर' भी बढा लेना चाहिए जो उन लोगोके लिये प्रयुक्त हो सकता है जो असाधारण कार्य करनेका साहस करते हैं, जैसे हिमालय पर्वतपर चढ़ना। कुछ आचार्योंने यह माना है कि 'वीररसका प्रयोग केवल युद्धमे ही करना चाहिए' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। उत्साहके और भी बहुतसे क्षेत्र है। जो व्यक्ति अपने प्राण सङ्कटमे डालकर डूबतेको बचाता है वह भी वीर ही है।

भयानक रस

जब कोई बलवान आक्रमण करे या कोई भयङ्कर वस्तु दिखाई दे तब भयानक रस होता है।

बीभत्स रस

जहाँ रुधिर, मज्जा या अन्य घृणित वस्तुएँ देखनेसे ग्लानि हो वहाँ बीभत्स रस होता है।

अद्भुत रस

आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओंको देखनेसे अद्भुत रस व्यक्त होता है।

शान्त रस

जो लोग शान्त रस मानते हैं उनका कहना है कि 'तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे शान्त रस होता है।' इसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति; संसारकी असारता ही अलम्बन, आश्रम, तीर्थ, श्मशान, सत्सङ्ग आदि पन, रोमाञ्च और अश्रु आदि अनुभाव, स्मृति, मति आदि सञ्चारी होते हैं।

भाव

देवता, गुरु, महापुरुष और पुत्र आदिके प्रति जो पूज्य-बुद्धि, श्रद्धा-बुद्धि, या वात्सल्य-बुद्धि होती है वह 'भाव' कहलाती है। इसी प्रकार जब आलन्बनको देखकर उसके अनुकूल स्थायी भाव जाग तो जाय किन्तु उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी न हो तब वे भी भाव ही कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ सञ्चारी भाव ही प्रधानतासे व्यक्त होते दिखाई पडें वे भी भाव होते है जैसे हर्ष, उत्सुकता आदि।

रसाभास

जब अनुचित और असङ्गत रूपसे रसका प्रयोग किया जाात है, जैसे चिडियोके प्रेमका या नायक-नायिकामे एकपक्षीय प्रेम दिखाना आदि तब ऐसी स्थितिमे रसाभास होता है, रस नहीं।

भावाभास

जब अनुचित और असङ्गत रूपसे भावका वर्णन किया जाता है, जैसे पक्षी-द्वारा चिन्ताका वर्णन या जहाँ रसाभासके अङ्ग होकर भाव आते हैं उन्हे भावाभास कहते हैं।

भावशान्ति

एक भावका वर्णन होते समय किसी दूसरे भावके सहसा प्रकट हो जानेसे पहले भावकी समाप्तिमे जो चमत्कार आ जाता है उसे भावशान्ति कहते हैं। जैसे—

बहुबिधि सोचत सोच-बिमोचन। स्रवत सलिल राजिवदल लोचन॥

प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भए बानर निकर ।
आइ गए हनुमान, जिमि करुणा महँ बीररस ॥
हरषि राम भेंटेउ हनुमाना । (अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना) ॥
—तुलसी

भावोदय

जहाँ किसी भावके समाप्त होनेपर सहसा कोई दूसरा भाव उदय हो और उसके उदय होनेमे कोई चमत्कार हो वहाँ भावोदय होता है ।

भाव-सन्धि

जहाँ समान चमत्कारवाले दो भाव एक साथ उपस्थित हो वहाँ भाव सन्धि होती है ।

भाव शबलता

जहाँ एक साथ एकके अनन्तर दूसरे भाव आकर एकत्र हो जायँ वहाँ भाव-शबलता होती है ।

६

अलङ्कार-सम्प्रदाय

अलङ्कारका अर्थ है सजाना । सबसे पहले भामहने यह मत प्रवर्त्तित किया कि 'कविताके सौन्दर्यके लिये अलङ्कार आवश्यक हैं ।' उनके इस सिद्धान्तका समर्थन उनके टीकाकार उद्भटने किया और फिर दण्डी, रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज आदि अनेक विद्वानोने उनका अनुगमन किया । दण्डीका मत है कि 'काव्यका पोषण करनेवाले अङ्गोको अलङ्कार कहना चाहिए ।' इसी प्रकार रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने साहित्य-ग्रन्थोमे काव्यके लिये अलङ्कारको ही प्रधान माना है । ये लोग अलङ्कारको काव्यका प्राण मानते हुए कहते हैं कि 'जैसे उष्णता ही अग्निका मुख्य गुणतत्त्व है, उसी प्रकार अलङ्कार भी काव्यका प्राणतत्त्व है । जिस प्रकार अग्निको उष्णताहीन

मानना अनुचित और मूर्खतापूर्ण है वैसे ही काव्यको अलङ्कारहीन मानना भी है।' मम्मटने काव्यका लक्षण बताते हुए कहा है कि 'काव्यके शब्द और अर्थ निर्दोष हो, गुणयुक्त हो और कहीं-कहीं बिना अलङ्कारवाले भी हो तो कोई बात नहीं'—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।' इसपर टिप्पणी करते हुए चन्द्रालोककार जयदेवने कहा है कि 'जो लोग काव्यको अलङ्कारहीन शब्द और अर्थवाला मानते हैं वे यह क्यो नहीं मान लेते कि अग्नि अनुष्ण (ठण्डी) भी होती है—

अङ्गाकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

रुय्यकका मत है कि 'प्राचीन आलङ्कारिक भी काव्यमे अलङ्कारको ही प्रधान मानते हैं।' इन अलङ्कारोका कुछ दिनो तो ऐसा व्यसन चला कि प्रत्येक आचार्य नए-नए अलङ्कार निकालने लगे यहाँतक कि अलङ्कारोकी सख्या सैकडोतक पहुँच गई।

भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमे केवल चार अलङ्कारोका उल्लेख किया है—१. अनुप्रास, २. उपमा, ३. रूपक और ४. दीपक।

रस और अलङ्कार

यद्यपि रसका सिद्धान्त अलङ्कारके पहलेसे ही चला आ रहा था किन्तु इन अलङ्कार-सम्प्रदायवादियोने रसको अलङ्कारका ही एक प्रकार मान लिया है। रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वित और समाहित अलङ्कारोके भीतर ही उन्होने रस और भाव सबका समावेश कर लिया है। भामहने कहा है कि 'महाकाव्यमे रसकी स्थिति होती है।' उन्होने प्रेयस्, रसवत् आदि अलङ्कारोमे रसका पूरा विवरण दे दिया है और यह भी लिख दिया है कि जहाँ स्पष्ट रूपसे शृङ्गार आदि अलङ्कार नहीं प्रतीत होते है वहाँ रसवत् अलङ्कार नहीं माना जा सकता।' इसी प्रकार दण्डीने भी रसवत् अलङ्कारके भीतर ही आठो रसो और आठो स्थायी भावोको ला रक्खा है और गुणोमेसे माधुर्यमे रसका सन्निवेश

माना है। उद्भटने भी यद्यपि रसवत् अलङ्कारकी व्याख्यामे स्थायी भाव, विभाव और सञ्चारी भाव आदि शब्दोका प्रयोग तो नहीं किया किन्तु नौ प्रकारके रस उन्होने मान लिए है। रुद्रटने भी यद्यपि अलङ्कारका ही समर्थन और प्रतिपादन किया है किन्तु उनका भी मत है कि 'काव्यमे बडे यत्नसे रसका सन्निवेश करना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन आचार्योंने अलङ्कारको प्रधान माना है किन्तु रस तत्त्वकी उन्होने अवहेलना नहीं की। अन्तर केवल इतना ही रहा कि इन आचार्योंने रसको भी अलङ्कारका एक प्रकार मान लिया।

जिन आचार्योंने काव्यमे अलङ्कारकी कल्पना की है उन्होने अलङ्कारकी परिभाषा यही बताई है कि 'जिससे सजावट की जाय उसीको अलङ्कार कहते हैं' (अलक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः)। जैसे शरीरपर अलङ्कार या आभूषण पहननेसे शरीरका स्वाभाविक सौन्दर्य और भी अधिक निखर जाता है, वैसे ही शब्दो और वाक्योमे अलङ्कार या सजावट भर देनेसे शब्द और वाक्य सुन्दर और आकर्षक हो जाते हैं। यद्यपि कभी कभी अलङ्कारके बिना भी स्वाभाविक सुन्दरता आकर्षक होती है और शब्द तथा वाक्य भी कभी-कभी स्वाभाविक रूपमे अधिक मनोहर और सरस लगते हैं, किन्तु यदि उनमे अलङ्कारोकी सुन्दरता जोड़ दी जाय तो उनका प्रभाव और भी अधिक व्यापक हो जाता है।

अलङ्कारका अर्थ यह है कि 'वह जब प्रयोग कर दिया जाय तब फिर कुछ भी कहना या जोडना शेष न रहे', अर्थात् किसी बातको कहनेके समय जो शैली या उपमान आदि प्रयुक्त हो वे ऐसे हो कि उन्हे देखकर सहृदय लोग 'अलं' अर्थात् 'बस' कह दें, अर्थात् उनसे यह सूचित हो कि अब किसी दूसरे ढङ्गसे या इससे अधिक किसी दूसरे प्रकारसे विशिष्ट कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गई है। किसी बातको इस प्रकार सजानेका विधान अलङ्कार कहलाता है जिसका

प्रयोग करनेसे उचित और योग्य प्रकारसे तथा तीव्रतासे भावकी अभिव्यञ्जना की जा सके।

कुछ आचार्योंने इसी बातको थोडा घुमा-फिराकर इस प्रकार कहा है कि 'शब्द और अर्थके द्वारा उपस्थित रसके गुणोकी विशेषता जिस शैलीसे प्रकट की जाय, उसे अलङ्कार कहते है।' कुछका कहना है कि 'शोभा वढानेवाले तथा रस आदिका उत्कर्ष करनेवाले शब्द और अर्थके अस्थिर धर्मको अलकार कहते है।' ऊपरकी एक परिभाषामे शैलीको अलंकार बताया गया है, दूसरीमे अस्थिर धर्मको अलंकार बताया है। किन्तु वास्तवमे न तो शैली ही अलकार है न धर्म ही। अलकार वह निश्चल योजना है जिसके अन्तर्गत काव्यका स्वरूप, उसके विविध अङ्ग, अङ्गोके प्रकरण, प्रकरणोके अन्तर्गत कथा, वर्णन, सवाद और उन सबमे व्याप्त एक विशेष उद्देश्यकी अभिव्यक्ति, सब आ जाते है और यह सब पूरी योजना भाषाके जिन अनेक विधानोसे पूरी होती है उन सबकी समष्टि ही अलकार है। उसमे शब्द और अर्थके द्वारा किसी शैलीसे रसके गुणोकी विशेषता ही प्रकट की जाती हो। जैसे रङ्गमञ्चके नटपर विभिन्न केन्द्रोसे पडनेवाले विभिन्न रङ्गोके प्रकाश विभिन्न अवसरोपर उसकी विभिन्न चेष्टाओ, भाव-भङ्गियो और मुद्राओको स्पष्ट करते चलते है उसी प्रकार अलकार भी काव्यके विभिन्न पात्रो, अवसरो और कार्योको अधिक स्पष्ट रूपसे व्यक्त करनेमे और सम्वेदनशील बनानेमे सहायक होते हैं। यदि ऐसा न करके वे केवल भाषा-चमत्कारसे ही पाठक या श्रोताके मनमे कुतूहल उत्पन्न करते तो वे अलकार न हो पाते क्योकि अलकार साधन है, साध्य नहीं।

ये अलकार शब्दमे भी हो सकते हैं, अर्थमे भी हो सकते हैं तथा शब्द और अर्थ दोनोमे हो सकते हैं इसीलिये इनके तीन भेद बताए गए हैं—१. शब्दालकार, २. अर्थालकार और ३. उभयालकार। यतः "अलकार किसी उक्तिकी सजावटकी उस समष्टिको कहते हैं जिससे

वक्ताके भावकी श्रोताके मनमे तीव्रतर व्यञ्जना हो,' अतः शब्दके अर्थमे अलकार नहीं, वरन् वाक्यकी योजनामे अलङ्कार होता है। किन्तु वाक्यमे भी यह सौन्दर्य या प्रभाव शब्दो और उनके अर्थोसे ही आता है अतः शब्दालकार और अर्थालकार दोनोपर ही विचार करना चाहिए।

शब्दालङ्कार

शब्दालकार वह है जिसमे केवल शब्दोका सौन्दर्य हो। ये पाँच प्रकारके माने गए है—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। आधुनिक ग्रन्थकारोने इनमेसे वक्रोक्ति और श्लेषको अर्थालकारमे ही परिगणित किया है। चित्रालकार वह है, जिससे वर्णों तथा शब्दोके निबन्धसे खड्ग, रथ आदि अनेक प्रकारके चित्र बनाए जाते है। इसे केवल शब्द-व्यायाम समझना चाहिए।

अर्थालङ्कार

अर्थालङ्कार वहाँ होता है जहाँ प्रयुक्त शब्दके अर्थके कारण चमत्कार आ जाता है। इनकी सख्या बहुत अधिक है। साम्य, विराध, शृङ्खला, न्याय और वस्तु-भेदसे ये पाँच श्रेणियोमे बाँटे गए है।

उभयालङ्कार

जिनमे शब्द और अर्थ दोनोका सौन्दर्य होता है वे उभयालकार कहलाते हैं, जैसे साहित्य-दर्पणकार और काव्य-प्रकाशकारने वक्रोक्तिको शब्दालकार माना है पर भाषा-भूषणकारने इसे अर्थालकार माना है। नीचे चन्द्रालोकके अनुसार अलकारोका परिचय दिया जा रहा है।

दो वस्तुओ (उपमान और उपमेय) मे भेद रहते हुए भी सादृश्य दिखलाने या समान धर्म बतलानेको **उपमालकार** कहते हैं। इसके चार अङ्ग हैं—१. उपमेय : जिसकी उपमा दी जाय अर्थात् जो वर्ण्य या वर्णनीय हो। २. उपमान : वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय अर्थात् जिसके समान दूसरी वस्तु बतलाई जाय। ३. वाचक : उपमा प्रकट

करनेवाले शब्द, जैसे—से, समान, तुल्य आदि। ४. धर्म : साधारण या सामान्य धर्म (गुण, क्रिया, रूप आदि) जो दोनोमे दिखलाया जाय। कुछ लोगोने नामसाम्य भी उपमा ही माना है पर यह निरर्थक और त्याज्य है, जैसे—अर्जुनके समान अर्जुन वृक्ष देखो। जहाँ समताके चारो अङ्ग वर्त्तमान हो वहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार होता है, जैसे—श्रीकृष्णका शरीर नवघनके समान साँवला है। जिन उपमाओमे इन चारो अङ्गोमेसे एक, दो या तीन न हो वे लुप्तोपमा कहलाते है, जैसे—१. श्रीकृष्ण नवघनके समान है—धर्म-लुप्तोपमा। २. देखो! श्रीकृष्ण नवघन हैं—धर्म-वाचक लुप्तोपमा। ३. देखो, श्रीकृष्ण (नवघनके समान साँवले हैं क्योकि) मोरोके नृत्यका कारण बन गए हैं—धर्म-वाचक-उपमान-लुप्तोपभा। इस प्रकार लुप्तोपमाके बहुतसे भेद हो सकते हैं।

जिसमे उपमेय ही उपमान भी होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनो रूपोमे कही जाय उसे **अनन्वय** कहते है, जैसे रामके समान राम हैं।

जिसमे उपमेय उपमानके समान और उपमान उपमेयके समान बतलाया जाय अर्थात् दोनोमे पारस्परिक सादृश्य होना माना जाय वह **उपमानोपमेय** कहलाता है, जैसे—मुख कमलके समान तथा कमल मुखके समान है।

प्रतीपका अर्थ है प्रतिकूल या उलटा अर्थात् उपमेयको उपमानके समान न कहकर उलटे उपमानको उपमेयके सदृश बतलाना। उपमेय तथा उपमानके सादृश्यमे आधिक्य तथा कमी आदिके सम्बन्धसे प्रतीप अलङ्कार पाँच प्रकारका माना गया है—(क) जब उपमेयके समान उपमान बताया गया हो, जैसे—कमल नेत्रके समान है। (ख) जब उपमानकी समानता न कर सकनेपर उपमेय तिरस्कृत हो, जैसे—अपने मुख (के सौन्दर्य) का क्या गर्व करती हो? चन्द्रको तो देखो। (ग) जब उपमेयकी समानता न कर सकनेपर उपमान तिरस्कृत हो, जैसे—तुम्हारी आँखोके तीक्ष्ण कटाक्षके सामने कामके बाण तुच्छ है।

(घ) जब उपमानको उपमेयके समान बतानेमे सकोच प्रकट किया जाय, जैसे—तुम्हारे इन सुन्दर नेत्रोकी उपमा मीनसे कैसे दी जा सकती है ? (ङ) जब उपमेयके सामने उपमान व्यर्थ-सा जान पड़े, जैसे—तुम्हारे नेत्रके आगे मृगके नेत्र कुछ भी नहीं है।

जहाँ उपमेयमे बिना किसी भेदके उपमानका आरोप हो अर्थात् दोनो एक ही मान लिए गए हो और निषेध-वाचक शब्द न आवे वहाँ **रूपक** होता है। रूपकके दो भेद है—१. तद्रूप और २. अभेद। इनके भी (क) अधिक, (ख) सम और (ग) न्यूनके अनुसार तीन-तीन और भेद है—१. न्यूनतद्रूप . जैसे समुद्रसे उत्पन्न न होनेपर भी यह दूसरी लक्ष्मीके समान सुन्दर है। २ अधिक तद्रूप : जैसे दिन रात प्रकाश देनेके कारण यह मुख-चन्द्र आकाशके चन्द्रसे बढ़कर है। ३. समतद्रूप जैसे जब नेत्र-कमल हैं ही तब कमल किस कामका। ४. अधिक अभेद : जैसे यह कनकलता स्त्री चलती हुई कितनी अच्छी लगती है (इसमे चलना विशेषता है)। ५. न्यून-अभेद : जैसे ये विद्रुम-अधर समुद्रसे उत्पन्न नहीं हैं। ६. सम-अभेद : जैसे तुम्हारा विमल मुख कमल बडा सरस और सुगन्धियुक्त है।

जहाँ उपमेयका कार्य उपमानसे कराया जाय या दोनोका एक रूपसे कार्य कराया जाना दिखाया जाय, वहाँ **परिणाम** अलकार होता है। रूपकमे इसमे यही भेद है कि इसमे उपमान-द्वारा कार्य होना दिखलाकर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जो रूपकमे नहीं होता, जैसे—'श्रीरामचन्द्रजी अपने कर-कमलोसे धनुषबाण घुमा रहे हैं।'

जहाँ एक ही वस्तुका अनेक रूपोमे वर्णन किया जाय वहाँ **उल्लेख** अलङ्कार होता है। इसके दो भेद हैं—१. जब एक वस्तुको अनेक लोग अनेक रूपोमे देखें, जैसे—श्रीरामचन्द्रजीको नारियोने शृङ्गाररस, विद्वानोने विराट्मय, जनकने आत्मीय, रानियोने शिशु और योगियोने परमतत्त्वके रूपमे देखा। २. जब एक ही वस्तुको उसके गुणोके

अनुसार एक ही व्यक्ति कई रूपोमे देखे, जैसे—आप युद्धमे अर्जुन, तेजमे सूर्य और विद्यामे बृहस्पतिके समान है।

पहले देखी या अनुभव की हुई वस्तुके समान कोई वस्तु देख लेनेपर उस पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण हो जानेका जहाँ वर्णन हो वहाँ **स्मरण** अलङ्कार होता है, जैसे—चन्द्रको देखकर प्रेयसीका मुख स्मरण होने लगा है।

जहाँ उपमानमे उपमेयका **भ्रम** हो जाय वहाँ भ्रम या **भ्रान्तिमान्** अलङ्कार होता है, जैसे—मुखको चन्द्र समझकर ये चकोर साथ लग गए हैं।

जहाँ किसी वस्तुको देखकर उसके वास्तविक रूपका निश्चय न हो वहाँ **सन्देह** अलङ्कार होता है, जैसे—यह प्रियाका मुख है, या चन्द्र है या नया खिला हुआ कमल है?

जहाँ उपमेयका निषेध करके उपमानकी स्थापना की जाय वहाँ **अपह्नुति** अलङ्कार होता है। इसके छह भेद होते है—१. शुद्धापह्नुति : जहाँ किसी एक धर्म या गुणके कारण उपमेयका निषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है, जैसे ये स्तन नहीं हैं, गेंदेके फूल हैं। २. हेत्वापह्नुति : जब उपमेयका निषेध करते हुए उसका हेतु या कारण भी दिया जाय, जैसे—चन्द्रको देखकर स्त्री कहती है कि 'चन्द्रमे तो गर्मी नहीं होती और रात्रिको सूर्य नहीं दिखाई देते, अतः हो न हो यह बडवानल ही है।' पर्यस्तापह्नुति : जब एकके गुणका दूसरेपर आरोप किया जाय, जैसे—यह मुख-सुधाधरका प्रकाश है, सुधाधर (चन्द्र) नहीं है। ४. भ्रान्त्यापह्नुति : दूसरेकी भ्रान्तिको मिटानेके लिये जब अपह्नुतिका प्रयोग हो, जैसे—हे सखी! मुझे ज्वर नहीं है, यह तो कामदेव तपा रहा है। ५ छेकापह्नुति : जहाँ युक्तिसे बात छिपाई जाय, जैसे—मेरे ओठोपर प्रियके दाँतके घाव नहीं है, वरन् जाड़ेके पवनसे ओठ फट गए है। ६ कैतवापह्नुति : जब एकके

बहाने दूसरा कार्य होना कहा जाय, जैसे—प्रियाके तीक्ष्ण कटाक्षोके बहाने कामदेव अपने बाण चला रहा है।

जहाँ भेदका ज्ञान होते हुए भी उपमेयमे उपमानकी प्रतीति हो वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है अर्थात् जहाँ असम्भव उपमान लाया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है। मनु, जनु, आदि उत्प्रेक्षाके वाचक शब्द है। इसके पाँच भेद है—१. वस्तूत्प्रेक्षा, २. हेतूत्प्रेक्षा, ३. फलोत्प्रेक्षा, ४ गम्योत्प्रेक्षा और ५. सापह्नवोत्प्रेक्षा। वस्तूत्प्रेक्षा क. उक्त-विषया और ख. अनुक्त विषया तथा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षाके क. सिद्ध-विषया और ख. असिद्धविषया ये दो-दो भेद होते है। उत्प्रेक्षामे वाचक शब्द न हो तो गम्योत्प्रेक्षा और अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षाका मेल हो तो सापह्नवोत्प्रेक्षा होती है। १. वस्तूत्प्रेक्षाः जिसमे एक वस्तु दूसरेके तुल्य दिखाई जाय, जैसे—नेत्र विशेष रूपसे बड़े और सरस हैं, मानो वे कमल हो। २. हेतूत्प्रेक्षा जिसमे जिस वस्तुका कारण न हो उसको उसी वस्तुका कारण मानना, जैसे—उसके पैर माना कठोर आँगनमे चलनेके कारण ही लाल हो गए हो ३. फलोत्प्रेक्षाः जिसमे जो जिसका फल नहीं है वह उसका फल माना जाय, जैसे—तुम्हारे पैरोकी समानता करनेके लिये कमल एक पाँवसे जलमे खड़ा होकर तप करता है।

जिसमे लोक-सीमाका उल्लघन प्रधान रूपसे दिखलाया जाय वहाँ **अतिशयोक्ति** अलकार होता है। जहाँ उपमेयसे निश्चयपूर्वक उपमान अभिन्न प्रतीत होता हो वहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार होता है। उत्पेक्षासे इसमे यह भेद है कि इसमे अनिश्चित रूपसे कथन रहता है। इसके आठ भेद बताए गए हैं—१. रूपकातिशयोक्ति : जहाँ केवल उपमानका ही वर्णन किया जाय, जैसे—एक धनुष (भ्रू) और दो बाण (कटाक्ष) लिए हुए चन्द्रमा (मुख) कनकलता (सुनहरे शरीर) पर शोभित है। २ सापह्नवातिशयोक्ति : जब एकका गुण दूसरेपर आरोपित किया जाय, जैसे—अमृत तो तुम्हारे मुखमे है पर पागल लोग चन्द्रमासे

बतलाते हैं। ३. भेदकातिशयोक्ति : जब अत्यन्त भेद दिखलाया जाय, जैसे—उसका हँसना, चलना और बात-चीत करना सबसे निराला (कुछ और ही) है। ४. सम्बन्धातिशयोक्ति : असम्बन्धमे सम्बन्ध दिखलाना, जैसे—अयोध्याके घर चन्द्रमातक ऊँचे हैं। ५. असम्बन्धातिशयोक्ति : सम्बन्धमे असम्बन्ध दिखलाना, जैसे—तुम्हारे हाथके आगे कल्पतरुका भला कौन आदर करेगा ? ६. अक्रमातिशयोक्ति : जब कारण और कार्य साथ होते कहे जायँ, जैसे—धनुष तथा शत्रुके शरीरपर आपके बाण एक साथ ही लगते है। ७. चपलातिशयोक्ति : जब कारणके तत्काल पीछे ही कार्य हो, जैसे—पतिके आज ही जानेका समाचार सुनकर प्रियाकी उँगलीकी अँगूठी उसके हाथका कड़ा बन गई। ८. अत्यन्तातिशयोक्ति : कार्यके अनन्तर कारण दिखलाना, जैसे—बाण पहुँचनेके पहले ही शत्रु लोट जाते हैं।

तुल्ययोगिता अलकार वहाँ होता है जहाँ कई प्रस्तुत उपमेयों तथा अप्रस्तुत उपमानोका एक ही धर्म बतलाया जाय। यह तीन प्रकारका होता है—१. जब एक ही शब्दसे हित और अहित दोनो अर्थ निकलें, जैसे—हे गुणी ! तू रमणी और शत्रु दोनोको हार देता है। [हार = गलेका एक आभूषण (हित), हार = पराजय (अहित)।] २. जब कई वस्तुओमे एक ही धर्म बताया जाय, जैसे—(सन्ध्याके समय) नवोढाका मुख और कमल दोनो मुरझा रहे हैं। ३. जब बहुतसे धर्म (गुण) का एक साथ होना कहा जाय जैसे—तुम्हीं श्रीनिधि (लक्ष्मीनिवास), धर्मनिधि (अत्यन्त धर्मात्मा), इन्द्र (तेजस्वी) और (कान्तिमान्) हो।

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोका एक धर्म हो वहाँ **दीपक** अलकार होता है, जैसे—राजाकी तेजसे तथा हाथीकी मदसे शोभा होती है।

दीपकावृत्ति अलंकार तीन प्रकारका होता है—१. जब केवल पदोका आवृत्ति हो (किन्तु अर्थ भिन्न हो), जैसे—तुम्हारी प्रतीक्षामे आँखोकी पलकें भी बढ़ रही हैं और घड़ीके पल भी बढ रहे हैं अर्थात्

आँखें फाड-फाडकर पलक चौडा-चौडाकर बाट जोह रहा हूँ और एक-एक पल भारी हो रहा है। यहाँ 'पल बढना' पदकी आवृत्ति हुई है पर अर्थ अलग-अलग हैं। २ जब केवल अर्थ एक हो किन्तु पद भिन्न हो, जैसे—कदम्ब फूल रहा है और केतकी प्रफुल्लित हो रही है। ३. जब पद और अर्थ दोनोकी आवृत्ति हो, जैसे—मोर भी मत्तहो गया है और चातक भी मत्त (कामासक्त) हो चला है।

जब उपमेय और उपमानके साधारण धर्म दो समान वाक्योमे अलग-अलग कहे जायँ तब **प्रतिवस्तूपमा** अलङ्कार होता है, जैसे—सूर्यकी शोभा उसके तेजसे है और शूर-वीरकी उसके बाणसे।

जहाँ उपमेय और उसके साधारण धर्म तथा उपमान और उसके साधारण धर्मका वर्णन बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावसे हो वहाँ **दृष्टान्त** अलङ्कार होता है। प्रतिवस्तूपमामे दोनोका एक ही धर्म शब्द-भेदसे कहा जाता है पर दृष्टान्तमे भिन्न धर्मका उल्लेख होता है, जैसे—चन्द्रमाकी चाँदनी जैसे फैलती है वैसे ही आपकी कीर्त्ति फैली है।

चन्द्रालोकके अनुसार **निदर्शना**का लक्षण यह है कि उसमे दो समान वाक्योमे एक ही अर्थ या भावका आरोप होता है। यह तीन प्रकारकी बताई गई है—१ प्रथम निदर्शना . जब दो वाक्योका अर्थ एक हो (असमको सम करना), जैसे—चन्द्रमा जैसे निष्कलक है वैसे ही सौम्य दाता भी। २ द्वितीय निदर्शना : जब उपमानका गुण उपमेयमे स्थापित करके एकता लाई जाय, जैसे—देखो, ये नेत्र स्वभावसे ही खञ्जनकी चपलता लिए हुए है। ३. तृतीय निदर्शना : उदाहरण रूपमे कार्य देखकर भला-बुरा फल कहना, जैसे—तेजस्वीके आगे शक्ति निर्बल हो जाती है, महादेवजीके आगे कामदेव इसके प्रमाण हैं।

जहाँ उपमानसे उपमेयमे कुछ विशेषता दिखाई जाती है वहाँ **व्यतिरेक** अलङ्कार होता है जैसे—मुख कमलके समान है पर (आधिक्य यह है कि) इससे मीठी बात निकलती है। व्यतिरेकमे

और प्रतीपमे केवल इतना ही भेद है कि इसमे प्रकट रूपमे सकारण विशेषता कही जाती है, प्रतीपमे केवल 'अधिक है' इतना ही कहा जाता है।

जब कई बातका एक साथ होना दिखाकर चमत्कार प्रकट किया जाय तब **सहोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे-आपकी कीर्त्ति और भागते हुए शत्रु साथ-साथ समुद्रतक पहुँचे।

जहाँ किसी चमत्कारके साथ 'बिना' का प्रयोग किया गया हो वहाँ **विनोक्ति** अलङ्कार होता है। यह दो प्रकारका होता है—१. जब किसी वस्तुके न रहनेसे उपमेय क्षीण प्रतीत हो, जैसे—तेरे नेत्र खञ्जन तथा कमलके समान होनेपर भी बिना आँजनके शोभा नहीं पाते। २ जब श्रेष्ठनर होते हुए भी किसी वस्तुके न रहनेसे उपमेय क्षीण लगे, जैसे—हे प्रिये! तुझमे रुखाईके बिना (रुखाई छोडकर) सभी गुण हैं इसीलिये तू अपने प्रियसे कभी मान नहीं करती और तेरा प्रिय इधर-उधर घूमता रहता है।

जब वर्णन (कार्य, लिङ्ग तथा गुण) की समानताके कारण उपमेयमे उपमानका आरोप किया जाय तब **समासोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—सन्ध्याके समय चन्द्रमाको देखकर कुमुदिनी फूल उठी। यहाँ कुमुदिनीके खिलनेका वर्णन करके सकेत यह किया गया है कि सन्ध्या समय पतिके आनेसे रमणी प्रसन्न हो उठी है।

जहाँ किसी विशेष अभिप्रायसे विशेषणका प्रयोग किया जाता है वहाँ **परिकर** अलङ्कार होता ह, जैसे—यह चन्द्रमुखी रमणी हमारी ओर देखते ही ताप हरण कर लेती है। यहाँ ताप हरण करनेकी शक्ति चन्द्रमे होनेके कारण चन्द्रमुखी विशेषण दिया गया है।

जब विशेष अभिप्रायसे विशेष्यका प्रयोग होता है तब **परिकरांकुर** अलङ्कार होता है, जैसे—वह वामा पतिकी सीधी बातें भी नहीं मानती। यहाँ 'वामा' (टेढी) शब्द साभिप्राय है।

जहाँ एक शब्दके अनेक अर्थोंके साथ काई बात कही जाती है वहाँ

श्लेष अलङ्कार होता है, जैसे—पूर्ण स्नेह (प्रेम, तेल) के बिना मुख इतना नहीं चमक सकता।

जहाँ केवल अप्रस्तुत-द्वारा ही प्रस्तुतका वर्णन हो वहाँ **अप्रस्तुत-प्रशंसा** अलङ्कार होता है, जैसे—ब्रह्माने शरद्के चन्द्रमाका सार निकालकर राधाजीका मुख बनाया है। यहाँ राधाजीकी सुन्दरताका वर्णन करना प्रस्तुत है पर उसके लिये कहा गया है कि ब्रह्माजीने चन्द्रमाका सार निकालकर बनाया है जो कारण है अतः अप्रस्तुत है। इसके भी कारण-निबन्धना, कार्य-निबन्धना, विशेष निबन्धना, सामान्य-निबन्धना, सारूप्य निबन्धना आदि अनेक भेद है।

जब एक प्रस्तुतका वर्णन करके दूसरे अर्थपर उसका अभिप्राय घटाया जाय वहाँ **प्रस्तुताकुर** होता है, जैसे—अग्नि! कोमल जूहीको छोडकर (कँटीले) केवड़ेपर कहाँ गया है? तात्पर्य यह है कि हे पुरुष! कोमल जूही (भक्ति) को छोडकर कण्टकाकीर्ण केवडो (सासारिक माया मोह) मे क्यो फँस गया ?

पर्यायोक्ति दो प्रकारकी होती है—१. जहाँ कोई बात स्पष्ट न कहकर वचनचातुरीसे घुमा-फिराकर कही जाय, जैसे—वही चतुर है जिसने तुम्हारे गलेमे बिना डोरीकी माला पहना दी है। अन्य स्त्रीके गलेकी मोतीकी मालाकी छाप नायकके गले और छातीपर उभड आई है। नायिका इस चिह्नको देखकर चातुर्यसे उसे उपालम्भ देती है कि तुमने किसी अन्य नारीसे रमण किया है। २. जिसमे किसी अच्छे बहानेसे अपना इच्छित कार्य साधा जाय, जैसे—तुम दोनो यहीं ठहरो, हम तालाबपर नहाने जाते हैं। नायिका और नायकको एकत्र देखकर सखियाँ स्नान करनेके बहाने वहाँसे टल जाती है।

जहाँ निन्दाके बहाने स्तुतिकी जाय वहाँ **व्याज-स्तुति** होती है, जैसे—हे गङ्गे! तुम्हे क्या कहे, तुमने तो पापियोको भी स्थान दे दिया। यहाँ स्वर्ग जैसे पवित्र स्थानको पापियोके द्वारा अशुद्ध करना कहकर

कविने निन्दाके बहाने गङ्गाजीकी मोक्षदायिनी शक्तिकी स्तुति की है। साहित्यदर्पणमे व्याजनिन्दा अलकार नहीं दिया गया है पर व्याज-स्तुतिका जो लक्षण दिया गया है उसीमे व्याजनिन्दाका भी लक्षण आ गया है। साहित्य-दर्पणमे यह लक्षण दिया गया है कि 'जहाँ स्तुतिमे निन्दा और स्तुतिमे अपस्तुति हो वहाँ व्याज-स्तुति होती है।' किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि जहाँ एककी निन्दाके बहाने दूसरेकी निन्दा हो वहाँ भी व्याज-निन्दा होती है', जैसे—वह मूर्ख है जिसने चन्द्रमाको सदाके लिये क्षीण नहीं बनाया।

स्तुतिमे निन्दाका आभास देना भी व्याज-निन्दा कहलाता है जैसे—हे सखी! तुम धन्य हो कि तुमने मेरे लिये मेरे प्रियके दन्त-नखके घाव सहे हैं।

आक्षेप अलकार वहाँ होता है जहाँ विशेष निषेधात्मक वर्णन-द्वारा व्यग्य या ध्वनिकी सूचना मिले। यह आक्षेप तीन प्रकारका होता है—१. जिसमे निषेधका आभास हो, जैसे—मैं दूती होकर नहीं आई हूँ, वरन् यही कहने आई हूँ कि नायिकाका शरीर अग्निसे भी अधिक तप्त हो गया है। २ पहले कुछ कहकर उसका निषेध करना, जैसे—हे चन्द्र! तू दर्शन दे, पर तेरा कुछ काम नहीं क्योकि स्त्री (चन्द्रमुखी) का मुख तो पास ही है। ३. इस प्रकार कहना कि निषेध गुप्त रहे, जैसे—(हे प्रिय) जाओ! परमेश्वर मुझे वहीं जन्म दे जहाँ तुम जा रहे हो।

जहाँ विरोधका आभास मात्र हो, वास्तवमे विरोध न हो, वहाँ **विरोधाभास** अलकार होता है, जैसे—विष्णु परदार-प्रिय हैं। परदारका ठीक अर्थ लक्ष्मी होनेसे विरोध दूर हो जाता है।

कारणके बिना किसी कार्यका होना या कारण और कार्य-सम्बन्धमे कुछ विशेष कल्पनाका होना **विभावना** कहलाता है। यह छह प्रकारकी होती है—१. अपूर्ण कारणसे पूर्ण कार्यका होना, जैसे—देखो कामदेवने

केवल कुसुमबाण हाथमे लेकर ही ससारको जीत लिया। २. बिना कारणके कार्यका होना, जैसे—बिना महावर लगाए तुम्हारे चरण लाल दिखाई दे रहे है। ३ बाधा होते हुए भी कार्य पूरा होना, जैसे—रात-दिन श्रुतिके पास रहनेपर भी नेत्र मोहमे पडे हुए है। श्लेषसे श्रुतिका वेद अर्थ लेनेसे मोहके मार्गमे रुकावट पडनेपर भी कार्य पूरा हो गया। ४. ऐसे कारणसे किसी कार्यका होना जो उसका कारण नहीं हो सकता, जैसे—अभी कबूतरको हमने कोयलकी बोली बोलते हुए सुना है। तात्पर्य यह है कि कबूतरके समान कण्ठवाली एक रमणी कोयल जैसी मीठी बोली बोलती है। ५ जिस कारणसे जैसा कार्य होना चाहिए वैसा न होकर उससे उल्टा होना, जैसे—हे सखी! चन्द्र मुझे ताप ही देता है। ६. जहाँ कार्य-कारणकी उत्पत्तिका आभास मिले, जैसे—नेत्ररूपी मछलीमे यह आश्चर्यजनक नदी प्रवाहित हो रही है। नेत्रसे अश्रुका निकलना ठीक होते हुए भी मछलीसे नदी नहीं प्रवाहित होती।

जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ **विशेषोक्ति** अलकार होता है, जैसे—शरीरके भीतर कामका दीप जलते हुए भी स्नेह (प्रेम और तेल) कम नहीं हुआ। इसके दो भेद है—१. उक्तगुण तथा २. अनुक्तगुण।

जब किसी सम्भावनाके न रहते हुए भी कोई कार्य हो जाय वहाँ **असम्भव** अलकार होता है, जैसे—कौन जानता था कि आज गोपसुत (कृष्ण) पहाड उठा लेगा?

असङ्गति अलकार दो प्रकारका होता है—१. जब कार्य कहीं या कभी और कारण कहीं या कभी हो जैसे, कोयल (वसत-आगमनसे प्रसन्न होकर) मत्त हुई और आमकी मजरी झूमने लगी (वायुके कारण)। २. जिस स्थानपर कार्यका होना उचित है वहाँ न होकर दूसरे स्थानपर होना, जैसे—तुम्हारे शत्रुकी स्त्रीने हाथमे तिलक (तिलोदक) ले लिया है।

विषम अलकार तीन प्रकारका होता है—१. दो अनमेल वस्तुओंका साथ होना, जैसे कहाँ तो स्त्रीका कोमल शरीर और कहाँ यह विरहाग्नि! २. कार्य और कारणके रङ्ग (बाह्य रूप) भिन्न-भिन्न हो, जैसे—तेरी काली तलवार-लतासे श्वेत कीर्त्ति उत्पन्न हुई। पाँचवीं विभावनासे इसमे यही भेद है कि उसमे कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु विषममे कार्य और कारणकी भिन्नता न होकर केवल बाहरी रूप ही भिन्न होता है। ३. अच्छे कार्यका बुरा फल हो, जैसे—सखीने जो कपूर लगाया, उसने शरीरको ताप ही दिया।

सम अलकार (**विषम**का उल्टा) तीन प्रकारका होता है—१. एक दूसरेके योग्य वस्तुओंका साथ होना, जैसे—अपने योग्य स्थान समझकर हारने स्त्रीके वक्षस्थलपर जाकर डेरा डाल दिया। २ कार्य और कारणमे सब प्रकारकी समानता होना जैसे—यदि लक्ष्मी नीचगामिनी हो तो आश्चर्य नहीं क्योकि उसकी उत्पत्ति ही जलसे है। ३. पूर्ण उद्यमके विना काम करते ही फलकी प्राप्ति होना, जैसे—उसने यश पानेकी इच्छा की और वह उसे मिल गया।

इच्छानुकूल फल पानेके लिये जहाँ उससे उल्टा प्रयत्न दिखाया जाता है वहाँ **विचित्र** अलकार होता है, जैसे—पवित्र मनुष्य उच्चता (उन्नति) प्राप्त करनेके लिये नम्रता ग्रहण करते हैं।

अधिक अलकार दो प्रकारका होता है—१. जब आधारसे आधेयकी अधिकता या विशेषता दिखलाई जाय, जैसे—तुम्हारा यश सात द्वीप और नौ खण्डोमे भी नहीं समा रहा है। यहाँ आधेय (यश) की विशेषता दिखलाई गई है २. जब आधेयसे आधार बढ़कर अर्थात् अधिक हो, जैसे—वह शब्द-सिन्धु कितना बडा है जिससे तुम्हारे गुणोका वर्णन किया जाता है। इसमे आधार (शब्द-सिन्धु) की विशेषता प्रदर्शित होती है। इस अलकारके लिये आधार-आधेय स्पष्ट होने चाहिएँ।

जब आधेयसे आधार छोटा हो तब **अल्प** अलकार होता है,

जैसे—जो अँगूठी उँगलीमे पहनी जाती थी वह अब हाथमे पहनी जाने लगी है। यहाँ आधेय (मुँदरी) की अपेक्षा आधार (हाथ) का अधिक सूक्ष्म होना दिखलाया गया है।

जहाँ दो वस्तुओके किसी गुणका एक दूसरेके कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय वहाँ **अन्योन्य** अलकार होता है, जैसे—चन्द्रमासे रात्रिकी और रात्रिसे चन्द्रमाकी शोभा है।

विशेष अलंकार तीन प्रकारका होता है—१. जब आधेयका कोई आधार न हो, जैसे—आकाश-स्थित कञ्चन-लतामे एक स्वच्छ फूल लगा हुआ है। आकाश-गङ्गाको लता तथा चन्द्रमाको (आकाश) पुष्प माना है जो बिना आधार (वृक्षके तने) के आकाशमे रहता है। २. जब आरम्भ थोडा हो और फल-सिद्धि अधिक हो, जैसे—नेत्रोने तुम्हे देखते ही कल्पवृक्ष देख लिया। ३. एक ही वस्तुका अनेक स्थानोपर वर्णन हो, जैसे—वही सुन्दरी मेरे हृदयमे, बाहर और दसों दिशाओमे वास कर रही है।

व्याघात अलकार दो प्रकारका होता है—१. जब ऐसी किसी वस्तुसे विपरीत कार्यका होना दिखलाया जाय जिससे कोई निश्चित कार्य ही हुआ करता हो, जैसे—जिनसे (फूलोसे) ससारको सुख मिलता है उन्हींसे कामदेव हमे मार रहा है। २. जब किसी तर्कको उलटकर उसके विरोधी पक्षका समर्थन किया जाय, जैसे—यदि आप सचमुच हमे बालक समझते हैं तब क्यो छोड़े जा रहे हैं।

जहाँ किसी एक कारणसे उत्पन्न कार्यको किसी अन्य कार्यका कारण बतलाया जाय और क्रमशः इस प्रकार दो या दोसे अधिक कारण हो वहाँ **कारणमाला** अलकार होता है, जैसे—नीतिसे धन, धनसे त्याग और त्यागसे यशकी प्राप्ति होती है। कारणमालाको **गुम्फ-परम्परा** भी कहते हैं।

जहाँ कई वस्तुओके क्रमशः ग्रहण और त्यागका उल्लेख हो और पीछे कही हुई वस्तुको 'पहले वर्णित की हुई वस्तुके विशेषणके रूपमे

प्रस्तुत किया जाय वहाँ **एकावली** अलंकार होता है, जैसे—आँखें कानतक, कान बाहुतक और बाहु घुटनेतक पहुँचते है। पूर्व-कथित 'आँखो, कानों तथा बाहुओ'के प्रति पीछे कहे हुए 'कानतक, बाहुतक और घुटनेतक' विशेषण रूपमे लाए गए हैं। एकावलीका दूसरा भेद वह है जहाँ पूर्वकथितके प्रति उत्तरोत्तर-कथितका विशेषण-भावसे निषेध किया जाय, जैसे जिस सभामे वृद्धगण न हो वह सभा नहीं होती, वे वृद्ध भी ठीक नहीं जो धर्मकी बात न कहे और वह धर्म नहीं जिसमे सत्य न हो।

दीपक और एकावली नामक अलङ्कारोके मिला देनेपर **माला दीपक** अलङ्कार होता है, जैसे—स्त्रीका हृदय कामदेवका मन्दिर है और तुम स्त्रीके हृदयके मन्दिर हो। यहाँ भिन्न-भिन्न कारणोसे नायिकाका हृदय तथा नायिका दोनो ही कामदेवके वासस्थान हुए, इससे दीपक हुआ और पूर्वकथितके प्रति उत्तरकथितकी विशेषण-भावसे स्थापना की गई इससे एकावली हुई।

क्रमशः गुणोको उत्तरोत्तर बढाते हुए जहाँ कई वस्तुओका वर्णन किया जाय, वहाँ **सार** अलङ्कार होता है जैसे—मधुसे अमृत अधिकतर मधुर है और अमृतसे भी कविता अधिक मधुर है।

जहाँ कुछ वस्तुओका उल्लेख करके पुनः उसी क्रमसे उनके गुण, क्रिया आदिका वर्णन किया जाय वहाँ **यथासंख्य** अलङ्कार होता है, जैसे—उसने शत्रु, मित्र तथा विपत्तिको दमन, प्रसन्न और नष्ट कर दिया है। क्रम ठीक न रहनेसे क्रम-भङ्ग दोष होता है।

पर्याय अलङ्कार दो प्रकारके होते हैं—१. जहाँ अनेक वस्तुएँ एकके ही आश्रित वर्णित हो, जैसे पैरोमे पहले चपलता थी पर अब मन्दता आ गई है। २. जहाँ एक वस्तुके क्रमशः अनेक आश्रय होनेका वर्णन हो, जैसे—'स्त्रीकी मुख-शोभा कमलको छोडकर चन्द्रमामे आ बसी है।' रात्रिमे कमल मुरझा जाता है अतः स्त्री-मुखकी उपमा कमलसे न दी

जाकर चन्द्रसे दी जाती है। इसके विपरीत दिनमे कमलसे उपमा दी जाती है।

जहाँ थोडा देकर अधिक लेनेका वर्णन हो वहाँ **परिवृत्ति** अलकार होता है जैसे—अरी! (नायक) एक बार बाण चलाकर (नायिकाका) शोभायुक्त कटाक्ष ग्रहण कर रहा है।

जहाँ उसीके समान एक दूसरेको व्यग्यसे वर्जित करनेके अभिप्रायसे किसी बातका दूसरे स्थानपर होना कहा जाय वहाँ **परिसंख्या** अलंकार होता है, जैसे—स्नेह (तैल-प्रेम) का हृदयमे नाश नहीं हुआ वरन दीपकमे हुआ। तात्पर्य यह है कि परिसख्यामे किसी वस्तु, गुण आदिको उनके उपयुक्त स्थानोसे हटाकर किसी विशेष स्थानपर स्थापित किया जाता है, जैसे—रामके राज्यमे नदियोमे ही कुटिलता थी, मनुष्योमे नहीं।

जहाँ ऐसी दो बातें कही जायँ कि 'ऐसा होगा या वैसा' वहाँ **विकल्प** अलकार होता है, जैसे—नायिका कहती है कि 'मेरे दु खका अन्त या तो यम करेंगे या मेरे पति।'

समुच्चय अलकार दो प्रकारका होता है—१. जहाँ अनेक भावोका एक साथ ही उत्पन्न होना वर्णित हो, जैसे—तुम्हारे शत्रु भागते हैं, गिरते है और फिर डरके मारे भागते हैं। २. जहाँ अनेक कारण मिलकर ऐसा एक कार्य करते वर्णित किए जायँ जिसके लिये एक ही कारण पर्याप्त हो, जैसे—यौवन, प्रभुत्व, धन और कामदेव चारो मद उत्पन्न करते है। इनमे एक ही मद उत्पन्न करनेको बहुत है फिर भी अनेक कारण दिए गए हैं।

जहाँ कई क्रियाओ या भावोका क्रमशः एकमे (कर्त्तामे) ही वर्णन किया जाय वहाँ **कारकदीपक** अलकार होता है, जैसे—देखकर जाती है, आती है, हँसती है और ज्ञानकी बातें पूछती है।

अन्य कारण मिल जानेसे जहाँ कार्य सुगम होना वर्णित किया

जाय वहाँ **समाधि** अलकार होता है, जैसे—स्त्रीकी ज्यो ही इच्छा हुई (कि पतिसे मिले त्यो ही) सूर्यास्त हो गया।

जहाँ प्रबल शत्रुसे परास्त न होकर (उससे पार न पानेपर) उसके मित्रोका अहित करना दिखाया जाय वहाँ **प्रत्यनीक** अलंकार होता है, जैसे—नेत्रोके समीपस्थ कानोपर कमलोने धावा बोल दिया। कमलोने नेत्रोसे सौन्दर्यमे परास्त होकर उनके समीपस्थ कानोको उनका मित्र मानकर उनका अहित किया अर्थात् कर्णफूल बनकर, जो कमलके आकारका होता है, कानोको नीचे खींचने लगे। मित्र-पक्षका हित करना भी इसी अलकारके अन्तर्गत माना जाता है। 'जब इस प्रकार हुआ तब ऐसा क्यो न होगा' कहकर जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ भी **प्रत्यनीक** अलकार होता है, जैसे—जब मुखने चन्द्रमापर (सौन्दर्यमे) विजय पा लिया तब कमल किस गिनतीमे है ? (अथात् निस्सन्देह वह प्राप्त होगा)। कैमुतिक न्यायसे जब कोई बडी बात हो गई तब छोटीके होनेमे सन्देह न रहना ही इस अलकारकी विशेषता है।

जहाँ किसी कही हुई बातका युक्तिके साथ समर्थन किया जाय वहाँ **काव्यलिङ्ग** अलकार होता है, जैसे—हे मदन! जिस शिवने तुम्हे परास्त किया था उसे मैने हृदयमे धारण किया है (इसलिये मुझे अब मत सताओ नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चय है)। इस अलकारमे एक पद या एक वाक्यके अर्थके कारण दिखलाए जानेसे दो भेद—पदार्थ-हेतु और वाक्यार्थ-हेतु माने गए है।

जहाँ विशेष बातसे सामान्यका समर्थन किया जाय वहाँ **अर्थान्तरन्यास** होता है, जैसे—रामजीकी कृपासे पर्वत भी जलमे उतराने लगे, महान् पुरुष क्या नहीं कर सकते! जिस प्रकार विशेषसे सामान्यका समर्थन होता है उसी प्रकार विशेषका सामान्यसे भी होता है और ये दोनो साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा किए जाते हैं।

जहाँ विशेष बातका सामान्य तथा पुनः विशेषसे समर्थन किया जाय वहाँ **विकस्वर** अलकार होता है, जैसे—कृष्णजीने गोवर्धन

पर्वत धारण किया, सत्पुरुष सब भार (कष्ट) सहन करते हैं जिस प्रकार शेषनाग सहन करते हैं । भारती भूषणमे इसके दो भेद किए गए हैं—एकमे अन्तिम विशेष बात उपमानके रूपमे आती है, दूसरेमे उपमान-रूपम नहीं आती।

उत्कर्षका हेतु जो नहीं होता वही हेतु जहाँ कल्पित कर लिया जाता है वहाँ **प्रौढोक्ति**अलकार होता है, जैसे—तेर केश बादलसे पूर्ण अमावास्याकी रात्रिके अन्धकारसे भी घने काले हैं।

'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' कहकर जहाँ वर्णन किया जाता है वहाँ **सम्भावना** अलकार होता है, जैसे यदि शेषनाग वक्ता होते तो तुम्हारे गुणो (के कथन) का पार पा सकते ।

जहाँ एक असम्भव बातका होना दूसरी असम्भव बातपर निर्भर हो वहाँ **मिथ्याध्यवसिति** अलकार होता है, जैसे—यदि हथेलीपर पारा रखकर चलें तब नवबधू प्रीति करे ।

जो कुछ कहना हो उसे स्पष्ट न कहकर जहाँ उसका प्रतिबिम्ब-मात्र कहा जाय वहाँ **ललित** अलकार होता है, जैसे—पुल बाँधकर अब क्या करोगे, अब तो जल उतर गया ।

प्रहर्षण (आनन्द) अलकारके तीन भेद होते हैं—१. बिना यत्नके इच्छित फल प्राप्त होते दिखाना, जैसे—जिसके लिये हृदय तडपता था वही दूती बनकर आ पहुँची है । २. बिना प्रयत्नके इच्छासे अधिक फलकी प्राप्ति होते दिखाना, जैसे—दीपक जलानेकी तैयारी कर ही रहे थे कि सूर्योदय हो गया । ३. वाछित पदार्थके प्राप्त्यर्थ उद्योगकी तैयारी करते ही उस पदार्थकी प्राप्ति दिखाना, जैसे—(पृथ्वीमे गड़े हुए धनको देखनेके लिये) निधि-अञ्जनकी ओषधि खोजते समय आदि-कारण (धन) ही मिल गया ।

जहाँ इच्छाके विरुद्ध फल होना वर्णित हो वहाँ **विषाद** अलकार होता है, जैसे—नीवीपर हाथ डालते ही कुक्कुटको ध्वनि (सबेरा होनेकी सूचना) सुनाई पड़ी ।

जहाँ एकके गुण या दोषसे दूसरेमें गुण या दोषका होना दिखलाया जाय वहाँ **उल्लास** अलङ्कार होता है, जैसे—गङ्गाजीको यह आशा है कि सज्जन स्नान करके उन्हे पावन कर देंगे। १. गुणसे गुण, २. दोषसे दोष, ३. गुणसे दोष तथा ४ दोषसे गुणका होना दिखलानेके कारण यह अलङ्कार चार प्रकारका होता है।

जहाँ एक वस्तुके गुण या दोषसे दूसरी वस्तुका गुण या दोष न प्राप्त होना कहा जाय वहाँ **अवज्ञा** अलङ्कार होता है, जैसे—चन्द्रमाकी किरणोके छूनेपर भी कमल नहीं खिलता। गुणसे गुण तथा दोषसे दोष न प्राप्त होनेके भेदसे यह दो प्रकारका होता है। जहाँ दोषमे भी गुण मान लिया जाय वहाँ **अनुज्ञा** अलङ्कार होता है, जैसे—वह विपत्ति आवे जिससे भगवान् सदा हृदयमे रहे। जहाँ गुणमे दोषकी और दोषमे गुणकी कल्पना की जाय वहाँ **लेश** अलङ्कार होता है, जैसे—इसी मीठी बोलीके कारण सुग्गा पिंजरेमे बन्द हुआ।

जहाँ किसी पदके एक अर्थमेसे ही दूसरा अर्थ भी निकलता हो वहा **मुद्रा** अलङ्कार होता है, जैसे—कोई नायिका कहती है कि 'हे अलि! वहाँ क्यो नहीं जाता जहाँ रसीली वास है।' साथ ही नायिकाके कहनेका यह भी तात्पर्य है कि 'सखी! वहाँ क्यो नहीं जाती जहाँ उस रसीली (अन्य नायिका) का वासस्थान है क्योकि तुम्हारा प्रिय वहीं है।'

जहाँ प्रस्तुत पदके मुख्य अर्थके साथ क्रमसे अन्य नाम भी निकलें वहाँ **रत्नावली** अलङ्कार होता है, जैसे—हे रसिक तुम चतुर्मुख (चतुरोमें मुख्य), लक्ष्मीपति (धनी) तथा सब ज्ञानोके धाम (ज्ञानी) हो। प्रस्तुत अर्थके साथ-साथ चतुर्मुखसे ब्रह्मा, लक्ष्मीपतिसे विष्णु और ज्ञानोके धामसे शिवके नाम भी निकलते हैं।

जहाँ किसी वस्तुका अपना रङ्ग छोडकर समीपवर्त्ती वस्तुका रङ्ग ग्रहण करना वर्णित हो वहाँ **तद्गुण** अलङ्कार होता है, जैसे—बेसरका मोती ओठ (की लालिमा) से मिलकर माणिक (लाल) की शोभा देता है।

पूर्वरूप अलकार दो प्रकारका होता है—१. जहाँ किसी वस्तुका अपने समीपवर्त्तीका गुण लेकर पुनः उसे छोडकर अपना पूर्व रूप धारण करना वर्णित हो, जैसे—(नीलकण्ठ) शिवजीके गलेमे पडनेसे शेष श्याम हो गया पर पुनः उनके उज्वल यशके कारण श्वेत हो गया। २ जहाँ समीपवर्त्तीके गुण समाप्त हो जानेपर भी उस गुणका दूर न होना दिखलाया जाय, जैसे—दीपक बुझा देनेपर भी उसकी मेखलाके मणियोके कारण उजाला बना रहा।

जहाँ समीपवर्त्तीके गुणका कुछ प्रभाव ही न होना दिखलाया जाय वहाँ **अतद्गुण** अलंकार होता है, जैसे—हमारे अनुरक्त हृदयमें रहनेपर भी प्रियमे अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ।

जहाँ सङ्गसे गुणका अधिक बढना वर्णित हो वहाँ **अनुगुण** अलङ्कार होता है, जैसे—हृदयकी प्रसन्नता (हास्य) से मोतीकी माला अधिक श्वेत हो उठी है।

अधिक समानताके कारण जहाँ भेद अर्थात् भिन्नताका स्पष्ट न होना वर्णित हो वहाँ **मीलित** अलङ्कार होता है, जैसे—स्त्रीके स्वाभाविक लाल पैरोमे लगा हुआ महावर ऐसा मिल गया है कि पहचान ही नहीं पडता।

जहाँ समानताके कारण विशेष भेद जान पडना वर्णित हो वहाँ **सामान्य** अलकार होता है, गैसे—अपलक नेत्र, कान और कमलमे तनिक भी अन्तर नहीं जान पडता।

जहाँ किसी एक कारणसे समानतामे भेद प्रकट होना वर्णित हो वहाँ **उन्मीलित** अलङ्कार होता है, जैसे—कीर्त्तिके सामने हिमालय छूनेसे पहचाना जाता है।

समतामे भी जहाँ विशेष भेदसे भिन्नता प्रकट होना दिखाया जाय वहाँ **विशेषक** अलकार होता है, जैसे—स्त्री-मुख और कमलका अन्तर सन्ध्याके समय चन्द्रदर्शनके अनन्तर ही समझमे आया।

जहाँ किसी गूढ अभिप्रायसे कोई बात कहलाई जाय वहाँ **गूढोत्तर**

अलकार होता है, जैसे—हे पथिक ! वहाँ उस बेंतकी भाड़ीमे उतरने योग्य भरना है। इसमे गुप्त रूससे सकेत-स्थान बतलाना भी इष्ट है।

जहाँ एक ही वाक्यमे प्रश्न और उत्तर दोनो मिलें वहाँ **चित्र** अलकार होता है, जैसे—का शीतलवाहिनी गङ्गा ? उत्तर है—काशीतल-वाहिनी गङ्गा। इस अलकारका एक भेद और है जहाँ कई प्रश्नोका एक ही शब्दसे उत्तर निकले, जैसे घोडा अडा क्यो ? पान सडा क्यो ? रोट जला क्यो ? उत्तर—फेरा न था।

जहाँ दूसरेका अभिप्राय समभनेपर ऐसी चेष्टा करना दिखाया जाय जिससे वह जान ले कि उसका अभिप्राय समभ लिया गया वहाँ **सूक्ष्म** अलकार होता है, जैसे—मैने उसकी ओर देखा तब उसने अपना शीशमणि बालोमे छिपा लिया। प्रेमीने केवल दृष्टिसे ही मिलनेका समय पूछा तो नायिकाने उसका अभिप्राय समभकर अपना शीशमणि बालोमे छिपाकर यह यह सकेत किया कि रात्रिमे मिलूँगी।

जहा दूसरेके मनकी बात जानकर क्रिया-द्वारा अपना भाव प्रकट दिखाया जाय वहा **पिहित** अलकार होता है, जैसे—सबेरे शय्यापर पतिके आते ही स्त्री हँसकर उसका पाँव दबाने लगी, अर्थात् स्त्री यह भाव प्रकट करती है कि तुम रात्रि-भर कहीं दूसरे स्थानपर रहे हो इससे थक गए हो। उसी थकावटको दूर करनेके लिये मै तुम्हारा पाँव दाबती हूँ।

जहाँ बहानेसे प्रत्यक्ष कारण छिपाकर कुछ और कहलाया जाय वहाँ **व्याजोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—हे सखी ! सुग्गेने दाँतोको अनार समभकर मेरे अधरपर यह घाव कर दिया है (प्रियने नहीं)।

जहाँ कोई गुप्त बात किसी औरके बहाने किसी दूसरेके प्रति कहलाई जाय वहा **गूढोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—हे सखी ! कल मै महादेवजीके पूजनको जाऊँगी। यहा नायिका सखीको कहनेके बहाने पास खड़े हुए प्रेमीको सुना रही है कि कल महादेवजीके मन्दिरमे भेंट होगी।

जहा प्रकट रूपसे कुछ कहलाकर श्लेष-द्वारा उसे छिपाया जाय वहां **विवृतोक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—सैनसे दिखाकर कहती है कि महादेवजी (प्रिय)की पूजा करो।

जहा किसी कृत्यका मर्म दूसरे कृत्यसे छिपाना दिखाया जाय वहा **युक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—पतिके विदा होते ही आसू निकल आए पर उन्हे पोछते समय उसने जँभाई ली, अर्थात् उसने जँभाई लेनेको ही आसू निकलनेका कारण प्रकट करना चाहा।

लोक-प्रवादमे प्रचलित उक्तिका जहा प्रयोग किया जाय वहा **लोकोक्ति** अलकार होता है, जैसे—छातीपर पत्थर रखकर विरहका दुःख सहूँगी।

जहाँ प्रचलित उक्तिका सार्थक प्रयाग किया जाय वहाँ **छेकोक्ति** अलकार होता है, जैसे—जो गायोको फेर लावे उसे ही अर्जुन समझो। विराट्की गायोको अर्जुन कौरवोसे छीनकर फेर लाए थे। यह अब एक साधारण उक्ति हो गई है जिसका तात्पर्य है कि जो कठिन काम कर सके उसे ही वीर समझना चाहिए, केवल बात बनानेसे काम नहीं चलेगा।

जहाँ कही हुई बातका श्लेष या क्रोध आदि विकृत स्वरसे दूसरा अर्थ लगाना दिखाया जाय वहाँ **वक्रोक्ति** अलकार होता है, जैसे आइए रसिक शिरोमणि! घर-घर आपकी कीर्त्ति गाई जा रही है। यहाँ नायिका क्रोधके कारण व्यग्यसे उल्टा कह रही है। उसका तात्पर्य यह है कि तुम झूठे प्रेमी हो और सभी तुम्हारी बुराई करते है।

जहाँ किसीकी अवस्था, स्वभाव आदिके अनुसार ही उसका वर्णन किया जाय वहाँ **स्वाभावोक्ति** अलकार होता है, जैसे—वह हँसकर देखती है, फिर सिर झुका लेती है और इठलाकर मुँह घुमा लेती है।

जहाँ भूत या भविष्य बातोका वर्त्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपमे वर्णन हो वहाँ **भाविक** अलकार होता है, जैसे—आज भी वह लीला वृन्दावनमें (प्रत्यक्ष-सी होती) मुझे दिखलाई पड़ती है।

जहाँ किसीके थोड़े गुणका परिचय देकर उससे बहुत बढ़ा-चढ़ा वर्णन किया जाय वहाँ **उदात्त** अलकार होता है, जैसे—उसकी थोडी-सी ही बात सुनकर जब तुम उसके वश हो जाते हो तो भगवान ही बचावें। 'अली कली ही तै विंध्यो' इसका सुन्दर उदाहरण है। **उदात्त** दो प्रकारके होते हैं—१. किसीके ऐसे प्रशसनीय चरित्रका उल्लेख हो जो अन्यके साथ सम्बन्ध रखता हो, २. जब (सम्भाव्य) विभूतिका बढ़ा-चढाकर वर्णन किया जाय।

जहाँ किसीके गुण आदिका अत्यन्त बढाकर वर्णन हो वहाँ **अत्युक्ति** अलकार होता है, जैसे—राजन्! तेरे दानसे भिखमगे भी कल्पतरु हो गए। अन्य लक्षणकारका मत है कि यह वर्णन अद्भुत और झूठ होना चाहिए।

जहाँ किसी शब्दका सयुक्ति किन्तु मनमाना अर्थ किया जाय वहाँ **निरुक्ति** अलङ्कार होता है, जैसे—हे उद्धव! कृष्णजी कुब्जाके वशमे हो गए, वे सचमुच निर्गुण है। यहाँ निर्गुणका अर्थ गुणोसे रहित अर्थात् मूर्ख लिया गया है। पर निर्गुणका प्रधान अर्थ है—जो सत्त्व, रज और तम तीनो गुणोसे परे हो। यहाँ दूसरा अर्थ जो लिया गया है वह मनमाना होते हुए भी युक्तियुक्त है।

जहाँ प्रसिद्ध अर्थका इस प्रकार निषेध किया जाय कि कुछ विशेष अर्थ निकले वहँ **प्रतिषेध** अलङ्कार होता है, जैसे—कृष्णजीके हाथमे यह मुरली नहीं है, कोई बड़ी बला है।

जहाँ किसी शब्दके साधारण अर्थपर विशेष बल दिया जाय वहाँ **विधि** अलङ्कार होता है, जैसे—कोयल तभी कोयल है जब वसन्त ऋतुमे वह (अपनी मीठी) बोली सुनाता है।

हेतु अलङ्कार दो प्रकारका होता है—१. जहाँ कारण और कार्य एक साथ होते कहे जायँ, जैसे—मानिनीका मान मिटानेको चन्द्रमा उदित हुआ। २ जहाँ कार्य और कारण एकमे ही सम्मिलितसे कहे जायँ, जैस—तुम्हारी कृपा ही मेरी ऋद्धि और समृद्धि है।

शब्दालङ्कार

शब्दालकारोमे विशेषतः अनुप्रास, यमक और श्लेषकी गणना की जाती है।

अनुप्रास अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ किसी पदमे एक ही अक्षर बार-बार आकर उस पदकी अधिक शोभा बढ़ावे। इसके पाँच भेद हैं—१: **छेकानुप्रास** वहाँ होता है जहाँ स्वरके एक न रहते हुए भी कई व्यजनोकी (कुछ ही अन्तरपर) दो-दो बार आवृत्ति हो, जैसे—आँखोमे आँजन, कानोमे कनफूल फबते हैं। २: जहाँ शब्दो और पदोकी आवृत्ति हो पर (अन्वयके भेदसे) अर्थमे भेद हो तो **लाटानुप्रास** होता है, जैसे—

प्रिय समीप जिसके, नहीं घाम चाँदनी ज्योति।
प्रिय समीप जिसके नही, घाम चाँदनी ज्योति।

३: जहाँ एक ही अक्षरकी कई बार आवृत्ति हो जहाँ **वृत्त्यनुप्रास** होता है। ४: **श्रत्यनुप्रास** वहाँ होता है जहाँ एक ही वर्गके अनेक वर्णोंकी आवृत्ति हो। ५: **अन्त्यानुप्रास** उन सभी छन्दोमे होता है जिनमे पहले और तीसरे या दूसरे और चोथे चरणोके अन्तमे तुक मिल जाता हो। सभी तुकान्त छन्दोमे अन्त्यानुप्रास होता है।

जहाँ केवल सुननेमे शब्दकी आवृत्ति हो पर उसके अर्थ भिन्न हों वहाँ **यमक** अलङ्कार होता है, जैसे—कनकसे कनकका मद अधिक होता हैं। (कनक = सोना, कनक = धतूरा)

जहाँ एक शब्दसे अनेक अर्थोका बोध कराया जाता हो वहाँ श्लेष अलकार होता है, जैसे—भार धरै ससारको तऊ कहावत सेस। (शेष = बचा हुआ, शेष = शेषनाग।

अलङ्कारोकी कोई सीमा नहीं है। सिद्ध लेखक नित्य अपनी वाणीमे नवीनता उत्पन्न करते जाते हैं और अलङ्कार भी बढ़ते जाते हैं।

———

१०

रीति-सम्प्रदाय

रीतिको काव्यका आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) बतानेका श्रेय है वामनको। उन्होने कहा है कि 'पदोकी विशिष्ट रचनाको ही रीति कहते हैं' (विशिष्टा पदरचना रीतिः)। किन्तु साथ ही उन्होने यह भी कहा कि 'पदोमे यह विशेषता उत्पन्न करनेका श्रेय गुणोको ही है' (विशेषो गुणात्मा)। इसीलिये रीति-सम्प्रदायको लोग गुण-सम्प्रदाय भी मानते है। 'साहित्यके गुण और दोष' की मीमासामे हम आगे बताएँगे कि भारतीय आचार्योंने काव्यके कौनसे गुण माने हैं। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमे श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति इन दसको काव्यार्थका गुण बताया है। रुद्रदामनने अपने गिरनारके शिलालेख (१५० ई०) मे माधुर्य, कान्ति और उदारता आदि गुणोका उल्लेख किया है। दण्डीने भी यद्यपि भरतके ही गुण-विवेचनको ग्रहण कर लिया है किन्तु उन्होने गुणोकी व्याख्यामे थोडा अन्तर कर दिया है। उन्होने इन गुणोको केवल वैदर्भी रीतिका ही लक्षण माना है और उस प्रसङ्गमे बताया है कि 'गौडी रीतिमे इन गुणोका ठीक उलटा समझना चाहिए' (एषा विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि)। अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणोको वे वैदर्भी और गौडी दोनोके लिये आवश्यक मानते हैं। यद्यपि वामनने भी इन दसोको माना है किन्तु उन्होने इन गुणोको दो प्रकारका बताया है। (शब्दगत और अर्थगत) किन्तु वामनका यह मत अन्य आचार्योंने नहीं माना है।

भामहने वामनसे पहले ही दस गुणोके बदले माधुर्य, ओज और प्रसाद केवल तीन ही गुण स्वीकार किए थे जिन्हे पीछेके सभी आचार्यों (मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज आदि) ने मानते हुए यह सिद्ध

किया है कि 'अन्य सात गुण या तो इन्हींके भीतर आ जाते है या वे दोषका अभावमात्र दिखलाते है (जैसे कान्ति) या वे गुण न होकर दोष हो जाते हैं।' भोजराजने वामनका ही अनुकरण किया है किन्तु उन्होने इन गुणोको तीन भागोमे बाँटा है—१. बाह्य, २. आन्तर और ३. वैशेषिक। साथ ही उन्होने गुणोकी संख्या भी दससे बढाकर चौबीस कर दी है।

वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियोमे वैदर्भी अधिक रमणीय रीति समझी जाती थी और गौडी निन्दित, किन्तु भामहने इसका सशोधन करते हुए कहा कि 'किसी रीतिको श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं कहना चाहिए क्योकि सब अपने-अपने स्थानपर श्रेष्ठ ही होती है। वास्तवमे विचारकको काव्यके निम्नाकित सुन्दर गुणोपर ही ध्यान देना चाहिए—वक्रोक्तियुक्त होना, अर्थसे पूर्ण होना, ग्राम्यदोषसे रहित होना आदि। दण्डीने वैदर्भी और गौडी दोनोका विस्तृत विवेचन करते हुए वैदर्भीको तो दसो गुणोसे युक्त और गौडीको कुछ गुण छोडकर अन्य गुणोका उलटा माना है अतः वे वैदर्भी रीतिको आदर्श मानते हैं और गौड़ीको अत्यन्त हीन। वामनने तीनो शैलियोका परिचय देते हुए कहा है कि 'जिस शैलीमे सब शब्दगुण और अर्थगुण हो वह वैदर्भी, जिसमे केवल ओज और कान्ति गुण हो वह गौडी और जिसमे माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण हो उसे पाञ्चाली कहते है'। इस प्रकार उन्होने वैदर्भी और गौडीके अतिरिक्त तीसरी पाञ्चाली भी मान ली।

रीतियोंके अनेक भेद

आगे चलकर आचार्यगण इन रीतियोकी सख्या भी बढ़ाते चले गए। राजशेखरने अपनी कर्पूरमञ्जरीमे केवल तीन रीतियोका उल्लेख किया है—१. वच्छोमि (वैदर्भी), २. मागधी तथा ३ पाञ्चालिका (पाञ्चाली)। रुद्रटने एक लाटी रीति मानी। भोजने आवन्ती, मागधी और लाटी तीन नई वृत्तियाँ मान लीं किन्तु साहित्यमे केवल प्रथम तीन ही प्रचलित है।

रीतिकी व्याख्या

रीतिका अर्थ है शैली या कहनेका ढङ्ग। यद्यपि ध्वन्यालोकमे आनन्दवर्द्धनने यही कहा है कि 'रीति-सम्प्रदायके आचार्योंको काव्य-तत्त्वका यथार्थ वर्णन करना नहीं आया इसीलिये उन लोगोने रीतियाँ चलाईं—

अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितं ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्त्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता ॥'

अर्थात् रीतिवाले काव्य-तत्त्व जानते अवश्य थे किन्तु किस प्रकार इन्हे व्यक्त करना चाहिए यही नहीं जानते थे इसीलिये ये लोग रीतिके फेरमे पड गए किन्तु वास्तवमे काव्यके रूपकी स्पष्ट व्याख्या रीति-सम्प्रदायवालोने ही की जिन्होने (विशेषत· वामनने) अलकार और गुणोको अलग करके उनका भेद समझाया। इससे पूर्व भामहने गुण और अलकारका भेद स्पष्ट नहीं किया था और दण्डीने गुणोको भी अलङ्कार ही कह डाला था—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।' किन्तु वामनने गुणोको अलङ्कारोसे अधिक महत्त्व दिया है। वे गुणको ही काव्यकी शोभा बढ़ानेवाला मानते हैं और उस शोभाको तीव्र रूपसे व्यक्त करनेवाले तत्त्वोको अलङ्कार मानते हैं (काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः)। उन्होने यह भी माना है कि 'गुण काव्यमे नित्य रहते है, बिना उनके काव्यमे शोभा ही नहीं उत्पन्न होती। यह गुणयुक्त रचना ही काव्य कहलाती है, गुणहीन रचना नहीं।' गुणको उन्होने स्त्रीके यौवनके समान आन्तरिक तत्त्व माना है और बतलाया है कि 'यदि किसी स्त्रीमे यौवन न हो तो कङ्कन, कण्ठहार आदि आभूषण उसकी शोभा नहीं बढा सकते। अत· अलङ्कारोको तो कङ्कन आदिके समान समझना चाहिए और गुणको यौवनके समान।'

रीति और रस

भामह आदि आलकारिकोने रसको काव्यका बहिरङ्ग साधक माना है किन्तु वामनने उसे काव्यका सात्त्विक धर्म बताया है और कहा है

कि 'रसका चमकना ही कान्ति है (दीप्तरसत्व कान्तिः) अर्थात् शृंङ्गार आदि रस जहाँ चमककर प्रकट होते हो वहीं कान्ति गुण होता है।' इसीलिये वामनने रसवत् आदि अलकार नहीं माने क्योकि वे गुणके भीतर ही रसकी व्यापकता समझते थे। इसी प्रकार वामनने वक्रोक्तिके अन्तर्गत ही अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि मानकर काव्यके तत्त्वोकी पहचानका पूर्ण परिचय दिया है।

पीछेके आचार्योंने यह मत स्वीकार नहीं किया कि रीति ही काव्यका आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) है फिर भी यह तो सभीने माना है कि रीतिका तत्त्व काव्यके परीक्षणमे सहायक होता है। कुन्तकने रीतिका विवेचन एक नई दृष्टिसे किया है। उनसे पहलेके आचार्योंने विदर्भ, गौड और पाञ्चालदेशोके नामपर वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियाँ मानी थीं किन्तु इसका न तो कोई तुक था न कोई ऐतिहासिक, भौगोलिक या भाषा-शास्त्रीय महत्त्व। अतः कुन्तकने नए नाम और नए सिद्धान्त निश्चित किए। उन्होने वैदर्भी को 'सुकुमार मार्ग', गौडीको 'विचित्र मार्ग, और पाञ्चालीको 'मध्यम मार्ग' कहकर पुकारा और इन रीतियोके लिये उन्होने चार नए गुणोकी भी कल्पना की।

रीति या शैलीकी महत्ता योरोपीय साहित्य-शास्त्रियोने विशेष रूपसे मानी है। साधारण रूपसे रीतिको इसी रूपमे समझना चाहिए जैसे विश्वनाथ कविराजने कहा है—'पदोंके मेल या सङ्घटनको रीति कहते हैं, जैसे—सब अङ्ग शरीरमे सानुपात और अपने-अपने स्थानपर स्थित होते है वैसे ही काव्यके शरीरमे भी शब्द और अर्थका उचित सयोजन होना चाहिए।' तात्पर्य यह है कि 'रीति उस शब्द-योजनाको कहते हैं जो कविके इष्ट अर्थको तीव्रतम रूपसे ग्राहकके हृदयमे भासमान कर दे।'

———

११

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

भारतीय समीक्षाका एक विचित्र सिद्धान्त-सम्प्रदाय है जिसे वक्रोक्ति कहते है। वक्रोक्ति शब्दका सीधा अर्थ है 'टेढ़ी बात' (वक्र उक्ति)। तात्पर्य यह है कि जिस बातको साधारणतः लोग एक ढङ्गसे कहते हैं उसे किसी दूसरे ढंगसे सुन्दर बनाकर कहनेको ही वक्रोक्ति कहते हैं। भोजन करनेके लिये घरमे कहते हैं 'खाना खा लीजिए', इसीको दूसरा कहता है—थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है।' यह दूसरा कथन ही वक्रोक्ति है। एक तीसरे प्रकारसे भी इसे कहा जा सकता है—'चलकर टिक्कड़ हूर ले।' यद्यपि पीछेकी दोनो ही उक्तियॉ असाधारण और टेढी अर्थात् घुमाकर कही गई हैं किन्तु दूसरीमे चमत्कार है और तीसरीमे फूहडपन और ग्राम्यत्व है अत 'वक्रोक्ति उसी उक्तिको कहते है जिसमे अत्यन्त शिष्ट ढङ्गसे कथनमे चमत्कार उत्पन्न किया जाय।'

सर्वप्रथम भामहने अपने काव्यालकारमे वक्रोक्तिका परिचय दिया है। उन्होने वहॉ वक्रोक्तिको अतिशयोक्तिका ही दूसरा नाम बताया है और उसे ही काव्यका मूल तत्त्व भी माना है। उन्होने कहा है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलकारोऽनया विना॥

किन्तु भामहने काव्यमे वक्रोक्तिका इतना ही उपयोग समझा है कि अलङ्कारके लिये वक्रोक्तिका होना आवश्यक है (वाचा वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते), अर्थात् टेढे अर्थमे शब्दोका प्रयोग करना ही अलकार बन जाता है। भामहके एक पद्यका उद्धरण देते हुए अभिनवगुप्तने वक्रोक्तिका यह लक्षण बताया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य हि वक्रता, लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानम्' अर्थात् लोकोत्तर या निराले ढङ्गसे शब्दो और अर्थोंका बैठाना ही शब्द-अर्थकी वक्रता कहलाती है, जैसे—'मै तुम्हे मार डालूँगा' कहनेके बदले यदि आपने

कहा—'मैं तुम्हे यमराजके भवनका अतिथि बना दूँगा' तो यह वक्रोक्ति हो गई। दण्डीने तो सम्पूर्ण वाङ्मयको ही दो भागोमे विभक्त कर दिया—१. स्वभावोक्ति, जिसके अन्तर्गत वस्तुओका ज्योका त्यो यथार्थ कथन हो। इस स्वभावोक्तिको काव्यादर्शमे 'जाति' नामसे सर्वप्रथम अलङ्कार माना गया है। २. वक्रोक्ति, जो स्वाभाविक कथनसे भिन्न हो और जिसमे अतिशय कथन हो। इस विवेचनके अनुसार उपमा आदि सब अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेयान् आदि रस-सम्बन्धी अलङ्कार सब वक्रोक्तिके ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रसङ्गमे दण्डीने कहा है कि 'श्लेषके सम्पर्कसे वक्रोक्ति और भी अधिक खिल उठती है।' इसे हम कह सकते है कि भामहने जो वक्रोक्तिकी कल्पना की थी उसे ही दण्डीने स्वीकार कर लिया। भामहने तो वक्रोक्तिको सब अलङ्कारोका मूल और सामान्य वार्त्तालापसे भिन्न माना है किन्तु दण्डीने तो स्वभावोक्तिको वक्रोक्तिके क्षेत्रसे ही अलग कर दिया, क्योकि वे वक्रोक्तिके लिये अतिशय कथनको आवश्यक नहीं मानते। वामनने वक्रोक्तिका जो वर्णन किया है उसका रूप भामह द्वारा प्रदर्शित वक्रोक्तिसे भिन्न है क्योंकि भामहने तो वक्रोक्तिको अलङ्कारोका मूल आधार ही माना था किन्तु वामनने उसे अर्थालङ्कारोमे ही गिन लिया। वामनका मत है कि 'वक्रोक्ति भी सादृश्यपर आश्रित लक्षणा ही है', जैसे—प्रातःकाल सरोवरमे कमल खिले और कुमुद सकुचित हो गए। यहाँ कमलके लिये खिलना और कुमुदके लिये सकुचित होनेकी बातमे वक्रोक्ति है। ये खिलना और सकुचना दोनो नेत्रके काम हैं किन्तु समानता होनेके कारण इनसे कमलके खुलने और बन्द होनेका अर्थ निकलता है। रुद्रटने वक्रोक्तिको एक शब्दालकार ही मान लिया। 'जब कोई किसीकी बात सुनकर उसके शब्दोका दूसरा ही अर्थ लगाकर कुछ दूसरा ही असङ्गत उत्तर दे' उसे रुद्रटने वक्रोक्ति माना है जैसे कृष्णजीके किवाड खट-खटानेपर राधिकाजीने पूछा—'कौन है'? कृष्णजीने उत्तर दिया—'मैं हरि हूँ।' इस हरिका अर्थ बन्दर लगाकर राधिकाजीने कहा—'हरि हो

तो जङ्गलमे पेडपर जाकर बैठो।' यही वक्रोक्ति नामका शब्दालकार है। कुन्तकने वक्रोक्तिको अलकार न मानकर काव्यका प्रधान तत्त्व माना है और विचित्र ढङ्गसे कहने (वैदग्धी भङ्गी भणितिः) को ही वक्रोक्ति माना है। इससे सिद्ध हुआ कि 'भामहने अलङ्कारके मूल तत्त्वके रूपमे जिस वक्रोक्तिको ग्रहण किया था उसे वामनने सादृश्यमूला लक्षणाके रूपमे अर्थालङ्कार माना, रुद्रटने शब्दालङ्कार माना और कुन्तकने काव्यका मूल तत्त्व माना।'

कुन्तकने वक्रोक्तिको काव्यका जीवित (वक्रोक्तिर्काव्यजीवितम्) माना है इसलिये वे वक्रोक्ति-जीवितकार कहलाते हैं। उन्होने छह प्रकारकी वक्रोक्ति मानी है—१. वर्ण-वक्रता, जहाँ अक्षरोंके विन्यासमे नवीनता उत्पन्न की जाय, २. पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता, जहाँ शब्दके पूर्वार्द्धमे विचित्रता हो, ३. पदपरार्द्धवक्रता, जहाँ शब्दके दूसरे आधे भागमे वक्रता हो, ४. वाक्य-वक्रता, जहाँ पूरे वाक्यमे वक्रता हो ५. प्रकरण-वक्रता, अर्थात् पूरे प्रकरणमे ही विशेष नवीनता हो और ६. प्रबन्ध-वक्रता, अर्थात् पूरे ग्रन्थमे ही नयापन हो। उन्होने वक्रोक्तिको इतना व्यापक कर दिया कि ध्वनिवालोने जितना कुछ विचार किया है वह सब इसीके अन्तर्गत आ जाता है। ध्वनिवादियोने यद्यपि वक्रोक्तिको काव्यका आत्मा तो नहीं माना किन्तु वक्रोक्तिके जितने प्रकार कुन्तकने सुझाए उन सबको उन्होने ध्वनिके भीतर ही समाविष्ट कर दिया।

वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद

योरोपीय समीक्षकोने अरस्तू और लौंगिनसके समयसे ही उक्तिमे विचित्रता उत्पन्न करना काव्यके लिये आवश्यक माना है किन्तु रूप या शैली (फौर्म आर स्टाइल) का विषयसे अधिक महत्त्व बताकर अभिव्यञ्जनाको महत्त्व देनेका श्रेय क्रोचेके अभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) को है। क्रोचेका मत है कि 'मनके दो व्यापार है—१. ज्ञान या प्रज्ञा, जो दो प्रकारका होता है—क. अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन), ख.

विचार या बुद्धि-द्वारा प्राप्त ज्ञान (कन्सेप्ट) २. क्रिया या सङ्कल्प, जिसके दो भेद है—क आर्थिक क्रिया (इकौनौमिक एक्टिविटी) ख. नैतिक क्रिया (ईथिकल एक्टिविटी)। इस प्रकार इन चारोसे क्रमशः अन्तःप्रेरणासे सुन्दर, विचारसे सत्य, आर्थिक क्रियासे प्रेय और नैतिक क्रियासे श्रेयकी उत्पत्ति होती है। क्रोचेका विचार है कि 'मनकी शक्ति क्रियामे प्रकट होती है। इसका ठीक-ठीक विवरण हमे इतिहाससे मिलता है जिसका काम है ससारकी घटनाओका मूल्य निर्धारण करना, सत्यता-असत्यताका निश्चय करना तथा उनके प्रभावको ठीक समझना।' यह ऐतिहासिक निर्णयपर पहुँचना ही दर्शका काम है। क्रोचेका मत है कि 'यही अन्त प्रेरणात्मक ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह कोई न कोई रूप (फौर्म) ग्रहण करता है अर्थात् अन्तःप्रेरणा किसी निश्चित रूपमे प्रकट होती है और यह रूप ही अभिव्यञ्जना (एक्स-प्रेशन) कहलाता है।' अतः अन्तःप्रेरणा अभिव्यञ्जना ही है, न इससे कुछ अधिक न कुछ कम, अर्थात् मन अपनी अन्तःप्रेरणाको जिस रूपमे ढालता है या यो कहिए कि हमारी अन्त.प्रेरणा ही अपनेको व्यक्त करनेके लिये जो रूप ग्रहण करती है वही अभिव्यञ्जना है। अतः ये दोनो परस्पर सम्पृक्त हैं। यह अभिव्यञ्जना भी भौतिक नहीं होती, मानसिक होती है अर्थात् ज्यो ही हम मनमे किसी मूर्त्तिकी कल्पना करते है त्यो ही अभिव्यञ्जना पूर्ण हो जाती है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह जब शब्दोमे कही जाय तभी अभिव्यञ्जना हो। वह तो शुद्ध आभ्यन्तर होती है, बाह्य नहीं, क्योकि उसका बाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोकसे हटकर व्यवहार-जगत्मे आ जाते हैं। उस समय यह बाह्य अभिव्यक्ति हमारी आन्तर अभिव्यक्तिका ही अधिक स्पष्ट रूप हो जाती है। क्रोचेने कहा है कि 'यदि हम किसी सङ्गीतके विषयको लेकर व्यक्त रूपसे गाते हैं तो हम वही गाते हैं जिसे हम पहले भीतर गा चुके हैं अर्थात् यह बाह्य अभिव्यक्ति वास्तवमे हमारी आभ्यन्तर अभिव्यञ्जनाका ही प्रत्यक्ष रूप है।'

क्रोचेका यह अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है क्योंकि वक्रोक्तिमे शुद्ध रूपसे शब्दार्थके कौशलपूर्ण नियोजनकी बात कही गई है, जिसका विवेकवती बुद्धिसे ही पूर्ण सम्बन्ध है, अन्तः-प्रेरणासे नहीं। दूसरी बात यह है कि वक्रोक्तिमे आभ्यन्तर अभिव्यक्तिकी बात ही नहीं उठती। जहाँतक क्रोचेकी अभिव्यञ्जनाका प्रश्न है वह कुछ अशोमे ठीक है और वह इस दृष्टिसे कि अभिव्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्तिगत होती है जिसे हम स्वान्तःसुखायकी भावनाका आधार मान सकते हैं अर्थात् कविके मनमे कुछ ऐसी अन्त.प्रेरणा होती है कि वह उस अन्तःप्रेरणामे ही मग्न होकर स्वय आत्मविभोर और रसमग्न हो जाता है। यही आन्तरिक अभिव्यञ्जना है। किन्तु कविका काम तो यह है कि वह दूसरोको भी उस भावसे भावित करे, अतः यह आवश्यक है कि इस कार्यके निमित्त वह अपनी अन्त प्रेरणाके रूपमे अभिव्यक्त रूपको शब्दका परिधान पहनाकर ही अभिव्यक्त करे। यही बाह्य अभिव्यञ्जना है। यह अभिव्यक्ति सरल शब्दोमे साधारण ढङ्गसे भी हो सकती है जो वक्रोक्तिकी मीमासे पूर्णतः बाहर है। वह अभिव्यञ्जना तभी वक्रोक्ति हो सकती है जब वह असाधारण रूपसे व्यक्त की गई हो। अतः वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावादका किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रोचेने कहा है—'सब कथाएँ अभिव्यक्ति हैं अतः सब अभिव्यक्ति कला है (औल आर्ट इज एक्सप्रेशन देअरफोर औल एक्सप्रेशन इज आर्ट)। कलाके प्रकरणमे हम इसकी मीमासा करते हुए बता चुके है कि कला वास्तवमे अभिव्यक्ति तो होती है किन्तु वह व्यवस्थित तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रोचेको यह कहना चाहिए था कि 'सम्पूर्ण कला व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति है अतः समस्त व्यवस्थित तथा सौन्दर्य भावित अभिव्यक्ति ही कला है।' किन्तु केवल इस आधारपर अभिव्यक्तिको कला कहना कि कला भी अभिव्यक्ति है वैसा ही असङ्गत है जैसे यह कहना कि 'सम्पूर्ण सङ्गीत ध्वनि है इसलिये सम्पूर्ण ध्वनि

भी सङ्गीत है ।' अत. क्रोचेके अभिव्यञ्जनावादको वक्रोक्तिसे नहीं मिलाना चाहिए ।

१२

ध्वनि-सम्प्रदाय

भारतीय साहित्यमे काव्यका प्रधान गुण ध्वनि माना गया है और ध्वनिसम्प्रदाय ही ऐसा समीक्षा-सम्प्रदाय है जो रस-सम्प्रदायकी टक्करमे टिका हुआ है। सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धनाचार्यने (नवम शताब्दीमे) ध्वनिके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। यद्यपि इस सिद्धान्तका विरोध भी प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिम भट्ट आदिने प्रबल रूपसे किया किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त व्यापक रूपसे मान्य रहा।

ध्वनिकी परिभाषा

'जहाँ प्रत्यक्ष (वाच्य) अर्थमेसे कोई दूसरा ही सुन्दर अर्थ निकले और वह नया अर्थ उसके प्रत्यक्ष या वाच्य अर्थकी अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हो वही ध्वनि है और उस प्रकारके ध्वन्यर्थोंसे भरा हुआ काव्य ही ध्वनि-काव्य कहलाता है जिसे मम्मटने सर्वश्रेष्ठ प्रकारका काव्य बताया है—'

इदमुत्तममतिशयिनि व्यग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथित. ।

आचार्योंने अर्थ दो प्रकारके माने है—१. वाच्यार्थ, जिसके अन्तर्गत अलकार आदि सब आ जाते हैं। २. प्रतीयमान अर्थ, जिसके अन्तर्गत ध्वनि आती है। आचार्योंका कहना है कि 'जो व्यक्ति काव्यमे वास्तविकता देखना चाहे उसे यह प्रतीयमान (जान पड़नेवाला) अर्थ भली-भाँति प्रकट हो जाता है जैसे—किसी सुन्दरीके शरीरमे सब अङ्ग और अवयव रहते हुए भी उनसे भिन्न लावण्य या सुन्दरता प्रतीत होती है उसी प्रकार काव्यके सब अङ्गोमे अलग, विचित्र, निराले, चमत्कारपूर्ण

प्रतीयमान अर्थकी उपस्थिति भी रहती है।' यद्यपि आदिकवि वाल्मीकिके समयसे ही सब कवि अपने काव्योंमे इस ध्वन्यर्थका प्रयोग करते चले आ रहे थे किन्तु इस ध्वनिको काव्यका आत्मा (काव्यस्यात्मा ध्वनिः) बताकर उसे एक पृथक् स्वतन्त्र काव्यतत्त्वके रूपमें स्थापित करनेका श्रेय आनन्दवर्द्धनको ही है। योरोपीय साहित्यवालोंने इस ध्वनित अर्थ (सजेस्टिव मीनिङ्ग) का महत्त्व मानाना है। इसके सम्बन्धमें ड्राइडनने कहा है कि—'यह ध्वन्यर्थ वहाँ होता है जहाँ कानसे सुनाई पडनेवाले शब्दोंसे कुछ अधिक अर्थ प्रतीत हो (मोर इज मेन्ट दैन मीट्स दि ईयर), किन्तु वहाँ भी इसे प्रधान तत्त्वके रूपमें विश्लिष्ट नहीं किया गया। उसका कारण यही था कि प्रारम्भसे ही वहाँ काव्य एक कला समझी जाने लगी थी और कलाका गुणतत्त्व सौन्दर्य ही माना जाता था। आनन्दवर्द्धनने ध्वनिकी जो व्याख्या की उसके पश्चात् उसका विस्तार अभिनवगुप्तने ध्वन्यालोककी 'लोचन' टीकामें किया। उसी समय बहुतसे ध्वनि-विरोधी आचार्योंने इस ध्वनि-सम्प्रदायका खण्डन भी किया जिनके विरोधोंका उत्तर देते हुए मम्मटने काव्यप्रकाशमें इस ध्वनिको पुनः स्थापित किया।

यह ध्वनि क्या है और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्धमें वैयाकरणोंने विस्तारसे विचार किया है। वहाँ शब्द और अर्थकी व्याख्यामें इस बातपर बडा शास्त्रार्थ हुआ है कि अर्थ किसमें होता है ध्वनिमें, वर्णमें शब्दमें, या वाक्यमें? इस शास्त्रार्थका आधार है स्फोटवाद।

स्फोट

भट्टोजी दीक्षितने शब्दकौस्तुभमें स्फोटकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् इससे जो अर्थ निकलता या फूटता हो उस अर्थको स्फोट कहते हैं। मञ्जूषामें नागेशने कौण्डभट्टके 'स्फुटत्यर्थो यस्मादिति' अर्थात् 'जिससे अर्थ फूटे' इस व्याख्याके अनुसार अर्थका बोध करानेवाले शब्दको ही स्फोट-रूप माना है। जैसे-जैसे उस

स्फोटपर अर्थात् अर्थ बतानेवाले तत्त्वपर विचार हुआ वैसे-वैसे स्फोटके अनेक रूप बन गए और तदनुसार आठ प्रकारके स्फोट माने गए—

१. वर्णस्फोट, २ पदस्फोट, ३ वाक्यस्फोट, ४. अखण्डपद-स्फोट, ५ अखण्डवाक्यस्फोट, ६. वर्णजातिस्फोट, ७. पदजातिस्फोट, और ८. वाक्यजातिस्फोट। भर्तृहरि आदिने इस सम्पूर्ण शास्त्रार्थके अन्तमें यही निष्कर्ष निकला कि पूरे वाक्यके बिना कोई भी ज्ञान असम्भव है। इसलिये वास्तविक अर्थज्ञान वाच्यस्फोटसे ही होता है और वही नित्य है, उसीसे अर्थ निकलता है, वर्ण, पद आदिसे नहीं। तात्पर्य यह है कि अर्थ वाक्यमें ही रहता है अर्थात् वाक्यस्फोट ही मुख्य है, उसीसे अर्थ जाना जाना है। कभी-कभी जब हम केवल 'हाँ, हूँ' करते है तब भी उसमें पूरा अर्थ ही सम्मिलित रहता है अतः वर्ण या पदकी महत्ता न होकर भाषामें वाक्यकी ही प्रधानता है। इससे प्रतीत होता है कि जो शब्द (वाक्य) हम बोलते हैं और जिससे अर्थ निकलता है वही स्फोट है। इस अर्थको प्रकट करनेका काम वही शब्द करता है जिसे हम उच्चारण करते है। यही ध्वनि है। व्याकरणमें ध्वनि तो केवल उस शब्दको ही कहते है जो अर्थकी अभिव्यञ्जनाके लिये प्रयुक्त किया जाता है किन्तु साहित्यशास्त्रमें अर्थकी अभिव्यञ्जना करनेवाले शब्द और अर्थ दोनोके लिए 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग किया जाने लगा।

नाटकमें जो रस दर्शकोको प्रतीत होता है वह वाच्य या प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् वह शब्द या सवाद सुननेसे नहीं प्रकट होता वरन् व्यञ्जनासे अर्थात् शब्दोसे भिन्न अपने आप निराले ढङ्गसे प्रतीत होता है। इसी निराले ढङ्गसे प्रतीत होनेको व्यञ्जना-वृत्ति कहते हैं। नाटकका मुख्य उद्देश्य तो रस प्रकट करना है और इसके लिये पूरा नाटक-काव्य ही रचा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई छोटा सा गीत, प्रगीत या पद सुना दिया जाय तो उससे पूर्ण रस अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसलिये यदि हम रसको काव्यका आत्मा मान लें तो

जितने मुक्तक, गीत, प्रगीत आदि हैं वे सब काव्यके क्षेत्रसे बाहर हो जायँ। किन्तु रस तो वाच्य नहीं है अर्थात् वह शब्दसे प्रकट नहीं होता, वह तो व्यञ्जनासे अर्थात् ध्वनित होकर प्रकट होता है। यही मानकर आनन्दवर्द्धनने 'चमत्कारपूर्ण व्यंग्य अर्थसे सम्पन्न कविता'को ही उत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्द्धनने कहा कि 'श्रेष्ठ कविका यही कर्त्तव्य है कि वह यही मानकर शब्दो और अर्थोंका सयोजन करे कि उनके द्वारा रस और भावकी अभिव्यक्ति होगी क्योकि वे ही काव्यके मुख्य अर्थ है।' योरोपीय आचार्योंने भी इसे दूसरे प्रकारसे कहा है कि 'कला वही है जिसमे कला छिपी रहे।' इसके लिये लातिन उक्ति है 'आर्स एस्त सेलारे आर्तेम'। तात्पर्य यह है कि योरोपवाले भी ध्वनिका महत्त्व मानते है।

ध्वनिकेभेद

ध्वनिके आचार्योंने ध्वनिको तीन भागोमे विभक्त किया है—१. रस वनि, २. अलङ्कारध्वनि, ३. वस्तुध्वनि।

१ रसध्वनिके अन्तर्गत नवो रसोकी तो गणना होती ही है साथ ही भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-शबलता और भाव-सन्धिकी भी गणना होती है। इनका परिचय रस-प्रकरणमे दिया जा चुका है।

२ अलङ्कारध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यक्त किया हुआ शब्दार्थ वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक न होकर शुद्ध काल्पनिक हो अर्थात् जो दूसरे शब्दोमे प्रकट किए जानेपर अलङ्कारका रूप धारण कर लेता हो।

३. वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ केवल कोई वास्तविक या यथार्थ बात-भरका अर्थ प्रतीत हो।

इन तीनोमे रसध्वनि श्रेष्ठ मानी गई है। जिस समय व्याधने क्रौञ्च-मिथुनमेसे एकका वध किया और क्रौञ्ची चीत्कार कर उठी उस समय श्लोकके रूपमे वाल्मीकिके मनका जो शोक प्रकट हुआ यही रसध्वनि है। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि आनन्दवर्द्धनने ध्वनिको काव्यका आत्मा माना है फिर भी रसध्वनिको मुख्य समझकर वे रसको

ही काव्यका प्रधान गुणतत्त्व मानते हैं।

ध्वनिके मुख्य दो भेद माने गए हैं—

१. **लक्षणामूला** या **अविवक्षित वाच्य ध्वनि**, जिसमे वाच्य अर्थ बाधित होनेसे वह अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता। इसके दो भेद होते हैं—

(क) अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य-ध्वनि, जहाॅ वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ किसी दूसरे अर्थमे बदल जाता है, जैसे वर्षाकालमे जानकीजीके वियोगमे राम कहते है—'मै राम हूॅ, मै तो दुःख सहूॅगा ही, पर जानकी कैसे सहेगी।' इसमे 'राम हूॅ' का मुख्य अर्थ बदलकर हुआ 'मैं तो कठोर-हृदय हूॅ।'

(ख) अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि, जहाॅ वाच्य अर्थ पूर्णतः छोड दिया जाता है, जैसे व्यग्यसे यह कहा जाय—'आपने बड़ी कृपा की' इसका अर्थ हुआ 'आपने मुझे धोखा दिया।' यह भी दो प्रकारका होता है—(क) पदगत (शब्दमे), (ख) अर्थगत (अर्थमे)।

२. **अभिधामूलाध्वनि** या **विवक्षित अन्य-परवाच्य ध्वनि**, जिसमे वाच्य अर्थकी भी आवश्यकता तो रहती है किन्तु वह दूसरेके सहारे अर्थात् व्यञ्जनाके सहारे चलता है। इसमे पहले वाच्य अर्थ निकलता है, उसके पश्चात् व्यग्य अर्थ निकलता है किन्तु वह क्रम कहीं तो स्पष्ट जान पडता है, कहीं नहीं जान पड़ता अतः इसके भी दो भेद हो जाते हैं—

(क) असलक्ष्यक्रम व्यंग्य, जहाॅ वाच्यार्थ और व्यग्यार्थके प्रतीत होनेका क्रम भली प्रकार न जाना जाय, जैसे बहुत-सी कमलकी पङ्खडियोको एक साथ तकुवेसे बेधा जाय तो सब 'खुपसे' बिध जाते हैं, उनके बिंधनेका क्रम नहीं जाना जाता, वैसे ही इसमे भी वाच्य और व्यग्य अर्थ इतनी तीव्र गतिसे प्रकट हो जाते हैं कि यही नहीं प्रतीत होता कि वाच्य अर्थ पहले प्रतीत हुआ या व्यग्य अर्थ। यह असलक्ष्य-

क्रम-व्यग्य आठ प्रकारका होता है—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावशान्ति, ६. भावोदय, ७. भावसन्धि और ८. भावशबलता। इन सबका परिचय रस-प्रकरणमे दिया जा चुका है।

(ख) संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि, जिसमे वाच्य अर्थ और व्यग्य अर्थके प्रतीत होनेका क्रम स्पष्ट दिखाई देता है। यह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहीं तो शब्दशक्ति-द्वारा कहीं अर्थशक्ति-द्वारा और कहीं शब्द तथा अर्थ दोनो शक्तियोद्वारा प्रतीत होता है, अतः इसके तीन भेद हैं—१. शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि, २. अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि, ३. शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव-अनुरणन-ध्वनि। इनमे भी शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनिके दो भेद हैं—(क) वस्तु ध्वनि, (ख) अलङ्कार-ध्वनि। अर्थशक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनिके तीन भेद हैं—(क) स्वत सम्भवी, (ख) कविप्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध और (ग) कवि निबद्ध पात्रकी प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध। शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि केवल वाक्यगत होती है।

इस प्रकार ध्वनिके ५१ भेद माने गए हैं जो नीचेकी तालिकासे स्पष्ट हो जायँगे।

तीन प्रकारके काव्य

ध्वनि-सम्प्रदायवाले तीन प्रकारका काव्य मानते हैं—१. ध्वनि-काव्य, जिसमे वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थकी अपेक्षा प्रतीयमान या जान पडनेवाला अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता है। २. गुणीभूत व्यग्य, जिसमे व्यग्य अर्थ होते हुए भी वह वाच्य अर्थसे कम चमत्कारपूर्ण हो। ३. चित्र-काव्य, जिसमे शब्द और अर्थके अलंकारोका चमत्कार दिखाया जाय। यह अधम काव्य माना गया है।

इन आचार्योंने गुणों और अलकारोको अलग-अलग करते हुए कहा है कि 'जो रसयुक्त मुख्य होते हैं, अर्थपर आश्रित होते हैं वे गुण हैं और जो केवल शब्द और अर्थपर आश्रित रहते हैं वे अलकार है। इस प्रकार ध्वनिसम्प्रदायवाले गुणको काव्यका नित्य धर्म मानते हैं और

अलङ्कारको अनित्य धर्म, अर्थात् वे मानते हैं कि 'सत्काव्यमें अलङ्कार हो या न हो किन्तु गुण अवश्य होना चाहिए।' इसीलिये उन्होंने अलकारोंको कुण्डल आदि आभूषणोंके समान ऊपरी शोभा करनेवाला माना है और गुणोंको शौर्य आदिके समान सात्त्विक या स्वाभाविक शोभा करनेवाला।

ध्वनि और वृत्ति

काव्यमें दो वृतियाँ या शलियाँ मानी गई हैं—१. शब्दवृत्ति (शब्द चुनने और प्रयोग करनेका ढङ्ग), २. अर्थवृत्ति (विषयकी योजना करनेका ढङ्ग)। उद्भटने शब्दवृत्ति तीन प्रकारकी मानी है—

(क) उपनागरिका (टवर्गको छोडकर शेष वर्गोंके पञ्चम अक्षरके उन-उन वर्गोंके अक्षरोंकी बहुलतावाली), (ख) परुषा (रेफ, श, ष, स, टवर्ग तथा रेफ-युक्त वर्णोंकी बहुलतावाली), (ग) ग्राम्या या कोमला (ल, क और रेफ तथा कामल ध्वनिवाले अक्षरोंकी आवृत्तिवाली) ये वृत्तियाँ वाचक अर्थात् शब्दपर आश्रित होती हैं।

इनके अतिरिक्त अर्थ या विषयके अनुसार चार वृत्तियाँ होती हैं—१. भारती (जिसमें सवाद अधिक हो अर्थात् पाठ्यप्रधाना हो), २. सात्वती (मानस व्यापार या मानसिक द्वन्द्व जिसमें अधिक हो)। यह सात्वती भी दो प्रकारकी मानी गई है—(क) सौम्य (जिसमें भली या सौम्य मानस क्रियाओंका सन्निवेश हो), (ख) उग्र (जिसमें भयानक या दुःखद मानस क्रियाओंका समावेश हो)। ३ आरभटी (जिसमें मारकाट, युद्ध, इन्द्रजाल आदि समाविष्ट हो)। ४. कैशिकी (जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, प्रेमालाप आदि ललित क्रियाओंका सन्निवेश हो)। इन चारोंको रीतिके समान ही सहायक समझना चाहिए क्योंकि ये वृत्तियाँ ही जब काव्य या नाटकके रसके अनुकूल होती हैं तब तो काव्य या नाटकको आकर्षक और सुन्दर कर देती है किन्तु यदि वे रसके अनुकूल न हुई तो उनका प्रयोग अनुचित होगा। ध्वनिवादी आचार्योंका मत है—'मुख्यार्थापहतिर्दोषः' (प्रधान अर्थ अर्थात् रसका

नाश करनेवाले तत्त्वको ही दोष कहते हैं) अतः उन लोगोने रसको नष्ट करनेवाले दोषोको ही दोष माना है।

ध्वनि-सम्प्रदायके आचार्य

ध्वनि-सम्प्रदाय प्रारम्भ किया आनन्दवर्द्धनने (यद्यपि कुछ लोग किसी 'सहृदय' नामक आचार्यको यह श्रेय देना चाहते हैं), जिन्होने 'ध्वन्यालोक' लिखा, अभिनवगुप्तने उसपर 'लोचन' नामकी टीका लिखी और भट्टनायकके विरोधका खण्डन किया। भोजराजने सभी प्राचीन आचार्योंके मतोका समन्वय किया। तत्पश्चात् मम्मटने काव्य-प्रकाशमे सबके आक्षेपोका उत्तर देकर रसको स्थापनाकी इसलिये ये 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' कहलाते हैं। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमे और पण्डितराज जगन्नाथने रस गगाधर 'ध्वनि-सम्प्रदाय' का पोषण किया।

इन आचार्योंने काव्यकी वाक्य-रचना तीन प्रकारकी मानी है— १. असमासा या बिना समासवाली, २. मध्यमसमासा या कम समासवाली और ३. दीर्घसमासा या बड़े समासवाली और यह विधान किया है कि इनका प्रयोग विशिष्ट रसके अनुसार करना चाहिए और रस, वक्ता तथा विषयकी दृष्टिसे देख लेना चाहिए कि उपर्यङ्कित वाक्य-रचना-शैलियोमेसे कौन-सी उपयुक्त है।

१३

औचित्य-सम्प्रदाय

भारतीय समीक्षा-शास्त्रमे औचित्य-सम्प्रदाय ही वास्तवमे ऐसा है जिसने शुद्ध रूपसे समीक्षा-शास्त्रका प्रतिपादन किया है। यद्यपि सभी आचार्योंने अपने-अपने ढङ्गसे रस, अलकार आदिके उचित प्रयोगका विवेचन करते हुए औचित्यका संकेत दे दिया है किन्तु शुद्ध रूपसे औचित्यको काव्यका तत्त्व मानकर और काव्यकी कसौटी मानकर, यदि किसीने विचार किया तो क्षेमेन्द्रने। क्षेमेन्द्रने बताया है कि 'यदि

कोई अपने गलेमे तगडी पहन ले, हाथोमे बिछुए बाँध ले, पैरोमे केयूर बाँध ले तो इस अनौचित्यपर कौन नहीं हँस देगा।' इसी आधारपर उन्होने कहा—'औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्' अर्थात् रससिद्ध काव्यका प्राण ही औचित्य है।

औचित्यकी परिभाषा और भेद

उचित स्थानपर उचितका प्रयोग ही औचित्य कहलाता है—

औचित्य प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिसके साथ मेल खाती हो वह 'उचित' कहलाती है और इस 'उचित'के भावको 'औचित्य' कहते हैं। काव्यमे शब्द, अर्थ, वाक्य, रस, कारक, लिग, वचन आदि जितने तत्त्वोका प्रयोग होता है उन सबमे जिस स्थलपर जैसा प्रयोग उचित हो वैसा ही प्रयोग करना औचित्य कहलाता है। इसी आधारपर क्षेमेन्द्रने २७ प्रकारके औचित्य बताए हैं—१. पद, २ वाक्य, ३ प्रबन्धार्थ, ४. गुण, ५ अलकार, ६. रस, ७. क्रिया, ८. कारक, ९. लिङ्ग, १० वचन, ११. विशेषण, १२ उपसर्ग, १३ निपात, १४. काल, १५. देश, १६ कुल, १७ व्रत, १८. तत्त्व, १९. सत्त्व, २०. अभिप्राय, २१ स्वभाव, २२ सार-सग्रह, २३. प्रतिभा, २४. अवस्था, २५. विचार, २६. नाम और २७. आशीर्वादका औचित्य।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनने भी पाँच व्यावहारिक नियमोका उल्लेख किया है और बताया है कि 'काव्यमे अलकार, गुण, सघटना, रीति और रसका औचित्य होना चाहिए।' यह सम्भव है कि क्षेमेन्द्रने उन्हींसे प्रेरणा पाई हो। यह निश्चित है कि प्रत्येक कविको प्रत्येक तत्त्वके उचित प्रयोगका ध्यान रखना ही चाहिए। कविको अपनी कथा तथा अपने पात्रोके चित्रणमे भी औचित्यका ध्यान रखना चाहिए। रसके आचार्योंने भी रसके अनौचित्यकी बातका संकेत किया

है अतः काव्यमे निश्चित रूपसे सब अङ्गो और तत्त्वोका उचित सन्निवेश होना आवश्यक और अपरिहार्य है ।

योरोपमें औचित्य-विचार

क्षेमेन्द्रने कहा है कि कविको काव्य-रचनामे छन्द, अलंकार, रस आदि सब विषयोके औचित्यका विचार करना चाहिए।' योरोपीय आचार्योंने माना है कि 'परस्पर एक दूसरेसे सबद्ध वस्तुओका सगत होना अर्थात् अनुपात आदिकी दृष्टिसे प्रत्येक अंगका उचित स्थानपर उचित रूपसे अधिष्ठान ही औचित्य कहलाता है। किसी सम्बन्धके लिये, किसी मान्य आदर्शके आधारपर, किन्हीं संबद्ध वस्तुओका सगत होना अर्थात् परस्पर सम्बद्धकी जानेवाली या हो जानेवाली वस्तुओका ठीक बैठ जाना अथवा "क्या है और क्या होना चाहिए"मे ठीक मेल बैठ जाना ही औचित्य कहलाता है। ससारमे प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे किसी न किसी प्रकारसे सम्बद्ध है। इसलिये औचित्यका विचार ससारकी प्रत्येक परीक्षणीय वस्तुमे अवश्य किया ही जाना चाहिए। इसे चाहे संगति (हार्मनी), सामञ्जस्य (कौम्पूइटी), या योग्यता (ऐप्टनेस) कुछ भी कहे पर कलाके सिद्धान्त और सौदर्यात्मक अनुभूतिके लिये तो इसका महत्व है ही।

अनुभवके आधारपर हम इस औचित्यके सिद्धान्तको एक प्रकारका सयोग मान सकते हैं, क्योकि जबतक किसी वस्तुके सब अग उचित रूपसे सयुक्त नहीं होते तबतक उनमे एकता या पूर्णता आ ही नहीं सकती। इसे हम यो नहीं कह सकते कि कोई वस्तु एक है इसलिये उसके सब सम्बन्ध, उसके सब अगोका मेल भी उचित है। औचित्यका विचार एकत्वके विचारसे कहीं अधिक विस्तृत है क्योकि इसका प्रयोग किसी वस्तुके भीतरके सब सम्बन्धोके परीक्षणके लिये तथा उस वस्तुका अन्य वस्तुओसे पारस्परिक सम्बन्धके परीक्षणके लिए होता है अर्थात् औचित्यमे उन सब तत्त्वोका भी परीक्षण होता है जो किसी प्रक्रियाको सिद्ध करनेके लिये प्रयोगमे लाए जाते है।

पूटेनहमने प्राचीन समीक्षकोका अनुगमन करते हुए वाणीमे औचित्यकी जटिलता इस प्रकार समझाई है—'मनुष्यके कार्य और व्यापार इतनी अधिक परिस्थितियोसे प्रभावित है कि भाषाका रूप भी निरन्तर परिवर्तित और अनेक प्रकारका होता चलता है क्योकि हमारी वाणी कभी तो वक्ताके अनुसार ढलती है, कभी सबोध्यके अनुसार, कभी उस व्यक्तिके अनुसार जिसके विषयमे हम कहते है, कभी उस विषयके अनुसार जो हम कहना चाहते हैं, और कभी कभी देश, काल और उद्देश्यके अनुसार भी रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार औचित्यकी सीमाका निर्णय करना सापेक्ष्य और विशिष्ट परिस्थितियोकी इन समस्याओसे जटिल हो गया है। बाह्य दृष्टिसे यदि हम औचित्यका मान निर्धारित करें तो दो बातें आती है—१. प्रकृति या स्वभाव और २. रूढि या परिपाटी। रूढिके द्वारा जो औचित्यके मान स्थिर किए गए है वे तभीतक निर्विवाद रहते हैं जबतक वह परम्परा बनी रहती है। जहाँ कहीं प्रकृति और रूढिमे अन्तर पडा कि स्वाभाविकके बदले लोग रूढिको ही स्वीकार करने लगते है। '**तशरीफ रखिए**' एक रूढ वाक्य है, इसके बदले उर्दूकी औपचारिक भाषामे कोई दूसरा प्रयोग नहीं होता है। इसीलिये बेकनने कहा है कि 'लोक परिपाटीने जो प्रयोग निश्चय कर दिया है वह अच्छा भले ही न हो, पर उचित वही है।'

औचित्यका स्वाभाविक मान क्या हो यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। किसी एक विशेष और निश्चित कलात्मक रचनामे औचित्यका मान क्या हो इस बातका निश्चय तो प्रायः उसका उद्देश्य ही कर देता है। किन्तु कभी-कभी ये उद्देश्य स्वय इतने जटिल हो सकते हैं कि कलात्मक रचनाओका ठीक मूल्याकन करनेमे बाह्य पूर्णता प्राय प्रासगिक मात्र रह जाती है। ऐसी रचनाओमे उनकी आन्तरिक बनावट और उनके सबद्ध तत्त्वोकी सगति तथा प्रत्यक्ष सामजस्य होनेके साथ-साथ किसी प्रकारका कोई ऐसा विरोध या द्वन्द्व भी नहीं होना

चाहिए जिसका समाधान न हो सके। फिर भी यह कहना कठिन ही है कि औचित्यकी सीमा इसमे पूर्ण रूपसे स्पष्ट कर दी गई है। कलात्मक और नैतिक मूल्याङ्कनमे प्रायः किसी विशेष गुणका निर्धारण होता है और वह विशेष गुण अकेला, अप्रतिम होता है, इसलिये उसका निर्णय करनेमे कोई गुर या सूत्र नहीं लगाना पडता, यद्यपि उसे समझानेके लिए कोई गुर निकाल अवश्य लिया जा सकता है।

कलात्मक तथा साहित्यिक सिद्धान्तोके सम्बन्धमे पूर्वी और पश्चिमी सभी देशोमे औचित्यपर विचार होता रहा है। यूनानमे सभवतः सगीतके सिद्धान्तसे इसका श्रीगणेश हुआ। वहाँसे वह भाषण शास्त्रमे पहुँच गया जहाँ सर्वप्रथम व्यावहारिक सिद्धान्तके रूपमे औचित्यके भाव (प्रेपोन) का प्रयोग अरस्तूने अपने काव्य शास्त्रमे किया और जिसके प्रभावशाली शिष्य थियोफ्रास्तसनने शैलीके गुणोमे उसका सन्निवेश कर लिया। स्थितप्रज्ञतावादी स्तोइकोने इस औचित्यका प्रयोग जब अपने नैतिक शिक्षणमे प्रारम्भ किया तभी उन्हींके प्रभावसे साहित्यमें भी यह सिद्धान्त प्रयुक्त होने लगा। हेलिकारनेपसके दिअनूसिअसने कहा है कि 'किसी लेखके जिस भागमे औचित्य नहीं होता वह पूर्णतः भले ही न असफल हो किन्तु उसका मुख्य भाग अवश्य असफल हो जाता है।' सिसरो, हौरेस, क्विन्तीलियन, दाँते आदि सभी आचार्योंने इस औचित्यका महत्व माना है। इँगलैण्डमे भी पूटेनहम, सिडनी और जौन्सनने इसीकी आवृत्ति की है। ड्राइडनने 'लेखन कौशलको विचारो और शब्दोका औचित्य' ही माना है। वह कहता है कि 'विचारोका औचित्य वह कल्पना है जो विषयमेसे स्वभावतः उत्पन्न होती है और शब्दोका औचित्य विचारोका वह अलकरण है जो स्वाभाविक शब्दावली या सूक्ति द्वारा उचित रूपसे प्रयोग किया गया हो। इन्हीं दोनोके विवेकपूर्ण सयोगसे कविताका आनन्द उत्पन्न होता है।' अट्ठारहवीं शताब्दीमे सभवत. जौन्सनने इसी विचारको अधिक स्पष्ट करके समझाया था

और स्वैरवादी आलोचकोने इसीकी पुनर्व्याख्या करते हुए प्राचीन समीक्षकोके रूढ प्रयोगका महत्व माननेके बदले प्रकृतिको ही आदर्शका स्रोत मान लिया था।

१४

वृत्ति-सम्प्रदाय

वृत्तियोको नाट्यकी माता (वृत्तयो नाट्यमातरः) और काव्यकी माता (सर्वेषामेष काव्याना वृत्तयो मातृकाः स्मृता) कहा गया है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके बाईसवें अध्यायमे नाट्य-वृत्तियो (१. कैशिक, २. सात्वती, ३. आरभटी, ४. भारती) का परिचय दिया है, जिनकी मीमासा आगे नाटकके प्रकरणमे की जायगी।

वृत्तिका तात्पर्य है बर्त्ताव या ढङ्ग, अर्थात् प्रकृति। इसीलिये आनन्दवर्द्धनने कहा है—'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' [व्यवहार ही वृत्ति कहलाती है।

काव्य-वृत्तियाँ

उपर्यङ्कित नाट्य-वृत्तियो या अर्थ वृत्तियोके अतिरिक्त इस वृत्ति शब्दका प्रयोग अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य तथा व्यञ्जना नामकी शब्द-वृत्तियोके लिये भी किया जाता है। अलङ्कार-शास्त्रमे वृत्ति नामसे तीन तत्त्वोकी मीमासा की गई है—१. अनुप्रासके प्रकार (अनुप्रास-जाति), समासवाले शब्दोके प्रकार (समास-जाति), ३. कैशकी, सात्वती, आरभटी और भारती नामकी नाट्य वृत्तियाँ। पीछे चलकर नाट्य-वृत्तिको छोडकर शेष दोनों वृत्तियोंपर कोई विचार नहीं हुआ किन्तु मम्मटने वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियोमे वृत्तियोको मिला दिया। अतः मम्मटके पश्चात् अलंकार-ग्रन्थोमे केवल अनुप्रास जाति और समास-जातिकी ही चर्चा हुई, शेष वृत्तियाँ छूट गईं।

उद्भटने परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या नामकी तीन शब्द-वृत्तियाँ बताईं। आनन्दवर्द्धनने कहा है कि 'काव्यमें नाट्यवृत्ति

और शब्दवृत्ति (अनुप्रासजाति और समासजाति) दोनोंका रसानुकूल प्रयोग करना चाहिए।' अभिनवगुप्तने कहा है—'अनुप्रासके भेदोंपर आश्रित होनेके कारण ही परुषा, उपनागरिका, और ग्राम्याभेद किए गए हैं' और तदनन्तर उन्होंने इनका प्रयोग बताते हुए कहा है—'अनुप्रास तीन प्रकारके होते हैं—१. परुष अनुप्रास, जिसके अनुसार रची हुई परुषा वृत्तिका प्रयोग वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसोंमें करना चाहिए जो आरभटी वृत्तिके साथ पूर्णतः मेल खाती है। २. मसृण अनुप्रासवाली उपनागरिका वृत्तिका प्रयोग ललित विषयोंके वर्णनमें तथा शृंगारादि रसोंमें करना चाहिए। ३. मध्यम अनुप्रासवाली ग्राम्या या कोमला वृत्तिका प्रयोग हास्यरस तथा कोमल विषयोंके वर्णनमें करना चाहिए।

इस प्रकार वृत्तियाँ दो प्रकारकी मानी गई हैं—१. अर्थवृत्ति, और २. शब्दवृत्ति। अर्थवृत्तिके अन्तर्गत उपर्यङ्कित कैशिकी, सात्वती, भारती, आरभटीकी गणना होती है तथा शब्दवृत्तियोंके अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा तथा कोमलाकी। मम्मटने रीति और वृत्तिको मिलाते हुए उपनागरिका वृत्तिको वैदर्भी रीति, परुषाको गौडी रीति और कोमलाको पाञ्चाली रीति बताया है।

भोजने परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या नाम छोड़कर नौ नई वृत्तियाँ जोडकर बारह वृत्तियाँ मानी हैं—१. गम्भीरा, २. ओजस्विनी, ३. प्रौढा, ४. मधुरा, ५. निष्ठुरा, ६. श्लथा, ७. कठोरा, ८. कोमला, ९. मिश्रा, १०. परुषा, ११. ललिता, और १२. मिता। इनके अतिरिक्त भोजने देशभेदसे बारह प्रकारकी अनुप्रास - वृत्तियाँ या जातियाँ मानी है—१. कर्णाटी, २. कौन्तली, ३. ककी, ४. कोङ्कणी, ५. बाणवासिका, ६. द्रविडी, ७. माथुर, ८. मात्सी, ९. मागधी, १०. ताम्रलिप्तिका, ११. औड्री, और १२ पौण्ड्री। इनके साथ-साथ उपर्यङ्कित चार नाट्यवृत्तियोंमें भी उन्होंने दो और जोड दीं—मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटी।

रुद्रटने समासयुक्त पदोकी सङ्घटनाको ही वृत्ति कहा है जो दो प्रकारकी होती है—१. असमस्ता (बिना समासवाली), २ समस्ता (समासवाली)। इस समस्ताका ही नाम वेदर्भी है। समस्ता वृत्ति तीन प्रकारकी मानी है—१. पाञ्चाली, जिसमे केवल दो-तीन समासयुक्त पद हो, २. लाटीया, जिसमे पॉच या सात समासयुक्त पद हो और ३ गौडीया, जिसमे आद्यन्त समास भरे हो।

रुद्रटने तीन अनुप्रास-जातियोके बदले पॉच अनुप्रास-जातियॉ मानीं और उनके अनुसार अग्राङ्कित पॉच वृत्तियॉ मानीं—१. मधुरा, २. प्रौढा, ३. परुषा, ४. ललिता, ५. भद्रा। नमि साधुने 'हरि' नामक किसी विद्वानके मतका उल्लेख करते हुए आठ वृत्तियोका परिचय दिया है—१. मधुरा, २ परुषा, ३ कोमला, ४ ओजस्विनी, ५. निष्ठुरा, ६ ललिता, ७ गम्भीरा और ८. सामान्या। रुद्रटने कहा है कि 'वृत्तियोका प्रयोग औचित्यके साथ करना चाहिए।'

विद्यानाथने अपने प्रतापरुद्रयशोभूषणमे कैशिकी और आरभटीको दो परस्पर-विरुद्ध वृत्तियॉ माना है। उसका मत है कि 'कैशिकीमे कोमल अर्थ या विषय रहता है और आरभटीमे प्रौढ या गम्भीर विषय होता है। भारती वृत्ति कैशिकी वृत्तिके साथ ही मेल खाती है और सात्वतीका सामञ्जस्य आरभटी वृत्तिसे अधिक होता है।' इसका विवेचन करते हुए विद्यानाथने कहा है कि 'कैशिकीका प्रयोग शृङ्गार और करुणमे, सात्वतीका वीर और भयानकमे, आरभटीका रौद्र और बीभत्समे तथा भारतीका हास्य, शान्त और अद्भुतमे करना चाहिए।' विद्यानाथने भोजकी मध्यम कैशिकी और मध्यम आरभटी नामक दोनो वृत्तियोको भी रसके अनुकूल मानकर स्वीकार किया है।

मम्मटके अनन्तर वृत्ति और रीतिका ऐसा गठबन्धन हुआ कि वृत्तिकी चर्चा ही समाप्त हो गई।

इधर कुछ प्रगतिशील कहलानेवाले विचारकोने यह कहना प्रारम्भ क्या है कि 'अब रसकी दृष्टिसे विचार करना छोडकर नए दृष्टिकोणसे

काव्यका समीक्षण और परीक्षण करना चाहिए।' किन्तु साथ ही वे यह भी मानते है कि 'रचनामे यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह पाठकको आद्यन्त उलझाए रक्खे।' इसका तात्पर्य ही यह हुआ कि वे काव्यमे रसत्वकी स्थिति आवश्यक मानते हैं क्योकि जबतक रसत्व नहीं होगा तबतक कोई भी काव्य आकर्षक नहीं हो सकता। अतः काव्यका विषय चाहे समाजवादी हो या लोकवादी, किन्तु लोकप्रिय होनेके लिये उसमे रस होना आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब काव्यके समस्त अङ्गो, तत्त्वो और साधनोका उचित सयोजन किया जाय।

१५

साहित्यके गुण

(क)

योरोपीय समीक्षकोंका मत

एजरा पाउन्ड (जन्म १८८५) ने काव्यके गुणोकी एक विचित्र व्याख्या करते हुए कहा है कि 'कविता अपने अर्थके अतिरिक्त तीन रूपो द्वारा उद्दीप्त की जा सकती है—

१. सङ्गीतात्मक गुणों (मैलोपोइया) द्वारा।

२. दृश्य-बिम्ब (फ नोपोइया) उपस्थित करके।

३ शाब्दिक अभिव्यक्तिके सब रूपोके प्रति मानसिक चेतना (लोगोपोइया) जगाकर अर्थात 'शब्दोकी सभामे बुद्धिका नर्तन' कराकर।

इनमेसे सङ्गीतात्मकताका प्रयोग विशेष प्रकारके शृङ्गार तथा करुण भावोके कोमल चित्रणमे तो सम्भव है किन्तु सर्वत्र न तो वाञ्छनीय है, न सम्भव। दृश्य-बिम्ब (विजुअल इमेज) भी कथात्मक तथा वर्णनात्मक साहित्यमे रहता ही है अत वह तो अनिवार्य तत्व है, गुण नहीं। तीसरेका सीधा सर्थ है 'काव्यको पढकर मानसिक प्रतिक्रियात्मक

चिन्तन।' यह भी सब प्रकारके काव्योमे होता है। यदि उसका अर्थ 'उल्लास' है तो वह सब प्रकारके साहित्यमे सम्भव नहीं है।

अभिव्यक्तिके गुण

योरोपमे जितने भी समीक्षा सम्प्रदाय चले हैं सबने अपने-अपने मतसे शुद्ध अभिव्यक्तिके लक्षण और गुण बताए हैं। वहाँ साधारणतः यह माना गया है कि किसी भी अभिव्यक्तिमे तीन गुण होने चाहिएँ—

१ प्रसाद या स्पष्टता, (क्लीयरनेस), २. समास या संक्षेपता (कन्साइज़नेस) और ३ शुद्धता (करेक्टनेस)। वहाँके प्राचीन आचार्योंने भाषणकलाके लिये भी ऐसे ही तीन गुण निर्धारित किए थे—स्पष्टता (क्लेरिटी), संक्षेपता (ब्रीविटी) और सत्यतुल्यता (वेरीसिमिलिट्यूड)। उन लोगोने 'शुद्धता'की परिभाषा यह बताई थी कि वह सत्य और सङ्गत होना चाहिए। आजकल लोगोने उपर्युक्त तीन गुणोके साथ सजीवता (यूनानी एनार्जिया या विविडनेस) को भी जोड़ दिया है।

सूक्ष्मवर्णन (सेकुडेन्स्टिल)

जर्मनीवासी आर्नो होल्जका मत है कि 'साहित्यमे अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ विस्तृत वर्णन होना चाहिए। यही साहित्यकारका सबसे बड़ा गुण है। होल्जका कहना है कि 'यदि लेखकको किसी गिरती हुई पत्तीका वर्णन करना हो तो उसे ऊपरसे नीचे गिरती हुई उस पत्तीकी प्रत्येक गतिका विवरण देना चाहिए।' इसीको चित्रात्मक तथ्यता (फोटोग्राफिक रीएलिटी) कहते हैं।

सरलता (सिम्प्लीसिटी या अफ़ेलिया)

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा ही है—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहि सुजान।

सरलताके सम्बन्धमे क्विन्तीलियनने कहा है कि 'सरलतामे एक विचित्र पवित्र अलङ्करण होता है

सरलताका सीधासादा अर्थ है 'कृत्रिमता-हीन, स्वाभाविक तथा अत्यलङ्कार-हीन', जो कहते ही समझमे आ जाय।

ओस्कामका कथन है कि 'कोई भी बात यदि अत्यन्त सरल ढङ्गसे कही जाय तो सबसे अच्छी है। बिना किसी आवश्यक कारणके उसे दुरूह बनाना या अलकृत करना ठीक नहीं।' आजकल अधिकाश लेखक इसीको साहित्यका सबसे बड़ा गुण और लेखनका मूल सिद्धान्त मानते है।

लालित्य (एलीगेन्स)

अट्ठारहवीं शताब्दीमे लालित्य भी साहित्य-शैलीका गुण माना जाता था जिसे शील, मनोहरता तथा संस्कारसे समन्वित करके एक सौन्दर्य विशेषके रूपमे ढाला जाता था। बैरेट वैन्डलने इसे 'शैलीका वह विशिष्ट गुण' बताया है 'जो सुरुचिको तुष्ट करता है' किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यसे प्रायःशैलीके उसी गुणको लोग 'लालित्य' मानने लगे जिसमे बाह्य रूप अर्थात् शब्द-सज्जाको ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। हमारे यहाँ छायावादी साहित्यमे जो अस्पष्टता आई है उसका अधिक कारण यही 'लालित्य' लानेका प्रयास है।

शोभा (ग्रेस)

जिन विभिन्न युगोमे कलाके लिये नियम बने उन सभीने शोभाको ऐसा प्रधान गुण माना है जिसके होनेपर अन्य सब गुणोकी उपेक्षा की जा सकती है। क्विन्तीलियन, हौरेस और लौङ्गिनस सभीने इसे काव्यका महत्त्वपूर्ण गुण माना है। किन्तु अट्ठारहवीं शताब्दीमे एक नया शब्द 'उद्वृत्ति (सब्लाइम) आ गया, अतः आगे चलकर शोभा शब्दका अर्थ हुआ 'वह आकर्षण, जो किसी वस्तुके आङ्गिक अनुपातमे शोभा प्रकट करे।' और अब तो वह सरलता और सहजता अथवा शैलीका अलङ्कार-मात्र रह गया है।

दीप्ति (गस्टो)

कुछ लोगोने 'दीप्ति' (गस्टो) को ही साहित्यका गुण माना है। हैज़लिटका मत है कि 'दीप्ति' (गस्टो) वास्तवमे साहित्यिक शैलीका वह गुण है जो किसी विषयको व्यक्त करनेमे शक्ति या तीव्रता भरता

है ।' इसका प्रयोग सौन्दर्यके उस अबुद्धि-सङ्गत पक्षके लिये होता था जिसके लिये पहले शोभा (ग्रेस) या उद्वृत्ति (सब्लाइम) का प्रयोग होता था और जो अन्तः स्फुरण तथा प्रतिभासे उत्पन्न होता था।

निर्वाह (एग्ज़िक्यूशन)

कुछ आचार्य प्रबन्ध-निर्वाह (एग्जिक्यूशन) को ही साहित्यका सबसे बडा गुण मानते है। किसी भी साहित्यिक कृतिको किसी भी रूपमे विकसित करनेकी शैलीको निर्वाह कहते है। ड्राइडनने कहा है कि 'साहित्यिक कृतिकी उत्कृष्टता उसके रचना-कौशलपर अवलम्बित है क्योंकि कलाकारके आदर्श तो चाहे जब प्राप्त हो सकते है किन्तु महत्त्वकी बात तो उसके चित्रण-कौशलकी है अतः वही महत्त्वपूर्ण गुण है।'

अर्थगौरव (प्रोफन्डिटी)

अनेक आचार्योंने अर्थगौरवको भी काव्यका महत्त्वपूर्ण गुण माना है। हमारे यहाँ 'भारवेरर्थगौरवम्' (भारविका अर्थ-गौरव) प्रसिद्ध ही है।

औचित्य (देकोरम या प्रेपोन)

कुछ आचार्य औचित्य (देकोरम या प्रेपोन) को ही प्रधान गुण मानते हैं।

सङ्गति (कंसिस्टेन्सी)

कुछ आचार्योंने औचित्यसे मिलते-जुलते एक सङ्गति नामक गुणकी चर्चा करते हुए कहा है कि 'किसी कथा या ग्रन्थके सब अङ्गोमे पारस्परिक सङ्गति होनी चाहिए अर्थात् उसका एक भाग दूसरे भागसे उचित प्रकारसे बँधा हुआ दिखाई देना चाहिए।' इस सङ्गतिको बहुतसे विद्वानोने 'कलाकी वास्तविक कसौटी' माना है। इसे वास्तवमे 'निर्वाह' और 'औचित्य' दोनोका समन्वय मानना चाहिए।

निष्ठा (सिन्सियरिटी)

बहुतसे विद्वानोने निष्ठाको अर्थात् कोई भी बात निश्छल, स्पष्ट

और सत्य कहने को ही कृतिका अत्यन्त प्रशसनीय और वाञ्छनीय गुण माना है।

सन्तुलन (ईक्विलिब्रियम)

कुछ लोग 'सन्तुलन' अर्थात् सब तत्त्वोके आनुपातिक सङ्घटनको ही विशिष्ट काव्य-गुण मानते हैं।

सावधानी

जैसे हमारे यहाँ औचित्यवादियोने यह बताया है कि कविको रस, अलङ्कार, शब्द, अर्थ, छन्द आदिके प्रयोगमे सावधान होना चाहिए, वैसे ही योरोपीय आचार्योने भी सबमे सावधानी (केअर) को काव्यका विशेष गुण बताया है। यद्यपि स्वरवादी (रोमान्टिसिस्ट्स) और उनकी सन्तान तथ्यातिरेकवादी (सरीअलिस्ट्स) इसे नहीं मानते किन्तु उन्होने भी अपनी कृतियोमे बड़ी सावधानीसे इनका प्रयोग किया है जैसे स्वैरवादी (बायरन) ने।

सार्वभौमता (युनिवर्सैलिटी)

कुछ आचार्योका मत है कि 'कलाकृतिमे सार्वभौम अर्थात् किसी विशेष घटना, परिस्थिति, स्थान, समय, देश या व्यक्तिकी सीमाओका लङ्घन करके सम्पूर्ण विश्वमे व्याप्त हो जानेका गुण होना चाहिए जिससे वह कलाकृति या ग्रन्थ सब देश-कालोके सब मनुष्योको समान रूपसे प्रभावित करता रहे।

नवीनता (नावेल्टी)

प्रायः सभी आचार्य 'नवीनता' को बडा महत्त्व देते हैं। जब कोई लेखक प्राचीन दृश्य, शैली, विचार, अलङ्कार तथा रहन-सहनका वर्णन छोड़कर सब बातोमे नवीन प्रयोग करता है तब उसे 'नवीनता' कहते हैं। कुछ लोगोने इस नवीनताको ही ऐसा सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करनेवाला, अद्‌भुत और आश्चर्यजनक सौन्दर्य और महद्‌गुण बताया है।

वाग्वैदग्ध्य और विनोद (विट ऐण्ड ह्यूमर)

कुछ लोगोने वाग्वैदग्ध्य (विट) और विनोद (ह्यूमर) को ही काव्य या साहित्यका प्रधान गुण माना है। मूलतः 'ह्यूमर' शब्दका अर्थ था वह शारीरिक रस, जो किसीके व्यक्तित्वको प्रभावित करता है।' पीछे चलकर उसका अर्थ हुआ 'किसी हास्यास्पद वस्तुके सम्प्रेक्षण करनेकी शक्ति'। इसी हास्यास्पद वस्तुको देखकर हास्यकी प्रेरणा पानेको ही विनोद कहते है। किन्तु वाग्वैदग्ध्य (विट) का सम्बन्ध है बुद्धिसे। आजकल इसका अर्थ है 'एक प्रकारकी मानसिक चञ्चल सजगता' अर्थात् परस्पर असम्बद्ध वस्तुओमे विनोदकारक और आश्चर्यजनक समानता ढूँढनेकी योग्यता। तात्पर्य यह है कि वाग्वैदग्ध्यका सम्बन्ध मस्तिष्कसे है, जिसके लिये मस्तिष्कको स्वच्छ, तीव्र, प्रसन्न और बुद्धियुक्त होना चाहिए। विनोदका सम्बन्ध है शरीरसे, जिसके लिये शरीरको ढीला, उदार, भावात्मक, प्रसन्न और मस्त होना चाहिए। इसी विनोद (ह्यूमर) का रूप है 'परिहास' (जोक), जो प्रायः समान रूप, गुण, शील और वयके व्यक्तियोकी पारस्परिक बातचीतमे उस वाग्वैदग्ध्यके रूपमे हुआ करता है, जिसमे प्रायः एक दूसरेको मूर्ख बनानेकी भावना निहित रहती है।

प्रत्याशिता (एक्सपेक्टेन्सी)

कुछ आचार्योंका यह निश्चित मत है कि सब प्रकारके प्रबन्ध-साहित्यमे प्रत्याशिता (एक्सपेक्टेन्सी) ही सबसे बडा गुण है और सब कलाओमे यही एक मूल तत्त्व इस प्रकार व्याप्त हो कि वह ग्राहकके हृदयको आकृष्ट करके उसकी रुचिको बाँधे रहे। यही दर्शककी कुतूहल-वृत्तिको जगाती है। नाटकमे इस प्रत्याशिताका बड़ा महत्त्व होता है और यही नाटकीय व्यापार तथा सफलताकी कुञ्जी है। उपन्यासमे भी इसी प्रकारकी प्रत्याशिता-वृत्ति व्याप्त रहनी चाहिए। इसीका दूसरा रूप है उत्कण्ठा (सस्पेन्स) और इसीको 'पौइज्ड एक्सपेक्टेन्सी' भी कहते हैं।

काव्य-न्याय (पोइटिक जस्टिस)

कुछ आचार्योंका मत है कि काव्य-न्याय ही काव्यकी कसौटी है, उसका प्रधान गुण है। यह सिद्धान्त प्राय सामाजिक या नैतिक दृष्टिसे प्रस्तुत किया गया। अँगरेजीमे पोइटिक जस्टिस, पोएटिक पेनाल्टी, ड्रैमेटिक और स्टेज-डिसिप्लिन, जर्मनीमे पोइटिशे गेरेख्टिगकीइट, इटलीमे 'गिउस्तीज़िया पोएतिका' शब्द काव्य-न्यायके पर्यायवाची हैं। यद्यपि स्पेन और फ्रान्समे इसके लिये कोई शब्द नहीं है किन्तु सत्रहवीं शताब्दीमे वहाँ भी इस विचारका व्यापक प्रचार हुआ। इस शब्दके दो परस्पर सम्बद्ध किन्तु स्पष्टतः भिन्न अर्थ हैं—

१ 'भलाई और बुराईके बीच जितने सङ्घर्ष होते हैं वे चाहे नाटक या काव्य या उपन्यासमे हो किन्तु उनका परिणाम यह होना चाहिए कि भलेको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड मिले, जिससे कि भले लोगोको भला जीवन व्यतीत करनेके लिये प्रोत्साहन मिले और बुरे लोगोको बुराई करनेमे भय और हिचक हो।' एस्० एच्० बूचरने इसे सूखा न्याय (प्रोज़ेक जस्टिस) कहा है जिसमे भलेको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड दिया जाता है।

२ साधारण व्यक्तिके लिये काव्य-न्यायका अर्थ है 'वह पुरस्कार या दण्ड (प्राय. दण्ड), जो किसी अच्छे कार्य या अपराधके लिये कुछ विचित्र प्रकारसे उचित प्रतीत होता हो, चाहे वह ऐसा ही क्यो न हो जो साधारण जीवनमे कभी होता न हो किन्तु वह सतोषजनक हो, और उस अपराधके लिये ठीक जमता हो, जैसे—खलनायक स्वयं उन विपत्तियोमे फँस जाय जो उसने दूसरोके लिये ढूँढ रक्खी थीं।'

जन-साधारणका चित्रण

इधर जबसे देश-विदेशमे वर्ग-सङ्घर्ष प्रारम्भ हुए, सामन्तवादका विरोध होने लगा और जनवादकी पुकार उठ खड़ी हुई तबसे काव्यका एक ही गुण समझा जाने लगा कि उसमे जन-साधारणका चित्रण हो। यह वास्तवमे गुण नहीं, एक प्रकारकी प्रवृत्ति ही है जो ह्विटमैनके समयमे

कवितामे दिखाई पडने लगी थी। यह प्रवृत्ति प्राचीन कुलीनताकी भावना (एरिस्टोक्रेटिक स्पिरिट) की विरोधिनी थी। इस लोकतन्त्रात्मक भावनाके समर्थकोमे 'पो' और 'बौदेलेया' प्रमुख थे।

अलङ्करण (और्नामेन्ट)

कुछ लोगोने अलङ्करणको ही साहित्य-रचनाका प्रधान गुण माना है। किसी साहित्यिक कृतिको सुन्दर बनानेके लिये जो सजावट की जाती है उसे अलङ्करण या काव्यका शृङ्गार कहते है। पहले तो 'उसके उपयुक्त निर्वाहके लिये उसके विभिन्न भागोको उचित क्रमसे सजाना' ही अलङ्करण कहलाता था।

लय (रिद्म)

कुछ लोगोका मत है कि 'लय भी साहित्यका एक विशेष गुण है।' भाषामे वह स्वाभाविक लहर, या किसी प्रकारके शब्दपर बल, या स्वरका आरोहावरोह, या शब्दोके क्रमका ऐसे नियमित रूपसे आना ही लय है जो सार्थक ध्वनियोके प्रवाहमे स्वय आ जाता है। और जैसे-जैसे भावका प्रवाह बढता चलता है वैसे-वैसे वह लयात्मक रूप स्पष्ट होता चला जाता है।

दुरभ्यास (मैनरिज्म)

जब कोई लेखक अपनी कृतिमे किसी विशेष शब्द, वाक्य, रूढोक्ति आदिका बार-बार प्रयोग करने लगता है और उसके औचित्य-अनौचित्यका तथा प्रसङ्गका भी ध्यान भूल जाता है तब उसे दुरभ्यास (मैनरिज़्म) कहते है। इसीको फारसीमे सखुनतकिया कहते हैं। परिवृत्ति-काव्यो (पैरोडी) तथा साधारण नाटकोमे भी हास्य रसके लिये इसका प्रयोग भले ही किया जाय किन्तु अन्य साहित्यिक रचनाओके लिये यह अत्यन्त अभद्र दोष है।

नीरसता (फ़्रिजिडिटी)

अरस्तूने यह कहा है कि जब किसी कृतिमे अत्यन्त समासयुक्त, अप्रचलित, प्राचीन और विदेशी शब्दोंका प्रयोग होता है या अधिक

लाक्षणिकता आती है तब वह नीरसता कहलाती है। काव्यमें उसका प्रयोग वर्जित माना जाता है।

इनके अतिरिक्त वे सभी प्रयोग दोष समझने चाहिएँ जो उपर्यङ्कित गुणोंके विरोधी हो।

(ख)

भारतीय गुण-मीमांसा

भारतीय आचार्योंने जिस विस्तारके साथ काव्य या साहित्यके गुण दोषोका विवेचन किया उतना किसी देशमे नही हुआ। चन्द्रलोकमें जयदेवने काव्यके गुणोका परिचय देते हुए लिखा है—

'जिस कथित वाक्य-समूहका भीतरी अर्थ बिना प्रयास तथा कठिनताके जलके समान निर्मल और सरल रूपसे पढने और सुननेके साथ ही झलकने लगे उसमें 'प्रसाद' गुण होता है।' (किन्तु दण्डी 'किसी पदार्थके प्रसिद्ध गुणके कथन करनेको' ही प्रसाद मानते हैं। यह ठीक नहीं है। उर्दूवाले जिसे जबानकी सफाई और सादगी कहते हैं वही प्रसाद गुण है अर्थात् उक्तिके लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ समझनेमे कठिनाई न होना ही प्रसाद गुणका लक्षण है।) 'समता' गुण वहाँ होता है जहाँ एक एक शब्द पृथक्-पृथक् सजाए हुए वाक्यार्थ प्रकट करते हो, जिनमे परस्पर ध्वन्यात्मक समानता पाई जाती हो और समास कम होनेसे कुछ क्लिष्ट भी न प्रतीत हो। जिन गहरी रसमयी उक्तियो (रसीली बातो) को सुनकर विवेकशील और आलङ्कारिक व्यक्तियोके हृदय गद्गद हो जाते हैं और उनके शरीरपर आनन्दाकुर उठने लगते है, उनके ऐसे अर्थ महिमान्वित गुणको 'समाधि' कहते हैं। 'माधुर्य' गुण वहाँ माना जाता है जहाँ शब्दोकी पुनरुक्ति होते हुए भी उसमे विचित्रता और सुन्दरता स्थायी रहे और उसमे सानुनासिक ध्वनि भी हो। जहाँ सक्षेपमे या विस्तारके साथ जो अर्थोंसे भरे वाक्य रूपमे वीर, बीभत्स, रौद्र और भयानक भावोका उनके उपयुक्त शब्दोमे वर्णन हो

वहाँ 'ओज, गुण होता है। कर्णकटु और कठोर शब्दोका प्रयोग बचाते हुए सरल शब्दोमे अर्थ प्रकट करते हुए जो बात कही जाय उसे 'सौकुमार्य' माना जाता है। जहाँ भाव तथा भाषामे वैदग्ध्य या चतुरता होती है वहाँ 'उदारता' गुण होता है, उसमे फूहडपन नहीं होना चाहिए।' दण्डी कहते हैं 'व्यंग्यांक्त्यर्थप्रत्यायकत्वं तत्त्वमिति' अर्थात यह लगभग व्यंग्योक्तिके अर्थकी ही छाया है।

वामनने जो दस गुण माने हैं उनपर विचार करते हुए जयदेवने इन आठ गुणोको समझाकर कहा है कि यदि 'मान लिया जाय कि शेष दो गुण कान्ति और अर्थव्यक्ति भी है तो ये दोनो क्रमसे माधुर्य और प्रसादमे ही आ जाते हैं।' दण्डीने कहा है कि "जहाँ प्रसिद्ध भावनाका विरोध नहीं होता है, वहीं कान्ति होती है और जहाँ लाक्षणिकता आदिका अभाव होता है और अर्थ स्पष्ट होता है वहाँ अर्थ-व्यक्ति गुण होता है। जैसे, स्त्रियोके शरीरकी शोभा बढ़ानेवाले धातुनिर्मित भूषणोके अतिरिक्त अन्य और भी अञ्जन, तिलक, केशमार्जनादि विशेष साधन हैं, वैसे ही रूपक, उपमादि अनेक अलकारोके रहते हुए भी ये उपर्युक्त गुण भी काव्यकी शोभा बढ़ाते है।

इनके अतिरिक्त गुणोका वर्णन करते हुए कहा है कि "जहाँ विचित्र सूत्रोका प्रयोग किया गया हो वहाँ 'न्यास' गुण, वर्णोंके ध्वनि साम्यकी शृङ्खला जहाँ पूरी उतर जाय वहाँ 'निर्वाह' गुण, अन्य अर्थवाले पद इच्छित अर्थ व्यक्त करानेको 'प्रौढि', प्राचीन कवि सम्मत प्रयोग करनेको 'औचित्य', रूपोमे अन्य शास्त्रके प्रकृत प्रसगोकी छेड-छाडको 'रहस्योक्ति', एक ही अर्थके कई शब्दोके एकत्र प्रयोग करनेको 'सग्रह तथा किसी विशेष अभिप्रायसे कही बातको 'दिक्प्रदर्शिता' गुण कहते हैं।"

भरतने नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमे निम्नलिखित दस गुण माने है–

श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। ये दस गुण चन्द्रालोकमे दिए हुए गुणोसे मिलते जुलते ही हैं।

अभिनव भरतका मत

यद्यपि ये सभी काव्यके गुण माने गए है किन्तु वास्तविक बात यह है कि जिस प्रकारसे सहृदय लोग प्रसन्न रहे वही गुण है। अभिनवभरतका मत है 'कि काव्यमे केवल दो ही गुण आवश्यक हैं— एक तो प्रसाद गुण अर्थात् ऐसी भाषा जिसका लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ समझनेमे पाठकोको कोई कठिनाई न हो। दूसरा विशिष्ट गुण है कौतूहल अर्थात् काव्यका ऐसा ग्रथन कि पाठक या दर्शक प्रतिक्षण आगे बढनेको और यह जाननेको समुत्सुक रहे कि आगे क्या होगा। यदि इन दो गुणोका पूर्णत पालन किया जाय तो काव्य अवश्य सफल और सुन्दर होगा।' ये ही सम्पूर्ण साहित्यके लिए भी उचित गुण हैं।

• १६

साहित्यके दोष

चन्द्रालोकमे जयदेवने काव्यके निम्नलिखित दोष उदाहरणपूर्वक गिनाए हैं।

१. कर्णकटु : जहाँ कानको अप्रिय लगनेवाले अक्षरोको सुननेके साथ ही चित उद्विग्न हो जाय।

२. च्युतसस्कृति : जहाँ व्याकरणके विरुद्ध ऐसे प्रयोग किए गए हो जो समझे न जाते हो।

३. अप्रयुक्त : जो कवि मडली द्वारा वर्ज्य हो।

४. असमर्थता : जो ठीक अर्थ न दे पावे।

५. निहतार्थ : सर्वसाधारणमे प्रचलित शब्दके स्थानपर अप्रचलित शब्दका प्रयोग करना।

६. अनुचितार्थपद . जिसके श्रवण मात्रसे किसी अनुचित अर्थात् मर्यादासे हीन अर्थकी ध्वनि निकले।

७. पदपूरक : जहाँ अकारण ही वाक्य या पद-पूर्तिके निमित्त शब्द रक्खे जायँ।

८ अवाचक : जहाँ शुद्ध शब्दके अर्थका काम अशुद्ध शब्दसे लिया जाय।

९ एकाक्षर : जहाँ एक अक्षरका दूसरेके साथ सयोग न हो जैसे नभस्तलके बदले ख-तल कहना।

१० तीनो प्रकारका अश्लील दोष है—व्रीडात्मक, जुगुप्सात्मक और अमगलात्मक।

११ द्वयर्थक : जहाँ अर्थमे सन्देह हो जाय।

१२ अप्रतीत : जिसका प्रयोग शास्त्रोमे तो होता हो किन्तु साहित्यमे न होता हो।

१३ शैथिल्य : व्याकरणके अप्रचलित प्रयोगके द्वारा भाव प्रकट किए गए हो।

१४ ग्राम्य : जहाँ हीन समाजमे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोका उच्च कोटिके साहित्यमे प्रयोग किया जाय।

१५ नेयार्थ : जहाँ आवश्यकतासे अधिक और अश्लील शब्दोके द्वारा लक्षणा प्रकट की जानेसे मनोहर न हो।

१६ क्लिष्ट : जिसमे व्यर्थ ही एक शब्दका सम्बन्ध दूसरेसे, दूसरेका तीसरेसे दिखलानेपर वह अर्थ निकल सकता हो।

१७ अविमृष्ट विधेय : जहाँ वाक्यमे प्रधान या विधेय शब्दको किसी दूसरे शब्दके साथ समासके द्वारा लपेटकर इस प्रकार कहा जाय कि उसका अभाव नष्ट हो जाय।

१८ विरुद्धमतिकृत् : जो समास-भेदसे दूसरा अर्थ प्रकट करने लगे।

१९ अन्यसंगत : जहाँ वक्तव्यके दो भिन्न गुणोका एक ही समासमे समावेश हो।

२० प्रतिकूलाक्षर : जहाँ रसके अनुकूल अक्षरोका प्रयोग न हो।

२१ २२. उपहत विसर्ग और लुप्त विसर्ग : जिनमे विसर्गोका ठीक प्रयोग न हो। ये दो प्रकार के होते हैं।

२३. २४ सन्धि-दोष : [कुसन्धि और विसन्धि] अर्थात् भद्दी सन्धि।

२५ हतवृत्त : जहाँ मात्रा, छन्द, क्रम सब ठीक होते हुए भी सुननेमे अरुचिकर और पाठ करनेमे कठोर लगे।

२६. न्यूनता : जहाँ कोई रूपक बाँधनेमे उसका अंग छूट गया हो।

२७. अधिकता : जहाँ न कहने योग्य बात भी कह दी गई हो।

२८. कथित : जहाँ पुनरुक्ति की गई हो।

२९. विकृत : किसी शब्दको अनेक सूत्रो द्वारा परिवर्त्तित करके प्रयोग किया गया हो।

३०. पतत्प्रकर्ष : जहाँ प्रारम्भ किए गए अनुप्रासका निर्वाह न हो पाया हो।

३१ समाप्तपुनरात्त : जहाँ क्रिया-द्वारा वाक्य समाप्त कर देने पर भी कोई विशेषण कह दिया जाय।

३२. अर्धान्तर पदापेक्षि : जहाँ पूरे पद्यमे कथित विशेषणकी पुष्टि करनेके लिए एक पृथक् पद लिखकर उसमे उसका कारण दिखाया जाय।

३३ अभवन्मतयोग : जहाँ पदका अन्वय करने पर उस पद द्वारा व्यक्त होने वाले अर्थकी ध्वनिके लिये उसके शब्द अनुचित जान पड़ें।

३४ अस्थानस्थ समास : जहाँ आवश्यकता हो वहा न लिखना और जहाँ न हो वहाँ लिखना।

३५ सकीर्णता जहाँ अनेक बातें मिलाकर कही जायँ।

३६ भग्नप्रक्रम : जहाँ अपना आन्तरिक अभिप्राय समुचित शब्दोमे प्रकट न किया जा सके।

३७. अमतार्थान्तर जहाँ मुख्य रसके विरोधी रसका उद्दीपन कराया जाय।

३८. अपुष्टार्थ : जहाँ विशेष्यमे बनाई हुई विशेषता उसके विशेषण द्वारा न प्रकट हो।

३९. कष्ट : जहाँ वाक्य सुननेके साथही उसका अर्थ स्पष्ट हृदयगम न हो।

४० व्याहत : जहाँ एक ही वाक्यके आगे पीछेके अर्थमे विरोध पड जाय।

४१ पुनरुक्त : जहाँ अपनी ही बात कहकर काट दी जाय या बात समाप्त होजाने पर फिर उसमे नई बात निकाली जाय।

४२. ४३. ४४. क्रमके तीन प्रकारके दोष होतेहैं=दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्घ। शास्त्र-विरुद्ध कहना दुष्क्रमत्व, प्रत्यक्ष ग्रामीण भाव है ग्राम्य और प्रश्न सा प्रतीत होनेवाला सन्दिग्ध।

४५ अनौचित्य : जहाँ विशेष्यमे उस विशेषताका आरोपण किया जाय जो उसका स्वाभाविक अग न हो।

४६. विरुद्ध : जहाँ लोकप्रसिद्धसे विरुद्ध या शास्त्र-विरुद्ध कहा गया हो।

४७. सामान्य परिवृत्ति : जहाँ किसी अपेक्षित गुणको प्रकट करनेके लिये कोई ऐसा बेढगा शब्द कह दिया जाय जिससे अर्थ ही न प्रतीत हो।

४८ सहचराऽचारु . दृष्टान्त प्रयोगमे समान गुण प्रदर्शित न किया जाय।

४९. विरुद्धान्योन्यसगति : जहाँ विरोधी बातोसे सगति न बैठती हो।

पद, पदाश, वाक्याश, वाक्य, वाक्य-कदम्ब आदिमे शब्द और अर्थसे उत्पन्न दोषोपर उपर्युक्त विधिसे विचार करना चाहिए।

दोषांकुश

जानते हुए भी जो दोष आगए है और विशृ खलता उत्पन्न किए हुए हो उनका परिहार करनेको 'दोषाकुश' कहते हैं। यह तीन प्रकारसे होता है :—

१. दोषमे गुणका आरोपण करके।

२. दोषको मिटाकर।

३ आए हुए दोषको अपरिहार्य बनाकर ।

भरतने भी नाट्यशास्त्रके सत्रहवे अध्यायमे दोष गिनाते हुए गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत ये दस दोष गिनाकर उनकी यह व्याख्याकी है :—

१. जहाँ गूढ अर्थवाला मूल शब्द न कहकर उसका ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढता नष्ट हो जाय वहाँ 'अगूढत्व' दोष होता है।

२ जहाँ जिस वस्तुका वर्णन न करना हो उसका अनावश्यक वर्णन कर देना 'अर्थान्तर' कहलाता है ।

३. जहाँ संवादमे असम्बद्ध बातें भरी हो और उसके भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हो वहाँ 'अर्थहीन' दोष होता है।

४. 'भिन्नार्थ' दोष दो प्रकारके होते हैं :—

(क) जिनमे असभ्य और ग्राम्य (फूहड) शब्द या वाक्य हो ।

(ख) जिनमे कुछ ऐसे वाक्य बीच-बीचमे आ गए हो जो कवि द्वारा वर्णनीय इष्ट अर्थमे बाधा देते हो ।

५. जहाँ केवल एक ही अर्थवाले वाक्योका प्रयोग हो अर्थात् जहाँ केवल वाच्यार्थसे युक्त पदोका ही प्रयोग हो, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका अभाव हो वहा 'एकार्थ' दोष होता है ।

६ जहाँ वाक्यके एक चरणमे सक्षेपमे बात कही जाय वहा 'अभिप्लुतार्थ' दोष होता है ।

७ जहाँ ज्ञान-विज्ञानसे विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाय वहाँ 'न्यायादपेत' दोष होता है ।

८. जहाँ छन्दमे दोष हो वहाँ 'विषम' दोष होता है।

९. जहाँ एक-एक शब्द कह कहकर उसकी विशेषता भी बतलाते चला जाय वहाँ 'विसन्धि' दोष होता है ।

१०. जहाँ आवश्यक शब्द छोड दिया गया हो वहाँ 'शब्दच्युत' दोष होता है।

इतने नाटकाश्रय दोष समझने चाहिए और इनसे उलटी बातोको ही गुण समझना चाहिए।

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमे जो काव्यके दोष गिनाए हैं वे ही प्राय अन्य आचार्योंने भी गिनाए है। इसमेसे अधिकाश तो सस्कृत भाषाके लिये ही हैं। किन्तु ये दोष नाटकके लिये कभी-कभी गुण होकर भी आ सकते है, जैसे जयदेवने भी अन्तमे कहा है कि दोष लगाकर उसे अनिवार्य कर देना और ऐसे पात्रमे उसका आरोप करना कि उस दोषयुक्त वाक्यके प्रयोगसे ही उसके चरित्रका स्पष्ट रूप प्रकट हो। अत. अनेक प्रकारके व्यक्तियोका नाटकमे चित्रण करते समय कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि पात्रकी प्रकृतिके अनुसार दोषयुक्त वाक्य भी कहलाया जाय। किन्तु भरतने जो नाटकाश्रय दोष बताए है वे विचारणीय हैं। इस बातमे कोई दो मत नहीं हो सकते कि नाटकमे अनावश्यक, असम्बद्ध, निरर्थक, असभ्य, ग्राम्य, धारा-बाधक तथा अप्रामाणिक, अस्पष्ट वार्ता या वर्णन नहीं होने चाहिए। इसलिये अभिनवभरतका मत है कि 'साहित्यमे कुछ भी असम्बद्ध, निरर्थक असभ्य, द्वेष्य, धारा-बाधक, अप्रामाणिक, अबोध्य, अस्पष्ट, अमगल नहीं होना चाहिए।

१. असम्बद्ध या असगत दोष वहाँ होता है जहाँ वाक्यमे पूर्वापर-सम्बन्ध न हो।

२. निरर्थक बातचीत वह कहलाती है जहाँ कथा या नाटकके चरित्रोसे कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाली बातें कहलाई जायँ। बहुतसे उपन्यासकार और नाटककार अवसर मिलते ही अपने दार्शनिक ज्ञानका भाण्डार खोलकर अपने विशिष्ट पात्रोसे दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने लगते है। वह सब निरर्थक दोष है।

३. जिस देशमे जो वाक्य या शब्द शिष्ट लोग प्रयोग न करते हो

और जिनका प्रयोग ब्रीडाजनक तथा फूहड समझा जाता हो, जिसे सुनकर शिष्ट लोग नाक भौ सिकोडते हो उसे 'असभ्य' कहते हैं।

४. 'द्वेष्य' वाक्य वे हैं जिनसे ससारके किसी विशेष वर्ग, जाति, वृत्ति, धर्म, सम्प्रदाय या उनके विशिष्ट व्यक्तियोका अपमान, विरोध, अनादर या द्वेष प्रकट होता हो।

५ 'धारा-बाधक' शब्द या वाक्य उन्हे कहते हैं जो किसी प्रसगके बीचमे प्रयुक्त हो जानेपर उसके स्वाभाविक प्रवाहमे बाधा डालते हो।

६. 'अप्रामाणिक' उन बातोको कहते हैं जो इतिहास, शास्त्र, पुराण, विज्ञान, लोक-विश्वास आदिके विरुद्ध हो जैसे सूर्यका पच्छिममे निकलना, ध्रुवतारेका चलना, अशोकके युगमे बन्दूकका प्रयोग।

७. 'अबोध' या क्लिष्ट शब्द या वाक्य वे होते हैं जिनका साधारणतः प्रचलन न हो जैसे नाटकमे 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की नैयायिक पद्धतिसे विवाद।

८. 'अस्पष्ट' शब्द या वाक्य उन उक्तियोको कहते हैं जहाँ शब्द तो सरल हो किन्तु सवादका अर्थ ही स्पष्ट समझमे न आवे।

९. 'अमंगलसूचक शब्दोका प्रयोग भी नाटकमे नहीं होना चाहिए।'

साहित्यमे उपर्युक्त दोष यदि न रहे तो वह अवश्य प्रभावशाली होगा।

कविको छूट (पोइटिक लाइसेन्स)

क्विन्तीलियनने कहा है कि 'कवि लोग अपने छन्दोके दास होते हैं इसलिये यदि वे उन्हे नाम दे दें तो उनके अपराधको क्षमा कर देना चाहिए। अब हम उन्हे आर्ष प्रयोग (मैटाप्लाज्म या शेयाटिज्म) कहते हैं और जो उनकी त्रुटियाँ है उन्हे गुण बताकर उनकी प्रशसा करते हैं। यह छूट या लाइसेन्स झूठे कवियोको प्रोत्साहन देनेके लिये नहीं वरन केवल बुरी कारीगरीके लिये या रचना दोषकी उपेक्षा-मात्र करनेके लिये है। यदि कवि इस प्रकारकी स्वतन्त्रता ग्रहण करने लगें तो उनका स्वातन्त्र्य-अधिकार छीन लिया जाता है। यह भी ध्यान रखना

चाहिए कि सम्भव है जो बात आज दोष दिखाई पडती है वह कविके युगमें स्वाभाविक हो या जानबूझकर की गई हो अतः कविकी छूट पर विचार करते समय उसकी समर्थता, तत्कालीन प्रयोग आदिका ध्यान रखकर गुणदोषकी मीमासा करनी चाहिए। कवि स्वातन्त्र्य प्रायः सभी देशोमे सभी युगोमे रहा है। 'निरकुशाः कवयः' (कवि लोग निरकुश होते हैं) यह उक्ति ही इस बातका प्रमाण है, किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि लोक और साहित्यकी जो सार्वभौम मर्यादाएं बनी हुई हैं उनका अतिक्रमण कवि नहीं कर सकता।

षष्ठ खंड

पिंगल

(क)

काव्यगुण समन्वित उक्ति कविता कही जाती है। ऐसी उक्ति गद्यमे भी हो सकती है और पद्यमे भी। मुद्रणकलाके आविष्कारके पूर्व संसारके सभी देशोमे अधिकतर रचनाएँ पद्यमे ही होती थीं। इसमे सुविधा थी। पद्यबद्ध रचना कण्ठ करनेमे कठिनाई नहीं होती। उस समयका अधिकतर साहित्य मौखिक ही होता था अतएव पद्यबद्ध होनेसे उसके लोपकी आशका कम रहती थी।

रचना गद्यमे हो या पद्यमे उसके लिये कतिपय नियमोका परिपालन आवश्यक है। ऐसा न हो तो सभी रचनाए अव्यवस्थित, अस्पष्ट और इसीलिये अग्राह्य हो जायँ। पद्यमे जिस व्यवस्थाका ध्यान रखना पडता है वह है छन्दःशास्त्रके नियम। छन्दःशास्त्रके सम्बन्धमे सम्पूर्णरूपसे ज्ञान करानेवाले काव्यागको पिगल कहते हैं। काव्यके इस विभागके अन्तर्गत छन्द-रचनाके नियम, छन्दोके नाम, उनके लक्षण, उनके भेद, विराम, लय, तुक आदिपर विचार होता है।

छन्दःशास्त्रके प्रवर्तक शेषावतार पिगलाचार्य माने जाते हैं। उनके नामपर ही इस शास्त्रको पिगलशास्त्र भी कहते हैं। पिगलकृत छन्दः-शास्त्र आठ अध्यायोमे है। आगे चलकर अग्निपुराणमे इस विषयका विवेचन विस्तारके साथ हुआ। फिर तो इसपर बराबर विचार होता ही रहा है।

पिगल-शास्त्रकी भी बहुतसी बातें आई है। आज हिन्दीमे सस्कृतके न जाने कितने छन्दोका प्रयोग किया जा रहा है। उनके अतिरिक्त हिन्दीके अपने छन्द भी है, और वे कम नहीं है।

छन्दके भेद

प्रत्येक छन्द चार चरणका होता है। चरणको पद या पाद भी कहते हैं। चरणोंकी रचनाओंमें वर्णों या मात्राओके नियमका निर्वाह किया जाता है। जिस छन्दकी रचना वर्णोंके अनुसार होती है उसे वर्णवृत्त और जिसकी रचना मात्राओ के अनुसार होती है उसे मात्रिक छन्द कहते है। संस्कृतके सभी छन्द या तो वर्णवृत्त है या मात्रिक। हिन्दीमे भी आदिकालसे इसी परम्पराका पालन होता रहा है किन्तु इधर कुछ ऐसे छन्द देखनेमें आए है, जिनमे वर्णों और मात्राओ दोनोके नियमका समान रूपसे निर्वाह किया गया है। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ीके अनुकरणपर ऐसी भी रचानाएँ इधर हिन्दीमे हुई है जिनमे छन्द आदिके किसी नियमका पालन करनेकी कोई आवश्यकता कवियोने नहीं समझी। इस सम्बन्धकी दो प्रकारकी रचनाएँ अब तक देखनेमे आई है—चरणोके सम्बन्धमे किसी प्रकारका विधान न मानकर तीन, चार, पॉच या छह चरणोकी रचनाएँ प्रस्तुत करना, छन्दोके चरणोमे मात्रा या वर्ण या तुककी कोई बात स्वीकार न करना।

गति, यति, मात्रा

छन्दोके सम्बन्धमे इन तीन बातोका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

गतिका अर्थ है प्रवाह। यदि छन्दमे मात्राओ और वर्णोंका विधान नियमानुसार हो और उसमे प्रवाह न हो तो वह छन्द ही नहीं हुआ। 'आगे चले बहुरि रघुराया' छन्दके इस चरणमे १६ मात्राए है। इसके साथ ही इसमें एक प्रकारका प्रवाह भी है, अतः यह छन्द है। इसीको यदि इस प्रकार लिखें—बहुरि रघुराया आगे चले' तो यह प्रवाहहीन

होनेके कारण १६ मात्राओसे युक्त होनेपर भी छन्द नहीं कहा जायगा। इससे प्रकट हुआ कि छन्दका प्रवाहमय होना आवश्यक है।

यति का अर्थ है विराम। किसी वाक्यका उच्चारण करनेमें कभी-कभी बीचमे कुछ रुकना पड़ता है। इस ठहरावको ही विराम कहते हैं। गद्यके लम्बे वाक्योमे भी विरामकी आवश्यकता पडती है किन्तु वहाँ उसे विराम ही कहते हैं। पद्य या छन्दमे ऐसे विरामको यति कहते हैं।

बन्दौ गुरुपद कज, कृपासिधु नररूप हरि।

इसमे कजके बाद अल्प ठहराव आवश्यक हो जाता है। इसे ही यति कहते है।

यतिके सम्बन्धमे यह समझ लेना चाहिए कि वह जहाँ आए वह शब्द पूरा हो गया हो, साथ ही विभक्ति भी शब्दसे पृथक् न हो।

दोउ समाज निमिराज रघु, राज नहाने प्रात।

यहाँ पति रघुके बाद पडती हे, किन्तु पूरा शब्द रघुराज है अतएव यहाँ यति दोषपूर्ण है।

मात्रा वर्णमे होती है। जो व्यञ्जन वर्ण ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) सयुक्त हो उसे लघु और जो दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ) सयुक्त हो उसे गुरु वर्ण कहते है। लघु वर्णकी एक मात्रा और गुरु वर्णको दो मात्राएँ होती हैं। लघु वर्णको छन्दःशास्त्रमे साकेतिक रूपसे 'ल' और गुरुवर्णको 'ग' कहते हैं। लघुका चिह्न '।' और गुरुका 'ऽ' है। छन्दोमे मात्राओकी गणना इन्हींके अनुसार होती है।

ह्रस्वस्वर सयुक्त वर्णकी एक मात्रा तथ दीर्घस्वर-सयुक्त वर्णकी दो मात्राएँ होती हैं। इसे गिननेमे कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु सयुक्ताक्षरोकी मात्राएँ गिननेमें बहुधा कठिनाई या भ्रमकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सयुक्ताक्षरके पहले आए वर्णकी दो-मात्राएँ मानी जाती है चाहे वह एक मात्रिक वर्ण हो या द्विमात्रिक—शुल्व और

शाल्व दोनोमे द्वितीय वर्ण-सयुक्त है। अतः इनके पूर्वके 'शु' और 'शा' की दो ही मात्राएँ मानी जायँगी, 'शा' की तीन मात्राएँ नहीं।

ह्रस्व (लघु) वर्ण कब दीर्घ (गुरु) माने जाते है इसे समझनेके लिये यह श्लोक स्मरण रखना चाहिए—

सयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वार विसर्ग सम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुं पादान्तस्थ विकल्पेन॥

—सयुक्तवर्णके पहले आया अनुस्वार तथा विसर्ग सहित तथा यथावश्यकता चरणके अन्तका वर्ण गुरु माना जाता है।

किन्तु प्रत्येक स्थितिमे सयुक्ताक्षरके पूर्वका वर्ण गुरु नहीं होता। जब उसके उच्चारणमेदो मात्राओ जितना समय और श्रम लगे तभी वह गुरु होता है। अञ्जन और कुल्हाडाका उच्चारण करते समय 'ञ्ज' के पूर्व आए 'अ' का उच्चारण दीर्घस्वरकी भाँति होता है परन्तु 'ल्हा' के पूर्व आए 'कु' का उच्चारण ह्रस्व स्वरकी भाँति होता है। इसलिये 'अ' गुरु और 'कु' लघुवर्ण हे।

अनुनासिक वर्ण लघु माने जाते है।

पादान्त्यवर्ण ह्रस्व होते हुए भी कभी-कभी दीर्घ तब माना जाता है जब छन्दकी मात्राओमे कमी पडती है।

हलन्तके पूर्वका वर्ण गुरु माना जाता है। हलन्तकी मात्रा नहीं गिनी जाती।

कभी कभी दीर्घ लिखे जानेपर भी गुरु वर्णको तब लघु मानते हैं जब उसका उच्चारण ह्रस्वकी भाँति होता है—

'मोहि तोहि नाते अनेक मानिए' मे 'मो' दीर्घ होनेपर भी ह्रस्वकी भाँति उच्चरित होनेसे लघु हुआ।

गण

वर्णवृत्तोका समूचा भवन गणोकी नींवपर खडा है। गणका अर्थ है समूह। छन्दमे समूह वर्णों (अक्षरो) का ही हो सकता है। कुछ छन्दोमे गणोकी ही प्रधानता होती है इसीलिये उन छन्दोको वर्णवृत्त

कहते हैं। लघु-गुरुके क्रमसे आठ समूह या गण मान लिए गए हैं जिनके विभिन्न रूपोंके प्रयोगसे अनेक प्रकारके छन्द बनते हैं। उन गणोंके नाम इस प्रकार हैं—मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण, तगण।

नीचेकी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा कि किस गणमें कितने लघु और कितने गुरु वर्ण होते हैं—

गण	सङ्क्षिप्तनाम	लक्षण	उदाहरण
मगण	म	तीनो वर्ण गुरु (SSS)	मान्धाता
नगण	न	तीनो वर्ण लघु (III)	सगर
भगण	भ	पहला वर्ण गुरु (SII)	अर्जुन
यगण	य	पहला वर्ण लघु (ISS)	विधाता
जगण	ज	बीचका वर्ण गुरु (ISI)	विशाख
रगण	र	बीचका वर्ण लघु (SIS)	कालिका
सगण	स	अन्तका वर्ण गुरु (IIS)	कमला
तगण	त	अन्तका वर्ण लघु (SSI)	सौवीर

प्रत्येक गणका एक देवता होता है और उसका फल शुभ या अशुभ होता है। इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

> मोभूमि· श्रियमातनोति यजलेवृद्धिं चाग्निमृ॑तम्।
> सोवायु परदेश दूर गमनं तव्योमशून्यंफलम्॥
> ज सूर्यो रुजकाददाति विपुलं भेन्दुर्यशोनिर्मलम्।
> नोनाकश्च सुखप्रद· फलमिद प्राहुर्गणाना बुधा॥

गण	देवता	फल
म	भूमि	श्री-प्राप्ति
य	वरुण	वृद्धि
र	अग्नि	मृत्यु
स	वायु	विदेश गमन
त	आकाश	शून्य

ज	सूर्य	रोग
भ	चन्द्र	यश-प्राप्ति
न	स्वर्ग	सुख-प्राप्ति

अर्थात् म, य, भ, न शुभ गण है और र, स, त, ज अशुभ गण हैं। कविताका आरम्भ ऐसे गणसे कभी न करे जो अशुभ हो, नहीं तो काव्य दोषपूर्ण और हानिकारक होगा। अशुभ गणका प्रयोग होनेपर भी दोषका परिहार दो अवस्थाओमे हो जाता है—(१) जब प्रथम शब्द ईश्वर, गुरु या देववाचक हो, (२) जब ऐसे छन्दोका प्रयोग किया जाय जिनमे अशुभ गण ही पहले आते हैं।

शुभ और अशुभ वर्ण

जैसे कुछ गण अशुभ माने जाते हैं, वैसे ही कुछ वर्ण भी अशुभ माने जाते है, जिनका प्रयोग कविताके आरम्भमे निषिद्ध है।

ये वर्ण शुभ हैं—

सभी स्वर।

क, ख, ग, घ, च, छ, ज, त, द, ध, न, य, श, स।

शेष सभी वर्ण अशुभ हैं किन्तु इनमे भी झ, ह, र, भ, ष, अत्यन्त दूषित हैं। इन्हे दग्धाक्षर कहते हैं। इनका प्रयोग तो आदिमें होना ही नहीं चाहिए, किन्तु ये यदि देवता या गुरुके नामके आद्यक्षर होकर या दीर्घ होकर आएँ तो कोई दोष नहीं होता।

तुक

किसी छन्दके विभिन्न चरणोके अन्तमे जब एक ही अक्षर आता है तो उस अक्षरकी एकताको तुक कहते हैं। हिन्दीमे आरम्भसे ही छन्द तुकान्त होते आए हैं। पिछले दिनो इस बन्धनके विरुद्ध विद्रोह का भाव प्रदर्शित किया गया और अब पर्याप्त सख्यामे तुकहीन कविताएँ भी हिन्दी भाषामे उपलब्ध हैं।

हिन्दीमे मुख्यतः तीन प्रकारकी तुकान्त कविताएँ मिलती हैं—

(१) सर्वान्त्य—जिस छन्दके सभी चरणोमे तुक मिलता है, जैसे सवैया, (२) विषमान्त्य—जिसके पहले और तीसरे चरणोमे तुक मिलता है, जैसे—सोरठा, (३) समान्त—जिसके दूसरे और चौथे चरणोमे तुक मिलता है, जैसे—दोहा।

सख्याओंका विवरण

छन्दोमें सख्याओका उल्लेख करनेके लिये कुछ शब्द निश्चित कर लिए गए हैं। उनका प्रयोग करके सख्याओंकी सूचना दे दी जाती है। लेकिन अक उलटे गिने जाते हैं, जैसे—१६५५ के लिये लिखा जायगा प्राणँ भूतँ निधिँ चन्द्रँ।

नीचे कुछ सख्यासूचक शब्दोकी सूची दी जा रही है—

०—नभ तथा उसके सब पर्याय।

१—आत्मा, भूमि, चन्द्र, गणेशजीका दाँत।

२—पक्ष, नेत्र, भुजा, कान।

३—गुण, ताप, राम, अग्नि, शिवके नेत्र, लोक।

४—वेद, युग, वर्ण, आश्रम, पदार्थ, ब्रह्माके मुख।

५—शर, गति, प्राण, भूत, पाण्डव, यज्ञ, कन्या।

६—रस (खाद्य), राग, शास्त्र, ऋतु।

७—ऋषि, स्वर, सागर, वार, लोक।

८—दिग्गज, सिद्धि, प्रहर, वसु।

९—निधि, भक्ति, ग्रह, (कविताके) रस।

१०—दिशा, दोष, रावणके सिर।

११—रुद्र।

१२—सूर्य।

१५—तिथि।

१६—शृंगार, कला।

१८—पुराण।

२०—नख।

छन्दोंके प्रकार
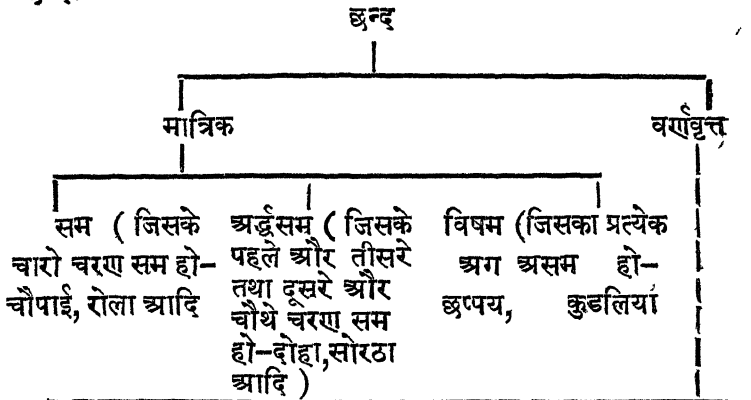
मात्रिक छन्दोमे एक चरणमे ३२ मात्राके छन्द साधारण और इससे अधिक मात्राके दडक कहे जाते है। वर्णवृत्तोमे एक चरणमे २६ वर्ण तक छन्द साधारण और इससे अधिक वर्णके दडक कहे जाते है।

(ख)

हिन्दीमे निम्नलिखित मात्रिक तथा वर्णवृत्त ही अधिक प्रचलित है—

मात्रिक	वर्णवृत्त
१ अमृतध्वनि	१ अनुष्टुप
२ अरिल्ल	२ इन्द्रवज्रा
३ आर्या	३ उपेन्द्रवज्रा
४ आल्हा (वीर)	४ कवित्त (दण्डक)
५ उल्लाल	५ किरीट (सवैया)

६ उल्लाला
७ कुण्डल
८ कुण्डलिया
९ गीति
१० गीतिका
११ चौपई
१२ चौपाई
१३ छप्पय
१४ झूलना
१५ तोमर
१६ त्रिभंगी
१७ दिग्पाल
१८ दोहा
१९ बरवै
२० रूपमाला
२१ रोला
२२ लावनी
२३ सार
२४ सोरठा
२५ हरिगीतिका

६ घनाक्षरी-देव (दण्डक)
७ घनाक्षरी-रूप (दण्डक)
८ चकोर (सवैया)
९ तोटक
१० दीपकमाला
११ दुर्मिल (सवैया)
१२ दोधक
१३ द्रुतविलम्बित
१४ भुजगप्रयात
१५ मदाक्रान्ता
१६ मतगयन्द (सवैया)
१७ मदिरा (सवैया)
१८ मालिनी
१९ मुक्तहरा (सवैया)
२० वशस्थ
२१ वसततिलका
२२ विद्युन्माला
२३ शार्दूलविक्रीडित
२४ शिखरिणी
२५ स्रग्धरा

नीचे इन छन्दोका परिचय उदाहरण सहित दिया जा रहा है।

मात्रिक छन्द

१ *अमृतध्वनि—*

इस छन्दमे छह चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरणमे २५ मात्राएँ होती हैं। आदिमे एक दोहा रहता है। छह चरण होनेसे इसे कोई-कोई अलिपद भी कहते हैं। इस छन्दका प्रयोग वीररसका वर्णन करनेमे होता है। महाकवि भूषणने इसका प्रयोग किया है।

दिल्लिय दलन दबाय करि सिव सरजा निरसंक।
लूटि लियो सूरति सहर बंकक्करि अति डक॥
बंकक्करि अति डंकक्करि असि सकक्कुलिखल।
सोचच्चकित भरोचच्चलिय बिमोचच्चखजल॥
तट्ठट्ठइमन कट्ठट्ठिक सोइ रट्ठट्ठिल्लिय।
सद्दिद्दिसि दिसि भद्दद्दबिभइ रद्दद्दिलिय॥

२. *अरिल्ल*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरणमे १६ मात्राएँ होती है। अन्तमे या तो यगण हो या दो लघु। इसके किसी चरणमे जगण न होना चाहिए।

ईश्वर ही है सब सुखदाता।
भक्तोंका वह सब विधि ज्ञाता॥
इसीलिये भव मोह छोड़कर।
रहो उसीसे नेह जोड़कर॥

३. *आर्या*

इसके प्रथम और तृतीय चरणमे बारह-बारह, द्वितीय चरणमें अट्ठारह और चतुर्थ चरणमे पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक चरणके अन्तमे गुरु होता है।

रामा रामा रामा, आठौ यामा जपौ यही नामा।
त्यागौ सारे कामा, पैहौ बैकुण्ठै बिस्रामा॥

४ *आल्हा*

इस छन्दमे ३१–३१ मात्राओके चार चरण होते हैं तथा १६ और १५ मात्राओपर यति होती है। इसका एक लक्षण यह भी है कि पहले चौपाई छन्दका एक चरण रखकर फिर चौपईका एक चरण रख दिया जाय। अन्तमे गुरु-लघु होता है।

मुर्चा लौटो तब नाहरको, आगे बढ़े पिथौराराय।
नौ सै हाथिनके हलकामाँ, अकले घिरे कनौजीराय॥
सात लाखसे चढ़्यो पिथौरा, नदी बेतवाके मैदान।
आठ कोस लौं चलै सिरोहीं, नाहीं सूझै अपुन बिरान॥

इस छन्दको वीर छन्द भी कहते हैं।

५. *उल्लाल*

इसके पहले और तीसरे चरणमें १५-१५ तथा दूसरे और चौथे चरणमें १३-१३ मात्राएँ होती हैं—

सब भाँति सुशासित हों जहाँ,
समताके सुखकर नियम।
बस उस स्वतन्त्र ही देशमें,
जागें हे जगदीश हम॥

६. *उल्लाला*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमे आठ और पॉच मात्राओपर यति होती है। गुरु-लघुका कोई नियम न होनेपर भी इसकी ग्यारहवीं मात्रा प्रायः लघु रहती है—

काव्य कहा बिन, रुचिर मति।
मति सुकहा बिन, ही बिरति॥
बिरतिउ लालजु, पाल भल।
चरणनि होय जु, सुरति भल॥

७. *कुण्डल*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरणमे १२ और १० पर यति देकर २२ मात्राएँ होती हैं। अन्तमे दो गुरु होते हैं—

सीतापति रामचन्द्र, रघुपति रघुराई।
बिहँसत मुख मन्द-मन्द, सुन्दर सुखदाई॥
कीरति ब्रह्मण्डऽखण्ड, तीन लोक छाई।
हरख निरखि तुलसिदास, चरणनि रज पाई॥

जिस कुण्डलके अन्तमे एक ही गुरु हो उसे उडियाना कहते हैं—

ठुमुकि चलत रामचन्द्र बाजत पैजनियाँ।
धाय मातु गोद लेति, दसरथकी रनियाँ॥

८ *कुण्डलिया*

छह चरणोके इस छन्दके प्रत्येक चरणमे २४ मात्राएँ होती हैं। प्रथम दो चरण दोहाके दो 'दल' होते है और शेष चार चरण रोलाके चारो चरण। इसमे पहले चरणका पहला शब्द और अन्तिम चरणका अन्तिम शब्द एक ही होता है। दोहेका चौथा चरण रोलाका पहला चरण हुआ करता है। रोला छन्द काव्य रोला होना चाहिए। इसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक चरणकी ग्यारहवीं मात्रा लघु होती है—

साईं ये न विरुद्धिए कवि पंडित गुरु यार।
बेटा बनिता पौरिया यज्ञ करावनहार॥
यज्ञ करावनहार राजमंत्री जो होई।
बिप्र परोसी बैद आपको तपै रसोई॥
कह गिरधर कविराय युगनतें यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिए बनि आवै साईं॥

६. *गीति*

इस छन्दके पहले और तीसरे चरणमे १२ तथा दूसरे और चौथे चरणमे १८ मात्राएँ होती हैं। अन्तमे गुरु होता है—

रामा रामा रामा, आठौ यामा जपौ यही नामा।
त्यागौ सारे कामा, पैहौ अन्तै हरि जू को धामा॥

१०. *गीतिका*

इस छन्दमे चार चरण होते है और प्रत्येक चरणमे १४–१२ मात्राओ पर यति होती है। अन्तमे लघु-गुरु होता है। इसमे तीसरी, दसवीं,

सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रा लघु रहनी चाहिए तथा अन्तमें रगण हो तो छन्द श्रुति मधुर हो जाता है—

मातृभू सी मातृभू है, अन्यसे तुलना नहीं।
यत्नसे भी ढूँढ़ने पर, मिल नहीं सकती कहीं॥
जन्मदात्री भी हमारी, प्रेममें विख्यात है।
किन्तु वह भी मातृ भू के, सामने बस मात है॥

११. चौपई

इस छन्दमे चार चरण होते है तथा प्रत्येक चरणमे १५ मात्राएँ होती है। अन्तमे गुरु-लघु होते है—

उपवनमें अतिभरी उमग,
कलियाँ खिलती हैं बहुरग।
पर मिलता है उसको मान,
जो है सुखद सुगध निधान॥

१२ चौपाई

इस छन्दमे चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमे १६ मात्राएँ होती हैं। अन्तमे गुरु-लघु न आना चाहिए—

बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि-सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥

हिन्दीमे गोस्वामी तुलसीदास और जायसीकी चौपाइयाँ बहुत प्रसिद्ध है। चौपाई छन्द मुख्यतः अवधी भाषाका है क्योकि यह उसीमे मधुर लगता है।

१३. छप्पय

इस छन्दमे छह चरण होते हैं। पहले चार चरण रोलाके और अन्तके दो चरण उल्लालके। रोलामे ११, १३ पर यति होती है और उल्लालमे १५, १३ पर।

कतहुँ बिटप भूधरहिं, फारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजिसों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत ॥
चरन चोट चटकनन, चोट अरि उर-सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत, बीर बारिद् जिमि गज्जत ॥
लगूर लपेटत पटकि भट, जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवननन्दन अटल, जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत ॥

छप्पय वीरगाथा कालका प्रधान छन्द है।

१४ *झूलना*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरणमे ७, ७, ७, ५ पर यति होती है तथा अन्तमे गुरु-लघु होता है—

मुनि राम गुनि, बान युतगल, झूलनप्रथम, मतिमान।
हरि राम विभु, पावन परम, जन हिय बसत, रतिजान ॥
यदुबंस प्रभु, तारणतरण, करुणायतन, भगवान।
जिय जानि यह, पछिताय फिर, क्यों रहत हौ, अनजान ॥

१५. *तोमर*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमे १२ मात्राएँ होती है। अन्तमे गुरु-लघु होता है—

तब चले बान कराल।
फुंकरत जनु बहु ब्याल ॥
कोपेउ समर श्रीराम।
चले बिसिख निसित निकाम ॥

१६. *त्रिभगी*

चार चरणोके इस छन्दके प्रत्येक चरणमे ३२ मात्राएँ होती हैं। १०, ८, ८, ६ पर यति होती है। अन्तमे गुरु होना चाहिए। जगणका प्रयोग न होना चाहिए—

जेहि पद सुर सरिता, परम पुनीता, प्रगट भई सिव, सीस धरी।
सोइ पद पकज, जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ, कृपालुहरी॥
एहि भाँति सिधारी, गौतमनारी, बार बार हरि, चरन परी।
जो अतिमन भावा, सो बरु पावा, गइ पति लोक, अनद भरी॥

१७. *दिग्पाल*

इस छन्दमें चार चरण २४-२४ मात्राओके होते हैं, जिनमे १२-१२ मात्राओपर यति होती है। इसकी पांचवीं और सत्रहवीं मात्रा लघु होती है—

होता विशाल वह ही, करता सुनाम अपना।
वह धन्य-नाम प्राणी, जो देखता न सपना।
सुन बात मित्र मेरी, मत खो समय अभी को।
सब भेद-भाव तजकर, अपना समझ सभी को॥

१८. *दोहा*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं। पहले और तीसरे चरणमे १३-१३ तथा दूसरे और चौथे चरणमे ११—११ मात्राएँ होती हैं। पहले और तीसरे चरणके आदिमे जगण न पडना चाहिए और दूसरे और चौथे चरणके अन्तमे लघु पडना चाहिए—

श्रीगुरु चरन सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधारि।
बरनौं रघुबर बिमल जस, जो दायक फल चारि॥

१९ बरवै

इस छन्दमे चार चरण होते हैं। पहले और तीसरे चरणमे १२-१२ तथा दूसरे और चौथे चरणमे ७—७ मात्राएँ होती हैं। दूसरे और चौथे चरणके अन्तमे जगण आनेसे छन्दका श्रुति-माधुर्य बढ जाता है—

आग लागि घर जरिगा, बिधि भल कीन।
पियके हाथ घइलवा, भरि भरि दीन॥

यह छन्द भी मुख्य तया अवधी भाषाका है। गोस्वामी तुलसीदास और रहीमके बरवै अधिक प्रसिद्ध हैं।

२०. *रूपमाला*

इसके प्रत्येक चरणमे १४-१० मात्राओकी यतिसे २४ मात्राएँ होती है। इस छन्दमे चार चरण होते है। अन्तमे गुरु-लघु होना चाहिए। आरम्भमे गुरु लघु गुरु रखनेसे छन्द उत्तम बन जाता है—

जात है जित बाजि 'केसव', जात है तित लोग।
बोलि बिप्रन दान दीजत, तत्र तन्त्र सुभोग॥
वेणु वीण मृदङ्ग बाजत, दुन्दुभी बहु भेव।
भाँति भाँतिन होत मंगल, देव से नरदेव॥

इसे मदन छन्द भी कहते है।

२१ *रोला*

इस छन्दमे २४-२४ मात्राओके चार चरण होते है। ११-१३ मात्राओपर यति होती है। कुछ लोगोका मत है कि अन्तके दो वर्ण गुरु होने चाहिएँ। इसके प्रत्येक चरणकी ग्यारहवीं मात्रा जब लघु होती है तब उसे काव्य छन्द कहते है। कुण्डलियाका रोला वस्तुतः काव्य छन्द ही होना चाहिए—

साधारण रोला

जीती जाती हुई, जिन्होंने भारत-बाजी।
निज बलसे मल मेट, विधर्मी मुगल-कुराजी॥
जिनके आगे ठहर, सके जगी न जहाजी।
हैं ये वही प्रसिद्ध, छत्रपति भूप शिवाजी॥

काव्य रोला

भुज उठाइ हरषाइ, बाँकुरौ बिरद सँवार्यौ।
दियौ बिसद बर राज, भूपकौ काज सँवार्यौ॥
हम लैहै सिर गंग, दग जग होहि जाहि ज्वै।
यौ कहि अंतर्धान भए, नृप रहे चकित ह्वै॥

२२. *लावनी*

इस छन्दमे ३०-३० मात्राओंके चार चरण होते हैं। १६-१४ पर यति होती है तथा लघु-गुरुका नियम न होनेपर भी अन्तमे दो गुरु आनेसे छन्द श्रुति मधुर हो जाता है—

ब्रज ललना जसुदासों कहतीं, अरज सुनो इक नँदरानी।
लाल तुम्हारे पनघट रोकै, नहीं भरन पावत पानी॥
दान अनोखो हमसों माँगैं, करैं फजीहत मनमानी।
भयो कठिन अब ब्रजको बसिबो, जतन करो कछु महरानी॥

२३ *सार*

चार चरणोके इस छन्दमे पहले और तीसरे चरणमे १६-१६ तथा दूसरे और चौथे चरणमे १२-१२ मात्राएँ होती हैं। अन्तमे दो गुरु होते हैं—

ललक रही थी ललित लालसा, सोमपानकी प्यासी।
जीवनके उस दीन विभवमे, जैसी बनी उदासी॥

२४ *सोरठा*

यह छन्द दोहेका ठीक उलटा है। इसके पहले और तीसरे चरणमे ११-११ और दूसरे तथा चौथे चरणमे १३-१३ मात्राएँ होती है—

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुनाअयन।
जाहि दीनपर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन॥

२५. *हरिगीतिका*

चार चरणके इस छन्दके प्रत्येक चरणमे १६–१२ की यति देकर २८ मात्राएँ होती हैं तथा अन्तमे लघु-गुरु होता है।

निज पूर्वजोंके सद्गुणोंका, गर्व जो रखती नहीं।
वह जाति जीवित जातियोंमें, रह नहीं सकती कहीं॥
हम भारतीयोंको सदासे, रत्न जैसे प्राप्त है।
ससार में किस जातिको, किस ठौर वैसे प्राप्त है॥

वर्णवृत्त

१ *अनुष्टुप*

हिन्दीमे इस छन्दका प्रयोग प्रायः नहीं होता। संस्कृतमे इसका प्रयोग अन्य छन्दोकी अपेक्षा अधिक हुआ है। इसे श्लोक भी कहते हैं। इसके चारो चरणोका पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु होता है। दूसरे और चौथे चरणमे सातवाँ वर्ण भी लघु होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वर्णोंका और कोई नियम नहीं है।

राम रामेति रामेति, रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने॥

२ *इन्द्रवज्रा*

इसके प्रत्येक चरणमे दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं—

मै जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ।
भाता मुझे सो नव मित्र सा है॥
देखूँ उसे मैं नित बार बार।
मानो मिला मित्र मुझे पुराना॥

३. *उपेन्द्रवज्रा*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे जगण, तगण, जगण और दो गुरु होते हैं—

कहीं वहीं भूल न जाइएगा।
पधारिए सत्वर आइएगा॥
बने स्वय सत्पथ सौख्यकारी।
सुकर्म हों विघ्न - विपत्ति - हारी॥

४. *कवित्त (दण्डक)*

दण्डक वृत्त उन छन्दोंको कहते हैं जिनमे २६ से अधिक वर्णोंका प्रयोग होता है। इन दण्डक वृत्तोंमें भी वे छन्द मुक्तक कहे जाते हैं जो

गणोंके बन्धनसे मुक्त रहते हैं और जिनमे वर्णों (अक्षरों) की संख्याका ही नियम माना जाता है। इनमे कहीं-कहीं लघु-गुरुका नियम होता है। हिन्दीमे केवल कवित्त और घनाक्षरी (देव-घनाक्षरी और रूप-घनाक्षरी) ये तीन ही छन्द प्रचलित हैं।

कवित्तको कुछ लोग मनहर या मनहरण भी कहते हैं। इसके प्रत्येक चरणमे आठ-आठ और नव-छहकी यतिसे ३१ वर्ण होते हैं। इसका अन्तिम वर्ण गुरु होता है—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड बीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरि कै।
महाबलपुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ-तहाँ पटके लँगूर फेरि-फेरि कै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात हाहा खात,
कहैं 'तुलसीस ! राखि, रामकी सौं टेरि कै।
ठहर-ठहर परे, कहरि-कहरि उठैं,
हहरि, हहरि हरु सिद्ध हँसे हेरि कै॥

५. *किरीट (सवैया)*

२२ वर्णोंसे लेकर २६ वर्णोंकी संख्या तकके छन्दोको सवैया कहते हैं। किरीट भी सवैया छन्द है जिसमे आठ भगण (ऽ।।) होते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरिको जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्बकी डारन॥

६ *घनाक्षरी-रूप (दण्डक)*

रूपघनाक्षरीमे ८, ८, ८, ८ की यतिसे प्रत्येक चरणमे ३२ वर्ण होते हैं। अन्तमे गुरु-लघु आते हैं—

सखीके सकोच गुरु सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि-सिसकि निसि खोई रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा
हाय हाय करि पछिताय, न कछू सुहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढारि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

७. घनाक्षरी देव (दण्डक)

देव घनाक्षरीके प्रत्येक चरणमे ८, ८, ८, ९ की यतिसे ३३ वर्ण होते है। अन्तमे तीन लघु आते है—

झिल्ली झनकारै पिक, चातक पुकारै बन,
मोरनि गुहारै उठै, जुगनू चमकि चमकि।
घोरघन कारे भारे, धुखा धुरारे धाम,
धूमनि मचावैं नाचै, दामिनी दमकि-दमकि।
झूकनि बयार बहै, लूकनि लगावै अंग,
हूकनि भभूकनि की, उरमें खमकि-खमकि।
कैसे करि राखौ प्राण, प्यारे 'जसवन्त' बिना,
नान्हीं नान्हीं बूँद झरै, मेघवा झमकि-झमकि॥

धुखा = बादल

८. चकोर (सवैया)

इस सवैयेके प्रत्येक चरणमे ७ भगण (ऽ।।) और अन्तमे एक गुरु तथा एक लघुवर्ण होता है—

सावन आय समीप लगो तब नारिके प्रान बचावन काज।
बादर दूत बनावनकों कुसलात सदेस पठावन काज॥
कूटज फूल नए कर लै मन कल्पित अर्घ बनावन काज।
बोल उठ्यो हँसते मुख ह्व वह मेघ तें प्रीति बढ़ावन काज॥

९. *तोटक*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरणमे चार सगण (।SS) होते हैं—

जय राम सदा सुखधाम हरे।
रघुनायक सायक चाप धरे॥
भववारण दारण सिंह प्रभो।
गुणसागर नागर नाथ विभो॥

१०. *दीपकमाला*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं तथा प्रत्येक चरणमे भगण, मगण, जगण (S।।, SSS, ।S।) और अन्तमे गुरु होता है—

भामज गोकन्या सखी बरी,
देखत द्वै खंडा धनू करी।
मडप के नीचे अरी अली,
दीपकमाला-सी लसै लली॥

भामज = रामचन्द्र, गोकन्या = सीता

११. *दुर्मिल (सवैया)*

इस सवैयेके प्रत्येक चरणमे आठ सगण (।SS) होते हैं—

इसके अनुरूप कहैं किसको वह कौन सुदेश समुन्नत है।
समझें सुरलोक समान इसे उनका अनुमान असंगत है॥
कवि कोविद वृन्द बखान रहे सबका अनुभूत यही मत है।
उपमान विहीन रचा विधिने बस भारतके सम भारत है॥

कोई-कोई इसे चन्द्रकला भी कहते है।

१२. *दोधक*

इस छन्दमे चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरणमे तीन भगण (S।।) और अन्तमे दो गुरु वर्ण होते हैं—

भागु न गो दुहि दे नँदलाला, पाणि गहै कहतीं ब्रजबाला।
दोध करैं सब आरत बानी, या मिस लै गृह जात सयानी॥

दोध = बछड़े

१३. *द्रुतविलम्बित*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे एक नगण (।।।), दो भगण (ऽ।।) और एक रगण (ऽ।ऽ) होता है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभकी प्रभा ॥

१४. *भुजगप्रयात*

भुजगप्रयातके प्रत्येक चरणमे चार यगण (।ऽऽ) होते है-

तुझे बध बाधा सताती नहीं है,
मुझे सर्वदा मुक्ति पाती नहीं है।
प्रभो शकरानन्द आनन्ददाता,
मुझे क्यो नहीं आपदासे छुड़ाता ॥

१५. *मन्दाक्रान्ता*

मन्दाक्रान्ताके प्रत्येक चरणमे मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), तगण (ऽऽ।), तगण (ऽऽ।) और दो गुरु होते हैं—

नाना चिन्ता सहित दिनको राधिका थीं बिताती,
आँखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती।
शोभावाले जलद बपु की हो रही चातकी थीं,
उत्कण्ठा थीं परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थीं॥

१६. *मत्तगयन्द (सवैया)*

इस सवैयेके प्रत्येक चरणमे सात भगण (ऽ।।) और दो गुरु होते हैं तथा चौथे, दसवें और सत्रहवें वर्णपर यति होती है—

हो रहते तुम नाथ जहाँ, रहता मन साथ, सदैव वहीं है।
मजुल मूर्ति बसी उर में, वह नेक कभी टलती न कहीं है ॥
लोलुप लोचनको दिखती, वह चारु घटा सब काल यहीं है।
है वह योग मिला हमको, जिसमे दुख-मूल वियोग नहीं है ॥

१७. *मदिरा (सवैया)*

इस सवैयेके भी प्रत्येक चरणमे सात भगण (ऽ ।।) होते हैं किन्तु अन्तमे गुरु वर्ण एक ही होता है—

राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं कौन, कवै रिपु जीत्यो कहाँ ?
बालि बली, छल सों, भृगुनन्दन गर्व हरो, द्विज दीन महा ॥
दीन सो क्यों ? छिति छत्र हत्यो, बिन प्रानिनि हैहय राज कियो ।
हैहय कौन ? वहै, बिसर्‍यो, जिन खेलत ही तुम्हें बाँधि लियो ॥

१८ *मालिनी,*

दो नगण (।।।, ।।।), मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ, ।ऽऽ) का मालिनी छन्द होता है । आठवे वर्णपर यति होती है-

यदि दिन कट जाता, बीतती थी न दोषा,
यदि निशि टलती थी, वार था कल्प होता ।
पल पल अकुलाती, ऊबती थीं यशोदा,
रट यह रहती थी, क्यों नहीं श्याम आए ॥

१९ *मुक्तहरा (सवैया)*

इस सवैयेमें आठ जगण (। ऽ ।) काएक चरण होता है—

लसैं रद उज्ज्वल मोति समान वुही छवि मोहिनि मंजु रसाय ।
मनोहर है तिन सों दोउ ओंठ वुही श्रुति सोभा रही सरसाय ॥
भले दृग श्यामल औ रतनार सुहावत जद्यपि तेज जनाय ।
तऊ इनमें बिलसै वुही चारु प्रिया के कटाच्छन की समताय ॥

२०. *वशस्थ*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे जगण (।ऽ।), तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ) होते हैं—

परन्तु सन्ध्या अवलोक आगता,
मुकुन्द के बुद्धिनिधान बन्धु ने ।
समस्त गोपीजनको प्रबोध दे,
समाप्त आलोचित वृत्तको किया ॥

२१. *वसन्ततिलका*

वसन्ततिलकाके प्रत्येक चरणमे तगण (SSI), भगण (SII) और दो जगण (ISI, ISI) तथा दो गुरु वर्ण होते हैं—

भूमें रमी शरद की कमनीयता थी,
नीला अनन्त नभ निर्मल हो गया था।
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा,
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती॥

२२. *विद्युन्माला*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे दो मगण (SSS, SSS) और दो गुरु वर्ण होते है—

मोंमें गगा थारी भक्ती, बाढ़ै ऐसी दीजै शक्ती।
थारी वारी बीची जाला, देखे लाजै विद्युन्माला॥

२३ *शार्दूलविक्रीडित*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे १९ वर्ण मगण (SSS), सगण (IIS) जगण (ISI), सगण (IIS), तगण (SSI), तगण (SSI) और एक गुरु वर्ण के क्रमसे होते है। इसमे बारहवें और उन्नीसवें वर्णपर यति होती है—

आते ही मुख म्लान देख हरिका, वे दीर्घ उत्कण्ठ हो,
बोले क्यो इतने मलीन प्रभु है? है वेदना कौन सी?
फूले पुष्प विमोहिनी विकचता, क्या हो गई आपकी?
क्यों है नीरसता प्रसार करती, उत्फुल्ल अंभोज में॥

२४ *शिखरिणी*

इस छन्दके प्रत्येक चरणमे छह और ग्यारहकी यतिसे सत्रह वर्ण होते है जिसमे यगण (ISS), मगण (SSS), नगण (III), सगण (IIS), भगण (SII) और लघु-गुरु होते हैं—

अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से,
बना जो देती थी बहु गुणमयी भू बिपिन की।
निराले फूलों की विविध दलवाली अनुपमा,
जड़ी बूटी नाना बहु फलवती थीं बिलसती॥

२५. स्रग्धरा

स्रग्धरा छन्दके प्रत्येक चरणमे २१ वर्ण—मगण (SSS), रगण (SIS), भगण (SII), नगण (III), और तीन यगण (ISS, ISS, ISS) होते हैं। इसमें प्रत्येक सातवें वर्णपर यति होता है—

मोरे भौने ययूको, कहहु सुत कहाँ, ते लिए आवते हो?
भा का आनंद आजी, तुम फिरि फिरि कै, माथ जो नावते हो।
बोले माता बिलोक्यो, फिरत सहचमू, बाग में स्रग्धरे ज्यों,
काढ़ी माला रु मारे, बिपुल रिपु बली, अश्व लो जीति के त्यों॥

भौने = भवनमे, ययू = यज्ञका अश्व, आजी = आज, स्रग्धरे = माला (स्रक्) धारण किए हुए (वरे)।

यह तो हुई प्राचीन परम्परानुसार छन्द रचनेकी बात। ऊपर कहा गया है कि इधर हिन्दीमे कुछ ऐसी रचनाए देखनेमे आई हैं जिनमे (१) समान रूपसे मात्राओ और वर्णोंके नियमका पालन किया गया है तथा अँगरेजीके ढगपर (२) अतुकान्त छन्दोमे (३) विषम चरणोमे या (४) छोटे बड़े चरणोमे रचनाए प्रस्तुतकी गई है। नीचे प्रत्येक प्रकारकी रचनाके एक एक उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१) ऊपरको जल सूख, सूखकर उड़ जाता है।
सरदीसे सकुचाय, जलद पदवी पाता है॥
पिघलावे रवि‌ताप, धरातल पै गिरता है।
बार-बार इस भाँति, सदा हिरता फिरता है॥

यह रोलाछन्द है, किन्तु कविने इसके प्रत्येक चरणमे १७ ही वर्णोंका प्रयोग किया है और यति आठ एव नव वर्णोंके पश्चात् रक्खी है इस प्रकार एक ढगके वर्णवृत्तका निर्वाह करके उभय वृत्तका उदाहरण उपस्थित किया है।

(२) सस्कृतका काव्य साहित्य तुकके बन्धनसे परे है। हिन्दीमे आरम्भसे ही तुकका विधान चला आया है। आचार्य पडित महावीर प्रसाद द्विवेदीने सर्व प्रथम इसके बहिष्कारका प्रस्ताव किया। उनपर उस समय मराठीका प्रभाव था। इसके अनन्तर अँगरेजीकी देखादेखी कई कवि इस ओर प्रवृत्त हुए। नीचे इसका एक उदाहरण दिया जा रहा है—

मै जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ,
भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मै नित बार-बार,
मानो मिला मित्र मुझे पुराना॥

(३) हाल हिन्दुआनको बेहाल बनि जातो बस
माल मूसि-मूसि मुसलिम जन खावतो।
लूटि जाती लाज अरु टूटि जाती टाँग, माँग
भारतकी भूमि भाल और को भरावतो।
फूटि जातो करम-धरम धन छूटि जातो
मरम न परम पुनीत बतरावतो—
लागतो न बानक बहादुरीको बीरन की,
देस भर भरम भयानक मो छावतो—
सिक्खन जगातो दुरभिक्खन भगातो कौन
जौ न गुरु नामक अचानक मो आवतो॥

यह कवित्त है, जिसमे नियमानुसार चार चरण होने चाहिएँ, पर यहाँ पाँच चरण हैं। आजकलके बहुतसे गीतकार सम विषम चरणोका कुछ भी विचार नहीं करते।

(४) मेरा आकुल क्रन्दन—
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायुमे भरती करुण मरोर
बढती है तेरी ओर
मेरे ही क्रन्दनसे उमड़ रहा यह तेरा सागर—
सदा अधीर।

इस कवितामे छन्द, तुक, मात्रा, वर्ण आदि किसी भी नियमका पालन नहीं किया गया है। इसके किसी चरणमें पाँच ही वर्ण हैं तो किसीमे उन्नीस। ऐसे छन्द श्री सूर्यकान्त त्रिपाठ निरालाने चलाए थे, जो योरपसे बंगाल होते हुए हिन्दीमे आए परन्तु अब यह चलन समाप्त-सी हो गई है।

———

सप्तम खंड

शैली

१

भाषा शैली

भाषा संयोजनके वैचित्र्यको ही शैली कहते हैं। यों तो काव्य या साहित्यके रूप—नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता आदि भी अभिव्यक्ति-शैलियाँ या रूप-शैलियाँ ही हैं और रचना-कौशल (टेकनीक) भी विषय प्रस्तुत करनेकी शैली ही है किन्तु शैली (डिक्शन या स्टाइल) शब्दका रूढ अर्थ है भाषा-शैली।

देमेत्रियसका मत

फ्लेरमके देमेत्रियसने पहली शताब्दी ईसवीमें एक पुस्तिका लिखी थी जिसमें उसने शैलीके चार भेद माने हैं—१. उदात्त (एलीवेटेड), २. सुरुचिपूर्ण तथा ललित (ऐलिगैन्ट), ३. सरल (प्लेन) और ४. ओजस्वी (फोर्सफ़ुल)।

शैली (स्टाइल)

शैली या स्टाइल शब्द लातिनके स्ताइलस (कलम) शब्दसे निकला है जो मोम लिपटे हुए पट्टोंपर लिखनेके काम आता था। पीछे चलकर यह शब्द कलमके बदले सुन्दर लिखनेवालेके लिये प्रयुक्त होने लगा। धीरे-धीरे उसके अर्थका विकास हुआ और आजकल समीक्षक-द्वारा किसी लेखकके गुणके स्वीकृत या अस्वीकृत होनेके लिये ही यह प्रयुक्त होता है।

अरस्तू-सम्प्रदायके समीक्षक शैलीको एक व्यापक शब्द मानते हैं। वे शैलीको 'तत्त्व' न समझकर 'अनेक तत्त्वोकी उपज' मानते हैं। उनके अनुसार जितने लेख है उतनी ही शैलियाँ हैं। ये शैलियाँ प्रकार और अंशमे भिन्न होती हैं। इसके अनुसार मूल शैली भी अनेक शाखाओ-प्रशाखाओमे विभक्त होकर व्यक्तिगततक पहुँच जाती है। बफोनका मत है कि 'शैली मनुष्य ही है।' शौपेनहावरका मत है कि 'शैली मस्तिष्ककी मुखमुद्रा है।' न्यूमैनका कथन है कि 'भापामे विचार करना ही शैली है।' शैलियोका परीक्षण करनेपर प्रतीत होता है कि ये सब सात शीर्षकोमे बाँधी जा सकती हैं—१. लेखकके नामपर चलनेवाली जैसे—बाणकी शैली या होमरकी शैली, २. समयके अनुसार, जैसे—मध्यकालीन शैली, ३. भाषा या माध्यमके अनुसार, जैसे—जर्मन शैली या प्रगीत शैली, ४. विषयके अनुसार, जैसे—दार्शनिक शैली, ५ भौगोलिक स्थानके अनुसार, जैसे—गौडी रीति, चीनी शैली या विग्सिगेट शैली, ६. पाठकोके अनुसार, जैसे—सर्वबोध शैली, ७. उद्देश्यके अनुसार, जैसे—विनोद-शैली या हँसोड शैली।

काव्य-शैली

अरस्तू और दाँते आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वानोने कहा है कि 'कविको अत्यन्त उदार (लिबरल) और भव्य (ग्रैन्ड) शब्दावलीका प्रयोग करना चाहिए।' कभी-कभी कुछ कवियोने जान बूझकर अपनी भाषा कृत्रिम रूपसे अलकृत और दुरूह कर दी है। वर्ड्स्वर्थने इस अलङ्करण-शैलीके विरुद्ध विद्रोह करते हुए कहा है कि 'काव्यमे भी गद्यकी भापाका प्रयोग होना चाहिए।' इसीपर बीसवीं शताब्दीके कुछ अतिरेक करनेवालोने बहुतसे ग्रामीण, लौकिक और व्यावसायिक शब्दोका प्रयोग करते-करते विदेशी शब्दो और अश्लील शब्दोतकका प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकारकी काव्य-शैली नितान्त दोषपूर्ण है क्योकि गद्यके शब्दोसे कविताके शब्द भिन्न होने ही चाहिएँ और वह भी केवल अर्थकी दृष्टिसे नहीं वरन्

इस दृष्टिसे कि उनमे सचेतनता, भाव-विशदता और अन्तर्व्याप्त ध्वनि भी हो।

प्रभाववादी शैली (एक्रीतूरे आर्तिस्ते)

फ्रान्समे गोनकोर बन्धुओने भावकनापूर्ण प्रभाववादी शैली (एक्रीतूरे आर्तिस्ते) चलाई जिसमे विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये उन्होने प्रायः व्याकरण तथा वाक्य-विन्यासके नियमोको उपेक्षा की। इस शैलीका प्रभाव पीछेके फ्रान्सीसी साहित्यपर बहुत पडा।

उद्धत शैली (बारोक)

पिछले दो सौ वर्षोंमे योरोपमे एक नई शैलीका कोलाहल मचा है जिसे उद्धत (बारोक) शैली कहते है।

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकना कि 'उद्धत (बारोक) शैलीका उद्गम कहाँसे हुआ' किन्तु इसका सर्व प्रथम प्रयोग अट्ठारहवीं शताब्दीमे उदात्तवादी समीक्षकोने कलाके लिये किया था, जिसमे पिछली शताब्दीमे व्याप्त उदात्तवादी रुचिकी निन्दा की गई थी।

साहित्यमे उद्धत (बारोक) वह शैली मानी जाती है, जो अनिश्चित तथा अनन्तको ग्रहण करके निश्चितका परित्याग करती है, जो गतिशीलता लानेके लिये एकरूपता, सुसङ्गतता और अनुपातका परित्याग कर देती है, जो विरोधात्मक और विस्फोटात्मक तत्त्वोका प्रयोग अधिक उपयुक्त समझती है, जो सनकभरे, आश्चर्य-जनक, खेलभरे, अप्रयुक्त, कठोर ध्वनिवाले और ऊर्मिमय भाषा-प्रयोगको अधिक श्रेष्ठ समझती है। बारोक लेखक की यह पहचान है कि 'वह असन्तुलित हो, कामुकता और आध्यात्मिकताके बीचमे लडखडाता हो, माया और मृत्युके बीचमे उलझा हुआ हो और अत्यन्त तीव्र आवेगोंसे परिचालित होकर अव्यक्त और अप्राप्यके लिये उत्सुक रहता हो।'

लेखन और शैलीका सम्बन्ध

हमारे यहाँ भाषाकी दृष्टिसे अभिव्यक्ति की दो रीतियाँ बतलाई जाती हैं, जिन्हें 'शैली' और 'शक्ति' कहते हैं। परन्तु शक्ति तो शैली-

विशेषका ही एक गुण है। शैलीके अन्तर्गत दो बातें आती हैं—१. विषय और २. भाषा। विषय और भाषाके भी दो-दो विभाग हैं। विषयमे १. पहली बात है विषयान्तर्गत दृश्यका वर्णनात्मक चित्र और २. दूसरी बात है विषयान्तर्गत मानव-चरित्र या भावका वर्णन।

शब्द और अर्थ

लिखने और बोलनेमे शब्दभेदके कारण अर्थभेद होता है पर कभी-कभी केवल बोलनेमे उच्चारण-भेदसे भी अर्थभेद हो जानेकी सम्भावना रहती है। अर्थभेद तीन प्रकारका होता है, जिसे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ कहते है। तीनोका एक एक उदाहरण लीजिए—

१. मै शिमलेमे रहता हूँ (मैं शिमला नामक नगरमे रहता हूँ)।

२ मै शिमलेमे रहता हूँ (मै शिमला नगरके आसपास रहता हूँ)। इस लक्ष्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग लिखते है—'यह समझिए कि मैं शिमलेमे ही रहता हूँ।'

३ मै शिमलेमे रहता हूँ (मैने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि मुझे अपने काशीवाले घरमे ही वह ठण्ढक और तरावट मिल जाती है जो शिमलेमे प्राप्त हो सकती है)। इस वाक्यके व्यग्यार्थको अधिक स्पष्ट करनेके लिये लोग प्रायः इस प्रकार लिखते-बोलते हैं—'मैंने तो काशीको ही शिमला बना लिया है।'

उक्त उदाहरणमे एक ही वाक्य केवल अर्थभेदके कारण वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थका उदाहरण बन गया है।

शैलियाँ

प्रभावोत्पादक होना ही शैलीका प्रमुख गुण है। इस गुणकी प्राप्तिके चार उपाय हैं—१. भावकता, २. तर्क, ३. आवृत्ति और ४. प्रमाण। भावकतावाली आवेगात्मक शैली वहाँ कानमे लानी चाहिए, जहाँ जन-समूहको सम्बोधित करके उसके हृदयको वशमे करना हो। इसका प्रभाव सदा क्षणिक होता है। विद्वानोमे आदर पानेके लिये तर्क-शैली सदा भारी सहारा देती है। किसी बातको बार-बार दुहराते-समझाते चलनेकी

शैलीका प्रयोग बालको, अपढ लोगो तथा विद्यार्थियोके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। प्रमाण-बहुला शैलीका प्रभाव मध्यम श्रेणीके लोगोपर बहुत पडता है। अत यह समझकर शैलीका प्रयोग करना चाहिए कि हम किसके लिये लिख रहे हैं। विषय उपस्थित करनेकी ऐसी अनेक शैलियाँ विभिन्न रूपोमे प्राप्त है जिनका विस्तृत सोदाहरण विवरण हम नीचे दे रहे है।

भाषा-शैलियाँ

प्रायः सभी देशोमे विभिन्न रूपोके विषय उपस्थित करनेकी अनेक भाषा शैलियाँ हैं, जिनमे चार अधिक प्रसिद्ध हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिका (कोलोकियल)।

२. सिद्धोक्ति (रूढोक्ति) या मुहावरोसे पूर्ण (इडियोमेटिक)।

३. सस्कृत-निष्ठ साहित्यिक शैली (हाइ स्टाइल)।

४ सब प्रकारके शब्दोसे भरी शैली (ले मैंस स्टाइल)।

नीचे एक ही वाक्यको हम इन चारो शैलियोमे प्रयुक्त कर रहे हैं—

१. ठेठ तद्भवात्मिका शैली—

तड़के तड़के एक बन्दरने आकर मेरी सारी पोथियाँ फाड़ डालीं।

२. रूढोक्ति या मुहावरेसे पूर्ण—

अभी पौ भी नहीं फटी थी कि एक ललमुँहेने आकर मेरी सब पोथियाँ टूक टूक कर डालीं।

३ सस्कृतनिष्ठ साहित्यिक शैली—

प्रात'कालके समय एक शाखामृगने मेरी सम्पूर्ण पुस्तकें नष्ट कर डालीं।

४. अति प्रचलित विदेशी शब्दोसे भरी शैली—

आज सुबू एक बन्दरने मेरी किताबोंके वर्क-वर्क टीअर कर डाले।

विदेशी शब्दोसे भरी शैलीका प्रयोग प्रायः वे लोग करते हैं जो

अपनी भाषाकी शुद्ध प्रकृतिसे अपरिचित होते हैं या जो कई भाषाओंका व्यवहार करते हैं, जैसे कालेजमे पढनेवाले या कचहरीवाले लोग। यह शैली सर्वथा त्याज्य है क्योंकि खिचडी भाषा लिखना या बोलना भाषाका दोष है, गुण नहीं। बहुतसे अँगरेजी पढनेवाले तो ऐसी बेढङ्गी शैलीका प्रयोग करते हैं—

'मैने आज मौर्निङ्गके पेपर्समें यह न्यूज पढ़ी कि इलाहाबादके गुण्डे रईसोंने एक विद्वान्पर झूठा केस चलाया और मजिस्ट्रेटको इन्फ्लुएन्स करके उनका कन्विक्शन करा दिया।

इसी प्रकारकी शैली वह भी है जिसे उर्दू कहते है, जिसमे छाँट-छाँट कर सस्कृतके तत्सम और तद्भव शब्द निकालकर उनके बदले अरबी-फारसी-तुर्की (सेमेटिक भाषाओं) के शब्द भरे जाते हैं। उदाहरण लीजिए—

इमरोज़ बवक्ते शफ़क यक बूज़नाने बन्देकी तमाम कुतुब नेस्तो-नाबूद कर डाली।

राष्ट्रभाषा हिन्दीका प्रचार बढ जानेके कारण भारतकी विभिन्न भाषाओंके मिले-जुले शब्दोंवाली निम्नाकित भाषा-शैली भी हिन्दीमें दिखाई पडने लगी है—

आज सकाल एक बाँदराने आकर मेरी सारी पुस्तके फाड़कर चिंध्या कर दिया।

वाक्योंकी बनावट

शब्द रूप शैलियोके अतिरिक्त वाक्योकी बनावटसे भी शैलीका रूप बनता है। कुछ लोग एक-एक क्रियावाले छोटे-छोटे सरल वाक्य लिखते हैं जैसे—

१. दिन ढल रहा था। एक भौंरा कमलकी पँखुड़ियोंमे घुसकर रस पी रहा था। देखते देखते पँखुड़ियाँ सिमटने लगीं। भौंरा कमलमें बन्द हो गया।

कुछ लोग कई स्वतन्त्र वाक्य मिलाकर बडे-बड़े सयुक्त वाक्य बनाते है—

उधर दिन ढल रहा था इधर एक भौंरा कमलकी पँखड़ियोंमें घुसकर रस पीने लगा पर देखते-देखते पँखड़ियाँ सिमटने लगीं और भौंरा कमलमें बन्द हो गया।

कुछ लोग प्रधान और सहायक वाक्य मिलाकर लम्बे-लम्बे मिश्रित वाक्य बनाकर लिखते है।

जब दिन ढल रहा था तभी एक भौंरा कमलकी पँखड़ियोंमें घुसकर वह रस पीने लगा, जिसके लिये वह उड़कर इतनी दूरसे आया और जिसके कारण वह उस कमलमें बन्द हो गया जिसकी पँखड़ियाँ दिन ढलनेपर सिमट गई।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग तो अलग अलग शब्दोवाले वाक्य लिखते है जैसे ऊपरवाले वाक्योमे है किन्तु कुछ लोग लम्बे-लम्बे समास बनाकर लिखते है—

दिनमणि तेज तीव्रता-विगत दिवस नील धूसर-वर्णान्वित-सन्ध्या-में अनवरत-ताप-जन्य श्रान्ति सुलभ विश्राम लेने चला गया।

कुछ लाग बिना विशेषणके ही पूरी रचना कर डालते है जैसे ऊपरके प्रथम तीन वाक्य-समूहोमे, किन्तु कुछ लोग लम्बे लम्बे विशेषण देकर वाक्य बनाते है, जैसे—

प्रचण्ड लूसे धरतीको झुलसानेवाला, पशु पक्षियोंको गर्मी और प्याससे व्याकुल कर देनेवाला तथा वृक्ष-लता-गुल्मोंको जलाकर सुखा डालनेवाला ज्येष्ठका दिन उष्ण नि.श्वासके साथ ढल रहा था।

इस प्रकार वाक्योंकी प्रकृति विभिन्न प्रकारकी हो जाती है।

विषयानुरूप शब्द योजना

किन्तु इन सबके अतिरिक्त विषयके अनुरूप भी शब्द-योजना होती है अर्थात् यदि शृङ्गारका प्रसङ्ग हो, किसी सुन्दर रमणीक

स्थलका वर्णन हो तब कोमल, श्रुति-मधुर शब्दोंकी योजना की जाती है, जैसे—

नन्दनवनका मन्द गन्धवाह मन्दारके मन्दरकी अमन्द गन्ध अपने नवनन्दित कन्धोंपर आनन्दसे लिए मन्द-मन्द सचरण कर रहा था ।

यदि कोई भयङ्कर स्थान हो, बीहड दृश्य हो, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसका अवसर हो या प्रतापी व्यक्तिका वर्णन हो तब शब्दावली श्रुति-कटु, गम्भीर, घोष महाप्राण तथा द्वित्व वर्णोंसे लदी चलती है। तभी उसका वह समुचित प्रभाव पडता है जिसे आइ० ए० रिचार्डस्ने इमोटिव (भावात्मक) कहा है, जैसे—

अखण्ड ब्रह्माण्डका प्रकाण्ड पाखण्ड अपने प्रचण्ड दोर्दण्डसे डगमगा देनेवाले अपने भास्वर, भव्य भालपर भगवान् भूतभावनकी भूतिमय विभूतिका भासमान त्रिपुण्ड अङ्कित करके भूर्भुवस्वर्लोककी भास्वरताका दुर्दान्त दम्भ विदीर्ण कर डालनेवाले भगवान् परशुराम आप ही हैं ।

सजावट

वाक्योंकी सजावट चार ढङ्गोंसे की जाती है—

१. किसीमें अलङ्कारोंकी छटा होती है (अलङ्करण शैली)।

२. किसीमें कहनेके ढङ्गका अनूठापन होता है (लाक्षणिक शैली)।

३. किसीमें अपनी बात दूसरा या बडे लोगोंकी बातोंके सहारे समझाते चलनेकी लहर होती है (समर्थनात्मक शैली)।

४. किसीमें किसी दूसरेपर बात ढालकर कहनेकी सनक होती है (प्रतीकात्मक शैली)।

नीचे हम सबके साँचे उन्हीं शैलियोंमें दे रहे हैं, जिससे समझनेमें कठिनाई न हो।

अलङ्करण शैली

अलङ्करण-शैली वह है, जिसमे पद-पदपर सुन्दर, शोभन शब्दावलीसे भरे अलङ्कार वैसे ही सजे होते है जैसे रेशमकी सतरङ्गी चादरपर गङ्गा-जमुनी नारोसे बेल बूटे काढ दिए गए हो। शैली वह अभिव्यक्ति-गङ्गा है, जो अपने साथ न जाने कितनी भाव-धाराओके विचार-जलको अपने अङ्कमे समेटकर अपनी भावधारा अविच्छिन्न बनाती हुई उद्देश्य-सिन्धुतक पहुँच जाती हे। शैली वह अलौकिक भल्लिका है जो बिना फलके श्रोताको घायल कर दे, वह मधुबाला है जो बिना मधु पिलाए उन्मत्त बना दे, वह सुधा धारा है जिसे कानसे पीकर मनुष्य अमरत्वको क्षुद्र समझने लगे। कलापूर्ण शैली द्राक्षाके समान मधुर, हिमशिखरकी भाँति समुन्नत, सिन्धुतलके समान गम्भीर, द्वितीयाके चन्द्रमाके समान निष्कलक और माताके समान पवित्र होती है। सुन्दर, अलकृत कला-शैली वह चन्द्र है, जिसे राहुकी छाया स्पर्श नहीं कर सकती। इस अलकृत कला शैलीमे जो पारङ्गत हो जाता है, वह नन्दन-काननके झूलोपर पेग मारता है, अप्सराओके हाथकी गुँथी मालासे पुलकित होता है और सारे ससारसे अपनी पूजा कराता है।

लाक्षणिक शैली

लाक्षणिक शैलीका बल पाकर भाषा सरस, पुष्ट और समृद्ध होती है। वह वक्ताकी जिह्वापर चढकर जब लास्य करने लगती है, तब उसकी भावमयी मुद्राओकी गतिपर कभी तो श्रोताओके नेत्र झरने बन उठते है, कभी हृदयकी कली खिलकर गुदगुदी उत्पन्न करने लगती है, कभी दन्तावलीकी चन्द्रिका ओठके कपाट खोलकर चाँदनी बिखेर देती है और कभी आँखें ऊपर चढ़कर अद्भुत रसका स्थायी भाव मूर्त्तिमान कर देती है।

समर्थनात्मक या सूक्तिपूर्ण शैली

समर्थन प्रधान या सूक्तिपूर्ण शैलीमे लेखक अपनी प्रत्येक बातका

दूसरोसे समर्थन कराता चलता है क्योकि तुलसीदासजीने भरतसे कहलाया है—

करब साधुमत लोकमत, नृप-नय-निगम-निचोरि ।

साधुमत और लोकमतका तो सदा सम्मान होता ही है। अँगरेज़ीमे कहावत है—'शैली ही व्यक्ति है।' शैलीमे मनुष्य अपना, अपने हृदयका पूरा परिचय दे देता है, अपना परिचय देनेके लिये, अपने मनकी बात स्पष्ट करनेके लिये वह सोच-समझकर मुँह खोलता है, क्योकि अरबकी लोकोक्ति है—'अपनी जीभ बाँधकर रक्खो, कहीं वह सिर न कटवा ले।' यही बात कबीरदासजीने भी दूसरे ढङ्गसे कही है—

जिभ्या मेरी बावरी, कहिगी सरग पतार।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपार॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि सब जिस बातको ठीक समझें, वही बात ठीक है क्योकि 'पञ्चोकी वाणी परमेश्वरकी वाणी होती है।' भगवान् श्रीकृष्णने भी भगवद्गीतामे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

[श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा करते और कहते हैं, वैसा ही दूसरे भी करने-कहने लगते हैं।]

अर्थ यह है कि ससार जो बात कहे वही सबको माननी पड़ती है। बडोकी ओट लेकर आप जो बात कहेगे वह सुनी ही जायगी।

प्रतीकात्मक शैली

प्रतीकात्मक शैली कोई प्रतीक लेकर चलती है जैसे कविके वर्णनमे हसको प्रतीक मानकर उसका इस प्रकार वर्णन करेंगे—

'हे कवि! तुम्हीं सरस्वतीके हस हो। नीचेसे ऊपरतक श्वेततासे स्नात, अपने दुग्ध-धवल पक्ष फैलाकर तुम सरस्वतीको असूर्यम्पश्य-लोकोमे घुमा लाते हो, किन्तु तुम्हारी श्वेनता और गौरवतामे कहीं

भी कालिमा छू नहीं जाती। सबसे विचित्र बात तो यह है कि न जाने कितनी बार तुम्हारे आगे पानी मिलाकर दूध रख दिया जाता है, किन्तु न जाने तुममे क्या शक्ति है कि तुम दूधका दूध और पानीका पानी कर देते हो।

शैलीके गुण

पाश्चात्य आचार्योंने भव्य शैलीके छह गुण बताए हैं—सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता तथा लयात्मकता।

भारतीय आचार्योंने यद्यपि इस प्रकारका कोई विवेचन नहीं किया है किन्तु उन्होने प्रसाद, माधुर्य और ओजको ही शैलीका गुण माना है। किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होने रीति, शब्द-शक्ति, गुण और दोषकी विवेचनाके साथ रीतिके पोषक, रसके सहायक तथा कुछ स्वतन्त्र गुणोके रूपमे अलग-अलग ढङ्गसे शैलीकी विवेचना की है।

शैली, रीति और वृत्ति

कुछ लोगोने रीतिको ही शैली मान लिया है। किन्तु रीति केवल काव्य-रचनाका ढङ्ग है। इसके विपरीत 'शैली वह साधन है जो वाणीकी अभिव्यक्तिमे अभिनव आकर्षण-शक्तिका सञ्चार करे।' वामनने 'पदोकी विशेष रचनाको रीति' (विशिष्टा पद-रचना रीतिः) माना है किन्तु गुणोके आधारपर की हुई विशेष पद-रचनाकी इस रीतिको शैलीके विशिष्ट और व्यापक रूपसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिए। भामहने यद्यपि रीतियो और वृत्तियोका निर्देश नहीं किया किन्तु उन्होने माधुर्य, प्रसाद और ओजकी चर्चा करते हुए कहा कि समासवाले लम्बे लम्बे पदोके प्रयोगसे रचनाका माधुर्य और प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है किन्तु ओज गुणकी सिद्धिके लिये समासकी बहुलता नितान्त आवश्यक है। भामहका यह तर्क निःसार है क्योकि आजकलकी अनेक समासहीन भाषाओमे ओजका अभाव नहीं है।

भामहने रीतिमे दस गुण गिनवाए है—१. श्लेष (रचनामे ढिलाई न होना), २. प्रसाद (सुनते ही या पढ़ते ही समझमे आ जाना),

३. समता (आद्यन्त प्रवाह बने रहना), ४. मधुरता (सुनने और समझनेमे मधुर प्रतीत होना), ५. सुकुमारता (कोमल अक्षरोका प्रयोग), ६. अर्थव्यक्ति (बिना किसी रुकावटके अर्थ समझमे आना), ७. उदारता (उक्तिमे गम्भीरता हो, छिछलापन नहीं), ८. कान्ति (सबको प्रसन्न करनेवाली उक्तियोका विधान), ९. ओज (समाससे भरपूर होना) और १०. समाधि (लक्षणा, व्यञ्जना आदिका सावधानी पूर्वक प्रयोग) ।

उद्भटने अनुप्रासका विवरण देते हुए तीन प्रकारकी वृत्तियाँ बताई हैं—१. परुषा : जिसमे श, ष, रेफवाले वर्ण, ह्व, ह्र, ह्य, और ट वर्गका प्रयोग हो, २ उपनागरिका : जिसमे द्वित्व और ट वर्ग छोडकर शेष वर्गोंके अक्षरोका पञ्चम वर्णोंसे अधिक सयोग दिखाया जाता हो, ३. ग्राम्या या कोमला : जिसमे परुषा और उपनागरिका वृत्तिवाले वर्णोंको छोडकर शेष अक्षरोका प्रयोग होता हो, विशेषत: ल, क तथा र की आवृत्ति हो । अनुप्रासकी व्याख्या करते हुए रुद्रटने जो मधुरा, परुषा, ललिता और भद्राका निर्देश किया है वह ध्वनि विन्यासके आधारपर ही किया गया है । साहित्यदर्पणकारने 'पदोकी सङ्घटनाको ही रीति' (पदसङ्घटना रीति) माना है और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणोको उसने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी रीतियोका उपकारक गुण माना है । मम्मट और विश्वनाथने भी सब आचार्योंके मतोकी सूक्ष्म विवेचना करनेके पश्चात् यह घोषित किया कि माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ही तीन मुख्य गुण हैं । उपर्युक्त गुणोमेसे कुछ तो इन्हींमे आ जाते हैं और कुछ वास्तवमे गुण न होकर दोषके अभाव हैं । उन्होने गुणको रसका धर्म माना है और बताया है कि इन गुणोकी सहायतासे काव्यके आत्मामे उत्कर्ष आ जाता है । उनका मत है कि 'माधुर्य गुणके कारण चित्त कोमल होकर आनन्दमय हो जाता है । अत: उसका प्रयोग शृङ्गार, करुण और शान्त रसोमे होना चाहिए । ओज गुणसे हृदय दीप्तिमय होकर अत्यन्त विशाल और विस्तृत हो

जाता है। अतः वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसोमे ओजका प्रयोग करना चाहिए। जिन पदोको सुनकर सरलता और सुगमतासे अर्थ समझमे आ जाय उनमे प्रसाद गुण समझना चाहिए। उसका प्रयोग सब रसो और रचनाओमे करना चाहिए।' ये लोग भी मानते है कि सभी रचनाओमे यह गुण तो अवश्य ही होना चाहिए कि वह सरल हो और सबकी समझमे आ सके।

शैलीपर विचार करते समय हमे देखना चाहिए कि—

१. जिस समाजके लिये रचना लिखी गई है उसकी समझमे आती है या नहीं।

२. जो प्रभाव लेखक डालना चालता है वह शैलीसे उत्पन्न होता है या नहीं।

३. उसमे अशिष्टता या फूहडपन तो नहीं है।

४. विषयके अनुरूप शैली है या नहीं, तथा

५. विषयकी प्रकृतिके अनुकूल शैली है या नहीं।

२

रूप-शैली

सब प्रकारके विषय सब साहित्य-रूपोमें नहीं प्रस्तुत किए जा सकते। कविका विवेक सदा ग्राहककी रुचि, समाजकी आवश्यकता तथा अपनी रुचि और समर्थताको समझकर उसे सङ्केत देता है कि अमुक विषय अमुक रूपमें उपस्थित किया जाय। यदि सहृदय श्रोता अधिक मिलें तो कविता रची जाय, यदि सर्वसाधारण जनताके लिये 'वह रुचिकर, आकर्षक और हितकर हो तो नाटककी रचना की जाय, यदि विद्वान् विचारक लोगोके योग्य वह विषय हो तो निबन्ध लिखा जाय, यदि सर्वसाधारण पढे-लिखे लोगोकी रुचिको तृप्त करनेवाला हो तो उपन्यास या कहानी रची जाय।'

तात्पर्य यह है कि साहित्यके रूपका विवेक करनेमे चार बातें सहायक होती हैं—१. विषयकी गम्भीरता अथवा विषयकी प्रकृति। २. ग्राहकोकी रुचि। ३ स्वतः कविकी रुचि, परिस्थिति और समर्थता। ४. समाजकी रुचि और आकांक्षा।

पद्य और गद्य

ध्वनि तथा लयकी योजना अन्तरके अनुसार जो भेद हम स्थापित करते हैं उनमेसे मुख्य वह है जो साहित्यको निम्नलिखित दो भागोमे बॉटता है—एक पद्य और दूसरा गद्य, जो ध्वनिकी दृष्टिसे ही अलग-अलग रूप हैं।

साहित्यके तीन वर्ग

साधारण साहित्यिक रूपोके वर्गमे निम्नलिखित रूप आते हैं—

(अ) व्याख्यात्मक, जैसे निबन्ध।

(आ) कथात्मक, जैसे उपन्यास।

(ई) नाटकीय, जैसे नाटक या सवाद।

यह वर्गीकरण इस बातपर अवलम्बित है कि उसमे 'किस प्रकारकी वस्तुओका उपयोग किया गया है' अर्थात् किसी घटनासे सम्बद्ध किसी कथाका गत्यात्मक (डायनेमिक) रूप है या किसी विचारके विवेचनसे सम्बन्ध रखनेवाला स्थिर (स्टेटिक) रूप है और वाणी तथा सम्बोधनके विविध प्रकारोका रचनात्मक भेद किस प्रकारका है।

मौखिक और लिखित साहित्य

साहित्यिक वर्गीकरणका एक और भी भेद है—मौखिक और लिखित साहित्य। यह भेद साहित्यिक कृतियोके अभिव्यञ्जनकी प्रक्रियाका भेद है, रचनाका नहीं। यह भेद तब बहुत महत्त्वका हो जाता है जब किसी साहित्यिक कृतिका प्रयोग इसलिये किया जाता है कि वह मुखसे कहा अथवा पढा जायगा जैसे आल्हा, चारणोंके कवित्त अथवा किसी प्रकारके रूढ महाकाव्य। हमारे यहॉ श्रव्य और दृश्य रूपसे जो काव्यके भेद किए गए थे उनका आधार यही था। श्रव्य काव्यका यह उद्देश्य होता

है कि भावानुसार पाठ करके श्रोताओंतक काव्यके उचित रसका सङ्क्रमण कर दिया जाय। इसलिये उसकी रचना सरल, अधिक भावपूर्ण और अधिक मर्मस्पर्शी होती है। उसमे तर्क और चिन्तनका अवसर कम होता है, सवेदनका अधिक। इसके विरुद्ध, जो रचनाएँ वाचनके लिये लिखी जाती है, उनमे भाषाकी जटिलतासे भाव भी जटिल हो जाते हैं, क्योकि उनमे वाचकको इतना अवसर मिलता रहता है कि वह प्रत्येक बातको विचार-विचारकर आगे बढ़े। इसी भेदसे आगे चलकर लोक-साहित्य और कला-साहित्यका भेद भी उत्पन्न हो जाता है किन्तु यह भेद अब अवैज्ञानिक समझा जाने लगा है।

शक्तिका साहित्य

कुछ विद्वानोने साहित्यको दो प्रकारका बताया है—

१. शक्तिका साहित्य और २. ज्ञानका साहित्य। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने बतलाया कि 'शक्तिका साहित्य वस्तुनः ज्ञानके साहित्यका उलटा है। ज्ञानका साहित्य हमे कुछ सिखाता है और उसी स्तरपर आगे बढाता चलता है। किन्तु शक्तिका साहित्य गतिशील होता है और वह हमे ऊपर उठाता है। ज्ञानका साहित्य नष्ट हो जाता है और उसके बदले दूसरा आ जाता है किन्तु शक्तिका साहित्य जबतक भाषा रहती है तबतक जीवित रहता है।' इस दृष्टिसे केवल काव्य ही अमर शक्तिका साहित्य है, शेष सब नश्वर ज्ञानका साहित्य है।

गद्य और कविता

सन् १९१३ मे एजरा पाउन्डने कहा था कि 'अब वैज्ञानिक सटीकताके साथ गद्य औरपद्य लिखना लगभग असम्भव है, जबतक कि कोई लेखन-कलापर एक पूर्ण ग्रन्थ ही न लिखे और उसमें प्रत्येक शब्दकी वैसी ही व्याख्या न करे जैसे रसायन-शास्त्रके एक-एक शब्दकी की जाती है। इसलिये कवितापर जितने निबन्ध लिखे गए हैं वे केवल नीरस और अशुद्ध ही नहीं वरन् पूर्णतः निरर्थक भी हैं।' यही बात सौ वर्ष पूर्व आर० ह्वटलेने कही थी। अपने ग्रन्थके तीसरे खण्डमें

कवितापर लिखते हुए उसने कहा कि 'पद्यमे लिखी हुई किसी भी रचनाको लोग रचना कह देते हैं चाहे वह अच्छी हो या बुरी और ऐसे ही लोग कहते हैं जिनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता। इसलिये मेरा उद्देश्य यह है कि मै कविताकी ठीक-ठीक व्याख्या कर दूँ। वस्तुतः गद्य और पद्यमे जो अन्तर है वह केवल ध्वनिकी रचनाका है और यह अन्तर सदासे है, और रहेगा।' अरस्तूने पद्य और कवितामे अन्तर बताते हुए कहा है कि 'केवल पद्यात्मक होनेसे ही कोई रचना कविता नहीं हो जाती। कविता होनेके लिये उसमे विशेष गुण होने चाहिएँ। यदि हम पद्यमे आयुर्वेदका ग्रन्थ लिखें तो वह काव्य-ग्रन्थ नहीं हो सकता।'

कविता और गद्यमे जितने अन्तर बताए गए हैं उनमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे एक व्यापक तत्त्व है—'गद्य तो साधारण बातचीत है और कविता असाधारण बातचीत।' अतः कविताकी परिभाषा करनेका अर्थ है 'उसकी असाधारणताका विश्लेषण करना। वास्तवमे पद्य या गद्यका अन्तर या कविता और गद्यका ठीक अन्तर योरोपवाले न तो समझा सके न बता सके किन्तु हमारे यहाँ बहुत सुविधाके साथ काव्य-शास्त्रियोने दोनोको काव्यके दो रूप बताकर समझा दिया कि 'काव्य दो प्रकारसे लिखा जा सकता है—गद्यमे और पद्यमें।'

गद्यरचना

भाषण-शास्त्र या शैली-शास्त्रपर लिखे हुए ग्रन्थोमे चार प्रकारकी गद्य-रचनाओका विवरण दिया गया है—१. व्याख्या, २. तर्क, ३. वर्णन और ४. कथा।

१. जिस गद्यमे परिभाषाएँ, प्रक्रियाएँ और परिणाम हो अर्थात् जो विचारो और सिद्धान्तोका अत्यन्त सरल और आवेगहीन भाषा मे अर्थ स्पष्ट कर दे उसे व्याख्या कहते हैं।

२. जिस गद्यमे किसी एक विषयका पक्ष लेकर उसका समर्थन और

प्रतिपादन इस दृष्टिमे किया जाता हो कि दूसरे उसे मान लें और उसके अनुसार कार्य करने के लिये प्रस्तुत हो उसे तर्क कहते है।

३. जिस गद्यमे सब कुछ इन्द्रियानुभवपर आश्रित रहता हो और जो वैसा ही इन्द्रियानुभवशील प्रभाव उत्पन्न करता हो वह वर्णनात्मक कहलाता है।

४. जिस गद्यमे वास्तविक या काल्पनिक घटनाओंको समय और स्थानके क्रमसे सजाकर विस्तारसे कहा जाय, उसे कथा कहते है।

यह आवश्यक नहीं है कि एक लेखमे लेखक एक ही प्रकारके गद्य-रूपका प्रयोग करे। कभी कभी वह एक रचनामे चारो रूपोका प्रयोग कर सकता है और फिर कविता और गद्य दोनोमे चारो रूप विभिन्न प्रकारसे प्रयुक्त होते है। अतः 'ये सब स्वय रूप नहीं है वरन् विभिन्न साहित्यिक रूपोके तत्त्वो और विषयोतक पहुँचनेके साधन मात्र है।'

गद्यकी लय

कुछ आचार्योंका मत है कि 'गद्य और पद्यमे कोई अन्तर नहीं होता क्योकि दोनोमे लयात्मकता होती है।' भारतीय आचार्योंने इसीलिये गद्यको भी 'वृत्तानुगन्धी' बताया था अर्थात् उसमे भी उन्होंने लयकी उपस्थिति मानी थी। योरोपमे थ्रासूमाखसको यह श्रेय दिया जाता है कि उसने यूनानी गद्यको वृत्तानुगन्धी या लयात्मक बनाया था जो पीछे चलकर कलात्मक गद्यका एक नियमित लक्षण ही बन गया और पीछेके आचार्योंने उसका समर्थन भी किया था।

नौ प्रकारके काव्य-पाक

राजशेखरने काव्यमीमासामे नौ प्रकारका काव्य-पाक बताया है—१. आदि और अन्त दोनोमे अस्वादु हो उसे पिचुमन्द (निम्ब)-पाक कहते है। २. जो आदिमे अस्वादु किन्तु परिणाममे मध्यम हो उसे बदर या बेर-पाक कहते हैं। ३. जो आरम्भमे अस्वादु और परिणाममे मधुर हो ऐसे काव्यको मृद्वीका (द्राक्षा या अङ्गूर) पाक कहते

हैं। ४. जो पहले मध्यम श्रेणीका हो और अन्तमे स्वाद-रहित हो उस काव्यको वार्त्ताक (बैगन)-पाक कहते हैं। ५. आदि, अन्त दोनोमे मध्यम श्रेणीके स्वादवाले काव्यको तिन्तिडीफ या इमली पाक कहा जाता है। ६. आदिमे मध्यम श्रेणीके और अन्तमे स्वादयुक्त काव्यको सहकार (आम)-पाक कहते हैं। ७. आदिमे स्वादु और अन्तमें अस्वादु काव्यको क्रमुक (सुपारी) पाक कहते हैं। ८ आदिमें उत्तम और अन्तमे मध्यम स्वादवालेको त्रपुष (ककडी)-पाक कहते हैं तथा ६. आदिमे स्वादु और अन्तमे भी मधुर रहनेवाले काव्यको नारिकेल-पाक कहा जाता है।

गद्य, पद्य और गद्यपद्य

अत्यन्त साधारण रीतिसे काव्य या साहित्यके तीन भेद किए गए हैं—

१. गद्य, २. पद्य और ३. गद्यपद्य। गद्यमे छन्दका प्रयोग नहीं होता। जिस प्रकार हम लोग बातचीत करते हैं उसी प्रकार उसमे भाषाका प्रवाह चलता है। किन्तु पद्य साहित्य छन्दमे बँधा रहता है। गद्यपद्यमे कुछ अश गद्यके और कुछ पद्यके होते है।

गद्यके रूप

गद्यके भी पाँच रूप होते हैं।

२. वाचनीय : जिसके अन्तर्गत नाटक, उपन्यास और कहानी आती हैं। इस कहानीमे भी या तो केवल एक कथा होती है अथवा परम्परित कथा-माला होती है जिसमे एक ही कथामे अनेक कथाएँ गुँथी रहती है, या नीति-कथा होती है जिसमे किसी जीव-जन्तुके आधारपर गढी हुई कथाके द्वारा कोई नैतिक उपदेश देना अभीष्ट होता है, या कोई ऐतिहासिक कहानी होती है, या दृष्टान्त होता है या वर्त्तमान ढङ्गकी छोटी कहानियाँ होती हैं, जिनमे सामाजिक, राजनीतिक,

वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, जासूसी, या प्रतीकात्मक ढङ्गसे कथाका क्रम चलाया जाता है।

३ श्रव्य : इसके अन्तर्गत पहले तो काव्य ही आते थे किन्तु अब तो पत्र-साहित्य, अभिनन्दन पत्र, सम्मानपत्र, कथा तथा श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले) की भी उसमें गणना होती है। श्रव्य कथाएँ या तो उस प्रकारकी होती हैं जैसे नानी या दादीकी कहानियाँ अथवा वे ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ होती हैं जो व्याख्याता तथा कथा-वाचक लोग अपने प्रवचनो और कथाओमे प्रयुक्त करते है।

४. अध्ययनीय : यद्यपि उपन्यास पाठ्य श्रेणीका गद्य है और नाटक दृश्य श्रेणीका किन्तु कुछ लोगोने भाषा-शैलीकी दुरूहतासे ऐसे नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं जो विशेष रूपसे अध्ययनीय हो गए हैं। किन्तु विशिष्ट अध्ययनीय गद्यके अन्तर्गत विचारात्मक निबन्ध ही आते हैं।

५ मननीय : जिसके अन्तर्गत साहित्य-समीक्षण और दार्शनिक विवेचन आता है।

पद्यके रूप

पद्यके चार रूप होते हैं—१. दृश्य, २. पाठ्य, ३. श्रव्य, ४. अध्ययनीय।

१ दृश्यके अन्तर्गत नृत्य नाट्य, नाट्यगीत, गीति-नाट्य और मूकाभिनय आते है।

२ पाठ्यके अन्तर्गत कथाकाव्य (जैसे आल्हा), भावकाव्य, प्रगीत तथा सब प्रकारके लयात्मक पद्य आते हैं

३ श्रव्यके अन्तर्गत भावकाव्य, गीतकाव्य, कथात्मक प्रगीत तथा अन्य सब प्रकारकी कविताएँ आती है।

४. अध्ययनीयके अन्तर्गत महाकाव्य, गीतकाव्य तथा अन्य सब प्रकारके भावकाव्य आते है। यह वर्गीकरण भी प्राचीन ही है यद्यपि इसमे थोडेसे नये रूप प्रविष्ट हो गए हैं।

गद्यपद्य

गद्यपद्यके भी चार रूप होते हैं—१ दृश्य, जिसके अन्तर्गत नाटक आता है। २. वाचनीय, जिसके अन्तर्गत नाटक और चम्पू आते हैं। ३. श्रव्य, जिसके अन्तर्गत चम्पू और श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले) आते हैं। ४ अध्ययनीय, जिसके अन्तर्गत चम्पू और नाटक आते हैं।

कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक

साहित्यका तात्त्विक विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि विश्व-भरका साहित्य तीन प्रकारका है—१. कथात्मक, २. भावात्मक और ३. वच ारात्मक।

१. कथात्मकके अन्तर्गत—१. लयात्मक या अतुकान्त छन्दकी कविता, २. पद्यात्मक अर्थात् छन्दानुगामिनी कविता, ३. गद्यात्मक कविता, तथा ४. गद्यपद्यात्मक, ये चार प्रकारकी रचनाएँ आती हैं। पद्यात्मकके अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य और प्रगीत आते हैं। प्रबन्ध काव्यके अन्तर्गत नाटकीय गीत, महाकाव्य, गीतिनाट्य, खण्डकाव्य, एकार्थ, मुक्तक तथा अध्यवसान काव्य आते है। मुक्तकके अन्तर्गत प्रगीत, गीत, लोकगीत, वर्णन आदि आते हैं।

गद्यात्मकके अन्तर्गत नाटक, वर्णन, उपन्यास, कथा और कहानीका समावेश हाता है। कथा भी दो प्रकारकी होती है—१ आत्मकथा और २. परकथा। आत्मकथाके अन्तर्गत वास्तविक आत्मचरित्र रूपकात्मक आत्मकथा आती है। रूपकात्मक वह है, जिसमे हम किसी वस्तुको व्यक्ति मानकर उसकी ओरसे उसका जीवन-चरित्र वर्णन करते है जैसे 'पैसेकी आत्मकथा।' शेष सब प्रकारकी कथाएँ परकथा होती हैं जो प्रत्यक्ष, परश्रुत, कल्पित या इतिहास-पुराणादिसे सम्बद्ध होती हैं।

२ गद्य-पद्यात्मकके अन्तर्गत चम्पू, नाटक, रासक, वर्णन, नौटङ्की, रास और रामलीला आदिका समावेश होता है।

भावात्मक साहित्यके अन्तर्गत दो प्रकारकी रचनाएँ आती हैं—पद्यात्मक और गद्यात्मक। पद्यात्मकके अन्तर्गत वे गीत, प्रगीत, छन्द

या मुक्तक रचनाएँ आती है जो अनायास किसी वस्तु या भावके गोचर या मानस प्रत्यक्षीकरणपर स्वय फूट उठती है। गद्यात्मकके अन्तर्गत भावपूर्ण गद्यगीत और भावात्मक निबन्ध आते हैं, जिनमे हम किसी वस्तु, व्यक्ति या विषयके प्रति आकृष्ट होकर भावपूर्ण एकात्मताके साथ तन्मय होकर भावाभिव्यञ्जन करते हैं।

३. विचारात्मक साहित्यके अन्तर्गत वे सब रचनाएँ आती हैं जिनमे हम किसी विषयपर तर्क-वितर्क करके अर्थात् बुद्धिके योगसे विचार करते हैं। सब प्रकारके विचारात्मक तथा समीक्षात्मक निबन्ध इसी श्रेणीमे आते हैं।

विश्लेषणात्मक वर्गीकरण

साहित्यका वर्गीकरण उसके विश्लेषणात्मक स्वरूपके आधारपर भी किया जा सकता है। इस दृष्टिसे साहित्य चार प्रकारका होता है— १. प्रेरणात्मक, २. विचारात्मक, ३. आत्माभिव्यञ्जनात्मक, तथा ४. लक्ष्यप्रधान।

१. प्रेरणात्मक साहित्य वह है जिसमे मनुष्य किसी लौकिक प्रेरणा अर्थात् धन, यश, पद तथा अन्य किसी लौकिक फलसे प्रेरित होकर लिखता है।

प्रेरणात्मक साहित्य वह भी होता है जो सात्त्विक प्रेरणासे उद्भूत होता है, जैसे सौन्दर्यसे, वह चाहे प्रकृतिका हो, व्यक्तिका हो या भावका हो। कभी किसीके उदात्त चरित या असाधारण गुणसे भी प्रेरणा मिलती है। ईश्वर अथवा अपने किसी इष्ट देवता या महापुरुषके प्रति रचे हुए साहित्यरूप इसी श्रेणीमें आते है।

सात्त्विक प्रेरणा किसी घटनासे भी होती है जैसे—दुःख, शोक, क्रोध आदि उत्पन्न होनेसे। कभी कुछ अद्भुत वस्तु देखकर भी यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि इसे काव्यरूप दिया जाय। इस प्रकारका साहित्य प्रेरणात्मक होता है।

२. विचार-प्रेरित साहित्य वह है जो मनुष्यके अपने चिन्तन, अध्ययन और मननके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होता है। यह वस्तुगत भी हो सकता है और कल्पनासे उद्भूत भी। वह सम्पूर्ण साहित्य जिसमें लेखकोंके विचारोंका प्रस्फुटन हुआ है, सब इसी श्रेणीके अन्तर्गत आता है।

३. आत्माभिव्यञ्जनात्मक साहित्य वह सब है जिसमें मनुष्य अपने अनुभव और भाव व्यक्त करता है। नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता आदि सब इसीके अन्तर्गत आते हैं।

४. ससारका कुछ साहित्य लक्ष्यप्रधान भी होता है अर्थात् वह किसी विशिष्ट देवता, इष्ट, प्रिय अथवा किसी विशेष व्यक्तिको लक्ष्य करके अथवा ससारको ही लक्ष्य करके अथवा किसी विशिष्ट समाजको ही लक्ष्य करके रचा जाता है। यह लक्ष्य प्रधान साहित्य पाँच प्रकारका होता है—

१. उपदेशात्मक (डाइडेक्टिक), २. व्यग्यात्मक (सैटायरिकल), ३. विनोदात्मक, (ह्यूमरस) ४ मननीय या दार्शनिक (फिलौसौफिकल), ५. कलात्मक या वाक्कौशलयुक्त (विटफुल)।

गम्भीर और मृदुल साहित्य

इधर कुछ लोगोंने साहित्यमें एक और भी वर्गीकरण चलाया है। वे कहते हैं कि 'जिस साहित्यके अध्ययन करनेमें बुद्धिका योग देना पडे, एकाग्रता अपेक्षित हो, विचार करना पड़े, वह सब गम्भीर साहित्य (सीरियस लिटरेचर) है और जिस साहित्यको हम बाँचते हुए उसका अर्थ समझते और उसका आनन्द लेते चले जायँ वह मृदुल साहित्य (लाइट लिटेचर है)।'

उपसहार

वर्गीकरणके इतने प्रकार होते हुए भी साहित्य-रूपके निम्नलिखित प्रकार ही मुख्यतः मिलते हैं—

१ **वर्णन** (व्यक्ति, स्थान, वस्तु, दृश्य और अवसरका) : ये सब वर्णन भी दो प्रकारसे किए जाते है—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म वर्णनमे वर्णनीय वस्तु या दृश्यके सम्बन्धमे आनेवाली प्रत्येक छोटीसे छोटी बात या लक्षणका विवरण आ जाना चाहिए। किन्तु स्थूलके अन्तर्गत केवल उतना ही अश अपेक्षित होता है जितना उस दृश्यके वर्णनसे सम्बद्ध हो और कथा अथवा प्रसगके लिए सगत हो।

२ **इतिवृत्त या कथन** : इतिवृत्त भी तीन प्रकारके होते हैं—क. कथाके रूपमे, ख. बच्चोको समझाई जानेवाली कहानीके रूपमे, ग. हुँकारीके साथ कही जानेवाली नानी-दादीकी कहानीके रूपमे।

३ **वर्णन और कथन** (इतिवृत्त) **मिश्रित** : कुछ ऐसे भी कथानक होते है जिनमे इतिवृत्तात्मकता तो होती ही है किंतु साथ ही बीच-बीचमे आए हुए व्यक्तियो, वस्तुओ, अवसरो, दृश्यो और स्थानोका सूक्ष्म या स्थूल वर्णन भी होता है।

४. **कविता** : साधारण कविता चार श्रेणियोमे बॉटी जा सकती है। **क. मुक्तक** जिनमे कोई एक घटना, विवरण, चित्र या भाव एक छन्द या एक बन्धमे वर्णन कर दिया जाय। **ख. प्रगीत** . वे छोटे भावात्मक कविता रूप होते है जिनमे तीन या चार दृश्य अकित कर दिए जा सकें। किन्तु प्रगीतका मुख्य उद्देश्य प्रकृतिसे प्रेरणा पाकर किसी मानव-भावकी अभिव्यजना भी होनी चाहिए। **ग. उक्तिबन्ध** : केवल उक्ति-कौशलसे पूर्ण इस प्रकार कुछ चरणोका कथन किया जाय जिसका सम्बन्ध कविके सात्विक भावसे न हो। वह केवल उक्ति कौशलसे पूर्ण हो, जैसे प्राय उर्दूकी गजलें होती है। **घ. वर्णनात्मक कविता** : जिसमे किसी दृश्य, वस्तु या व्यक्तिका पद्यमय वर्णन होता है। कविताके प्रकारोमे यह सबसे दरिद्र प्रकार है।

इनमे सर्वश्रेष्ठ मुक्तक है, जिनमे मनुष्यके हृदयकी अनुभत भावना व्यक्त की जाती हो, सात्विक हो, पाठक या श्रोताके हृदयको भावित करनेवाली हो और केवल वस्तुओकी सूची मात्र न हो।

५. गीत : बहुत-सी पद्य रचनाए किसी विशेष अवसरपर राग और तालके साथ गानेके लिए रची जाती हैं। उनका उद्देश्य किसी परिस्थितिका अकन, किसी अपने प्रिय या इष्टके रूप, गुण, लीला तथा तत्सम्बन्धी विषयोका गायन या उसके प्रति अपने हृदयका भाव व्यक्त करना होता है। मीरा, सूर, और तुलसीके गीत इसी श्रेणीके हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त वे लोकगीत भी गीतकी श्रेणीमे आते हैं जिनमे साधारण मानव-जीवनकी भावात्मक अभिव्यक्ति होती है, किसी प्राचीन महापुरुष या प्रिय पुरुषका चरित्र गाया जाता है अथवा किसी प्रसिद्ध घटनाका अंकन करके मनोविनोद किया जाता है।

६ पद्यप्रबन्ध . जिसमें किसी महापुरुष या किसी घटनाका आद्यन्त वर्णन हो अथवा किसी विशेष कुल, युग, देश अथवा व्यक्तिका पूरा या अधूरा वर्णन किया जाय। इसमेसे जिसमे 'पूरा वर्णन किया जाता है वह महाकाव्य कहलाता है और जिसमें अधूरा या खड वर्णन होता है उसे खडकाव्य कहते हैं। जिन काव्योमे किसो साधारण ऐतिहासिक या मौलिक कथाको आधार बनाकर कोई दार्शनिक तत्त्व निरूपित किया जाता है उन्हे भाव-रूपक कहते हैं, जैसे—कामायनी या पद्मावत। कभी-कभी कुछ कवि ऐसी भी रचनाएँ करते हैं जो प्रकृतिमे मुक्तक होती है किन्तु यदि उन मुक्तक रचनाओको एक क्रममें रख दिया जाय तो पूरी कथा भी बन जाती है। ऐसी रचनाओको कथात्मक मुक्तक' अथवा मुक्तकात्मक प्रबन्ध कहते है जैसे रत्नाकरका 'उद्धव शतक या तुलसीदासका 'बरवै रामायण'।

७. गद्यप्रबन्ध जिस प्रकार पद्यमे काव्यात्मक कथा लिखी जाती है उसी प्रकार काव्यात्मक गद्यमे भी पूरा महाकाव्य लिखा जा सकता है। यद्यपि इस प्रकारका प्रयास हिन्दीमे हुआ नहीं है किन्तु इसकी सम्भावनाए अवश्य है। इसके अतिरिक्त उपन्यास, व्यग्याख्यान, युगचित्र, कहानी, आख्यायिका, चुटकुले, उपदेशात्मक कथाएँ सभी

गद्यात्मक प्रबन्ध काव्यके अन्तर्गत आ सकते है यदि उनमे केवल कथामात्रकी प्रवृत्तिके बदले काव्य-सयोजनकी भी प्रवृत्ति हो।

८ **पत्र** इस श्रेणीके अन्तर्गत वे ही पत्र आ सकते है जिनमे काव्य सौष्ठव भी हो।

९ **समीक्षा :** किसी लेख, पुस्तक, समाज, रीति, नीति, विचार, सिद्धान्त या रचनाकी आलोचनाएँ सब समीक्षाके भीतर आ जाती है।

१० **दिनचर्या :** नित्यकी दिनचर्या लिखनेके रूपमे भी गद्य या पद्यकाव्यकी रचना की जा सकती है। गद्यकाव्य तो इस रूपमे बहुत मिलता है किन्तु पद्यका लगभग अभाव है।

११. **यात्रा :** यह दोनो प्रकारकी हो सकती है, वास्तविक भी और काल्पनिक भी।

१२ **निमन्त्रण पत्र।**

१३ **आवेदन पत्र।**

१४ **सूचना :** जो प्रायः समाचारपत्रोमे भेजी जाती है।

१५ **अभिनन्दन :** जिसके अन्तर्गत स्वागत-पत्र, विदा-पत्र, सम्मान-पत्र, अभिनन्दन-पत्र, कृतज्ञता-पत्र और स्नेह-पत्र सब सम्मिलित हैं।

१६ **अभ्यर्थना।**

१७ **समाचार।**

१८ **विज्ञापन।**

१९. **निबन्ध :** ये निबन्ध समीक्षात्मक, विचारात्मक, विवेचनात्मक, तर्कपूर्ण, अध्ययनात्मक, गवेषणात्मक और भावात्मक (आवेगात्मक) सब प्रकारके हो सकते हैं।

२०. **संवाद** ' ये सवाद दो, तीन या चार व्यक्तियोके बीच वार्तालापमे होते हैं।

२१ स्वगत-कथन ।

२२. नाटक : इसके अन्तर्गत एकाकी, अनेकाकी, नृत्यनाट्य, श्रव्य नाट्य (रेडियो फीचर) आदि नाटकके सभी प्रकार आ जाते हैं ।

२३ गद्यकाव्य . इसके अन्तर्गत ईश्वर या किसी इष्ट व्यक्ति या वस्तुको सम्बोधन करके रागात्मक और भावात्मक निवेदन किया जाता है ।

२४ भूमिका या प्रस्तावना ।

२५. सक्षेपीकरण ।

२६ लेख-संपादन ।

२७ व्याख्या ।

२८ टीका ।

२९ आत्मकथा : यह वास्तविक और काल्पनिक दोनो प्रकारकी होती है ।

३०. परिचय : इसके अन्तर्गत व्यक्ति, वस्तु, विषय या ग्रन्थ सबका परिचय आ सकता है, यहाँतक कि एक नगर, राष्ट्र या जातिका भी परिचय दिया जा सकता है ।

३१. जीवन-चरित ।

३२. रेखाचित्र ।

३३ श्रव्य-व्याख्या (रेडियो कमेन्ट्री)

३४ भविष्यवाणी ।

३५. नाटकीय आत्म परिचय (ड्रैमेटिक मोनोलोग)। इसमें किसी कथाके पात्र स्वगत भाषण द्वारा अलग-अलग स्वत. गद्य या पद्यमे अपना मनोविश्लेषण और चित्रण करते हुए अंकित किए जाते है ।

३६. प्रवचन ।

साहित्य
कथात्मक
वर्णनात्मक
विचारात्मक
भावात्मक
चित्रात्मक
दृश्यवर्णन
कल्पित आत्मकथा
यात्रा
पत्र
संस्मरण
कविता
प्रगीत
पत्र
गीत
गद्य काव्य
नाटक
कहानी
गीत
जीवनचरित
संस्मरण
उपन्यास
प्रबन्धकाव्य
आत्मकथा
प्रेमगीत
शोकगीत
नीति
निबन्ध
समीक्षा
पत्र
चित्र-काव्य
चित्र-गद्य
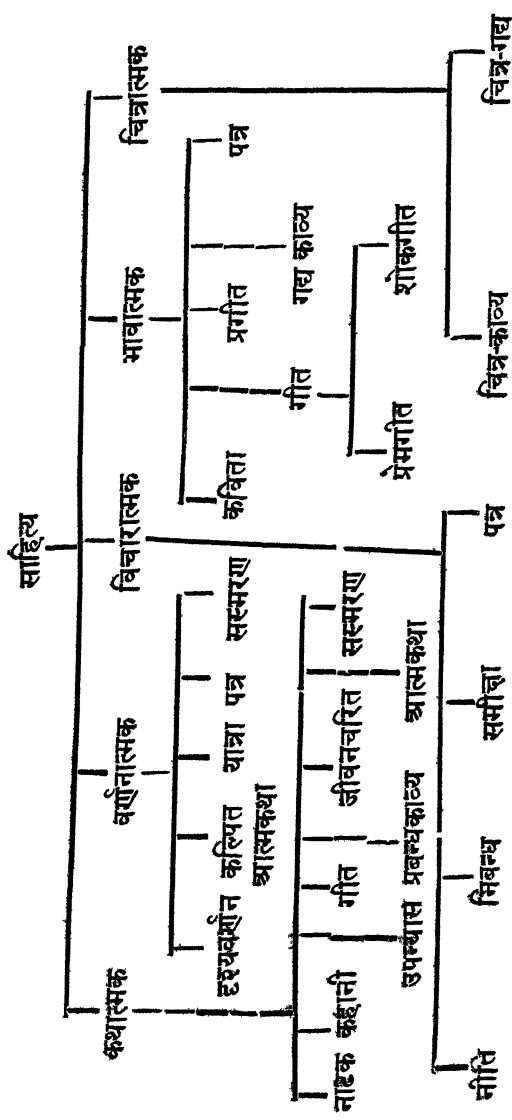
३

भाव-शैली

कभी-कभी लेखक केवल लिखना ही नहीं चाहता वरन् वह उसे विशिष्ट भावके अनुसार लिखना चाहता है अर्थात् वह स्वय अपनी प्रकृतिके अनुसार अपने पाठकके हृदयको भी उस विशेष भाव या प्रभावमे ढाल लेना चाहता है। यदि वह पाठकका मनोविनोद करना चाहता है तो वह विनोदात्मक शैलीका प्रयोग करता है। यदि वह सामाजिक या व्यक्तिगत व्यग्य करना चाहता है तो वह व्यग्यात्मक शैलीका प्रयोग करता है। यदि वह समझता है कि जिस विषयका मैं प्रतिपादन कर रहा हूँ वह कुछ विशिष्ट लोगोकी चिन्तन शक्तिको उत्तेजित और समृद्ध करनेके लिये है तो वह दार्शनिक शैलीका प्रयोग करता है। यदि वह समझता है कि किसी विषयके सम्बन्धमे जो मेरे विचार हैं उससे विरोधी विचार मेरे पाठकोके मनमे होगे और मेरे पाठक निश्चय ही विपथगामी हो रहे हैं तो वह तर्क-प्रधान शैलीका आश्रय लेता है। यदि वह समझता है कि हमारे पाठक या श्रोता दुर्बल हृदयके हैं, अधिक विवेकशील नहीं हैं और उनकी किसी भावात्मक दुर्बलताका प्रयोग करके उन्हे अपने वशमे किया जा सकता है तब वह आवेगात्मक शैलीका प्रयोग करता है। ऐसी सब शैलियाँ भाव-शैलियाँ कहलाती हैं जो लेखककी प्रकृतिका भी परिचय देती हैं और साथ-साथ पाठककी भाव-भूमिको स्पर्श करनेकी रीतिका भी। इनमेसे मुख्य भाव-शैलियाँ ये हैं।

१. **विनोदात्मक :** जिसका लक्ष्य हास्य और विनोदकी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हुए विषयका विवेचन करना होता है।

२. **आत्मचिन्तन शैली :** जिसमे मनुष्य अपने किसी व्यवहार, चरित्र या योजनाके सम्बन्धमें विचार करता है।

३. **आत्म विश्लेषण :** जिसमे मनुष्य स्वय अपने चरित्रके विभिन्न पक्षोका सचेतन विश्लेषण करके स्वय आत्म-परीक्षण करता है।

४. **विचारात्मक :** जिसमे मनुष्य गभीर चिन्तनके द्वारा किसी उद्दिष्ट विषयपर ऊहापोहके साथ विचार करता है।

५. **प्रमाणबहुला :** जिसमे कोई व्यक्ति अपने उद्दिष्ट भाव या विचारके समर्थनके लिये दूसरे विद्वानोके प्रमाण उपस्थित करता है।

६ **व्यग्यात्मक .** जिसमे लेखक किसी व्यक्ति, समाज, वर्ग या व्यवस्थाके दोष ढूँढकर उसकी खिल्ली उडानेका प्रयास करता है।

७ **व्यास शैली :** जिनमे लेखकका लक्ष्य यह होता है कि वह किसी विशेष भाव या पद या विचारकी विस्तारसे व्याख्या करे और उसके सब पक्षोको सप्रमाण, सयुक्ति, तर्कसगत, मधुर तथा प्रभावोत्पादक ढगसे समझानेका प्रयत्न करे।

८. **आवेगात्मक :** जिनमे लेखक आरोह-अवरोहके साथ बीच-बीचमे आलकारिक प्रश्नावलीका प्रयोग करके अपने विषयको इस प्रकार उपस्थित करे कि श्रोता या पाठक तत्काल उत्तेजित हो जाय।

९. **भावात्मक :** जिसमे लेखकका लक्ष्य यह होता है कि वह किसी सम्बोध्य व्यक्ति या वस्तुके प्रति एक विशेष राग या विरागके साथ उसे सम्बोधित करता हुआ उसका विवेचन करता चले।

१०. **उपालम्भात्मक :** जिसके अन्तर्गत वे सभी विवरण आते हैं जिनमे लेखक उपालम्भके द्वारा अपना पक्ष उपस्थित करता है। ये उपालम्भ कभी तो स्नेहपूर्ण होते हैं और कभी रोषपूर्ण।

११. **लोमहर्षण शैली :** प्राय अति साहसके भयानक, रोमाचकारी विवरण या कथाएँ सब इसी शैलीमें लिखी जाती है।

१२ **क्रमिक उत्तेजन शैली :** कुछ ऐसी रचनाएँ होती है जिनमे लेखकका लक्ष्य सहसा पाठकको उत्तेजित और उद्विग्न न करके धीरे-धीरे उत्तेजित करना होता है।

अष्टम खंड

रचना-कौशल

किसी कलात्मक कृतिके प्रस्तुत करनेके विशिष्ट ढङ्गको कौशल कहते हैं अर्थात् उस कृतिके रूप-निर्माण और ढलन आदिकी विशिष्ट योजनाको कौशल (टेकनीक) कहते हैं। कुछ लोगोका मत है कि 'साधारण अभिव्यक्तिका ढङ्ग कुछ और होता है और कौशल एक भिन्न वस्तु होती है।'

'किसी भी कला-कृतिमे विशेष सौन्दर्य उत्पन्न करनेका जो बौद्धिक नियोजन किया जाता है उसीको कौशल कहते हैं', अर्थात् वे सब साधन, प्रयोग तथा सयोजन मिलकर कौशल कहलाते हैं जिनके कारण वह कृति 'इस विशिष्टताके साथ सुन्दर प्रतीत होने लगे कि साधारण मनुष्य भी उसकी ओर सहसा प्रवृत्त हो जाय।'

प्रस्तुतीकरण कौशल

सम्पूर्ण साहित्यको उसकी अन्तःप्रकृतिके अनुसार हम पॉच भागोमे विभक्त कर सकते हैं—कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, और कलात्मक या चित्रात्मक। इन पॉचोके लिए मुख्यतः पॉच प्रकारके कौशलोका प्रयोग किया गया है।

कथाकी अभिव्यक्ति करनेवाले व्यक्तिके रूपमें अर्थात् कथा उत्तम पुरुषमे, मध्यम पुरुषमे या प्रथम पुरुषमे प्रस्तुत की जा सकती है। इन तीनोको क्रमशः १. व्यक्तिगत अभिव्यक्ति (पर्सनल नैरेशन), २. संवादात्मक अभिव्यक्ति (कनवर्सेशनल नैरेशन) और ३ 'एक था राजा अभिव्यक्ति' ('वन्स देअर वाज ए किङ्ग' नैरेशन) कहते हैं। इन्हींको क्रमशः १. सम्प्रेक्षक वृत्ति (ऑब्ज़र्वर्स मोड या स्टोरी-टैलर्स

मोड), २. स्वयं-भागी वृत्ति (पार्टेकर्स मोड) तथा ३. वक्तृवृत्ति (ऐड्रेसर्स मोड) कह सकते हैं।

इन तीनो शैलियोमे रामायणकी कथा कहे तो संक्षेपमे यो कहेगे—

१. मै उन दिनो अयोध्यामे रहता था। उस समय राजा दशरथजीने यज्ञ करके चार पुत्र प्राप्त किए, पर उनकी छोटी रानी कैकेयीने रामके राज्याभिषेकके समय बडा अडङ्गा डाला। हम सब अयोध्यावासी मिलकर राजद्वारतक पहुँचे। हमने देखा कि वनवासी-वेष धारण किए हुए राम, सीता और लक्ष्मण सिंहद्वारसे निकल रहे है। यह देखते ही सबकी आँखें छलछला आईं, मुँहसे शब्द नहीं निकला और सब कैकेयीको कोसते हुए और उस वनपथको अपने आँसुओसे भिगोते हुए मूक भेडोकी भाँति रामके रथके पीछे-पीछे दौड चले।'

२. 'तुम जानते हो रामको ? जिस दशरथने उस रामके लिये पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, उसीने प्रमदाके वशमे होकर उन्हे वनवास दे दिया। आज वे चले जा रहे हैं वनको, और उनके साथ जा रहे है लक्ष्मण और सीता भी, जिसने भूलकर भी कभी पृथ्वीपर पैर नहीं रक्खा। इससे बड़ा और क्या अन्याय हो सकता है। अब कौन ऐसी अयोध्यामे रहेगा ?'

इसी कौशलमे कुछ लोगोने एक नया प्रयोग प्रारम्भ किया है, जिसमें वे कथाके किसी पात्रको ही अपने सामने खडा हुआ एक पात्र मानकर उसे सम्बोधित करके कहते है। मान लीजिए, कैकेयी ही सामने खडी है उसे सम्बोधित करके सम्पूर्ण रामायणकी कथा इस शैलीमे कही जाय तो यो होगी—

'तुम्हीं महाराज दशरथकी सबसे छोटी रानी कैकेयी हो ? जिस समय पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ था उस समय तो तुमने बडी उदारतासे अपने भागके चरुमेंसे आधा निकालकर सुमित्राको दे दिया था। तुम्हीं रामको अपना सगा पुत्र समझती रही न ? रामके विवाहपर तुम्हींने अपने समस्त आभूषण उल्लासमे आकर बाँट दिए थे न ? और आज तुम्हींने उसी रामके लिये चौदह वर्षका वनवास माँगा है ? तुम्हारा हृदय दो

टूक नहीं हो गया ? तुम्हारी जिह्वा कटकर गिर नहीं गई ? घूर कर क्या देख रही हो ? जिन आँखोंसे आज तुम अग्निकी ज्वाला फेंक रही हो उन्हींसे एक दिन पश्चात्तापकी ऐसी धारा निकलेगी कि तुम्हारा सम्पूर्ण महत्त्व उसीमे डूब मरेगा और संसारकी काली कृतियोमें तुम्हारी भी गणना होगी।'

जो लोग इस प्रकारके कौशलका अनुमोदन और समर्थन कर रहे हैं, उनका तर्क है कि 'प्रथम पुरुषमें जब कोई कथा कहता है तब वह अपनी दृष्टिसे कहता है, किन्तु जिनके सम्बन्धमे कहता है और जिन्हे सुनानेके लिये कथा कहता है, उनकी मानसिक तथा आङ्गिक प्रतिक्रियाओका कोई परिचय नहीं देता।' किन्तु उपर्यङ्कित कौशलसे कथा प्रस्तुत करनेमे कथामे वर्णित पात्रोकी प्रतिक्रिया भी दिखाई जा सकती है और श्रोतापर जो प्रभाव पड़े उसकी प्रतिक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है अर्थात् इसमे कथा कहनेवाले, कथा सुननेवाले और कथाके पात्र तीनोंका मानसिक अभिव्यञ्जन हो सकता है।

३. 'एक था राजा-कौशल' वही है जिसमें प्रायः कथाएँ लिखी जाती रही हैं अर्थात् जिनमे कथा कहनेवाला द्रष्टा होकर संवाददाताके समान सब समाचार कहता है और उसपर बीच-बीचमे अपनी वृत्तिके अनुसार अपनी मानसिक प्रतिक्रियाका पुट देता चलता है। संसारके सब प्रबन्ध-काव्यों, उपन्यासो और कहानियोमे अट्ठानबे प्रतिशत रचनाएँ इसी शैलीमे है।

अन्य रीतियाँ

कथा प्रस्तुत करनेके ऊपर जो तीन भेद बताए गए हैं, उनके अतिरिक्त और भी कौशल चले हैं जैसे पत्र, संवाद, आत्मकथा, दैनन्दिनी (डायरी), विवरण, समाचार, व्याख्यान, संस्मरणके रूपमे अथवा कथाके किसी पात्र-द्वारा ही कथा-वर्णन करा देना। आप चाहे तो होमरके प्रसिद्ध काव्य 'इलियाद'की कथाके नायक अदूसियसके

लिये एक अभिनन्दन पत्र लिखकर उसीमे अत्यन्त भावकता-पूर्ण शैलीमे पूर्ण कथा कह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ लोगोने शास्त्रार्थ, रूपक या अध्यवसायन (एलेगरी), सम्बोधन, मूर्त्तिकरण, आवाहन, उपालम्भ, उन्मत्त-प्रलाप तथा स्वप्नमे देखी हुई घटनाके रूपमे भी कथाएँ प्रस्तुत की हैं।

जिन रचनाओमे कथाका संयोजन होता है उनमे आठ प्रकारसे कौशलका नियोजन किया जाता है—१. शीर्षक कौशल, २. इतिवृत्त-पुरुष कौशल, ३ रूप-कौशल, ४. कथा-कौशल; ५. पात्र योजना-कौशल; ६. देश-काल योजना-कौशल, ७. लक्ष्य-कौशल, ८. वर्णन-कौशल। इनमे वास्तविक कौशल कथा-कौशल या सविधान कौशल (प्लौट टेकनीक) ही है।

शीर्षक कौशल

रचनाका शीर्षक या नामकरण इतना विचित्र, आकर्षक तथा अद्भुत रखना चाहिए कि वह तत्काल पाठकका हृदय आकृष्ट कर ले। यह नामकरण कभी तो कथाकी मुख्य घटना या व्यापारके अनुसार किया जाता है, जैसे—

वेणी-सहार, सुभद्रा-हरण, उरुभग आदि।

कभी-कभी नामकरणमे पात्र और विशेष घटना दोनोका संयोग होता है, जैसे—

अभिज्ञान शाकुन्तल, स्वप्न वासवदत्त ।।

कभी-कभी किसी विशेष जाति या वर्गकी कथाके अनुसार उस जाति और वृत्तिके नामसे नामकरण होता है, सेजै—

नाईकी करतूत, वेनिसका व्यापारी।

अधिकांश लेखक अपनी रचनाओके लक्ष्य या परिणामके अनुसार नामकरण करते हैं, जैसे—

प्रायश्चित्त, बलिदान, परित्याग, आत्मोत्सर्ग।

कभी-कभी कुछ वस्तुएँ या स्थान ही रचनाके नामकरणके लिए उपयुक्त समझे जाते हैं, जैसे—

हीरेका हार, काशीका कुम्हार, साकेत, मृच्छकटिक ।

किन्तु नामकरणके इन सब प्रकारोके अतिरिक्त लाक्षणिक नाम रखनेकी भी अत्यन्त सुन्दर प्रणाली चल पडी है, जैसे—

अगदका पैर, अर्थ-पिशाच, राक्षसका मन्दिर, देवता, प्यारके आँसू, विश्वासकी राख, सतीका शाप, आगकी चिनगारी, हृदय-मन्थन, जीवित समाधि, स्वर्गमे नरक, नरककी आग, उजडा स्वर्ग आदि ।

कुछ योरोपीय और अमरीकी लेखक वाक्यो या वाक्याशोमे अपनी रचनाका नामकरण करते हैं, जैसे—

वायुके साथ उड़ गया (गौन विद द विड), आया प्रियतम, मैं तुम्हारा हूँ, घटा छा गई, चलो दिल्ली, काश्मीर हमारा है, दुर्ग टूट गया, बोलो सखी बोलो, जब तारे भी रोये थे, धरती काँप उठी आदि ।

ऐसे नामकरण स्नेहाविष्ट, भयानक, अद्भुत तथा रोमाचकारी घटनाओंके लिये अधिक उपयुक्त होते हैं । अतः नामकरण कौशल ही सर्वप्रथम अपनी व्यञ्जनासे पाठकका हृदय आकृष्ट कर लेता है ।

इतिवृत्त पुरुष कौशल

साधारणतः लोग तृतीय पुरुष या अन्य पुरुषमें ही रचना करते हैं और घटनाओका इस प्रकार वर्णन करते हैं मानो स्वयं द्रष्टा हों । ऐसी रचना इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

एक था राजा • •• ।

दूसरे पुरुषका पुरुष रूप कौशल वह होता है जिनमे अपनेको उस कथाका पात्र बनाकर कथा कही जाती है। यह प्रथम पुरुष कौशल कहलाता है । ऐसी कथाएँ 'मै' के आधारपर चलती हैं ।

मै अपने घरमे सोया ही पड़ा था कि इतनेमे देखा कोई एक चिट्ठी डाल गया । मैं उठा ••••••••।

तीसरे मध्यम पुरुष कौशलमें यह मानकर चलना होता है कि आप कथाके किसी पात्रको सामने देख रहे हैं और उसे सम्बोधित करके पूरी कथा कहते चले जा रहे हैं। इस कौशलमें बड़ी बुद्धि लगानी पड़ती है और इसका प्रयोग भी बहुत कम लोगोंने किया है। मान लीजिए आप कैकेयीको सम्बोधित करके रामायणकी कथा कह रहे हैं तो यों प्रारम्भ करेंगे—

अच्छा आप ही कैकेयी हैं? आप ही महाराज दशरथकी वह मुहलगी प्रियतमा हैं जिन्होंने उस कुबड़ी मन्थराके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजी जैसे योग्य, लोकप्रिय और साधुको वनवास दिलाया? पर मैं पूछता हूँ इस सबसे आपके हाथ क्या लगा? न तो आपके पुत्र भरतने ही राजगद्दी ली और न आपको ही सुख मिल पाया। क्यों आप सकुचा क्यों रही हैं? सम्भवतः आपके मनमें आत्मग्लानि होगी? पर अब आत्मग्लानि दिखानेसे होता क्या है? • • ।'

रूप कौशल

ऊपर बताया जा चुका है कि जितने रचना-रूप दिए गए हैं उन सब रूप-शैलियोंमें भी रचनाएँ की जा सकती हैं अर्थात् किसी भी प्रबन्धको इतिवृत्त और वर्णनके अतिरिक्त गद्यात्मक प्रबन्ध, उपन्यास या कहानीके रूपमें लिखते हुए उसे पत्र, सवाद, आत्मकथा, परिचय, जीवनचरित, रेखाचित्र, श्रव्य-विवरण आदि अनेकों रूपोंमें प्रस्तुत कर सकते हैं। यह भी वास्तवमें कथा-कौशलका ही एक रूप है।

कथा-कौशल

किसी भी रचनाका वास्तविक कौशल उसकी कथावस्तुके निर्वाहमें अर्थात् इस योजनामें है कि कथाकार अपनी कथावस्तुको किस प्रकारसे प्रस्तुत करता है। साधारणत लोग क्रमिक वर्णनके अनुसार ही प्रबन्ध रचना करते हैं, जिसे क्रमिक प्रवाह-वस्तु (रनिङ्ग प्लौट) कहते हैं। किन्तु विशिष्ट कौशलसे रचनेवाले लोग क्रमिक प्रवाहकी चिन्ता नहीं

करते । इनमेसे कुछ लोग तो बीचमे सहसा कथा तोडकर कथा-भागका-दूसरा अश प्रारम्भ करके कुतूहल बनाए चलते है । इस प्रकारकी कथा-वस्तुको बाधित संविधानक (बाई प्लौट) कहते हैं । कुछ लोग किसी कथाको बीचसे प्रारम्भ करके फिर उससे पूर्वकी कथाको कहीं बीचमे प्रसङ्ग लाकर जोड देते हैं । इसे पूर्वाभास कौशल (फ्लैश-बैक टेकनीक) कहते हैं । कुछ लोग घटनाओको आगे-पीछे करके उन्हे ऐसा गूँथ देते हैं कि आरम्भमे तो उनका क्रम ठीक नहीं प्रतीत होता किन्तु अन्तमे चलकर सहसा कथाका उद्घाटन होने लगता है । इसे प्रतिबद्ध-वस्तु-कौशल (इन्टरलौकिंग टेकनीक) कहते हैं । कोई-कोई लेखक अपना कथानक उलटा चलाते हैं अर्थात् अन्तसे आरम्भ करके आरम्भमे अन्त करते हैं । इसे प्रतिलोम कथा कौशल (रिवर्स प्लौट टेकनीक) कहते हैं । कुछ लोग इस प्रकार अपनी कथा चलाते हैं कि उसमे अन्ततक कुतूहल बना रहता है और परिणाम जाननेके लिए तीव्र उत्कण्ठा बनी रहती है । ऐसी कथाओमे क्षण-क्षणपर यह आशा बनी रहती है कि बस अब परिणाम आने ही वाला है किन्तु फिर बीचमे सहसा ऐसी बाधा उठ खडी होती है कि परिणाम दूर हो जाता है । इस प्रकारकी कथा वस्तुमें विलम्बित कुतूहल-कौशल (सस्टेंड सस्पेन्स टेकनीक) होता है, जैसे महाकवि कालिदासके अभिज्ञान शाकुन्तलमे । कुछ कथाकार बीच-बीचमें किन्हीं मौन पात्रोके मनमे उठनेवाली पुरानी घटनाओका चित्र समझानेका प्रयत्न करते हैं अर्थात इस प्रकार किसी पात्रको प्रस्तुत करते हैं मानो वह कोई प्राचीन घटना सोच रहा हो । यह घटना-कौशल (इन्सिडेन्ट फैंटेसी टेकनीक) कहलाता है । कुछ लोग पूरी कथा इस प्रकार कहते हैं मानो स्वप्नमें देखी हुई हो । कुछ लोग इसे स्वप्न-कौशल (ड्रीम टेकनीक) या शेखचिल्लीकी कहानियोंके समान प्रस्तुत करते हैं । कुछ लोग अपनी कथावस्तुका आरम्भ नाटकीय कौशल (ड्रैमेटिक बिगिनिग टेकनीक) या कथाके चरमोत्कर्षसे करते हैं । कुछ लोग कथाका अन्त इस प्रकार करते हैं कि पाठकको स्वयं उसका

परिणाम निकालना पड़े। इसे अन्धपरिणाम कौशल (ब्लाइण्ड एंड टेकनीक) कहते हैं। कुछ लोग जासूसी उपन्यास या आरभटी नाटकोंके समान लोमहर्षण नाट्य कौशल (मैलोड्रैमेटिक टेकनीक) का आश्रय लेकर रचना करते हैं। कुछ लोग पागल अथवा मदोन्मत्त व्यक्तिके प्रलाप कौशल (ल्यूनेटिक टौक टेकनीक) से कथा कहते हैं। कुछ लोग इस कौशलसे कथा प्रस्तुत करते हैं कि संविधानकका कुछ ज्ञान ही न हो। वे संविधानक-लोप-कौशल (प्लौटलेस प्लौट टेकनीक) का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग उद्देश्य-लोप-कौशल (मोटिव-ड्रौप टेकनीक) में उद्देश्य ही लुप्त कर देते हैं। कुछ भूतप्रेतसे वार्तालापके रूपमें भूतप्रेत-कौशल (घोस्ट टेकनीक) से कथावस्तु चलाते हैं। कुछ लोग पिछले या अगले जन्मके कथानक-कौशल (पैरासाइकोलौजिकल टेकनीक) से कथावस्तु चलाते हैं। कुछमें शुद्ध भविष्यवाणी-कौशल (सीअर टेकनीक) का पुट होता है। कुछ लोग बीचसे कथा उठाकर पहले आगे आनेवाली कथा समाप्त कर देते हैं और फिर लौटकर बीती हुई कथा कहनेके पश्चात्पद कौशल (स्टैम्प-बैक टेकनीक) का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग प्रारम्भमें तो अत्यन्त सरल और शान्त ढङ्गसे कथा चलाते हैं किन्तु उसमें धीरे-धीरे इस प्रकार उत्तेजना भरते चलते हैं कि पाठकका क्रमिक भावोत्तेजन हो। इसे क्रमिक भावोत्तेजन-कौशल (ग्रेजुअल इन्सेंटिव टेकनीक) कहते हैं। कुछ लोग एक ही कथावस्तुमें कई प्रकारके कौशलोंका संयोजन करते हैं। इसे बहुफलक कौशल (प्रिज्मिक या मल्टीप्लेन टेकनीक) कहते हैं। कौशलोंकी यह सूची पूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त भी और बहुतसे कौशलोंकी कल्पना की जा सकती है।

कथा-वस्तुका कौशल

कथा-वस्तु या घटना-निर्माण करनेमें ही साहित्यकारके कौशलकी सबसे बड़ी परीक्षा होती है।

इस कौशलमें—१ कुछ लेखक तो एक घटनाको क्रमसे लाते हैं, उन्हें धीरे-धीरे उलझाते हैं और धीरे-धीरे खोलते या सुलझाते हैं।

२. कुछ लेखक सब घटनाओंको उलझाकर पहले उपस्थित कर देते हैं, फिर धीरे-धीरे खोलते है। ३. कुछ ऐसे है जो घटनाओंको अलग-अलग धाराओंमे ले चलते है और सहसा उन्हे अत्यन्त आकस्मिक रूपमे उलझाकर या तो छोड देते है कि पाठक अपने आप परिणाम निकाले और अपने ढङ्गसे उनका मानसिक समाधान करे या उसे स्वय सुलझा देते हैं। ४ कुछ लोग आदिसे अन्ततक उलझाते चलते हैं और सहसा कोई अद्भुत घटना लाकर उसे सुलझा देते है । ५ कुछ लोग कथा तो सरलता-पूर्वक चलाते रहते हैं किन्तु उसका परिणाम इतना उलझाते हुए धीरे-धीरे खोलते है कि पाठक उसके परिणामकी प्रतीक्षा व्याकुल होकर करता है। ६. कुछ लोग ऐसा करते हैं कि कथाकी धारामे ऐसी बाधाएँ उत्पन्न की जायँ कि कथा बार-बार लौटकर वहीं पहुँच जाय जहाँसे प्रारम्भ हुई हो और अन्तमे किसी विशेष घटनाके द्वारा उसका निर्वहण हो जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलकी कथा। ७. कुछ लोग कथामे पात्रोंकी मनोवृत्तियोंके कारण ऐसी अनिश्चितता उत्पन्न कर देते हैं कि पाठकके मनमे निरन्तर यह जाननेका कुतूहल बढ़ता चलता है कि आगे क्या होनेवाला है। ८. कुछ लोग एक ही स्थानपर पूरे नाटक या उपन्यासकी घटनाएँ दिखा देते हैं। ९. कुछ लोगोंने भौतिक या प्रत्यक्ष घटना तो एक ही रक्खी है किन्तु मानसिक द्वन्द्व इतने प्रकारके उत्पन्न कर दिए हैं कि इन्हींके कारण परिणामकी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है। १०. कुछ सशक्त नाटककार या कथाकार अपने बुद्धि-कौशलसे अत्यन्त असङ्गत, असम्भव तथा अस्वाभाविक घटनाको भी सङ्गत, सम्भव और स्वाभाविक सिद्ध करके पाठकको यह विश्वास दिला देते हैं कि माता भी अपने पुत्रकी हत्या कर सकती है। इसी कौशलको शक्ति-प्रदर्शन-कला (तूर दे फोर्स) कहते हैं।

तात्पर्य यह कि 'कथावस्तुकी घटनाओंकी उस क्रम-सज्जाको ही वस्तु-नियोजन कौशल कहते है 'जिससे कथामे कुतूहलकी सृष्टि हो और यह कुतूहल निरन्तर बना रहे।'

पाँच-रीतियाँ

आजतक विश्वमे जितना भी कथा-साहित्य रचा गया है, सबमें पाँच कौशलमेसे किसी न किसीका आश्रय लिया गया है—

१. नायक-केन्द्र-रीति : जिसमे नायकको केन्द्र बनाकर सारी कथा उसीपर अवलम्बित की गई हो। ऐसी कथाओमे व्यक्तिके चरित्रसे घटनाका विकास होता है, घटना-चक्रसे व्यक्तिके चरित्रका विकास नहीं।

२ घटना-चक्र रीति : इस रीतिमे घटनाओका क्रम और घटनाओके प्रकार इस ढगसे जोडे जाते हैं कि उन घटनाओंके चक्रमे पड़े हुए व्यक्ति घटना-प्रवाहसे उलझकर, उसमे बहकर, उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्त्व और चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी कथाएं कौशलकी दृष्टिसे सबसे अच्छी समझी जाती हैं।

घटनाचक्र-रीतिसे कथावस्तु-रचनाके तीन उपाय हैं—१. घटनाओंमें विरोधी व्यक्तियो और विरोधी परिस्थितियोका समावेश कर लिया जाय, जैसे यदि कोई व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता हो तो उसका साथी प्रसिद्ध ठग या धूर्त रख दिया जाय, उसके परिवारमे कई ऐसे इर्ष्यालु व्यक्ति खड़े कर दिए जायँ जो आर्थिक बाधा उपस्थित करें तथा अन्य सहव्यवसायियोकी ओरसे भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। इस प्रकारकी बाधाएँ स्वाभाविक बाधाएँ कहलाती हैं। २. घटनाओमे दैवयोगका सम्मिश्रण कर दिया जाय, जैसे व्यवसायके लिये जाते हुए गाड़ी उलटना, पुल टूट जाना, आँधी-पानी आदि। ३. नायकके स्वभावमे ही कुछ दोष आरोपित कर दिए जायँ जैसे वह सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होते हुए भी किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग या दलसे ईर्ष्या करता हो।

३ तीसरी रीति है मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति · यह रीति केवल उन्हीं कथावस्तुओंके प्रथनमे काम आती है जहाँ व्यक्तियोकी मानसिक भावनाओंमे द्वन्द्व या घात-प्रतिघात हो। यह प्रायः उन व्यक्तियोसे सम्बद्ध कथाओमे प्रयुक्त की जाती है जिनके सब पात्र

परस्पर निकट सम्बन्धी हो और फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो गया हो जैसे रामायणमे वनवासकी कथा। कैकेयीने मन्थराके बहकानेसे भरतके लिये राज्य और रामके लिये वनवास माँगा था। दशरथ भी भरतको राज्य देनेमे सङ्कोच नहीं करते थे किन्तु रामको वनवास देना उन्हें दुःसह प्रतीत हो रहा था। कौशल्याको अपने पुत्रके वियोगका दुःख था किन्तु पिता और माताकी आज्ञाका उल्लङ्घन कराकर वे उन्हें अयोध्यामे रखनेको तैयार न थीं। भरत भी जब लौटकर आए तब उनके मनमे भी इसी बातका दु ख था कि लोग यही समझते होगे कि इसमे भरतका हाथ है।

मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्तिकी रीतिपर रची जानेवाली कथावस्तुमें कथाकारको तीन बातोका ध्यान रखना चाहिए—(क) पात्रोके गुण, शील, पद, मर्यादा और रूढिसे प्रतिकूल कोई कार्य न हो। (ख) सबका व्यवहार और सवाद अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिके अनुकूल हो। (ग) प्रत्येक घटनाका पूर्वापर सम्बन्ध अत्यन्त क्रमिक, सङ्गत और पूर्वकी घटनाका स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम हो।

४. कुतूहल-निर्वाह-रीति : यह रीति प्रायः आजकलके सभी कथाकारों नाटककारो, विशेषतः चलचित्रवालोने अपनाई है। सस्ता भावावेग उत्पन्न करनेके लिये इस प्रकारकी कथावस्तु बड़ी सफल होती है। इन कथावस्तुओमे सम्भव, असम्भव, अद्भुत तथा अप्रत्याशित घटनाओका एक ढाँचा खडा करके इस प्रकारका क्रम बाँध लिया जाता है कि आदिसे अन्ततक कुतूहल बना रहता है।

५. दृश्यानुकूल रीति : इस रीतिमे रचनाकार दृश्यके अनुसार घटनाओका क्रम बाँधता है। यह रीति प्रायः ऐसी वस्तुओकी रचनामें काम आती है जहाँ एक ही स्थानपर पूरी कथा या नाटक दिखानेकी योजना हो।

कवि-स्वातन्त्र्य

कवि या नाट्यकारको काल्पनिक कथा-वस्तुकी रचनामे तो पूर्ण

स्वतन्त्रता रहती है किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओमे उसे केवल इतना ही अधिकार दिया सकना है कि वह नायकके चरित्रके विकासके लिये स्वतन्त्र तथा सम्भावित घटनाओ और पात्रोकी कल्पना करे अथवा इतिहासमे जिन बातोका केवल सङ्केत है उनके लिये पात्रो और घटनाओकी योजना कर ले। कथाकारको इतना ही अधिकार है कि ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओके वृत्त और चरित्रका निर्वाह करते हुए उनके गुणोंका उत्कर्ष दिखलावे। लक्ष्मणको मेघनादके डरसे भागते हुए दिखाना, सीताके वियोगमे रामका डाढ मारकर रोना, उर्मिलाको लक्ष्मणके वियोगमे रोते कलपते दिखाना या पद्मिनीका आत्मसर्पण करनेकी बात सोचना आदि दिखाना कथाकारके अधिकारके बाहर की बात है।

घटना गुम्फन कौशल

दूसरे प्रकारका कौशल कथाके घटना क्रमके गुम्फनमे है। कुछ लोग साधारण तिथि-क्रम या घटनाके अस्तित्व-क्रमसे कथाकी रचना करते है, किन्तु कौशलकी दृष्टिसे वह ठीक नहीं माना जाता। इसीलिये कौशल-शास्त्रियोने यह कहा है कि 'कथा कहीं बीचसे सहसा उठानी चाहिए और फिर उससे पूर्वकी घटना विशेष प्रसङ्गके द्वारा उपस्थित कर देनी चाहिए।' इसीको उपन्यासो और नाटकोमे पश्चादाभास कौशल (फ्लैश बैक टेकनीक) कहा है। इसी प्रकार कुछ लोग अन्तसे कथा चलाकर प्रारम्भ तक उसे लाते है, जैसे भवभूतिने अपने उत्तर रामचरितमे चित्रशालाके दृश्यमे पूर्वकी सब घटनाओकी उद्धरणी करा ली या हरिऔधजीने प्रिय-प्रवासमे यशोदा, नन्द, गोप, गोपी, आदिसे कृष्णका सम्पूर्ण चरित्र कहला डाला।

परिस्थति-संयोग

इधर प्रकृतिवादी (नैचुरलिस्ट) साहित्यमे भाग्यके निश्चित परिणाम दिखानेके बदले कुछ लोगोने आकस्मिक घटना-चक्रका प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि 'कभी-कभी कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं कि

भाग्यको भी बदल देती हैं' अर्थात् एक मनुष्य जब सुखका भोग करनेके लिये पूर्ण रूपसे सन्नद्ध होता है उसी समय कोई आकस्मिक घटना आकर उसमे बाधा दे देती है। यह परिस्थिति-सयोग ही आकस्मिक संयोग (कैजुवल फौर्चुइटी) भी कहलाता है जैसे हार्डीने अपने उपन्यासोमे किया है।

अलौकिक (मर्वैल्यू)

घटना-गुम्फन-कौशलको अधिक सशक्त बनानेके लिये कभी-कभी 'अलौकिक तत्त्वो' (सुपर-नैचुरल) का प्रयोग भी किया जाता है। ब्वालोने अलौकिकके प्रयोगकी आज्ञा देते हुए कहा है कि 'ऐसी घटनाएँ सत्यतुल्य होनी चाहिएँ। पर साथ ही उसने यह भी कहा है कि महाकाव्य और नाटकमे ईसाई धर्म सम्बन्धी अलौकिक तत्त्वोका प्रयोग नहीं करना चाहिए।' किन्तु यह नियम ठीक नहीं है। संसारमे अनेक अलौकिक घटनाएँ होती रहती हैं अतः उनका प्रयोग हो ही सकता है किन्तु वे सत्यतुल्य अवश्य हो।

विषय-चयनका कौशल

विषय-चयन वास्तवमे कोई कौशल नहीं है। यह तो कविके अपने अनुभव, सम्प्रेक्षण, रुचि, प्रवृत्ति और भावनापर निर्भर होता है। जो विचार, घटना, वस्तु या भाव कविको प्रभावित करे, उसीको वह अपने काव्यका विषय बना सकता है। किन्तु कभी-कभी कुछ रचनाएँ केवल विषयके कारण भी प्रसिद्ध हो गई है। अतः विषय-चयनका भी कम महत्त्व नहीं है। उसके लिये भी 'निर्णायक क्षण' का विशेष सिद्धान्त है।

निर्णायक क्षण (मोमेन्ट डिसीज़िव) का सिद्धान्त

अरस्तू, आर्नोल्ड तथा ऐसेकाइनने काव्यका विषय छाँटनेके लिये तीन कसौटियाँ बताई हैं—

१. प्रस्तार (मैग्नीट्यड) अर्थात् कथा इतनी बड़ी हो कि उसमे अनेक परिस्थितियो और घटनाओका समावेश हो सके।

२. उच्च गम्भीरता (हाई सीरियसनेस) अर्थात् उसमे कोई गम्भीर जीवन-सम्बन्धी तत्त्व हो।

३. दूरी (रिमोटनेस) अर्थात् उसमे अपने युगसे बहुत पहलेका या अपने प्रदेशसे दूरका वर्णन हो। किन्तु यह सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है।

पात्र-योजना कौशल

यों तो साधारणतः प्रत्येक कथा-रचनामे नायक और नायिका दोनो होते ही है किन्तु लोग ऐसे कौशलसे कथा रचना करते हैं कि घटनाएँ तो नायकके आधारपर चलें किन्तु नायक लुप्त रहे। इसे नायक-लोप कौशल (सॉ हीरो टेकनीक) कहते हैं। इसी प्रकार नायिका लोप-कौशलका भी प्रयोग किया जाता है। पात्रोके चित्रणमे अच्छेको अच्छा दिखाना और नीचको नीच दिखाना कोई कौशल नहीं है किन्तु किसीको नीच चित्रित करते-करते उसे सहसा उच्च या उच्चको सहसा नीच बना देना कौशल है। इसी प्रकार पात्रको परिस्थितियोका दास बना कर चित्रित करना, नायकको सब परिस्थितियोका स्वामी बना देना, पात्रके दुर्बल होनेपर भी उसीके बलपर सारी कथाका सञ्चालन करना, अनेक पात्रोका सयोजन करके सबका अलग-अलग चरित्र स्पष्ट करना, अत्यन्त कम पात्र लेकर किसी बडी कथाका निर्वाह करना, अत्यन्त अधिक पात्र लेकर छोटी-सी कथा कहना, केवल एक ही वर्ग या वृत्तिके पात्र रखना, अनेक स्वभाव और वर्गोंके पात्रोमे समुचित समन्वय करना, ये सब पात्रनियोजन-कौशलके ही अनेक रूप हैं।

इनमे भी द्वन्द्व-योजनाके पुटसे अलग-अलग कौशल उत्पन्न किया जा सकता है। अन्तर्द्वन्द्व केवल एक ही ओर दिखाना, एक साथ बहुत लोगोके मनमे दिखाना, या बहुतोके मनमे एक साथ विभिन्न प्रकारके अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करना वास्तवमे कौशलकी बात है। इसी प्रकार अन्तर्द्वंद्व और बाह्यद्वन्द्व दोनोका समाहार या केवल बाह्यद्वन्द्वको ही

प्रदर्शित करके पूरी घटनाका वर्णन कर देना भी पात्र नियोजन-कौशल ही है। पात्र-योजना कौशलके लिये एक व्यापक सिद्धान्त है—

'ऐसे पात्र अधिक प्रयोगमें लाए जायँ जो अस्थिर चित्त और जटिल प्रकृतिके हो, तभी काव्यमे कुतूहलका निर्वाह हो सकता है।'

कुछ आचार्योंने कहा है कि 'कथाके मुख्य पात्र रहस्यपूर्ण (मिस्टीरियस) हो जिनकी रहस्यमयताका ज्ञान पाठकको प्रारम्भमे ही करा दिया जाय किन्तु रहस्योद्घाटन अन्तमे ही हो।' कुछ लोग अनेक पात्रोकी योजना करते और उनका बाह्य विवरण अधिक देते है। कौशलकी दृष्टिसे यह अत्यन्त हेय कार्य है। कथाकारको पात्रके सम्बन्धमे स्वय उतना ही विवरण देना चाहिए जितना अन्य प्रकारसे व्यञ्जित न किया जा सके। पात्र ग्रहण करते समय रचनाकारको यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि 'वह जिन पात्रोका प्रयोग करे उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, सङ्गति, सस्कार, शील, गुण आदिको देखकर घटनाओकी परिस्थिति और पात्रोकी मर्यादाके अनुरूप चित्रित करे।'

देश-काल-योजना-कौशल

साधारणतः कथाओमे भूत कालका ही प्रयोग किया जाता है और प्रायः घटनाएँ किसी एक देश या प्रदेशसे सम्बद्ध होती हैं। किन्तु कौशल यह है कि एक कालमे कई देशोका घटनाक्रम कथामे आ जाय, अथवा अनेक कालोमे एक देशकी घटनाका क्रम चले, अथवा एक देशमे एक ही कालकी घटना हो, अथवा कई देशोमे कई कालोकी घटना एक साथ चले। साधारणतः लोग पृथ्वीकी ही घटनाओका वर्णन करते है क्योकि वे पृथ्वीपर ही रहते है। यद्यपि पुराणोमे स्वर्ग और पातालका भी वर्णन होता है किन्तु साधारणतः प्रबन्ध-रचनाओमे पृथ्वीकी ही घटनाओका वर्णन होता है। किन्तु कौशल इस बातमे है कि कथामे पृथ्वी, आकाश, समुद्र तीनोका, अथवा आकाश और समुद्रका, अथवा केवल समुद्रका, अथवा पृथ्वी

और समुद्रमे व्याप्त होनेवाली घटनाओंका समाहार किया जाय। इसी प्रकार एक ही कथामे भूत, भविष्य, वर्तमान तीनोका समावेश करनेसे कथा अधिक रोचक और अद्भुत रसके योगसे पूर्ण होनेके कारण अधिक आकर्षक हो जाती है।

स्थान संयोजन-कौशल

इस सम्बन्धमे केवल यही बात स्मरण रखनी चाहिए कि 'कथामे अधिक स्थानोका परस्पर दूरस्थ, असम्भव तथा असङ्गत स्थानोका वर्णन नहीं देना चाहिए। स्थानोका उतना ही विवरण देना चाहिए जितना आवश्यक हो और वह विवरण भी अत्यन्त सटीक तथा सत्य होना चहिए।' क्योकि पाठककी प्रवृत्ति कथामे रहती है, वर्णनमे नहीं। कथाकी धारा बनाए रखनेके लिये वह वर्णन छोडकर आगे बढ जाता है और लेखकका प्रयास व्यर्थ हो जाता है।

लक्ष्य कौशल

लक्ष्यका कोई विशेष कौशल तो नहीं होता किन्तु जैसे लक्ष्यवाली कथाकी कल्पना की जा सकती है, वैसे ही बहुतसे लक्ष्योकी कल्पना करके भी कथा लिखी जा सकती है। लक्ष्यको अन्त या परिणाममे ही प्रकट न करके बीच-बीचमे बड़े कौशलसे इस प्रकार प्रकट करके भी कथा चलाई जा सकती है कि विभिन्न स्थलोपर विभिन्न लक्ष्य प्रकट हो और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायँ कि उनके आधारपर लेखकका लक्ष्य, बिना बताए ही स्वय ध्वनित हो जाय।

वर्णन कौशल

किसी भी कथामे यद्यपि वर्णन केवल उतना ही होना चाहिए जितना आवश्यक और अनिवार्य हो और जिससे कथाका प्रवाह समझनेमे कठिनाई न हो किन्तु विशेष कौशलका पुट देकर उसे भी आकर्षक बनाया जा सकता है। कथाओमे प्राय उन्हीं पात्रो, वस्तुओ और स्थानोका ही चित्रण या वर्णन किया जाता है जिनका विवरण जाननेके लिये पाठक समुत्सुक हो। ये वर्णन-कौशल कई प्रकारके

होते हैं—अत्यन्त सूक्ष्म विस्तृत वर्णन, जैसे चार्ल्स डिकिन्सके वर्णनोमे, चलते-से वर्णन, जो प्रायः अध्यायोके प्रारम्भमे कथा-निर्वाहके लिये दे दिए जाते हैं, वे वर्णन, जो कथाकी धाराकी बीच-बीचमे परिस्थिति स्पष्ट करनेके लिये और व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखानेके लिये प्रस्तुत किए जाते हैं। किन्तु कौशलकी दृष्टिसे वही वर्णन समुचित कहा जा सकता है जिसमे लेखक कुतूहल-वृद्धिके लिये वर्णनका आश्रय ले और धीरे-धीरे उस वर्णनके द्वारा ही भावोत्तेजन करते करते रसकी अभिव्यक्तिमे सहायता पहुँचावे। इस प्रकारके वर्णन वास्तवमे बडे सहायक होते हैं। कुतूहल-वृद्धिकी दृष्टिसे वर्णन अधूरा छोडकर वस्तु या व्यक्तिके प्रति उत्कण्ठा जागरित करना अनुभव क्रमसे वस्तुका वर्णन करना, (जैसे शिशुपालबधके प्रारम्भमे नारदका वर्णन है), तुलनात्मक वर्णन अर्थात् एक ही वस्तु या स्थानकी दो दशाओका साथ साथ वर्णन करना (जैसे अयोध्यकी राज्यलक्ष्मीसे कालिदासने कुशके आगे अयोध्याके वैभव और विनाशका साथ-साथ वर्णन कराया है), सब कौशलकी दृष्टिसे अत्यन्त कलापूर्ण होते है।

प्रारम्भ कौशल

कथाके प्रारम्भ करनेमे भी कौशलका प्रयोग किया जाता है। कोई तो सीधे मङ्गलाचरणसे, कोई लम्बी चौडी भूमिका, परिचय या प्रस्तावना देकर, कोई आकस्मिक घटना प्रस्तुत करके, कोई पात्रका वर्णन करके और कोई स्थानके वर्णनसे कथा प्रारम्भ करते हैं। प्रायः सब देशोके प्रारम्भिक उपन्यासोमे अन्तिमका ही अधिक प्रयोग हुआ है जिनमे स्थानो तथा दृश्योका इतना अधिक वर्णन हुआ है कि कथा अत्यन्त अरुचिकर और नीरस हो जाती है। कभी-कभी कुछ लेखक घटनाके बदले किसी पात्रका मानसिक द्वन्द्व उपस्थित करके ही कथा प्रारम्भ कर देते हैं। प्रारम्भ करनेके सम्बन्धमे आचार्योंका मत है कि कोई भी कथा चाहे वह प्रबन्ध काव्यके रूपमे प्रस्तुत की जाय, चाहे नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके रूपमें किन्तु उन सबका प्रारम्भ

किसी ऐसी आकस्मिक घटनासे करना चाहिए जिसकी ओर पाठक या ग्राहककी चित्तवृत्ति सहसा केन्द्रित हो जाय।' इस प्रारम्भमे ही कथाके द्वन्द्वका बीज इस प्रकार डाल देना चाहिए कि वहींसे पाठक या दर्शककी वृत्ति कथामे चिपक जाय। यही प्रारम्भ करनेका एकमात्र श्रेष्ठ कौशल है। इसीको नाटकीय प्रारम्भ ('ड्रैमेटिक बिगिनिग') कहते हैं।

निर्वहण कौशल

उपसंहारके सम्बन्धमे भी लेखकका अपना कौशल होता है। प्रायः कथा लिखते-लिखते, उसके अन्ततक पहुँचते-पहुँचते लेखकका धैर्य छूट जाता है और वह उसे समाप्त करनेकी हडबडीमे पड जाता है। यही मानसिक कारण है कि अधिकाश कथाकारोकी कथाओके परिणाम ठीक नहीं हुए है। यो तो कथाकार जो परिणाम दिखा दे वही पाठकको ग्राह्य हो जाता है किन्तु विवेकशील पाठक उस परिणामको देखकर कभी-कभी यह भी सोचता है कि 'कथाकारको यह अन्त नहीं दिखाना चाहिए था।' इसी भावनासे काव्य-न्याय (पोएटिक जस्टिस) का सिद्धान्त निकला है जिसका तात्पर्य यह है कि 'कथाके अन्तमे सज्जनका पतन या नाश और दुष्टका उत्कर्ष तथा वैभव नहीं दिखाना चाहिए।' इससे पाठकको तो निराशा और चोट लगती ही है, विश्व-चेतनामे जो सत्य और न्यायके उत्कर्षकी उदात्त भावना व्याप्त है वह भी लडखड़ाकर गिर पडती है।

कुछ लेखक कथाओका आकस्मिक अन्त करते हैं और परिणाम निकालनेका भार ग्राहकपर छोड देते हैं। कुछ सुखमय या दुःखमय परिणाम उत्पन्न तो कर देते हैं किन्तु उसका औचित्य नहीं सिद्ध कर पाते। कुछ लोग धीरे-धीरे परिणाम दिखाते हैं। इस सम्बन्धमे उपसहार-कौशलका एक अत्यन्त व्यापक यह सिद्धान्त माना जाता है—

'परिणाम सुखद हो या दुःखद, किन्तु उसके औचित्य और अपरिहार्यत्वका पूर्ण प्रमाण देकर उसे ऐसे क्रमसे उपस्थित किया जाय

कि ग्राहकको विश्वास हो जाय कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम सम्भव ही नहीं हो सकता था।'

सबसे अधिक कौशल पूर्ण कथाएँ वे समझी जाती हैं जिनमे अप्रत्याशित परिणाम दिखाया जाता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह अधिक स्वाभाविक नहीं है क्योकि इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि कथाकारके अतिरिक्त सभी लोग मूर्ख हैं अतः परिणाम केवल कुतूहलजनक हो, कुछ उत्सुकता जगाकर प्रस्तुत किया जाय और उचित हो, जिससे पाठकको यह सन्तोष हो कि 'जो हुआ वह ठीक हुआ।' वह यह न कहे कि 'राम-राम ! यह क्या हो गया ?' उसे मानसिक असन्तोष और व्यथा न हो।

कुछ लोग परिणामके सम्बन्धमे अत्यन्त असावधान रहते हैं और या तो वे पहले ही परिणाम बता देते है या परिणामके अवसरपर वर्णन अधिक करने लगते है, या एक सी घटनाओकी आवृत्ति करते हैं या पात्रोकी अधिकतासे परिणाम अस्पष्ट कर देते हैं या परिणाम दिखाकर उसका औचित्य सिद्ध करनेके लिये दार्शनिक विवेचन करते हैं। यह सब उपसहारका सहार है।

इस सम्पूर्ण विवेचनका तात्पर्य यह है कि 'रचना कौशलके लिये कोई नियम या सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।' जिस लेखकका ज्ञान जितना विस्तृत होगा वह अपनी कथाको उतना ही कौशल-पूर्ण बना सकेगा। कौशल-योजनाका तात्पर्य यही है कि 'कथाकार अपनी कथामे जितनी ही—१. नवीनता, २. सम्भव तथा सङ्गत आकस्मिकता और ३ कूतूहलपूर्ण एकाग्रता उत्पन्न करेगा उतनी ही अधिक वह रचना कौशलपूर्ण होगी।'

कुछ लोग चरित्र चित्रणको, कुछ सूक्ष्म विवरणको, कुछ व्यापार-योजनाको, कुछ वास्तविक चित्रणको और कुछ लोग नाटकीयताको कौशल मानते हैं किन्तु ये सब तो कथा प्रस्तुत करनेके कौशलके विभिन्न साधन हैं, कौशल नहीं।' कुछ लोगोका मत है कि 'साहित्यका उद्देश्य

भाषाकी शिक्षा देना अर्थात् भाषाका सस्कार करना है अतः कौशलके फेरमे न पडकर भाषाका सौन्दर्य व्यक्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि कथा तो चाहे जैसी हो, वह कुतूहलजनक होगी ही। मानव-मस्तिष्क सदासे कथाके प्रति सरुच रहा है अतः उसके बनाव शृङ्गारके फेरमे नहीं पडना चाहिए।' यद्यपि भाषाका प्राधान्य साहित्यमें आवश्यक है किन्तु 'कथा जबतक आकर्षक न होगी तबतक भाषाकी ओर प्रवृत्ति कैसे होगी ?' अतः कथा-कौशलका सयोजन अत्यन्त आवश्यक है।

इसी सम्बन्धमे कुछका मत है कि 'कौशलकी दृष्टिसे यही महत्त्वकी बात है कि कवि कथाको चाहे जैसे चलावे किन्तु मर्मस्पर्शी स्थलोका चित्रण प्रभावशीलता और सूक्ष्मदर्शिताके साथ करे।' भारतीय प्रबन्धकारोका यही कौशल रहा है। वे केवल सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी स्थलोका तो विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ करते रहे, शेष स्थलोको साधारण—'आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया।' —शैलीसे चलाते रहे।

भाषा-शैली, भावशैली और रूप-शैलीके अतिरिक्त व्यापक अर्थमें शब्द योजना, वाक्य-योजना, भाव-योजना और वस्तु-योजनाके विलक्षण सयोगको शैली कहते है। पीछे बताया जा चुका है कि भाषा-शैलीमे कुछ लोग विषयके अनुकूल कोमल अतिमधुर वर्णोंका प्रयोग करते हैं, कुछ लोग अकोमल और कठोर वर्णोंका। इस शब्द-योजनाको ध्वनि-योजना (वर्ड मैलेडी) कहते है और यह शैलीका बाह्य तत्त्व है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखकको सज्ञा, विशेषण और क्रिया-पदके प्रयोगोकी योजना करनी पड़ती है। यह भी पीछे बताया जा चुका है कि कुछ लोग केवल सज्ञाओका प्रयोग करते हैं और कुछ लोग उन संज्ञाओके साथ कभी थोडे और कभी बहुतसे विशेषण लगा देते हैं। विशेषण लगानेसे शब्दमे चमत्कार आ जाता है, संज्ञाकी प्रकृति अधिक मनोहर और स्पष्ट हो जाती है, भाव समझनेमें किसी प्रकारकी असुविधा

नहीं होती। किन्तु विशेषणसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण धाराबद्ध क्रिया-पदोका प्रयोग होता है जिनके उदाहरण कादम्बरी या हर्षचरितके वर्णनोमे बहुत प्राप्त होते हैं। उस प्रकारका एक उदाहरण लीजिए—

"उसके भालपर घुँघराली लटोका मनोहर, रसीला, फूलके गुच्छोसे सजा हुआ, मोतियोसे पोहा हुआ, कई नागिनोको गूँथकर बटा हुआ-सा और भौरोके झुण्डको काले डोरोमे बाँधकर समेटा हुआ सा जूड़ा उसकी हिम-धवल ग्रीवापर झूलकर अपने मदिर सौरभसे शीतल, मन्द, सुगन्ध बयारको सुरभि दान कर रहा था।"

उपर्युक्त उद्धरणमे संज्ञा, विशेषण और क्रियापद सबका ऐसा सटीक, सुन्दर, मधुर और उचित समन्वय किया गया है कि इसे पढकर व्यक्ति या वस्तुका चित्र तो सामने उपस्थित हो ही जाता है, साथ ही हमारी कल्पनामे जो उसका बिम्ब-चित्र बनता है वह हमारी भाव-भूमिको इस प्रकार प्रभावित और परिष्कृत करता चलता है कि हमारे आत्मामे उस सत्त्वका उद्रेक होने लगता है जो रसास्वादनका मूल आधार है। संज्ञाओके प्रयोगमे लेखकको विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योकि एक शब्दके अनेक पर्याय होते हैं, किन्तु कौन-सा पर्याय, किस विशेष अर्थमे, कहाँ प्रयोग करनेसे, क्या विशेष प्रभाव या योग्यता उत्पन्न करता है यही विचारणीय है। 'घट' शब्द 'कलश' का ही पर्याय हैं। इसके साधारण देशी रूप 'घडा, गगरा, कलसा और कलसी' हैं किन्तु इन सबमे आकार और प्रकार दोनोका भेद है। उस भेदके अनुसार ही इन शब्दोका प्रयोग करनेसे अधिक सरसता आ सकती है। यही बात विशेषण और क्रियापदके प्रयोगके सम्बन्धमे भी है। ये ध्वनि, सज्ञा, विशेषण और क्रियापद सब शैलीके बाह्य तत्त्व हैं।

वाक्य और महावाक्य

ध्वनि, सज्ञा, विशेषण और क्रियापदके अतिरिक्त वाक्य और महावाक्यका निर्माण भी शैलीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

वाक्यके बिना कोई भी भाव पूरा नहीं होता। स्फोटवादियोंने भी सब शास्त्रार्थ करके अन्तमें यही माना है कि अर्थका स्फोट वाक्यसे ही होना है—

वाक्यस्फोटोतिनिष्कर्षस्तिष्ठतीति मतस्थितिः।

[वाक्यसे ही अर्थका बोध होता है इसलिये भाषाका परम अवयव वाक्य ही है।]

कभी-कभी लोग एक शब्दसे ही वाक्यका काम चला लेते हैं जैसे किसीको सामने देखकर हम कहते है—'आइए।'

इसका अर्थ है—

'आप कृपाकर भीतर आइए ?'

इसी प्रकार बहुत दिनोपर किसी अपने मित्रको आए देखकर जब आप कहते हैं— अरे आप !' तो इसका भाव है कि—

'आप बहुत दिनोपर दिखाई पड़े हैं। यहाँ कहाँ अचानक आ गए ?'

कहनेका अर्थ यह है कि पूर्ण भाव केवल वाक्यसे ही व्यक्त होता है।

यो तो उद्देश्य और विधेय दोनोसे युक्त रचना ही वाक्य कहलाती है किन्तु भारतीय विद्वानोने वाक्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—'उस उच्चरित अथवा अनुमित पद-समूहको वाक्य कहते है जो आकांक्षा, योग्यता और आसत्तिसे युक्त होकर किसी अर्थका बोध करावे।'

आकांक्षाका अर्थ है कि वाक्यके सब शब्द पढ़कर यह जाननेकी इच्छा न रहे कि किसने क्या किया। यदि हम केवल 'मोहन' शब्द कहे तो यह जाननेकी आकांक्षा बनी रह जाती है कि 'मोहनने क्या किया ?' या, 'मोहनको क्या हुआ ?' इसी प्रकार यदि हम कहे 'वंशी बजा रहा है' तो यह जाननेकी आकांक्षा रह जाती है कि 'वंशी किसने बजाई ?' अतः, वाक्यमें जो शब्द आवें उन्हे कहने या लिखनेके पश्चात् अर्थके सम्बन्धमें कुछ जाननेकी आकांक्षा नहीं रहनी चाहिए। जब हम कहते

है—'मोहन वशी बजा रहा है', या 'मोहनने वशी बजाई' तब वाक्य पूरा हो जाता है, कुछ और जाननेकी आकाक्षा नहीं रहती।

वाक्यमे योग्यता भी होनी चाहिए। वाक्यके शब्द मिला देनेसे उसका अर्थ भी बुद्धिसगत होना चाहिए। यदि हम कहे—'वह आगसे नहा रहा है' तो यह वाक्य योग्यताकी दृष्टिसे असगत है क्योकि कोई मनुष्य आगसे नहीं नहा सकता। किन्तु यदि कहा जाय कि 'वह जलसे नहा रहा है' तो वाक्य बुद्धि-सगत और योग्यतापूर्ण होगा। अतः वाक्यके लिये आवश्यक है कि उसका अर्थ बुद्धिसगत हो, उसमे योग्यता हो।

वाक्यकी तीसरी आवश्यकता है 'आसत्ति', अर्थात् शब्दोका पास-पास होना। यदि हमे कहना हो—'मोहन वशी बजा रहा है' और हम उसे इस प्रकार कहे—

मोहन—कौन, भूसा रखवा दो—कुँआ—पानी लाओ—वशी—आ गए ?—बजा रहा है।

—तो इस वाक्यमे 'मोहन, वशी, बजा रहा है' तीनो शब्दोके बीचमे न जाने और कितनी बाते आ गई। अत., यह वाक्य नहीं बना। वाक्य तभी बन सकता है जब हम कहे—'मोहन वशी बजा रहा है'। इसका अर्थ हुआ कि 'वही पद-समूह वाक्य हो सकता है जिसके सब पद (शब्द) आकाक्षा, योग्यता और आसत्तिसे युक्त हो।'

वाक्यके रूप और गुण

वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—सरल, मिश्रित और सयुक्त। इन तीनों प्रकारके वाक्योका विवेचन पीछे किया जा चुका है। साहित्यिक दृष्टिसे किसी वाक्यको रमणीय और प्रभावोत्पादक बनानेके लिये उसमे चार गुण आवश्यक हैं—१. शुद्धता, २ कलात्मकता, ३. मधुरता और ४ समर्थता। शुद्धताके अन्तर्गत व्याकरणकी शुद्धताके साथ साथ भाव या अर्थकी स्पष्टता भी आती है। स्पष्टताको ही प्रसाद गुण भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य पढ़ते ही या सुनते ही

पाठक या श्रोता तत्काल लेखकका उद्दिष्ट अर्थ समझ ले। इसी गुणको गोस्वामी तुलसीदासजीने 'सरल कबित' कहकर आहृत किया है। श्रुति-मधुरताका तात्पर्य यह है कि वाक्यके शब्द कानोंको कटु न लगें, मधुर लगें। समर्थताका अर्थ यह है कि वाक्यमे सब शब्दो, सिद्धोक्तियो (मुहावरो) और वाक्य-खण्डोका सयोजन गठा हुआ हो। वे उखड़े-उखड़े, असम्बद्ध, कृत्रिम अथवा असङ्गत न जान पड़े।

रचनाकी दृष्टिसे वाक्य भेद

वाक्य रचनाकी दृष्टिसे वाक्यके तीन भेद माने गए हैं—१. संयत, २. शिथिल और ३ सन्तुलित।

सयत वाक्यके शब्द, उपवाक्य और सहायक वाक्य सब एक प्रवाहमे बँधकर सम्मिलित प्रभाव डालते है जैसे—

उस समय दार्शनिकताके बदले हमारे हृदयपर भयंकर विभीषिका अधिकार जमाए बैठी थी क्योंकि चीतेको हम लोगोंकी गन्ध मिल गई थी और वह अपने आखेटोसे तृप्त होकर उसी वृक्षका चक्कर काट रहा था जिसपर हम लोग विराजमान थे।

शिथिल वाक्यको सयत वाक्यका ठीक विपरीत रूप समझना चाहिए। इसमें मुख्य भाग पहले ही दे दिया जाता है और पीछे आनेवाले शेष वाक्योमे प्रवाह और ओज नहीं रहता। ऐसे वाक्योमें कुतूहलकी निवृत्ति प्रारम्भमे ही हो जाती है और शेष वाक्य ऐसे जान पडते है मानो भरतीके हो, जिनका कोई प्रयोजन न हो। ऐसे वाक्योंमें प्रभावोत्पादकताका अभाव रहता है। उदाहरण लीजिए—

चीता उसी वृक्षका चक्कर काटने लगा जिसपर हम लोग विराजमान थे क्योंकि उसे हम लोगोकी गन्ध मिल गई थी, इसलिये उस समय दार्शनिकताके बदले हमारे हृदयपर भयकर विभीषिका अधिकार जामाए बैठी थी।

सन्तुलित वाक्य वह होता है जिसके वाक्य एक दूसरेपर आश्रित और एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर प्रभावित करनेवाले होते हैं, जैसे—

ब्रह्मचर्य ही जीवन है, विलास ही मृत्यु है।

संघर्ष ही जीवन है, निश्चेष्टता ही मृत्यु है।

अतः अच्छे लेखककी रचनामे सयम और सन्तुलन अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके बिना वाक्य निर्जीव हो जाते है।

महावाक्य या अनुच्छेद

किसी एक भाव, विचार, वस्तु या क्रियाकी व्यवस्थित व्याख्याके लिये जो एक वाक्य-समूह बनता है उसे अनुच्छेदक या महावाक्य कहते हैं। एक अनुच्छेदमे एक पूरी कथा या विषयके किसी एक अङ्ग या पक्षका एक सयत पूरा वर्णन अवश्य निहित होना चाहिए अन्यथा वह अनुच्छेद अपूर्ण और अव्यवस्थित माना जाता है। ये अनुच्छेद प्रायः दो प्रकारके होते है—१. सिद्धान्तारब्धी, २. परिणामान्तक। पहलेमे लेखक जिस बातका विवेचन करना चाहता है उसे अनुच्छेदके प्रारम्भमे देकर तदनन्तर उसकी व्याख्या करता है। ऐसे अनुच्छेद सिद्धान्तारब्धी कहलाते हैं। इन्हींको वर्णनात्मक निबन्धो या कथाओमे मुख्यार्थवाची कहते हैं। जैसे—

लज्जा नारीका आभूषण है। जिस नारीकी आँखोमें शील नही, लाज नहीं, सकोच नही, उस नारीका कही आदर नहीं होता। उसे लोग कर्कशा, लड़ाकी, टर्री तो कहते ही है, उसे कुलटा, पुँश्चली और छिनाल भी समझते हैं। किन्तु जो नारी अपना आँखें ऊपर न उठने दे, किसीके आगे कभी मुँह न खोले, ठठाकर हँसे नहीं, अधिक और अनावश्यक बोले नहीं, उसके पैरोमें सबके सिर, सबकी आँखें झुक जाती हैं।

परिणामान्तक वाक्य वे होते है जिनमे लेखक कुछ वर्णन या विवरण देकर अन्तमे परिणाम निकालता और वर्णनीय वस्तुका परिचय देता है। ये वाक्य परिणामवाची कहलाते हैं। ऐसे वाक्योमे अन्ततक कुतूहल बना रहता है और सयत वाक्योकी रचना करनेमे अधिक सुविधा होती है। जैसे—

जिस नारीकी आँखोमें शील नही, संकोच नहीं, उस नारीका कहीं आदर

नहीं होता। उसे लोग कर्कशा, लड़ाकी और टर्रा समझते हैं। किन्तु जो नारी अपनी आँखें ऊपर न उठने दे, किसीके आगे मुँह न खोले, ठठाकर हँसे नहीं, अधिक और अनावश्यक बोले नही, उसके पैरोंमें सबके सिर, सबकी आँखे झुक जाती हैं। अत लज्जा ही नारीका आभूषण है।

प्रकरण, परिच्छेद अध्याय या सर्ग

प्रकरण, परिच्छेद, सर्ग या अध्याय सब समानार्थवाची शब्द हैं। ये विचारात्मक, दार्शनिक अथवा गूढ विषयोके विभिन्न तत्त्वोका अलग-अलग निरूपण करनेके काममे भी आते है और कथाके भागोको अलग करनेके लिये भी। अ याय या प्रकरणका तात्पर्य यह है कि किसी एक ग्रन्थके प्रतिपादित विषय अथवा कथाका एक निर्दिष्ट और पूर्ण अश उस प्रकरण या अध्यायमे पूरा आ जाय। प्रायः कथाओमे कुतूहलका निर्वाह करनेके लिये किसी ऐसी घटना या प्रसङ्ग-पर लाकर परिच्छेद, प्रकरण या अध्याय समाप्त किया जाता है कि आगे जानने और पढ़नेकी जिज्ञासा बनी रहे। यह जिज्ञासा आगे दूसरे किसी सर्ग, प्रकरण या अध्यायमे पूरी कर दी जाती है और बीचमे अध्याय या प्रकरणका व्यवधान देकर अथवा बिना कथाका व्यवधान दिए ही नया प्रकरण चलाकर भी कथा-निर्वाह या विषय-निर्वाह किया जाता है। प्रबन्ध-काव्योमे यही क्रिया सर्ग-रचनाके द्वारा और नाटकोमे अको तथा दृश्योकी योजनासे की जाती है। ये प्रकरण एक विशेप कौशलसे प्रारम्भ किए जा सकते है और एक विशेष कौशलसे ही समाप्त किए जा सकते है।

नवम खण्ड

समीक्षा-शास्त्र

१

समीक्षाकी आवश्यकता

संसारमें बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी है जो बाहरसे सहसा सबका ध्यान आकृष्ट नहीं करतीं और यदि आकृष्ट करती भी है तो उनका वास्तविक महत्त्व बहुत कम लोग समझ पाते है। कुशल पारखीके न होनेसे बहुत-सी वास्तविक सुन्दर वस्तुएँ और रचनाएँ अनादृत हो जाती हैं या उपेक्षित पडी रह जाती है, दूसरी ओर, बहुतसी निरर्थक वस्तुएँ और रचनाएँ भ्रम या पक्षपातसे सुन्दर और ग्राह्य समझी जाकर अनुचित आदर प्राप्त कर लेती है जिससे अयोग्यको तो प्रोत्साहन मिलता है और जनताको मूल्याङ्कनकी ऐसी भ्रामक कसौटी मिल जाती है कि उसके सहारे वह अनुचितको उचित, और त्याज्यको ग्राह्य मानने लगती है। अतः जनताकी रुचिको परिष्कृत, व्यवस्थित, सन्तुलित तथा विवेकशील बनाए रखनेके लिए किसी भी वस्तु या रचनाका ठीक मूल्याङ्कन तथा परिज्ञान करने या करानेवाले कुशल पारखीका होना मानव समाजकी सत्प्रवृत्तियोकी सुरक्षाके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। किसी भी वस्तु या रचनाकी उचित परीक्षाके लिये ऐसा शास्त्र अवश्य होना चाहिए जिसके आश्रयसे प्रत्येक व्यक्ति स्थिर सिद्धान्त समझ सके और किसी वस्तु या रचनाका ठीक परीक्षण कर सके, अतः मनुष्यकी जिस वाणीके आश्रयसे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानका

प्रसार हो रहा है, और उसने जो साहित्य नामसे वाक्सृष्टि की है उसके उचित परीक्षणके लिये ही समीक्षा-शास्त्र आवश्यक है।

समीक्षा ही क्यों

साहित्यकी परीक्षाके लिये 'आलोचना' शब्दका प्रयोग अँगरेजी 'क्रिटिसिज्म' शब्दके रूपमे किया जाता है। आलोचना शब्दका अर्थ चारो ओरसे देखना (आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियाँ आलोचना) भर है। परीक्षा शब्दका अर्थ भी चारो ओरसे देखना (परितः ईक्षा परीक्षा) ही है। इन दोनो शब्दोमे किसी वस्तु, रचना या विषयके भीतर पैठकर उसके सर्वाङ्गीण परिज्ञानकी बात नहीं आती। इसीलिये विद्वानोने 'समीक्षा' या 'समीक्षण' शब्दका प्रयोग चलाया, जिसका अर्थ है भली प्रकार देखना, जाँच करना तथा पूरा ज्ञान प्राप्त करना (सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम्)। इसीलिये साहित्यकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप तथा उसके सब अङ्ग, उपाङ्ग, तत्त्व, गुण, दोष, प्रभाव, भेद आदिका पूर्ण ज्ञान करानेवाली विद्याका नाम 'साहित्य-समीक्षा-शास्त्र' ही उचित है।

उपर्युक्त विचारके अनुसार समीक्षा या समीक्षण वह साधु तात्त्विक प्रतिक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ वस्तु व्यक्ति या विषय) देखनेकी इच्छा करे, देखे और देख चुकनेपर उसमें जो द्रष्टव्य हो, उसे दूसरेको भी दिखानेकी इच्छा करे और दिखावे।'

समीक्षक, समीक्ष्यवादी और समीक्षा शास्त्री

जो मनुष्य स्वय साधुवृत्तिसे ही किसी पदार्थका भली प्रकार निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करके स्वय उस पदार्थके ज्ञानसे अवगत तो हो जाता है किन्तु दूसरोको बताने या समझानेकी उसमे या तो योग्यता नहीं रहती अथवा उसकी वृत्ति ही नहीं होती वह समीक्षक कहलाता है। जो व्यक्ति स्वय किसी पदार्थका तात्त्विक निरीक्षण करके, उसकी विशेषताएँ दूसरोको भी बताता या समझाता

है, उसे समीक्ष्यवादी कहते हैं। जो व्यक्ति समर्थ होते हुए भी न तो स्वय किसी पदार्थका तात्त्विक परीक्षण करता है न दूसरोको बताता है वरन् पदार्थोंका वास्तविक परीक्षण करनेकी इच्छावाले व्यक्तियोको निर्देश देता है कि किस पदार्थको किस दृष्टिसे, किस प्रकार देखना और और समझना चाहिए तथा उसमे किस प्रकार रस लेना चाहिए वह समीक्षा-शास्त्री कहलाता है।

भारतमें समीक्षाका विकास

भारतवर्षमे राजशेखरने ही अपनी काव्य मीमासामे समीक्षाका वास्तविक सूत्रपात किया किन्तु उसका व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया औचित्यवादियोने ही। क्षेमेन्द्रने अपनी 'औचित्यविचार चर्चा'मे समझाया है कि किसी भी प्रकारके काव्यमे यह देखना चाहिए कि उसमे काव्यका प्रत्येक तत्त्व उचित रूप, मात्रा और अनुपातमे व्यक्त हो पाया है या नहीं—

कण्ठे मे खया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः॥

[यदि कोई महिला अपने गलेमे तगडी, कमरपर हार, हाथमे नूपुर और पैरोमे भुजबन्ध बाँध ले, यदि कोई अपने सम्मुख झुके हुए व्यक्तिपर वीरता दिखावे और शत्रुपर करुणा दिखावे, तो कौन ऐसा है जो इस मूर्खतापर नहीं हँस देगा। अतः औचित्यके बिना न तो कोई सजावट ही अच्छी लगती है न गुण ही।]

क्षेमेन्द्रकी इस विवेचनाके अनुसार औचित्य ही द्रष्टव्यताकी कसौटी है और काव्य या साहित्यमे इसी औचित्यकी परीक्षा ही उनकी दृष्टिसे वास्तविक काव्य-समीक्षा है।

इसके अतिरिक्त भारतमे योरोपीय ढगकी कोई समीक्षा-पद्धति नहीं चली। रीति-ग्रन्थकारो या साहित्य-शास्त्रियोने साहित्यके लक्षण

ग्रन्थोमे गुण, दोष, रीति, वृत्ति, अलङ्कार, ध्वनि, रस आदिके लक्षणके साथ उदाहरण दे-देकर छिटपुट ढगसे किसी कविकी किसी प्रासङ्गिक उत्कृष्टता या निकृष्टताका सकेत-मात्र किया है जिसे हम किसी भी प्रकार समीक्षाकी श्रेणीमे स्वीकार नहीं कर सकते।

सूक्तिगत समीक्षा

हमारे यहाँकी एक और भी प्राचीन पद्धति रही है कि गुणी, सहृदय काव्य-मर्मज्ञोने किसी कविके गुणो या दोषोको अथवा कई कवियोकी विशेषताओको तुलनात्मक दृष्टिसे एक ही छन्दमे वर्णन कर डाला है। इनमे कहीं तो वर्णित कवियोकी विशेषताओका ही उल्लेख है, कहीं एककी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दा भी व्यञ्जित है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा:।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

[पहले कवियोकी गिनती होते समय कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियोने कनिष्ठिका उँगलीपर अपना स्थान जमा लिया। तबसे आजतक उनके समान कोई अन्य श्रेष्ठ कवि न होनेसे अनामिका बस अनामिका (बिना नामवाली) ही रह गई।]

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इसी परिपाटीका पालन हिन्दी साहित्यमे भी चलता रहा और इस प्रकारकी उक्तियाँ कवियोकी परीक्षाके लिये प्रमाण समझी जाने लगीं—

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अबके कवि खद्योतसम, इत उत करत प्रकास॥
किधौं सूरकौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।
किधौं सूरकौ पद लग्यो, बेधत सकल सरीर॥
तुलसी गङ्ग दुवौ भए, सुकविनके सरदार।
जिनकी कवितामें लही, भासा विविध प्रकार॥

सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर।
देखतको छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥
कविको देन न चहै बिदाई।
पूछै केसवकी कविताई॥
तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची-खुची कबिरा कही और कही सब जूठी॥

स्वयं-प्रशंसा तथा गर्वोक्ति

कभी-कभी कवियोने स्वय अपनी रचनाके विषयमे प्रशसात्मक या व्याख्यात्मक वाक्य कहे हैं, जैसे श्रीहर्षने नैषध-चरितके अन्तमे यह गर्वोक्ति कही है—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थि समासद्य—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

[मैने जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक कहीं-कहीं इस काव्यमे गूढ गुत्थियाँ रख दी हैं। यह केवल इसलिये कि कोई विद्वन्मन्य खल अवज्ञाके साथ यह न कह सके कि मैने तो नैषधीय-चरित पूरा पढ़ लिया, इसमे कुछ है नहीं। रही सहृदय सज्जनोकी बात, वे तो श्रद्धापूर्वक गुरुओद्वारा गुत्थियोको सुलझाकर इस काव्यामृतका पूर्ण आनन्द लेंगे ही।]

विद्यापतिने अपनी कविताके सम्बन्धमे कीर्तिलतामे कहा है—

बालचन्द बिज्जावई भासा।
दुहुँ नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हरसिर सोहई।
ई निच्चइ नायर मन मोहइ॥

[द्वितीयाके चन्द्रमा और विद्यापतिकी भाषा दोनोको दुर्जनोकी हँसीका दोष नहीं लगता क्योकि वह बालचन्द तो परमेश्वर महादेवजीके

सिरपर सुशोभित है और यह विद्यापतिकी भाषा चतुर रसिकोका मन मोहित करती है ।]

इस प्रकारकी समीक्षात्मक उक्तियोसे ग्रन्थोके अध्ययन करनेवाले जिज्ञासु अध्येता केवल उतनी ही सकुचित दृष्टिसे उनका अध्ययन करने लगे। कालिदासमे लोग उपमा ही खोजते रह गए और बिहारीके दोहोमे अच्छे गुणी पण्डित तथा विविध-भाषा-मर्मज्ञ भी यही ढूँढनेमे लगे रहे कि वे कैसे गम्भीर घाव करते है। इस सकुचित समीक्षा-वृत्तिका परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त श्लाघ्य रचनाओका परीक्षण और आदर खटाईमे पड़ गया और केवल उन्हीं कवियोके पीछे लोग पडे रह गए जिनके सम्बन्धमे उपर्युक्त प्रकारकी पद्योक्तियाँ प्रसिद्ध हो पाईं।

योरपमें समीक्षाका विकास

यद्यपि समीक्षा (क्रिटिसिज्म) शब्दका प्रयोग योरपमे भी अभी सत्रहवीं शताब्दीसे होने लगा है, किन्तु उसके द्वारा जिस साहित्य-प्रणालीका बोध होता है वह यूनानमे पाँचवीं शताब्दी (ई० पू०) से ही चलने लगी थी । योरपमे किसी भी कलाकृतिके 'उस सज्ञान मूल्याङ्कन या परीक्षणको आलोचना या समीक्षा कहते हैं जो या तो आलोचककी व्यक्तिगत रुचिके अनुसार या किन्हीं स्वीकृत सौन्दर्यात्मक भावनाओके अनुसार किया गया हो।' यह आलोचना (क्रिटिसिज़्म) शब्द वहाँ दोषान्वेषणसे लेकर ब्राउनिंग-द्वारा परिभाषित सौन्दर्य-विवेक (डिस्टिंग्विशिंग औफ ब्यूटी) तक अनेक अर्थोंमे प्रयुक्त हुआ है। विक्टर ह्यूगोने कहा था कि 'कोई कलाकृति अच्छी है या बुरी, इसीकी मीमांसा करना आलोचनाका क्षेत्र है।' किन्तु इस व्याख्यासे भी इस प्रश्नका समाधान नहीं होता कि इस अच्छे और बुरेकी जाँचकी कसौटी क्या होगी। स्वैरवादियो (रोमान्टिस्टो) को छोड़कर प्रायः सभी लोग टी० एस्० ईलियट और आई० ए० रिचार्ड्सके इस मतके ही पक्षपाती हैं कि 'आलोचकका तात्पर्य किसी वस्तुके मूल्योका

निर्णय करना ही है।' अतः जब जे० ई० स्पिंगार्नने क्रोचेका अनुसरण करते हुए आलोचनाका मुख्य कार्य इन प्रश्नोका उत्तर देना बताया कि—

१. कलाकारने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है ? और

२. उसे अभिव्यक्त करनेमे वह कितना सफल हुआ है ?

—तो उसमेसे एक तीसरा प्रश्न निकल आया कि—

३. जो कुछ कलाकारने अभिव्यक्त किया है, वह क्या वास्तवमे अभिव्यक्त होनेके योग्य था ?

कारलाइलने इस सम्बन्धमे स्पष्ट कहा है—'हमे यह भी जानना चाहिए कि आलोचनाका यह उद्देश्य और कार्य हमारे व्यक्तिगत मानदण्ड या हमारे छोटे-से समाजके मानदण्डके बदले मानव-प्रकृति, सम्पूर्ण विश्वमे व्याप्त वस्तुओकी प्रकृति, तथा मनुष्यके हृदयो और कल्पनाओमे अवस्थित (पुस्तकोमे लिखे हुए रूपमे नहीं) काव्यात्मक सौन्दर्यके सार्वभौम सिद्धान्तोके साथ मेल खाता है या नहीं ? और यदि मेल खाता है तो कहाँतक ?'

समीक्षा-तत्त्व

समीक्षापर हम तीन दृष्टियोसे विचार कर सकते है—

१. सैद्धान्तिक व्यवस्था या विज्ञानके रूपमे,

२ भाव-प्रेरित तथा अनुभव सिद्ध कौशलके रूपमे,

३ कला, अर्थात् एक व्यवस्थित सोद्देश्य रचनाके रूपमे।

समीक्षा-सिद्धान्त

सिद्धान्त शब्दका अर्थ है 'किसी विषयके निरूपणका तात्त्विक आधार प्रस्तुत करना।' समीक्षाका उद्देश्य स्पष्टतः व्यावहारिक है। इसका काम है 'किसी कलात्मक कृति और उसके सौन्दर्य-भावनकी प्रक्रियाको आगे बढानेमे सहायता देना तथा उसके लिये आवश्यक ज्ञातव्य ज्ञान या सामग्री एकत्र करना।' यह सामग्री निम्नलिखित प्रकारोकी हो सकती है—

क. कलात्मक रचनाकी सामग्रियो और कौशलोका ज्ञान।

ख. कलात्मक प्रदर्शनके विषयोका ज्ञान (जिसका अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है)।

ग. कलाकार और उसकी रचना-क्रियाओका ज्ञान, जिसके अन्तर्गत कलात्मक रचनाका मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कलाकारका जीवन-चरित और कलाका इतिहास भी आता है किन्तु एफ० ब्रूनेतिए जैसे कुछ विद्वान् इन्हे समीक्षाके क्षेत्रसे बाहरके विषय समझते है।

इस दृष्टिसे (क) सामग्री और कौशलके सम्बन्धमे कुशल विद्वान् (जैसे भाषा-शास्त्री या छन्दःशास्त्री) यह कह सकते है कि हम भाषा और छन्दकी तुला पर ही अमुक कृतिकी कलात्मक पूर्णताका परीक्षण करेंगे। किन्तु उन्हे समझ रखना चाहिए कि केवल कौशलकी परीक्षा करना ही समीक्षा नहीं है।

इसी प्रकार कुछ लोग (ख) कलात्मक प्रदर्शनके विषयोमे ज्ञानको ही आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दे सकते हैं। यदि ऐसा होने लगे तब कोई तो मूर्तिकार को शरीर-शास्त्रका एक नियम बनाकर दे देगा और कहेगा कि बस इसीके अनुसार रचना करो ; कोई समाज-शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक किसी उपन्यासकारको समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान-के नियम गढकर दे देगा और कहेगा कि अपनी रचनाओमे इन्हीं नियमोका पालन करो, जैसे हिप्पोलिते तैनेने अपनी 'फिलौसौफी दे ल आर्तें' (१८६५-६६) मे व्यवस्था दी थी। इसी मौलिक भूलके कारण लोगोको यह भ्रम हो गया कि समीक्षाका काम है 'किसी कला-त्मक अनुकरणमे उसकी मूल प्रकृतिसे समानता खोजना।'

आजकल लोगोकी सबसे बडी भूल यह है कि (ग) अपनी समी-क्षण रुचि कलामे प्रवृत्त करनेके बदले वे कलाकारमे सरुच हो जाते हैं। कैनेथबर्कने अपने 'साहित्यिक रूपका तत्त्व' (फिलौसौफी औफ लिटरेरी फौर्म, १९४१) मे इसीकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'इसीलिये हमारी अधिकाश आधुनिक समीक्षा वास्तवमें मनोविज्ञानीय (साइ-

कोलौजिकल), नर विज्ञानीय (एन्थ्रौपोलौजिकल) और समाजवादी (सोशियोलौजिकल) विश्लेषण-मात्र रह गई है।'

इतिहास-विज्ञान (हिस्टोरियोग्रैफी) को भी समीक्षाका एक प्रकार अवश्य माना जा सकता है क्योंकि उसमें किसी एक विशेष साहित्यिक कृतिके विस्तृत विवेचनके बदले अन्य कलाकृतियोंके साथ उसके ऐतिहासिक प्रसङ्गका विवरण मिल जाता है। टी० एस० ईलियटने अपने 'परम्परा तथा व्यक्तिगत प्रतिभा' (ट्रेडीशन ऐण्ड दि इण्डिविजुअल टैलेंट, १९२०) शीर्षक लेखमें लिखा था—'किसी भी कलाकृतिका मूल्याङ्कन अतीतकी सम्पूर्ण कृतियोंकी समष्टिकी दृष्टिसे करना चाहिए जिन्हें मिलानेपर ही परम्पराका 'समवेत' क्रम स्थिर होता है। किसी कवि या किसी कलाके कलाकारका कोई अपना अलग अर्थ या उद्देश्य नहीं होता। उसकी रचनाका तात्पर्य तथा सौन्दर्य-भावन वही होता है जो उसने भूतपूर्व कवियों तथा कलाकारोंके सम्पर्कसे आत्मसात् किया है।'

भाव प्रेरित तथा अनुभव-सिद्ध कौशलके रूपमें समीक्षा

कुछ विद्वानोंका मत है कि जैसे संसारके अन्य सभी स्वर्ण, रजत, हाथी, घोड़े आदि पदार्थोंका मूल्याङ्कन निश्चित सिद्धान्तके अनुसार करते हैं उसी प्रकार साहित्यका समीक्षात्मक मूल्याङ्कन भी निश्चित सिद्धान्तोंके अनुसार ही होना चाहिए। किन्तु यदि सबको अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार किसी कृतिको उत्कृष्ट या निकृष्ट ठहरानेकी छूट दे दी जाय तो अविलम्ब कला-जगत्में भयङ्कर अराजकता छा जाय। अतः कलाकृतिकी समीक्षाके लिये सार्वभौम रुचि तथा व्यापक सौन्दर्य-भावनाके आधारपर ही सिद्धान्त निश्चित किए जाने चाहिए।

समीक्षाको ललित कला अथवा काव्य-रचना जैसी कोई कला या कौशल नहीं समझना चाहिए। समीक्षाको अलग एक कला समझनेकी भूलने ही ऐफ़० श्लेगल, सेन्त ब्यूवे तथा रस्किन जैसे विद्वान् स्वैरवादी (रोमांटिक) समीक्ष्यवादियोंकी अनेक भव्य कृतियोंका महत्त्व कम कर दिया है। यही दोष 'कलार्थे कला' (आर्ट फौर आर्ट्स सेक)

आन्दोलनमे भी व्याप्त हो गया था, यहाँतक कि प्रभाववादी समीक्षा (इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म) की प्रणालीमे तो यह दोष चरम सीमातक पहुँच गया था । इस प्रकारकी कलात्मक समीक्षा करनेसे तो वह समीक्षा स्वयं एक नवीन रचना बन जाती है जैसे वाल्टर पेटरने 'पुनर्जागरण काल' (रिनैसाँ १९३५, पृष्ठ ११५) मे लागियो कोन्दापर जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमे लिखा तो गया है 'लियोनार्डोकी कला' पर, किन्तु वास्तवमे हमे उससे वाल्टर पेटरकी कलाका ही परिचय अधिक मिलता है। अतः यह स्मरण रखना चाहिए कि 'मानदण्ड' और 'समीक्ष्य सामग्री' दोनो एक प्रकृतिकी नहीं हो सकतीं। वास्तविक समीक्षा वही है जो उस कलाकृतिकी दासी होकर काम करे जिसे वह समझाने या जिसका समीक्षण करनेका प्रयास करती हो ।

कौशलके अर्थमें समीक्षा भी कला

कलाके समान समीक्षा एक व्यवस्थित क्रिया होती है, क्योकि वह कुछ सिद्धान्तो और नियमोके अनुसार अनेक शताब्दियोकी अनेक जटिल वृत्तियोवाली परम्पराम बँधकर विकसित होती है। समीक्षा सोद्देश्य होती है क्योकि उसका उद्देश्य होता है रचनाको पोषित करना और उसके सौन्दर्यका आनन्द लेना। समीक्षा स्वय रचना भी है क्योकि यद्यपि वह स्वय कलाकृतियोको जन्म नहीं देती किन्तु वह रचनाकी प्रक्रियामे निरन्तर योग अवश्य देती रहती है। कलाको कला अङ्गीकार करके, उसे अकलात्मकसे भिन्न करके, रचित कलाकृतिकी व्याख्या करके तथा नवीन रचनाके लिये मार्ग बनाकर, वह (समीक्षा) कलाकार और ग्राहक (श्रोता, दर्शक या पाठक) दोनोके बीच मध्यस्थ बनकर दोनोंके हितो तथा स्वत्वोका सवर्द्धन करती है। वह उस माध्यम या साधनको पुष्ट करती है जिसमे कलाका विकास होता है, साथही वह मानव-मात्रकी सौन्दर्यभाविता स्मृतिका प्रतिनिधित्व करती हुई यह निश्चित करती चलती है कि किस वस्तुको, किस प्रकार स्मृतिमे सुरक्षित किया जाय, क्योंकि समीक्षा जिस सौन्दर्य या कलात्मक पूर्णताको मानना और

पोषित करना चाहती है, वह सौन्दर्य-विज्ञानके क्षेत्रका विषय है और क्योंकि समीक्षात्मक प्रक्रियाके सम्पूर्ण नियम इसी उद्देश्यपर केन्द्रित हैं, इसलिये हम समीक्षाको 'प्रयुक्त सौन्दर्य-विज्ञान' (ऐप्लाइड ऐस्थैटिक्स) कह सकते हैं।

इस उपर्युक्त मध्यम मार्गीय स्थितिके कारण समीक्षाको दो रूपोमें विचारना चाहिए—

क व्याख्या और मूल्याङ्कन

व्याख्या और मूल्याङ्कनमे भेद है । किसी वस्तुका सर्वाङ्ग तत्त्व समझना और उसकी विशेषताओपर मुग्ध होना दो अलग कार्य नहीं हैं वरन् समीक्षाकी प्र क्रयाके ही दो समन्वित अङ्ग है। इनमेसे जब हम सर्वाङ्ग-तत्त्व समझनेका प्रयास करते हैं तब हमारी समीक्षा व्याख्यात्मक होती है । ससारकी प्रसिद्ध महत्कृतियोपर जो समीक्षात्मक लेख लिखे गए हैं वे सब व्याख्यात्मक ही है। किन्तु समीक्षा उसकी परीक्षिका भी तो है। अतः सहानुभूतिमय व्याख्या करनेसे पहले भली-भाँति उस कलाकृतिको छान-फटक भी लेना चाहिए।

ख विशिष्ट अभिप्रशंसन (ऐप्रीसिएशन) तथा सार्वभौम-सिद्धान्त

कभी कभी किसी एक विशिष्ट सौन्दर्य-कृतिके अभिप्रश सनमे ऐसी विशिष्ट 'पारिभाषिक' समीक्षाका रूप बन जाता है जो केवल उसी कलाकृतिसे पूर्णतः सम्बद्ध होती है और जो प्राय. किसी सम्प्रदाय या आन्दोलनकी भावनासे आवेष्टित होती है। ऐसी विशिष्ट समीक्षा किसी निश्चित परिपाटीके युगोमे ही अधिक पल्लवित हुई, विशेषतः उदात्तवाद (क्लासिसिज्म) की परम्परामे, जिसमे हौरेस और ब्वालो जैसे व्यक्तियो ने समीक्षाके सिद्धान्त प्रतिपादित किए। इस प्रकारकी समीक्षाके दोषोका स्पष्टीकरण जी० ई० लैसिगने 'फ्रासीसी नाटकीय नियमावली' (हाम्बुर्गिशे ड्रामाटुर्गी, १७६७–६६) की आलोचनामे किया था और कहा था कि 'इस विशिष्ट अभिप्रशासनकी वृत्तिके कारण किसी विशिष्ट आदर्श या परिपाटीको शाश्वत नियम समझनेकी भूल भी हो सकती है।'

दूसरी ओर, समीक्षाके साथ-साथ सौन्दर्य-विज्ञानके दार्शनिक तत्त्वोका विधान कुछ इनी-गिनी रचनाओंमे ही ढूँढना चाहिए ।

समीक्षा और रचना

कुछ लोग समीक्षा और रचनाको भिन्न मानते है। वे केवल उस प्रकारके साहित्यको ही रचना मानते है जो स्वतन्त्र हो, अर्थात् जो, न तो किसी दूसरी साहित्यिक कृतिसे सम्बद्ध हो, न किसी दूसरी साहित्यिक कृतिके सम्बन्धमे कुछ कहती हो। ये मनीषी मानते हैं कि जिस प्रकार नाटक, काव्य, कथा आदि, साहित्यके विभिन्न रचनात्मक रूप है वैसे ही समीक्षा भी एक रचनात्मिका क्रिया है। समीक्षा और रचनामे जो यह सभ्रम उत्पन्न हुआ है, उसका कारण सभवतः यही है कि समीक्षा विज्ञान भी है और कला भी, क्योकि विज्ञानके समान वह विशिष्ट कृतियोका सूक्ष्म विश्लेषणात्मक परीक्षण करके उनके दोषो और गुणोका सम्प्रेक्षण करती है तथा उनके आधारपर यथासभव व्यापक सिद्धान्त प्रतिपादित करती है। उधर कलाके रूपमे, वह प्रेरणात्मक तथा प्रभावात्मक कृतियोकी सृष्टि भी करती है।

विश्व-साहित्यका अध्ययन करनेपर दाँते, गेटे, कौलरिज और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे कुछ इने गिने ही ऐसे महापुरुष मिलेंगे जिन्होने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ भी लिखे है और साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्रको भी सुन्दर रचनाएँ प्रदान की हैं। किन्तु केवल आलोचना तो प्रायः सभी युगोमे हुई है।

समीक्षाकी तीन आधार-वृत्तियाँ . चयन, जिज्ञासा और अहम्

मनुष्यमे समीक्षाकी वृत्ति स्वाभाविक है। छोटे-छोटे शिशु भी प्रेय और अप्रेय, रुचि तथा अरुचिकी वृत्तिसे सम्पन्न होते हैं। यद्यपि वे इस प्रेयस् और श्रेयस् तथा अप्रेयस् और अश्रेयस्का उचित कारण नहीं बता सकते किन्तु उनकी यह चयन-वृत्ति सदा सजग और सचेष्ट रहती है। हमारी दृष्टिसे गौका दूध बालकके लिये अत्यन्त हितकर तथा पौष्टिक पेय है किन्तु यदि किसी कारणवश बालकको दूधसे अरुचि हो

गई है तो वह उसे अग्राह्य समझता है और यदि बलपूर्वक उसे पिलाया भी जाता है तो वह हाथ-पैर पटककर या रोककर उसका प्रतिरोध करता है। इस वृत्तिको चयन-वृत्ति या रुचि अर्थात् 'अपने मनके अनुकूल व्यक्ति या वस्तुको चुनकर ग्रहण करना' कहते है।

इसीके साथ-साथ मनुष्यमे यह भी स्वाभाविक वृत्ति होती है कि वह प्रत्येक अज्ञात, नवीन तथा अद्भुत वस्तुका परिचय, उपयोग, प्रयोग या विवरण जाननेको समुत्सुक रहता है—यह क्या है? यहाँ क्यो आई है? इससे क्या होता है? यह क्या करती है? इससे क्या लाभ है? इसके भीतर क्या है? आदि प्रश्न इसी कौतूहलसे उत्पन्न होते हैं और जो वृत्ति इस कुतूहलको उत्तेजना देती है वह जिज्ञासा-वृत्ति कहलाती है।

मनुष्यकी एक और तीसरी स्वाभाविक वृत्ति होती है जिसमे वह अपनी, अथवा अपनेसे सम्बद्ध या अपने प्रिय व्यक्तियो, वस्तुओ आदिकी बुराई नहीं सहन कर सकता। यहीं तक नहीं, वह अपनेको और अपने प्रिय व्यक्ति या पदार्थोंको अन्य व्यक्तियो या पदार्थोंसे श्रेष्ठतर समझता है—अपने एकाक्ष पुत्रको भी उसकी माता अन्य दो आँखवालो से सुन्दर और श्रेष्ठ ही मानती है। यह अहवृत्ति कहलाती है। इस वृत्तिमे आकाक्षा होती है कि जिसे मै ठीक, प्रिय और सुन्दर समझूँ उसे ही दूसरे भी ठीक, प्रिय और सुन्दर समझें, जो मै कहूँ, उसे ही सब स्वीकार करें और जो मेरा मत है या जो मैं कहता हूँ वही शुद्ध, सटीक मत है। हम चुनीं दीगरे नेस्त (हमे छोडकर कोई दूसरा है ही नहीं) भावना ही इस अहवृत्तिका मूल तत्त्व है और यही वृत्ति समीक्षाकी मूल प्रेरणा-शक्ति भी है।

यदि हम विश्व-साहित्यकी समीक्षा-पद्धतियोपर विचार करें तो उनमे व्यापक रूपसे ये ही तीन तत्त्व मिलेंगे—१. चयन-वृत्ति या रुचि, २. जिज्ञासा-वृत्ति और ३. अहवृत्ति। इन तीनों वृत्तियोने ही समय-समयपर कभी अकेले और कभी समन्वित रूपसे कला-कृतियो अथवा

साहित्यिक कृतियोके परीक्षणके लिये लोगोको प्रेरित किया है।

यद्यपि समीक्षाके अन्तर्गत चयन, जिज्ञासा और अहकी तीनो ही वृत्तियाँ काम करती है किन्तु समीक्ष्यवादियोने चयन, जिज्ञासा और अहवृत्तिका सशोधन तथा परिष्कार करके उन्हे व्यक्तिगतसे समष्टिगत तथा ऐकदैशिक और ऐकान्तिकसे सार्वभौम बना दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्होने सकुचित चयन, जिज्ञासा और अहको इतना व्यापक बना दिया कि उस व्यापक चयनवृति, व्यापक जिज्ञासा-वृत्ति और व्यापक अहवृत्तिसे किसी कलाकृति या साहित्यिक कृतिका परीक्षण कर लेनेपर जो परिणाम निकाले जायँ वे मानवमात्र-द्वारा अनुमोदित तथा मान्य हो। ऐसे व्यापक परिणामो या सिद्धान्तोका संस्थापन ही समीक्षा-शास्त्र है और उन व्यापक सिद्धान्तोके अनुसार परीक्षण करना ही समीक्षा है। यही तात्त्विक समीक्षा-दर्शन है।

२

समीक्षाके सिद्धान्त

किसी साहित्यिक कृतिका अर्थ समझनेके लिये हमे एक तो स्वय उस कृतिका तात्पर्य और दूसरे, उस कृतिमे लेखक क्या तात्पर्य व्यक्त करना चाहता है, इन दोनोका भेद समझ लेना चाहिए। ये दोनो अर्थ क्रमशः 'वास्तविक' और 'उद्दिष्ट' कहलाते है।

किस काव्यका क्या 'वास्तविक' तात्पर्य है यह स्वयं उस ग्रन्थके अध्ययनसे अर्थात् उस ग्रन्थके शब्दो और वाक्योका अध्ययन करके ज्ञात हो सकता है। काव्यमे शब्दोंके प्रयोगो और उनके सम्बधोसे व्यक्त होनेवाले अर्थोंसे उस उद्देश्यका मूल्याङ्कन हो सकता है जो कला-कृतिकी रचनाके समय कविने आरोपित किए थे।

किसी कृतिमे 'उद्दिष्ट' अर्थका प्रमाण दो प्रकारसे परखा जाता है—

१. आन्तरिक और २. बाह्य। किन्तु यह भेद सदा निश्चयपूर्वक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

२. शब्दोके वे साधारण अर्थ आन्तरिक साक्ष्य होते हैं जो किसी ऐतिहासिक कोश या किसी ऐतिहासिक अध्ययनसे प्राप्त होते हैं, किन्तु किसी कृतिका अर्थ जाननेके लिये उससे बाहर भी जाना चाहिए।

३. कविके पत्र, दैनन्दिनी (डायरी) या वार्तालापसे कविके उद्देश्यके सम्बन्धमे जो सूचना मिले वह पूर्ण रूपसे बाह्य साक्ष्य है, क्योकि जो उद्दिष्ट अर्थ उससे व्यक्त होगा वह काव्यके शब्दोकी परिधिसे बाहरका होगा।

ग्रन्थकारके जीवन और उसकी कृतिके सम्बन्धमे कुछ प्रकारकी सूचनाओसे एक मध्यम मार्ग यह भी प्राप्त होता है कि वह ग्रन्थकार अभ्यासपूर्वक किसी एक शब्दको किस विशेष अर्थमे प्रयोग करता है। यह बाह्य साक्ष्य भले ही हो किन्तु वास्तविक साक्ष्य नहीं हो सकता क्योकि कविका जीवन-चरित उस शब्दका अर्थ निर्णय करनेके पूरे इतिहास एक अंशमात्र ही है। किसी ग्रन्थ-कारके ग्रन्थके वचन या उसके उद्गमके अध्ययनके द्वारा जो उसके विशिष्ट सम्बन्ध जाने जा सकते है, वे सर्वसाधारण आदर्शकी सम्भव सीमामे रक्खे जा सकते है। इनमेसे २. और ३. मे भेद करना सदा कठिन होगा किन्तु यदि २. की ओर ही हम प्रवृत्त हो तो १. और ३. से पूर्णतः भिन्न एक विचित्र प्रकारकी आलोचना प्रस्तुत हो जायगी।

आन्तरिक प्रमाणके आधारपर लेखकका उद्देश्य निकालनेका अर्थ यह है कि हम वास्तविक और उद्दिष्ट दोनो अर्थोको एक मानते हैं। किन्तु जहाँ कोई बाह्य साक्ष्य नहीं है वहाँ आलोचक यह निश्चय नहीं कर पाता कि वे एक है या नहीं। बाह्य प्रमाणके आधारपर किसी ग्रन्थकारका उद्देश्य निकालनेका अर्थ यह है कि या तो लेखकका उद्देश्य उसके बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य दोनोके अनुसार एक ही हैं या जहाँ इनमे द्वैध हो वहाँ बाह्य साक्ष्य लेखकके उद्देश्यको स्वय कृतिकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक सूत्र प्रदान करता है। किन्तु यह सम्भव

नहीं है क्योंकि इस प्रकारके बाह्य साक्ष्य उतने पक्के और सच्चे नहीं हो सकते और रचनाके समय उनकी मानसिक अवस्थाका ठीक प्रसारण नहीं कर सकते जितना उस मानसिक अवस्थासे उद्भूत वह कृति कर सकती है। जहाँ लेखकका वास्तविक उद्देश्य उसके प्रत्यक्ष उद्देश्यसे भिन्न है वहाँके लिये वह पूर्णतः भ्रामक सिद्ध हो सकती है।

गोटे कार्लाइल क्रोचे स्पिंगार्न सिद्धान्त

कुछ समीक्षकोंका यह मत है कि हम समीक्ष्यवादियोंको अपनी समीक्षामें इन अग्राकित प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए कि—

१. किसी रचनामें लेखकने क्या करनेका प्रयत्न किया है ?

२. उस निर्दिष्ट कार्यमें उसे कहाँतक सफलता मिली ?

३. क्या वह कार्य वास्तवमें किए जाने योग्य था ?

इन प्रश्नोंको ही एच्० एल्० मेकनने गेटे कार्लाइल-क्रोचे स्पिगार्न-थियरी कहा है।

किन्तु यह महत्त्वकी बात है कि यद्यपि स्पिङ्गार्नने इसे आलोचनाकी एकमात्र प्रणाली बताया था किन्तु पीछे चलकर उसने उसमें सुधार कर दिया और यह कहा कि 'वास्तवमें स्वयं कृति ही लेखकका उद्देश्य होता है और किसी लेखकका उद्देश्य उसकी कृतिमें भीतर ही भीतर वहाँ भी पहचाना जा सकता है जहाँ वह सफल नहीं हो पाया है।' यह वास्तवमें परस्पर-विरोधी बात है। कोई भी कृति उस सीमा तक नहीं पहुँच पा सकती है जो समीक्ष्यवादीकी दृष्टिमें उद्दिष्ट होनी चाहिए थी या जो लेखक उसे करनेके लिये अभ्यस्त था या जो उससे आशा की जाती थी। किन्तु इस बातका कोई भी आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य नहीं है कि लेखकने कोई ऐसी बात सोची थी जिसे वह पूरा नहीं कर पाया।

सक्षेपमें हम कह सकते हैं—

१ लेखकके उद्देश्यके आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यमें भेद करना कठिन है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि किसी विशिष्ट प्रकारके

साक्ष्यपर विश्वास करना उसके जीवन-चरितकी ओर जाना है और किसी दूसरे प्रकारके साक्ष्यपर विश्वास करना स्वय उस कृतिके वास्तविक अर्थके पास पहुँचना है।

२. किसी कृतिका अर्थ उसीके भीतर निहित रहता है, इसलिये उद्देश्यका निर्णय तबतक असङ्गत है जबतक कि स्वय कृति-द्वारा ही उसका समाधान न हो और ऐसी स्थितिमे वह निरर्थक और अनावश्यक है। इसलिये यह कहना भ्रामक है कि हम किसी कृतिका निर्णय इस बातसे कर सकते हैं कि वह किसी लेखकके उद्देश्यको सिद्ध करनेमे कहाँतक सफल हुई है।

३ 'उद्देश्य' शब्द प्रायः पूर्ण वास्तविक अर्थका सक्षिप्त रूप मान लिया गया है इसलिये कभी-कभी जब हम उद्देश्य और परिणामके भेदके सम्बन्धमे निर्णय देते है तब वह वास्तवमे किसी कृतिके भीतर उसके पूर्ण अर्थ या योजनाके सम्बन्धमे ही निर्णय होता है। ये सब मूल्याङ्कनके निर्णय हैं। और

४ इस प्रकाके निर्णय साधन और साध्यके अथवा शैली या विषयके सम्बन्धपर नहीं होते वरन् अङ्ग और अङ्गीके सम्बन्धपर होते हैं।

सत्यका सिद्धांत

कुछ लोगोका यह मत है कि काव्यका प्रमुख तत्त्व सत्य है और समीक्षकको काव्य मे यही गुणतत्त्व खोजना चाहिए। इस सत्यकी उपस्थिति किसी काव्यमे कहाँ है यह जाननेके लिये विद्वानोने अभ्राङ्कित कसौटियाँ बना दी हैं जिनके अनुसार अभ्राङ्कित अलग-अलग वाद ही बन गए हैं—

१. विवेकात्मक आत्म-साक्ष्य (रैशनल सेल्फ एविडेन्स), जिसके अनुसार विवेकवाद (रेशनलिज्म) का सिद्धान्त चला।

२. स्वान्तः-प्रेरित स्वतःसाक्ष्य (इन्ट्यूटिव सेल्फ एविडेन्स), जिससे अन्त प्रेरणावाद (इन्ट्यूशनिज्म) की सृष्टि हुई।

३. बाह्य तथ्योसे उसकी सङ्गति, जिससे स्पष्ट यथार्थवाद (नेव रीयलिज्म) की उत्पत्ति हुई।

४. प्रत्यक्ष प्रयोग-द्वारा यथार्थताके निर्णयकी स्थिति, जिससे वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद (सायटिफिक पौजिटिविज्म) की उत्पत्ति हुई।

५. अनुभवके पूर्ण समुन्नतिशील रूपके साथ आवयविक सङ्गति, जिससे प्लेटो और हैगेल आदिके 'दार्शनिक आदर्शवाद' का जन्म हुआ।

६. चिरकालिक कार्यशीलता या जीवनकी पूर्णतामे प्रभावशाली कारण होना, जिससे जेम्सका प्रयोजनवाद (प्रैग्येटिज्म) और ड्यूईका साधनवाद (इन्स्ट्रूमेंटलिज्म) चला।

विचार करनेपर प्रतीत होगा कि ये सब कसौटियाँ या सिद्धान्त अलग-अलग अपनेमे पूर्ण नहीं हैं और कुछ अंशोमे तो ये आपसमे मिलते-जुलते भी हैं जैसे—वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद वास्तवमे तथ्यात्मक होता है अतः उसे हम उपर्यङ्कित ३ तथा ४ सख्यक कसौटियोके साथ मिला सकते हैं। देकार्त्तके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार १ और ३ सख्यक कसौटियाँ एक साथ रह सकती है, बर्गसनके अनुसार २ और ६ तथा रसलके अनुसार १ और ४।

काव्य सत्य

कुछ विद्वानोका मत है—'साधारण व्यवहारमे जिसे हम सत्य कहते हैं अर्थात् किसी बातको बिना किसी मिलावटके वर्णन करना कहते हैं, वह काव्यमे सम्भव नहीं है। उस प्रकारका सत्य तो केवल इतिहासमे ही सम्भव हो सकता है अतः काव्यमे हमे एक दूसरे प्रकारके सत्यकी खोज करनी चाहिए जिसे काव्य-सत्य कहते हैं', जिसे 'जे० मिडिल्टन मरी'ने काव्यका सार (टोटल स्टेटमेन्ट या तत्त्व) कहा है। इसीको कुछ लोगोने काव्यका तात्विक गुण मानते हुए कहा है कि 'आदर्श पाठकका यह धर्म है कि वह इस काव्य-सत्य नामक तात्त्विक गुणको सात्त्विक समर्थन देता चले।' इस सत्यको काव्यमे वर्णित घटनाओकी तथ्यता या अतथ्यतासे पूर्णतः भिन्न समझना चाहिए।

सत्य-तुल्यता (व्रेसेम्ब्लाँ, प्रोबेबिलिटी या वेरीसिमिलीट्यड)

कुछ फ्रान्सीसी आलोचक मानते थे कि किसी भी साहित्यिक कृतिमे सत्य-तुल्यता या विश्वसनीयता होनी चाहिए अर्थात् 'कलात्मक विश्वास दिलाने'की योग्यता होनी चाहिए। सत्रहवीं शताब्दीमे फ्रान्सीसी आलोचकोने सत्य तुल्यताके दो भेद किए—१ आर्दिनेया २. एक्स्त्रा आर्दिनेया। आर्दिनेया या साधारणमे पात्रो-द्वारा अपने सामाजिक स्तर या आचार-विचारके अनुसार आचारका औचित्य और अपने अभिव्यक्त उद्देश्योके औचित्यका प्रदर्शन था। इसे 'आन्तरिक विश्वसनीयता' कह सकते है। एक्स्त्रा आर्दिनेया या असाधारणमे अलौकिक कृत्योका, जैसे सहसा किसी देवताका प्रकट हो जाना, अद्भुत आकस्मिक घटना और कही कही असाधारण रूपमे सुन्दर अभिव्यक्तिका प्रदर्शन आता था। इनमेसे साधारण सत्य-तुल्यता तो कलाके लिये अनिवार्य और अपरिहार्य मानी जाती थी और असाधारण, एक विशेष प्रकारका आनन्द माना जाता था जो उसमे रह भी सकता था, नहीं भी रह सकता था।

सत्य-तुल्यता किसी काल्पनिक कृतिमे सत्यकी उस समकक्षताके अशको कहते हैं जो पाठकमे यह विश्वास उत्पन्न करती है कि उसके व्यापार और चरित्र दोनो विश्वसनीय या सम्भव हैं। प्राचीन तथा वर्तमान आलोचनामे यह सर्वसम्मतिसे मान लिया गया है कि वास्तविक या आदर्शान्वित यथार्थवादका कुछ तत्त्व किसी अनुकरणको सत्य-तुल्य या विश्वसनीय बनानेके लिये आवश्यक है।

औचित्यका सिद्धान्त

बहुतसे समीक्षाचार्योंका मत है कि किसी भी काव्य, रचना या कलाकृतिमे केवल औचित्य (प्रोप्राइटी, फिटनेस, देकोरम या प्रेपोन) का ही विचार करना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि उस काव्यके सब तत्त्व परस्पर एक दूसरेसे उचित तथा सङ्गत प्रकारसे सम्बद्ध हैं या नहीं और दूसरी विचारनेकी बात यह है कि वे सब तत्त्व उचित स्थलपर

उचित मात्रामे, उचित मर्यादाके साथ, उचित रूपमे सन्निविष्ट किए गए हैं या नहीं।

योरपमे भी सबसे पहले यूनानियोने औचित्यका प्रयोग सङ्गीत शास्त्रके सिद्धान्तोमे किया था किन्तु वहाँसे सरककर वह भाषण-शास्त्रमे फिर व्यावहारिक सिद्धान्तके रूपमे, और फिर शैलीके 'गुणो'मे कर लिया गया और तबसे यह निरन्तर भाषण-शास्त्र और काव्यशास्त्रके गुणोमे प्रधान तत्त्व गिना जाता रहा, यहाँतक कि कुछ लोगोने तो यह कह दिया है कि शैली और उसके प्रकारोका सिद्धान्त वास्तवमे औचित्यका ही सिद्धान्त है। दिअनूसिअस, सिसरो, हौरेस, किन्ती लयन, दाँते, पुटेनहम, सिडनी, जौन्सन आदि सबने व्यापक रूपसे यह औचित्यका सिद्धान्त माना है।

ममता और कौतूहल

सुन्दरके प्रति हमारी ममता होती है, जो हमारे स्नेह या अनुरागके भावका पोषण करती है। असाधारणके प्रति श्रद्धा या आदर-भाव होता है, जो हमारी विवेक-वृत्तिको तृप्त करता है। अद्भुतके प्रति कौतूहल होता है, जो हमारी जिज्ञासा-वृत्तिको तृप्त करता है। इस प्रकार सौन्दर्य हमारी चयन-वृत्तिको परिष्कृत करता है, असाधारण हमारी अह-वृत्तिका शुद्ध करता है और अद्भुत हमारी जिज्ञासा-वृत्तिका सस्कार करता है।

समीक्षाके सिद्धान्त

प्रत्येक व्यक्तिको वह सब अच्छा लगना चाहिए जो सुन्दर, असाधारण, अद्भुत हो। अतः समीक्ष्यवादीको भी किसी कलाकृतिका परीक्षण करते समय यह देखना चाहिए कि उस कलाकृतिमे रचनाकारने सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुतका नियोजन कहाँ किस प्रकारसे किया है और इस प्रकारका परीक्षण करनेके लिये उसे चार आधारोपर एक प्रश्नावली प्रस्तुत करनी चाहिए जिसका उत्तर ही उस कलाकृतिकी पूर्ण समीक्षा हो जायगी।

१. ऐतिहासिक जिज्ञासा

कोई भी समीक्ष्यवादी यदि कहे कि हम किसी कलाकृतिको लेकर ही उसका ठीक अध्ययन और विश्लेषण कर लेंगे तो उसकी यह बात अमान्य होगी क्योकि कोई भी रचनाकार सामान्यतः जब लिखता है तो किसी एक विशेष युगमे, किसी विशिष्ट उद्देश्यसे, किन्हीं विशेष व्यक्तियो, वर्गो या समाजोके लिये लिखता है, अत समीक्षाके सिद्धान्तोका सर्वप्रथम तत्त्व है ऐतिहासिक जिज्ञासा, जिसके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोकी व्याख्या होनी चाहिए—

क. यह रचना किसने की अर्थात् उस व्यक्तिका शील, कुल, सङ्गति, प्रतिभा, विद्या, योग्यता, रुचि, अध्ययन, भ्रमण, धार्मिक या राजनीतिक मत आदि सब बातोका विवेचन करना चाहिए क्योकि प्रत्येक रचनाकार-की रचनामे उसका मानस व्यक्तित्व आद्यन्त अभिव्यक्त होता रहता है।

ख. यह रचना कब अर्थात् किस युगमे की गई, जिसके अन्तर्गत उस युगकी सामान्य वृत्ति, शील, शिष्टाचार, लोक-वृत्ति, शासन आदि सबका विवेचन होना चाहिए क्योकि कवि सामाजिक प्राणी होता है और इसलिये उसके विचारोपर अपने युगके समाज और राज्य-शासनकी रीति-नीतिका प्रभाव पडता ही है।

ग. उपर्यङ्कित प्रश्नोमेसे ही यह तीसरा प्रश्न निकल आता है कि कविने किस प्रेरणासे रचना की। यह प्रेरणा व्यक्तिगत भी हो सकती है जैसे—दाँतेने अपनी प्रेयसी विएत्रिसके कारण ही 'दैवी आनन्द' (डिवाइन कामेडी) की रचना की या कालिदासने रघुवंशियोके उदात्त चरित्रोसे प्रभावित होकर रघुवंश की रचना की। कभी सामाजिक कारण भी हो सकते है और राजनीतिक भी। जैसे बाणने हर्षको प्रसन्न करनेके लिये हर्षचरित लिखा, गोस्वामीजीने स्वान्तःसुखाय होनेपर भी लोक कल्याणके लिये रामचरितमानसकी रचना की और सूरने केवल साम्प्रदायिक वृत्तिसे सूर-सागरकी रचना की या चन्दने पृथ्वीराज को प्रसन्न करनेके लिये पृथ्वीराज-रासो लिखा। इन प्रेरणाओके कारण

भी रचनाओंमे कविके विचारोकी छाया रहती है, अतः इन प्रेरणाओंका भी अध्ययन करना चाहिए।

घ उपर्य्यङ्कित प्रश्नसे ही सम्बद्ध यह प्रश्न उठता है कि उसने क्यो, किस उद्देश्यसे रचना की? जिसके अन्तर्गत यह विचार होना चाहिए कि कवि क्या सन्देश देना चाहता है या क्या प्रभाव डालना चाहता है और यह सन्देश तथा प्रभाव वह क्यो उपयुक्त या आवश्यक समझता है।

ङ इसका तात्पर्य यह है कि समीक्ष्यवादीको यह भी स्वाभाविक जिज्ञासा करनी चाहिए कि वह रचना किसके लिये लिखी गई—स्वान्त-सुखाय या किसी व्यक्ति विशेष, किसी वर्ग विशेष अथवा सम्पूर्ण मानव-समाजके लिये, क्योकि किसी आधारपर ही हम कविकी सफलता या असफलताका परिज्ञान कर सकते है।

इन पॉचो प्रश्नोका समन्वय 'ऐतिहासिक जिज्ञासा' कहलाता है। यही समीक्षा-सिद्धान्तका प्रथम आधारतत्त्व है।

२. अन्तरङ्ग विश्लेषण

ऐतिहासिक जिज्ञासा कर चुकनेके अनन्तर ही समीक्ष्यवादीको उस कृतिका परीक्षण करने बैठना चाहिए और सर्वप्रथम उस रचनाका अन्तरङ्ग विश्लेषण करना चाहिए। इस अन्तरङ्ग विश्लेषणमे उसे यह देखना चाहिए कि कविने क्या लिखा अर्थात् उसने अपने काव्यका विषय या वस्तु-सस्कार कहॉ से प्राप्त किया, उसमे ऐतिहासिक अंश कितना है, काल्पनिक अंशोका सहयोग करके उसने किस सयोजन या कौशलसे उस विषयमे सुन्दर, असाधारण तथा अद्भुत तत्त्वोका समावेश किया है, उसमे सत्यता कितनी है, सत्याभास कितना है, सत्य-तुल्यता कितनी है, कितना अश सम्भव प्रतीत होता है और कितना असम्भव तथा असत्य। कविने कितने अशोमे परम्पराका निर्वाह किया है और कौनसी तथा कितने अंशोमें नवीनताओका समावेश किया है। इसके अन्तर्गत यही विश्लेषण करना चाहिए कि कविने

सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण तत्त्वोका समावेश काव्यके विषयमे किया है या कथा, घटना, पात्र तथा स्थलमे किया है और उनमे भी कहाँ कहाँ किस रूपमे किया है अर्थात् कविने मूल आकरसे ली हुई वस्तुमे कौनसे परिवर्त्तन किए ? कौन-सी नवीनता उत्पन्न करके किस प्रयोजनसे वह परिवर्त्तन किया ? और उससे उस विषयमे क्या चमत्कार आ गया ? पात्रोके चरित्रोमे भी यदि उसने कोई नवीनता उत्पन्न की है तो वह उनके रूप-वर्णनमे की है या गुणमे या कार्यमे। इसी विश्लेषणके अन्तर्गत उनकी रचनाके शिव तत्त्वकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिए कि वह कहाँतक लोक-कल्याणकारी है यद्यपि यह अश विशेष रूपसे समीक्षा-सिद्धान्तके चौथे तत्त्व प्रभाव-मीमासामे आना चाहिए।

३ बहिरङ्ग परीक्षण

अन्तरङ्ग विश्लेषणके अनन्तर काव्यका बाह्य अध्ययन या बहिरङ्ग परीक्षण करना चाहिए। इसके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोका समाधान आवश्यक है—

क. कविने जिन सामग्रियोको कथा-वस्तुके लिए एकत्र किया है उनकी रूप-सज्जा किस प्रकार की है, अर्थात् उस सामग्रीको किस नये तथा आकर्षक ढङ्गमे सजाकर कविने रचना-कौशल द्वारा उसमे नवीनता तथा आकर्षण उत्पन्न किया है। यह नवीनता कितनी उचित, परम्परागत, सुन्दर, असाधारण या अद्भुत है।

ख. कविने जिस भाषा, शैली या छन्दका प्रयोग किया है उसके प्रयोगमे कितना परम्पराका अश है ? और उसके कारण भाषा, शैली या छन्दमे क्या सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतता आ गई है ?

इन प्रश्नोका उत्तर ही रचनाकृतिका बहिरङ्ग परीक्षण होगा। पीछे बताया जा चुका है कि कभी-कभी कोई कवि केवल अभिव्यक्ति कौशल (ज़बाँदानी) दिखानेके लिये ही रचना करते है, इसलिये, बहिरङ्ग परीक्षण भी आवश्यक तत्त्व है क्योकि अभिव्यक्ति-कौशलसे पूर्ण

रचनाओंका समीक्षण करनेके लिये केवल बहिरङ्ग परीक्षण ही एकमात्र आधार-तत्त्व होता है।

४. प्रभाव मीमांसा

किसी रचनाकी ऐतिहासिक जिज्ञासा तृप्त करके उसका अन्तरङ्ग विश्लेषण और बहिरङ्ग परीक्षण करके ही समीक्ष्यवादीको सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि इस प्रकारकी परीक्षा करके उसे कभी-कभी यह देखकर आश्चर्य होगा कि जिन रचनाओंमें सभी गुणतत्त्व विद्यमान हैं, वे पुस्तकालयोंमें पड़ी सड़ती रहीं और जिनमें गुण-तत्त्वका अभाव है उनका आदर होता रहा। अतः समीक्ष्यवादीका यह भी कर्त्तव्य है कि वह उन सब कारणोंकी भी छानबीन करे, जिनके कारण कोई कृति प्रसिद्ध हुई या अप्रसिद्ध रह गई। इस मीमांसाके अन्तर्गत अग्राङ्कित प्रश्नोंका समाधान होना चाहिए—

(क) कविके समयमें ही उस रचनाका उसके देशमें तथा अन्य देशोंमें कितना आदर हुआ?

(ख) उस आदरकी प्रतिष्ठाके लिये कवि, समीक्ष्यवादी, समाचार-पत्र या राज्य-शासनका क्या आश्रय मिला?

(ग) स्वयं उस रचनामें लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले कौनसे तत्त्व हैं और वे काव्यात्मक हैं या नैतिक?

(घ) किसी कृतिका आदर उसके देश और युगमें न होकर अन्य देशों और युगोंमें क्यों हुआ?

(ङ) यदि आदर हुआ तो वह अनावश्यक तथा अतिरञ्जित तो नहीं हुआ, यदि हुआ तो क्यों?

इसीके अन्तर्गत उस प्रभावकी भी मीमांसा करनी चाहिए जो काव्य-के सात्त्विक रूपके कारण व्याप्त होता है अर्थात् अमुक रचनाके पढ़नेसे किसी व्यक्तिपर अथवा किसी व्यक्ति या समाजके आचार विचारमें किस प्रकारका परिवर्त्तन हुआ?, वह परिवर्तन कहाँतक वाञ्छनीय है?

उस परिवर्त्तनके लिये वह रचना कहाँतक उत्तरदायी है और उस समाज-का सघटन या ढाँचा उसके लिये कहाँतक उत्तरदायी है ?

३
समीक्षाके प्रयोजन

१ महत्त्व सिद्धि

समीक्षाके निम्नाकित प्रयोजन—

स्वय अपनी कृति समझाने और उसका समर्थन करानेके लिये लिखी हुई समीक्षा अर्थात् महत्त्व-सिद्धिके लिये की हुई समीक्षा।

२ पथप्रदर्शन

अरस्तूके कुछ तथा-कथित अनुयायियोने कहा कि 'समीक्षाका प्रयोजन है लेखकोका मार्ग-प्रदर्शन करना और जनताकी रुचिके परिष्कारके लिये विधान बनाना।' इसका समर्थन हौरेसने भी किया था और पुनर्जागरण-कालमे भी यही मत सर्वमान्य रहा, आजकल फ्रौयडवादियो (मनो-विश्लेषणवादियो) तथा अस्पष्टवादियो (औब्स्क्यो-रेन्टिस्ट्स)-द्वारा कुछ आधे मनसे, किन्तु मार्क्सवादियो (सोशल रीयलिस्ट्स या सामाजिक तथ्यवादियो) - द्वारा पूर्ण रूपसे यह सिद्धान्त मान्य हो गया है कि समीक्षाका प्रयोजन है 'लेखकोका पथ-प्रदर्शन करना।'

३. लोकरुचिका परिष्कार

समीक्षाका तात्पर्य कुछ लोग मानते है कि यह आदेश देना है कि 'जनता किस वस्तुको प्रिय या रुचिकर समझकर स्वीकार करे तथा किस वस्तुको अप्रिय या अरुचिकर समझकर अस्वीकार करे ; यह नहीं, कि जनताको क्या रुचिकर प्रतीत होता है।' अर्थात् जनताकी रुचिको ऐसा परिष्कृत कर दिया जाय कि जो वस्तु, क्रिया या आचार-विचार समीक्ष्यवादियोकी दृष्टिसे श्रेष्ठ, सुन्दर, भव्य और रुचिकर हो, उसे ही जनता भी श्रेष्ठ, सुन्दर, भव्य और रुचिकर समझे।

४. अभिप्रशंसन (एप्रीसिएशन)

समीक्षाका एक नवीन रूप चला है जो केवल अभिप्रशंसन (एप्रिसिएशन या गुण-वर्णन) के रूपमे अथवा केवल अभिव्यक्ति-मात्रके रूपमे व्यक्त हुआ है।

५. लेखक तथा जनताकी सेवा

ऊपरवाले प्रयोजनसे मिलते-जुलते योरोपीय समीक्षकोके ये दोनो सिद्धान्त भी हैं—

(१) समीक्षा लेखकोकी सेवा करती है, तथा

(२) समीक्षा जनताकी सेवा करती है।

इनमेसे पहिला सिद्धान्त तो हौरेस, वीदा, ब्वालो और पोपके उन आदेशोमे प्राप्त होता है जिनमे उन्होंने बताया है कि 'लेखकोको अच्छे समीक्ष्यवादीसे निरन्तर परामर्श लेते रहना चाहिये।' फारस और अरबमे इस 'इसलाह' को बडा महत्त्व दिया जाता है।

'समीक्षा-द्वारा जनताकी सेवा करनेका सिद्धान्त' सब प्रकारकी विधानात्मक समीक्षामे अन्तर्हित ही रहता है, क्योकि उसमे समीक्ष्यवादीका सदा यह प्रयास रहता है कि वह जनताको दूषित साहित्यसे सावधान करके बचावे और सत्साहित्यकी ओर प्रवृत्त करे। व्यापक रूपसे किन्तु अधिक निश्चित व्यवस्थाके साथ यह जनताकी सेवा करनेकी भावना अविधानात्मक, निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक समीक्षामे विद्यमान रहती ही है। सेन्त ब्यूवेके अप्राङ्कित वक्तव्यमे इस सिद्धान्तका स्पष्ट आभास मिलता है—'समीक्षाका कार्य ही यह है कि वह समाजमे स्वस्थ रुचि उत्पन्न करके तथा साहित्यकी श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके समाजको समुन्नत करे और उसके शील तथा सदाचारको पुनः व्यवस्थित करे।' मैथ्यू आरनोल्डने भी इसका समर्थन किया है—'ससारमे आजतक जो कुछ भी जाना या विचारा गया है उसमेसे सर्वश्रेष्ठको ग्रहण करके उसके प्रचारका प्रयास करना ही समीक्षा है।'

अभी कुछ वर्ष पूर्व आउडनने इसी मतको अपने सिद्धान्तमे पुनः दुहराते हुए कहा है—'समीक्ष्यवादीका कर्त्तव्य, अतीतकी संस्कृतियोके ज्ञानका प्रसार करना भी है तथा पाठकको मानव-जीवनमे व्याप्त एकता, उसके (समीक्ष्यवादीके) अपने अनुभवके साथ कलाकृतिकी सङ्गति या मेल तथा कलात्मक महत्त्वोंका अन्य महत्त्वोसे सम्बन्धका परिचय देना भी है।'

६. निर्णय देना ही समीक्षा

प्राचीनतम समीक्षाओमे यह देखनेको मिलता है कि 'भली प्रकार निर्णय करने' मे ही समीक्षाकी कला मानते है। नवीनतम समीक्षाओमे तो यह बात अर्थात् निर्णय देनेकी बात स्पष्ट रूपसे प्रकट ही कर दी गई है। आई० ए० रिचार्ड्सने कहा है—'समीक्ष्यवादी होनेका अर्थ ही यह है कि वह किसी वस्तु या कृतिके गुण-तत्त्वो या मूल्योका निर्णायक बने।'

अच्छे निर्णयात्मक समीक्ष्यवादी केवल तर्कसङ्गतिपर ही पूर्णतः अवलम्बित नहीं रहते। स्वय निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक समीक्ष्यवादी टी० एस्० ईलियटने लिखा है—'समीक्षा तो सज्ञानताका विकास है।' इस बातका समर्थन सेन्त ब्यूवे, ड्राइडन, जौन्सन और आरनोल्ड सभीने अपने-अपने ढङ्गसे किया है। जौन्सनने कहा है—'किसी रचनाका सुन्दरताएँ किसी साक्ष्य या प्रमाणके द्वारा नहीं दिखाई जा सकतीं, अत पूर्णतः कल्पनापर छोड़ दी जाती हैं।'

७ अच्छे लेखनके सिद्धान्तोंका अन्वेषण और प्रयोग

आरनोल्डका मत है कि 'निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक तो है किन्तु जो निर्णय किसी निष्पक्ष और शुद्ध मस्तिष्कमे बिना किसी विवेक-क्रियाके स्वय नये ज्ञानके साथ आ बैठता है, वही महत्त्वपूर्ण है और यदि कोई व्यक्ति नीरस, विधान-निर्माताका रूप धारण करनेके बदले, सहचर तथा सकेतके रूपमे, बिना किसी प्रकारके बौद्धिक प्रयासके,

अपना निर्णय उस नवीन ज्ञानके साथ-साथ दे डाले तो वह पाठकका अधिक हित कर सकता है।' यहाँ आरनोल्डने निर्णयात्मक समीक्षाके लिये जिस विशेष प्रकारकी भावनाका समर्थन किया है उसे हम 'अच्छे लेखनके सिद्धान्तोका अन्वेषण और प्रयोगके रूपमे समीक्षा' कह सकते है।

कौलरिजका कहना था—'जैसे किसी ज्योतिर्विद्के लिये सूर्य ग्रहमे स्थित हुए बिना सौर-मण्डलकी गति समझाना असम्भव है उसी प्रकार जबतक साहित्य-रचनाके समस्त क्षेत्रको एक साथ दृष्टिगत करानेका कोई केन्द्रीय स्थल मनुष्य प्राप्त न कर ले तबतक उसके लिये सच्चा समीक्ष्यवादी होना भी असम्भव है।' इसीकी व्याख्या करते हुए कौल-रिज कहता है—'दूसरोके द्वारा रचे हुए ग्रन्थोपर निर्णय देनेके 'नियम' गढनेकी अपेक्षा, रचना करने या लिखनेके सिद्धान्त स्थापित करना समीक्षाका अधिक आवश्यक उद्देश्य है।' वह आगे लिखता है—'मैं उसी परीक्षणको निष्पक्ष, शुद्ध और दार्शनिक मानता हूँ, जिसमे सयीक्ष्यवादी, व्यापक रूपसे काव्यके आधारभूत सिद्धान्तोकी स्थापना करनेका प्रयत्न करता है और जिनमे वह विभिन्न प्रकारके काव्योपर उनके प्रयोगका स्पष्ट निर्देश करता चलता है। इस प्रकार समीक्षाका अपना मानदण्ड प्रस्तुत करके वह उन विशेष कृतियोका स्पष्ट निर्देश करेगा जिनपर, उसके द्वारा निर्धारित मानदण्डके नियमोका, उसकी समझमे, प्रयोग हो सकता है।' यही अरस्तूका 'अनुभवाश्रित आदर्श' (ऐम्पिरिकल आइडियल) भी है। इसी आदर्शपर ड्राइडनने अपना प्रसिद्ध 'नाटकीय काव्यपर निबन्ध' (ऐसे औन ड्रैमैटिक पोएजी) लिखा, ऐडीसनने अपना 'कल्पनाके आनन्द' (प्लेज़र्स औफ दी इमेजिनेशन) लिखा और सेमुएल जौन्सनने भी इसी भावनाका आदर करते हुए कहा—'समीक्षाका उद्देश्य है सत्य।' अच्छी रचनाके सिद्धान्तोकी विवेचना करते हुए उसने कहा—'काव्य-रचनाके अभ्यासने सिद्धान्त स्थिर किए हैं, सिद्धान्तोने काव्य-रचनाका अभ्यास नहीं स्थिर किया है।'

८. सुविचार

फ्रांसके नवोदात्तवादियोने सुविचार या विवेक (गुड सेन्स) को ही समीक्षाकी कसौटी बताया है। इस सिद्धान्तके प्रवर्तक थे ब्वालो, समर्थक थे ड्राइडन और जौन्सन। इनका कथन था कि 'समीक्ष्यवादीमे यह योग्यता होनी चाहिए कि वह स्थितियो या विषयोके औचित्यको ठीक पहचान सके। इस औचित्यका तात्पर्य यह है कि उसे अतीतकी घटनाओका क्रमिक ज्ञान होना चाहिए तथा विषयोके कार्य-कारणका बुद्धिसङ्गत परिचय होना चाहिए।' उनका मत है कि 'बुद्धि-सङ्गत या सामान्य बुद्धिकी बात यही है कि असत्से सदा असत्की उत्पत्ति होती है और सत्से सदा सत्की।' इसीलिये इन समीक्षा-शास्त्रियोका यह मत था कि 'नाटको या उपन्यासोके पात्रोके चरित्र विकासमे एक प्रकार-की सङ्गति होनी चाहिए।'

समीक्षासे लाभ

समीक्षा कई प्रकारसे, कई प्रकारके व्यक्तियो तथा वर्गोके लिये लाभकर सिद्ध हो सकती है—

१. स्वय समीक्ष्यवादीके लिये ही वह (समीक्षा), सयत आत्माभि-व्यक्तिका ऐसा स्वर्णद्वार है जिसमे प्रवेश करके वह जान जाता है कि 'मुझे किसके लिये क्या बात, कब, किस परिस्थितिके अनुसार, किस ढगसे कहनी चाहिए।' अभिव्यक्तिकी इस व्यापक रीतिके ज्ञानके साथ उसके विवेक तथा सौन्दर्यके उचित अभिप्रशसन तथा गुण-ग्राहकताकी भावनाका भी अभिवर्द्धन होता चलता है जिससे उसकी सौन्दर्य-भावना तथा विवेचना-वृत्तिका परिष्कार हो जाता है और उसकी स्वाभाविक चयन-वृत्ति, जिज्ञासा-वृत्ति और अहवृत्ति अधिक संयत तथा सुप्रवृत्त हो जाती है।

२. समीक्षाके द्वारा समीक्ष्यवादी केवल किसी एक विशिष्ट लेखकका अभिप्रशसन करके, केवल उस लेखकका ही हित, कल्याण तथा उन्नित

पथप्रदर्शन नहीं करता वरन् उस अभिप्रशासन या समीक्षा-द्वारा वह व्यापक रूपसे सब लेखकोके लिये ऐसा मार्ग-निदर्शन करता है जिससे लेखक न तो बहुत रूढिमे ही लिपटा चले, न रूढिसे पूर्णत. विलग ही हो जाय।

३. समीक्षाकी सहायता पाकर कोई भी लेखक अपनी किसी विशेष साहित्यिक रचनाके लिये विषय-सामग्री भली प्रकार चुनने, संग्रह करने, सजाने और प्रयोग करनेका कौशल जान सकता है, अर्थात् नवीन रचना करते समय समीक्षाके सिद्धान्तोका आश्रय लेकर वह यह जान सकता है कि मुझे अपनी अमुक रचनाके लिये कहाँसे सामग्री प्राप्त होगी? उस सामग्रीका कितना अश मुझे अपनी रचनाके लिये ग्रहण करना चाहिए और कितना छोड देना चाहिए? इस ग्राह्य सामग्रीको किस क्रमसे रखकर, किस प्रकार अलंकृत करके आकर्षक तथा सहृदय-हृद्य बनाना चाहिए? और किस प्रकार इस सामग्रीका प्रयोग अपनी रचनामे करना चाहिए?

४. समीक्षाके द्वारा जनताका मनोविनोद भी होता है, क्योकि लोग काव्यके परीक्षण और विवेचनकी कसौटियोके द्वारा किसी भी रचनाका उचित आनन्द ले सकते है। साथ ही, समीक्षाके द्वारा जनताको यह भी शिक्षा मिलती चलती है कि वास्तवमे अच्छी रचना कैसी होती है? किन सुन्दरताओके कारण कोई रचना बुरी और त्याज्य समझी जाती है? इस प्रकार समीक्षाके द्वारा जनताकी रुचि और वृत्तिका परिष्कार होता है और उसकी सौन्दर्य-भावना तथा विवेचना-शक्तिका सवर्द्धन होता रहता है।

५. मेथ्यू आरनोल्डने कहा है—'लोक-सामान्य सस्कृति और प्रतिभाके विकासके लिये जो उर्वर क्षेत्र आवश्यक है उसके उच्च स्तरके पोषणमे भी समीक्षा सहायक हो सकती है।' तात्पर्य यह है कि समीक्षाके द्वारा हम व्यापक रूपसे जनताका उच्चतर सास्कृतिक तथा बौद्धिक विकास भी कर सकते हैं।

ऊपर के विवेचन स्पष्ट है कि समीक्षामे, किसी वस्तुका अध्ययन होता है, साङ्गोपाङ्ग विवेचन होता है, विशेषताओका अभिप्रशासन होता है, सब तत्त्वोका विश्लेषण होता है, सावधान करनेके लिये दोष-प्रदर्शन किया जाता है, रचनाके उचित अध्ययनके लिये कविके उद्देश्य, उसके युगकी समस्या, कविपर उनका प्रभाव, रचनाकी परिधि, अन्य काव्योसे उसकी तुलना तथा आगेके लिये आदेश आदि, सभी बातें आती हैं और यह सब कार्य केवल सत्यका ज्ञान और प्रचार मात्र नहीं है। अत. इन सब दृष्टियोसे, समीक्षाके उद्देश्य तीन विभागोमे बॉटे जा सकते है—

१. विवेचन : जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिकके समान समीक्ष्य वस्तुके सब अङ्गोका विश्लेपण, युग-प्रवृत्तिका कविपर प्रभाव, कविका उद्देश्य, काव्यके गुण और दोष आदिका अध्ययन होता है।

२. तुलना : जिसके अन्तर्गत किसी एक विशिष्ट रचनाकी तुलना उसी कविकी अन्य रचनाओसे, उसी भाषाके अन्य कवियोकी उसी प्रकारकी रचनाओसे या अन्य प्रकारकी रचनाओसे अथवा अन्य भाषाओकी उस प्रकारकी या अन्य प्रकारकी रचनाओसे की जाती है।

३ प्रेरणा . जिसके अन्तर्गत समीक्ष्यवादीके वे सभी संकेत और सिद्धान्त आते है जिनके द्वारा वह निर्देश करता है कि 'इस प्रकार किसी रचनाका आनन्द लो, औरोको इस रचनाका सौन्दर्य बताओ, इस प्रकारके दोषसे सावधान रहो, इस प्रकारकी रचनाओकी ओर प्रवृत्त हो तथा इस प्रकारसे रचना करो।'

४
समीक्ष्यवादी

समीक्षाके उद्देश्योंका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट है कि समीक्ष्यवादी वास्तवमें पठित समाजका वह अग्रणी, नेता या मुखिया है जिसका कार्य स्वयं सम्बुद्ध होकर दूसरोंको सजग और प्रबुद्ध करना है और जिसके स्वयं सम्बुद्ध और सज्ञान न होनेसे समाजगत सौन्दर्य-भावना और विवेचना वृत्तिमें अनेक दोष आ सकते हैं।

समीक्ष्यवादीका संस्कार

समीक्ष्यवादीमें निम्नांकित गुण होने चाहिएँ—१. अध्ययनशीलता, २. निष्पक्षता, ३. सौन्दर्य भावनाका संस्कार, ४. अभिव्यक्ति कौशल, ५. विवेक, ६. युक्तियुक्तता, ७. सहृदयता, ८. भावकता।

समीक्ष्यवादीकी चार वृत्तियाँ

मनुष्य अपनी तीन वृत्तियोंके आधारपर किसी वस्तुको अच्छा समझकर उसकी श्रेष्ठता या निकृष्टताका विवेचन करता है, वे हैं—चयन, जिज्ञासा और अहं-वृत्तियाँ। इन तीनों वृत्तियोंके आधारपर वह अपनी रुचि और योग्यताके सहारे संसारकी सब वस्तुओंमेंसे अपने अनुकूल प्रिय वस्तु या पदार्थका चयन करता या छाँटकर अलग कर लेता है। उसके मनमें विद्यमान कुतूहलकी भावना उसके सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न करती है और इस जिज्ञासाका परिणाम भी वह अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार निकाल लेता है, उसकी अहं-वृत्ति उसे प्रेरित करती रहती है कि वह अपनी चयन की हुई वस्तुके गुण दूसरोंसे कहे, उसका प्रचार करे, उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करे, दूसरोंको माननेके लिये विवश करे और आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये छल-कपटका भी आश्रय ले। इस अहंवृत्तिके कारण कभी-कभी मनुष्य अपने दोषका भी समर्थन करने या कराने लगता है। इसलिये जहाँ एक ओर समाजने श्रेयस्

और प्रेयस्‌के ज्वलन्त रूप, उदाहरण और आदर्श एकत्र कर रक्खे हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी उपेक्षा करके कुछ व्यक्ति अपनी चयन, जिज्ञासा और अह-वृत्तिकी तृप्ति, तुष्टि और पूर्तिके लिये, अपनी योग्यता और समर्थताके आधारपर किसी रचना या कलाकृतिका समीक्षण और परीक्षण करते हैं। इस दृष्टिसे समीक्ष्यवादियोको हम चार श्रेणियोमे रख सकते हैं—

१. काक-वृत्ति . जो सदा कटु बोलते हैं, मल तथा दोपपर ही जिनकी दृष्टि जाती है। ये काकवृत्तिवाले छिद्रान्वेषी कहलाते है।

२. कोकिला वृत्ति : जो सदा अपने ही दलकी रीति-नीतिको श्रेष्ठतम मानते है और दूसरोको बुरा समझकर उन्हे हानि पहुँचाकर केवल अपना या अपने दलके मतका उसी प्रकार स्वार्थपूर्ण पोषण करते हैं जैसे कोकिला अपने बच्चोका पोषण करानेके लिये कौएके अण्डे गिरा देती है।

३ मधुकर-वृत्ति : जो सभी खिले हुए फूलोपर बैठ बैठकर उनका रस लेते है और दूसरोको पान करानेके लिये उस रससे मधु बनाते हैं। ऐसे लोग गुणग्राहक तथा गुण-दर्शी अभिप्रशसक होते है जो सब रचनाओमेसे केवल गुण ही गुण निकालकर उन्हे सबके समक्ष इस रूपमे उपस्थित करते है कि लोग उन गुणोसे लाभान्वित हो और वह स्थापित की हुई वस्तु स्वय अपनेमे नवीन, सुन्दर हितकर पदार्थ बन जाय।

४. हस-वृत्ति : जो निष्पक्ष निर्णायककी भाँति सब प्रकारके पक्षपातो से विलग होकर दूधका दूध और पानीका पानी कर देते है और प्रत्येक रचनाके गुण-दोपको अत्यन्त विशद तथा स्पष्ट रूपसे व्यक्त करके लोगोके सम्मुख उपस्थित कर देते है जिससे कि लोग गुणको ग्रहण कर ले और अवगुणसे सावधान होकर उसका त्याग कर दें।

अतः चार प्रकारके ही समीक्ष्यवादी होते है—१. छिद्रान्वेषक या निन्दक, २. पक्ष-भावित, ३ अभिप्रशसक और ४ निर्णायक।

———

५

समीक्षाका आधार

यद्यपि 'किसी वस्तुका ठीक दर्शन तथा परीक्षण करके दूसरोको उसके गुण दोषका विवरण देना, उसकी ओर प्रवृत्त करना, वैसी रचना करनेके लिये दूसरोको प्रेरित करना तथा जनताकी रुचि परिमार्जित करना' सभी कुछ समीक्षाका प्रयोजन है किन्तु यह सब तब होता है जब हम किसी रचनाका उचित गुणतत्त्व (वैल्यू) जान लें अर्थात् उसका मूल्याङ्कन कर ले क्योकि किसी वस्तुका गुणतत्त्व या मूल्य जाने बिना हम उसके सम्बन्धमे निर्णय नहीं दे सकते। अतः पहले यह जान लेना चाहिए कि इस मूल्याङ्कनका स्वरूप क्या है अर्थात् हम किस मानदण्डसे किसी रचनाका परीक्षण करें।

मानदण्डके स्रोत

ये मानदण्ड अग्राङ्कित पॉच मुख्य स्रोतोमेसे किसी एकसे प्राप्त होते हैं—

१. मनुष्योसे : अर्थात्—

(क) सब मनुष्योको सब कालोमे और सर्वत्र क्या अच्छा लगता है ?

(ख) व्यवस्थित रूपसे सुयोग्य व्यक्तियोको क्या अच्छा लगता है।

(ग) स्वय समीक्ष्यवादीको क्या अच्छा लगता है ?

२. उन आप्त-वाक्यो या मान्य प्रतिष्ठित ग्रन्थोसे : जिनका प्रयोग—

(क) अनुसरण या अनुकरणके लिये किया जा सकता है और जिस अनुकरणके परिणाम-स्वरूप या तो वैसी अधानुकरणशील रचनाएँ होती हैं जैसी योरपमे मध्यकालीनवादियो-द्वारा हुईं, जिन्होने एक भी शब्द ऐसा नहीं लिखा जो सिसरोने न प्रयोग किया हो, या

ऐसी होनी हैं जिनके सम्बन्धमे गेटेने सावधान करते हुए कहा था कि 'कुछ ऐसे पक्के शिष्य होते हैं जो अपने प्रतिभाशाली गुरुके थूकनेके ढङ्गका भी अनुकरण करने लगते हैं।'

(ख) उस कसौटीके रूपमे किया जा सकता है, जिसके सहारे हम अन्य महाकृतियोका अभिज्ञान कर सकें।

(ग) सिद्धान्त-निरूपण तथा सिद्धान्त-प्रयोगके लिये किया जा सकता है अर्थात् उनसे सिद्धान्त निकालकर उनसे अन्य कृतियोका परीक्षण किया जा सकता है और जिनके सम्बन्धमे रेनौल्ड्सने कहा है—'उस (ग्रन्थ) के चरण-चिह्नोपर चलनेके बदले केवल उसके द्वारा निर्दिष्ट सडकपर ही चलनेका उद्योग करना चाहिए।'

३. रूपात्मक गुणोसे : अर्थात् रचना-स्वरूप और रचना-शैलीके उन अनेक तत्त्वोसे, जिन्हे समीक्षकोने किसी एक कृतिसे नहीं वरन् उस प्रकारकी सब कृतियोमेसे ढूँढ निकालनेका प्रयत्न किया है।

४. ग्राहक (श्रोता, द्रष्टा, पाठक) पर रचनासे पडे हुए मनोवैज्ञानिक प्रभावसे : जिसके अन्तर्गत तीव्रता (इन्टैन्सिटी), कालावधि (ड्यूरेशन) की समस्या और लौगिनस द्वारा प्रतिपादित उस सक्रमण (ट्रान्सेपोर्ट अर्थात् उदात्त ग्राहक-द्वारा किसी भावसे भावित होने) की बात भी आ जाती है, जिसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है—'किसी रचनाकी श्रेष्ठताकी परख यही है कि वह बार-बार हृदयमे सिहरन उत्पन्न करती रहे।'

५. लेखकके अपने सिद्धान्तसे : जैसे तुर्गनेवकी सब रचनाओमे श्रमिकोके साथ सहानुभूति और मैकौलेकी रचनाओमें टोरी-दलकी नीतिका समर्थन पाया जाता है।

गुणतत्त्व (वैल्यू)

अधिकाश व्यक्ति अपनी समीक्षामे इनमेसे कुछ स्रोतोसे प्राप्त मानदण्डोके समन्वित विधानका ही प्रयोग करते हैं। किन्तु ये मानदण्ड भी रचनाके कुछ विशेष मूल्यो या गुण-तत्त्वोपर अवलम्बित होते हैं।

'किसी रचनाका गुण-तत्त्व या मूल्य वह विशेष नियोजन है जो किसी रचनामे उपस्थित होकर, उसे मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण या गुणान्वित करके इस योग्य बना देता है कि उसकी ओर लोगोका विशेष ध्यान आकृष्ट हो।' अभी थोडे दिन पूर्व आई० ए० रिचार्ड्सने 'मूल्याङ्कनका सिद्धान्त' (वैल्यू-थियरी या ऐग्जियोलौजी) निर्धारित करते हुए यह परिणाम निकाला कि 'सम्पूर्ण समीक्षा-पद्धतियाँ कुछ गुण-तत्त्वोकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पूर्वनिश्चित सयोजनाओ या भावनाओपर ही अवलम्बित हैं जो कभी मिटाई नहीं जा सकतीं।'

व्यवहारवाद और सिद्धान्तवादके दोनो चरम छोरोसे बचकर आदर्श मध्यम मार्ग यह है कि समीक्षाके मानदण्डोका आधार हमारा अनुभव हो, अर्थात् वे कलाकारको अभ्यास-प्रणाली और जनताकी बदलती हुई रुचिके आधारपर हो।

गुणतत्त्वका स्वरूप समझनेके लिये हमे दो प्रश्नोका समाधान कर लेना चाहिए।

१. क्या वस्तुएँ इसलिये सुन्दर लगती है कि हम सौन्दर्यात्मिका दृष्टिसे उनकी सुन्दरतामे भावित है, या—

२ क्या हम इसलिये उनकी ओर प्रवृत्त या उनसे सौन्दर्य भावित है कि वे सुन्दर है।

इनमेसे पहले प्रश्नकी दृष्टिसे देखा जाय तो किसी वस्तुका गुणतत्त्व हमारी दृष्टिपर अवलम्बित है और इसलिये वह अन्तर्व्याप्त (सब्जैक्टिव) है। दूसरी परिस्थितिमें हमारी रुचि ही गुणतत्त्वके पूर्वस्थित अस्तितत्र पर अवलम्बित है, अतः वह बहिर्व्याप्त (ऑब्जैक्टिव) है। किन्तु ये दोनो सिद्धान्त भी अपनेमे पूर्ण नहीं हैं और बडी द्विविधा उत्पन्न कर सकते हैं।

बाह्य सापेक्ष्यवाद

उपर्युक्त दोनो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोके मध्यम मार्गके रूपमे

अभी थोडे दिन हुए एक तीसरा मूल्याङ्कनका सिद्धान्त प्रस्तावित किया गया है जिसके अनुसार 'किसी वस्तुमे मूल्य या गुणतत्त्व होना समझा तो इसलिये जाता है कि हम उसके प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं किन्तु हम यह रुचि उसमे इसलिये प्रदर्शित करते हैं कि उसमे वास्तवमे कुछ ऐसे बाहरी लक्षण है जो हमारी रुचि आकृष्ट करते है।' इस दृष्टिके अनुसार, जिसे प्रायः लोग बाह्य सापेक्ष्यवाद (ऑब्जेक्टिव रिलेटिविज्म) कहते है, किसी वस्तुमे गुणतत्त्वका अस्तित्व और उसमे हमारी रुचि दोनो सम्बद्ध है या उसके दो पक्ष है जिनमेसे कोई एक दूसरेसे पहले पीछे नहीं आता, दोनो साथ आते हैं।

किन्तु यह सिद्धान्त भी किसी व्यक्तिवादी दृष्टिकोणसे व्याख्यात नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी रुचि भी प्रत्यक्षतः, कमसे कम कुछ अशमे सही, सामाजिक प्रभावसे बनती है । क्या सुन्दर है ? इस सम्बन्धमे हमारी भावनाएँ सामाजिक परिवर्त्तनके साथ-साथ बदलती रहेंगी। अतः नियम और सिद्धान्त भी उतने ही तरल , परिवर्त्तनशील तथा उतने ही अनवरत प्रवहमान हैं जितना मानव-समाज। इसीलिये कलाकारोको उन सिद्धान्तोमे बाँध रखना अनुचित है जो उन वस्तुओसे लिए गए हैं जो उन रुचियोको सन्तुष्ट करनेके लिये रची गई थीं, जो समाप्त हो चुकी हैं। किन्तु साथ ही यह कहना भी असङ्गत है—कि 'अतीतसे अपना पूर्णतः सम्बन्ध तोडकर, उसके प्रमाणो तथा सिद्धान्तोसे अपनेको पूर्ण मुक्त कर लें।'

गुण तत्वकी परिभाषा और परिधि

'किसी रचनामे लेखक-द्वारा प्रयुक्त या स्थापित वह नियोजन ही 'गुण-तत्त्व' कहलाता है जो ग्राहक (श्रोता, पाठक या दर्शक) को आदि से अन्ततक उस रचनामे उलझाए रक्खे, ऊबने न दे।' जब हम काव्य पढ़ते हैं तो हम उसमे कुछ तो कथाका, कुछ कथानकके ग्रथनका, कुछ उसके रचना कौशलका, कुछ सूक्तियोका, कुछ जोड-तोडके उत्तर-प्रत्युत्तर या वाग्वैदग्ध्यका, कुछ शब्दोकी रसीली सजावटका, कुछ उससे दी

हुई शिक्षाका, कुछ उसमें आए हुए स्थलों या वस्तुओंके वर्णनोंका, कुछ उसमें आए हुए व्यक्तियोंके चरित्रोंका और कुछ घटनाओंकी जटिलतासे उत्पन्न परिस्थितियोंका आनन्द लेते हैं। इसे संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि किसी रचनामें हमें जो आनन्द मिलता है वह उसमें अन्तर्हित सुन्दर, अद्भुत और असाधारण वस्तु, व्यक्ति, कथा और भाषाका ऐसा नियोजन होता है कि ग्राहक (पाठक, श्रोता या दर्शक) कौतूहलके साथ उसमें तन्मय होकर कहीं भाषा-शैलीसे तथा कहीं वर्ण्य विषयसे भावित होता चला जाय, तब समझना चाहिए कि उसमें गुण-तत्त्व विद्यमान है।

किसी कृतिमें मूल्य या गुण तत्त्व कैसे ढूँढ़ा जाता है ?

योरपवालोंने मूल्य या गुण-तत्त्व खोजनेकी पाँच कसौटियाँ बनाई है—

१. आनन्ददायकत्व, अर्थात् उसे देखते ही या पढते ही सीधे तत्काल आनन्द प्राप्त हो।

२. कलात्मकता, अर्थात् उसका रचना-कौशल इतना अद्भुत, असाधारण और आकर्षक हो कि उससे भी आनन्दकी प्राप्ति हो।

३. सांस्कृतिक प्रभावशीलता, अर्थात् उसके द्वारा समाज या सभ्यतापर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता हो।

४. नैतिकता या धार्मिकता अर्थात् उसके पढ़नेवालेका नैतिक विकास होता हो और उसकी अनैतिक भावनाओंका नाश होता हो।

५. व्यावहारिकता अर्थात् उसके द्वारा संसारमें मानव-सम्बन्धोंके निर्वाहका उचित मार्ग जाना जाता हो।

———

६

समीक्षाके प्रकार

पहले बतलाया जा चुका है कि समीक्षककी चार वृत्तियाँ होती हैं—काक-वृत्ति, कोकिला-वृत्ति, मधुकर-वृत्ति और हस-वृत्ति, जिनसे चार प्रकारके समीद्यावदी बनते हैं—छिन्द्रान्वेषक, प्रभावित, अभिप्रशसक और निर्णायक। इनके अनुसार तो समीक्षा केवल चार प्रकारकी ही होनी चाहिए—निन्दात्मक, पक्षपातपूर्ण, प्रशंसात्मक और निर्णायक। किन्तु समीक्षाके प्रकार केवल समीक्षकोकी वृत्तिपर ही अवलम्बित नहीं होते। वे तो विवेचनके रूप, सिद्धान्त, प्रणाली, भावना, समीद्यवादीकी दार्शनिक, लौकिक तथा मानसिक प्रवृत्ति, लोक-प्रवृत्ति और युगधर्म आदि अनेक कारणोपर अवलम्बित होती हैं अन: उसके रूप और प्रकार अनेक हो गए हैं—

उच्चतर और निम्नतर समीक्षा

योरपमे कुछ दिनोतक समीक्षाके दो रूप माने जाते रहे—एक उच्चतर (हायर) समीक्षा और दूसरी निम्नतर (लोअर) समीक्षा। उच्चतर समीक्षामे किसी रचनाके सम्बन्धमे यह विवेचन किया जाता था कि उसमे जो सौन्दर्य-तत्त्व आया है, वह कहाँसे आया और उसमे कविने अपनी कला-वृत्ति, विवेकशक्ति और ज्ञान-वैभवता कितनी, कहाँ और कैसे प्रयोग की है। निम्नतर आलोचनामे केवल ग्रन्थके पाठपर और उसकी रचनाके ढगपर ऊपरी विचार किया जाता था।

अध्यवसानात्मक समीक्षा (ऐलेगौरिकल क्रिटिसिज़्म)

योरपकी प्राचीन साहित्यिक समीक्षा-पद्धतिमे एक यह प्रणाली भी चल पड़ी थी कि समीद्यवादी लोग किसी लेखकके साधारण शब्द या उसके वाच्यार्थमेसे काई गूढ आध्यात्मिक अर्थ निकाला करते थे। यह अध्यवसानात्मिका व्याख्या उस मूर्त्तिकरण (परसौनिफिकेशन) से

भिन्न होती थी जिसमे सीधे सीधे किसी एक मानसिक भाव या वृत्तिको एक व्यक्ति ही मान लेते थे जैसे संस्कृतिके प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमे या जैसे होमरके 'हैफेस्टस' को वे लोग देवता और अग्नि दोनो रूपोमें ग्रहण करते थे। कुछ कवियोने जान-बूझकर ऐसी रचनाएँ की हैं जिनकी व्याख्या दो अर्थोंके अनुसार होती है और जिनकी समीक्षा भी उन्हीं दोनो अर्थोंके आधारपर अलग-अलग की जाती है जैसे जायसीने पद्मावतको ऐतिहासिक कथापर आश्रित काव्यके रूपमे लिखकर अन्तमें बताया है कि इसे एक रूपक समझना चाहिए जिसमे—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥

आदि, अर्थात् इस काव्यका यह भी कवि द्वारा इष्ट पक्ष है, जिसका परीक्षण और विश्लेषण भिन्न रूपसे किया जाना चाहिए।

शारीरिक व्याख्या

ईसासे पाँचवीं शताब्दी पूर्व हेगियम-निवासी थिएगेनेसने 'होमरकी ओरसे स्पष्टीकरण' (एपौलौजी) लिखी जिसमे उसने होमरके इलियाद (ईलियड) की बीसवीं पुस्तकमे वर्णित देवताओंके युद्धका शारीरिक और नैतिक अर्थ समझाया था। उसके शिष्य मेत्रोदोरसके अनुसार 'अपोलो' है मनुष्यके गलेका प्रतीक, 'दैमेतेर' है यकृतका और 'दिअनुसस' है प्लीहाका, आदि।

नैतिक व्याख्या

विवेकवाद (रैशनलिज्म) तथा ईसा पूर्व पाँचवीं और चौथी शताब्दीके दार्शनिक वादोंके अभ्युत्थानके साथ योरपमे काव्यका रूपकार्थ लगानेकी एक परम्परा ही चल पडी थी। अनाख्यागोरसका मत था कि 'होमरकी कविताओमे न्याय और शीलकी प्रतिच्छाया है।' अपोलोनियानिवासी दियोगेनेसके गुरु सीनियावासी अन्तिस्थेनेसने असम्बद्ध काव्यकारो (हेप्सोडिस्ट्स) की इसी बातपर खिल्ली उड़ाई

कि उन लोगोने यह नेतिक अर्थारोप होमरमे क्यो नहीं किया। उसके मतसे 'अदूसियस वास्तवमे सिनिक युगका प्रतिनिधि पुरुप था।' इसके ठीक विपरीत प्लेटो या अफलातून था जो होमरके काव्योमे गूढार्थ खोजनेवालोका ठट्ठा उडाया करता था। परिणाम-स्वरूप उसके सभी अनुगामी, जिनमे आनन्दवादी (एपीक्यूरियन) भी थे, उदासीनता वादियो (स्टोइको) की सदा चुटकी लेते रहे।

चौथी शताब्दी ई० पू० मे यूहेमेरसने रूपकार्थ खोज निकालनेकी एक नई प्रणाली ही ढूँढ निकाली जा उसके 'पवित्र लेख' (हियरा अनाग्राफे) मे सम्मिलित है और जिसके सम्बन्धमे उसने कहा था कि 'यह मुझे भारतीय महासागरके एक द्वीपसे प्राप्त हुई है।' इसमे उसने वर्णन किया है कि 'देवता लोग मूलतः मनुष्य ही थे, किन्तु मानव समाजकी परम सेवा करनेके कारण उन्हे मृत्युके पश्चात् देवत्व प्रदान किया गया।' यूनानी देवताओको इस बुद्धिसङ्गत तथा युक्तिसङ्गत रूपमे प्रस्तुत करनेके प्रयासका इतना प्रभाव पडा कि इतालवी कवि ईनियसने 'युहेमेरस' नामका एक काव्य ही लिख डाला जिससे यह रूपकार्थ निकालनेका मत भी पीछे चलकर 'यूहेमेरवाद' कहलाने लगा।

प्रभाववादी समीक्षा (इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म)

किसी कलाकृतिको देख-सुनकर किसी व्यक्तिके मनमे क्या प्रतिक्रिया होती है इसी बातपर यद्यपि सब प्रकारकी समीक्षा अवलम्बित है, किन्तु प्रभाववादी समीक्षा (इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज्म) अर्थात् किसी आत्माका सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियोमे परिभ्रमण' एक नये प्रकारकी समीक्षा पद्धति है जो स्वैरवादी व्यक्तिवाद (रोमान्टिक इन्डिविजुअलिज़्म) और वर्तमान आत्म-चेतना (सैल्फ कौन्शसनेस्) के सिद्धान्तका परिणाम है। इसका सिद्धान्त है कि मनुष्य जब अनेक रचनाओका अध्ययन करता चलता है तब उसके हृदयपर उनके विशेष गुण तत्त्वोकी छाप पडती चलती है और उस छाप (इम्प्रेशन) या प्रभावके कारण वह स्वय संस्कारतः जान जाता है कि क्या उदात्त (सब्लाइम) है, श्रेष्ठ है, सुन्दर है,

अनुकरणीय है, महान् है। इस अभिज्ञानसे सम्पन्न हो जानेपर जो वह समीक्षा लिखता है वह व्यक्तिगत रूपसे सञ्चित तथा व्यापक प्रभावोंसे पुष्ट समीक्षा ही प्रभाववादी समीक्षा कहलाती है।

सापेक्ष्यवादी समीक्षा (रिलेटिविस्ट क्रिटिसिज़्म)

आजकलकी लोकप्रसिद्ध अत्यन्त मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धतिको हम सापेक्ष्य समीक्षा-पद्धति कह सकते हैं। 'उसके तर्क उसीके लिये हैं' इनका सिद्धान्त है अर्थात् एक व्यक्ति एक बार एक ही कविता या एक ही उपन्यासका परीक्षण करता है। इनका कथन है कि 'व्यक्तिगत धारणामेंसे ही समीक्षा उद्भूत होनी चाहिए। जब इन व्यक्तिगत धारणाओंको लोग सार्वभौम नियम मानने लगते हैं तभी गड़बडी प्रारम्भ हो जाती है। पूर्णतावादी (एब्सोल्यूटिस्ट) समीक्षा सब प्रकारके प्रयोगोंकी उपेक्षा करके यह मान लेती है कि 'समीक्षात्मक व्यवहारका दूसरा पक्ष विप्लव है।' उसका कहना है कि 'यदि प्रत्येक समीक्ष्यवादी केवल अपनी ही दृष्टिसे परीक्षण करता चला जाय तो निश्चित रूपसे विप्लव होगा ही।' किन्तु अनुभवने इसे मिथ्या सिद्ध किया है क्योंकि यद्यपि प्रत्येक समीक्ष्यवादी सदा व्यक्तिगत दृष्टिसे ही परीक्षण करता है किन्तु सब मनुष्योंके विचारोंमें इतना भाव-साम्य है कि प्रायः समीक्षाके प्रयासमें पर्याप्त मतैक्य होता ही है।

व्याख्यात्मक समीक्षा (इन्टरप्रिटेटिव क्रिटिसिज़्म)

व्याख्यात्यक समीक्षाका यह सिद्धान्त है कि हमें व्यक्तिगत समीक्षाकी कसौटियाँ स्थापित न करके निरपेक्ष कसौटियाँ स्थापित करनी चाहिएँ क्योंकि कविता या नाटक तो किसी युगके ऐसे वास्तविक लेख पत्र हैं जिनमें वर्णित अतीतके कार्य और परिणाम कभी व्यक्तिगत सनकके आधारपर बदल नहीं सकते। किसी कलाकृतिको स्पष्ट करनेके लिये क्या तथ्य अपने पास होने चाहिएँ इसका निर्धारण करनेके लिये कुछ ऐतिहासिक विद्वान साहित्य-समीक्षामें सलग्न हैं। पाठ-सम्बन्धी (टैक्स्चुअल) समीक्षाने पाठकको वास्तविक मूल लेखके बहुत पास

पहुँचा दिया है। उधर भाषा-सम्बन्धी (लिंग्विस्टिक) समीक्षाने अनेक भ्रम भी दूर कर दिए हैं जैसे इस बातका कि एक शब्दका सदा एक ही अर्थ रहा है। जीवनचरित सम्बन्धी (बायोग्रैफिकल) समीक्षाके द्वारा हम किसी ग्रन्थ और उसके रचयिताके बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके यह बता सकते हैं कि किस प्रेरणा-शक्ति या निश्चित उद्देश्यने किसी कलाकृतिको जन्म दिया है। ऐतिहासिक (हिस्टौरिकल) समीक्षा किसी कलाकृतिका वास्तविक इतिहास बताकर उसका तात्त्विक स्वरूप समझा सकती है जिससे कि हम गुणतत्त्व या मूल्योंको भली-भाँति समझ लें, क्योंकि किसी कविता या नाटकको उसके मौलिक स्वरूपमें देख सकनेकी योग्यता उत्पन्न करना भी समीक्षाकी दृष्टिसे बड़ी भारी सेवा है। इस प्रकार व्याख्यात्मक समीक्षामें भाषा, विषय, पाठ, ऐतिहासिक सङ्गति, कविका जीवनचरित आदि सब काव्यपक्षोंका विस्तृत तथा स्पष्ट विवेचन हो जाता है।

ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक समीक्षाके द्वारा किसी भी राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विषयके क्षेत्रकी उचित पृष्ठभूमि तो तैयार की ही जा सकती है किन्तु साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार करनेमें भी वह अत्यन्त सहायक हो सकती है। यदि हम महाकवि कालिदासको अलग एक व्यक्तिके रूपमें समझनेका प्रयत्न करें तो हम उसे कम समझेंगे किन्तु हम उसे एक विशेष युगके अभिज्ञानशाकुन्तल-कार, मेघदूत-कारके रूपमें देखें तो अधिक उत्तमतासे समझ सकते हैं। इस समीक्षासे हम कविके युगकी राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियोंके साथ-साथ लोक-रुचि और वृत्तिकी दृष्टिसे कवि और उसके काव्यकी वास्तविक भूमिकाकी झाँकी पा सकते हैं और उस झाँकीके द्वारा उस कवि तथा उसके काव्योंका ठीक स्वरूप पहचान सकते हैं।

तुलनात्मक समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दीमे ऐतिहासिक समीक्षाके बदले नवीन तुलनात्मक (कम्पेरेटिव) समीक्षा आ गई। इस तुलनात्मक समीक्षाकी बहुत-सी बातें अत्यन्त नवीन और उपादेय है। वे केवल समयकी आवश्यकताओसे ही रूप ग्रहण नहीं करतीं वरन् वे रचनाके विशेष प्रकारो और प्रधान भावोके सोद्देश्य सङ्कलनसे रूप ग्रहण करती है। इस प्रकारकी समीक्षामे एक शाश्वत तथा व्यापक नियम यह है कि जो परस्पर तुलनीय हो उन्हींकी तुलना करनी चाहिए और इस कसौटीका प्रयोग रचनाके भाव, उद्देश्य, शैली और विषय सबपर करना चाहिए।

यह तुलनात्मक समीक्षा कई प्रकारसे हो सकती है—(क) एक ही कविके कई ग्रन्थोमे आई हुई एक ही विषयकी पारस्परिक तुलना, (ख) उसी कविकी विभिन्न रचनाओकी तुलना, (ग) उसी भाषाके अन्य कवियोके तद्विषयक या भिन्न विषयक काव्योसे तुलना या ससारकी अन्य भाषाओके तद्विषयक या भिन्न विषयक काव्योकी तुलना। इन विभिन्न प्रकारकी तुलनाओमे विषय, विपय-प्रतिपादनकी शैली, भापा-शैली, उद्देश्य तथा प्रभाव आदि सभी दृष्टियोसे तुलना की जा सकती है।

साहित्यिक समीक्षा (लिटरेरी क्रिटिसिज्म)

साहित्यिक समीक्ष्यवादी मानते है कि साहित्य केवल अभिव्यक्तिका कौशल-मात्र नहीं है वह उससे कुछ आगे बढ़कर किसी एक विशेष पक्षकी दृष्टिसे मनुष्यके विचारोका प्रतिबिम्ब या उस युगकी भावनाका दर्पण है। इस प्रकारकी समीक्षामे इसीलिये भाषाके साहित्यिक स्वरूपके साथ-साथ ऐसा विचारात्मक या भावात्मक विवेचन अवश्य होता है जो समीक्ष्यवादी अपने युगके दृष्टिकोणसे उपस्थित करता है।

निर्णयात्मक (जुडीशल) समीक्षा

निर्णयात्मक समीक्षामे प्रायः किसी भी साहित्यिक कृतिको स्पष्ट और पूर्ण समझनेकी क्रिया कम हो जाती है। चाहे कोई समीक्षा पूर्णतः

निष्पक्ष ही क्यों न हो किन्तु सब प्रकारकी समीक्षाओंमें, चाहे प्रत्यक्ष चाहे अप्रत्यक्ष, मूल्याङ्कनके मानदण्ड निश्चित ही रहते हैं। किन्तु जब कोई व्यक्ति किसी कृतिका आदर्श मूल्याङ्कन करनेका प्रयत्न करता है तब मानदण्डोंका महत्त्व बढ जाता है और प्रायः ऐसा होता है कि इन मानदण्डोंसे जिस साहित्यिक कृतिका मूल्याङ्कन होता है, उसकी दुर्दशा हो जाती है। प्रायः निर्णयात्मक आलोचना भी एक प्रकारकी नैतिक आलोचना होती है। यह बात बुद्धिसङ्गत भी जान पडती है क्योंकि अधिकांश साहित्यमें प्रायः नैतिक तत्त्व ही होते हैं। किन्तु ऐसी समीक्षामें भय यही रहता है कि उसके लिये जो मानदण्ड स्थापित हुए हैं वे कहीं उससे असम्बद्ध न हो जायँ। जब कोई नैतिक समीक्ष्यवादी आदर्श साहित्यिक समीक्षा करने बैठता है तब वह उन्हीं नैतिक मानदण्डोंका आरोप करता है जो उस रचनामें विद्यमान हैं। इसके पश्चात् वह तत्सम्बद्ध अथवा उससे मिलते जुलते मानदण्डका प्रयोग करता है। वह कभी भी रूसो की जाँच अरस्तूके मानदण्डसे या कालिदासकी जाँच जयदेवके मानदण्डसे नहीं करेगा।

विश्लेषणात्मक समीक्षा (ऐनेलिटिकल क्रिटिसिज़्म)

विश्लेषणका तात्पर्य है 'किसी एक पूर्ण वस्तुके सब अङ्ग अलग-अलग करके उन अङ्गोंका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना।' प्राउस्ट और जौएसनने विश्लेषणात्मक आलोचनाका तात्पर्य बताया है 'कि किसी रचनाके पात्रों और घटनाओंको इस प्रकार वर्णन करना ही विश्लेषणात्मक समीक्षा है कि उनसे सम्बद्ध पूर्ण ज्ञानके साथ रचनाके औचित्य अथवा अनौचित्यका भी पूरा परिज्ञान हो जाय' अर्थात् किसी रचनाके तत्त्वोंको इस प्रकार अलग-अलग करके समझाना कि प्रत्येक अङ्गके औचित्य तथा अनौचित्यका उचित विवेचन हो जाय तो उसका सकारण पूरा विवरण ज्ञात हो जाय। इतना हो चुकनेपर ही वह 'विश्लेषणात्मक समीक्षा' हो पाती है। हौवेलने अपने 'समीक्षा और कल्पना-साहित्य' (क्रिटिसिज्म एण्ड फिक्शन) के इक्कीसवें पृष्ठपर स्कौटके सम्बन्धमें

लिखा है कि 'स्कौट अत्यन्त विश्लेषणात्मक था जब कि वर्त्तमान उपन्यासकार अधिक नाटकीय है।' इसका तात्पर्य है कि स्कौटने अपने उपन्यासोमे व्यक्तियो, स्थानो तथा घटनाओके जो चित्रण दिए हैं, वे इतने सूक्ष्म है कि उन व्यक्तियो, स्थानो तथा घटनाओका मूर्त्त चित्र पाठकके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। किन्तु नाटकीय उपन्यासकार व्यक्तियो, स्थानो तथा वस्तुओके चित्रणमे इतना समय नहीं लगाता जितना भावोको इस आकस्मिक और कुतूहलजनक ढगसे सजानेमे कि वे सहसा पाठकका मन आकृष्ट कर लें।'

अतः विश्लेषणात्मक समीक्षामे यही प्रयत्न होना चाहिए कि उसके द्वारा किसी रचनाके सब आन्तरिक तथा बाह्य तत्त्वोको इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसका वास्तविक स्वरूप समझनेमे किसीको कोई कठिनाई न हो।

पाठ-समीक्षा (टैक्श्चुअल क्रिटिसिज़्म)

पाठ समीक्षाका उद्देश्य है कि अनेक पुस्तियो (पाण्डु लिपियो) के साक्ष्यके आधारपर किसी ग्रन्थका मूल पाठ निश्चित कर दिया जाय और समीक्षात्मक अध्येताके लिये ऐसे प्रमाण सग्रह कर दिए जायँ कि वह किसी विशेष स्थलपर उन प्रमाणोका प्रयोग करके यह देख सके कि सम्पादकने जिस साक्ष्यके आधारपर पाठ स्थिर किया है उसके आधारपर वह पाठ ठीक है या नहीं।

बौडलरवादी समीक्षा

टौमस बौडलरने अठ्ठारहवीं शताब्दीके अन्तमे साहित्य-समीक्षाका एक विलक्षण जटिल प्रकार ढूँढ़ निकाला था। इस भले आदमीने एक 'फैमिली शेक्सपियर' (१८१८) नामसे शेक्सपियरके सब ग्रन्थोका ऐसा सम्पादन किया जिसमेसे उसने ऐसे सब अश निकाल बाहर किए जिन्हे 'कोई सज्जन महिलाओके समाजमे पढने योग्य न समझता हो।' तबसे यह शब्द उन सब समीक्षा-प्रयासोके लिये प्रयुक्त किया जाता रहा जिसके

द्वारा किसी भी रचनासे अश्लील अश छॉटकर निकाल दिए जाते हो, विशेषत: वे अंश, जिनके सम्बन्धमे यह विश्वास हो कि इन्हे सुनकर स्त्रियॉ सङ्कोच और लज्जाका अनुभव करेगी।

समीक्षामें वैज्ञानिक प्रणाली

प्लेटोके 'आयोन' (५३२ ई० पू०) से ही यह प्रश्न चल रहा है कि समीक्षामे वैज्ञानिक प्रणाली चल सकती है या नहीं। किन्तु जबसे विज्ञानका विकास होने लगा और सब प्रणालियोका सचेष्ट सस्कार होने लगा तबसे तो यह प्रश्न और भी अधिक व्यापक हो चला है। इस युगमे भी वैज्ञानिक समीक्षाके सम्बन्धमे शास्त्रार्थ चल ही रहे है। यद्यपि ब्रोनोवस्कीने कहा कि 'मै आलोचना भी वैसी ही सटीक लिखता हूँ, जैसी ज्योमेट्री (ज्यामिति) होती है', किन्तु कुछ लोगोका यह मत है कि 'साहित्यिक अध्ययनके लिये हमे वैज्ञानिक बननेका स्वप्न छोड ही देना पडेगा, क्योकि विज्ञान वह व्यवस्थित तथ्य है जिसे हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अवश्य सिद्ध कर सकते है।'

समीक्षाके प्रयोगमे वैज्ञानिक होने या शुद्ध समीक्ष्यवादी होनेका तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई बात न कही जाय जो वास्तविकतापर अवलम्बित न हो। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी आवेगपूर्ण निर्णायक बातें न कही जायँ, जो उचित होनेपर भी और साधारण पाठकपर प्रभाव डालनेमे समर्थ होनेपर भी, समीक्षा नहीं है। इसका यह भी तात्पर्य है कि वे शुद्ध मूल्याङ्कनकारी प्रथाएँ छोड दी जायँ जो शुद्ध निर्णयके मार्गमे बाधक हो, क्योकि इनसे वास्तविक निर्णय करनेमे और समीक्षात्मक समस्याओपर शुद्ध विचार करनेमे बडी बाधा पडती है। आवश्यकता पडनेपर समीक्षामे सब विज्ञानोके कौशलो और परिणामोका प्रयोग तो किया जा सकता है किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक सम्प्रेक्षण (सायटिफिक औब्जर्वेशन) पर जो इतना बल दिया जा रहा है वह साहित्यिक समीक्षा पर शुद्ध रूपसे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि साहित्यके लिये हम ठीक विज्ञानवाली कसौटी नहीं बना सकते फिर भी समीक्षक इतना

तो कर ही सकता है कि वह दो स्थानोपर समान रूपसे प्राप्त होनेवाले परिणामोका तीसरे स्थानपर आरोप कर दे और इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियोमे उनका प्रयोग करके उनसे सामान्य सिद्धान्त निकाल ले।

लोकवादी समीक्षा (स्टामेस्गेशिख्टे)

आउगुस्ट सावेरके सुझावके अनुसार जोसेफ मेडलरने जर्मनीमे साहित्य-समीक्षाका एक नया मार्ग निकाला जिसमे वह कहता है कि 'जनताके आचार-व्यवहार, परम्परा, प्रवृत्ति तथा आदर्शोंकी अभिव्यक्ति ही काव्यमे आवश्यक है और लेखक केवल इसी राष्ट्रिय भावनाका चारण है। इस राष्ट्रिय भावनाका मूल तो जाति (ट्राइब या स्टाम) है जो उस जातिके सदस्योके अस्तित्वसे भिन्न और स्वतन्त्र शक्ति है। अतः समीक्षकोको केवल यही बात देखनी चाहिए कि कविने उनकी कहाँतक अभिव्यक्ति की है।' इस पद्धतिका नाम है 'स्टामेस्गेशिख्टे'। नाजी लेखको और समीक्ष्यवादियोमे इसी प्रवृत्तिकी प्रधानता है।

फ्रान्समे भी हिपोलाइत तेनका यह विचार था कि किसी भी कलाकृतिके उद्भवपर जाति (मिल्यू), काल और परिस्थितिका पूर्ण प्रभाव होता है। पीछेके समाजवादी समीक्षकोने इसीको समीक्षाका आधार मान लिया और प्रत्येक रचनामे यही खोजने लगे कि उसकी रचनापर जाति, युग तथा परिस्थितिका कितना और क्या प्रभाव पड़ा है।

साहित्यका नियमित परीक्षण

योरपमे कुछ दिनो एक दार्शनिक मत चला जिसका कहना था कि 'हमे सब कुछ मनुष्यकी दृष्टिसे जाँचना-परखना चाहिए और ससारकी प्रत्येक वस्तुका अपने अनुभवके आधारपर परीक्षण करना चाहिए, आध्यात्मिक आधारपर नहीं। इन अनुभव-वादियो (पौजिटिविस्ट्स) या भौतिक अनुभव-वादियो (मैटीरियलिस्टिक पौजिटिविस्ट्स) ने केवल अनुभव और मनुष्यसे उसके सम्बन्धके आधारपर ही साहित्यकी

परीक्षा भी प्रारम्भ कर दी। अतः जर्मनीमें इन भौतिक अनुभव-वादियोंके विरुद्ध समीक्ष्यवादियोंका एक मण्डल उठ खड़ा हुआ जिसका नाम था 'व्यवस्थित साहित्य-समीक्ष्यवादी' (लिटेराटूरविस्सेन्शाफ्ट)। इस मण्डलने अनुभववादी दृष्टिकोणकी खरी आलोचना करके साहित्य-परीक्षणकी अनेक प्रणालियाँ ढूँढ निकालीं, जिन्हें हम दो प्रधान वर्गोंमें बाँट सकते हैं—

१. वह वर्ग जो काव्य-सामग्री (गेहाल्ट) का परीक्षण करता है, और।

२. वह वर्ग जो शैली और रूप (गेस्टाल्ट) की समस्याओंपर विचार करता है।

रचयिताका मनोविश्लेषण (साइकोग्रैफ़ी)

सेन्त ब्यूएने समीक्षाके सम्बन्धमें कहा था—'मैं आत्माओंका प्रकृति-वादी हूँ।' इसका तात्पर्य यह था कि 'मैं किसी ग्रन्थके अध्ययनके लिये उसके रचनाकारका जीवन समझ लेना आवश्यक समझता हूँ और उसके जीवनकी दृष्टिसे ही उसके काव्यका परीक्षण करता हूँ।' इस मतका विस्तार गामालिएल ब्रेडफोर्डने किया और उस प्रसङ्गमें बताया कि 'रचयिताका मनोविश्लेषण करनेमें दो बातोंका विशेष ध्यान रखना चाहिए—

१. उस कलाकृतिमें रचयिताका जीवन कहाँतक व्यक्त हुआ है ?

२ रचयिताके वास्तविक जीवनमें दिखाई देनेवाले प्रत्यक्ष मोटे-मोटे तत्त्व या क्रियाएँ क्या थीं। जैसे वह किस बातपर नाक-भौं सिकोड़ता था, किसी बातपर कोई टीका-टिप्पणी करता या छींटे कसता था आदि इसी प्रकारकी छोटी-मोटी अन्य बातें।'

इन लोगोंका यह सिद्धान्त था कि 'किसी भी रचनाका अध्ययन करते समय कविके जीवनसे सम्बद्ध ऐसी छोटी छोटी बातें भी ध्यानमें

रखनी चाहिए, क्योकि इन्हींके आधारपर कविका वह व्यक्तित्व बनता है जिसकी छाप, वह अपनी रचनामे पग-पगपर देता चलता है। कलाकार को केवल समाज या प्रकृतिका ही चित्रकार नहीं समझना चाहिए। वह स्वय अपनी प्रवृत्तियो, इच्छाओ, वासनाओ, भावनाओ और रुचियोका भी चित्रण करता चलता है। अतः उन्हींके आधारपर उसकी रचनाओमे अभिव्यक्त कथा, पात्र, घटना और आचार-विचारके द्वन्द्वोका परीक्षण करना चाहिए।'

पक्षपातपूर्ण समीक्षा

फ्रान्सके प्रसिद्ध कवि चार्ल्स बौदेलेया (१८२१से ६७) का विश्वास था कि 'केवल कवि ही सबसे अच्छे समीक्ष्यवादी हो सकते है।'

उसका विश्वास था कि 'समीक्ष्यवादीको पक्षपात-पूर्ण और तल्लिप्त होना चाहिए।' उसका मत था कि 'समीक्षा कोई विज्ञान नहीं है, इसलिये समीक्षामे सिद्धान्तो और रूढियोका कोई विचार नहीं करना चाहिए। सहानुभूति, गुण-लुब्धता या रीझ (ऐडमिरेशन), उत्साह और कल्पना ही समीक्षाके श्रेष्ठतम जीव तत्त्व है। किसीको क्या प्रिय लगता है? इसीको समझना ही किसी कलाकृतिका गुण-तत्त्व तथा सौन्दर्य खोजनेके लिये केवल आवश्यक है।' किन्तु आजकल बौदेलेयाका समीक्षा-सिद्धान्त कोई नहीं मानता। इस प्रणालीको भयावह बताते हुए समीक्ष्यवादियोने कहा है कि 'स्वय बौदेलेयाने भी इस फेरमे पडकर अनेक लेखकोकी आवश्यकतासे अधिक प्रशसा या निन्दा कर डाली थी।'

सुधारपरक (सजेस्टिव) समीक्षा

समीक्षाका एक दूसरा भी रूप है जिसमे समीक्ष्यवादी, किसी कृतिके गुणोकी प्रशसा और दोषोका निर्देश करते हुए, यह भी बतलाता चलता है कि कविको यह ग्रन्थ किस रूपमे प्रस्तुत करना चाहिए था? उसकी कथामे क्या परिवर्तन करना चाहिए था? कौनसे नये व्यक्ति या नई घटनाओका समावेश करना चाहिए था? ग्रन्थका उपसहार जिस

रूपमे कविने किया है उससे भी अच्छे किस ढङ्गसे किया जा सकता था? समीक्ष्यवादी बनकर किसी भी रचनाके गुण-दोषका निरूपण करना तो थोडे अभ्याससे आ सकता है किन्तु उसके साथ उन दोषोका परिहार निर्देश करनेकी शक्ति किसी भी विचक्षण समीक्ष्यवादीमे तभी आ सकती है जब वह समीक्ष्यवादी स्वयं कवि भी हो। अतः बौदेलेयाके मतसे हम इतनी सीमातक सहमत हैं कि 'कवि बहुत अच्छे समीक्ष्यवादी हो सकते है।' समीक्षाकी दृष्टिसे यह वृत्ति अत्यन्त वाञ्छनीय है। इस वृत्तिके समीक्ष्यवादी सीधे-साधे इस प्रकार परामर्श देते हैं कि कविको अमुक अमुक प्रकारसे परिवर्तन कर लेने चाहिएँ जिससे उसके काव्यमे आए हुए दोषोका परिहार हो जाय। फारसी और उर्दू साहित्यमे समीक्षाकी यही प्रथा रही है जिसे 'इस्लाह' कहते हैं, किन्तु यह सार्व-जनिक न होकर व्यक्तिगत होती है, क्योकि यह कार्य रचना प्रकाशित होनेसे पूर्व ही रचयिताके गुरु उचित रूपसे कर देते हैं। कुछ लोगोने इस प्रकारकी समीक्षाको इस रूपमे व्यक्त किया है—'यदि मै अमुक ग्रन्थ लिखता तो किस प्रकार लिखता।'

शास्त्रीय समीक्षा

हमारे यहाँ कुछ निर्धारित सिद्धान्तोके आधारपर ही समीक्षा होती चली आ रही है अर्थात् जो गिने-चुने गुण-दोष गिना दिए गए हैं उन्हीं गुणोसे युक्त और दोषोसे हीन रचनाकी प्रशसा होती रही है। इसका कारण यह रहा है कि हमारे यहाँ काव्यका उद्देश्य चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति रहा, इसलिये उसके सम्बन्धमे कोई शास्त्रार्थ ही नहीं हुआ। जो कुछ हुआ वह तत्सम्बन्धी वाग्व्यापार या भाषापर ही हुआ अर्थात् शब्द और अर्थके एक निश्चित प्रभाव और प्रयोग—ध्वनि या व्यञ्जना अथवा तज्जनित रसको तथा काव्यालंकरणको ही लोग कसौटी मानते रहे। योरपमे भी बहुत वर्षोंतक अरस्तू और प्लेटोके ही सिद्धान्तोका बोल-बाला रहा किन्तु पीछे चलकर जब स्वैरवादियोने उदात्तवादियोका विरोध किया तब कलह इसी बातपर प्रारम्भ हुआ कि कवितामे विषय-

सामग्री प्रधान है या उसका रचना-रूप। किन्तु ये दोनो भी अलग-अलग अपने सिद्धान्तोके ढले-ढलाए रूप ही काममे लाते रहे और इनकी भी रूढ या शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति चल पडी।

उपर्यङ्कित प्रकारोके अतिरिक्त समीक्षाके कुछ वे प्रकार भी थे जो किन्हीं विशेष दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक मतो या वादोके आधारपर चले। किन्तु वे समीक्षाके प्रकार न होकर वादोके प्रकारके ही अन्तर्गत आते हैं अतः उन सबका परिचय हम इस ग्रन्थके ग्यारहवें खण्डमे वादोके साथ देगे।

नवालोचन

बीसवीं शताब्दीके द्वितीय दशकमे कविताके विस्तारके पश्चात् नई समीक्षाने मुख्यतः समीक्षण-कलाकी ओर विशेष ध्यान दिया। यह उन सब पिछले सिद्धान्तोसे असहमत थी जो यह मानते थे कि किसी कृतिके लेखकके जीवन, उसकी परिस्थिति, पृष्ठभूमि या सामाजिक अभिरुचिपर बिना ध्यान दिए केवल उस ग्रन्थका एकाङ्ग परीक्षण करना ही समीक्षा है। इसकी पहली प्रवृत्ति तो यह हुई कि इस नई समीक्षामे कुछ वैज्ञानिक साधन काममे आने लगे, विशेषतः लेखा (स्टैटिस्टिक्स) बनाना। इस कार्यके लिये बर्नन ली (वायलेट पेजेट) ने तो यहाँतक किया कि विभिन्न ग्रन्थो मे यह तक गिन डाला कि किस अनुपातसे किस प्रकारके पद (सज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि) उनमे प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार ध्वनि सकेत, ध्वनि, विचार-रूप, सामग्री, शब्द-रूप आदिके प्रयोगकी गतिकी भी अत्यन्त परिश्रम पूर्वक गणना की गई है।

अर्थ-परीक्षा और शब्दकी समस्याओके कारण इन प्रणालियोके प्रति और भी रुचि जागरित हुई जिसे कुछ तो टी० एस० ईलियटने किन्तु अधिकाशतः आई० ए० रिचार्ड्स और सी० के औग्डनने बडी प्रेरणा दी। प्रथम और द्वितीय ईसवी शताब्दीके 'देवेत्रियस' और 'लौजिनस' के समान हमारे नये समीक्ष्यवादी भी अब शब्दोके पारस्परिक

प्रभावकी परीक्षा करने लगे हैं। वे शब्द और बिम्बके सभी सम्भव रूपो और अर्थोंकी व्याख्या करने मे वर्त्तमान मनोविज्ञानका पूर्ण सहयोग ले रहे है।

व्यावसायिक समीक्षा (पफ़री या ब्लर्ब)

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमे प्रकाशकोकी वृद्धिके कारण ऐसी पक्षपातपूर्ण तथा व्यावसायिक आलोचनाएं (पफरी) होने लगीं कि लोग अपने मित्रो, सम्बन्धियो, गुरुओ तथा बड़े-बड़े लेखकोको रुपया दे-देकर प्रशसात्मक समीक्षा लिखवाने लगे। आजकल इसे 'पफरी' न कह कर 'ब्लर्ब' कहते है। इस विज्ञापनके युगमे अधिकाश समीक्षाएँ इसी प्रकारकी हो रही हैं जिसके परिणाम-स्वरूप तुच्छ लेखक तो आकाशचारी हो गए है और अच्छे लेखकोकी कोई बात भी नहीं पूछता।

उपसंहार

ऊपर समीक्षाके जितने प्रकार गिनाए गए हैं उन्हे हम निम्नलिखित प्रकार सूची-बद्ध कर सकते हैं—

१. रचनात्मक, २ सुधार-परक, ३. साहित्यिक, ४. प्रभाववादी, ५. ऐतिहासिक, ६ तुलनात्मक, ७. वैज्ञानिक, ८. विश्लेषणात्मक, ९. लोक-साधारण, १०. प्रशसात्मक, ११. निन्दात्मक, १२. नैतिक, १३. मनो-वैज्ञानिक, १४. सामाजिक, १५. भाषा-परक, १६. पाठाश्रित, १७. रूढ या शास्त्रीय, १८ व्याख्यात्मक, १९. निर्णयात्मक, २०. किसी विशेषा वादपर आश्रित और २१ व्यावसायिक।

अब प्रश्न यह है कि इनमेंसे कौन सी आलोचना पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रश्नका उत्तर यह कहकर नहीं दिया जा सकता कि इनमेंसे केवल अमुक प्रकारकी समीक्षा पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। यदि हम किसी ग्रन्थकी ठीक समीक्षा करना चाहे तो हमे उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बनानेके लिये ऐतिहासिक समीक्षा, अन्य कवियोसे उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके

लिये तुलनात्मक समीक्षा, उसके सब अङ्गोंका विस्तृत विवरण तथा विवेचन प्रस्तुत करनेके लिये व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक समीक्षा, मानव-समाजके लिये उनमेंसे व्यञ्जित सन्देशका स्पष्टीकरण करनेके लिये नैतिक समीक्षा, उसकी भाषा तथा पाठका सुधार करनेके लिये भाषा परक तथा पाठाश्रित समीक्षा, हमारे मनपर उसका जो प्रभाव पड़ा है उसे व्यक्त करनेके लिये प्रभाववादी समीक्षा तथा उसकी त्रुटियों या दोषोंका परिहार करके उसे सर्वाङ्ग सुन्दर बनानेकी प्रेरणा देनेके लिये सुधार-परक समीक्षाका आश्रय लेना ही होगा। अतः समीक्षाके क्षेत्रमें किसी एक समीक्षा पद्धतिको प्रधान मानकर केवल उसका ही अनुसरण करना अत्यन्त भ्रामक तथा सङ्कट-पूर्ण मार्ग है। समीक्ष्यवादियोंको इन सब समीक्षा-प्रकारोंका भलीभाँति परिचय प्राप्त करके विवेकपूर्ण ढङ्गसे यथावसर उनका प्रयोग कर लेना चाहिये।

समीक्षाके केवल तीन प्रकार : व्यक्तिगत, सामाजिक और शास्त्रीय

उपर्यङ्कित समीक्षाके प्रकारोंकी व्यापक विवेचना करनेके पश्चात् अत्यन्त सरलतापूर्वक यह परिणाम निकाला जा सकता है कि समीक्षा केवल तीन प्रकारकी होती है : व्यक्तिगत, सामाजिक और शास्त्रीय (सैद्धान्तिक)। इनमेंसे सामाजिक और शास्त्रीय समीक्षा केवल निर्णयात्मक होती है, व्यक्तिगत समीक्षा निर्णयात्मक और भावात्मक दोनों होती है तथा सैद्धान्तिक समीक्षाका एक रूप निर्णयात्मक होता है और दूसरा रचनात्मक, जिसके द्वारा वह समीक्षा-शास्त्रकी भी सृष्टि करता है।

रचनात्मक समीक्षा (क्रिएटिव क्रिटिसिज्म)

रचनात्मक समीक्षा वास्तव में समीक्षा नहीं, समीक्षा-शास्त्र है, क्योंकि उसमें लेखकके लिये समीक्षाके नये मान और उद्देश्य स्थिर किए जाते हैं तथा लेखकको उस युगकी लेखन-शैलीके सम्बन्धमें निर्देश दिए जाते हैं।

प्रसिद्धिपरक समीक्षा (पर्सपैक्टिव क्रिटिसिज्म)

कुछ लोगोने प्रसिद्धिको भी समीक्षाकी कसौटी मानकर इसे समष्टि-गत, प्रयोजनवादी अथवा सर्वदृश्य (कलेक्टिव, प्रैगमेटिक और पर्सपैक्टिव क्रिटिसिज्म) बताया है। उनका कहना है कि किसी लेखक की प्रसिद्धिगत समीक्षा, जो साहित्यिक जीवन-चरितका एक प्रकार ही है, यही है कि लेखक और उसकी कृतियोने तत्कालीन अथवा अपने पीछेके पाठकोके हृदयपर जो प्रभाव डाला है, उसके अनुसार उनकी व्याख्या और मूल्याङ्कन किया जाय। रेनॉने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'इस समीक्षामे कविकी योग्यताओके उस तात्त्विक भागसे पूर्ण जीवनका वर्णन होता है, जिसके कारण उसे सासारिक अमरता प्राप्त हुई हो या प्राप्त हो सकती है।'

प्रसिद्धि और प्रभाव

यहॉ प्रसिद्धि और प्रभाव दोनो शब्दोका अन्तर भली-भॉति समझ लेना चाहिये। प्रसिद्धिके ठेठ रूप ये है—

१. 'स्वकालीन सफलता और उसके पश्चात् लगभग विस्मृति' : जैसे हिन्दीमे किशोरीलाल गोस्वामी या 'नाइट थौट्स'का रचयिता यङ्ग।

२. स्वकालीन अपमूल्याङ्कन किन्तु पीछे आदर : जैसे अरिस्तोफनेस इदरीपिदेसका उसके जीवन-कालमे अनादर किन्तु पीछे उसे अमर कीर्ति मिली।

३ अपने समयमे एक प्रकारकी रचनाके लिये प्रसिद्धि और पीछे चलकर दूसरे प्रकारकी रचनाके लिये, जिन दोनोमे ही लेखकने सफलता पाई : जैसे—बायरनकी स्वैरवादी और व्यग्यात्मक कविता।

४. विभिन्न युगो मे एक ही कृतिके विभिन्न पक्षो या गुण-तत्त्वोकी प्रशसा या निन्दा : जैसे होमर और व्राजिलकी।

अत. किसीका प्रसिद्धिपरक परीक्षण करनेके लिये कमसे कम तीन युगोका वर्णन अपेक्षित है—

क लेखककी स्वकालीन प्रशसा, निन्दा या उपेक्षा।

ख. मन्द-विकास या अतिरञ्जित प्रतिक्रिया।

ग. अत्यन्त सन्तुलित निर्णय।

इन साँचोमे वास्तवमे समयगत परीक्षा होती है, जो डौक्टर जौन्सनके मतानुसार 'केवल आदर-भावना या पूज्य बुद्धिपर अवलम्बित न होकर इस बातपर होती है कि कितने अवसरोपर अन्य कवियोंसे उसकी तुलना हुई तथा कितनी बार उसका असम्पृक्त विश्लेषण हुआ।' यह इसी बातसे आँका जा सकता है कि अत्यलंकृत स्वैरवादी (बारोक) अथवा रोदनवादी भाविकता वर्त्तमान तथ्यवादके छुरेसे कभी नहीं बच पावेगी और अनगढ प्रकृतिवाद भी आगे चलकर स्वैरवादियोका आक्रमण नहीं सहन कर सकेगा।' साधारणतः जनताका मत तथा मान्य समीक्ष्यवादियोका निर्णय अत्यन्त सावधानीके साथ समझना चाहिए क्योकि वे लोग ज्यो-ज्यो किसी एक पुस्तकको जीवित रखनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं त्यो-त्यो,उन्हे पढनेवाली जनताका बहुत प्रभाव लिखित मूल्याङ्कन करनेवालोपर पडता जाता है।

किसीकी प्रसिद्धि करनेवाले अच्छे या बुरे प्रभाव ये हो सकते हैं—

क. स्वय उस युगकी विशेषता . सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक, जैसे हिन्दीमे भक्ति-साहित्यके लम्बे युगके कारण अनेक भक्त-कवियोने प्रसिद्धि पाई।

ख. किसी विशिष्ट व्यक्तिकी सहायता : अर्थात् किसी समर्थक या विरोधी समीक्ष्यवादीके बदले शक्तिशाली मित्र या शत्रुका प्रभाव, जैसे शिवाजीके कारण भूषण प्रसिद्ध हुए।

ग. सहायक ग्रन्थो तथा पाठ्यपुस्तकोमे उनके विवरण या लोक-व्याख्यानोमे उनका विवेचन जैसे जयशङ्कर प्रसाद या निराला प्रसिद्ध हुए।

घ. विद्यालयोके पाठ्यक्रममे उनका प्रयोग जैसे मैथिलीशरण गुप्त।

———

दशम खण्ड

साहित्यके रूपोंकी समीक्षा

१

काव्य

आजकलके जिसे साहित्य कहते हैं उसे ही भारतीय आचार्योंने काव्य कहा है जो गद्यमय भी होता है, पद्यमय भी। (काव्य या कविता की परिभाषा विस्तार पूर्वक हम पृष्ठ ४४६ से ४५५ तक दे चुके हैं।)

काव्यके रूप

यह काव्य निम्नलिखित रूपोमे मिलता है—

१ कथात्मक या प्रबन्ध काव्य, २. वर्णनात्मक, ३ विचारात्मक, ४. भावात्मक और ५. चित्रकाव्य। इनमेसे कथात्मकके अन्तर्गत महा-वशकाव्य (ईपिक), एकवशकाव्य, एक-नायककाव्य, खण्ड-कथाकाव्य, एकार्थकाव्य, गीति-कथा, मुक्तक प्रबन्ध, नाट्य प्रगीत और आत्मचरित आते है। वर्णनात्मकके अन्तर्गत किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, दृश्य, यात्राका वर्णन आता है। विचारात्मकमे नीतिबोधक, धर्म-निर्देशक या उपदेशप्रद कविताएँ आती हैं। भावात्मकमे सब प्रकारकी भावनाओंको व्यक्त करनेवाली व्यक्तिगत मुक्तक कविताएँ, गीत, प्रगीत, प्रेमगीत, शोकगीत, स्तोत्र, प्रार्थना, आत्मनिवेदन, दैन्य-प्रदर्शन, उपालम्भ आदिकी रचनाएँ आती हैं। चित्रात्मकमे खड्गबन्ध आदि चित्र-काव्यो के अतिरिक्त शब्द-चित्र, प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, अपह्नुति (मुकरनी), कूट, पदगुप्त, मात्राच्युत आदि, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, प्रश्नोत्तर, चित्र, भाषा-चित्र या भाषासमक, अन्योक्ति आदि आती हैं।

(क)

योरोपीय महाकाव्य

जिस प्रकार हमारे यहाँ वाल्मीकिका रामायण और व्यासका महाभारत है, उसी प्रकार यूनानमे सबसे पुराना महाकाव्य (इपिक) होमरका इलियाद और अदूसी है, जिन्हे अँगरेजीमे 'ईलियड' और 'अदूसी' कहते है। यह 'इपिक' शब्द बना है 'ईपौस' शब्द से, जिसका अर्थ है 'शब्द'। धीरे-धीरे इसका अर्थ हुआ वक्तव्य या कथा, गीत, वीरतापूर्ण कविता और फिर वीररसका काव्य या महाकाव्य जिसमे किसी विशाल घटनाको अत्यन्त भव्य शैलीमे वर्णित किया गया हो।

महाकाव्य (इपिक) की कविता कथात्मक होती है, वह बहुत बडा होता है, उसमे चरित्रो, घटनाओ और कथा-व्यापारो अथवा परिस्थितियोकी सख्या भी अपार होती है। उसके पात्र भी साधारण जीवनसे कुछ भिन्न और विलक्षण होते है। उसमे छोटी छोटी बातो जैसे वेश-भूषा धारण करने या वस्त्र उतारने आदिका भी बहुत विस्तारके साथ वर्णन होता है, क्योकि वे उस जीवनका चित्रण करती है जो हमारे जीवनकी अपेक्षा अधिक समृद्ध था। उसमे यह आवश्यक नहीं है कि केवल प्रधान नायक ही वीर या सबसे उच्च हो, उसके साथ कार्य करनेवाले और भी बहुत से व्यक्ति उसीके समान वीर और पराक्रमी हो सकते है।

महाकाव्य (इपिक) की कथामे देवता, भूत, प्रेत आदि अलौकिक पात्रोका प्रयोग भी हुआ करता था।

महाकाव्योकी रचनामे कविकी स्वतन्त्रता परिमित होती है। उसका भावी परिणाम पाठक जानते है और यदि उसमे अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए गए तो लोग उसका विरोध करेंगे। अतः महाकाव्य तो वास्तवमे, रूढ कथाओका विकसित रूप है। अतः निरन्तर वे ही वीर और वीरतापूर्ण काम लिए गए, जिनकी जनतामें पहलेसे प्रसिद्धि

थी। कविकी मौलिकता या नवीनता इसी बातमे रही कि वह किसी विशेष अङ्गपर बल दे, विस्तार करे या छोटे मोटे वर्णनोंमे हेर-फेर कर दे। अतः महाकाव्यका रूप पूर्णतः रूढ होता है।

कभी-कभी ऐसे काव्योंको भी महाकाव्य या (इपिक) कह दिया जाता है, जो उपर्युक्त रूपसे सर्वथा भिन्न है, जैसे—दॉतेकी 'दिवाइन कौमेदी', जिसमे कोई नायक ही नहीं है। इसका मुख्यपात्र स्वयं कवि ही है, जो आद्यन्त प्रथम पुरुष अर्थात् 'मै' के रूपमे बोलता है। हीसियडके 'वर्क्स ऐण्ड डेज' जैसी लम्बी उपदेशात्मक कविताको भी लोगोने महाकाव्य इपिक कह दिया है और इस लिये अब तो लोग गद्यके बडे-बड़े ग्रन्थोको भी इपिक कहने लगे है।

(ख)

भारत य महाकाव्य

महाकाव्यका लक्षण बताते हुए हमारे यहाँ कहा गया है 'कि उसकी रचना सर्गबद्ध होनी चाहिए। महाकाव्यमे आठसे अधिक सर्ग हो और एक सर्गमे एक ही छन्दका प्रयोग हो किन्तु सर्गके अन्तमे छन्द बदल जाय। प्रत्येक सर्गमे चरितनायककी कथा अवश्य हो, जिसके अन्तिम भागमे आगेकी कथाका आभास मिलता जाय। उसमे घटनाएँ और वर्णन दोनो होने चाहिएँ। महाकाव्यके प्रारम्भमे नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण भी होना चाहिए। उसमे पञ्चसन्धियाँ होनी चाहिएँ तथा शृङ्गार या वीरमेसे कोई रस प्रधान होना चाहिए। महाकाव्यका नामकरण चरितनायक या नायिकाके नामपर जैसे रामायण अथवा प्रमुख घटनाके नामपर जैसे महाभारत होना चाहिए। महाकाव्य मे कुछ दृश्यो और वस्तुओका भी वर्णन होना चाहिए—सूर्य, चन्द्र, प्रभात, सन्ध्या, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, वन, समुद्र, ऋतु, सयोग, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नरक, यज्ञ, सग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र, अभ्युदय आदि।'

महाकाव्यके इस प्रकार चार तत्त्व हुए—१ अनुबन्ध-पूर्ण कथा, २. वर्णन, ३. रस और ४. चरितनायक।

महावंश काव्य

विश्व-साहित्यमे कुछ ऐसे भी काव्य लिखे गए, जिनमे एक नायकके बदले अनेक वशोके अनेक नायकोकी अनेक कथाओका वर्णन है। 'इपिक' शब्द भी इसी प्रकारके काव्योके लिये प्रयुक्त हुआ था क्योकि होमरका 'इलियाद' इसी प्रकारका काव्य है। महाभारत इसी श्रेणीमे आता है।

एकवंश महाकाव्य

कुछ काव्य ऐसे भी है, जिनमे किसी एक ही वशका एक साथ चरित्त कहा गया है। रघुवश जैसे काव्य एकवश-महाकाव्य कहलाते है।

(ग)

स्फुट का य

महाकाव्यके अतिरिक्त शेष काव्यको हम स्फुट काव्य कह सकते है। इसमे खण्ड काव्य आदि सभी आ जाते है।

खण्ड का-य

जब किसी बडी कथाका कोई एक अंश या खण्ड लेकर उसपर काव्य रचा जाता है तब वह खण्ड-काव्य कहलाता है। उसकी रचना महा-काव्यकी ही शैलीमे होती है किन्तु वह घटना अपनेमे सुसम्बद्ध तथा आद्यन्तयुक्त होनी चाहिए।

एकार्थ का य

एकार्थ काव्य वे होते है जिनमे न तो महाकाव्यकी पञ्चसन्धियोका विधान होता है, न उनका विस्तार ही होता है, वरन् इनमे कथाका कोई उद्दिष्ट पक्ष होता है। इसमे कथा-प्रवाह भी बहुत जटिल नहीं होता और कविकी वृत्ति वर्णन करने या भाव-व्यञ्जना करनेपर ही लगी रहती है जैसे—रत्नाकरजीका 'गङ्गावतरण'।

गीतिकथा

कुछ लोगोंने इधर गीतोंके रूपमें या गेय पदोंके रूपमें भी कथाएँ लिखी हैं जो हैं तो मुक्तक किन्तु गीत रूपमें कथाएँ है, जो गीत होते हुए भी कथाकी शृंखला जोड़ती चलती हैं। सूरदासकी रचना इसी शैलीकी है।

मुक्तक प्रबन्ध

इनके अतिरिक्त इसी श्रेणीकी वे रचनाएँ भी है, जिनमें गीत न होकर अलग-अलग छन्द हैं, जो रूपमें मुक्तक हैं किन्तु सब मिलकर कथा बन जाते हैं। रत्नाकरजीका 'उद्धवशतक' इसी प्रकारका है।

मुक्तक कथा

इनके अतिरिक्त कुछ मुक्तक भी ऐसे हो सकते हैं जिनमें एक छन्दमें ही एक पूरी कथा कह दी जाती है, अतः मुक्तक भी कथात्मक हो सकता है।

नाटकीय गीत (ड्रैमेटिक लिरिक)

नाटकीय गीत एक प्रकारके छन्दोमय आत्मचरित होते हैं जिन्हें किसी कथाके पात्र अलग अलग आत्मानुभव या आत्म-भावनाके रूपमें अभिव्यक्त करते है, जैसे 'द्वापर'में मैथिलीशरण गुप्तने कृष्ण, यशोदा, नारद, कंस आदिके मुखसे ही स्वयं अपने मनोभावोंकी अभिव्यक्ति कराई है।

गीतिका (सौनेट)

नियमित तुकवाली चौदह चरणोंकी गीतिकाको प्रगीत (सौनेट) कहते है। इसीकी देखादेखी हिन्दीमें इधर छोटे पाठ्य-गीत भी प्रगीतके नामसे लिखे जा रहे है किन्तु उनमें चरणोंका बन्धन नहीं है। भावात्मक होना और छोटा होना ही उनका प्रधान गुण होता है।

प्रगीत (लिरिक)

प्रगीत (लिरिक) यूनानमें लायर या तन्त्रीके साथ गाई जानेवाली कविताको कहते थे जो समवेत (कोरल) भी गाई जाती थी और

एकाकी (मोनोडिक) भी। आगे चलकर प्रगीत (लिरिक) का अर्थ हुआ प्राय. छोटी व्यक्तिगत कविताएँ। आजकल हिन्दीमे एक नये प्रकारकी प्रगीत (लिरिक) कविताएँ भी चली है जो गाई जाती है।

परिवृत्ति-काव्य (पैरेडी)

जिस रचनामे किसी कवि या किसी प्रकारके कवियोकी शैली और भावनाका इस प्रकार अनुकरण किया जाता है कि वे हास्यास्पद प्रतीत हो, उसे परिवृत्ति कहते हैं। यह परिवृत्ति प्रायः कुकवि ही किया करते हैं। कुछ शठ लेखकोने तुलसीदास जैसे महाकवियोकी रचनाको भी 'गडबड रामायण' के रूपमे परिवृत्त किया है। योरोपीय साहित्यमे इसके असख्य उदाहरण है। यह परिवृत्ति तीन रूपोमे मिलती है—१. शब्दात्मिका, जिनमे किसी शब्दको बदल देनेसे वह रचना ही तुच्छ हो जाती है, २. रूपात्मक, जिसमे किसी लेखककी शैली या शब्द-प्रयोगको हास्यात्मक विषयके लिये प्रयुक्त करते है। ये दोनो स्तर विनोदात्मक होते है। ३ विषय-सम्बन्धी (थीमैटिक), जिसमे किसी कृतिका विषय और लेखककी भावना ही बदल देते है। इस रूपमे एक कविके द्वारा दूसरे कविकी प्रभावपूर्ण समीक्षा भी हो जाती है। व्यग्यके लिये परिवृत्तिका प्रयोग बडे कवियोने भी किया है। जब एक ही लेखककी कई कविताओसे विभिन्न अश एकत्र करके परिवृत्तिके रूपमे सग्रह कर लिए जाते है और उसका उद्देश्य किसी दूसरे लेखककी कृतिका अनुसरण करना होता है तब वह 'पास्टिशे' कहलाती है। इस प्रकारकी व्यग्यात्मक परिवृत्ति 'तेमा कौन वेरियाज्ञियोनी' कहलाती है।

चित्रकाव्य

कभी-कभी कुछ कवियोने कुछ ऐसी रचनाएँ की हैं, जिन्हे एक विशेष रूप और क्रममे सजाकर लिखनेसे किसी वस्तुका रूप बन जाता है जैसे खड्गबन्ध, सर्पबन्ध, धनुर्बन्ध आदि। योरपमे भी इस प्रकारकी चित्र-रचनाएँ 'चार्मेन फिगरेतम' नामसे लिखी जाती थीं, जिसमे कोई पद्य ईसाके क्रौस या मदिरा-चषकका रूप ग्रहण करते

थे। इनकी विशेषता यह थी कि जिस वस्तुका पद्यमे वर्णन होता था उसी वस्तुका चित्र भी बनता था। यूनानमे इन्हे 'तैक्नोपैग्नियन' कहते थे। आचार्य मम्मटने इस प्रकारके काव्यको अधम काव्य माना है— 'शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम्।' [बिना व्यञ्जनवाला शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र अधम काव्य कहलाता है।]

अतुकान्त पद्य (ब्लैंक वर्स)

सत्रहवीं शताब्दीमे योरपमे एक नई छन्द-शैली ही चली, जिसे रिक्त पद्य या अतुकान्त पद्य (ब्लैंक वर्स) कहते है। इसका प्रचलन 'सरें'ने सन् १५४१ मे सम्भवतः इतालवी कवि 'वर्सीस्कियोल्नी' से प्रभाविन होकर अँगरेजोमे प्रारम्भ किया और पूर्व एलिजा-बेथीय लोगोने तुकहीन लम्बी पुरानी कविताओके अनुवादके लिये इसका प्रयोग किया था। सन् १५५७ मे इसका प्रयोग नाटकमे हुआ और प्रसिद्ध कवि मार्लोवेने अपनी 'टैम्बरलेन' (तैमूरलङ्ग) नामक कवितामे खुलकर इसका प्रयोग किया। तबसे शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली, टेनीसन, ब्राउनिङ्ग, स्विनबर्न आदि बडे-बड़े कवियोंने बडे धडल्लेसे इसमे रचनाएँ कीं। इसकी विशेषता यह थी कि इसमे लयकी प्रधानता थी, तुक और मात्राओ अथवा एक चरणकी लघु गुरु अन्वितियोकी कोई गणना नहीं थी।

गीत

गीतकी छन्दोयोजनामे चार बातोका ध्यान रखना पडता है— १. अवसर, २. रस या भाव, ३. गति और ४. राग। अवसरका अर्थ यह है कि किस ऋतुमे, किस विशेष परिस्थितिमे, किस पात्रके द्वारा गीत गवानेका आयोजन किया गया है। कविका यह धर्म है कि वह गीतका निर्माण करते समय इस बातका ध्यान रक्खे कि कितनी मात्रामे, किस लयमे, किस राग और किस कालमे गीत बाँधे जायँ। कविता और गीतकी छन्द प्रकृतिके सम्बन्धमें एक विशेष बात यह है कि गीतोमे एक टेक (बर्डन) होती है, वह एक पक्तिकी हो या दो पक्तियोकी, जो

गीतके प्रारम्भमे होती है और जो निरन्तर प्रत्येक पदके पश्चात् दुहराई जाती है। आजकल अँगरेजीके सौनेटके ढङ्गपर भी गीत लिखे जाने लगे है पर उनमे भी पहली पक्तिका प्रयोग टेकके समान ही किया जाता है। एक या दो कडी गाकर टेक दुहराने, तिहराने या चौहरानेकी प्रथा सब देशोके गीतोमे है।

सायास कथा-काव्यके तत्त्व

१. सायास कथा-काव्यके अन्तर्गत वे सभी महावश काव्य, एकवश-महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य, कथा गीत आदि हैं, जिनमे कविने परिश्रम-पूर्वक द्रष्टा बनकर अन्य पुरुषमे कथा-काव्यकी रचना की हो। ऐसे काव्योमे निम्नाङ्कित तत्त्वोका अस्तित्व अनिवार्य है—

(क) कथानक या थीम (ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित)।

(ख) कथावस्तु या घटना-सयोग (आधिकारिक अर्थात् मुख्य कथावस्तुके साथ प्रासङ्गिक घटनाओकी कल्पना और उनका समुचित सयोग और द्वन्द्व)।

(ग) पात्र (वास्तविक और कल्पित), उनके आचार-विचार, मानसिक भाव और द्वन्द्व तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धोका निर्वाह।

(घ) रस या उद्दिष्ट प्रवाह।

(ङ) उद्देश्य

(च) वर्णन (स्थल, वस्तु, भाव, कार्य तथा व्यक्ति)

(छ) भाषा-शैली (शब्द, अर्थ, अलङ्कारका समन्वय)।

(ज) छन्द

प्रबन्ध काव्यकी समीक्षा

प्रबन्ध-काव्यकी समीक्षा करते समय समीक्ष्यवादीको अग्राङ्कित प्रश्नोका समाधान करना चाहिए—

१. कविने जो कथा चुनी या कल्पित की है वह ग्राहकोके भाव-सस्कारके अनुकूल है या नहीं? उसमें विश्व-मात्रके भाव-सस्कारको आकृष्ट करनेकी शक्ति है अथवा किसी विशेष वर्गके ?

२. घटना-संयोग उचित, आवश्यक, सम्भव, विश्वसनीय, आकर्षक तथा कुतूहलजनक है या नहीं ? यदि ऐतिहासिक कथा है तो उसमे कविने क्या घटना-परिवर्त्तन क्यो किए हैं और उनसे कथामे क्या विशेषता या त्रुटि आ गई है ?

३. पात्रोके चयनमे कविने क्या नीति अपनाई है ? उसने अनावश्यक पात्र तो नहीं लिए है ? जिन्हे लिया है उनका चित्रण उनकी मर्यादा, परिस्थिति तथा मनःस्थितिके अनुकूल हुआ है या नहीं ? किसीका चित्रण अतिरञ्जित तो नहीं हो गया या किसीके साथ अनुचित पक्षपात तो नहीं किया गया ? यदि किया गया तो क्यो और उस पक्षपातसे क्या दोष आ गया ?

४. कवि क्या प्रभाव या रस उत्पन्न करना चाहता है ? उसमे कितनी सफलता मिली है और उस सफलताके लिये उसने किन गुण-तत्त्वोका कहाँ-कहाँ किस कौशलसे सन्निवेश किया है ?

५ कविका उद्देश्य क्या है ? वह अपने उद्देश्यमे कहाँतक सफल हुआ अर्थात् ग्राहकोने उस-उस उद्दिष्ट अर्थका कहाँतक स्वागत और समर्थन किया ?

६. वर्णन कितना आवश्यक, सङ्गत और सानुपात हुआ है और इस वर्णनमे भी सटीकता और सूक्ष्मता कितनी है ? किन मार्मिक स्थलोपर वर्णनका चमत्कार आवश्यक और सुन्दर अथवा अनावश्यक, असुन्दर या अत्यन्त अल्प हुआ है ?

७. भाषा-शैली उस कथाकी प्रकृति, विभिन्न स्थलोपर वर्णित विषयो तथा भावोके कहाँतक अनुकूल, प्रभावशील, आकर्षक और सुबोध है ? वाक्योकी जटिलता, वर्णनोकी भरमार और अलङ्कारोके अतिशय प्रयोगसे भाषा कृत्रिम तो नहीं प्रतीत होती और उसके कारण मुख्य भाव दब तो नहीं गए है ?

८. कथा विषय, रस और भावके अनुकूल छन्द है या नहीं ? यदि है तो उनकी गति, यति शुद्ध और लय-युक्त है या नहीं ? यदि केवल

लयात्मक पद्यमे ही कथा-काव्य लिखा गया है तो लयकी धारा ठीक है या नहीं ?

९. कविने अपने सम्बन्धमे जो परिचय अपने काव्यमे दिया है वह उस काव्यका उद्देश्य या उसकी वृत्ति समझनेमे कहाँतक सहायक है ?

१०. कविने अपने काव्यके आधार, उसकी प्रेरणा तथा अपने जीवन-सिद्धान्तका जो परिचय काव्यमे या भूमिकामे दिया है, उसका काव्यसे क्या सम्बन्ध है ?

११. जैसे जर्मनीमे किसी कविके अनुकरणपर निम्न कोटिका अनुकरणसाहित्य (एपिगोवेनडिख्टूङ्ग) रचा जाता था उस प्रकार कविने केवल अनुकरणमात्र तो नहीं किया है ? यदि अनुकरण किया है तो वह अनुकरणीय ग्रन्थ या शैलीसे अच्छा है या बुरा ?

(घ)

भावात्मक काव्य

शुद्ध तात्त्विक या भावात्मक कविताओंके या गीतोंके अन्तर्गत ही वर्णनात्मक और विचारात्मक कविताएँ भी आती हैं, क्योंकि कथाके प्रसङ्गके अतिरिक्त कवि जब किसी वस्तु, दृश्य या व्यक्तिका वर्णन करता, कोई विचार या सिद्धान्त स्थापित करता, कोई प्रतीक उपस्थित करता अथवा नीतिके द्वारा उपदेश देना चाहता है, तब उसके साथ यद्यपि कविकी बौद्धिक अनुकूलता तो होती है किन्तु उसका भाव-पक्ष भी समन्वित रहता है क्योंकि किसी प्रकारके भावात्मक प्रभाव तथा अनुभवकी मानसिक प्रतिक्रियाके रूपमे ही इस प्रकारकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। इस प्रकारकी भावात्मक कविताके विषय, साधन और तत्त्व ये हैं—

१. कोई वस्तु, जैसे—फूल, कोई दृश्य, जैसे—पर्वत, कोई व्यक्ति जैसे—सुन्दर, अद्भुत या असाधारण पुरुष या स्त्री; कोई भाव, जैसे—देशभक्ति, कोई क्रिया, जैसे—किसीका मुसकराना।

२. उस वस्तु, दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रियाकी परिस्थिति, अर्थात् किस ऋतु, काल, अवसर तथा मनःस्थितिमें कविने उसे देखा।

३. उस वस्तु, दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रियाके लिये अप्रस्तुत विधान (उपमान) या प्रतीक।

४. मानसिक भाव : अनुराग, विरक्ति, क्रोध, श्रद्धा आदि।

५. भावानुकूल शब्द . श्रुतिमधुर, श्रुतिकटु, समस्त पद आदि।

६. भावानुकूल लय : छन्द और राग।

ऐसी भावात्मक रचनाओंमें रस न होकर केवल भाव होता है और उसका उद्देश्य केवल उस भावको सशक्त रूपसे व्यक्त कर देना-मात्र होता है, अतः उसमें उद्देश्य भी नहीं होता। ऐसी रचनाएँ भावावेशकी अवस्थामें व्यक्तिगत तुष्टिके लिये रची जाती हैं। ऐसी ही रचना केवल कलाके लिये रची जा सकती है। ऐसी रचनाएँ मुक्तक, प्रगीत या गीत-रूपमें ही हो सकती हैं।

भावात्मक कविताकी समीक्षा

भावात्मक कविताकी समीक्षाके लिये निम्नाङ्कित प्रश्नोंका समाधान करना चाहिए—

१. कवि किस परिस्थितिमें विद्यमान किस दृश्य, व्यक्ति, भाव या क्रिया (घटना) से किस मनःस्थितिमें प्रभावित हुआ ?

२. इस प्रभावका क्या भावरूप था (अनुराग या विराग) ?

३. इस प्रभावको व्यक्त करनेके लिये उसने जो अप्रस्तुत विधान या प्रतीक उपस्थित किए, वे कहाँतक सङ्गत तथा उचित हैं ?

४. इस प्रभावकी अभिव्यक्तिके लिये उसने अभिव्यक्तिकी जिस रूपशैली (वर्णन, रूपक, सस्मरण या विश्लेषण) का प्रयोग किया, वह कहाँतक उचित और प्रभावशाली है ?

५. अपनी अभिव्यक्ति-शैलीके लिये उसने जो भाषा-शैली ग्रहण की, वह कहाँतक उचित, प्रभावशाली, भावानुकूल और सुबोध है ?

६. जिस लय, छन्द और रागमे बाँधकर कविता लिखी गई है, वह भावानुकूल है या नहीं ?

७. वह कविता अपने शब्द, उपमान और छन्दके समन्वयसे ग्राहकके हृदयपर भी वर्ण्य विषय और भावके प्रति वही भाव उत्पन्न करती है या नहीं, जो कविके हृदयमे उत्पन्न हुआ था ?

चित्रकाव्य

केवल कलाके लिये तो वास्तवमे चित्रकाव्य रचा जाता है, जिसमे चमत्कार प्रधान होता है। उसमे केवल एक ही तत्त्व होता है 'चमत्कार'। ऐसी रचनाओका समीक्षण केवल इस दृष्टिसे करना चाहिए कि उसमे कविने शब्दो या अर्थमे किस प्रकार चमत्कार उत्पन्न किया और उस चमत्कारमे उक्ति सम्बन्धी कुछ सौन्दर्य, अद्भुतत्व या असाधारणत्व है या नहीं या वह केवल शाब्दिक बाजीगरी-मात्र है। बहुतसे कवियोने केवल भाषा-कौशल (ज़बानदानी) के लिये ही रचना की है। अतः उनके कौशलकी समीक्षा करते समय भावोंकी गहराई नापनेके फेरमें न पडकर सीधे यह देखना चाहिए कि कविने कितने सरल तथा सक्षिप्त शब्दोमे कितने बड़े अर्थ भर दिए है।

२

गद्य-प्रबन्ध

ससारका अधिकाश साहित्य कथा-साहित्य है। नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी और प्रबन्ध-काव्यके रूपमे सारा साहित्य कथा-साहित्य ही है। परिभाषाके अनुसार परिणाम-युक्त घटनाका वर्णन ही कथा कहलाता है।' यह वर्णन और वर्णनके आधार यदि सत्य हो तो ऐतिहासिक काव्य या इतिहासकी सृष्टि होती है, काल्पनिक हो तो कथा, कहानी, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक या प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती है।

कथाके रूप

आजकल कथा-साहित्यके निम्नलिखित मुख्य रूप प्राप्त होते हैं—

१. पौराणिक कथाएँ (सत्य और काल्पनिक कथाओका सयोग) जिनमे असाधारण मानव-चरित्र या देव-चरित्रका वर्णन होता है। २ दृष्टान्त, किसी बातको समझानेके लिये उदाहरण रूपमे कही हुई कल्पित कथा। ३. कहानी जिनमे अद्‌भुत तत्त्वका वैशिष्ट्य रहता है। परियो, राक्षसो, कल्पित राजा-रानियो आदिकी कथाएँ इसी श्रेणीमे आती हैं। ४. आख्यान या स्वय अनुभूतिके रूपमे वर्णित कथा। ५. उपाख्यान या कथाके अन्तर्गत आई हुई दूसरी कथा। ६. यात्रा-कथाएँ। ७. उपन्यास और उपन्यासिका (नौवलेट्)। ८ छोटी कहानी। ९. नीति कथाएँ (फेबिल)। १०. दन्तकथा (लीजेन्ड) या अनुश्रुति, जो जनसाधारणमे ऐतिहासिक तथा सत्य समझी जाती हैं। ११. चुटकुले। १२. लोक-कथा :—जो मौखिक रूपसे हमे एक पीढ़ीसे दूसरी पीढीको मिलती रही हैं। १३. सस्मरण (रैमिनिसेंस)—जिनमे अपने जीवनकालकी कुछ मनोरञ्जक घटनाएँ सस्मरण-कथाके रूपमे वर्णितकी जाती हैं। १५. यात्रा-कथा (ट्रैविल लिटरेचर)—जो विभिन्न देशोमे घूम-घूमकर यात्रा-साहित्य लिखा जाता है।

(क)

उपन्यास

साहित्यके सभी रूपोमे उपन्यास सबसे अधिक लोक-प्रिय है किन्तु उसकी परिभाषा बताना अत्यन्त कठिन है। उपन्यासने अपने विकासकी अनेक अवस्थाओमे साहित्यिक रूप तथा लेखक-पद्धतियोके अनेक रङ्ग ग्रहण किए और यह निबन्ध, सस्मरण, इतिहास, क्रान्तिकारी घोषणापत्र, यात्रा-विवरण आचार-ग्रन्थ तथा पद्यकी अन्य विभिन्न शैलियोमे सँवरकर प्रस्तुत हुआ। यो कहना चाहिए कि 'उपन्यास वह साहित्य-रूप है जो लेखक और पाठकमें एक प्रकारका व्यक्तिगत घरेलू

सम्बन्ध स्थापित करता है और जिसमे अपने अनुभवको सीधे पाठकके पास पहुँचानेकी प्रबलतम सम्भावनाएँ उपस्थित रहती हैं।' अतः इसमे शैलीकी अपेक्षा विषय-सामग्रीका ही बडा महत्त्व रहा है। यह श्रव्य और दृश्य काव्यसे भिन्न वाचनीय काव्य है किन्तु शुद्ध काव्यकी श्रेणीमे वही उपन्यास आ सकता है जिसमे भाषा शैली पर विशेष ध्यान दिया गया है, केवल कथा वस्तुके गुम्फनपर नहीं।

उपन्यासका विकास

अँगरेजीमे जिसे 'नौवेल', हिन्दीमे 'उपन्यास', फ्रान्सीसीमे 'रोमों' कहते हैं, उसका विकास मध्यकालीन 'स्वैराचार' (रोमास) से हुआ है। अँगरेजी 'नौवेल' शब्द इतावली 'नोवेला' से निकला है जिसका अर्थ है ऐसे 'समाचार' या नई घटनाएँ' जो सद्यःजात और सत्य हो।

उपन्यासकी वृत्ति

वर्त्तमान उपन्यास जिस रूपमे प्राचीन कथासे भिन्न हुआ है उसका आधार है सत्य और काल्पनिकताका विरोध। इसीलिये आजकल सपूर्ण साहित्यके दो भाग कर दिए गए हैं—१. कल्पित (फिक्शन) अर्थात् उपन्यास और २ उपन्यासेतर (नौन-फिक्शन)

उपन्यासमें यथार्थवाद

आजकलके उपन्यासकार पुराने साहसपूर्ण कार्यों और अद्भुत यात्राओमे उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी रातदिन चारो ओर होनेवाली घटनाओमे। इसीलिये उनमे आन्तरिक सङ्घर्ष अधिक होता है, बाह्य सङ्घर्ष कम और इसलिये उनमे हास्यास्पद घटना-सयोग और आवेगात्मक नाटकोंके आश्चर्यजनक परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते। वे जितना हीं कथा-वस्तुपर कम ध्यान देते हैं उतना ही चरित्र-चित्रणपर अधिक। हेनरी जेम्सने कहा ही है—'चरित्र क्या है? घटनाओका परिणाम। घटना क्या है? चरित्रकी व्याख्या।' इसीलिये आजकलके उपन्यासोंमें सामाजिक या नैतिक दृष्टिसे बहुत ऊँचे वर्गके पात्र नहीं

लिए जाते वरन् समाजके आखेटोमेंसे ही वीर-विरोधी व्यक्ति ले लिए जाते है और स्वय समाजको ही खलनायक बनाकर चित्रित किया जाता है।

परिभाषा

उपन्यासकी परिभाषा कुछ लोगोने यह बताई कि 'उपन्यास वह कल्पित गद्य-कथा या वर्णन है जिसमे पुरुषो या स्त्रियोके वास्तविक जीवन तथा भावावेगोका चित्रण हो।' किन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है क्योकि आजकल अनेक उपन्याम ऐसे भी लिखे गए है जिनमे व्यक्तिके बदले स्थानका अधिक महत्त्व है।

अत. व्यापक दृष्टिसे उपन्यासकी परिभाषा यह होगी—

'उपन्यास वह गद्य-कथा है जिसमे विशेष कौशलसे कुतूहल उत्पन्न करके कोई ऐसी सत्याश्रित या कल्पित कथा कही जाती है जिससे मनो-विनोद हाता हो या किसी विषय या नीतिका परिचय और प्रचार किया जाता हो।'

उपन्यासके प्रकार

उपन्यासमे अनुभवात्मक वास्तविकताका चित्रण इतना अधिक है और उसके रूप या शैलीके विषयमे पाठकोकी उदासीनता इतनी है कि उपन्यासके निम्नाङ्कित वर्ग ही माने गए हैं—

१. सामाजिक, २. मध्यवर्गीय, ३ मनोवैज्ञानिक, ४. स्थानीय चित्रणयुक्त, ५. अपराध-चित्रक और ६. भावावेगपूर्ण। सामाजिक उपन्यासोंके अन्तर्गत एक तो समस्या-उपन्यास (प्रौब्लम नोवेल) होते हैं, जिनमे कोई विशिष्ट सामाजिक प्रश्न होता है, जैसे पति-पत्नी-परित्याग (डाइवोर्स) या जातीय रङ्गभेदकी भावना आदि। दूसरे प्रकारके उपन्यास वे हैं जिनमे किसी एक वर्गका पक्ष लेकर दूसरेकी निन्दा की जाती हो। उन्हे प्रचारवादी उपन्यास कहते हैं। कुछ श्रमिकवादी उप-न्यास होते हैं जिनमे श्रमिकोकी समस्याके साथ सहानुभूतिमय विचार

किया जाना है । स्थानगत (रीजनल) उपन्यासोमे वहाँकी परिस्थिति और अवस्थाओ तथा मनुष्य-द्वारा निर्मित आर्थिक प्रणालीका ही नहीं वरन् वहाँकी धरती, उजाड, जङ्गल या कहीं दूरकी आदिम भूमिका चित्रण होता है ।

ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासोमे वास्तविक घटनाओका चित्रण होता है जिनमे पात्र, स्थिति और घटनाएँ अतीतसे ली जाती है। ये तीन प्रकारके मिलते है :—१. विशिष्ट युगीन उपन्यास, जिसके पात्र उस युगके जीवनका परिचय देनेवाले हो, भले ही वास्तविक न हो। २. जिसमे प्राचीन अतीतके राजाओ और साहसिकोके ऐतिहासिक कृत्योका वर्णन होता है, जिसमे प्रायः लेखक इस युगकी जटिलताओसे बच-निकलकर या पलायन करके काम करना चाहता है। ३. शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास, जो वास्तविकताको छोडता नहीं, वरन और भी तीव्र कर देता है । इनमे प्रायः एक पीढ़ी पहलेके दृश्य होते हैं जिसमे कि लेखक अपने बचपनकी स्मृतिको कुरेदकर रचनात्मक शक्ति उत्पन्न कर सके।

विवरणात्मक उपन्यास

रचना-कौशलकी दृष्टिसे हम उपन्यासकारके दो रूप मान सकते हैं, जो एक दूसरेसे बहुत मिलते-जुलते हैं—१. विवरणात्मक (पैनोरेमिक या इपिक)। २. नाटकीय (दृश्यात्मक) तथा सुसम्बद्ध ।

विवरणात्मक उपन्यासमे कथावस्तु शिथिल होती है और किसी एक बातपर कथा बँधी नही रहती। उसकी घटनाएँ अशत. दैवसयोगपर तथा पात्रोके स्वभाव और परिस्थितियोपर अवलम्बित रहती हैं। उसका अन्त बहुत दूरतक चलता रहता है, सहसा निर्णयात्मक नहीं होता। सक्षेपमें, विवरणात्मक कथावस्तु उतनी तर्कसङ्गत, घटनापूर्ण और त्रासद नहीं होती, जितनी नाटकीय क्योकि उसमें चरित्र असख्य होते हैं और वे भी व्यक्तिगत होनेके बदले किसी एक वर्गके प्रतिनिधि होते हैं और एक ही व्यक्ति सदा ध्यान आकृष्ट किए रहता है ।

नाटकीय उपन्यासमे एकही तत्त्वकी प्रधानता है जो तर्कसङ्गत रूपसे किन्हीं परस्थितियोका परिणाम होता है अर्थात् जो किसी एक विशिष्ट परिस्थिति और पात्रोकी प्रकृतिका परिणाम होता है। इस प्रकारकी कथावस्तुओको पढ़कर भावोका जो तनाव होता है वह निर्णयात्मक तथा अन्तमे पहुँचकर समाप्त हो जाता है। इसके सब पात्र उपन्यास-व्यापारसे बँधे रहते हैं। नाटकीय उपन्यासोमे आकस्मिकता अधिक रहती है इसलिये उसमे जीवनका एक ही खण्ड दिखाया जा सकता है किन्तु विवरणात्मकमे मानवीय अनुभवोके सब विस्तृत पक्ष आ सकते हैं।

भाविकतापूर्ण उपन्यास (सेन्टिमेन्टल फ़िक्शन)

अट्ठारहवीं शताब्दीमे योरपमे भावात्मक उपन्यासोका विकास हुआ जिनका एक सिद्धान्त यह था कि 'साधारण मनुष्य बहुत अच्छा होता है और उसमे मौलिक उदारतापूर्ण गुण होते हैं।' इससे नीतिवादी और समीक्ष्यवादी सन्तुष्ट होकर कहने लगे 'उपन्यासका काम ही है शिक्षा देना।' उपदेशात्मक रूपमे इसने शिक्षा देनेवाले उपन्यासोमे, क्रान्तिकारी आदर्श भरकर सैद्धान्तिक उपन्यासोमे, अलौकिकवादसे रङ्गकर गोथिक उपन्यासोमे, मानवतावादीसे मिल-कर उद्देश्यवादी उपन्यासोमे इतिहाससे मिलकर ऐतिहासिक स्वैरवादी उपन्यासोके पात्रोको आदर्श बनानेमें और आचार-विचारके अध्ययनसे पुष्ट होकर गृहस्थ उपन्यासोमे एक नवीन चमत्कार उत्पन्न किया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमे इसका महत्त्व कम हो गया और यह समाप्त हो गई।

जासूसी उपन्यास

कुतूहलकी प्रधानता होनेके कारण जासूसी उपन्यासकी कथाओंमें किसी विशेष जटिल समस्या (विशेषतः हत्या) का समाधान कोई जासूस ऐसे विचित्र ढङ्गसे करता है कि जिसे हम साधु समझते हैं वही हत्यारा सिद्ध होता है। एलेन पोने ही सबसे पहला जासूसी उपन्यास लिखा था। जासूसी उपन्यासमे छह रूढ तत्त्व होते हैं—

१. प्रत्यक्षतः पूर्ण दुर्घटना, २. निरपराध व्यक्तिपर शङ्का, जिसके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई पडते है, ३. पुलिस द्वारा चिह्न पहचाननेमें गडबडी, ४. जासूसकी तीव्र प्रतिभा और सूक्ष्मदृष्टि, ५. जासूसका साथी, जो उससे कम बुद्धिवाला होता है किन्तु उसकी प्रशंसा करता हुआ कथा कहता है और ६. बाह्य प्रमाण, जो सब असङ्गत होते हैं।

इन उपन्यासोमे १. कुछ तो रोमाञ्चकारी होते हैं, जिनमें एक दुर्घटनापर दूसरी दुर्घटना होती चलती है और सब कुछ अन्तमे जाकर सुलझता है तथा २. कुछ बौद्धिक होते हैं, जिनमे दुर्घटना हो चुकनेपर जासूस उसकी खोजमे लगता है और अन्तमे अपराधीको पकड लेता है। धीरे-धीरे विज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान और औषधि-विज्ञानने इसमे बडी सहायता की और नये-नये ढङ्गोसे जासूसोकी खोज वृत्ति दिखाई जाने लगी।

वैज्ञानिक उपन्यास

आजकल अज्ञात विषयो, लोको तथा देशोके सम्बन्धमे जो वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए है और अटकलें लगाई जा रही हैं, उनके अनुसार भी कुतूहलपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं जैसे 'चन्द्रलोककी यात्रा', 'मङ्गल ग्रहका मानव', 'यन्त्र-मानव' आदि। इन उपन्यासोमे या तो विज्ञानकी ज्ञात बातोंका प्रयोग करके उनका प्रयोगात्मक परिचय दिया जाता है या वैज्ञानिक सम्भावनाओंकी कल्पना करके उनके आधारपर अत्यन्त रोमाञ्चकारी कथा प्रस्तुतकी जाती है।

उपन्यासिका (नौवलेट्]

बड़े उपन्यासोके साथ कुछ छोटे और छोटी कथाओंसे कुछ बड़े तीस सहस्रसे पचास सहस्र शब्दोतककी कहानियाँ नौवेलेट (उपन्यासिका) नामसे लिखी गई हैं।

उपन्यासका नया वर्गीकरण

उपर्यङ्कित विवरणके अनुसार विषयके आधारपर यदि हम उपन्यासोका वर्गीकरण करें तो निम्नलिखित प्रकारके उपन्यास मिलेंगे—

१. सामाजिक, २. राजनीतिक, ३. धार्मिक, ४. पौराणिक, ५. ऐतिहासिक, ६. वैज्ञानिक, ७. वासनात्मक और ८. जासूसी।

उपन्यासके तत्त्व

कुछ विद्वानोने उपन्यासके छह तत्त्व माने हैं—१. वस्तु, २. पात्र, ३. सवाद, ४. देशकाल, ५. शैली और ६. उद्देश्य। किन्तु वास्तवमे उपन्यासके तत्त्व तो तीन ही होते हैं—१. कथा, २. पात्र और ३. व्यापार (घटनासमूह)। 'उद्देश्य' वास्तवमे तत्त्व न होकर परिणाम है और 'सवाद' तथा 'शैली' उस कथाको उद्देश्यतक पहुँचानेके साधन हैं। देशकाल भी घटना-समूह या व्यापारके अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ आचार्योंने घात-प्रतिघात या द्वन्द्व (कौन्फ्लिक्ट) तथा कुतूहल (सस्पेन्स) को भी तत्त्व माना है किन्तु ये सब तो उद्देश्य-सिद्धिके लिये तत्त्व सयोजनके कौशल हैं अथवा पाठकोको फँसाए रखनेके उपाय हैं। इन्हे तत्त्व नहीं समझना चाहिए।

प्रत्यावर्त्तन कौशल (फ्लैशबैक या कटबैक टेकनीक)

यह कौशल चलचित्रोसे उपन्यास या कहानीमे ले लिया गया है। पहले जासूसी कहानियोमे इसका प्रयोग होता था कि उपन्यासका आरम्भ किसी विशेष घटनाके परिणाम या मध्यसे, जैसे किसी विशेष अपराध, वन्दीकरण या न्यायालयसे, होता है और फिर सहसा वह अध्याय समाप्त करके उससे पहलेकी वह घटना या वे सब सम्बद्ध घटनाएँ शीघ्रतासे वर्णन कर देते हैं, जिनके परिणाम स्वरूप मुख्य कथा-व्यापार प्रारम्भ हुआ था। कभी कभी जब कोई पात्र अपनी पिछली घटना सुनाना चाहता है या स्मरण करने लगता है तब भी उसका प्रयोग किया जाता है।

उपन्यासके सिद्धान्त

बहुतसे आचार्योंने विस्तारसे उपन्यासके कुछ नियम निर्धारित किए हैं। उनका कहना है कि 'उपन्यासमे सत्यता या सत्यतुल्यता होनी

चाहिए, न्याय होना चाहिए, मनोवैज्ञानिक क्षणोका स्पष्ट सन्निवेश होना चाहिए, उत्कण्ठा और परिस्थितिका कुतूहलपूर्ण सयोग होना चाहिए स्थानीय चित्रण होना चाहिए, चरमोत्कर्षके स्थलकका निर्वाह होना चाहिए और भविष्य सकेत होना चाहिए।' वर्त्तमान अस्तित्ववादियो (एग्झिस्टैंशलिस्ट्स) का यह सिद्धान्त है कि उपन्यासमे जनसाधारणका चित्रण हो, दलितो और पीडितोके साथ सहानुभूति दिखाई जाय और शिक्षा भी दी जाय, जिससे मनुष्य आत्मचेतन होकर विश्वमे अपना स्थान निश्चित करे।'

सात प्रश्न

मध्यकालीन विचारकोका मत रहा है कि 'प्रत्येक कथाके प्रारम्भमे चाहे वह प्रबन्धकाव्य, कहानी या उपन्यास कुछ भी हो, उसमे निम्नलिखित सात प्रश्नोका उत्तर मिलना चाहिए—

१. कौन ? २. क्या ? ३. कहाँ ? ४. कैसे ? ५. क्यो ? ६. किन उपायोसे ? और ७. किस ढङ्गसे ?' अन्तिम दो प्रश्नोके बदले अब कुछ लोगोने 'कब' प्रश्न जोड दिया है। किन्तु उपन्यासके लिये यह नियम मान्य नहीं है क्योकि उसमे किसी भी बातका ठीक उत्तर प्रारम्भमे दे देनेसे उसकी हत्या हो जायगी, अतः यह सात प्रश्नोवाला सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है।

उपन्यासमें सत्य

उपन्यासमे लेखक जीवनकी घटनाओका अनुकरण करके सत्य खोजता है। स्टीवेन्सनने कहा कि 'जब मैंने किसी पुस्तकमे कोई अविश्वसनीय घटना पढ़ी, तब मैंने यह विश्वास कर लिया कि यह किसी वास्तविक घटनाका ही दूसरा रूप है।' यथार्थवादी तथा प्रमाण-पूर्ण उपन्यासवाले जब अपने उपन्यासोमे किन्हीं अभियोगोका वर्णन करते हैं, तो वे वास्तविक व्यक्तियोका नाम लेते हैं। इससे इनकी बिक्री भले हो जाय किन्तु उनकी कृतिकी कलात्मक सत्यताके लिये असङ्गत हो जाता है। चाहिए तो यह कि वह कौलरिजके मतानुसार

सदा हममे 'जानबूझकर अपने अविश्वासको दूर रखनेकी वृत्ति' (विलिङ्ग सस्पैन्शन औफ डिसबिलीफ) उत्पन्न करे।

मोटे ढङ्गसे सत्यकी चार श्रेणियाँ उपन्यासोमे दिखाई जाती हैं—१. असम्भव, २. अविश्वसनीय, ३. विश्वसनीय और ४. अपरिहार्य ।

न्यायकी भावना

सब प्रकारके काल्पनिक उपन्यासो या साहित्य रचनाओमे न्यायकी भावना सदा निहित रहती है।

औपन्यासिक न्याय या काव्य-न्याय (पोएटिक जस्टिस) को न्यायालयकी क्रियासे कुछ अधिक समझना चाहिए। न्याय तो वह मानवीय गुण है जो मानवीय दुर्बलताओ और दुर्गुणोसे पराभूत है। यह नैतिक भावना तो उन विवेक, सत्य, स्पष्टता आदि गुणोसे सम्बद्ध है, जिनसे चरित्रकी श्रेष्ठताका निर्माण होता है। उसका अभाव ही निरकुश शासक और गुण्डोकी सृष्टि करता है। न्याय सदा अभावका पक्ष लेता है, बुराइयोसे युद्ध करता है और यही उच्च श्रेणीके उपन्यासों का सबसे प्रधान गुण है। इससे भी आगे बढकर यह न्याय-वृत्ति उन बडे-बडे महाकाव्यो, त्रासदो आदिपर भी शासन करती है, जो आद्यन्त इस गुणसे व्याप्त रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक क्षण

किसी नाटक या उपन्यासमे वह स्थल, जहाँ दर्शक या पाठक किसी विशेष घटनाकी आशा करता है और वह घटना उसी समय हो भी जाती है, उसे मनोवैज्ञानिक क्षण कहते हैं। यहींसे उत्कण्ठित प्रत्याशा प्रारम्भ हो जाती है।

उत्कण्ठित प्रत्याशा (पौपड़ड एक्स्पेक्टेन्सी)

उत्कण्ठित प्रत्याशा उपन्यासके उस स्थलमे होती है जहाँ ग्राहक या पाठक आकस्मिक और नाटकीय दुर्घटनाके बीच धुकधुकीके साथ आनेवाले परिणामकी प्रतीक्षा करता है।

परिस्थिति

किसी कथामे किसी स्थलपर घटनाओका मेल ही 'परिस्थिति' कहलाता है। यद्यपि यह परिस्थिति उपन्यास या नाटकमे कहीं भी हो सकती है किन्तु आधारभूत कथा-प्रधान परिस्थिति क्रमशः १. वह है, जिसमे सङ्घर्षकी उत्पत्ति होती है और २. पराकाष्ठाकी परिस्थिति, जिसकी ओर सब घटनाएँ चलती है।

चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स)

किसी कथामे वह कार्य या कार्यका क्षण चरमोत्कर्ष कहलाता है, जिससे कथाकी धारा सहसा वेगपूर्ण घुमाव लेकर एक ओर बह चलती है जिससे कथा-धाराका परिवर्तन (रिवर्सल) निश्चित हो जाता है। इसे ही कथा या नाटकीय द्वन्द्वका निर्णायक क्षण माना जाता है। कभी-कभी लेखक घटनाकी सुलझन या उद्घाटन (डिनूवमेन्ट) इस प्रकार धीरे-धीरे करना चाहता है कि दर्शकोकी उत्सुकता चढती-गिरती रहे, जिससे कि अन्तिम यवनिका-पतनसे पूर्व दर्शकोकी रुचि शिथिल न पड जाय, जैसे कालिदासने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकके सप्तम अङ्कमे दुष्यन्त और शकुन्तलाके मिलनके लिये प्रयोग किया है।

प्रवृत्ति (मोटीवेशन

प्रवृत्ति (मोटीवेशन) वह परिस्थितियोका समन्वय या समन्वय करनेकी कला है, जो अतीतकी घटनाओको विवेकपूर्ण आधार देकर पात्रोके कार्योंको प्रशसनीय बना देती है। इसका तात्पर्य यह है कि उसमे घटनाओ और कार्योंका ऐसा सयोग हो कि साधारण पाठक भी मानता चलता है कि 'यदि ऐसा व्यक्ति हो और ऐसी परिस्थितियाँ हो तो निश्चित रूपसे उसका स्वाभाविक परिणाम यही होगा।'

भविष्य-सङ्केत (प्रौमिस)

जैसे नाटकमे पताका-स्थानक होता है अथवा कोई ऐसा सङ्केत दे दिया जाता है जिसके आधारपर दर्शकका कुतूहल बना रहता है

और जैसे कवितामे भी कुतूहल वृत्तिकी स्थापना की जाती है वैसे ही उपन्यासोमे रुचिको उकसानेके लिये और एकाग्रता स्थापित करनेके लिये भविष्य-सङ्केतका प्रयोग किया जाता था। यह भविष्यका सङ्केत जितना ही तीव्र होगा, उतनी ही पाठककी उसमे रुचि होगी। कौनराडने अपने उपन्यासोमे कहीं-कहीं इसका ऐसा प्रयोग किया है कि कभी कभी तो पृष्ठके-पृष्ठ तीव्र उत्सुकता तथा भावावेगके साथ पढ जाने पडते हैं। इसीलिये कुछ लोगोने इसे 'कौनराडज्वर' (कौनराड फीवर) कहा है। किन्तु साधारणत उपन्यासोमे छोटे-छोटे सङ्केत दिए जाते हैं और उनका पालन भी होता है, नहीं तो पाठकका विश्वास ही उठ जाय। पाठकका कौतूहल जगाए रखनेके लिये कुछ उपन्यासकार यह भी करते हैं कि जब एक प्रतिज्ञा पूरी हो जाती है तो उसके साथ दूसरी दो-तीन जोड देते हैं। वास्तवमे भविष्य-सङ्केत या सङ्केत-वचन कुतूहलका ही सहायक तत्त्व है। कभी कभी इस प्रकारका सङ्केत केवल एक व्यञ्जना-मात्र होता है जिसमे सङ्केतसे भी अधिक इतनी सामग्री भरी रहती है कि पाठक कभी निराश नहीं होते।

विनोद-तत्त्व (ह्यूमर)

कुछ आचार्योंका विश्वास है कि 'भयानक रोमाञ्चकारी उपन्यासोके भावोका तनाव बीच-बीचमे शिथिल करनेके लिये ऐसे व्यक्तियो, दृश्यो, या स्थलोका वर्णन देते रहना चाहिए जो कथासे पूर्णतः सम्बद्ध हो और जिनके कारण विनोद हो। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह प्रयोग अत्यन्त वाञ्छनीय है किन्तु इसमे इतना भय अवश्य बना रहता है कि कहीं रसभङ्ग या रस-विरोध होनेसे कथाका प्रभाव ही समाप्त न हो जाय। अतः उचित यही है कि विनोद-तत्त्वका प्रयोग चरमोत्कर्ष (क्लाइमैक्स) से पहले ही हो जाना चाहिए, उसके पश्चात् नहीं।

उपन्यासका प्रारम्भ

उपन्यासका प्रारम्भ करनेके अनेक कौशल प्रसिद्ध हैं—

१. स्थान, काल, युग आदिका वर्णन करके, २. किन्हीं व्यक्तियोंके संवादसे, ३. आकस्मिक घटनाकी सूचना आदिसे। प्रायः इनमेंसे प्रथम प्रणालीका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली प्रणाली यह है कि किसी आकस्मिक तथा सहसा मनको आकृष्ट करनेवाली घटनासे ही प्रारम्भकर दिया जाय, जिससे प्रारम्भसे ही पाठक उसमें दत्तचित्त हो जाय।

उपन्यासका अन्त

कुछ लोगोका मत है कि 'उपन्यासका अन्त नाटकीय ढङ्गसे सहसा हो जाय जिसे पढकर पाठक 'हाय' या 'वाह' कर उठे।' इस प्रकारके अन्तको नाटकीय या आकस्मिक अन्त (ड्रैमेटिक या सडेन एन्ड) कहते हैं। किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि 'उपन्यासका अन्त सङ्घर्षके पश्चात् पूर्णतः शान्त रूपमे हो, जिसे स्थिर अन्त (स्टैटिक एन्डिग) कहते हैं।' कुछका मत है कि 'उपन्यासोके अन्तमे जो परिणाम दिखाया जाय, उसका विवेकपूर्ण समर्थन करके पाठकको यह विश्वास दिला दिया जाय कि जो परिणाम दिखाया गया है वह न्यायकी दृष्टिसे तथा घटना-सयोगकी दृष्टिसे पूर्णत. सङ्गत और उचित है।

भाषा-शैलीका महत्त्व

उपन्यासोंमे भाषा-शैलीका बड़ा महत्त्व है क्योंकि उनमे भाषा-शैलीके द्वारा ही कथाका प्रवाह चलाया जाता है, पात्रोका चरित्र-वर्णन किया जाता है तथा सवाद कराए जाते हैं। भाषा-शैलीके विवेचनमें और सवाद-शैलीके विवेचनमे हम इन दोनोका परिचय दे आए हैं। इस सम्बन्धमें केवल यही बात ध्यान देने योग्य है कि (क) संवाद प्रत्येक पात्रकी योग्यता, मन-स्थिति और परिस्थितिके अनुकूल हो, (ख) वर्णन उतने ही हो, जितने कथाके प्रवाहको आगे बढ़ाने तथा पात्रोका चरित्र स्पष्ट करनेमे योग देते हो, (ग) वर्णनकी भाषा-शैली सरल, और सुबोध होते हुए सूक्तिपूर्ण और व्यञ्जना-प्रधान हो। (घ)

उपन्यासकारको स्वयं सब बातें न कहकर बहुत कुछ इस प्रकार कहनी चाहिए कि पाठक सरलतासे उनका स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सके और स्वय परिणाम निकाल सके। (ङ) वर्णनोकी आवृत्ति न हो और अनावश्यक रूपसे भाषा-शैली दुरूह न की जाय क्योंकि ऐसा करनेसे पाठकका जी ऊब जाता है और अत्यन्त सुन्दर कथा भी अग्राह्य हो जाती है।

वर्णनको संक्षिप्त करनेकी साधारण प्रणाली यह है कि दृश्य या परिस्थितिके सब सूक्ष्म वर्णनोको पात्र और व्यापारके साथ तथा कथा-प्रवाहमे ही मिला लिया जाय, आजकल अच्छे लेखक इसी समन्वय-वाली प्रणालीका ही प्रयोग करते हैं।

स्थानीय रङ्ग (लोकल कलर)

आजकल लोगोका मत है कि उपन्यासोंमे स्थानीय रङ्ग अधिक और सटीक होना चाहिए। जब किसी उपन्यास या कहानीमे किसी एक विशेष वर्णित स्थानके सम्बन्धमे सूक्ष्म तथा विस्तृत विवरण दिया जाता है और वहाँके सामाजिक, भौगोलिक तथा सास्कारिक विषयोंका सूक्ष्म निदर्शन किया जाता है तब वह नियोजन 'स्थानीय रङ्ग' कहलाता है। स्थानीय रङ्गका अर्थ हुआ 'किसी कथाके मूल तत्वके रूपमें नहीं, वरन् सजावटके रूपमे उस कथाके लिये दृश्य, भाषा, वेश, आचार, विचार और व्यवहारका सटीक विस्तृत वर्णन देना।'

वर्णन-शैली

उपन्यासके वर्णन करनेकी शैलियाँ अनेक प्रकारकी और अनेक रूपोकी चल गई हैं। सचित्रता, अद्भुतता तथा त्रास उत्पन्न करनेके लिये स्वैरवादी सम्प्रदायने दृश्यको अधिक महत्त्व दिया; कथाके अतीतको व्यक्त करनेके लिये स्कौट और ह्यूगोने पृष्ठभूमिको आवश्यक बताया और ज्यो-ज्यो लोग नवोदात्तवादी भाषासे हटकर वर्त्तमान व्यक्तिवादमे आए, त्यो-त्यो स्थान, दृश्य, सामाजिक वातावरण और व्यक्तियोके वर्णनका महत्त्व बढ गया। अपने जीवन-सिद्धान्तोंके

समर्थनके लिये उन्नीसवीं शताब्दीके द्वितीय भागमे तथ्यवादियो और प्रकृतिवादियोने परिस्थितिको अधिक महत्त्व दिया और जार्ज इलियट, मैरेडिथ, फ्लाउवें, जोला और स्वैरवादी स्टीवेन्सनने परिस्थिति (मिल्यू) को महत्त्व दिया। आजकल सामाजिक परिवर्तनके इच्छुक तथ्यवादी तथा फ्रौयडीय मनोविज्ञानवाले 'परिस्थिति' का विशेष अध्ययन करते हैं, अत. आजकल परिस्थिति और स्थानका चित्रण, उपन्यासोके उपेक्षित दास न रहकर पोषक धाय बन गए हैं, जिससे कथानक और पात्र दोनोको अपना अस्तित्व और पोषण प्राप्त होता है। उपन्यासका उद्देश्य उन वाचकोको तृप्त करना है, जिनकी योग्यता अधिक नहीं होती और जिनका शब्द-भाण्डार भी परिमित होता है। अतः उपन्यासके लिये वही भाषा-शैली उपयुक्त है, जो सर्वबोध हो।

चरित्र-चित्रण

लेखक उपन्यासकार अथवा नाटककार अपने पात्रोको दो साधारण रूपोमे उपस्थित कर सकता है—एक तो सीधे, जिसमे वह स्वयं पाठकको पात्रके सब गुण बता देता है और दूसरे क्रिया या व्यापारके द्वारा जिसमे वह पात्रोकी उन क्रियाओका प्रदर्शन करता है, जिनके आधारपर उस पात्रका चरित्र ज्ञात हो। निम्न कोटिके पात्रोके लिये तो पहली ही विधि अधिक प्रचलित है किन्तु मुख्य पात्रोके लिये प्रायः दोनो विधियोका प्रयोग होता है। सीधे वर्णनमे या गुण-व्याख्यामे जहाँ पात्रकी वृत्तिका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है वहाँ यह हानि भी होती है कि पात्रके सम्बन्धमे पाठकका कुतूहल शान्त हो जाता है और कभी-कभी जब अच्छे बताए हुए पात्रसे कुछ दोष हो जाता है तो पाठक घबरा उठता है और जब बुरा चित्रित किया हुआ पात्र अच्छा काम करता है तो पाठक खीझ उठता है। कभी-कभी कुछ लेखक इस विवरणको एकदम सीधे न देकर थोड़ा-थोड़ा करके देते हैं अर्थात् धीरे-धीरे करके उसका पूरा चित्रण करते हैं। इससे पाठक स्वय पात्रके

सम्बन्धमे अपनी धारणाएँ निश्चित करता चलता है कुछ उपन्यासोंमे किसी भी पात्रकी द्वन्द्वात्मक विचारधाराको उपन्यासकारोंने जनान्तिक शैलीमे प्रस्तुत किया है।

चरित्र दो प्रकारके माने गए है—१. स्थिर और २. गतिशील।

बहुत-सी कथाओंमे अमुख्य पात्र या तो सदा एकरस (फ्लैट) होते है, सरलतासे प्रभावित होनेवाले (थिन) या बेपेंदीके लोटे (डिस्क)। कभी-कभी मुख्य पात्र भी स्थायी या स्थिर होते है जो प्रारम्भसे लेकर अन्ततक एकसे रहते है, किन्तु इस रूपमे भी यदि कथाकार चाहे तो अच्छी प्रकारसे विस्तारके साथ उन्हे प्रदर्शित कर सकता है।

किन्तु किसी कथाके मुख्य पात्र प्रायः उन्नतिशील या गतिशील भी हो सकते है जिनके आत्मापर कथाके अन्तर्गत द्वन्द्व तथा उनका मानसिक द्वन्द्व ऐसा प्रभाव डालता है जो उनकी भलाईके लिये भी हो सकता है, बुराईके लिये भी, और यह भलाई-बुराई भी वैसे ही वैसे क्रमशः आती-जाती रह सकती है, जैसे-जैसे मनुष्यके मनमे घटनाएँ प्रभाव डालती रहे। किन्तु इस प्रकारके परिवर्तन उन घटनाओंकी शक्तिके साथ मेल खाते हुए होने चाहिएँ, अस्वाभाविक या असम्भव न हो।

नायक (हीरो) और नायिका (हीरोइन)

किसी उपन्यास या नाटकमे जिस व्यक्तिमे उस नाटककी सब क्रियाएँ केन्द्रित हो या जिसके साथ पाठक या दर्शककी सहानुभूति रहती हो, वह नायक कहलाता है। प्रायः यह प्रतिनायकका प्रतिद्वन्द्वी होता है। यदि ये दोनो शक्तियाँ किसी एक ही व्यक्तिमे हों तो वह द्वन्द्व-नायक (प्रोटेगोनिस्ट) कहलाता है। नायिका प्रायः नाटकके संघर्षकी केन्द्र होती है। वह या तो नाटक-द्वारा प्राप्य होती है या जासूसी उपन्यासोंकी डाकू 'नायिका'के समान कथाकी सञ्चालिका होती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रमे चार प्रकारके नायक माने गए है—धीर-

ललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत तथा नायिका तीन प्रकारकी—१. स्वकीया, २. परकीया और ३. सामान्या। इनका विवेचन नाटकके प्रकरणमे किया जायगा।

पहले तो इनका प्रयोग नाटकोमे होता था किन्तु पीछे चलकर इन्हींकी देखादेखी उपन्यासोमे भी, विशेषतः यथार्थवादी उपन्यासोमे, ये 'वर्गप्रकार'के पात्र ही लिए जाने लगे—श्रमिक, भूमिपति, अध्यापक, वकील, व्यापारी आदि।

शील निरूपण या चरित्र चित्रण

चरित्र चित्रणके सम्बन्धमे उपन्यासकारको इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि पात्र अधिक न हो, आदिसे अन्ततक उनके चरित्रका निर्वाह हो और उनके कार्यों और विचारोसे उनके चरित्रका विश्लेषण हो, उपन्यासकार द्वारा दिए हुए वर्णनसे नहीं। जिस श्रेणीसे पात्र लिए जायँ उसकी मर्यादाके अनुसार उसके कार्य और विचार होने चाहिएँ। पात्रके शील और सामर्थ्यका विवेचन भी उसी दृष्टिसे होना चाहिए अर्थात् आदिसे अन्ततक वह ऐसा पूर्णतः स्वाभाविक और सत्य-तुल्य प्रतीत हो, जिसका पाठक विश्वास कर सके और जो पात्रके पद और उसकी मर्यादासे असङ्गत न प्रतीत हो।

उपन्यासकी समीक्षा

उपन्यासकी समीक्षा करते समय निम्नाङ्कित प्रश्नोंको ध्यानमे रखकर निर्णय करना चाहिए—

१. उपन्यासकी कथावस्तु कहाँसे ली गई है?

२. यदि कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक है तो लेखकने उसमें क्या परिवर्त्तन करके क्या विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है?

३. इस परिवर्त्तनके निमित्त लेखकने किन नवीन पात्रो या घटनाओंका समावेश किया है?

४. इन पात्रों या घटनाओंमेंसे कितनोंकी आवश्यकताएँ वास्तविक हैं और वे कहाँतक उचित हैं?

५ यदि कथा काल्पनिक है तो वह कहाँतक सम्भव, विश्वसनीय, स्वाभाविक और सङ्गत है और उपन्यासकारने जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है उसमे उसे कहाँतक सफलता मिली है ?

६. लेखक अपना उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेमे कहाँतक सफल हुआ है ?

७. इस सफलताके लिये उसने किस भाषा-शैलीका आश्रय लिया है और वह भाषा-शैली कथाकी प्रकृति तथा पाठकोकी योग्यताके कहाँतक अनुकूल है ?

८. सवादोकी भाषा-शैली पात्रोकी प्रकृति तथा परिस्थितिके कहाँतक अनुकूल, स्वाभाविक तथा उचित मात्रामे है ?

९. लेखकने पाठकका मन उलझाए रखनेके लिए किस कौशलका प्रयोग किया है—

(क) प्रारम्भ उचित ढङ्गसे किया है या नहीं ?

(ख) घटनाओका गुम्फन अधिक जटिल तो नहीं हो गया और मार्मिक स्थलोपर उचित ध्यान दिया गया है या नही ?

(ग) कथाका चरमोत्कर्ष दिखानेमे शीघ्रता या विलम्ब तो नहीं हुआ और यह चरमोत्कर्ष दिखानेमे अनुचित, अनावश्यक, अस्वाभाविक तथा असङ्गत घटनाओका समावेश तो नहीं किया गया ?

(घ) उपन्यासका अन्त जिस प्रकार किया गया ? वह कथाकी प्रकृति, घटना-प्रवाह और पात्रोके चरित्र और मर्यादाके अनुकूल, सङ्गत, आवश्यक, अपरिहार्य और स्वाभाविक है या नहीं ? अनावश्यक रूपसे उपन्यासको दुःखान्त या सुखान्त तो नहीं बना दिया गया ?

(ङ) किस पुरुषमे कथा कही गई ? क्या वह रीति कथाके लिये उपयुक्त है ?

(च) कथा किस रूपमे कही गई ?—वर्णन, पत्र, भाषण, समाचार, संवाद, वार्त्तालाप, आत्मकथा, सूचना आदि ।

(छ) रूपकी नवीनता उत्पन्न करनेसे उपन्यासके कथा-प्रवाहमें क्या दीप्ति या दोष आ गए ?

१०. उपन्यासमे वर्णन कहाँतक उचित परिमाणमे, आवश्यक और स्वाभाविक है ?

११. जो बातें (पात्रोका स्वभाव आदि) व्यञ्जनासे बतानी चाहिए थीं उन्हे अपनी आरसे तो नहीं बता दिया गया ? पात्रोका चित्रण उनकी मर्यादा और प्रकृतिसे भिन्न, अस्वाभाविक, असङ्गत या अतिरञ्जित तो नहीं हो गया ?

१२ उपन्यासकारने किस विशेष वाद सम्प्रदाय, नीति या सिद्धान्त से प्रेरित होकर लिखा है और उसकी सिद्धिमे वह कहाँतक सफल हो पाया है ?

१३. उपन्यासकारने अपने व्यक्तिगत जीवन या अनुभवकी जो अभिव्यक्ति उपन्यासमे की है, वह कितनी प्रत्यक्ष है और कितनी व्यंग्य ? वह कहाँतक उचित है या अनुचित ?

१४. उस उपन्यासका साधारण मनपर क्या प्रभाव पड सकता है और वह पाठककी वृत्ति, प्रवृत्ति, स्वभाव, चेष्टा आदिको कहाँतक अपने पक्षमे ला सकता है ? सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिसे वह प्रभाव कहाँतक वाञ्छनीय है ?

१५. उपन्यासमे क्या मौलिकता है और उसमे सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण सन्निवेश कहाँ और किस प्रकार किया गया है ?

१६. अलौकिक तत्त्वोका प्रयोग कहाँतक उचित और बुद्धि-सङ्गत हुआ है ?

१७. उपन्यासकी कथावस्तु, घटना गुम्फन, भाषा-शैली, चरित्र-चित्रण और परिणाम आदिमे जो दोष हो, उनका सुधार आप कैसे करते ?

(ख)

छोटी कहानी

यद्यपि छोटी कथा (शौर्ट स्टोरी) शब्दका अर्थ तो किसी छोटी घटनाका वर्णन या किसी घटनाका सङ्क्षिप्त वर्णन-मात्र है किन्तु उपन्यासोंमे 'कहानी' शब्दका अर्थ था 'वह वर्णन जिसमें सङ्घर्षका चित्रण हो'। इसी आधारको लेकर छोटी कहानीका एक निश्चित-नियमित विकास हुआ है जिसमे उपन्यासके अनेक तत्त्वोंमेसे किसी एकपर विशेष रूपसे ध्यान केन्द्रित किया जाता है। उसमे चरित्र-चित्रण तो होता ही है किन्तु उतना नहीं होता जितना 'उपन्यासिका' (नौवलेट्) मे, जो केवल एक छोटा उपन्यास-मात्र होता है। वास्तवमे कथा तो एक छोटा कथानक-मात्र होता है जो प्रायः अत्यन्त शिथिलता-पूर्वक रचा जाता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तविक ही हो। वह परियोंके देशका या मङ्गल ग्रहका भी चित्रण कर सकता है। किन्तु कहानी या छोटी कहानीका जो रूप प्रचलित है उसके लिये फ्रान्सीसी 'कौन्ते' और जर्मन 'नौवेले' शब्दोंका प्रयोग ही उचित जान पडता है।

कहानी तथा अन्य कथा-रूप

रेखाचित्र (स्केच) से भी यह 'छोटी कहानी' भिन्न होती है क्योंकि रेखाचित्र (स्केच) मे छोटी कहानीकी वह गम्भीरता नहीं रहती, जिसमे वर्णन दब जाता है और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति प्रधान कर दी जाती है। इसी प्रकार गद्य-कथा (प्रोज़ इडिल) भी इस छोटी कहानीसे भिन्न एक प्रकारका सङ्क्षिप्त और कोमल प्रेम-कथानक होता है। लम्बी कथा (त्रादीशियो) मे अवास्तविकताकी मात्रा अधिक होती है और प्रायः वह अतिरञ्जित रूपसे चित्रित होती है। उसमे अधिकाश बाहरी अनुभवोंका विशेष वर्णन होता है जैसे आखेट करना, युद्ध करना, मछली मारना आदि या फिर पौराणिक तथा लोक-प्रसिद्ध वीरोंका वर्णन होता है। अतः जब हम 'छोटी कहानी'की चर्चा

करते है तब वह परियोकी कथा, रेखाचित्र, गद्य-कथा (प्रोज इडिल), लम्बी कहानी सबसे भिन्न विचित्र प्रकारकी होती है।

प्राचीन मिस्त्रियोकी 'जादूगरोकी कहानी', भारत, यूनान, और अरबकी कहानिया योरपके मध्ययुग और पुनर्जागरण-कालमे चौपायों की कहानियाँ, धूर्तोंकी कहानियाँ (पिकारेस्क टेल्स), साहस-पूर्ण कथाएँ (गैस्टा रोमानोरम) दस दिनमे कही हुई बोकेशियोकी 'सौ कहानियाँ' (डैकामेरोन) और उसके अनुकरणपर बहुत ही कहानियाँ लिखी गईं किन्तु जिस रूपको हम 'छोटी कहानी' कहते हैं वह उन्नीसवीं शताब्दीमे ही विकसित हुई।

छोटी कहानीका विकास

एडगर एलेन पोने सन् १८४२ मे हौदोर्न-द्वारा रची हुई 'पुनरावृत्त कहानियाँ' (ट्वाइस टोल्ड स्टोरीज) की समीक्षा करते हुए 'छोटी गद्यमय कथा'की प्रकृति और रचनापर कुछ सिद्धान्त स्थापित किए। 'छोटी'से उसका तात्पर्य ऐसी कथासे था 'जिसे पढ़नेमे आध घण्टेसे लेकर एक या दो घण्टे समय लगे।' अर्थात् 'रचना इतनी छोटी हो कि उसमे लेखक कोई एक पूर्ण तथा अकेला प्रभाव उत्पन्न करे और ऐसी घटनाएँ खोजनेका प्रयत्न करे तथा उन्हे ऐसे शब्दोसे साज दे कि उनसे वह एक ही प्रभाव उत्पन्न कर पावे। उसका उद्देश्य केवल उस प्रभावका पूर्ण प्रस्थापन-मात्र हो।' इसके लिये औचित्य या सङ्गति तथा घटना और शैलीमे सक्षेपता प्रमुख बात है। पोके इस नियमके बन जानेपर भी उन्नीसवीं शताब्दीकी अधिकाश छोटी कहानियाँ अत्यन्त शिथिल रूपसे ही रची जाती रही। उनके लिये 'छोटी' शब्दका प्रयोग बहुत कम होता था क्योकि उन छोटे कथानकोको प्राय. टेल्स (कहानियाँ), स्केच (रेखा-चित्र), सचित्रण (विगनेत्त) या कभी-कभी निबन्ध (ऐसेज) भी कहा जाता था। ब्रैण्डर मैथ्यूने लघु-कथा दर्शन (दि फिलौसोफी औफ शौर्ट स्टोरी) मे 'कथा' (स्टौरी) शब्द-पर अधिक बल दिया और कहा कि 'जो कहानी केवल छोटी-मात्र

हो उससे यह छोटी कहानी नितान्त भिन्न है।' उसने 'छोटी कहानी' शब्दको समस्त पद बना दिया और इस प्रकार छोटी कहानीको एक साहित्यिक रूपमे स्थिर कर दिया।

छोटी कहानीके अनेक रूप

पोका सिद्धान्त प्रायः अभीतक मान्य है किन्तु जिन अनेक रूपोमे छोटी-कहानीका विकास हुआ है उनकी सम्भवतः उसे कल्पना भी नहीं थी। वह स्वय जासूसी कहानियाँ या गोथिक शैलीकी कहानी लिखता था जिनमे भय, प्रतिहिंसा और सङ्कटपूर्ण साहस-कृत्योकी कथाएँ रहती थीं। किन्तु साहित्यमे यथार्थवादी और प्रकृतिवादी आन्दोलनोमे 'कलात्मक प्रभाव'के बदले 'विषय' पर अधिक बल दिया जाने लगा। वे चाहते हैं कि कहानीमे 'यन्त्र चित्रकी सटीकता' (फोटोग्राफिक रीएलिटी) हो और जो कुछ लिखा जाय उसके ऐसे 'लेख-बद्ध प्रामाणिक साक्ष्य' (डौक्यूमेन्टरी प्रूफ) हो, जिनमें जीवनकी वास्तविकताओंका चित्रण हो, किसी कलात्मक सिद्धान्तके ही सत्यका चित्रण-मात्र नहीं। पो स्वय योरपीय परिपाटीसे प्रभावित था। जर्मनीके स्वैरवादी गोथिकोने उन्नीसवीं शताब्दीकी छोटी कहानियोपर अपनी छाप छोड ही दी थी। 'नौवेले' ने जर्मनोको अधिक आकृष्ट किया जिसका प्रचार गेटे, कैलर और फर्डिनेन्ड मेयरने किया था। फ्रान्सी-सियोका भी प्रभाव कुछ कम नहीं था क्योकि 'छोटी कहानी' (कौन्ते) मे मूसेने चञ्चलता और तरलतापन, मैरिमीने नाटकीयता, दौदेने भाविकताकी श्रेणीतक पहुँचा हुआ भावावेग (सेन्टीमेट), और मोपासाँने सूक्ष्मता तथा सशक्त सक्षेप-वृत्ति भरी। सयुक्तराज्य अमरीकामे अन्ताराष्ट्रिय स्वत्त्वाधिकार (कापी-राइट) न होनेसे, पत्र-पत्रिकाओ की बहुतायत होनेसे, लम्बी कहानियोकी परम्परा होनेसे और जीवनमे बहुत व्यस्तता और यान्त्रिकता होनेसे छोटी कहानीका बहुत विकास हुआ। भूगोलमे विशेष रुचि होनेके कारण वहाँ 'स्थानीय चित्रण'

(लोकल कलरिंग) वाली कहानियाँ भी बहुत चलीं। इसी धारामें किपलिङ्गने भारतीय कहानियोंको लेकर और विदेशी स्थानोंकी कहानियोंको प्रोत्साहन देते हुए प्रदेशवाद (रीजनलिज्म) का विस्तार किया।

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें अमरीकी छोटी कहानियोंने ओ० हेनरी (विलियम सिडनी पोर्टर) के हाथों एक नया रूप ग्रहण किया। स्थानीय चित्रणकी परम्परासे उसने प्रादेशिक चित्रणका प्रयोग लिया, लम्बी कहानियोंसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-प्रणाली ग्रहणकी, फ्रांससे नाटकीय सन्क्षेपवृत्ति और व्यंग्यात्मकवृत्ति ग्रहण की, पत्रकारितासे वेग और तात्कालिका ग्रहण की तथा पोसे उसने एकाकी प्रभावकी वृत्ति ग्रहण की। किन्तु वर्त्तमान छोटी कहानियोंको वर्तमान रूपमें ढालनेका सबसे अधिक श्रेय रूसके कहानीकार आन्तोन चेखवको है। बाह्य चित्रण तथा कथावस्तुकी छोटी-सी जटिलताके साथ जीवनका एक छोटा-सा खण्ड उपस्थित करनेकी जो प्रणाली उसने चलाई उसने सब कहानी लेखक-सम्प्रदायोंको प्रभावित किया है। उसने केवल 'प्रभावके लिये प्रभाव उत्पन्न करने'के बदले 'जीवनके लिये प्रभाव उत्पन्न करने'की चेष्टा की। इन कहानियोंमें समाजवादी या मनोविज्ञानवादी सामग्रीका महत्त्व बढता जा रहा है। इन कहानी-लेखकोंका आदर्श है कि 'कमसे कम स्थानमें जीवनका अधिकसे अधिक भाग समेटकर प्रस्तुत कर दिया जाय।' यही कारण है कि कलात्मक (साहित्यिक) कहानीमें और चातुर्यपूर्ण (लोकप्रिय) कहानीमें बड़ा भारी अन्तर हो गया है। अधिकांश छोटी कहानियाँ अत्यन्त वेगशील, पठनीय, नाटकीय उत्कर्षसे पूर्ण और अद्भुतके तत्त्वसे पूर्ण होती हैं। वे सबकी सब साधारण जनताके लिये लिखी जाती हैं। इनमें कुछ तो ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें विषय और शैलीका उपयुक्त समन्वय हो पाया है, शैली पूर्णतः निराली तथा व्यक्तिगत हो गई है और अन्त भी स्वाभाविक और अपरिहार्य हो गया है। ऐसी कहानियाँ कभी-कभी कुछ गिनी-

चुनी पत्रिकाओंमें या पुस्तक रूपमें प्रकाशित होती रहती है। साधारण लोकप्रिय कहानीमें ओ० हेनरी द्वारा प्रभावित पोकी परम्परा ही चलती रही है जिसमें नाटकीय कथानकपर फ्रांसीसी प्रभाव दिखाई पड़ता है और यही साहित्यक कहानी का मान्य आदर्श है। कहानीमें 'जीवनका खण्ड' दिखानेकी परम्पराने हमारे उन युवक यथार्थवादियो-को अधिक प्रभावित किया है, जो रूप या शैलीको अधिक महत्त्व देते है। हैनरी जेम्सने अब छोटी कहानीकी कथा लम्बी कर दी है।

नौवेले

उन्नीसवीं शताब्दीमे जर्मनीमें उपन्याससे छोटी-छोटी गद्य-कथाएँ 'नावेले' नामसे विकसित हुईं। श्लैगेल और गेटेने उसकी परिभाषा बताते हुए कहा—'नौवेले वह कथा है जिसमें एक ही विचित्र तथा वास्तविक घटना हो।' हेसेने १८७१ मे कहा कि 'इसमें एक पूर्ण रूपरेखा होनी चाहिए और चरमोत्कर्ष होना चाहिए।' धीरे-धीरे यही 'छोटी कहानी' के रूपमे अभ्युदित हुआ।

कौन्ते

फ्रांसमे प्रारम्भमे किसी प्रकारकी भी छोटी काल्पनिक कहानीको 'कौन्ते' कहते थे किन्तु अब तो वास्तविक 'छोटी कहानी' (शौर्ट स्टोरी) को ही 'कौन्ते' कहते है, जो 'नाउवेल' और 'रोमाँ' से भिन्न हैं। ये 'कौन्ते' सक्षिप्त होते है और इनकी कथावस्तुकी रचना अत्यन्त परिमित होती है।

अति लघु कथा (शौर्ट-शौर्ट स्टोरी)

अति लघु-कथा एक प्रकारका अत्यन्त सूक्ष्म कथा-रूप होता है, जिसमे सौसे डेढ सहस्रतक शब्द होते हैं। अमेरिकाके पत्रोंमें इनका बडा प्रचार है क्योकि ये उनके पत्रोके एक पृष्ठमे समा जाती हैं। इन कहानियोमे एक घटना या एक दृश्य होता है जिसे वे 'ओ० हेनरी-पर्यवसान' (ओ० हेनरी एन्डिङ्ग) शैलीसे समाप्त करते हैं क्योकि उनका

अन्त किसी आकस्मिक घटना या प्रायः करुण दुर्भाग्यपूर्ण घटनासे होता है।

इसी प्रकार सक्षिप्त तथा अत्यन्त कोमल शब्दावलीमे किसी घटनाका चित्रण ही 'विगनेत्ते' कहलाता है जो छोटी कहानीके समान होते हुए भी उससे पूर्णतः भिन्न होता है।

छोटी कहानीके तत्त्व

छोटी कहानीके निम्नलिखित तत्त्व है—

१ एक ही परिणाम या एक ही प्रभाववाली पूर्ण आवश्यक घटना।

२. उस घटनासे सम्बद्ध पात्र।

३. उन पात्रोका बाह्य तथा मानसिक द्वन्द्व।

४. बाह्य तथा मानसिक द्वन्द्वको स्पष्ट करनेवाली भावानुरूप भाषा-शैली।

५. एक ही परिणाम या प्रभाव।

६. सक्षिप्तता अर्थात् एक बैठकमे पढी जा सकनेवाली।

एलेन पोने बताया था कि 'कहानीमे एक अपनी पूर्णता (टोटैलिटी) होती है जो लम्बे उपन्यासमे नहीं होती।' ब्रेन्डर मैथ्यूजने 'छोटी कहानीका दर्शन' शीर्षक निबन्धमे कहा है—'वास्तविक 'छोटी कहानी' उस कहानीसे भिन्न है जो 'छोटी' होती है। छोटी कहानी केवल एक ही प्रभाव उत्पन्न करती है और उपन्यास अनेक प्रभाव उत्पन्न करता है। फ्रासीसी उदात्त नाटकके तीनो एकत्व (थ्री यूनिटीज) भी छोटी कहानीमे प्राप्त होते है क्योकि उसमे एक दिनका, एक स्थान पर होनेवाला, एक ही व्यापार या कार्य होता है। छोटी कहानीमे एक चरित्र, एक घटना, एक मनोवेग या एकही स्थितिसे उत्पन्न मनोवेग-वाला होती है।'

छोटी कहानीका प्रथम गुण यह है कि उसके सब अङ्ग

परस्पर पूर्णतः गुथे हुए हो, अलग न प्रतीत हो। छोटी कहानीका दूसरा गुण है संक्षिप्तता। छोटी कहानी इतने विषय, प्रकार, कौशल तथा आरम्भ और अन्तके इतने नये प्रयोगोके साथ लिखी गई है कि सबकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। प्रथम जर्मन महायुद्धके पश्चात् एक नई प्रकारकी छोटी कहानियाँ प्रारम्भ हुई, जिनमे वास्तविक जीवनका चित्रण प्रारम्भ किया गया और नर और नारीके पारस्परिक सम्बन्धोका भी नग्न तथा स्पष्ट चित्रण होने लगा। इन सबपर रूसके आन्तोन चेखवका बडा प्रभाव पडा और इन नये विद्रोहियोने छोटी कहानीके चले आते हुए रूपकी हँसी उडाना प्रारम्भ किया। उसके बदले एक नई सूचनात्मक कथा आने लगी है जिसमे न कथा होती है न उदात्त भाव, वरन् निम्न कोटिके मनुष्योका चित्रण ही अत्यन्त असयत रूपसे होने लगा है।

परिभाषा

अत छोटी कहानीकी परिभाषा यह होगी—

'छोटी कहानी वह सुसम्बद्ध, सक्षिप्त तथा पूर्ण कहानी है, जो कौशलपूर्ण रचना शैलीमे, भावानुकूल भाषा-शैलीमे कही गई हो और जो पाठकके मनपर एक ही प्रभाव डाले और उसका एकही परिणाम हो।

छोटी कहानीकी समीक्षा

छोटी कहानीकी समीक्षा करते समय निम्नाकिन प्रश्नोपर ध्यान देकर रचना करनी चाहिए—

१. कथाकारका क्या उद्देश्य है ? कथाकार कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है या केवल मनोविनोद ?

२. कथाकारने एक ही घटना ली है या नहीं ? उसने भूलसे किसी अनेक घटनाओवाली कथाको छोटा करके कहना ही तो छोटी-कहानी नहीं समझ लिया ?

३. वह कथा अपनेमे पूर्ण—आदि, मध्य और अन्त सहित—है या

नहीं और वह साधारणतः एक बैठकमे पढी जाकर (आध या पौन घण्टेमे) एक ही प्रभाव उत्पन्न करती है या नहीं ?

४. उसकी भाषा-शैली कथाके अनुरूप तथा पाठकोकी समझमे आ सकनेवाली है या नहीं ?

५ पात्रोके चरित्र और सवाद उनकी मर्यादा और प्रकृति तथा परिस्थितिके अनुकूल हैं या नहीं ?

६. कहानीको रुचिकर बनानेके लिये लेखकने किस कौशलका आश्रय लिया है—

(क) प्रारम्भ कैसे किया है ?

(ख) कहानीकी घटनाको प्रभावशाली बनानेके लिये बाह्य द्वन्द्व तथा पात्रोके मानसिक द्वन्द्वका किस प्रकार समन्वय किया है ?

(ग) चरमोत्कर्षपर कहानी समाप्त कर दी या उपसहार भी किया है ?

(घ) कहानीका अन्त कहाँतक उचित और न्याय सङ्गत हुआ है ?

(ङ) किस पुरुषमे कहानी कही गई—१. प्रथम पुरुष, २. मध्यम पुरुष या ३. उत्तम पुरुषमे ?

(च) किस रूपमे कहानी कही गई—वर्णन, पत्र, सवाद, भाषण, समाचार आदि ।

७. किस वाद, सम्प्रदाय, नीति, सिद्धान्त या प्रभावको दृष्टिमे रखकर लिखी गई और उसकी सिद्धिमे लेखक कहाँतक सफल हुआ ?

८. लेखकका व्यक्तित्व या उसकी अपनी धारणाएँ कहाँतक व्यक्त हुई हैं ?

९. अनावश्यक वर्णन या विस्तार तो नहीं है ?

१०. कथाका मनपर क्या प्रभाव पड सकता है और वह नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिसे कहाँतक वाञ्छनीय है ?

११. उसमे क्या मौलिकता है और लेखकने किन सुन्दर, अद्भुत तथा असाधारण तत्त्वोका सन्निवेश किया है ?

१२. आपको जो दोप प्रतीत होते है उनका आप कैसे मार्जन करते ?

३

दृश्य-काव्य

काव्यके सब रूपोमे नाटक* ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। हमारे यहाँके आचार्योंने स्पष्ट कहा है—'काव्येपु नाटक रम्यम्' [काव्योमे नाटक ही सबसे अधिक सुन्दर है।] यूनानमे अरस्तूने भी त्रासद और महाकाव्यकी तुलना करते हुए त्रासद 'नाटक' को ही श्रेष्ठतर ठहराया है। महाकवि कालिदासने भी मालविकाग्निमित्रमे नाटककी प्रशंसा करते हुए कहा है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधनम्' [अलग- अलग रुचिवाले सब लोगोको समान रूपसे तृप्त करनेवाला एक नाटक ही है।]

नाटकका उद्देश्य

हमारे यहाँ भरतने अपने नाट्यशास्त्रमे नाटकको 'विनोदजननम्' (सबका मन बहलानेवाला), हितोपदेशजननम्' (हितकर उपदेश देनेवाला), विश्रान्तिजननम्' (शान्ति देनेवाला) और इन सबके साथ धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि बढानेवाला बताया है। इसकी प्रशंसा करते हुए नन्दिकेश्वरने अपने अभिनय-दर्पणमें इसे 'अपि ब्रह्मपरानन्दादिमभ्यधिकम्' (ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द देनेवाला) बताया है। योरपमे अरस्तूने नाट्यका उद्देश्य भावोका रेचन या परिष्कार (कथार्सिस) बताया है। नाटकमें भूत, भविष्य, वर्तमान ससारके सभी वास्तविक और काल्पनिक विषय आ सकते है।

नाट्यकी उत्पत्ति

भरतने अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें ही कथा दी है कि 'इन्द्र आदि देवताओंने जाकर ब्रह्माजीसे कहा कि हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं, जो देखा भी जा सके, सुना भी जा सके और जिसमे सब वर्णके लोग आनन्द ले सकें।

तब ब्रह्माजीने ऐसा नाट्यवेद बनाया, जिसमे ससारके सब कार्योंका अनुकरण दिखाया जा सके, सब शास्त्रोंके तत्त्व और शिल्प भरे हो। इसके लिये पढने या बोलनेका अश (पाठ्य) तो उन्होने लिया ऋग्वेदसे, गीत लिया सामवेदसे, अभिनय लिए यजुर्वेदसे और श्रृङ्गार आदि रस लिए अथर्ववेदसे। इस नाट्यका प्रयोग कराया भरतने, इसमे महादेवजीने ताण्डव अर्थात् उद्धत नृत्त और पार्वतीजी लास्य या कोमल नृत्त जोड़ा।' भावप्रकाशनम्के रचयिता शारदातनयने कथा दी है कि 'शिवजीने नन्दीको आज्ञा दी की गन्धर्ववेदके सब तत्त्व ब्रह्माजीको बता दो। ब्रह्माजीने सब कुछ सीखकर नटकी कल्पना की। पॉच शिष्योके साथ एक मुनि आकर प्रकट हो गए जिन्हे ब्रह्माजीने नाट्यवेद दे दिया। वे ही लोग भरत कहलाए और उन्हींके नामपर नाट्यवेद भी भरत कहलाता है।' इस विवरणसे इतनी बातें सिद्ध होती हैं—

१. नाट्यका जन्म ससारकी चिन्ताओंको भुला देनेके उद्देश्यसे हुआ।

२. ब्रह्माजी इसके आदि स्रष्टा हैं।

३. वेदोके तत्त्व मिलाकर ही नाट्य बनाया गया।

४. नाट्यमे पाठ्य, गीत, अभिनय और रस चारो होते थे।

५. नाट्यका द्वार सबके लिये खुला था।

नाट्य, नृत्य और नृत्त

नट्, नृत् और णट् तीन अलग अलग धातुएँ हैं, जिनसे क्रमशः

'नाट्य, नृत्य और नृत्त' शब्द बनते हैं। किसी वाक्यके अर्थको अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करनेको नाट्य कहते हैं (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रय नाट्यम्)। एक शब्दके अर्थका अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करनेको नृत्य कहते हैं (पदार्थाभिनय भावाश्रय नृत्यम्)। ताल और लयके साथ हाथ-पैर चलानेको नृत्त कहते हैं (नृत्तं ताललयाश्रयम्)।

नाट्योत्पत्तिके सिद्धान्त

मैक्डौनलने ऋग्वेदके सरमा और पणिस, यम और यमी तथा पुरूरवा और उर्वशीके संवाद सूत्रोको ही भारतीय नाट्यका मूल माना है। कीथने इन सवादोंको आख्यान कहा है, इसलिये इस सिद्धान्तका नाम ही आख्यान सिद्धान्त है, जिसका प्रवर्तन किया विन्डिश और ओल्डेनबर्गने और समर्थन किया पिशेल और गैल्डेनरने। मैक्समूलरने नाट्यकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डसे बताई, जिसका समर्थन सिलवन लेवी, औएडेर और हर्टेलने किया है।

मैक्डोनलने नाटक शब्द 'नृत्' धातुसे निकला मानकर नाचसे ही नाटककी उत्पत्ति बताई है। पिशेलने कठपुतलियोके नाचसे ही हमारे नाटकोकी उत्पत्ति बतलाई। पिशेलने यह भी मत प्रतिपादित किया कि 'उन छाया-नाटकोसे नाटकोकी उत्पत्ति हुई, जिनका प्रचार मलाया, कम्बोदिया, श्याम, चीन आदि देशोमे है।' इसका समर्थन ल्यूडर्सन, कोनो और लेवीने भी किया है। कुछ लोग वीर-पूजाकी वृत्तिको ही नाटककी उत्पत्तिका कारण मानते है। इसी प्रकार कीथने कहा है कि 'प्रकृतिमे जो जाडा, गर्मी, वर्षा आदि परिवर्त्तन होते है, वे सब रूपक बनाकर नाटकमे दिखाए जाते हैं।' पर अपने पीछेके ग्रन्थोमे कीथने इसे अस्वीकार कर दिया। अभिनव भरतने अपने अभिनव-नाट्यशास्त्रमे इन सब मतोका खण्डन किया है। कुछ लोगोने यूनानी नाटकसे ही भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति बताई है, पर यह मत ठीक नहीं है क्योकि—१. यूनानी नाटकोमे समवेत गानका प्राधान्य था २. अभिनेताओ

की सख्या एकसे प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढी थी। ३. अभिनेता-गण मुँहपर मुखौटा और पैरोमे ऊँचे खडाऊँ बाँधकर आते थे। ४. यूनानी रङ्गशालामे नाटकके साथ समवेत गीत होता था। ५. उनकी रङ्गशाला किसी पहाडीकी ढालपर गोल सीढीके रूपमे बनी होती थी। ६. उनके नाटक या तो भय और करुणा उत्पन्न करनेवाले त्रासद होते थे या फूहड गीतो और व्यग्योसे भरे परिहास होते थे। ७. दिअनुससके उत्सवोपर ही नाटक होते थे और दो-दो, तीन-तीन दिनतक चलते रहते थे।

यूनानमे धर्मोत्सवो तथा उन स्तोत्रोसे नाटककी उत्पत्ति हुई, जो यूनानके दिअनुसस या बाखस देवताकी उपासनामे गाए जाते थे। गायक लोग अपना आधा शरीर बकरेके चर्मसे ढककर जो उग्र स्तोत्र गाया करते थे, उन्हे लोग 'बकरीका गीत' (त्रैगोद।) कहते थे। इन्हींमे नाटककारोने अभिनेताओका समावेश करके नाटक बनाए, जिन्हे वे त्रासद (ट्रेजेडी या त्रैगोदी) कहने लगे। इसी प्रकार कृषिके लिये एक प्रजनन उत्सव होता था, जिसमे लोग पुरुषके लिङ्गका कृत्रिम रूप बनाकर खेतमें घुमाते थे और लिङ्ग-सम्बन्धी फूहड गीत गाते थे। इन्हींसे प्रहसनोकी उत्पत्ति हुई, जिनमे अभिनेता लोग कृत्रिम पुरुष-जननेन्द्रिय लगाकर अभिनय किया करते थे। रोमके नाटकोकी उत्पत्ति इत्रूरियावालोके नृत्य और अभिनयसे हुई, जो वहाँके लूदी या विनोदपूर्ण (फ सेनाइन) पद्योके मेलसे विकसित हुए, किन्तु वहाँके नाटकोकी उत्पत्तिका ठीक विवरण सन्देहास्पद है। चीनमे वान् ते नामक चीनी सम्राट्ने नाटकका आविष्कार किया। जापानमे धार्मिक और सामाजिक कारणोसे नाटकोकी उत्पत्ति हुई और फारस आदिमे तो पूर्ण अभाव ही रहा। अब थोड़े समयसे वहाँ 'शबबाजी' नामके कुछ प्रहसनात्मक प्रयोग होने लगे है। इसके अतिरिक्त मर्सिए और तगलीब (छद्मवेश) का कुछ-कुछ प्रदर्शन हुआ करता है। दूसरे प्रकारके फारसी नाटक 'तमाशा' चले हैं, जो प्रहसन या भड़ैतीके प्रकारके होते

हैं। अभिनवभरतका मत है कि 'स्वभावतः मनुष्य प्रारम्भसे ही सबका अनुकरण करनेमे आनन्द प्राप्त करता रहा है अतः आङ्गिक, वाचिक तथा सात्त्विक अनुकरणके द्वारा केवल लोगोका मनोरञ्जन करके, उन्हे सांसारिक चिन्ताओसे मुक्त करनेके लिये तथा विशेष पर्वों और उत्सबोको सङ्गीत, कथा और अभिनयसे सुन्दर बनाकर मनोविनोद और उपदेश देनेके लिये नाट्यकी सृष्टि की गई।'

अभिनवभरतने नाटककी यह परिभाषा की है—'किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर नाट्यकार द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता-द्वारा सिखाए हुए नट जब जनताके सम्मुख अभिनय, संवाद तथा सङ्गीतादिके द्वारा प्रेक्षकोके मनमे रस उत्पन्न करके उनका मनोविनोद करते हैं तथा उस विनोदसे उपदेश और मन.शान्ति प्राप्त करते हैं तब वह सम्पूर्ण प्रयोग ही नाटक या रूपक कहलाता है।'

काल-स्थान कार्यका एकत्व (यूनिटी ऑफ़ टाइम, प्ले स एंड ऐक्शन)

योरपके अनेक आचार्योंका मत है कि 'नाटकका वृत्त एक ही स्थानका हो, एक ही कालका हो और केवल एक ही व्यापार या घटनासे सम्बद्ध हो, अर्थात् किसी नाटकमे एकसे अधिक स्थानोका प्रदर्शन न हो, एकसे अधिक कालका विवरण न हो और उसमे एकसे अधिक व्यापार या इतिवृत्त न हो।' इन नाटकीय एकत्वोको फ्रासवालोने बहुत महत्ता प्रदान की। हिन्दीवालोने भूलसे इसे सकलन-त्रयका सिद्धान्त कहना प्रारभ किया जो होना चाहिए एकत्व-त्रय।

जहाँतक समय और स्थान एक होनेकी बात है, वह अत्यन्त अव्यावहारिक तथा अस्वाभाविक है क्योकि एक व्यापार या कार्य न जाने कितने दिनो और कितने विभिन्न स्थानोमे पूर्ण होता है। उसे एक दिनमे, एक स्थानमे कैसे बाँधा जा सकता है? इसीलिये किसी अच्छे नाटककारने एक ही स्थान और समयमे सब कार्य पूरा करनेका प्रतिबन्ध नहीं माना है।

नाट्य रूढियाँ

सभी नाटककारोने कुछ निश्चित रूढियोका नियमित रूपसे पालन किया है । नान्दी, पूर्वरङ्ग-प्रस्तावना, नाटक-वस्तु और नाटककारका परिचय, कुछ गिने-चुने कार्योंका निषेध, सूत्रधार और नटी, स्वगत-कथन, भरतवाक्य आदि ऐसी बातें है जो समान रूपसे हमारे सभी नाटकोमे पाई जाती है। जिस प्रकार हमारे यहाँ पूर्वरङ्ग-प्रस्तावना और भरतवाक्यका विधान है, उसी प्रकार यूनानी नाटकोमे पूर्वकथन (प्रोलोग) और उपसहार (एपीलोग) का विधान था ।

प्रस्तावना

नाटककी प्रस्तावनामे नाटक और कविका परिचय देना भी बडी प्राचीन रूढि थी। प्रायः हमारे सभी नाटकोमे नाटककारोने तीन बातोका परिचय दिया है—१.अपना, २. नाटककी वस्तुका और ३. नाटक खेलनेके अवसरका। ऐसी प्रस्तावना होनी ही चाहिए जिससे नाटककी कथा समझते चलनेमे सुविधा हो।

निषेध

हमारे यहाँ कुछ बातें नाट्य-निषिद्ध भी बताई गई हैं। नाट्य-शास्त्रके बीसवें अध्यायमे भरत कहते हैं—

क्रोध, पागलपन, शोक, ताप, परित्याग (मलत्यागकी मुद्रा), भगदड या खलबली, विवाह और अद्भुत रससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखलाई जायँ किन्तु युद्ध, राज्यविप्लव, मरण, नगरका घेरा आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखलाकर उनकी सूचना दे देनी चाहिए।

अर्थात् तीन प्रकारके कार्य निषिद्ध बतलाए गए गए है—१. जो साधारण लोकमे भी सबके सामने नहीं किए जाते, २. जो भयकर, वीभत्स और लोम-हर्षक हो जैसे मृत्यु, ३. जिन्हे किसी भी प्रकार रङ्गमञ्चपर दिखाना सम्भव न हो, जैसे युद्ध, राज्य-विप्लव।

श्राव्य और अश्राव्य सवाद

प्राचीन नाट्याचार्योंने सवाद तीन प्रकारके बताए है—१. सर्वश्राव्य, २. नियत-श्राव्य और ३. अश्राव्य । जो सबके सुननेके लिये हो अर्थात् रङ्गमञ्चपर उपस्थित पात्रोके भी सुननेके लिए हो उसे सर्वश्राव्य या प्रकाशवचन कहते है । जो सबके लिये अश्राव्य हो उसे 'स्वगत' कहते हैं । जो कुछ निश्चित लोगोके सुननेके लिये हो उसे 'नियत श्राव्य' कहते हैं । ये दो प्रकारके होते हैं—१. जनान्तिक और २. अपवारित । 'जनान्तिक' उस समय कहते हैं, जब त्रिपताका-मुद्रासे रङ्गमञ्चपर उपस्थित अन्य लोगोकी ओट करके दो व्यक्ति परस्पर बातचीत करते हैं। 'अपवारित' उस समय कहते हैं, जब उपस्थित व्यक्तिकी ओरसे घूमकर उसका कोई रहस्य कहा जाता है । इनके अतिरिक्त एक 'आकाश-भासित' भी होता है, जहाँ बिना दूसरे पात्रके ही एक पात्र आकाशकी ओर देखकर इस प्रकार प्रश्न करता और उत्तर देता हे मानो वह किसीसे बातचीत कर रहा हो ।

नाटकके तत्त्व

नाटकको 'दृश्य' या 'रूपक' बताते हुए साहित्यदर्पणमे कहा गया है—दृश्य तत्राभिनेय स्याद्रूपारापात्तु रूपकम् ॥ [नाटकका अभिनय करके दिखलाया जाता है, इसलिये इसे दृश्य कहते हैं और इसके अनुसार (नटोमे रामादि-चरित्रोका) आरोप होता है, इसलिये इसे रूपक कहते है ।]

बहुतसे विद्वानोने कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देश-काल और उद्देश्य ये छह तत्त्व माने है । कुछने इनमे पात्रके स्थानपर चरित्र-चित्रण और देश-काल निकालकर कुतूहल, घात-प्रतिघात अर्थात् द्वन्द्व और अभिनयशीलता ये तीन तत्त्व और बढ़ा दिए है । किन्तु ये सब तत्त्व नहीं है । रचनाकी दृष्टिसे नाटकके तीन तत्त्व होते है, जिनके बिना नाटक रचा ही नहीं जा सकता—

१ कथा : जिसके अन्तर्गत एक नायकके जीवनके किसी एक इतिवृत्तके सम्बन्धकी घटनाओका वर्णन हो। अर्थात् नायक, नायिका, पात्र, स्थान तथा व्यापारके पूर्ण संयोजन को कथा कहते है। इसके अन्तर्गत ही कथावस्तु, पात्र, देश-काल, और उद्देश्य आ जाते है। कुतूहल और द्वन्द्वका समावेश भी इसके ही अन्तर्गत होता है।

२. सवाद : जिसके अन्तर्गत कथामे आए हुए विभिन्न पात्रोका परस्पर वार्त्तालाप हो और यह वार्त्तालाप पात्रोके चरित्र और कथाके प्रसारमे योग देता हो। इसके अन्तर्गत शैली और कथोपकथन आ जाते है।

३. रङ्ग-निर्देश : जिसके अन्तर्गत रङ्ग-व्यवस्थापको तथा अभिनेताओ के लिये दिए हुए निर्देश हो। इसके अन्तर्गत सब प्रकारके अभिनय आ जाते है।

किसी वस्तुके तत्त्व कहनेका यह अभिप्राय है कि यदि उसमेंसे एक तत्त्व भी निकल जाय तो वह वस्तु निरर्थक हो जाय।

कथा वस्तु

कथा-तत्त्वके दो अवयव होते है—वस्तु और पात्र। घटनाओके गुम्फनको वस्तु कहते है और पात्र वे हैं जो उन घटनाओ और क्रियाओमे साधक होते हैं, अर्थात् कथाके दो कारण होते है—घटना और पात्र। कथा कार्य है, घटना और पात्र कारण है। इसलिये कथा ही मूल तत्त्व है। देश-काल कोई तत्त्व ही नहीं है। यह तो कथा-वस्तु और पात्र दोनों में निहित है। कोई भी घटना या पात्र किसी विशेष देश या कालसे ही सम्बद्ध होगे, कथा स्वय उनका विवरण देगी। देश और काल वस्तुके ही अङ्ग है, वे कोई अलग तत्त्व नहीं। शैली भी कोई तत्त्व नहीं है, वह तो सवादका साधन है। शैली और सवादको अलग तत्त्व मानना ही बड़ा भारी भ्रम है, और उद्देश्य तो साध्य है, वह तत्त्व कैसे हो सकता है?

अरस्तूने अपने 'काव्य-शास्त्र' में त्रासदके छह तत्त्व बताए हैं—१. इतिवृत्त, २. आचार, ३. विचार, ४. वर्णन-शैली ५. दृश्य और ६. गीत।

अरस्तूके बताए हुए तत्त्वोमें इतिवृत्त तो वही है जिसे हमने कथा-तत्त्व कहा है। विचार और आचारका सम्बन्ध पात्रोके चरित्र और व्यापारसे है। अतः वह भी कथाका ही अश है। वर्णन-शैली सवादके अन्तर्गत आ ही जाती है। दृश्यके विषयमे स्वय अरस्तूने कहा है कि 'दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रङ्ग-सञ्चालकपर अधिक अवलम्बित है', फिर भी अरस्तूने उसे नाटकका तत्त्व मान लिया यह आश्चर्यकी ही बात है। रही गीतकी बात, वह यूनानी रङ्गशालाकी अपनी विशेषता थी। इसलिये अरस्तूने उसे 'त्रासदकी सब सौन्दर्य-वर्द्धक वस्तुओमे सर्वोच्च' स्थान दिया है क्योकि यूनानी त्रासदोका आधार ही गीत था। किन्तु वह परम्परा यूनान और रोमके नाटकोके साथ समाप्त हो गई। अरस्तूके बताए हुए तत्त्वोका विवेचन करनेपर तीन ही प्रधान तत्त्व रह जाते है—१. कथा (इतिवृत्त, आचार और विचार), २. संवाद (वर्णन-शैली और गीत) और ३. रङ्ग-निर्देश (अभिनय और दृश्य-विधान)।

वहुतसे आचार्योंने दशरूपकके—'वस्तुनेतारसस्तेषा भेदकः' [वस्तु, नेता अर्थात् नायक और रसके कारण उनके (रूपको, उपरूपकोके) भेद किए गए हैं।] के आधारपर वस्तु, नेता और रसको भूलसे नाटकका तत्त्व मान लिया है। वास्तवमे रूपको और उपरूपकोके भेद इसी आधारपर हैं कि उनमे या तो किसी प्रकारकी विशेष वस्तु है या कोई विशेष प्रकारका नायक है या किसी विशेष प्रकारका रस है। उन्हे तत्त्व नहीं मानना चाहिए।

संविधानक

इतिवृत्त और संविधानकमें भेद

कथा (इतिवृत्त) तथा कथावस्तु (सविधानक) को एक नहीं

समझना चाहिए । इतिवृत्त या कथा किसी नाटकके लिये आधार मात्र है, उसमे जितने पात्र होते हैं या जिस क्रमसे घटनाएँ होती है, उतने पात्र या उतनी घटनाएँ नाटकके लिये या तो पर्याप्त नहीं होतीं या आवश्यकतासे अधिक होती हैं । इतिवृत्त या कथा उस घटनाक्रमको कहते हैं जिसमे किसी नायकके जीवनका पूर्ण चरित आ जाय । किन्तु अङ्को और दृश्योके अनुसार घटनाओकी ऐसी सजावटको सविधानक या कथावस्तु कहते हैं, जिसमे नाटकीय प्रदर्शनकी दृष्टिसे घटनाओका वह क्रमिक ढाँचा आ जाय ।

सविधानक (कथा-वस्तु) की रचना ही नाट्य-रचनाका मुख्य कौशल है । यह रचना-कौशल कई बातोपर अवलम्बित है—१. नायक या नायिकाके प्रति विशेष भावना, २ कथाका विषय, ३. प्रदशन करनेका ढङ्ग, ४. रङ्गपीठ, ५, अवसर, ६. नाटकका विस्तार, ७ जनताकी रुचि और ८. नाटककारके अपने सिद्धान्त । ये सब बातें मिलकर नाटककी कथा-वस्तुका साँचा बनानेमे योग देती हैं ।

आधिकारिक और प्रासङ्गिक कथावस्तु

हमारे यहाँ वस्तु दो प्रकारकी मानी गई है—१. आधिकारिक और २. प्रासङ्गिक । कथा-वस्तुके मुख्य व्यापार (कार्य) को आधिकारिक जैसे रामका चरित और गौण व्यापारको प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं जिसका उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तुकी सौन्दर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापारके विकासमें सहायता देना हो जैसे सुग्रीवका चरित ।

प्रासङ्गिक कथा-वस्तुके दो भेद हैं—१. पताका और २. प्रकरी । जब कथावस्तु बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं, जब वह थोडे कालतक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं ।

पताका-स्थानक

जहाँ प्रस्तुत भाव कुछ हो किन्तु सहसा कोई नया भाव प्रकट होकर कुछ और ही सूचना दे डाले, वहाँ 'पताका-स्थानक' होता है।

अर्थ-प्रकृति

कथावस्तुको प्रधान फलकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंशोको 'अर्थ-प्रकृति' कहते है। नाटकके अर्थमे अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्तिके लिये जो उपाय किए जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति है। इनके पॉच भेद माने गए हैं—१. बीज : मुख्य फलके लिये जो कथा-भाग क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परन्तु ज्यो-ज्यो व्यापार-शृङ्खला आगे बढती जाती है त्यो-त्यो इसका भी विस्तार होता जाता है। २. बिन्दु : जो बात कारण बनकर बीचकी कथाको आगे बढ़ाती है और प्रधान कथाको भी बनाए रखती है। ३. पताका : निरन्तर चलती हुई प्रासङ्गिक कथा। पताका नामक कथाशके नायककी समस्त चेष्टाएँ प्रधान नायकके फलको सिद्ध करनेके लिये ही होती है और गर्भ या विमर्श-सन्धिमे उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीवकी राज्य-प्राप्ति। ४. प्रकरी प्रसङ्गमे आए हुए एकदेशीय अर्थात् छोटे-छोटे वृत्त, जैसे रामायणमे रावण और जटायुका संवाद। प्रकरी-नायकका भी कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं होता। ५. कार्य : जिस परिणामके लिये सब उपायोका आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धिके लिये सब सामग्री इकट्ठी की गई हो, जैसे रामायणमे रावणका वध।

अवस्था

प्रत्येक नाटकमे कार्य या व्यापार-शृङ्खलाकी पॉच अवस्थाएँ होती हैं—१. आरम्भ : जिसमे किसी फलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है, २. प्रयत्न : जिसमे उस फलकी प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग किया जाता है, ३. प्राप्त्याशा अथवा 'प्राप्ति-सम्भव' : जिसमे सफलताकी सम्भावना जान पड़ती है, किन्तु साथ ही विफलताकी आशङ्का भी बनी

रहती है, ४ नियताप्ति : जिसमे सफलता निश्चय हो जाती है, ५. फलागम : जिसमे सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्यकी सिद्धिके साथ ही अन्य समस्त सञ्चित फलोकी प्राप्ति हो जाती है।

सन्धियाँ

कथाकी उपर्यङ्कित पाँच अवस्थाओके योगसे अर्थ-प्रकृतियोके रूपमे फैले हुए कथानकके पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजनको साधनेवाली विभिन्न कथाओका नाटकके किसी एक प्रयोजनके साथ सम्बद्ध होनेको 'सन्धि' कहते है। ये पाँच प्रकारकी होती हैं—

(क) मुख सन्धि : 'प्रारम्भ' नामक अवस्थाके साथ संयोग होनेसे जहाँ अनेक अर्थों और रसोके व्यञ्जक 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृतिकी उत्पत्ति हो उसे 'मुख-सन्धि' कहते हैं।

(ख) प्रतिमुख-सन्धि : मुख-सन्धिमे दिखलाए हुए बीजका जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीतिसे उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फलका साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख-सन्धि' कहते हैं। प्रतिमुख-सन्धि 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिन्दु' अर्थ-प्रकृतिके समान कार्य-शृङ्खलाको अग्रसर करती है। 'प्रयत्न' अवस्थामे फल-प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग होता है, 'बिन्दु' अर्थ-प्रकृतिमे कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढती है तथा प्रतिमुख-सन्धिमे मुख-सन्धिके प्रधान फलका किञ्चिन्मात्र विकास होता है।

(ग) गर्भ-सन्धि : इसमे प्रतिमुख सन्धिके किञ्चित् प्रकाशित बीजका बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस सन्धिमे प्राप्त्याशा, अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्थामे सफलताकी सम्भावनाके साथ विफलताकी आशङ्का भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृतिमे प्रधान फलको सिद्ध करनेवाला प्रासङ्गिक वृत्तान्त रहता है। यदि इस सन्धिमे पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

(घ) अवमर्श या विमर्श-सन्धि : गर्भ-सन्धिकी अपेक्षा बीजका अधिक विस्तार होनेपर उसके फलोन्मुख होनेमे जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभनके कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श-सन्धि होती है। इसमे नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है।

(ङ) निर्वहण-सन्धि : इसमे प्रधान प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समाहार हो जाता है। पूर्व-कथित चारो सन्धियोमे यथास्थान वर्णित अर्थ और मुख्य फलकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसमे 'फलागम' अवस्था और 'कार्य' अर्थ-प्रकृति आती है।

सन्ध्यन्तर

कुछ शास्त्रकारोका मत है कि 'सन्धियोके अन्तर्गत उपसन्धियाँ, अन्तःसन्धियाँ या सन्ध्यन्तर भी होते है। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृङ्खलाकी शिथिलता दूर करके उसे अग्रसर करना और उसमे चमत्कार लाना होता है।

अवस्था, अर्थ-प्रकृति और सन्धि

अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृङ्खलाकी भिन्न-भिन्न स्थितियोकी द्योतक हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तुके तत्त्वोकी सूचक है और सन्धियाँ नाटक-रचनाके विभागोका निदर्शन करती हैं। तीनो बातें एक ही अर्थकी सिद्धि करती है, पर तीनोके नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियोसे किए गए है—एकमे कार्यका, दूसरेमे वस्तुका और तीसरेमें नाटक-रचनाका ध्यान रक्खा गया है। इस प्रकार अर्थ-प्रकृति, अवस्था और सन्धि तीनोके पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे एक दूसरेके सहायक या अनुकूल होकर आते हैं। वस्तुके तत्त्वोसे अर्थ-प्रकृतियो, कार्य-व्यापारसे अवस्थाओ और रूपक-रचनाके विभागोसे सन्धियोका सम्बन्ध है।

वस्तु-तत्त्व (अर्थ प्रकृति)	कार्य (व्यापार) अवस्था	सन्धि (रचना)
१. बीज	१. आरम्भ	१. मुख
२. बिन्दु	२ प्रयत्न	२. प्रतिमुख
३. पताका	३ प्राप्त्याशा	३. गर्भ
४ प्रकरी	४. नियताप्ति	४. विमर्श
५. कार्य	५. फलागम	५. निर्वहण

अङ्क

भरतने अपने नाट्यशास्त्रके सन्ध्यङ्ग-विकल्प नामक इक्कीसवें अध्यायमे अवस्था, सन्धि और अर्थ-प्रकृतियोका लम्बा-चौडा विवरण देकर दशरूपक विधानमे नाटक-रचनाके सम्बन्धमे यही कहा है कि 'नाटककी कथा अङ्कोमे बॉट देनी चाहिए।' अङ्ककी व्याख्या करते हुए वे कहते है—

'अङ्क रूढ शब्द है। इसका अर्थ यह है कि भावो और रसोके द्वारा जो काव्यार्थोंको ऊपर चढाता हो और अनेक प्रकारके विधानोसे युक्त हो उसे अङ्क कहते है।'

इस सम्बन्धमे भरतने कहा है—'कथावस्तु या काव्यकी घटनाओंके क्षण, प्रहर, मुहूर्त आदि लक्षणोसे युक्त दिनोके अनुसार सब काव्यको भली-भॉति अलग-अलग अङ्कोमे बॉट देना चाहिए। दिन समाप्त होने-तकका पूरा काम यदि अङ्कमे न आ सकता हो तो अङ्क समाप्त करके शेष काम प्रवेशकके द्वारा कहला देना चाहिए। एक महीने या एक वर्षके कामपर अङ्क तोडना चाहिए और वह सब काम एक-एक अकमे समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु एक वर्षसे ऊपरका काम एक अकमें कभी नहीं भरना चाहिए।'

भारतीय नाट्याचार्योंका मत है कि एक स्थानपर एक समय निरन्तर होनेवाली घटना ही नाटकका अङ्क कहलाती है। एक अङ्कमे एक दिनसे अधिककी घटनाएँ न हो। सब अङ्क सम्बद्ध होने चाहिएँ अर्थात् प्रथम अङ्ककी घटना दूसरे अङ्ककी घटनासे साधारणतः निकलती हुई जान

पडे। जहाँ कहीं किसी अङ्कमे किसी कार्यकी समाप्ति अथवा किसी फलकी प्राप्ति होती जान पडे, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापारको अग्रसर करे। प्रायः दो अङ्कोके बीच एक वर्षतकका समय अन्तर्हित रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कमका कर देना चाहिए। सामाजिकोको इस अन्तरकी सूचना देनेके लिये शास्त्रकारोने पॉच प्रकारके दृश्योका विधान किया है, जिन्हे 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं।

अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपकके द्वारा वे बाते भी प्रकट की जाती हैं, जो सूच्य वस्तुओमे गिनी जाती है और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पॉचो अर्थोपक्षेपक इस प्रकार है—

१ विष्कम्भक : जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो उसकी सूचना इसमे मध्यम पात्रोके द्वारा दी जाती है या उसका सक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकारका होता है—(क) शुद्ध और (ख) सङ्कर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं तब शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रो-द्वारा इसका प्रयोग होता है तब यह सङ्कर कहा जाता है। शुद्ध विष्कम्भकमे मध्यम पात्रोका भाषण या वार्त्तालाप संस्कृतमे और सकीर्ण विष्कम्भकमे मध्यम तथा नीच पात्रोका सवाद प्राकृतमे होता है।

२. प्रवेशक : इसमे भी बीती हुई या आगे होनेवाली बातोकी सूचना नीच पात्रो-द्वारा दी जाती है। यह दो अङ्कोके बीचमे आता है, अतः पहले अङ्कमे नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड दी जाती हैं, उन्हींकी सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमे पात्रोकी भाषा उत्कृष्ट नहीं होती।

३. चूलिका : नेपथ्यसे किसी रहस्यकी सूचना देनेको चूलिका कहते हैं। रसार्णव-सुधाकरमे 'खण्ड-चलिका' का भी उल्लेख है, जिसमे एक

अङ्कके आरम्भमे रङ्गमञ्चपर स्थित एक पात्र नेपथ्यमे स्थित दूसरे पात्रसे बात करता है।

४. अङ्कास्य : इसमे आगेके अङ्कमे होनेवाली बातोके आरम्भकी सूचना किसी अङ्कके अन्तमे पात्रो-द्वारा दी जाती है।

५. अङ्कावतार : इसमे एक अङ्ककी कथा दूसरे अङ्कमें बराबर चलती रहती है, केवल अङ्कके अन्तमे पात्र बाहर जाकर अगले अङ्कके आरम्भसे पुनः आ जाते हैं।

अङ्कास्य और अङ्कावतारमे इतना ही भेद है कि अङ्कास्यमे तो आगे के अङ्ककी बातोकी सूचना-मात्र दी जाती है और अङ्कावतारमे पूर्व अङ्कके पात्र अगले अङ्कमे पुन आकर उसी कार्य व्यापारको अग्रसर करते है। साहित्य-दर्पणकारने अङ्कावतारका ऐसा लक्षण लिखा है जो अङ्कास्यके लक्षणसे बहुत कुछ मिलता है। अतः इन दोनोमे भ्रम हो जानेकी आशका मानकर उन्होने अङ्कास्यके स्थानपर अङ्कमुख नामका एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'जहाँ एक ही अङ्कमें सब अङ्कोकी अविकल सूचना दी जाय और वही अङ्क बीजभूत अर्थका सूचक भी हो, उसे अङ्कमुख कहते है।' इससे स्पष्ट है कि अङ्कास्य और अङ्कमुखमें इतना ही भेद है कि अङ्कास्यमें केवल आगेके अङ्ककी कथा सूचित की जाती है और अङ्क-मुखमे सम्पूर्ण नाटककी।

दो प्रकारके इतिवृत्त—

अरस्तूने इतिवृत्त दो प्रकारके माने हैं—१. साधारण और २. गूढ। जो व्यापार पूर्व-कथित सिद्धान्तके अनुकूल पूर्ण, एक और सम्बद्ध हो, वह उस समय साधारण कहलाता है जब उसमें परिवर्त्तन (पेरिपेताया) और अभिज्ञान (रिकगनिशन) के बिना ही निर्वहण या फल-लाभ (डिनूवमेन्ट) हो जाता हो। गूढ व्यापार वह है, जिसमें परिवर्त्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोके सयोगसे निर्वहण होता हो। परिवर्त्तन और अभिज्ञान अथवा दोनो ही इतिवृत्तके भीतरी ढाँचेसे इस प्रकार प्रकट हों

कि जो कुछ आगे होनेवाला है वह बीते हुए कार्यका आवश्यक अथवा सम्भाव्य परिणाम हो।

व्यापारकी परिस्थितियोसे जिस परिणामकी आशा की जाती हो वह यदि सम्भावना तथा आवश्यकताके नियमके अनुसार नितान्त विपरीत दिशामे चलने लगे तो उस दिशाको स्थिति-परिवर्त्तन (पेरिपेताया) कहते है।

'अभिज्ञान', जैसा कि शब्दसे ही स्पष्ट है, अज्ञातसे ज्ञातमे परिवर्त्तित होनेको कहते हैं और वह उन पुरुषोके बीच प्रेम या घृणा उत्पन्न करता है, जिन्हे कवि सौभाग्यशाली या दुर्भाग्यशाली बनाना चाहता है। स्थिति-परिवर्त्तनके साथ ही सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञान घटित होता है।

यूनानी त्रासदोमे वह क्षण अभिज्ञान (रिकगनिशन) कहलाता है जब नायकको यह ज्ञान हो जाता है कि अब मेरे ऊपर विपत्ति आ रही है अथवा वह स्थल, जहाँ नायकको अपनी प्रचण्ड भूलका ज्ञान होता है, जैसे ओडिपसको यह ज्ञान होना कि 'मैने अपने पिताकी हत्या कर डाली है और मातासे विवाह कर लिया है।'

तो इतिवृत्तके दोनो अङ्ग स्थिति परिवर्त्तन और अभिज्ञान आकस्मिकतापर अवलम्बित हैं। एक तीसरा भाग है, दुःखात्मक दृश्य। विनाशकारी अथवा दुःख-जनक कार्य ही दुःखात्मक दृश्य है, जैसे रङ्गमञ्चपर हत्या, शारीरिक पीडा, चोट लगना तथा अन्य ऐसी ही बात।

हम देख चुके है कि निर्दोष त्रासदकी रचना साधारण ढङ्गपर न होकर गूढ होनी चाहिए। उसमें ऐसे कार्यो का अनुकरण होना चाहिए जिनसे करुणा और भयका सञ्चार हो, क्योकि यही त्रासात्मक अनुकरण का एक विशिष्ट लक्षण है। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रथम तो जो भाग्य-परिवर्तन प्रदर्शित किया गया हो वह कोई ऐसा दृश्य न हो जिसमे किसी भले मनुष्यको सुखकी अवस्थासे दुःखकी अवस्थामे ला दिया गया हो, क्योकि इससे न करुणा ही उत्पन्न होती है और न भय

ही। इससे तो हमारे हृदयमे केवल एक धक्का-सा लग जाता है । ऐसा भी दृश्य नहीं दिखाना चाहिए जिसमे किसी बुरे मनुष्यका दुःखकी अवस्थासे सुखकी अवस्थामे पहुचना दिखाया जाय, क्योकि इससे बढ़कर त्रासदके स्वरूपके विरुद्ध और हो ही क्या सकता है, क्योकि इसमे एक भी त्रासात्मक गुण नहीं है । इससे न ता नैतिक भावनाकी तुष्टि ही होती है और न करुणा और भयकी उत्पत्ति ही। फिर अत्यन्त दुष्ट मनुष्यका पतन भी नहीं दिखलाना चाहिए। इस प्रकारके इतिवृत्तसे नैतिक भावनाकी तुष्टि तो अवश्य होगी, किन्तु इससे न तो करुणाका सञ्चार होगा न भयका ही, क्योकि करुणा वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ किसी ऐसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय जिस पर नहीं आनी चाहिए। भय वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी हमारे जैसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय। इसलिये ऐसी घटना न तो करुणाजनक होगी और न भयावह ही। तो इन दोनो छोरोका मध्यवर्त्ती चरित्र ही शेष रह जाता है और वह ऐसे मनुष्यका, जो कोई विशिष्ट और विवेकी न हो और उसपर दुर्व्यसन अथवा चरित्रहीनताके कारण विपत्ति न आई हो, वरन् किसी भूल या दुर्बलताके कारण आई हो। वह ऐसा होना चाहिए जो अत्यन्त प्रसिद्ध और सुखी हो ।

'अतः एक सुनिर्मित इतिवृत्तका फल इकहरा होना चाहिए, दुहरा नहीं। भाग्य-परिवर्त्तन बुरेसे अच्छेमे न होकर उल्टा अच्छेसे बुरेमें होना चाहिए। वह दुर्व्यसन (दुर्गुण) का परिणाम न होकर किसी भूल अथवा मानसिक दुर्बलता (हामार्तिया) का परिणाम होकर प्रकट होना चाहिए और उसी प्रकारके चरित्रमे हो जिस प्रकारका हम वर्णन कर चुके है अथवा बुरेकी अपेक्षा अच्छे मनुष्यमे हो।

'दूसरी श्रेणीमे उस प्रकारके त्रासद आते हैं, जिनमे अदूसियाके समान इतिवृत्तका दुहरा धागा चलता है और उनमे अच्छे-बुरे दोनोके लिये उल्टा ही अन्त होता है। ऐसे नाटकोको लोग सर्व-श्रेष्ठ समझते है।

इतिवृत्तकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि बिना आँखकी सहायताके वर्णित घटना सुनते ही हृदय भयसे काँप उठे अथवा करुणासे द्रवित हो जाय।

भय या करुणाका प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोके व्यापारोमे होती है, जो या तो परस्पर मित्र हो, या परस्पर शत्रु हो या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हो। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है, तो उससे वधकार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमे ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात एक दूसरेके प्रति उदासीन मनुष्योके विषयमे भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोके बीच घटित होती है, जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं, जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, माँ अपने पुत्रकी, पुत्र अपनी माँ की हत्या का विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय, तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

चार प्रकारसे कार्य योजना

प्राचीनतर कवियोकी प्रणालीके अनुसार, १. कोई कार्य जानबूझकर तथा व्यक्तियोका ज्ञान होनेपर भी किया जा सकता है। २. भयानक कार्य अज्ञानमे करके सम्बन्ध या मित्रताका ज्ञान पीछे दिखाया जा सकता है। ३. व्यक्ति जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जाँय। ४. कोई अपरिहार्य कार्य अज्ञानवश करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। किन्तु इन सब मार्गोंमे व्यक्तियोको जानकर कार्य करने को उद्यत होना और फिर न करना सबसे बुरा है। इसके पश्चात् इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि कार्य अज्ञानमे हो और पीछे भेद जाना जाय। अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे 'क्रेस्फ्रोन्तेस्' मे ज्योही मरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है, त्यो ही वह उसे पहचानकर छोड़ देती है।

नाटकके भेद

विषयके अनुसार रूपकके छह भेद किए जा सकते हैं—१. पौराणिक, २. ऐतिहासिक, ३. आनुश्रौतिक (सुनी हुई घटनाके आधारपर), ४. कल्पित, ५. प्रतीकात्मक और ६. वास्तविक।

गम्भीर और हास्यात्मक कथा वस्तु

अरस्तूने कथावस्तुके या काव्यके दो भेद किए हैं—१. गम्भीर और २. हास्यात्मक, तथा उन्हीं दो भेदोसे क्रमशः त्रासद और प्रहसनका विकास हुआ माना है। दोनोमे विशेष अन्तर यही है कि गम्भीरमे श्रेष्ठ मनुष्योका वर्णन किया जाता है और हास्यजनकमे निम्नतर मनुष्योके आचरणोका प्रदर्शन कराया जाता है।

पश्चावर्त्तन-कौशल (फ्लैशबैक टेकनीक)

नाटकोमे प्रायः चल चित्रोसे एक कौशल ले लिया गया है जो पहले जासूसी कहानियोमे भी था कि नाटकका आरम्भ किसी विशेष घटनाके परिणाम या मध्यसे किया जाय, फिर सहसा रङ्गमञ्चपर अँधेरा करके उससे पहलेकी वह घटना या वे सब घटनाएँ शीघ्रतासे दृश्य-परिवर्त्तन करके दिखा दी जायँ, जिनके परिणाम-स्वरूप नाटकीय व्यापार प्रारम्भ हुआ था। कभी-कभी जब कोई पात्र अपनी पिछली घटना सुनाना चाहता है या स्मरण करने लगता है तब भी इसका प्रयोग किया जाता है। प्राय. स्वप्न दिखानेके लिये भी इस प्रकारकी व्यवस्था की जाती है कि रङ्गमञ्चपर अँधेरा कर दिया जाता है और उसके पीछे जालीके परदेपर स्वप्नका दृश्य पीछे प्रकाश देकर दिखा दिया जाता है। किन्तु पश्चावर्त्तन (फ्लैशबैक या कालबैक टेकनीक) वास्तवमे वहीं होता है जहाँ पिछली घटना सहसा रङ्गमञ्चपर अँधेरा करके और दृश्य बदलकर दिखाई जाती है।

संघर्ष (कौन्फ्लिक्ट)

एफ० ब्रूनेतिएका कथन है कि 'किसी नाटकके व्यापार या कथा-

व्यापारको निश्चय करनेमे 'सङ्घर्ष' अत्यन्त मौलिक तत्त्व है।' विलियम आर्चरने इसके बदले 'क्राइसिस' और क्लेटन हेमिल्टनने 'कन्ट्रास्ट' शब्द तथा कुछ लोगोने 'स्ट्रगिल' और 'अपोजिशन' शब्दका प्रयोग किया है। इस सघर्षमे दो विरोधी शक्तियाँ होनी चाहिएँ अधिक नहीं, क्योकि श्रोता या दर्शकका भावात्मक प्रवाह एककी ओर खिचता चलता है और शेष सब उसे सहायता देने या उसे दूर हटानेमे सहायक होते हैं। ये विरोधी शक्तियाँ या तो दो व्यक्तियोमे हो, जैसे नायक और प्रतिनायकमे या एक व्यक्ति और समाजमे हो। यह बाह्य सङ्घर्ष कहलाता है। किन्तु जब एक ही व्यक्ति (नायक) के मनके भीतर उठनेवाला द्वन्द्व हो तब वह सात्त्विक या आन्तरिक कहलाता है।

प्रतिकथानक (काउन्टर प्लौट)

नाटकके मुख्य सङ्घर्षको बदलने या घुमाव देनेके लिए कुछ नाटककार एक दूसरा प्रतिकथानक या तुलनापूर्ण सङ्घर्ष जोड़ देते है अर्थात् दूसरे स्तरपर उसी प्रकारका एक सङ्घर्ष प्रारम्भ करके जटिलता बढ़ा देते है।

संयोग (कोइसिडेंस)

सङ्घर्ष उत्पन्न करनेके लिये नाटककारको घटनाओंका 'सयोग' दिखाना पड़ता है, जिसके लिये बहुतसे नाटककार अपने नाटकोमे ऐसी घटनाओंको सम्भव (पौसिबिल) मान लेते है। किन्तु 'सयोग' ऐसी घटनाको कहते है, जिनके सम्बन्धमे यह शङ्का-युक्त भावना रहती है कि 'ऐसा भी हो सकता है, (लाइकली)। अरस्तूने इसकी निन्दा करते हुए कहा है कि 'अविश्वसनीय सम्भव' (इम्प्रोबेबिल-पौसिबिल) के बदले 'विश्वसनीय असम्भव' (प्रोबेबिल इम्पौसिबिल) का प्रयोग अधिक अच्छा होता है और वह केवल आरभटी नाटक (मैलोड्रामा) मे ही नहीं वरन् अन्य नाटकोमे भी होता है। शेक्सपियरके त्रासदोमे भी चाहे उनके परिणाम भले ही अपरिहार्य हो किन्तु उनके लिये भी

उसने जिन साधनोका प्रयोग किया है वे सब सयोगात्मक ही हैं, जैसे 'ओथेलो' मे गिरा हुआ रूमाल। इसे ही कुछ लोगोने दुर्दैव (फिङ्गर ऑफ फेट) कहा है।

अन्तर्द्वन्द्व भूल (ऐरर या हामार्तिया)

यूनानी त्रासदोमे वह त्रासात्मक भूल या दोष 'हामार्तिया' कहलाता है जो किसी भले आदमीके पतनका कारण होता है। अधिकाश त्रासदोमे केन्द्रीय व्यक्ति या नायकके मनके भीतर ही सङ्घर्ष होता है। यह भूल या तो १. अनजाने हो जाय, या २. जान-बूझकर तो हो पर अविचारिताके कारण हो या ३. पूर्ण रूपसे जान-बूझकर की गई हो। यह भूल (क) या तो मनुष्यकी इच्छाओ और उसकी शक्तिकी अनुपात-हीनतासे उद्भूत हो और वह भी दृढ चरित्रो और दुर्बल चरित्रो दोनोमे हो सकती है अथवा (ख) आदर्शों और इच्छाओके सघर्षसे उत्पन्न हो, जैसे यश या सम्मान और प्रेममे या (ग) सामाजिक शक्तियोके दबाव या शिथिलतासे।

विषम परिस्थिति (एपितासिस या क्राइसिस)

इसी द्वन्द्वको अत्यन्त प्रबल करनेवाली परिस्थितिको 'एपितासिस' भी कहते है, जहाँ कथावस्तु या सविधानकमे वेग या शक्ति आ जाय और वह चरमोत्कर्षकी ओर बलपूर्वक धकेल दे। इसी अवसरको विषम अवसर (क्राइसिस) कहते हैं, जब नाटक या कथाकी विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार उलझती हैं और निर्णयात्मक स्थल अर्थात् क्लाइमेक्सकी ओर बढ़ती है।

चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स)

किसी नाटक या कथामे वह कार्य या वह परिस्थिति चरमोत्कर्ष कहलाती है, जहाँसे नाटक या उपन्यासकी घटना सहसा दूसरी ओर मुड जाती है। नाटकीय सघर्षका यही निर्णयात्मक स्थल होता है। पाँच अङ्कवाले नाटकमें यह परिस्थिति प्रायः तृतीय अङ्कके आस-पास उत्पन्न

होती है, या जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तलके शकुन्तलाके प्रत्याख्यानवाले दृश्यमे।

उद्घाटन या निर्वहण (डिनूवमेन्ट या अनरैवेलिङ्ग)

किसी भी 'त्रासद' का प्रथम पक्ष होता है उलझन (कौम्प्लिकेशन)। उसका दूसरा पक्ष होता है सुलझन (डिनूवमेण्ट)। नाटकीय कथा-वस्तुमे जिस स्थानसे नाटककी उलझन दूर होने लगती है और कवि उपसहारकी ओर चलने लगता है उसे सुलझन (डिनूवमेण्ट) कहते हैं, जैसे— अभिज्ञान-शाकुन्तलके अन्तिम दृश्यमे भरतका सिहके बच्चेसे खेलते दिखाना उसी सुलझनका प्रारम्भ है। नाटकके चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) के तत्काल पश्चात् जो नाटकका दुःखमय अन्त (कैटेस्ट्रौफी अर्थात् नायक या नायिकका अन्त) या अन्य सफलतापूर्ण घटना होती है और जिससे नाटकीय सङ्घर्ष समाप्त हो जाता है उसे निर्वहण (डिनूवमेन्ट या अनरैवेलिङ्ग) कहते है। इस कथा-परिवर्त्तन या कथाके चरमोत्कर्षसे अन्तिम परिणामकी ओर लुढकनेकी क्रियाको प्रपतन-क्रिया (फालिङ्ग ऐक्शन) कहते हैं।

फलागम (रिज़ोल्यूशन)

जब नाटकमे उपस्थित की हुई सब कठिनाइयाँ दूर कर दी जाती हैं और नाटकका उपसहार स्पष्ट हो जाता है तब उसे फलागम (रिज़ो-ल्यूशन) कहते है।

नाटकके भाग

त्रासद नाटकके चार भाग माने गए हैं—१. प्रोतासिस (प्रारम्भ), २. एपितासिस (मुख्य कार्य जो परिणामकी ओर ले जानेवाला हो), ३. कतास्तासिस (वह व्यापार जो चरमोत्कर्षतक उठा दे) और ४. कतास्त्रोफी (दु.खमय अन्त)।

नाट्य-त्रिकोण

जर्मन उपन्यासकार फ्रेटाग गुस्टावने 'नाटय-कौशल' (टेक्नीक डेस

ड्रामास, १८६३) नामक ग्रन्थमे पाँच अङ्कवाले नाटककी रचनाका स्वरूप बतानेके लिये एक त्रिकोण (पिरेमिड) खींचा है, जिसे व्यापक रूपसे पश्चिमी नाटककार मान्य समझते हैं ।
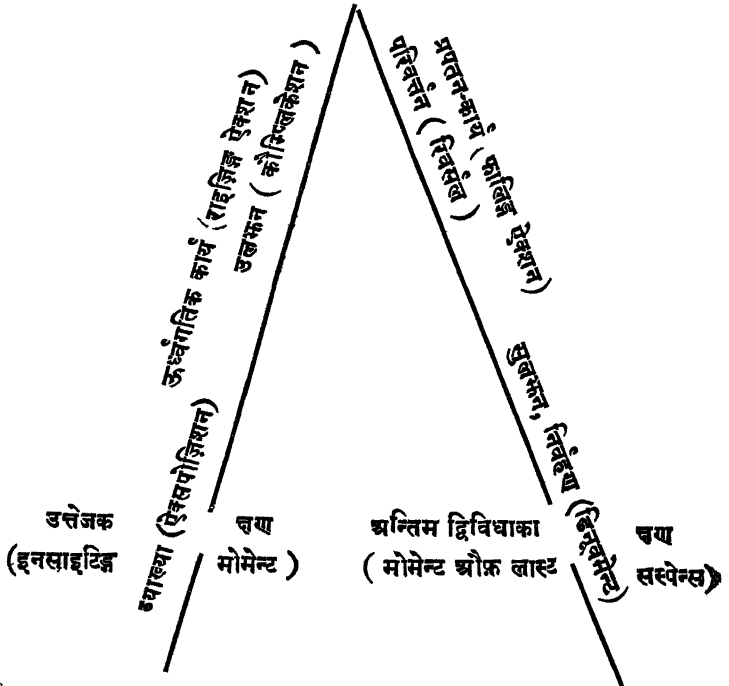
नायक

बहुतसे पुरुषोका जो अग्रणी हो उसे नायक कहते है, उनमे भी जो नायक विपत्ति और अभ्युदय दोनोमे सुखका अनुभव करता हो और दोनों अवस्थाओमे जो अपनी श्रेष्ठता बनाए रखता हो वही नायक कहा जा सकता है । ऐसे चार प्रकारके नायक बताए गये है—१. धीरोद्ध त,

२. धीरललित, ३. धीरोदात्त और ४. धीरशान्त । देवता धीरोद्धत होते है। राजा धीरललित होते हैं । सेनापति और अमात्य धीरोदात्त, तथा ब्राह्मण और वैश्य धीर-शान्त होते है ।

विदूषक

इन चारोंके चार प्रकार के विदूषक होते है। देवताओंके विदूषक लिङ्गी (सन्यासी या धर्मध्वजी), राजाओंके विदूषक ब्राह्मण, सेनापति और अमात्यके विदूषक राजपुरुष और ब्राह्मण-वैश्य नायकोंके विदूषक उनके शिष्य होते हैं।

स्त्रियाँ

स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम, अधम। उदात्त और निभृत जातिवाली स्त्रियाँ कुलाङ्गना होती हैं और ललित तथा उदात्त प्रकृतिवाली गणिका तथा शिल्पकारिका होती है। भरतने नाटकके योग्य पात्रोंकी सूची देकर बताया है कि किस वर्णके किस प्रकारके पात्रसे क्या काम लेना चाहिए।

भरत, नट और शैलूष

भरत : जो व्यक्ति अनेक स्वभाववाले ससारके भावोको वैसा-वैसा रूप धारण करके प्रकाशित करते है, जो लोग भाषा, वर्ण आदि सामग्रियोसे भूतकालके समाजकी अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिवालोके वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टा करके रङ्गमञ्चपर अभिनय दिखाते हैं उन्हे भरत कहते हैं। नट : जो लोग रस और भावसे युक्त भूतकालकी कथा स्वाभाविक रूपसे अभिनीत करते है, वे नट कहलाते हैं । शैलूष : जो वर्त्तमान कालके लोगोके जैसा रूपक बनाकर भाव प्रदर्शित करें, वे शैलूष (नकल उतारनेवाले) कहलाते हैं । तीनोमे अन्तर यह है कि शैलूष तो बिना किसी प्रकारका वेष आदि धारण किए ही केवल दूसरोके भावोंका अनुकरण करता है, भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियोंके साथ भरत केवल दूसरोके वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओंका अनुकरण करता है, नट किसी प्राचीन कथाके पात्रोका रस-भावयुक्त अभिनय करता है।

सूत्रधार और उसके साथी

सूत्रधारको इसलिये सूत्रधार कहते हैं कि वह नान्दीपाठके पश्चात् नाट्यमे प्रस्तुत वस्तु, नेताओके चरित और रसोको एकट्ठा करके एक डोरेमे पिरो देता, अर्थात् सक्षेपमे कह देता है। जो व्यक्ति चारो प्रकारके वाद्य बजानेमे कुशल, वक्ता, मधुरभाषी, गीत तथा तालका ज्ञाता और समझ बूझकर सबका प्रयोग करने वाला हो, उसे सूत्रधार कहते हैं।

पारिपार्श्विक : जो व्यक्ति भरतके द्वारा अभिनय किए हुए अनेक रसोपर आश्रित भावोका परिष्कार करता चलता है और सदा भरतके पास रहता है, वह पारिपार्श्विक कहलाता है ।

अभिनेता . जो तेजस्वी, रूपवान्, राजाओके लिये सब साधन जुटानेमे समर्थ, मेधावी, सब बातोको ठीक ठीक समझनेवाले, रङ्गशालाका सब विधान जाननेवाले, अपने-अपने काममे कुशल, सूत्रधारकी सहायता करनेवाले, चतुर, यथोचित कार्य करनेवाले लोग होते हैं, वे नाट्यमे नट या अभिनेता बन सकते है।

कुशीलव : अनेक प्रकारकी भूमिकाओमे क्रिया, वाणी और आङ्गिक चेष्टाओसे नाटकके पात्रकी, प्रकृतिका ठीक-ठीक अभिनय करनेमे जो कुशल होते है, वे कुशीलव कहलाते है ।

नटी : चारो प्रकारके वाद्योका भेद जाननेवाली और वाद्य-कलामें प्रवीण, करण और अभिनय जाननेवाली, सब भाषाओकी पण्डिता, सब कामोमे नटकी आज्ञा माननेवाली नटकी पत्नीको नटी कहते हैं।

विदूषक : जो अवसरके अनुकूल आचरण करनेकी प्रतिभावाला, चारो प्रकारके नर्म (मनोविनोदके भेद और प्रयोग) और नायकके मनोविनोदके साधन पहचाननेवाला, गञ्जा, पीली ऑखोवाला, हास्य-स्वभाववाला, पीले बालवाला, भूरी दाढीवाला और नाचनेवाला हो उसे विदूषक कहते हैं।

विट : वेश्यासे व्यवहार करनेमें कुशल, मधुरभाषी, सबको

प्रसन्न रखनेवाला, सबका कहा माननेवाला, बात बनानेमें कुशल और प्रेम-व्यापारमे मन्त्रणा देनेवाला वह चतुर व्यक्ति जो माला और आभूषणसे सजा हुआ, अकारण क्रुद्ध और प्रसन्न होनेवाला, नटखट और प्राकृतमे ही सदा बोलता हो वह विट कहलाता है ।

ये सब नाट्य करनेवाले लोग राजाओके सुख भोगनेमे सहायक होते हैं ।

नायक-नायिका भेद

सभी लक्षण ग्रन्थोमे आचार्योंने प्रायः विभावकी व्याख्या करते हुए नायक-नायिकाओके अनेक विभेद किए हैं। बहुतसे आचार्यों ने नायक-नायिकाके भेद करते करते उनकी सख्या कई सहस्रतक पहुॅचा दी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्यों की इससे मनस्तुष्टि हुई या नहीं।

रूपकके प्रधान पात्रको नायक कहते हैं, क्योकि वह नाटकीय कथा की शृङ्खलाको अग्रसर करता हुआ अन्ततक ले जाता है। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्तलोक, वाग्मी, रूढवश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्रके अनुसार उसे सब उच्च गुणोका आधार होना चाहिए, परन्तु प्रत्येक गुण उचित सीमाके भीतर हो।

चार प्रकारके नायक

स्वभाव-भेदसे नायक चार प्रकारके होते हैं—शान्त, ललित, उदात्त, और उद्धत। वीरताका गुण चारो प्रकारके नायकोमे होना चाहिए। भारतीय विचार-पद्धतिके अनुसार मनुष्यका स्वभाव दृढ होना चाहिए। अतएव नायकका स्थान वही पा सकता है, जो अपने आपको वशमे रख सकता हो। अधीरता स्त्री-सुलभ गुण है, नायकके लिये वह उचित नहीं है। साहित्यसारमे तीन ही प्रकारके नायक माने गए हैं। उद्धत नायकको उसमे स्थान नहीं दिया गया है।

धीरशान्त : इस नायकमे नायकोचित सामान्य गुण होते हैं। धनञ्जयके अनुसार वह द्विजादिकमेसे ही होता है।

धीरललित : यह नायक निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदुल स्वभावका होता है। यह प्रायः राजा हुआ करता है जो अपने राजकार्य का भार दूसरोपर सौपकर नवीन प्रेममे लिप्त हो जाता है।

धीरोदात्त : यह नायक शोक, क्रोध आदि मनोवेगोसे विचलित नहीं होता, इसीलिये उसे महासत्त्व कहा जाता है। वह क्षमावान्, अति गम्भीर, स्थिर और दृढव्रत होता है। अपनी प्रशंसा वह अपने आप नहीं करता, वह गर्व करता है परन्तु उसका गर्व विनयसे ढका होता है, वह जिस कामको उठाता है उसे निभाकर छोडता है। इनमेसे स्थिरता, दृढता आदि गुण सामान्यतः प्रत्येक प्रकारके नायकमे बताए गए है परन्तु इनकी पराकाष्ठा धीरोदात्त नायकमे देख पडती है। सब उच्च वृत्तियोके उत्कर्षका ही नाम औदात्त है।

धीरोद्धत : यह नायक द्वेषी, मायावी, छली, प्रचण्ड, चपल, असहनशील, अहकारी, शूर, और स्वय अपनी प्रशसा करनेवाला होता है। मन्त्र-बलसे कुछका-कुछ कर दिखानेकी माया करता है। उद्धत नायकको अपने बल और वैभवका दर्प रहता है।

इन चार प्रकारोके भी चार-चार भेद होते हैं—१. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ और ४. धृष्ठ। अनुकूल नायक एक ही नायिकामे अनुरक्त रहता है। वह एक पत्नी-व्रती होता है, जैसे उत्तर-रामचरितमे राम। दक्षिण नायककी एकसे अधिक नायिकाएँ अथवा पत्नियाँ होती हैं। नवीन-प्रेमसे अनुरक्त होनेपर भी वह पहली नायिकासे सदृय व्यवहार रखता है और अपनी सब प्रेमिकाओमे वह समान प्रेम रखता है। शठ नायक दिखानेके लिये एक ही पत्नीमे अनुरक्त रहता है, परन्तु छिपे-छिपे और नायिकाओसे भी प्रेम करता है।

चार प्रकारके नायकोके चार-चार भेद होनेसे नायकके सोलह भेद

होते है। नाट्याचार्य भरतने उनके उत्तम, मध्यम और अधम तीन-तीन भेद और माने है। इस प्रकार नायकके अडतालीस भेद हुए। इन अडतालीसके भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन-तीन भेद और माने जाते हैं। दिव्य देवता, अदिव्य मनुष्य और मनुष्यका रूप धारण किए देवता दिव्यादिव्य होते है। इस प्रकार नायकके कुल मिला कर एक सौ चवालीस भेद होते है।

विदेशी नायक

हमारे यहाँके नायकसे विदेशी नायक भिन्न होते हैं। वहाँ किसी उपन्यास या नाटकमे जिस व्यक्तिमे उस नाटककी सब क्रियाएँ केन्द्रित हो या जिसके साथ पाठक या दर्शककी सहानुभूति रहती हो उसे ही नायक कहते है, चाहे उसमे नायकके उपर्यंकित गुण हो या न हो। यह प्रतिनायकका प्रतिद्वन्द्वी होता है। यदि नायक और प्रतिनायक दोनोकी शक्तियाँ किसी एक ही व्यक्तिमे हो तो वह 'प्रोटेगोनिस्ट' कहलाता है। नायिका प्रायः नाटकमे सघर्षकी केन्द्र-शक्ति होती है।

नायकके सहायक

नायकके कई सहायक होते है। पीठमर्द सबसे मुख्य सहायक होता है। यह नायकका अन्तरङ्ग मित्र और प्रासङ्गिक वस्तुका पताका-नायक होता है। उसमें अधिकारी नायकके सब गुण होते है पर न्यून मात्रामें। उसे कार्य कुशल (विचक्षण), अनुचारी और भक्त होना चाहिए।

नायकके शेष सहायक कार्यानुसारी होते है। कार्यके अनुसार उनके विभाग साहित्य-दर्पणमे इस प्रकार किए गए है—

१. शृङ्गार-सहाय, २. अर्थचिन्ता-सहाय, ३. धर्म-सहाय ४. दण्ड-सहाय, ५. अन्तःपुर-सहाय और ६ सवाद-सहाय अथवा दूत।

शृङ्गार-सहायमे १. विट, २ चेट, ३. विदूषक, ४. मालाकार, ५. रजक, ६. तमोली और ७. गन्धी आदि होते है।

नायकके सात्त्विक गुण

नायकमे १. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गाम्भीर्य, ५ स्थिरता,

६. तेज, ७ लालित्य और ८ औदार्य ये आठ सात्त्विक और पौरुषेय गुण होते हैं।

नायिका

नायककी प्रिया या पत्नीको नायिका कहते हैं। आधुनिक (पाश्चात्य) नाट्यशास्त्रके अनुसार जिस स्त्रीका नाटकीय कथा-प्रवाहमे प्रधान भाग हो वही नायिका होती है, चाहे वह नायककी प्रिया हो या कोई और। नायकके सामान्य गुण नायिकामे भी होने चाहिएँ। नाट्याचार्य भरतने अपने नाट्यशास्त्रमे नायिकाओके चार भेद गिनाए है—दिव्या, नृपतिनी, कुल-स्त्री और गणिका। परन्तु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। सर्वमान्य विवेचन नायिकाके स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीन भेदोसे आरम्भ होता है। स्वकीया अपनी स्त्री, परकीया पराई स्त्री तथा सामान्या किसीकी स्त्री नही होती। सामान्याका दूसरा नाम गणिका या वेश्या भी है।

स्वकीया

स्वकीया नायिकामे शील, आर्जव आदि गुण होते हैं। स्वकीया नायिका पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जावती तथा पतिकी सेवामे रत होती है। स्वकीयाके भी तीन भेद होते है—१. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा। मुग्धा नायिका वह है जिसमे नई तरुणाई आ रही हो, अर्थात् जो अभी-अभी बाल्यावस्थासे यौवनावस्थामे पदार्पण कर रही हो और पहले ही पहल कामेच्छाका अनुभव कर रही हो। वह रतिसे डरती है, क्रोधमे भी मृदु होती है तथा बडी सरलतासे प्रसन्न की जा सकती है। मध्या नायिका यौवनकी सब कामनाओसे भरी हुई और मोह (मूर्च्छा) की अवस्थातक रतिमे समर्थ होती है। उसमे कुछ-कुछ प्रगल्भता आ जाती है और लज्जा कुछ कम हो जाती है। प्रगल्भा नायिका यौवनमे अन्ध, रतिमे उन्मत्त, काम-

कलाओंमें निपुण, नायकमें सदा रत होती है और सुरतारम्भमें ही लीन होकर अचेतन हो जाती है।

मध्या और प्रगल्भाके धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन-तीन भेद और होते हैं।

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भाके छह-छह भेद हुए। इन छह-छह भेदोंके ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो-दो भेद और होते है। जिसपर पतिका अधिक प्रेम हो वह ज्येष्ठा और जिसपर कम प्रेम हो वह कनिष्ठा कहलाती है। इस प्रकार इन दोनोंके बारह-बारह भेद होते है। मुग्धा एकरूप रहती है, इससे उसके और भेद नहीं होते।

परकीया

परकीया नायिका दो प्रकारकी होती है—१. ऊढा, जिसका विवाह हो गया हो। २. अनूढा, जिसका विवाह न हुआ हो। प्रधान रसमें ऊढाका वर्णन नहीं होना चाहिए, किन्तु अनूढा अर्थात् कन्याके अनुराग का उपयोग अङ्गी (प्रधान) और अङ्ग (अप्रधान) दोनो रसोमे हो सकता है।

सामान्या

सामान्या नायिका गणिका होती है। वह कलाओंमे निपुण, साहसी तथा धूर्त्ता होती है। वह केवल धनसे प्रेम करती है और प्रच्छन्न कामुक, आसामीसे धन कमानेवाले, मूर्ख, पाण्डुरोगी, नपुसक आदिका जबतक उनके पास धन रहता है तबतक ऐसा मनोरञ्जन करती है मानो सचमुच उनसे प्रेम करती हो। जब उनकी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तब उनका निरादर करके उन्हे घरसे निकलवा देती है। परन्तु गणिकाके हृदयमे भी यदि सच्चा प्रेम हो जाय तो वह गणिका नहीं रह जाती।

नायिकाओंके आठ भेद

नायिकाके व्यवहार और दशा-भेदके अनुसार नीचे लिखे आठ भेद और होते हैं—

१. स्वाधीनपतिका : जिसका पति उसके वशमे हो ।

२. वासकसज्जा : जो वस्त्र, शृङ्गारादिसे सज-धजकर प्रसन्नतापूर्वक अपने पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करती हो ।

३. विरहोत्कण्ठिता : जिसका पति निश्चित समयके भीतर बिना अपने अपराधके न आ सके और जो इसी कारणसे खिन्न हो ।

४. खण्डिता नायिका : पतिके शरीरपर अन्य स्त्री-द्वारा किए हुए सम्भोग-चिह्न देखकर जो ईर्ष्यासे जल उठे । खण्डिता नायिकाका नायक धृष्ठ कहलाता है या यो कहना चाहिए कि नायकके धृष्ठ होनेसे नायिका खण्डिता होती है ।

५. कलहान्तरिता : जो पहले तो प्रार्थना करनेवाले प्रियतमका निरादर कर देती है परन्तु फिर अपने इस कृत्यपर पछताती है ।

६. विप्रलब्धा : जिसका प्रियतम मिलनेका सकेत-स्थान नियत करके भी उससे मिलने न आवे और इस प्रकार जो अपमान समझे ।

७. प्रोपितपतिका : जिसका पति किसी कामसे परदेश गया हो । भूत, भावी और वर्त्तमान तीन प्रकारकी प्रोषित-पतिका नायिकाएँ होती हैं । भूत प्रोषितपतिका वह है, जिसका पति परदेश गया हुआ हो । इसे प्रोषितपतिका कहते है । भावी प्रोषितपतिका वह है, जिसका पति परदेश जानेवाला हो, इसे प्रवत्स्यत्पतिका कहते है । वर्त्तमान प्रोषितपतिका वह है, जिसका पति अभी विदेश जा रहा हो । इसे प्रवसत्पतिका कहते हैं ।

८. अभिसारिका : जो कामार्त्ता होकर, स्वय सकेत-स्थानपर जाय अथवा प्रियतमको अपने पास बुलावे । कुलकामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणोके शब्द बन्द करके दबे पॉव घूँघट काढ़कर जायगी, वेश्या विचित्र और उज्ज्वल वेश धारण करके नूपुर और कङ्कण झनकारती जायगी, दासी मदमे अटपटी बातें करती हुई, विलाससे प्रफुल्ल-नयन और बहकी चालसे अभिसरण करेगी । अभिसरण-स्थान प्रायः खेत, उद्यान, टूटा मन्दिर, दूतीका घर, निर्जन स्थान, जङ्गल, श्मशान या नदी-तट हुआ करते है । ये अभिसारिकाएँ दो प्रकारकी होती हैं—

कृष्णाभिसारिका : जो अँधेरी रातमे काले कपड़े पहनकर निकले।

शुक्लाभिसारिका : जो चाँदनी रातमे श्वेत वस्त्र पहनकर निकले।

परकीयाकी, चाहे वह ऊढा हो या अनूढा, इन आठ अवस्थाओमेसे केवल तीन अवस्थाएँ होती है—१. सकेत-स्थानको चलनेसे पहले वह विरहोत्कण्ठिता होती है, २. विदूषक, दूती आदिके साथ सकेत-स्थानपर जानेसे वह अभिसारिका होती है और ३. कदाचित् उसका प्रिय सकेत-स्थानपर न आया तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। शेष पाँच अवस्थाएँ परकीयाकी नहीं हो सकतीं।

नायिकाकी दूतियाँ

दासी, सखी, धोबिन, घरका कामकाज करनेवाली नौकरानियाँ, पडोसिन, भिक्षुकी, शिल्पिनी (चित्रादि बनानेवाली) नायिकाकी दूतियाँ होती है। कभी-कभी नायिका स्वय भी अपनी दूती बन जाती है। ऐसी अवस्थामे वह स्वय दूती कहलाती है। इनमे कला-कौशल, उत्साह, स्वामिभक्ति, चित्तज्ञता (दूसरेका अभिप्राय समझनेकी शक्ति) तीव्र स्मरण-शक्ति, मधुरभाषिता, नर्म-विज्ञानका ज्ञान, वाग्मिता आदि गुण होने चाहिएँ।

हरिऔधजीने अपने रसकलसमे पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी और हस्तिनी नामसे नायिकाओके चार भेद किए है। प्रकृति सबधी भेद करते हुए उन्होंने उत्तमाके आठ भेद बताए है—१. पति-प्रेमिका, २. परिवार-प्रेमिका, ३. जाति-प्रेमिका, ४. देश-प्रेमिका, ५. जन्म-भूमि-प्रेमिका, ६ निजतानुरागिनी, ७. लोक-सेविका और ८. धर्म-प्रेमिका। मध्यमाके भी उन्होने दो भेद किए है—व्यङ्गविदग्धा और मर्मपीडिता। शेष धर्म-सम्बन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी भेद वे ही है, जो अन्य आचार्योंने दिए है।

नाट्यवृत्तियाँ

हमारे यहाँ नाटककी 'रचना-शैली' या 'रचनाके ढङ्ग' को 'वृत्ति' कहते है। अत. नाट्यमे यथार्थता और सजीवता लानेका प्रयत्न करते हुए

पात्रोके वाचिक, आङ्गिक, आहार्य और सात्त्विक चारो प्रकारके अभिनय और प्रसङ्गानुकूल दृश्योके प्रदर्शनकी उस विशेषताको वृत्ति कहते हैं, जो विशेष प्रकारके नाटक या रसकी अनुभूतिमे सहायक हो। इसीलिये भरत मुनिने वृत्तियोको नाट्यकी माताएँ (वृत्तयो नाट्यमातरः) कहा है। हमारे यहाँ चार वृत्तियाँ मानी गई हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनमेसे भारतीको शब्दवृत्ति और शेष तीनको अर्थ-वृत्तियाँ कहते है।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी वृत्तिके नाटकोमे केवल गीत, नृत्य, विलास, रति आदिका ही वर्णन होता है। इसीसे यह मधुर वृत्ति मानी गई है।

सात्त्वती वृत्ति

नायकका व्यापार जहाँ शोकरहित, सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव सहित हो वहाँ सात्त्वती वृत्ति होती है।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्तिमे माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, प्रस्ताव आदि क्रियाएँ होती है। मन्त्रके बलसे कुछ कर दिखलानेको माया, तन्त्रबल या हाथकी सफाईसे कुछ कर दिखानेको इन्द्रजाल और चकित होकर चक्कर काटते रहने अथवा घूमते रहनेको उद्भ्रान्ति कहते हैं।

भारती वृत्ती

'दशरूपक'मे भारती वृत्तिका यह लक्षण दिया है—

> **भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।**
> **भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः॥**

[भारती वृत्त वह है जिसमे नटोका वाग्व्यापार या बातचीत अधिकांश सस्कृतमे हो। इसके १. प्ररोचना, २ वीथी, ३ प्रहसन और ४. आमुख भेद होते हैं।]

साहित्यदर्पणमे इसका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ॥
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकार प्रशंसात. प्ररोचना ।

भरत मुनिने अपने नाट्य-शास्त्रमे भारती वृतिका वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतै. प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्ति. ॥

इन तीनो लक्षणोके मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृति उस रूपक-रचना-शैली या भाषा-प्रयोग-युक्त नाट्य-रूपको कहते हैं जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोगमे लाते हैं, नटियाँ नहीं, और जिसमें संस्कृत भाषाके वाक्योकी ही अधिकता रहती है। धनञ्जय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथकी परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुलती है, किन्तु धनञ्जयका 'नटाश्रयः' विश्वनाथमे आकर 'नराश्रयः' हो गया है।

भारती वृत्तिके चार अङ्गोमेसे प्ररोचना और आमुखका सम्बन्ध स्पष्ट ही पूर्वरङ्गसे है। प्रस्तुत विषयकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्कण्ठा बढानेके कृत्यको प्ररोचना और आपसकी बातके द्वारा कौशल पूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तुके आरम्भ करनेके कृत्यको आमुख कहते हैं। पर वीथी और प्रहसनकी व्याख्या आचार्योंने स्पष्ट रूपसे नहीं की है। हाँ, वीथीके जो तेरह अङ्ग बताए है, उनका सम्बन्ध पूर्वरङ्गसे उतना नहीं है जितना स्वय रूपकके कथानकसे। प्रहसन और वीथी रूपकके भेदोमे भी आए हैं। प्रहसन एक ही अङ्कका होता है, जिसमे हास्यरस प्रधान रहता है। वीथीमें भी एक ही अङ्क होता है पर प्रधानता शृङ्गार-रसकी होती है। दोनोके इतिवृत्त कवि-कल्पित होते हैं। अनुमानसे ऐसा जान पडता है कि आरम्भमे प्रहसन और वीथी प्रस्तावनाके अङ्गमात्र थे, जिसमे हँसी या विनोदकी बातें कहकर अथवा विशेष प्रयोगसे युक्त कोई छोटासा कथानक लेकर तथा शृङ्गार-रसयुक्त और

विचित्र उक्ति-प्रत्युक्तिसे पूर्ण कोई कल्पित पात्र लेकर दर्शकोका चित्त प्रसन्न किया जाता था, जैसे योरपमे 'कर्टेन रेजर्स' चलते थे। पीछेसे प्रहसन और वीथीने स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया होगा और वे रूपकके भेद विशेप माने जाने लगे होगे। यह भी हो सकता है कि विश्वनाथका 'नराश्रय.' धनञ्जयके 'नटाश्रय:' का नहीं वरन् भरतके 'स्त्रीवर्जिता' का स्थानापन्न हो। भारती वृत्तिमे स्त्रियोका पात्रत्व इसलिये वर्जित है कि एक तो भारती वृत्ति सस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नाट्य-शास्त्रके अनुसार स्त्रियाँ सस्कृतमे बोलतीं नहीं।

धनञ्जयने पहली तीन वृत्तियोको ही सच्ची या क्रिया-वृत्ति माना है, भारती-वृत्तिको नहीं क्योकि नाटकीय व्यापारसे भारती-वृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं, वह केवल वाचिक वृत्ति-मात्र है। इसके अतिरिक्त उव्वट और उनके अनुयायियोने एक पाँचवीं 'अर्थवृत्ति' भी मानी है परन्तु अन्य नाट्याचार्योने उसे मान्य नही समझा है। वृत्तिका अत्यन्त सीधा-सादा अर्थ है 'होना' अर्थात् जिस रूपमे नाटक उपस्थित हो, वही उसकी वृत्ति है, ढग है, रूप है। इसे यो कह सकते हैं कि कथा-वस्तुमे जिस प्रकारके कार्य अधिक प्रदर्शित किए जायँ वही उसकी वृत्ति कहलाती है।

हमारे मतसे भारती-वृत्तिमे नटाश्रय:' ही ठीक पाठ है। उसका अर्थ यह हे कि जैसा नट हो उसके अनुसार 'वाग्व्यापार अर्थात् संवाद जिसमे हो' वह भारती वृत्ति कहलाती है। नाट्यशास्त्रके अनुसार भारती वृत्ति 'स्त्रीवर्जिता सस्कृत-वाक्ययुक्ता' हो अर्थात् उसमे स्त्रियोके सवादको छोडकर शेषका व्यापार संस्कृतप्राय हो। इसमे स्त्री-वर्जिताका अर्थ स्त्रियोसे हीन नाटक नहीं है। नटाश्रय वाग्व्यापारको भी सस्कृतप्राय इसलिये कहा कि निम्न कोटिके पात्र और विदूषक तो प्राकृतमे ही बोलेंगे। इसलिये भरतका शुद्ध मत यही है कि 'भारती वृत्तिमे जितने सवाद हो वे नटोकी प्रकृतिके अनुकूल हो अर्थात् जैसी उनकी योग्यता, उनका पद हो उसीके अनुकूल उनका सवाद हो और

यह सवाद जहाँतक सम्भव हो, संस्कृतमे ही हो, या इसमें अधिकाश ऐसे पात्र रक्खे जायँ जिनके मुखसे सस्कृत कहलाई जा सके, क्योंकि संस्कृत तो सब समझ सकते थे, प्राकृतको केवल प्रादेशिक लोग ही समझ पाते थे। संस्कृतमे बोलनेका बन्धन स्त्रियोके लिये नहीं रहेगा, वे प्राकृतमे ही बोल सकेंगी।'

इन वृत्तियोके अनुसार चार प्रकारके नाटक हुए—

१. सङ्गीत-प्रधान नाटक (कैशिकी वृत्ति)
२. भाव-प्रधान नाटक (सात्त्वती वृत्ति)
३. सघर्ष प्रधान नाटक (आरभटी वृत्ति)
४. सवाद प्रधान नाटक (भारती वृत्ति)

रूपक

धनञ्जयने अपने दशरूपकमे कथा-वस्तु, नायक तथा रसके भेद के अनुसार रूपको तथा उपरूपकोका भेद माना, अर्थात् जो अनेक प्रकारके रूपक और उपरूपक गिनाए गए हैं, उनमें या तो नायक भिन्न हैं या कथा-वस्तुकी शैली या वृत्ति भिन्न है या रसकी भिन्नता है। इन आधारोपर हमारे यहाँ रूपकके दस और उपरूपकके अट्ठारह भेद किए गए हैं—

रूपकके निम्नलिखित दस भेद बताए गए हैं—

१. नाटकमे नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी सब लक्षण और सब रसोका समावेश हो सकता है, यद्यपि शृङ्गार अथवा वीरकी प्रधानता होती है, इसीलिये नाट्याचार्योंने उसे नाट्य-प्रकृति कहा है।

नाटककी कथा ख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध हो। उसका नायक उदात्त गुणोसे युक्त, धीर, गम्भीर, उदार, प्रतापी, कीर्त्तिका अभिलाषी, महा उत्साहवाला, वेदोका रक्षक (त्रयीत्राता), राजा अथवा राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो। उसके प्रधान कार्यमे चार या पाँच सहायक हो। नाटकमे पाँचसे दसतक अङ्क हो (पाँचसे अधिक अङ्क-

वाले नाटकको महानाटक कहते हैं)। उसकी रचना गौकी पूँछके अग्रभागके समान हो अर्थात् अङ्क उत्तरोत्तर छोटे हो या जैसे गौकी पूँछके कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते है, उसी प्रकार कुछ कार्य मुखसन्धिमे और कुछ आगे चलकर समाप्त हो। पाँचो सन्धियो और अर्थ-प्रकृतियोका प्रयोग हो और निर्वहण-सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो।

२. प्रकरणका कथानक लौकिक और कवि-कल्पित, नायक धीर-शान्त (मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य) हो, जो धर्म और कामकी प्राप्तिके लिये तत्पर रहे तथा बाधाओका सामना करके अभीष्टकी प्राप्ति करे। इसकी नायिका कुलकन्या या वेश्या हो या दोनो हो। प्रकरणके तीन भेद हैं—१. कुलकन्या नायिकावाला शुद्ध, २. वेश्यावाला विकृत, और ३. दोनोवाला सकीर्ण होता है। सकीर्ण प्रकरणमे धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्र भरे रहते है। अन्य बातोमे प्रकरण भी नाटकके ही समान होता है।

३. भाणमे कल्पित कथानक, एक अङ्क और एक बुद्धिमान् विट ही पात्र होता है, जो अपने तथा दूसरोके धूर्त्ततापूर्ण कृत्योको किसी कल्पित व्यक्तिके साथ वार्तालापके रूपमे आकाशकी ओर देखकर सुननेका नाट्य करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वय दुहराता और उत्तर देता हुआ (आकाश-भाषितके द्वारा) बातचीत करता है। वह शौर्य और सौन्दर्यके वर्णनसे वीर एव शृङ्गार रसका आविर्भाव करता है। भाणमे प्रायः भारती वृत्तिका किन्तु कहीं-कहीं कैशिकीका भी प्रयोग होता है। इसमे मुख और निर्वहण दो सन्धियोका तथा लास्यके दस अङ्गोंका भी व्यवहार हो सकता है।

४. प्रहसन भी भाणके समान होता है। किन्तु इसमे आधिक्य हास्य रसका होता है। वीथीके तेरह अङ्गोमेसे सभी इसमे आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक और प्रवेशकका इसमे प्रयोग नहीं होता। यह तीन प्रकारका होता है—१. शुद्ध, २. विकृत और ३. सङ्कर। शुद्ध प्रहसनमे पाखण्डी, सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायककी योजना

होती है। इसमे चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा और बोलनेके ढंगसे ही डाला जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियोका इसमे बाहुल्य होता है। विकृत प्रहसनमे नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकोके वेशमे तथा उन्हींकी-सी बातें करते दिखाए जाते हैं। संकीर्ण प्रहसनमे हँसी-विनोदकी विशेषता, धूर्त्त नायक, प्रपञ्च, छल, स्पर्धा-युक्त बातें, अव्यक्त अर्थवाले परिहास-वचन, बे-सिरपैरकी बातें, हँसी-उड़ाना तथा गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहनेका व्यवहार अधिकतासे किया जाता है।

५. डिमकी कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमे माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त लोगोकी चेष्टा तथा सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदि बातोंका वर्णन, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि सोलह उद्धत नायक, कैशिकीको छोड़कर शेष तीनो वृत्तियाँ और हास्य तथा शृङ्गारको छोड़कर शेष सब रसोका परिपाक होता है। इसमे चार अङ्क और चार ही सन्धियाँ होती हैं, विमर्श सन्धि नहीं होती।

६. व्यायोगकी कथा-वस्तु पुराण या इतिहास प्रसिद्ध और उसका नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। उसमे बहुतसे नर पात्र होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमे युद्ध तो होता है, पर स्त्रीके कारण नहीं। इसमे एक ही दिनके वृत्तान्तवाला एक ही अङ्क होता है जिसमे कैशिकी वृत्ति तथा हास्य और शृङ्गारकी योजना नहीं होती। शेष सब बातोंमे व्यायोग भी डिमके ही समान होता है।

७. समवकारका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु देवता तथा असुरोंसे सम्बद्ध होता है, जिसमे बारह देवासुर नायक और प्रत्येक नायकका पृथक्-पृथक् फल होता है। इसमे वीर-रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते हैं। इसमे कैशिकीका तो थोड़ा ही किन्तु अन्य वृत्तियोका प्रयोग अधिक होता है। इसके तीन अङ्कोमें पहले छह घड़ीका

वृत्तान्त तथा दो सन्धियाँ, दूसरे तथा तीसरे अङ्कोमे क्रमशः दो और एक घडीका वृत्तान्त और एक-एक सन्धि होती है। विमर्श सन्धिको छोडकर शेष चारो होती है।

८. वीथीमे एक ही अङ्क, उत्तम या मध्यम पुरुष नायक और पात्र एक ही दो होते है। भाणके समान कैशिकी वृत्ति तथा शृङ्गार रससे युक्त आकाश-भाषितके द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धियाँ, पाँचो अर्थ-प्रकृतियाँ और वीथ्यङ्गोका समावेश होता है।

९. अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्कमे एक ही अङ्क, साधारण पुरुष नायक, कविकी कल्पनासे विस्तृत प्रख्यात इतिवृत्त और स्त्रियोका विलाप, जय तथा पराजयका वर्णन तथा मौखिक द्वन्द्व होता है। इसमे वैराग्योन्मेषिणी भाषा और भाणके समान मुख तथा निर्वहण सन्धि और कहीं भारतीय तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एव लास्यके दसो अङ्कोका प्रयोग होता है।

१०. ईहामृगका नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिकाकी इच्छा करता है। इसमे कथानक मिश्रित (अशतः प्रसिद्ध, अशतः कवि-कल्पित), चार अङ्क, मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण तीन सन्धियाँ तथा नायक और प्रति-नायक प्रसिद्ध धीरोद्धत, मनुष्य या देवता होते हैं। इसमें प्रतिनायक छिपकर पापाचरण करता हुआ किसी दिव्य नारीको चाहता है, जो उसे नहीं चाहती और जिससे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करनेकी सोचता है। युद्धकी पूरी सम्भावना होती है पर वह किसी बहानेसे टल जाता है।

अट्ठारह उपरूपक

उपरूपकके अट्ठारह भेद होते हैं—

१. नाटिका : यह नाटक और प्रकरणका मिश्रण मात्र है। नाटिकाकी कथा कवि-कल्पित होती है, जिसमे चार अङ्क, अधिकाश पात्र स्त्रियाँ, नायक धीर-ललित राजा और नायिका कोई रनिवाससे सम्बन्ध रखने-

वाली या राजवंशकी कोई गायन प्रवीणा अनुरागवती कन्या होती है। इसमें प्रधान रस शृङ्गार होता है और कैशिकी वृत्तिके भिन्न रूपोंका क्रमशः चारो अङ्कोमे पालन किया जाता है। विमर्श-सन्धि बहुत कम या नहीं होती, शेष चारो सन्धियाँ होती हैं।

२. त्रोटकमे पॉच, सात, आठ या नौ अङ्क, देवता या मनुष्य पात्र, प्रधान रस शृङ्गार तथा प्रत्येक अङ्कमे विदूषकका व्यापार रहता है। शेष नाटकके समान होता है।

३. गोष्ठीमे नौ या दस मनुष्यो तथा पॉच या छह स्त्रियोके व्यापार-वाला एक अङ्क होता है, काम-शृङ्गारकी प्रधानता और कैशिकी वृत्तिका प्रयोग होता है पर उदात्त वचनोकी योजना नहीं होती। गर्भ और विमर्श-सन्धियाँ नहीं होतीं।

४. सट्टककी रचना प्राकृतमे होती है। इसमे प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते, अद्भुत रसकी प्रचुरता रहती है, इसका अङ्क जवनिका कहलाता है तथा अन्य बातें नाटिकाके सदृश होती हैं।

५. नाट्यरासकमे एक ही अङ्क, उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, वासकसज्जा नायिका और प्रधान रस हास्य किन्तु शृङ्गारका भी समावेश रहता है। इसमे मुख और निर्वहण-सन्धियाँ तथा लास्यके दसो अङ्गोकी योजना होती है। कोई कोई इसमे प्रतिमुख-सन्धिको छोडकर शेष चारो सन्धियोका होना मानते है परन्तु यह दो सन्धियोका भी मिलता है।

६. प्रस्थानकमे दो अङ्क और दस नायक, हीन पुरुष उपनायक, नायिका दासी तथा कैशिकी और भारती वृत्तिका प्रयोग होता है। सुरापानके सयोगसे उद्दिष्ट अर्थकी सिद्धि होती है।

७. उल्लाप्यमे एक अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृङ्गार, हास्य और करुण रस होते हैं।

८ काव्यमे केवल एक अक, व्यापक हास्य रस, गीतोका बाहुल्य,

नायक और नायिका दोनो उदात्त, तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।

९. रासकमे एक ही अङ्क, पॉच पात्र तथा मुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती है। इसमे कैशिकी और भारती वृत्ति तथा भिन्न प्रकारकी प्राकृतोका विशेष प्रयोग होता है। इसमे सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते है।

१०. प्रेङ्खणमे एक अङ्क और हीन पुरुष नायक होता है। इसमें सूत्रधार, विष्कम्भक, प्रवेशक, गर्भ और विमर्श-सन्धिका अभाव होता है। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्यसे पढी जाती है। सब वृत्तियाँ होती हैं।

११. सलापकमे तीन या चार अङ्क, पाखण्डी नायक, भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ और नगरका घेरा, सग्राम या सङ्ग्राम तथा भगदड़का वर्णन रहता है।

१२. श्रीगादितमे एक अङ्क, प्रसिद्ध कथा, धीरोदात्त नायक तथा भारती वृतिका आधिक्य होता है। गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती।

१३ शिल्पकमे चार अङ्क, चारो वृत्तियाँ, शान्त और हास्यका छोडकर सब रस, नायक ब्राह्मण तथा उपनायक कोई हीन पुरुष होता है। इसमे शव, श्मशान आदिका वर्णन अधिक रहता है।

१४. विलासिकामे एक अङ्क, दस लास्याङ्गोका विनिवेश, विदूषक, विट, पीठमर्द आदिका व्यापार और हीन-गुणवाला नायक होता है। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ इसमे नहीं होतीं।

१५. दुर्मल्लिकामे चार अङ्क होते है। पहले अङ्कमे छह घड़ीका व्यापार तथा विटकी क्रीड़ा, दूसरेमे दस घडीतक विदूषकका विलास, तीसरेमे दो घडीतक पीठमर्दका विलास और चौथेमे दस घडीकी नागरिक पुरुषोकी क्रीडा रहती है। इसमे कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं, गर्भ सन्धि नहीं होती। पुरुष सब चतुर होते है, पर नायक छोटी जातिका होता है।

१६. प्रकरणिकामे नायक व्यापारी और नायिका उसकी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरणके समान होती हैं।

१७ हल्लीशमे एक अङ्क, सात-आठ या दस स्त्रियाँ और उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष रहता है। इसमे कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं एवं गान, ताल, लयका अधिकतासे प्रयोग होता है।

१८. भाणिकामे एक अङ्क, मन्दमति नायक तथा नायिका उदात्त और प्रगल्भा होती है। इसमे मुख-निर्वहण सन्धियाँ एव भारती और कैशिकी वृतियाँ होती है। यह भाणकी जोडका उपरूपक है।

योरपमे 'नाटक या रूपक साहित्य-कलाके उस रूपको कहते हैं जिसके आधारपर व्यक्तिगत रुप धारण करके मनुष्योके व्यापारो और चरित्रोका जनता या दर्शकोके सम्मुख सीधा अभिनय किया जाता हो।'

एकाङ्की नाटक

योरोपीय साहित्यमे बोलपटके आविष्कारकी प्रतिक्रियाके रूपमे एकांकी नाटकोकी सृष्टि हुई। जिन्होने संस्कृत नाट्य-साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकाकी नाटक वैज्ञानिक आविष्कारोके समान ही बीसवीं शताब्दीकी देन है। किन्तु एकाकी नाटकोका आरम्भ ईसासे बहुत पहले भासने कर दिया था और 'मध्यम व्यायोग' उसके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरपमे भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं है। प्राचीन यूनान और इतालियामे छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे-छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दीसे सत्रहवीं शताब्दीतक 'कौमीदिया दे लार्ते' के नामसे इतालियामे तथा दूसरे योरोपीय देशोमे प्रचलित थे।

सबसे पहले अँगरेजी नाटक यूनानी नाटकोके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे और मध्ययुगमे प्रचलित थे। रहस्यात्मक

नाटक (मिस्टरीज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज़) और गर्भाङ्क नाटक (इन्टरल्यूड्स) सभी एकाकी नाटक ही थे।

जब रूढिवादियोने सन् १६४२ मे अपनी रङ्गशालाएँ कीलित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थानपर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे। अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दीमे भी 'पर्दे उठाऊ' (कर्टेन रेज़र्स) या पुछल्ले नाटक (आफ्टर पीसेज़) कहलानेवाले बहुतसे एकाकी नाटक व्यावसायिक रङ्गशालाओ के लिये भी लिखे गए अथवा अव्यावसायिकोके लिये चित्ररेखाके रूपमे रचे गए थे जो अब भी हमारे ऊपर कभी-कभी लादे जाते हैं। वे मुख्यत· भँडैनी (बर्लेस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूपसे एकाकी रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए है।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं किन्तु फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इनका विकास या विस्तार नियमित तथा सक्रम रहा है क्योकि अभीतक इस विषयपर पूरी खोज नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है कि बीसवीं शताब्दीमे एकाकी नाटकोकी रचना इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, रूस तथा इतालियामे पुनः हुई, नाटकीय रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ और यह भी समझा जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उपयुक्त है। चेकोस्लोवाकिया और अमरीकाकी छोटी रङ्गशालाओ (लिटिल थिएटर्स) मे उनका बडा आदर हुआ और इङ्गलैण्डकी अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियोमे भी उनका प्रचार बढ रहा है।

टाल्बोटका सिद्धान्त

एकाङ्की नाटककी रचनाके सम्बन्धमे टाल्बोटने दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—१. एकाङ्की नाटकमे यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता। २. यदि एकाङ्की नाटकमे विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए। टाल्बोटने प्रचार-नाटक तथा

भावपूर्ण नाटकोको इसलिये त्याज्य कहा है कि वे सब अत्यन्त सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मतके प्रचारके लिये लिखे जाते हैं।

टाल्बोटका सिद्धान्त है कि 'उन नाटकोको भी नाटकोमे सम्मिलित कर लेना चाहिए जो रूढिमे ढले नहीं होते अर्थात् जिनके व्यापार रङ्गमञ्चके उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढिगत नाटकोके चरित्रोके समान नहीं होते।' ये सिद्धान्त ड्रिङ्कवाटरके सावयव नाटको (औगेंनिक ड्रामा) के विरोधी हैं और ये सावयव नाटक 'कृत्रिम नाटको'के विरोधी हैं। टाल्बोटका दूसरा सिद्धान्त है कि 'उन तथा-कथित तीव्र नाटको अथवा विनोदरहित गम्भीर नाटको और प्रचार-नाटकोका बहिष्कार करना चाहिए जो अत्यन्त अस्वाभाविक रूपसे प्रभावशाली बनाए जाते हैं।' उसका कहना है कि 'त्रासदमे भी कुछ हँसी-विनोद होना ही चाहिए, कुछ तो मानसिक भावो तथा भावावेशो को शान्ति देनेके लिये और कुछ तुलना-द्वारा उसपर बल देनेके लिये। जो नाटककार विनोदसे ऊपर उठा रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमे अनुपातकी बुद्धि ही नहीं है क्योकि विनोद एक प्रकारका दार्श-निक उन्माद है, जो केवल नाटकोमे ही नहीं वरन् इस रूखी दुनियाके लिये भी आवश्यक है।'

योरपमे एकाङ्की नाटक इतने अधिक लिखे गए कि उनके कई वर्ग बन गए। नीचे हम उन वर्गोका तथा प्रत्येक वर्गके सर्वश्रेष्ठ नाटककार तथा रचनाका भी परिचय दे रहे हैं—

१. सभ्य प्रहसन (पोलाइट फार्सेज़)—आर्नोल्ड बेनेका 'दि स्टेप मदर'। २ देवताओ और मनुष्योके नाटक (प्लेज औफ गौडस् ऐण्ड मेन)—लार्ड डनसेनीका 'ए नाइट ऐट एन इन'। ३. खुले मैदानके नाटक (ओपेन एअर प्लेज)—हैरोल्ड ब्रिगहाउसका 'हाउ दि वेटर इज़ मेड'। ४ परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्लेज़)—औलाइव कौन्वेका 'मिमी'। ५. गद्य-पद्य-मय नाटक (प्ले इन प्रोज़ ऐण्ड वर्स)—डब्लू०

बी० यीट्सका 'दि पौट औफ ब्रौथ'। ६. गोचर भूमि तथा हरे मैदानोके लिये नाटक (प्ले फौर दि मीडो ऐण्ड प्ले फौर दि लौन)—हैरोल्ड ब्रिग-हाउसका 'दि प्रिंस हू वाज़ ए पाइपर'। ७ दूर और पासके नाटक (प्लेज औफ फार ऐण्ड नियर)—लौर्ड डलसेनीका 'दि प्लाइट औफ दि क्वीन'। ८ प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण नाटक (विटी प्लेज़)—जी० जी० टाल्बोटका 'दि स्पार्टन गर्ल'।

इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक जीवन-सम्बन्धी, विशेषतः लन्दनके आचारसे सम्बद्ध एकाकी नाटक भी लिखे गए हैं। इन नाटकोका प्रारम्भ किया था हैरोल्ड चैपिनने, जिसका 'मे फेयर' नाटक बडा प्रसिद्ध है। स्वर्गीय विलियम आर्चरका 'दि डम्ब ऐण्ड दि ब्लाइण्ड' तो एकाकी नाटकोमे सर्वश्रेष्ठ है, जिसका कारण उसकी सरलता और स्पष्टता है।

इन सभी प्रकारके एकाकी नाटकोकी रचनाएँ साधारण दृश्य-मात्रसे लगाकर नाटकके सभी तत्त्वोसे पूर्ण नाटकतकमे हुई है और विभिन्न नाटककारोने अपने नाटकोको यथासम्भव प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न किया है। इस प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये उन्होने प्रायः लोक-भाषाका आश्रय लिया है और दृश्यविधान गुम्फित बना दिया है, अर्थात् उसमे घटनाओ, पात्रो अथवा स्थितियोका परिवर्तन दिखलाकर उन्हे सरस, बोधगम्य, कुतूहल-पूर्ण बनाया है। इनकी रचनामे भी दो रूप हैं—एक तो वे, जो केवल एक दृश्यमे ही समाप्त हो जाते हैं, दूसरे वे, जो एक अकमे तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमे दृश्य कई होते है। किन्तु वास्तविक एकाकी वही है जिसमे एक ही कार्य एक ही स्थिति (दृश्य) मे एक ही भाव उत्पन्न करे।

सुखान्त नाटक (कौमेडी)

प्रारम्भमे तो 'कौमेडी' शब्दका अर्थ 'प्रहसन' था किन्तु आगे चलकर योरपमे 'कौमेदी' (कौमेडी) शब्द दो अर्थोंमे प्रयुक्त हुआ—१. प्रहसन, जिसमे मूर्खता, व्यग्य और धूर्तताके कृत्यो-द्वारा विनोद,

उत्पन्न किया जाता है और २. सुखान्त नाटक, जिसमें किसी नाटकका अन्त सुखमय हो। सुखान्त नाटकमें जितने कार्य होते हैं वे सब गम्भीर भी हो सकते हैं और अगम्भीर भी, किन्तु उनमें जो व्यापार हो वह मूर्खता, व्यंग्य और धूर्त्तताके द्वारा विनोद करनेवाला न होकर पात्रोंकी मस्त, विनोदशील और प्रसन्न प्रकृतिके कारण ही हो। ये नाटक भी या तो गद्य-सवादात्मक होते थे या सङ्गीतात्मक या मूकाभिनयात्मक। इसी प्रकार फ्रांसमें कौमेदी शब्द 'प्रहसन'के लिये न प्रयुक्त होकर व्यापक अर्थमें अत्रासदीय रचनाओंके लिये प्रयुक्त होने लगा, जैसे दिदरोके 'कुलपिता' (दि फादर औफ फैमिली) के लिये। कुछ ऐसे भी थे जिनकी शैली और विषय-योजना निम्न कोटिकी थी किन्तु अन्त सुखमय होता था। उसे भी कौमेदी कहने लगे, जैसे दाँतेकी 'डिवाइन कौमेदी' या बालजक्की 'ला कौमेदी ह्यूमेन'।

इनमेंसे त्रासदके सम्बन्धमें कहा जा चुका है, शेष अनेक प्रकारके नाटकोंका परिचय नीचे दिया जाता है।

समस्या नाटक (प्रौब्लम प्ले)

समस्या-नाटकका रूप गम्भीर होता है किन्तु त्रासद नहीं होता। इसमें जीवनकी हँसी और आँसू मिले-जुले चलते हैं अथवा किसी सामयिक मुख्य समस्याका सङ्घर्ष दिखाया जाता है। इन समस्याओंमें व्यक्ति और समाजका अथवा समाजके ऐसे दो वर्गोंका सङ्घर्ष दिखाया जाता है, जिनका आचार-विचार अधिक समयसे रूढ हुआ चला आ रहा हो। ऐसे मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक नाटक भी इसी समस्या-नाटकके अन्तर्गत आते हैं, जिनमें मनुष्यका कर्त्तव्य और प्रेम अथवा आत्मसम्मान और सत्यमें मानसिक सङ्घर्ष दिखाया जाता है। इसमें नाटककार या तो स्वयं मनोवैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिसे समाधान कर देता है या इस प्रकार परिस्थितियाँ उपस्थित करता है कि दर्शक स्वयं उस समस्याका समाधान कर लें। ये सब नाटक बुद्धिवादी, यथार्थवादी और प्रकृतिवादी होते हैं। इसी प्रकारके नाटक

आचार-नाटक (कौमेदी द म्यो या कौमेडी औफ मैनर्स) हैं जिनमे फ्रान्सके सामाजिक आचारका प्रदर्शन हुआ जो विशेषतः समस्या-नाटकोके रूपमे व्यक्त हुए। इन्हींसे आगे चलकर यथार्थपूर्ण ऐसे समस्या-नाटक (थीसिस प्ले) बने जिनमे नाटककार स्वतः समस्याका समाधान कर देता है जैसे इब्सन या बर्नर्ड शौके नाटक।

प्रहसन

योरप, चीन, जापान तया अन्य देशोमे जो प्रहसन चले वे सब तीन श्रेणियोमे बाँटे जा सकते है—१. विनोदात्मक, २. व्यग्यात्मक और २ भँडैती या फूहड नाटक। इन प्रहसनोका मुख्य उद्देश्य दर्शकोको हँसाना है। यह हँसानेका काम तीन ढङ्गसे होता है—१. मूर्खताके कार्य और मुद्राएँ प्रदर्शित करके, २. दूसरेको मूर्ख बनाकर और ३. किसी प्रमत्तका मद दूर करके। इन प्रहसनोमे 'सातिर' नामके दोरियन प्रहसन यूनानी पुराणके किसी चरित्र या घटनाकी खिल्ली उडानेके लिये लिखे हुए गीतोमे मिलते हैं। इन गीतोके समवेत गायक पशुओकी खाल ओढकर और घोडे या बकरेकी मूँछ लगाकर चलते थे। ये 'सातिर' नाटक प्रहसनात्मक विश्राम (कौमिक रिलीफ) देनेके लिये त्रासदोके पश्चात् खेले जाते थे।

श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले या फीचर)

आजकल रेडियापर अनेक नाटक सुनवाए जाते हैं जो पूर्णतः श्रव्य होते है। इन नाटकोमे कम पात्र, कम घटनाचक्र और थोड़े स्वाभाविक सवाद रखने पडते हैं इसलिये उनकी अवधि भी आध घण्टेकी होती है। इन नाटकोमे कथा-प्रसङ्गकी घोषणा (नेरेशन) होती है जिसके द्वारा बीचकी कथा सुना दी जाती है। यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनो होना चाहिए किन्तु रेडियोपर जो नाटक प्रस्तुत किए जाते है वे दृश्य-रेडियो (टेलिविजन) के प्रचलित होनेतक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत कर रहे है। ऐसे श्रव्य नाटकोके चार अङ्ग होते है—सूचना, २. सवाद, ३. ध्वनि-युक्त व्यापार-योजना और ४. सङ्गीत (गीत, वाद्यतथा नृत्य)।

इसकी रचना करते समय सवादके अतिरिक्त शेष सब कार्य एक सूचकके द्वारा बीच-बीचमे सूचित कराया जाता है जिसकी भाषा इतनी काव्यमय और प्रभावशाली किन्तु सरल होती है कि सूचक उसे पढते समय वाचिक स्वरके उतार-चढावके द्वारा उसके भाव व्यक्त करता चलता है। इसमे रङ्गनिर्देश तथा सवाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकोमे, किन्तु सवाद ऐसे होते है जिनमे अधिकसे अधिक वाचिक अभिनयका अवसर हो। इसका जो अङ्ग विशेष ध्यान देनेका है, वह है ध्वनि युक्त व्यापार-योजना। साधारण दृश्य-नाटकमे तो अभिनेताओकी सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इसलिये कोई असुविधा नहीं होती किन्तु 'वह उठकर जाता है, चलता है, सोचता है' आदि क्रियाएँ श्रव्य-नाटकमे तो देखी नहीं जा सकतीं और प्रत्येक ऐसी क्रिया सूचित भी नहीं की जा सकती क्योकि उससे भावधारा टूटनेकी आशङ्का पग-पगपर बनी रहती है। इसलिये इसमे ध्वनियुक्त व्यापारोकी योजना करनी पडती है जिससे श्रोता उस व्यापारको कानसे समझ सके, जैसे प्याले धोना, थाली गिराना, मोटरका भोपा, चिड़ियों या अन्य जीवोकी बोली, किवाड़की भडभडाहट, घडीकी टिकटिक, घण्टा-ध्वनि, घोडेकी टाप, तलवारोकी खनखन, पिस्तौलकी धायँ आदि। इसमे सङ्गीत वैसा ही होता है जैसा अन्य नाटकोमे किन्तु इसमे यह सकेत कर दिया जाता है कि कहाँ, किस राग, किस ताल और किस लयमे वाद्यके साथ नृत्त या गीत हो या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्त हो।

पाठ्य नाटक (क्लोज़ेट ड्रामा)

प्राय. 'पाठ्य नाटक' शब्द केवल पढ़े जानेवाले नाटकोके लिये अर्थात् उन नाटकीय काव्योके लिये निन्दाके रूपमे प्रयुक्त होता है जो खेले न जा सकें। इनके अतिरिक्त बहुतसे पाठ्य नाटक रङ्गमञ्चपर खेले जानेके लिये लिखे भी गए थे किन्तु सफलता न मिलनेपर वे पाठ्य नाटक बन गए। कुछ नाटक केवल पढ़े जानेके उद्देश्यसे लिखे गए किन्तु वे रङ्गमञ्चपर अत्यन्त सफलताके साथ खेले भी गए है। यह भी सम्भव

है कि जो नाटक किसी एक देशमे, किसी एक युगमे लिखे और खेले जा चुके हो, वे किसी दूसरे देश या युगमे सफलता पूर्वक न खेले जा सकें। अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या यूनानी त्रासद और सस्कृत नाटक पाठ्य नाटक ही है, क्योकि उनमेसे अधिकाश खेले नहीं जाते? क्या उनका प्रयोग, परिस्थितियाँ या प्रभाव-शक्तियाँ बदल गई है? कुछ लोग केवल पढ़नेके लिये ही नाटक लिखते है यद्यपि यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही है। कुछ लोगोने खेले जाने योग्य नाटकोमे रङ्ग-निर्देश, अन्तराल-व्याख्या तथा दृश्य-व्याख्या देकर नाटकको पठनीय बना दिया है और अभिनेताओको अपनी भूमिका समझनेमे सहायता भी दी है जैसे अभिनवभरतके 'अनार-कली'मे। कभी-कभी सफल नाटककार भी ऐसा नाटक लिख देता है जिसे वह समझता है कि यह रङ्गमञ्चपर नहीं खेला जा सकता, क्योकि वह रङ्गशाला, अभिनेता और दर्शककी आवश्यकताओंमे अपनेको बाँधना नहीं चाहता। फिर भी उसे काट-छाँटकर एक सुन्दर नाटक बनाया ही जा सकता है, जैसे इब्सनका 'पीयरगिंट' या गेटेका 'फ़ाउस्ट'।

रेचन (कथार्सिस)

अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमे त्रासदीय रेचन या ट्रेजिक कथार्सिसके सम्बन्धमे सक्षेपमे चलता-सा विवरण दिया है। इसपर सोलहवीं शताब्दीके व्याख्याताओने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक प्रश्न उठाए हैं। काव्यशास्त्रमे वह अश इस प्रकार है—'करुणा और भयके भावोके द्वारा त्रासद इस प्रकारके भावोका रेचन कर देता है।' इससे अधिक व्याख्या उस काव्य-शास्त्रमे प्राप्त नहीं होती। जिन लोगोने अरस्तूके इस वाक्यका अर्थ समझानेका प्रयास किया है उन्होने अरस्तूकी आठवीं पुस्तक 'राजनीति' मे आए हुए एक अन्य छोटेसे वाक्यका आधार ग्रहण किया है या उसके भाषण-शास्त्रमे आई हुई करुणा और भयकी परिभाषाओ तथा प्लेटो, प्रोक्लस, प्रोतीनस और चाल्सिसके आयम-

ब्लिखसके छिट-पुट छोटे-मोटे वाक्योका आश्रय लिया है। जितना शास्त्रार्थ इस एक बातपर है उतना बहुत कम साहित्यिक समस्याओपर हुआ है। इस शास्त्रार्थकी दो धाराएँ है—१. अरस्तूका तात्पर्य क्या था ? और २. त्रासद तथा अन्य काव्यरूपोके उद्देश्योकी व्याख्या करनेके सम्बन्धमे इस कथासिंसके भावकी क्या उपयोगिता है ? जिस युगमे भी अरस्तूके तात्पर्यको समझानेका प्रयत्न किया गया है उसमे केवल तत्कालीन युगकी प्रवृत्तियोको ही प्रतिबिम्बित किया गया है अतः इस भावनाको भी विचारोके इतिहासमे महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए, क्योकि इसके आधारपर सरलतासे अनेक सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोका प्रवर्तन किया गया। सोलहवीं शताब्दीमे इटलीमे इसके तीन मुख्य अर्थ लगाए गए जिनमेसे दो तो नवोदासीनतावादी (नियो-स्टोइसिज्म) मतके साथ बहुत मिलते-जुलते थे और वे नैतिक अर्थ लगाते थे। तीसरे मतवाले वे लोग थे जो रुचि-परक मनोविज्ञानका आरोप करते थे। राबरतेली (१५४८), कास्तेलवेत्रो (१५७०), हेइनसियस (१६११), वौसियस (१६४७), आदिने एक कठोरीकरण (हार्डेनिङ्ग) का सिद्धान्त उपस्थित किया कि 'दुःख और हत्या आदिके दृश्य देखकर दर्शकके हृदयकी भय और करुणाकी दुर्बल वृत्तियाँ कठोर हो जाती हैं और वह ऐसे दृश्योको सहन करनेके योग्य कठोर-हृदय हो जाता है।' कौर्नीलने अत्यन्त शक्तिशाली किन्तु सन्देहवादसे भरा हुआ सिद्धान्त अपने द्वितीय व्याख्यान (१६०७) मे समझाते हुए कहा है कि 'त्रासदीय करुणा या तो दर्शकको आत्मरक्षाके लिए भयभीत करती है या उसके हृदयमे आशङ्का उत्पन्न करती है क्योकि वह त्रासदके चरित्रका पतन देखकर और उस पतनके कारण देखकर स्वय अपनी दुर्बलताओकी उससे तुलना करने लगता है और यह परिणाम निकालता है कि चरित्र की अमुक-अमुक दुर्बलताके कारण अमुक नायकको यह कष्ट या दुष्परिणाम भोगना पड़ा तो मुझे भी ऐसा भोगना पडेगा। यह भाव सस्कार धीरे-धीरे चलकर भय उत्पन्न करके मनुष्यके मनमे पापोसे

शङ्कित होनेका सस्कार उत्पन्न कर देता है जिससे वह अपने भावोको अपनेवशमे करनेका निश्चय करके अपना परिष्कार कर लेता है।' तीसरा सिद्धान्त बहुत कुछ आत्मोपचारका सिद्धान्त है जिसे हम आत्म-सुधारका सिद्धान्त भी कह सकते है और जो आजकलके कथार्सिसके सिद्धान्तसे बहुत मिलता-जुलता भी है। इस सिद्धान्तने मिन्टर्नो और मिल्टन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियोको भी प्रभावित किया। इसका कथन है 'भावोका बोझ उतारकर रख देना ही वास्तविक रेचन (कथार्सिस) है।' उनका मत है कि 'समान भाव अपने समान भावको निकाल फेंकते है अर्थात् यदि हम भयानक दृश्य देखें तो हमारे हृदयमे रहनेवाला भयका भाव भाग खडा होता है।'

किन्तु रेचनका तात्पर्य यही है कि हमारे मनमे जो करुणा, भय आदि अनेक भाव दबे पड़े है उन्हे साधारण जीवनमे व्यक्त होनेका अधिक अवसर नहीं मिलता और इसलिये हम यही नहीं जान पाते कि इनका उचित प्रयोग कहाँ करना चाहिए, किन्तु त्रासद देखकर उनका उचित परिष्कार हो जाता है, उनके प्रवाहका उचित मार्ग बन जाता है और इस प्रकार भावका रेचन हो जाता है।

नाट्य-समीक्षण

नाटककी समीक्षा हमे दो दृष्टियोसे करनी चाहिए—१. नाट्य-रचना और २. नाट्य-प्रयोग। रचनाकी समीक्षामे हमे इन प्रश्नोका उत्तर देना चाहिए—१. नाटककारने किस उद्देश्यसे नाटककी रचना की है? २. उस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये नाटककारने किस प्रकारके, कितने पात्रो और किन घटनाओका समावेश किया है? ३. किस प्रकार नाटककारने घटनाओ और पात्रोके संयोजनमें कुतूहल निर्वाह करते हुए पात्रो और घटनाओका सामञ्जस्य स्थापित किया है? ४. जितने पात्रोका प्रयोग किया गया है उनमेसे कितने ऐसे हैं जिनका संयोजन अनिवार्य है? ५. कितने पात्र ऐसे हैं जिनके बिना भी नाट्य-व्यापार सरलता और सुचारु रूपसे सञ्चालित किया जा सकता था? ६. कितनी घटनाएँ

ऐसी हैं जो पात्रोके चरित्र-विकास और कथा-प्रवाहके सवर्द्धनकी दृष्टिसे उचित और अपरिहार्य थीं ? ७. उनमेसे कितनी घटनाएँ अनावश्यक, असम्भव और अस्वाभाविक है और कितनी घटनाएँ सम्भव, स्वाभाविक और आवश्यक हैं ? ८. नाटककारने जो परिणाम निकाला है वह उसके उद्देश्यकी दृष्टिसे कहाँतक सङ्गत है ? ६. उस घटनाके परिणामको किसी दूसरे रूपमें प्रस्तुत करनेसे उस उद्देश्यकी सिद्धि हो सकती थी या नहीं ? १०. स्वाभाविक होते हुए भी वह परिणाम कहाँतक वाञ्छनीय और घटनाओंके प्रवाहके अनुकूल है ?

विभिन्न पात्रोके लिये प्रयुक्त की हुई भाषा शैलीका भली प्रकार परीक्षण करते हुए नाट्य-समीक्षकको देखना चाहिए कि '१. विभिन्न श्रेणीके पात्र जिस भाषाका प्रयोग करते हैं वे उस श्रेणीके पात्रकी मर्यादाके अनुकूल हैं या नहीं । २. भाषाके प्रयोगमे सम्भावना और आवश्यकताके साथ-साथ स्वाभाविकता तथा औचित्यका विचार भी किया गया है या नहीं । (औचित्यका तात्पर्य यह है कि सवादोंमें परस्पर जोड-तोड़, उत्तर-प्रत्युत्तरकी सङ्गति और क्रम ठीक है या नहीं ।) ३. उसका कितना अंश कथा-प्रवाहको आगे बढ़ाने तथा पात्रोका चरित्र स्पष्ट करनेके लिये आवश्यक है ? ४. कितना भाग ऐसा है जिसे निकाल देनेसे नाटकके सौन्दर्य और कथा-प्रवाहमे किसी प्रकारकी कोई त्रुटि उपस्थित नहीं होगी ? ५. उस सवादको सुनकर सामाजिक या दर्शक उसे सरलतासे समझकर भली-भाँति उसका रस ले पावेंगे या नहीं ? अर्थात् इतना रस, विनोद, जोड़-तोड़के प्रत्युत्तर, प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण उक्तियाँ हैं या नहीं जिन्हे सुनते ही दर्शक या सामाजिक तदनुकूल प्रभावसे रस-मग्न हो जाय ।' वास्तवमे संवाद ही नाटककी प्राणशक्ति होता है । अभिनेताओंको अभिनय करनेमे और दर्शकोंको नाट्यका वास्तविक आनन्द लेनेमे सबसे अधिक सहायता सवादसे ही मिलती है । अतः संवादका परीक्षण इस दृष्टिसे नहीं करना चाहिए कि नाटककारने इसमे काव्य कितना भरा है, वरन् इस दृष्टिसे करना

चहिए कि नाटककारने जिस उद्देश्यसे नाटक लिखा है उस उद्देश्यकी पूर्त्तिके निमित्त अभिनेताओंके सहयोगसे वह जो विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसकी सम्भावनाएँ सवादमें है या नहीं। इस दृष्टिसे परीक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि काव्य कलाकी दृष्टिसे जो सवाद अत्यन्त भावपूर्ण और सरल प्रतीत होते हैं वे नाट्य-प्रयोगकी दृष्टिसे अत्यन्त नीरस और प्रभावहीन हो जाते है। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि गीत, नृत्य, वाद्य आदिका सयोजन कहाँ-तक, उचित, उपयुक्त और आवश्यक हुआ है।

प्रयोगकी दृष्टिसे भी नाटककी परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि १. नाटककारने दृश्य-विधान इस क्रमसे रक्खा है या नहीं कि निर्बाध रूपसे नाट्य-प्रयोक्ता उन दृश्योंका सरलतासे विधान कर सके और उस दृश्य-क्रमसे नाटककी कथा-धाराका क्रम ठीक बनाए रक्खे। २. नाटककारने जो रङ्ग-निर्देश दिए हैं वे असम्भव, अयोजनीय, अस्वाभाविक और अप्रयुक्त तो नहीं है। प्रायः नाटककार या तो रङ्ग-निर्देश देनेमें अत्यन्त सङ्कोची होते है या इतने उदार होते है कि वे कई पृष्ठ रङ्ग-निर्देशमें रँग डालते है। ३. रङ्ग-निर्देशमें रङ्ग-व्यवस्थापकको दृश्य-सज्जाके लिये, नेपथ्य-विधायकको वेश और रूप-सज्जाके लिये, प्रकाश-विधायकको रग-दीपकके लिये और अभिनेताको अभिनयके लिये स्पष्ट, उचित और आवश्यक निर्देश मिले है या नहीं। ४. नाटककारने अभिनेताके, वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये पर्याप्त सम्भावनानाएँ उपस्थित की है या नहीं। अर्थात् संवादोंमें उसने इतनी गति भरी है या नहीं कि अभिनेता उसके अनुसार अभिनय करते समय अपना सम्पूर्ण अभिनय-कौशल प्रदर्शित करके उचित नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर सकें अर्थात् नाटककारने व्यापार-योजना, क्रिया-योजना इतनी पर्याप्त रक्खी है या नहीं कि अभिनेता उनका अनुकरण करके नाटककार-द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके। प्रायः आजकल ऐसी प्रवृत्ति बन गयी है कि जब हम किसी बड़े लेखककी

कृतिका समीक्षण करने बैठते हैं तब उस लेखककी महत्कीर्त्तिका आतङ्क हमें तत्काल दबा बैठता है और हम समीक्षण करते-करते बलपूर्वक उसके दोषोको भी गुण बतानेके लिये बाध्य हो जाते हैं। ५. समीक्षकको इस प्रकारके दुष्ट आतङ्कसे सदा बचे रहना चाहिए और उसे निष्पक्ष होकर यह देखना चाहिए कि यह जिन दर्शकोके लिये लिखा गया है उनकी समझमे आ सकेगा या नहीं। ६. इसका सविधानक या कथाक्रम ऐसा तो नहीं उलझा दिया गया है कि कथा समझनेमें ही दर्शकोको कठिनाई हो। ७. इसका दृश्य-विधान इतना अव्यवस्थित, असम्भव और दुरूह तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ता उसे प्रस्तुत ही न कर सके। ८. उसका पात्र-विधान इतना जटिल तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ताको वैसे पात्र ही न मिल सकें। ९. उसका सवाद-विधान ऐसा कठिन तो नहीं है कि अभिनेता उसमे अभिनयकी सम्भावनाएँ ही न पा सकें। १०. सवाद इतना पाण्डित्यपूर्ण तो नहीं है कि दर्शक तो दूर, स्वयं अभिनेता ही उसका अर्थ न समझ पावे। ११. वह जिस प्रकारके रङ्गमञ्चके लिये लिखा गया है उसके लिए कहाँतक उपयुक्त है? दर्शकोपर उसका क्या मनोवैज्ञानिक या सास्कारिक प्रभाव पड़ा है और वह कहाँतक सफल हो पाया है? १२. उससे कोई अनैतिक या असामाजिक प्रभाव तो नहीं पड़ा है? इतने प्रश्नोका उत्तर देनेपर ही नाट्य-समीक्षा पूर्ण होती है।

४

निबन्ध

'निबन्ध' (ऐस्से) वास्तवमे क्या है यह ठीक-ठीक निचश्य नहीं हो पाया है। साधारणतः गद्यमे किसी एक निश्चित विषयपर लिखा हुआ छोटासा लेख ही निबन्ध कहलाता है। इनमेसे कुछ औपचारिक निबन्ध अर्थात् जीवन-चरितात्मक, ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और

साधारण व्याख्यात्मक निबन्ध होते हैं, कुछ सम्पादकीय लेख, ग्रन्थ परिचय, पत्रिका और समाचार पत्रोंके लेख होते है, कुछ चरित्र-चित्रण (कैरेक्टराइज़ेशन), प्रभावात्मक लेख, व्यक्तिगत निबन्ध, विनोदपूर्ण निबन्ध और चित्रण होते हैं। इसे हम निम्नलिखित मानचित्र-द्वारा स्पष्ट कर सकते है—
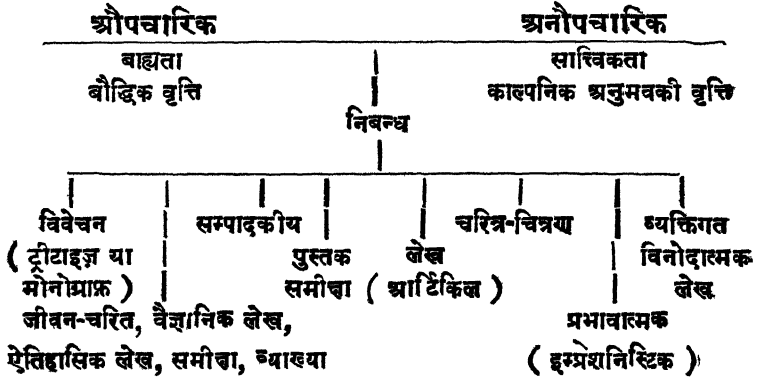
साहित्यिक दृष्टिसे निबन्धके अन्तर्गत केवल जीवन-चरितात्मक, ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, व्यक्तिगत, परिचित, विनोदपूर्ण और चित्रण आदि व्यवस्थित रूप ही आते हैं। इन सब लेखोंमें सत्तेप-वृत्ति और विषयकी परिमिति ही महत्त्वकी होती है। इनमेंसे जो औपचारिक (फौर्मल) मण्डलमें हैं वे विषयको एक विशेष क्रमसे चलाते है और जो अनौपचारिक (इन्फौर्मल) मण्डलमें हैं वे स्वतन्त्र रूपसे विचारोंका सामञ्जस्य करते हैं। यह सामञ्जस्य प्रायः भावुकता, कल्पना और सनकके आधारपर होता है। इसमें प्रायः अभिव्यक्तिके ढङ्ग या उसकी श्रेष्ठता-पर ही अधिक ध्यान रहता है।

प्राचीन लेखकोंने भी इस प्रकारकी रचनाएँ की हैं किन्तु उन्हें निबन्ध नहीं कहा गया। प्लेटोके संवाद, थियोफ्रेस्टसके चरित्र, प्लिनी और सेनेकाके पत्र, प्लूतार्कके नैतिक लेख, सिसरोके विवाद, मार्क्स

औरीलियसके एकान्त-विचार, अरस्तूके लेख, ये सब आज निबन्ध (ऐस्से) के अन्तर्गत गिने जा सकते है। 'ऐस्से' शब्दका अर्थ है 'प्रयोग' जो स्वय अपूर्ण और अस्थिरताका द्योतक है। इस शब्दका प्रथम प्रयोग मार्च सन् १५७१ मे माइकेल दि मौन्तेनने अपने 'दोष-स्वीकरण' (कन्फैशन्स) की टिप्पणियोके शीर्षक-रूपमे किया था। उसने इन विषयोपर विचार किए हैं—'हमारी इच्छाएँ सङ्कटोसे परिवर्द्धित हैं', 'पिताओका बच्चोंके प्रति प्रेम', 'सुस्ती', 'मिथ्याभिमान' आदि।

फ्रान्सिस बेकनके निबन्ध (१५९७) सक्षिप्त, तीक्ष्ण, साधिकार और मौन्तेनके सौन्दर्यसे हीन हैं। वे शुद्ध व्याख्या है। दोनो लेखक उद्धरण, उदाहरण और अलङ्कारोका अधिक प्रयोग करते थे जिसमे बेकन तो इस विषयमे बहुत आगे बढ़ गया है।

'सावधिक निबन्ध' (पीरिओडिकल ऐस्से) का प्रवर्त्तन किया डैनियल डीफोने (१७०४), उसका विकास किया रिचार्ड्स स्टीलने अपने 'टेटलर' मे (१७११) और उसका प्रयोग किया ऐडिसनने "स्पैक्टेटर"मे (१७११, १२, १४)। उसका प्रभाव योरपमे बहुत दूर-दूरतक फैला। एडिसनने स्पैक्टेटरके लेखोको दो भागोमे बाँट दिया—१. गम्भीर निबन्ध और २. सामयिक पत्र। दूसरे प्रकारके पत्रोमे सनकभरे, विनोदपूर्ण, अल्प व्यग्यपूर्ण, नागरिकताके भावोसे पूर्ण तथा सरल शैलीसे पूर्ण वे लेख थे जो आजतक भी व्यक्तिगत या विनोदपूर्ण निबन्ध समझे जाते है। इनमे पाठकगण लेखकी विचार-प्रवाहिता तथा स्वतन्त्र विचार-शीलता ढूँढ़ लेते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं मानो उन्होने लेखकको अचानक पकडकर उसकी सब बातें सुन ली हो। इस गुणमे ऐसी आत्मीयताकी आवश्यकता होती है जो यद्यपि असङ्गत तो प्रतीत होती है किन्तु बडे ढङ्गसे सजी रहती है। व्यक्तिगत निबन्धवाले भी अनुभवका उतना ही प्रयोग करते हैं जितना ज्ञानका और उनमे भी निर्णय, रुचि और मौलिकता दिखाई पड़ती है। इस

प्रकारके व्यक्तिगत निबन्ध उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दीमे इङ्गलैण्ड और अमरीकामे बहुत लिखे गए।

इङ्गलैण्डके विक्टोरिया युगमे तथा फ्रास और जर्मनीमे उन्नीसवीं शताब्दीमे गम्भीर और नियमित निबन्ध बहुत अधिक लिखे गए, विशेषतः आलोचनात्मक या ऐतिहासिक प्रकारके। उस शताब्दीमे और वर्त्तमान युगमे विभिन्न देशोमे पत्र-पत्रिकाएँ ही इन निबन्धोके लिये आधार बनीं क्योकि उन्हे छोटे ही निबन्धोकी चाह थी। फ्रान्समें साहित्यिक आलोचना क्षेत्रमे इस प्रकारका निबन्ध बहुत चला। १९०० के पश्चात् स्पेनमे बहुत लोगोने बहुत प्रकारके निबन्ध लिखे। हमारे इस भीड-भाडके युगमे भी नियमित राजनीतिक निबन्ध विश्लेषण, स्पष्टीकरण, भविष्यवाणी और कार्य-क्रम या नीतिके रूपमे बहुत लिखे जा रहे हैं किन्तु व्यक्तिगत निबन्ध अब समाप्त हो चले है।

किन्तु वास्तविक निबन्ध वही होता है जिसमे लेखक मनमे उठे हुए किसी भावात्मक विचारको दार्शनिक रूपसे तत्त्व-निरूपणकी शैलीसे व्यक्त करे, जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी 'कविता क्या है', 'करुणा' आदि। शेष प्रकारके लेख उद्दिष्ट होते हैं। वे सब समीक्षाके अन्तर्गत ही आते हैं जिनका विवरण पीछे दिया ही जा चुका है

साधारणतः निबन्ध वह साहित्य-रूप है जो न बहुत बडा हो न बहुत छोटा, जो गद्यात्मक हो, जिसमे किसी विषयका अत्यन्त सरल चलता-सा विवरण हो, विशेषतः उस विषयका वर्णन हो जिसका स्वय लेखकसे सम्बन्ध हो। तात्पर्य यह है कि निबन्धमे किसी विषय-पर लेखककी व्यक्तिगत भावनाओ, अनुभवो और विश्वासोका ही विवेचन हो। प्रसिद्ध निबन्धकार डोक्टर जौन्सनने निबन्धको 'अनियमित और बिना पचा हुआ लेख' कहा है। इसपर आपत्ति करते हुए कुछ लोगोने कहा है कि 'अनियमितता तो मानी जा सकती है किन्तु मस्तिष्कसे निकले हुए विचारको बिना पचा हुआ अर्थात् उचित मानसिक विवेचनसे हीन कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। इसके बदले

यदि कहा जाय कि अनुभव और गम्भीर ध्यानका सक्षिप्त और लघु परिणाम ही निबन्ध है तो अनुचित न होगा क्योकि मौन्तेन, ऐडिसन या लैम्बके निबन्धोको बिना पचा हुआ नहीं कहा जा सकता। हॉ, यह अवश्य है कि सेनेकाके पत्रोको हम निबन्ध नहीं मान सकते, जैसा बेकनने बताया है।'

कुछ लोगोने भूलसे निबन्धोकी श्रेणी गिनाते हुए तीन प्रकारके निबन्ध बताए—१. कथात्मक (नेरेटिव), २. वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव), ३. विचारात्मक (रेफ्लेक्टिव)। इनमेसे कथात्मक और वर्णनात्मक लेख वास्तवमे निबन्ध नहीं होते, वे तो कथा या वर्णन ही होते हैं अतः उन्हे निबन्ध समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए क्योकि निबन्धमे शुद्ध रूपसे मनमे उठे हुए किसी विचारका विवेचन होता है। इस दृष्टिसे केवल वे ही वर्णन निबन्धके अन्तर्गत आते हैं जिनमे लेखक उन वर्णनोके आधारपर स्वय चिन्तन करके नये विचार उपस्थित करना चाहता है। किन्तु यदि उसमे केवल वर्णन ही वर्णन हो और विचारका अभाव हो तब उसे निबन्ध नहीं कहा जा सकता।

निबन्धके रूप

जबसे मौन्तेनने निबन्धका प्रवर्त्तन किया तबसे जितने प्रकारके चिन्तनात्मक लेख लिखे गए, उन सबको हम पॉच श्रेणियोमे विभक्त कर सकते हैं—१. व्याख्यात्मक निबन्ध जिसके अन्तर्गत वे निबन्ध आते हैं जिनमे लेखकने किसी विषयके विभिन्न पक्षोका साधिकार विवेचन किया हो अर्थात् जिनमें उसने विशेषतः अपने अध्ययनसे अनेक आचार्योंके मतसे पुष्ट करके किसी विषयकी मीमासा की हो। सामाजिक तथा साहित्यिक समस्याओके लिये व्याख्यात्मक निबन्ध ही लिखे जाते हैं। २ विचारात्मक निबन्ध, जिसमे लेखक स्वतः अपने अनुभव और चिन्तनसे किसी विषयका तर्कपूर्ण विवेचन करता हो। प्रायः दार्शनिक विषयोंके लिये विचारात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं। ३. गवेषणात्मक निबन्ध, जिसमे लेखक किसी नवीन मौलिक विचार

या विषयको प्रस्तुत करके विभिन्न पक्षोका विस्तारसे विवेचन करता है। इसीके अन्तर्गत वे निबन्ध भी आते हैं जिनमे किसी प्राचीन सिद्ध विषयका विवेचन नई दृष्टि या नये अर्थके साथ किया गया हो। ४. भावात्मक निबन्ध, जिसमें लेखक किसी विषय, वस्तु या व्यक्तिके प्रति अनुरक्ति या विरक्तिके कारण भाविकतापूर्ण भाषामे उसकी निन्दा अथवा प्रशसा करता हो। ५.समीक्षात्मक निबन्ध, जिसमें लेखक किसी साहित्यिक या दार्शनिक विषयका सूक्ष्म अध्ययन करके उसके विभिन्न पक्षो और अङ्गोका विश्लेषण करके उसकी श्रेष्ठताकी स्थापना करता हो और तटस्थ होकर उसके गुणोका सैद्धान्तिक समर्थन करता हो।

व्यक्तिगत निबन्ध

इधर थोडे दिनोसे व्यक्तिगत निबन्ध (पर्सनल ऐस्सेज़) का प्रचार चला है। इसका तात्पर्य यह है कि लेखक केवल अपनी दृष्टिसे अर्थात् अपने मनपर पडे हुए प्रभावकी दृष्टिसे ही किसी विषयका निरूपण करता है और इस फेरमे नहीं पडता कि दूसरे उस विषयके सम्बन्धमे क्या सोचते है। इन निबन्धोमे केवल अपनी भावानुभूतिका ही परिचय दिया जाता है और उसमे यह प्रवृत्ति भी रहती है कि मैं जिस बातको ठीक समझता हूँ वही वास्तवमे ठीक पक्ष है और उसका सबको अनुगमन करना चाहिए। इधर कुछ लोगोने निबन्धको एक साहित्यिक आत्मविनोदके रूपमे भी प्रयुक्त किया, जैसे जी० के० चैस्टर्टन और ई० वी० लूकसके निबन्ध। इनके अतिरिक्त जो समीक्षात्मक और साहित्यिक निबन्ध लिखे गए उन्हे समीक्षाके अन्तर्गत ही मानना चाहिए, निबन्धके अन्तर्गत नहीं।

निबन्धके तत्त्व

निबन्धके पाँच तत्त्व होते हैं—१. विचार, २. विचारोंके समर्थक तर्क, ३. विचारोंके विरोधी तर्क, ४. विचारोका समन्वय और ५. मत-स्थापना। प्रत्येक निबन्धकारको इन तत्त्वोका सग्रह करनेके अनन्तर आगे दिए हुए एक विशेष क्रमसे उपर्युक्त तत्त्वोका विधान करना

चाहिए—१. प्रस्तावना या विषय-प्रवेश, २. विरोधी तर्कोंका खण्डन, ३. दोनो पक्षोके मतोका तुलनात्मक विवेचन, ४. अपने पक्षकी स्थापना और ५. उपसंहार या निर्णय।

निबन्धकी शैली

निबन्धकी भाषा-शैली गम्भीर, पारिभाषिक तथा दार्शनिक होनी चाहिए क्योकि निबन्धो की रचना केवल उच्च श्रेणीके विचारकोंके लिये की जाती है। उसमे वाक्य-रचना अत्यन्त संश्लिष्ट, सुघटित, सन्तुलित, स्पष्ट तथा संक्षिप्त होनी चाहिए। उसमे कहीं शिथिलता, लघुता तथा कृत्रिमता और आवेगपूर्ण भावात्मकता नहीं आनी चाहिए। निबन्ध-लेखकको यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह कमसे कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक भाव भर दे और पाठकको मनन करनेका अवसर दे।

निबन्धकी समीक्षा

निबन्धकी समीक्षामे समीक्ष्यवादीको निम्नांकित समस्याओंका समाधान करना चाहिए—

१. लेखकने जो विपय चुना है वह कहाँतक निबन्धके योग्य है?

२. उसके लिये जो भाषा शैली चुनी गई है वह कहाँतक उपयुक्त है?

३. लेखकमे उस विषयके विवेचनकी निर्वाह शक्ति किन बातोंसे व्यक्त होती है?

४. दार्शनिक, संक्षिप्त और पारिभाषिक बननेके फेरमे लेखक अस्पष्ट तो नहीं हो गया?

५. लेखकके तर्क कितने प्रामाणिक और सशक्त हैं?

६. उद्दिष्ट विषय स्पष्ट रूपसे विविक्त हो पाया है या नहीं?

———

एकादश खण्ड

दर्शन और वाद

(१)

हिन्दी साहित्यका दार्शनिक आधार

हिन्दी साहित्यमे शुद्ध सासारिक प्रेम-सबधी, नीति-सबधी या केवल काव्य-कौशल प्रदर्शनके लिये जो रचनाएँ हुई उनके अतिरिक्त संतो और भक्त कवियोने जिस श्रेष्ठ साहित्यसे हिन्दीका श्रीवर्द्धन किया उसका आधार भारतीय और अभारतीय दर्शन तथा अनेक सामाजिक और आर्थिक वाद भी है। अतः इन दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक बिचारो और मतोका परिचय पाए बिना उन कवियोकी रचनाओका न तो ठीक अर्थ समझा जा सकता, न उनका रहस्य समझा जा सकता और न उनका रस ही लिया जा सकता है। अतः पहले हम भारतीय दार्शनिक मतोका परिचय देकर उसके पश्चात् विदेशी मतो और वादोका परिचय देगे।

हमारे भारतीय दार्शनिकोने प्रायः यह विचार किया है कि इस सृष्टिका स्रष्टा कौन है, इसका रूप क्या है, मनुष्य तथा अन्य प्राणी वास्तवमे क्या हैं, कहाँसे आए हैं और ये तथा यह सृष्टि नष्ट होकर क्या हो जायगी? इस प्रकार ईश्वर, ज़ीव और जगत्के सम्बन्धमे इन दार्शनिकोने विस्तृत विचार किया है। इनमेसे जिन दर्शनोने ईश्वरका अस्तित्व माना वे आस्तिक दर्शन कहलाए और जिन लोगोने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना वे नास्तिक कहलाए। पीछे चलकर यह माना जाने लगा कि जो वेदको प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन हैं और जो वेदको प्रमाण नहीं मानते वे नास्तिक दर्शन हैं। कुछ लोगोका यह

भी मत है कि इस शरीरसे भिन्न जीवका कोई अस्तित्व नहीं। ऐसे लोग मरणोत्तर जीवनके प्रति सर्वथा अविश्वास प्रकट करते हैं। इस प्रकारके लोगोको भी नास्तिक माना जाता है।

हिन्दी साहित्यकारोकी अधिकतर रचनाओके आधार आस्तिक दर्शन ही हैं। अतएव आरभमे हम आस्तिक दर्शनोका परिचय देनेके पश्चात् ही नास्तिक दर्शनोका परिचय देंगे।

आस्तिक दर्शन

आस्तिक दर्शनको शास्त्र कहते हैं। ऐसे शास्त्र हमारे यहाँ छह माने गए हैं। यद्यपि मूलतः इनमे एकही तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है किन्तु अधिकारी भेदसे इनके निरूपणका प्रकार भिन्न है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि गौतमका मत है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितडा, हेत्वाभास, छल, जाति और विग्रहस्थान इन सोलहके यथार्थ ज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है। इस ज्ञानके चार साधन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, आयतन (शरीर), इन्द्रिय, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्गका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान ये जीवके चिह्न हैं। सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न ये आत्मा तथा ईश्वरके गुण हैं। शरीर चेष्टा, इन्द्रियों तथा विषयोका आश्रय है। अर्थ सब परमाणु रूप हैं। शरीर पूर्वकर्मो और सस्कारोके फलसे बनता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पचमहाभूतोके सूक्ष्म अशसे बनती हैं। मन, अणुरूप अन्तःइन्द्रिय है। बुद्धि ज्ञानकी उपलब्धि मात्र है, वह अनित्य है।

सांख्यदर्शन

साख्यशास्त्रके प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। महर्षि गौतमने पदार्थोंके स्थूल रूप और गुणोसे ऊपर उठकर उनके सूक्ष्म (परमाणु) रूपका

विस्तार और विवेचन किया। महर्षि कपिलने इससे भी ऊपर जाकर प्रकृति-तत्त्वका विवेचन किया। साख्य दर्शनमे जगत्का विवेचन सीमा पर पहुँच गया।

साख्य दर्शनके अनुसार अनादि तत्त्व दो ही है—प्रकृति तथा पुरुष। जगत्मे चार प्रकारके पदार्थ माने गए हैं--१. प्रकृति २. विकृति, ३ प्रकृति विकृति तथा ४. दोनोसे भिन्न। प्रकृति किसीका कार्य नहीं अतः वह केवल प्रकृति है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व उससे अहकार और अहकारसे पचतन्मात्राएँ (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) उत्पन्न होती हैं। पचतन्मात्राओसे ही पंचमहाभूतो (आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व, अहकार और तन्मात्राएँ, प्रकृति-विकृति रूप है। विकृतिमे ज्ञानेन्द्रिय (कान, नाक, आँख, और जिह्वा, त्वक्), कर्मेन्द्रिय (हाथ, पैर, मुख, उपस्थ और गुह्य), पचमहाभूत और मनकी गणना की गई है। जीव दोनोसे भिन्न है। वह निर्लिप्त है। पुरुष और प्रकृतिमे अन्तर यह है कि पुरुष चेतन है, प्रकृति जड। प्रकृतिमे चेतना तभी आती है जब उसे पुरुषका सामीप्य प्राप्त होता है। अपने निर्लिप्त स्वरूपका ज्ञान जीवको जिस क्षण हो जाता है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

तीनो गुणो (सत्त्व, रज, तम) की साम्यावस्था ही प्रकृति है। सत्त्वका गुण सुख, रजका दु ख और तमका मोह है। यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण त्रिगुणात्मक है। अहकार त्रिविध होता है। उसके सात्त्विक अशसे मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा तामस अशसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। राजस अश दोनोका प्रेरक है। साख्यकारने कुल २५ तत्त्व माने है—पुरुष, प्रकृति, महत्, अहकार, पचतन्मात्राएँ, पचमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन।

पुरुष अनन्त है और वे परस्पर भिन्न है। पुरुष चेतन और भोक्ता हैं। जब पुरुष त्रिविध दुःखोके नासकी इच्छा करता है तब प्रकृति उसकी इच्छा पूर्ण करती है। पुरुषकी इच्छा न होनेपर प्रकृति

स्वय शान्त रहती है। साख्यकारने माना है कि सत्से सत्की उत्पत्ति हो सकती है। किसी पदार्थसे उसके विरोधी पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकते। जो पदार्थ जिस पदार्थसे व्याप्त है उसका कारण भी वही है। पदार्थका नाश नहीं होता उसका केवल तिरोभाव होता है।

योग दर्शन

साख्य दर्शनमे यदि जीवसे भी ऊपर कोई एक सत्ता मान ली जाय तो योग दर्शनका आधार बन जाता है। साख्य दर्शनकारने कुल २५ तत्त्व माने है। योग दर्शनकार महर्षि पतजलिने इन पचीस तत्त्वोके साथ ईश्वर नामका २६ वा तत्त्व भी माना है। योगदर्शनमे दुःख-नाशका व्यावहारिक साधन-मार्ग भी बतलाया गया है। महर्षि पतजलिका कहना है कि जीवके ये पॉच दुःख (क्लेश) है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश। ईश्वर इन क्लेशोसे मुक्त हैं। इतना ही नहीं, उनपर ससृति आदिका कोई प्रभाव नहीं पडता। वे अद्वितीय और ज्ञान रूप हैं। यह ससार दुःखमय है। इस दुःखका कारण कर्मबन्धन है जो चित्तकी वृत्तियोके कारण प्राप्त होता है। चित्तकी वृत्तियोका निरोध हो जाय तो सब प्रकारके क्लेशोसे जीव निवृत्त हो जाय और परमात्मा (ईश्वर) के साथ उसका योग हो जाय। इस स्थितिको ही कैवल्य कहते हैं। योग दर्शनकारने चित्तवृत्तिके निरोधके लिये जिस साधन-मार्गका उपदेश किया है उसे अष्टागयोग कहते हैं जिसके आठ अग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कणादकी मान्यता है कि ईश्वर और जीव ये दोनो तत्त्व नित्य हैं। जीवका कर्तव्य है धर्मका पालन करना। धर्मकी परिभाषा उन्होने इस प्रकारकी है—'जिससे अभ्युदय और नि.श्रेयसकी सिद्धि हो वही धर्म है।' धर्माचरणका विधान वेदोमे बतलाया गया है। वेद ईश्वरीय वाणी है। वेद धर्मका वर्णन उद्देश्य,

विभाग तथा लक्षणसे करते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। पचमहाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य है। ये द्रव्य क्रिया और गुणके आश्रय तथा समवायी कारण हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सुख, दु.ख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये चौबीस गुण है। रूप सात प्रकारका, रस छह प्रकारका, गन्ध दो प्रकारका और बुद्धि दो प्रकारकी होती है। एक बुद्धि संशयात्मिका होती है दूसरी निश्चयात्मिका। निश्चयात्मिका बुद्धि विद्या है, अनिश्चयात्मिका (सशयात्मिका) बुद्धि अविद्या है। इसके तीन रूप हैं—सशय, विपर्यय (उलटा ज्ञान), और स्वप्न। निश्चयात्मिका बुद्धि प्रत्यक्ष और अनुमानके आधार पर रहती है। सस्कार तीन प्रकारके होते है—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक। कर्म पाच प्रकारके होते हैं—अपसर्पण, उतसर्पण, आकुचन, प्रसार और गति। सब पदार्थोंमे एकता है। वही सामान्य तत्त्व हैं। पदार्थोंका नित्य सम्बन्ध समवाय है। विशेष पदार्थ उसे कहते है जो परमाणुओमे स्थित अतीन्द्रिय तत्त्व होता है और जो उनकी पृथक्ताका कारण होता है। अभाव चार प्रकारके हैं—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव, तथा अत्यन्ताभाव।

मीमांसा

मीमासा दर्शनके प्रवर्तक महर्षि जैमिनि हैं। मीमासा दर्शन (पूर्व मीमासा) कर्म सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। योग दर्शनकारने कर्मके एक रूपका विकास किया। इसका अधिकारी उत्तम कर्म करने वाला ही हो सकता है। इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि जो पुरुष कामनाहीन होगा वही साधनके अभ्याससे समाधिलाभ करके मुक्त होगा। किन्तु सबकी प्रवृत्ति उस ओर नहीं हो सकती। ऐसे लोगोके लिये ही मीमासा दर्शनकी रचना की गई। साख्य, योग, और वेदान्त

तत्त्वज्ञानके लिये पुण्य कर्मोंका उदय आवश्यक मानते हैं। मीमासा दर्शनमे कर्मों पर ही विचार किया गया है।

महर्षि जैमिनिकी मान्यता है कि वेद नित्य हैं। उनके मंत्र ही देवता हैं। वेदोके पाच अग है—विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय। शब्द नित्य है। शब्दोमे ही इन पॉच अगोकी अभिव्यक्ति होती है। वेदादि किसी ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिये ग्रन्थका उपक्रम, उपसहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन सबपर ध्यान देना अत्यावश्यक है। प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्मका बाधक होता है। और उस कर्मका कुछ फल भी होता है। कर्म स्वयं फलोत्पादनमे समर्थ है। इस शास्त्रका उद्देश्य शास्त्रोके प्रति निष्ठा और विश्वास उपत्न्न कर अधर्मकी निवृत्ति और धर्मकी प्रवृत्ति करना है जिससे कालान्तरमे पुण्य कर्मोंका उदय हो और सब जीव मुक्तिके पथ पर अग्रसर हो सकें।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन या उत्तर मीमासाके प्रवर्तक भगवान् व्यास हैं। उसमे ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार वताया गया है—जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं उसे ही ब्रह्म कहते हैं।

आगे चलकर हमारे यहांके अनेक आचार्योंने व्यासके इस वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को लेकर अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका भाष्य किया। उनके सम्प्रदायोकी प्रतिष्ठा उन भाष्योके आधारपर ही है। ब्रह्मसूत्र, एकादश उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीताको क्रमश न्याय-प्रस्थान, श्रुतिप्रस्थान और स्मृतिप्रस्थान कहते हैं। इस प्रस्थानत्रयी पर भाष्य करके ही विभिन्न सम्प्रदायोकी प्रतिष्ठा आचार्योंने की है।

अद्वैतवाद

श्रीमदाद्य शकराचार्यकी मान्यता थी कि यह दृश्य जगत् प्रतीति है और इस प्रतीतिका कारण अज्ञान है। सत्ता केवल एक है और वह है निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार। वही चेतन है। यह दृश्य

जगत् उससे भिन्न नहीं है, उसीमे अध्यस्त है। यह जगत् नामरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस नाम और रूपकी प्रतीति केवल मायाके कारण है। माया भी है तो अनिर्वचनीय परन्तु अनादि होते हुए भी ज्ञानके द्वारा उसका अन्त हो जाता है। इसलिये उसकी सत्ता नहीं है। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। शकराचार्यने दो प्रकारके सत्यका प्रतिपादन किया है—व्यावहारिक एव पारमार्थिक। उपासना भक्ति तथा आचारको उन्होने अधिक महत्त्व दिया है। किन्तु ईश्वरकी कृपाको भी अपेक्षित वताया है। उनका कहना कि 'ससार प्रतीति और कल्पना है।' परन्तु वह कल्पना समष्टिके सचालनकी है। जीवकी कल्पना उसमे अहके रूपमे है। इस अहको छोड़ना हमारे वशमे है और समष्टिका लय समष्टिकर्ताके वशमे। जब पारमार्थिक सत्य किसीकी प्रतीतिको आत्मसात् कर लेता है तब व्यावहारिक सत्यके बन्धन उसके लिये समाप्त हो जाते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद

मानवकी प्रकृति जलकी भाँति सदैव अधोगामिनी होती है। अद्वैत-वादने साधन चतुष्टय, श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे अपरोक्ष तत्त्वकी अनुभूति करानी चाही किन्तु आचारसे ज्ञानकी श्रेष्ठता सिद्ध करके उसने आगे चलकर बौद्धिक ज्ञानको अधिक महत्त्व दे दिया, आचार छूट गया। इन्द्रियोके विषयोका सेवन तो व्यवहार माना जाने लगा और बुद्धिको महत्त्व मिल गया। अद्वैतबोध अनुभूतिसे अलग होकर दूसरी विद्याओकी भाँति बौद्धिक ज्ञानमात्र हो गया। सदाचार उपा-सनादि सब अज्ञान हो गए। देहात्मवादी नास्तिक तथा बौद्धिक वेदान्तीमे केवल यही अन्तर रहा कि एक मूल तत्त्वको जड़ कहता है दूसरा चेतन। शेष मान्यताएँ दोनोकी एक हो गईं। इस स्थितिका निराकरण करनेके लिये ही श्री रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत मतका प्रवर्तन किया।

उनकी मान्यता है कि ब्रह्म ही चित्, अचित्, विशिष्ट समग्र तत्त्व है। ब्रह्मके चेतन अंशसे जीव और अचित्से प्रकृति उत्पन्न हुई है। ब्रह्म जगतके निमित्त तथा उपादान कारण हैं। ब्रह्म (नारायण) इस समस्त जड़ चेतन सत्ताके स्वामी हैं। वे निखिल-गुणोके धाम और नित्य बैकुण्ठ-विहारी है। उनकी शरणमे जानेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। विशिष्टाद्वैतमत प्रपत्तिका मार्ग है। प्रपत्तिका स्वरूप माननेका अर्थ हो गया कि शास्त्र-विपरीत सभी कर्म त्याज्य हैं और शास्त्रके आचार ही विहित हैं क्योकि शास्त्र भगवान्के आदेश हैं। शास्त्रके अतिरिक्त अन्य किसी माध्यमसे हम अपने आराध्यकी अनुकूलता नहीं जान सकते। आगे चलकर प्रपत्तिका मुख्य अश गौण हो गया और क्रिया प्रधान हो गई। शास्त्रका बाह्याचार प्रधान हो जानेसे अनेक वैष्णव मतोका प्रसार हुआ।

द्वैतवाद

श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित द्वैतवादके अनुसार जीव और ब्रह्म ये दो नित्य पृथक् सत्ताएँ हैं। जीव अणु एव दास है और ब्रह्म सगुण सविशेष और स्वतन्त्र है। जीवका परमार्थ है पॉच (सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि) मेसे किसी प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करना। दृश्य जगत् सत्यसे अभिन्न है। विकारी और परिवर्तनशील होनेपर भी जगत् मिथ्या नहीं है। ब्रह्म वाणीका विषय नहीं हो सकता। परम तत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग और ध्यानके साधनसे जीव मुक्त होता है।

द्वैताद्वैतवाद

इस मतमे द्वैत और अद्वैत दोनो दर्शनोका एक प्रकारसे सामञ्जस्य किया गया है। इसके प्रवर्त्तक निम्बार्काचार्यका कहना है कि जगत् ब्रह्मका परिणाम नहीं है। ब्रह्ममे परिणाम होनेपर भी वह विकृत नहीं होता। वह सर्वशक्तिमान् है। उसका सगुण भाव मुख्य है। जीव

और जगत् दोनो ब्रह्मके परिणाम हैं । ये ब्रह्मसे पृथक् भी हैं और अपृथक् भी । ब्रह्म जगत्का निमित्त या उपादान कारण है । जीव ब्रह्मका अंश है। उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी । जीवका स्वरूप अणु है । मुक्तजीव ब्रह्मसे अभिन्न या एक होनेका अनुभव कर लेता है । मुक्तिका साधन उपासना मात्र है ।

शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैतवादके प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्यजीने शंकराचार्यजीके इस सिद्धान्तका खंडन किया है कि 'जगत् मिथ्या है ।' उनका कहना है कि 'जगत् सत्य है ।' उन्होने उपासनाकी प्रतिष्ठा की है और श्रीकृष्णको परब्रह्म माना है । श्रीकृष्णके सम्बन्धमे वल्लभाचार्यजीका कहना है कि वे गुणातीत, निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता, निर्विकार, सम्पूर्ण विरोधी धर्मोंके आश्रय, संसारके सब धर्मोंसे रहित तथा जगत्के उपादान कारण हैं । ब्रह्मसे अभिन्न जगत्की परिणति है क्योकि ब्रह्म अविकृत परिणामी है । जगत्मे पदार्थोंका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। जीव शुद्ध तथा अणुरूप है। उसके लिये श्रेष्ठ मार्ग यही है कि वह ब्रह्मसे प्रीति करे । इस प्रीतिकी चरम परिणति श्रीकृष्णमे पति-भावकी स्थापना है, जो भगवद्-अनुग्रहसे होती है। जिसपर यह भगवद्-अनुग्रह होता है वही पुष्ट जीव कहलाता है। इसलिये इस सिद्धान्तको पुष्टिमार्ग कहते है ।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रवर्त्तक श्रीचैतन्य महाप्रभुकी मान्यता है कि श्रीकृष्ण ही सत्य हैं, इतना ही जानना जीवके लिये पर्याप्त है । चैतन्य महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको प्रस्थानत्रयीका भाष्य माना है। उनका कहना है कि 'श्रीमद्भागवतमे इन सब शास्त्रोका पूरा वर्णन आ गया है । आगे चलकर इस सम्प्रदायके आचार्योंने ब्रह्मसूत्रोंपर भी भाष्य किया किन्तु भागवत ही इनका मूलाधार रहा ।

इस सम्प्रदायके माननेवालोका कहना है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म ये पाँच तत्त्व हैं। शास्त्र वाचक है और ईश्वर वाच्य। ईश्वरका ज्ञान शास्त्रसे ही सम्भव है। ब्रह्म तत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं। वे सर्वगुणोसे युक्त जीवको भोग तथा मोक्ष देनेवाले हैं। उनमे कोई प्राकृतिक गुण नहीं, अतएव वे निर्गुण हैं। उनकी तीन शक्तियाँ हैं—संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी। जगत् ब्रह्मका परिणाम है। यह सत् है किन्तु अनित्य भी है। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल ये तत्त्व नित्य हैं। कर्म जड है। जीव अणु है। वह ब्रह्मका भोग्य है। प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त कर लेना ही जीवकी मुक्ति है।

शैवदर्शन

निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले दर्शनोको छोड दिया जाय तो सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले दर्शनके दो भेद रह जाते हैं—शैव और वैष्णव। यद्यपि इसके सौर, शाक्त और गाणपत्य तीन भेद और होते है किन्तु उपर्युक्त दो ही प्रधान हैं। अद्वैतवाद निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादक दर्शन है। उसमे शैव एव वैष्णव दोनो प्रकारके उपासक हुए हैं। आजकल अद्वैतवादियोमे शिवकी उपासना मुख्य हो गई है किन्तु आदिकालसे कभी भी वैष्णव उपासनाका न तो अद्वैतवादसे विरोध था और न तो श्रीकृष्णके उपासकोका अद्वैतवादमे अभाव था। वैष्णव दर्शन तथा अद्वैतवाद दोनो ही वेदोको प्रमाण मानते हैं। उपासनाके लिये निगमके साथ आगमका भी आचार सर्वत्र स्वीकार किया गया है किन्तु उनमे भी प्रामाण्य वेद ही हैं। शैवदर्शन आगम (तन्त्रशास्त्र) को निगमके (वेदादिशास्त्र) समान ही प्रमाण मानते हैं। उपासनाके क्षेत्रमे उनकी प्रवृत्ति तन्त्र मार्गकी ओर ही है। इसीलिये दक्षिणाचारके साथ उन्होने वामाचारको भी स्थान दिया है।

पाशुपत दर्शन

पाशुपत दर्शनके माननेवालोका कहना है कि तीन पदार्थ नित्य हैं—पति, पशु और पाश। पति परमेश्वर हैं—वह कर्मादि सापेक्ष

कर्ता है। पशु जीव है। जीवको फल भी परमेश्वर ही देता है। वह शरीरी तथा ससारका कारण है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात मत्र क्रमशः उसके सिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरण है। वह मत्रमूर्ति है। उसके पाँच रूपोमे ईशान रूप क्षेत्रज्ञ तथा भोक्ता है। तत्पुरुष प्रकृति रूप है। अघोर धर्मादि आठ अगोसे युक्त बुद्धि है। वामदेव अहकार है और सद्योजात मनस्तत्व है।

पशु अपरिच्छिन्न, दुर्ज्ञेय तथा कर्ता है।

मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति ये चार मल हैं। अपवित्रता मल-पाश है। इसमे बद्ध जीव विज्ञानाकल कहलाता है। असमाप्त कलुष जीव साधनासे मत्रेश्वर पद प्राप्त करता है। और कलुष समाप्त होने पर वह विद्येश्वर पदका अधिकारी होता है। धर्म और अधर्म कर्म-पाश हैं। कर्मपाश और मलपाशसे बद्ध जीवको प्रलयाकल कहते है। इस कोटिके जीव दोनो पाशोके पक्व होनेपर मुक्त हो जाते हैं। सभी पाशोसे बद्ध जीवोकी सज्ञा जीवसकल है। जिसके भीतर प्रलयमे सब कार्य समा जाते है और सृष्टिके समय जिससे प्रकट होते है वह माया है। पुरुषकी गतिमे बाधा देने वाले कर्म रोध-शक्ति हैं। प्रलयाकल जीवोमे अपक्व दोनो पाश जीव ही पुर्यष्टक-देह धारण कर अनेक योनियोमे जन्म लेते है। पुर्यष्टक-देहमे अन्तःकरणचतुष्टय, पंचभूत, पचभूतात्मा, दस इन्द्रियाँ, पाँचो शब्द आदि विषय, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण और भोग-साधन-कला ये छत्तीस तत्त्व होते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

शैव दर्शनका जो स्वरूप कश्मीरमें अविनवगुप्ताचार्यने उपस्थित किया उसे ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं। जीवका महेश्वराभिमुख ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। मुक्ति और अभ्युदय ये बाह्य एवं आन्तरिक क्लेशोके बिना ही परमेश्वरताकी प्राप्तिसे सिद्ध होते हैं। यद्यपि ईश्वर

स्वभावतः नित्य सिद्ध है तथापि मायावश अशतः ईश्वर रूपको अप्रकाश मानता है। उसीमे जीवत्व है। शास्त्रोकी पूर्ण सहायतासे ईश्वरकी पूर्ण शक्तिका ज्ञान होता है। पूर्ण शक्ति परमात्मा जब आत्माके सम्मुख प्रकट होते हैं तब उनकी शक्तिके प्रतिसन्धानसे ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानसे ही ईश्वर और अपनेमे अभेदका बोध होता है। ईश्वर निर्विकल्प और निर्विकार है परन्तु उसमे शक्तिका स्पन्दन है। ब्रह्ममे ज्ञान और क्रिया है। वे भावात्मा तथा समस्त पदार्थोंके स्वरूप हैं। उनकी इच्छासे ही जगत्की सृष्टि हुई है। महेश्वर निरावरण, चैतन्य रूप, अनवच्छिन्न, अद्वितीय, स्वानुभवैक प्रमाण, शक्तिचक्रेश्वर, आत्म चिन्तामणि, उपेय तथा अभिधेय हैं। उनकी स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है। उनकी इस स्वात्मभूता प्रकृतिमे कभी अविचार नहीं होता। महेश्वर कर्ता, ज्ञाता तथा अनादि-सिद्ध स्वात्मा हैं। जीव चेतन है पर अनीश्वर है। वह परमेश्वरसे भिन्न है। मोहाच्छन्न होनेसे कर्ममे बद्ध होकर वह ससारी होता है। वह महेश्वरका दास है। महेश्वरके साथ एकत्व स्थापित होने पर वह सब विषयोंको ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा अर्थात् जीव और ईश्वरका अभेद-बोध होनेसे ही मुक्ति मिल जाती है।

शैवाद्वैत

शैवाद्वैतवालोका मत है कि ब्रह्म आराध्य हैं और धर्माचरण उनकी आराधना। फलकी इच्छा त्याग करके कर्म करनेसे पापोका समूह विनष्ट हो जाता है। पापोका विनाश होनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ज्ञान प्राप्त होता है। कर्म एव ज्ञानके समुच्चयसे ही मुक्ति सिद्ध होती है। जीवका परम पुरुषार्थ शिवके समान गुणवाला हो जाना है और यही मुक्ति है, जो शिव कृपासे ही सम्भव है। यह मुक्ति, शिवका प्रसाद ही है जो उपासना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

ब्रह्म (शिव) की प्राप्तिका ही नाम मुक्ति है। कर्म, उपासना या ब्रह्म-विद्यासे शिवत्वकी प्राप्ति होती है। शूद्रका अधिकार ब्रह्म-विद्यामे

नहीं है। सत्कर्माचरण तथा पुराणादिके श्रवणसे उसके पाप-समूह विनष्ट हो जाते है। ब्रह्म (शिव) सगुण, सविशेष, ज्ञान, आनन्द आदि शक्तिसे सम्पन्न हैं और मनके द्वारा आनन्द भोगते है। जीव अनादि, अज्ञानवासना-बद्ध, परवश, चेतन, शक्तिपरिच्छिन्न, कर्ता और भोक्ता है। उसमे कर्तृत्व रचनाकी शक्ति स्वाभाविक है। मुक्त जीव भी अन्त करणसे युक्त होता है। पाप नष्ट हो जाने पर वह अखड आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मकी परम शक्तिमे ही जगत्का बीज है और वही प्रपचका कारण बनती है। ब्रह्म परिणामी है, जगत् परिणाम। जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह ये ब्रह्मके पाच कृत्य-प्रपचक हैं।

लकुलीश पाशुपत दर्शन

लकुलीश पाशुपत दर्शन सम्प्रदायवाले मानते हैं कि पशुपतिने बिना किसी कारण और साधनके ही ससारका निर्माण कर दिया। इस ससारसे मुक्ति दो प्रकारकी होती है। १. दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति, २ परमैश्वर्यकी प्राप्ति। इच्छित वस्तुकी प्राप्ति ही परम ऐश्वर्य है। भगवानके प्रति दासत्व भाव भी एक प्रकारका बन्धन ही है। व्रत करना, भस्म आदि धारण करना तथा उपहार—एकान्तमे शिवका नाम लेकर हँसना, रोना आदि विपरीत चेष्टा करना—यही धर्म और अर्थके साधन हैं।

शाक्त दर्शन

शाक्त सम्प्रदायवालोका कहना है कि पराशक्ति त्रिपुर सुन्दरीसे ही शब्द और वस्तुकी उत्पत्ति हुई है। शिव परम तत्व हैं। शक्तिके स्फूर्त रूप धारण करने पर शिवने तेजस रूपसे उसमे प्रवेश किया तब 'बिन्दु'का प्रादुर्भाव हुआ। शिवमे शक्तिके प्रवेशसे नारी तत्त्व 'नाद' व्यक्त हुआ। ये ही दोनो तत्त्व 'नाद, बिन्दु' मिलकर अर्द्धनारीश्वर हुए। यही कामतत्त्व है। पुरुषतत्त्व श्वेत और नारीतत्त्व लाल है।

इस काम और कला तथा नाद और बिन्दुके योगसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। मूल तत्त्व अनन्त और अव्यक्त है।

जीवके उद्धारके लिये वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, बाम, सिद्धान्त और कुल ये सात आचार हैं। दिव्य भावका आश्रय लेनेसे देव-साक्षात्कार, वीर भावका आश्रय लेनेसे क्रिया-सिद्धि और पशुकी प्राप्तिसे ज्ञान-सिद्धि होती है। आराधनाके लिये महाशक्तिके दस महाविद्या रूप हैं। महाकाली, उग्रतारा, षोडशी (त्रिपुर सुन्दरी), भुवनेश्वरी छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातगी और कमला। इन शक्तियोके साथ अग्राकित दस आराध्य रूपोकी उपासना होती है— महाकाल, अक्षोभ्य, पुरुष, पचवक्त्ररुद्र, अम्बक, कबन्ध, दक्षिणामूर्ति, एकवक्त्ररुद्र, मतग, सदाशिव और विष्णु। आचार-पालन और आराधनासे शक्तिकी कृपा प्राप्त कर लेने पर जीव शिवत्व प्राप्त करता है तब पाशसे उसकी मुक्ति हो जाती है।

भक्ति दर्शन

नारद तथा शाण्डिल्यकृत भक्ति सूत्र ही भक्ति दर्शनके रूपमे विख्यात हैं। भक्तिके स्वरूप, साधन और तत्त्वका साक्षात्कार कराने तथा भक्तितत्त्वका निरूपण करानेवाले ये ही दर्शन प्रमुख हैं। वैसे भागवत, पुराणो और रामचरितमानसमे भी भक्तितत्त्वका विस्तार पूर्वक विवेचन हुआ है।

ईश्वरमे परानुरक्तिका नाम ही भक्ति है। शास्त्रोमे नव प्रकारसे भगवानकी भक्ति करनेका विधान मिलता है। इसे नवधा भक्ति कहते हैं। नवधा भक्तिके सम्बन्धमे यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवानकी भक्ति पाँच भावोसे की जाती है, जो इस प्रकार हैं-

१. प्रेमा (माधुर्य), जिसमे पति मानकर अपने इष्टकी भक्ति करते हैं, जैसे गोपियोकी भक्ति।

२. सख्य, जिसमे मित्र या सखा-भावसे इष्टकी भक्ति करते हैं, जैसे अर्जुनकी भक्ति।

३. दास्य, जिसमे सेवक भावसे इष्टकी भक्ति करते हैं जैसे, तुलसीकी भक्ति।

४. वात्सल्य, जिसमे अपत्य भावसे इष्टकी भक्ति करते हैं, जैसे दशरथकी भक्ति।

५. शान्त, जिसमे एकान्तमे बैठकर इष्टका चिन्तन करते हैं, जैसे योगियोकी भक्ति।

भक्तिसे पाँच प्रकारकी मुक्ति प्राप्त हो सकती है—

१. सालोक्य, जिसमे मृत्युके पश्चात् इष्टके लोकमे शाश्वत निवास मिलता है।

२. सार्ष्टि, जिसमे भक्त इष्टके समान पद और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।

३. सामीप्य, जिसमे भक्त इष्टके पास शाश्वत रूपसे निवास करता है।

४. सायुज्य, जिसमे भक्त इष्टमे पूर्णतः लीन हो जाता है।

५. निर्वाण, जिसमे ब्रह्म निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

हठयोग दर्शन

शरीरको ज्ञान या सत्यका मन्दिर मानकर नेति, धौति आदि षट्कर्मसे उसकी शुद्धिका प्रतिपादन करनेवाले योग मार्गका भी अपना एक पृथक् दर्शन है। इसे हठयोग दर्शन कहते हैं। इसमे छहो चक्रोंका वेध करनेके पश्चात् कुडलिनी जाग्रतकी जाती है और तब जीवको मुक्ति प्राप्त होती है।

हठयोग दर्शनमें जिन षट्कर्मोंका विधान किया गया है वे हैं १. धौति, २ बस्ति, ३. नेति, ४. नौलि, ५. त्राटक तथा ६. कपाल भाति। इनसे शरीरकी बाह्याभ्यन्तर शुद्धि होती है। हठयोगी निम्न लिखित चक्रोंका भेदन कर लेता है तब कुण्डलिनी जाग्रत होती है— १. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूर ४. अनाहत, ५ विशुद्ध, और

६. आज्ञा। इन छहो चक्रोका भेदन कर लेनेपर योगी सहस्रार चक्रमें प्रवेश करता है जो कुडलिनीका स्थान है।

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन

इस शरीर और ससारको ही सब कुछ माननेवाले देहात्मवादियों या नास्तिकोका भी अपना एक अलग दर्शन है। आज पाश्चात्य देशोंमे मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका बडा प्रचार है। ये भौतिकवादी योरपमे चाहे भले नये-नये हो किन्तु भारतमे इनकी परम्परा किसी न किसी रूपमे प्राचीनकालसे बराबर चली आई है। इनके एक आचार्य बृहस्पति माने जाते है। निश्चय ही देवगुरु बृहस्पतिसे ये भिन्न हैं। चार्वाक दर्शन नामसे जिस दर्शनका बोध होता है उसे प्राचीनकालमें कुछ लोग लोकायत दर्शन भी कहते थे क्योकि इस मतवाले परलोक आदिकी बात नहीं मानते। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि चार्वाक और बृहस्पति एक ही व्यक्तिका नाम है। इस दर्शनके माननेवालोका कहना है कि जैसे कुछ पदार्थोके मेलसे गर्मी या सर्दी या और भी बहुतसे अन्य पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके मेलसे चेतना उत्पन्न होती है। इस मतवाले आकाशको कोई तत्त्व नहीं मानते। चेतनाको शरीरसे भिन्न ये लोग कोई तत्त्व नहीं मानते। इनका कहना है कि चेतना शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती है। इनकी दृष्टिमे पुरुषार्थ इतना ही है कि उचित-अनुचितका विचार छोड़कर शारीरिक सुख प्राप्त किया जाय। ईश्वरकी सत्ता ये नहीं मानते। परलोक, धर्म, सदाचार आदि इनकी दृष्टिमे पाखड है। इनका कहना है कि अर्थ और काम ही मुख्य पुरुषार्थ हैं।

बौद्ध दर्शन

गौतम-बुद्ध पहले तपकी ओर ही प्रवृत्त हुए किन्तु कठोर तपके पश्चात् उन्होने युक्ताहार-विहारका मध्यम मार्ग अपनाया और उसीको सर्वश्रेष्ठ बतलाया।

भगवान बुद्धने चार सत्य स्थिर किए। इन सत्योपर उनके शिष्योने आगे चलकर भाष्य किए जिन्हे मध्यम दर्शन, योगाचार, सौत्रान्त्रिक और वैभाषिक दर्शन कहते हैं।

मध्यम-दर्शन : इस दर्शनवाले मानते है कि विश्वके सभी पदार्थ क्षणिक हैं, उनका कोई रूप स्थिर नहीं। परमाणुओकी अविरल प्रवाह-धारासे ही आकृतियाँ बनती हैं किन्तु परमाणु भी क्षणिक है। क्षणिक होनेके साथ ये सब दुःख रूप है। इस सिद्धान्तके अनुसार सब कुछ शून्य है। शून्यत्व, क्षणिक, दुःखरूपता आदिकी भावना करके शून्यमें विलीन हो जानेको ही मुक्ति या निर्वाण माना गया है। गुरुका उपदेश स्वीकार करना आचार बतलाया गया है और अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये शङ्का करना योग माना गया है। शिष्यके लिये योग और आचार दोनो आवश्यक बताए गए है।

योगाचार : जिन्हे केवल आचारसे सन्तोष न हुआ उन्होने योगकी साधनाएँ कीं। इन लोगोने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि बुद्धिका ग्राह्य कोई पदार्थ नहीं। ग्रहण करनेवाला, ग्रहणकी क्रिया और ग्रहण होनेवाले पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं। सब ज्ञान-ही ज्ञान है। बुद्धि (ज्ञान) स्वयअनुभूत है। नानात्वकी प्रतीति भेदकी वासनाके कारण है। बाहरके पदार्थ शून्य है इसका ज्ञानही ज्ञान है। इसका साक्षात्कार ही मुक्ति है।

सौत्रांत्रिक : मध्यम दर्शनमे भावके स्तरसे जगत्की अभिव्यक्तिको व्यक्त किया गया था। योगाचारने भावके स्तरके साथ भाव-जगत्का भी साक्षात्कार किया और बताया कि तर्कके साथ योगके द्वारा इससे ऊपर नहीं जाया जा सकता। सौत्रान्त्रिक दर्शनकी प्रवृत्ति इससे भिन्न हो गई। उसमें शाक्त दर्शनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वह भुक्ति-मुक्ति दोनोका साधक बनने लगा। बज्रयानका तान्त्रिक मार्ग

इसी दर्शनको मानता है। इस दर्शनकी मान्यता है कि भाव जगत्—पदार्थोंका बुद्धि स्थित रूप—और प्रत्यक्ष जगत् दोनो सत्य हैं।

वैभाषिक : बाह्य और आन्तरिक दोनो पदार्थोंकी सत्ता माननेके कारण इसे कुछ लोग सर्वास्तिवाद भी कहते है। भुक्ति मुक्ति दोनोंकी साधनामे रत रहनेपर सौत्रान्त्रिकोका वज्रयान अन्तमे अनाचार बन गया। चार्वाकके जडवादको ही उन्नत बौद्धिक रूपमे यह दर्शन स्वीकार करता है। वह मानता है कि द्वादश आयतन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय, मन और बाह्येन्द्रियोसे अग्राह्य विषय) से भिन्न कोई सत्ता नहीं है।

आर्हत (जैन) दर्शन

जैन धर्मकी परम्परा ऋषभ देवसे मानी जाती है। ये लोग मानते हैं कि जगत्मे चित् तथा अचित् दो तत्त्व है। दोनोका ठीक ठीक विचार ही विवेक है। अन्य वस्तुओको अपने काममे लाना चेतनका लक्षण है और इससे भिन्न अचित् (जड) है। विश्वमे पाँच अस्तिकाय (जिनकी सत्ता हो) तत्त्व हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। जीवके दो प्रकार हैं—मुक्त और ससारी। ससारी जीवोमे भी कुछ मन-रहित होते है, कुछ मनवाले। अवकाश देनेवाला तत्त्व आकाश है, मुक्तिका साधन धर्मतत्त्व है। धर्माचरणसे जीव आलोकाकाशमे जानेसे मुक्त हो जाता है। मुक्तिका प्रतिबन्धक तत्त्व अधर्म है। स्पर्श, रस और वर्णवाला तत्त्व पुद्गल है। यह अणु और स्कन्ध भेदसे दो प्रकार है—इसका अणु रूप भागके लिये अशक्य हैं। पृथ्वी, जल, वायु और तेज ये चार पुद्गल हैं।

कुछ जैनियोने सात प्रकारके तत्त्व माने हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर निर्जर और मोक्ष। अजीवके अन्तर्गत आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल आ गए। बन्धके कारणको आस्रव कहते हैं। शरीर, वाणी और मनमे आस्रव होता है। मिथ्या दर्शन, वैराग्यहीनता,

प्रमाद, आदिके कारण जीवमे आस्रवके द्वारा उसका पुद्‌गलसे योगहोता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रव रूप प्रवाह ससारको ढकनेवाला सवर है। यही सवर मोक्षका कारण है। सवरका रूप है गुप्ति (अशुभसे शरीर, मन, वाणीको रोकना), समिति (अहिंसा), निर्जरण (तपसे सञ्चित कर्मोंका नाश)। मोक्षके तीन मार्ग हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण।

सूफीवाद

अतिप्राचीनकालमे वेदान्तदर्शनका जो प्रचार पश्चिमी प्रदेशोमे हुआ उसका ही एक विकृत रूप सूफीवाद है। अलबरुनीका भी मत है कि सूफीवाद वेदान्तका पुनराविर्भाव मात्र है। कुछ लोगोका कहना है कि सूफी शब्दकी उत्पत्ति यूनानी भाषाके सोफस शब्दसे हुई है किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि यह अरबी भाषाके सूफ शब्दसे निकला है जिसका अर्थ बाल होता है।

इस सम्प्रदायके दर्शनशास्त्रको तसव्वुफ कहते हैं। क़ुरान और हदीसकी कुछ गूढार्थवाची आयतोको लेकर इसका दर्शनशास्त्र खड़ा किया गया है। सूफियोके मतानुसार एकमात्र ईश्वर सत् है। पार्थिव जगत्‌मे जो कुछ देखा जाता है वह उस सत् पुरुषसे ही उत्पन्न हुआ है और अन्तमे उसीमे लीन हो जायगा। इसीसे इसे तरीकत या मोक्षमार्ग भी कहते हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके स्तरानुसार इस सम्प्रदायके साधकोंकी दो श्रेणियाँ हैं—सालिक और मनाज़िल। इस मतमें बाह्या-चारपर विशेष बल नहीं दिया जाता। साधक अपने अन्तस्‌मे ही ईश्वरकी सत्ताका अनुभव करता और उसकी अर्चना करता है। सूफियोका मार्ग प्रेमका है। यह लोग ईश्वरको प्रिय (माशूक) के रूपमे मानते हैं और अपनेको प्रेमी। वे भगवान्‌के भक्त होते हैं। कर्म-बन्धनसे जीवके मुक्त होकर भगवान्‌मे लीन हो जानेके सिद्धान्तपर उनका विश्वास है। अतएव सूफी अद्वैतवादी हैं। ये सभी भूतोमे, सभी दृष्टि जगत्‌में भगवान्‌का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

(२)

संसारके साहित्यिक वाद

जिस प्रकार भारतमे रस, ध्वनि, अलकार, रीति, वृत्ति, औचित्य तथा वक्रोक्ति आदि साहित्य समुदाय फैले वैसेही योरपमे भी समय-समयपर साहित्य-सम्प्रदाय चले जिनमेसे कुछका प्रभाव हिन्दी साहित्य-पर भी पडा है। इनका परिचय पाना प्रत्येक साहित्य प्रेमीका कर्त्तव्य है।

उदात्तवाद (क्लासिसिज़्म)

द्वितीय शताब्दी ईसवीके प्रसिद्ध लातिन (लैटिन) लेखक आउलुस गेलिउस (औलस गैलियस) ने अपने ग्रन्थ नौक्तेस एत्तिकी'मे सम्पूर्ण तत्कालीन वाङ्मयकारोको दो भागोमे विभक्त किया :— १. उदात्तसमाजका लेखक (स्क्रिप्तार क्लासीकस), २. लोक-लेखक (स्क्रिप्तार प्रौलीतेरियस)। इनमेसे उदात्तवर्गका लेखक वह उच्चवर्गीय लेखक था जो कुछ 'गिने-चुने सुखी' व्यक्तियोके लिये रचना करता हो। कुछ शताब्दियोके पश्चात् इसका यह भ्रामक अर्थ लगाया जाने लगा क 'उदात्त-रचना' (क्लासिकल वर्क) वह ग्रन्थ है जो विद्यालयो अथवा शिल्प-सस्थाओमे नियमित रूपसे अध्यापन कराया जा सके। यही अर्थ मध्यकालीन तथा पुनर्जागरणकालीन लातिनतक मान्य रहा, जहाँसे यह अर्थ वर्त्तमान भाषाओतक चला आया है।

मानववादियो (ह्यूमेनिस्ट्स) का मत था कि 'केवल यूनान और रोमके प्राचीन प्रमुख काव्य ही विद्यालयोमे ग्रन्थ रूपसे अध्यापनके योग्य हैं अतः यूनान और रोमके महाकवि और लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार ही उदात्त काव्य (क्लासिक्स) के अन्तर्गत आने चाहिएँ।' किन्तु जब अन्य देशोकी लोक-भाषाओमे भी अनेक विशिष्ट ग्रन्थ लिखे जाने लगे तब वे भी उदात्त-काव्य समझे जाने लगे। इस अधारपर उदात्त काव्य (क्लासिक्स) की यह परिभाषा बनी कि 'जिस रचनामे सौन्दर्यके भावात्मक और उदात्त आदर्शों तथा अनुपात और पूर्णताके

शाश्वत आदर्शोंकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो वही उदात्त काव्य है।' यह भाव धीरे-धीरे पुनर्जागरणकालसे उठकर स्वैरवाद (रोमान्टिसिज़्म) मे आ पहुँचा और आज भी बैबिटकी इस परिभाषामे सजीव है कि 'किसी भी श्रेणीकी प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रत्येक वस्तु ही उदात्त (क्लासिक) है।' इस परिभाषामे आए हुए 'क्लासिकल' शब्दका भी लोगोने बडा भ्रामक अर्थ लगाया क्योकि बैबिटनने इस परिभाषामे 'वर्ग' (क्लास) शब्दका प्रयोग दार्शनिक अर्थमे किया था जिसका अर्थ है कि 'ससार-भरकी घटनाओ और वस्तुओको सञ्चालित और शासित करनेवाली अदृश्य दैवी शक्तिका ही नाम वर्ग (क्लास) है।' इस परिभाषाके अनुसार योरोपीय साहित्यमे केवल यूनान और रोमका साहित्य ही वास्तवमे उदात्त है।

'क्लासिक्स' शब्दका लातिन साहित्यमे अर्थ था प्राचीन महाकवियोके प्रति आदरपूर्ण सम्मानकी भावना और उनकी रचनाके आधार या अनुकरणपर रचना करनेकी भावना।' जब मध्यकालके पश्चात् योरोपीय भाषाओमे प्राचीन साहित्योकी प्रतिष्ठा, भाषा-सम्बन्धी समीक्षा, तुलना, परीक्षा और शैलीकी छानबीन हुई तब उन आदर्शों का प्रयोग केवल यूनानी और लातिन लेखोपर ही नहीं वरन् देहाती या देशी भाषाओके लेखोंपर भी किया जाने लगा।

इन नवीन उदात्त काव्योके होनेपर भी लोगोकी कुछ ऐसी धारणा बनी रही कि देहाती या देशी भाषाओके साहित्यमे यूनान और रोमके उदात्त काव्योकी महत्ता, प्रौढता और भव्यता नहीं आ सकती जो यूनान और रोमके शास्त्रीय, उपदेशात्मक तथा काव्योमे अर्थात् प्रहसनो, व्यग्यात्मक नाटकोमे विशेषत· त्रासदो (ट्रेजेडियो) और महाकाव्यो (इपिक) मे व्याप्त है। अतः बोकेशियो और पेत्रार्कने जो सिद्धान्त स्थापित किए वे पुराने समझे जाने लगे और नये सिरेसे साहित्यके नये आदर्श स्थिर किए गए।

फलतः प्रिसियनोने नवीन लेखकोके लिये यह सिद्धान्त घोषित

किया 'कि तुम्हें प्राचीन उदात्त महाकाव्योकी शैलीके अनुसार रचना करनी चाहिए।' परिणामतः इटलीके जागरणकालीन साहित्यने 'देहाती भाषामें उदात्त साहित्य' का अत्यन्त भव्य किन्तु अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लिया।

सत्रहवीं शताब्दीमें फ्रान्सवालोने इस रूपको ज्योका त्यो अपना लिया। अन्तर इतना ही रहा कि जहाँ इटलीवालोने लातिन लेखकोंको इष्ट बनाया था वहाँ फ्रान्सीसियोंने यूनानियोको बनाया।

इङ्गलैण्डमें शेक्सपियरके समयमें भी उदात्तवादका एक स्वरूप वर्त्तमान था। यदि उदात्तवादका अर्थ यूनान और रोमके प्राचीन उदात्तकाव्योके सिद्धान्तो और प्रयोगोका अनुकरण हो तो लोक-भाषामें निश्चित रूपसे उदात्तकाव्योकी रचना हुई, जिसने एलिज़ाबेथ-कालके 'पाण्डित्यवाद' (पेट्रार्किज़्म) और इटली-प्रभावित अँगरेज़ीकी सृष्टि की। किन्तु इसने कोई निश्चित प्रत्यक्ष साहित्यिक स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया।

स्पेनी साहित्यका सबसे महत्त्वपूर्ण युग 'उदात्तयुग' ही कहलाता है। किन्तु वहाँके साहित्यपर भी लातिन या यूनानी प्रभावके बदले इटलीपनका प्रभाव अधिक है।

मिथ्योदात्तवाद (सूडो क्लासिसिज़्म)

अट्ठारहवीं शताब्दीके फ्रासीसी साहित्यका केन्द्र था 'विचार'। इस युगके लेखक रचयिता होनेके साथ-साथ दार्शनिक भी थे। शुद्ध साहित्यिक और कलावादी (सौन्दर्यवादी) क्षेत्रोमें उदात्त काव्यवादका आदर्श इतना रूढ और स्थिर हो गया कि वह अब मिथ्योदात्तवाद (सूडो क्लासिसिज़्म) कहलाने लगा। स्पेन, जर्मनी और इटलीमें फ्रांसके इस साहित्यके अनेक महत्त्वहीन अनुगामियोका झुण्ड एकत्र हो गया। जर्मनीके साहित्यिक इतिहासकारोने गौट्शेडके युगको 'मिथ्योदात्तवादी' बताते हुए कहा है कि 'वह फ्रासीसी उदात्तवादका आरोपण-

मात्र है।' किन्तु उस युगके पश्चात् शिलर और गेटेके युगको वे लोग शुद्ध उदात्तवादी युग मानते हैं।

स्वैरवादियोके मतानुसार उदात्तवादी वे हैं जो विश्वास करते हैं कि 'महाकवियो अथवा किसी कृतिको बुद्धिसङ्गत या विवेकपूर्ण सौन्दर्यके भावात्मक आदर्शतक पहुचाना ही कविका धर्म है।' इस दृष्टिसे नवोदात्तवाद ही उदात्तवादी भावनाका अन्तिम स्वरूप है। 'उदात्तवादी' (क्लासिकल) शब्दकी उपर्युक्त परिभाषाओ और विवेचनाके अनुसार इसके पॉच अर्थ हुए—१. वह कला या साहित्य जो समाजके उच्चतर वर्गोंके लिये रचा गया हो। २. जिनके रचयिताओ की कृतियॉ सब युगोमे समान रूपसे अध्ययन और मननके योग्य हो। ३. यूनानी-रोमीय साहित्य। ४. वे सभी युग, जिनमे प्राचीन कालके लोगोके योग्य साहित्य रचा गया हो। प्रारम्भमे तो यह शब्द इस अर्थमे उन्हीं कृतियोके लिये प्रयुक्त किया गया जिनमे प्राचीन ग्रन्थोकी भावना और शैलीका अनुकरण किया गया था किन्तु पीछे यह शब्द ऐसी समस्त कृतियोके लिये प्रयुक्त होने लगा जो अत्यन्त उच्च श्रेणीकी हो, चाहे वे प्राचीन काव्योकी भावना और शैलीके प्रतिकूल ही क्यो न हो। ५० जिन युगोमे साहित्यिक पूर्णताके स्थिर और स्वतः पूर्ण आदर्श प्राप्त किए जाते हो। यह भावना अनुकरणके सिद्धान्त-का विवेकीकरण है।

नवोदात्तवाद (निओक्लासिसिज्म)

पुनर्जागरणकाल तथा अट्ठारहवीं शताब्दीमे प्राचीन उदात्तवादी साहित्यकी भावनाको पुनः जागरित करनेके लिये नवोदात्तवादका आन्दोलन चलाया गया। वास्तवमे वही वर्त्तमान कृति नवोदात्तवादी कहलाती है जिसमे लेखककी भावना ज्योकी त्यो अभिव्यक्त हुई हो, जिसमे यह भावना न हो कि वह मिथ्योदात्तवादी (सूडोक्लासिकल) है। इनका मत था कि कलाके ठीक रूपोंको फिरसे ग्रहण करना चाहिए।' आगे चलकर यह साहित्यको समाजकी दृष्टिसे देखने लगा।

रहस्यवाद (मिस्टिसिज़्म)

साहित्यिक रचना-पद्धतियोंपर रहस्यवादका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। २० ई० पू० में यहूदी 'फिलो'ने ही सर्वप्रथम रहस्यवादका तत्त्व चलाया। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दीके कुछ भिषज्ञोंने ईश्वर और मनुष्यके बीच प्रेमके आदान-प्रदानके प्रयोगात्मक लक्षणकी बातें चलाईं। असीसीके सन्त फ्रान्सिसने प्रेमी ईसा और उस संसारके लिये प्रेम मदिरताका अनुभव किया जो ईश्वर-सम्पृक्त आत्माओंको पवित्र सृष्टिके रूपमें दिखाई पड़ता है और जहाँ सब भाई-बहन हो जाते हैं। सन्त फ्रान्सिसका यह आन्दोलन इटलीमें रमन ललने चलाया जिसने माधुर्य-भाव या पत्नीत्व-भावके रहस्यवादके बदले 'सखा-भावके रहस्यवाद'का प्रसार किया जिसमें आत्माको ईश्वरका मित्र बनाकर मिलानेकी बात कही जा सकती है। जर्मनीमें साहित्यिक रहस्यवादका विकास श्रीमती मैक्थिल्डने किया जो मध्ययुगकी सबसे महान् महिला रहस्यवादिनी थीं। उनके 'ईश्वरीय स्रोतका प्रवाहित प्रकाश' (स्ट्रीमिङ्ग लाइट आफ दि गौडहेड) को ही लोग दाँतेके 'स्वर्ग' (पारादिसो) की रचनाका आधार मानते हैं। डोमीनिकनोंने लोक-भाषामें एक नई भाषा ही उत्पन्न कर ली जिसमें वे अपने रहस्यात्मक विचार व्यक्त किया करते थे। उनके ही शिष्य पन्द्रहवीं शताब्दीमें वर्त्तमान धर्म (मौडर्न पायटी) के प्रवर्त्तक हुए। जिस उदात्तवादी रहस्यवादमें ईश्वरको ही वास्तविक प्रेमी और आत्माको स्वतन्त्र होकर पूर्ण रूपसे अधीन तत्त्व मानते हैं उसे फ्रान्समें सालेके सन्त फ्रान्सिसने सर्वोच्च प्रेम-सिद्धान्तके रूपमें विकसित किया।

साहित्य और समीक्षाके क्षेत्रका सम्बन्ध उस रहस्यात्मक ह्राससे अधिक है जिसे मौनवाद (क्वायटिज्म) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे लोग आत्माका ईश्वरके अधीन होनेको आध्यात्मिक जीवनकी सुस्ती समझ बैठे हैं। इस आन्दोलनका प्रचार माइगुएल डी मोलिनोसने स्पेनमें और श्रीमती दे गुइयोने फ्रान्समें किया।

कुछ व्यापक और विशिष्ट अर्थमे रहस्यवादका क्षेत्र कुछ विस्तृत है क्योकि अधिकांश अँगरेजी लेखकोने प्रकृतिकी साधनामे ही गम्भीर आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा प्राप्त की है, इसलिये उनकी अधिकांश रहस्यवादी सामग्रीका आधार प्रकृतिसे ही सम्बद्ध है। यह प्रकृतिसे रहस्यात्मक प्रेरणा प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति ही 'छायावाद' (सूडो मिस्टिसिज्म) कहलाई।

साहित्यकी दृष्टिसे रहस्यवादका अर्थ है रहस्यके सिद्धान्तको मानना और रहस्यका वर्णन करना अर्थात् यह मानना कि संसारमे बहुतसे तत्त्व, बहुत-सी घटनाएँ और बहुत-सा ज्ञान ऐसा है जो इतना गूढ है कि कार्य-कारणका सम्बन्ध तो समझमे नहीं आता किन्तु वह होता अवश्य है। ससार किसने बनाया? ससारमे प्राणियोका परस्पर क्या सम्बन्ध है? उनके कार्योंपर किस शक्तिका शासन चलता है? ये सब रहस्यकी बातें हैं। जब कोई साधक इन पारमार्थिक रहस्योको खोजने चलता है, उसके लिये साधना करता है और उस साधनामे सफल या विफल होता है तब वह अपने उस अनुभवका वर्णन करना प्रारम्भ करता है। यह वर्णन प्रायः पाँच प्रकारका होता है— १. जिसमें साधक ज्ञातव्य रहस्यका कुछ परिचय देकर कहता है 'नेति' अर्थात् इतना ही नहीं है अभी और भी कुछ है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, जिसका वर्णन करना मेरे सामर्थ्यसे बाहर है, जो वर्णित हो ही नहीं सकता। २. जिसमे वह सङ्केतों तथा रूपकोंके द्वारा समझानेका प्रयत्न करता है और उस रहस्यका आभास-मात्र देता है और कहता है कि 'वह-कुछ-कुछ ऐसा है' पर गूँगेके गुडके समान उसके आनन्द या स्वादसे स्वयं परिचित होते हुए भी उसका परिचय नहीं दे पाता। ३. जिसमे साधक उस रहस्यको प्राप्त करनेके मार्ग सुझाता है। ४. जिसमे साधक उस मार्गमे पड़नेवाली कठिनाइयों और बाधाओंका परिचय देकर उस सम्बन्धमें अपना अनुभव भी बताता चलता है। ५. उस रहस्यमयी शक्तिके प्रति आत्मीयता स्थापित

करके उससे न मिल पानेपर उत्कण्ठा, व्याकुलता और विह्वलताका वर्णन करता है। इन पाँचोंके अतिरिक्त एक छठी रहस्य-दृष्टि भी होती है जिसमे कोई व्यक्ति (कवि या साधक) ससारकी वस्तुओसे रहस्यात्मक प्रेरणा ग्रहण करता है, जैसे खिले हुए फूलोंको देखकर यह प्रेरणा पाना कि यह ईश्वरकी मुसकान है या कोई रहस्यमयी शक्ति इस फूलके रूपमे हँस रही है। यही छायावादी या अर्द्ध-रहस्यवादी (सूडोमिस्टिकल) भावना है।

छायावाद (सूडो मिस्टिसिज्म)

जब कोई कवि किसी दार्शनिक साधककी पद्धतिपर किसी पारमार्थिक या दार्शनिक भाव-तत्त्वकी अभिव्यक्ति काव्यमे करने लगता है और पाठकको यह भ्रम हो जाता है कि कविने ही सचमुच साधक होकर यह बात कही है तब उस रचना और रचनाकार को छायावादी कहते हैं। रहस्यवाद और छायावाद दोनोमे सबसे बडा अन्तर यही है कि रहस्यवादमे साधक या ज्ञाता किसी तत्त्वकी स्वय खोज करके उस तत्त्वके सम्बन्धमे अपने अनुभवका बखान करता है किन्तु छायावादमे न तो साधना होती है, न अनुभव होता है, वरन् साधकके अनुभवकी छाया या शैलीपर उसी प्रकारकी काल्पनिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति की जाती है। प्राकृतिक दृश्यो या वस्तुओसे रहस्यात्मक प्रेरणा लेकर काव्यमे लाक्षणिक भाषामे ढाल देना ही छायावादीका लक्ष्य और साध्य है।

पारमार्थिक रहस्यवाद (स्पिरिचुअल मिस्टिसिज़्म)

ससारके कुछ व्यक्तियोमे अद्भुत प्रकारसे ऐसी शक्ति आ जाती है कि वे भूत, भविष्य, वर्त्तमानकी बातें कहने लगते हैं, भविष्यवाणी करते है अथवा अलौकिक तथा चामत्कारिक ढङ्गसे ऐसा व्यवहार करते है जिसका कोई प्रत्यक्ष, लौकिक तथा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। इस प्रकारका आचरण, इस प्रकारके आचरणमे विश्वास

तथा काव्यमे इस प्रकारकी अभिव्यक्तिको ही पारमार्थिक रहस्यवाद कहा जाता है।

लौकिक रहस्यवाद (सिक्यूलर मिस्टिसिज़्म)

कुछ विद्वानोका मत रहा है कि ससारकी प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक वस्तु रहस्यमय है। उसे तबतक नहीं समझा जा सकता जबतक हम उसका पूर्णज्ञान न प्राप्त कर लें अर्थात् यह जान लें कि ससारकी जितनी वस्तुएँ है उन सबमे कोई न कोई पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके कारण सुदूर रहनेवाली वस्तुएं भी एक दूसरीके समीप आकर एक दूसरेसे आबद्ध होती है और समीप रहनेवाली वस्तुएँ एक दूसरेसे दूर चली जाती है। यह सयोग प्राणियोमे पिछले जन्मके सस्कारपर और जड़ पदार्थोंमे विचित्र रहस्यात्मक सयोगसे उपस्थित होता है। इस लौकिक रहस्यवादका दूसरा रूप है मनःसम्बन्ध, जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी एक जटिल रहस्यात्मक तत्त्व है, जिसके मनकी कोई थाह नहीं है कि वह किस दशामे क्या कर बैठेगा और किसके प्रति उसकी क्या रुचि, इच्छा और वृत्ति है।

परमार्थवाद (स्पिरिचुअलिज़्म)

प्रायः सभी आस्तिक लेखक यह मानते चले आए हैं कि 'इस सृष्टिको रचनेवाला तथा इसपर शासन करनेवाला कोई एक अलक्ष्य दैवी हाथ है जिसकी अगणित शक्तियाँ निरन्तर अनेक रूपोमे ससारके प्रत्येक पदार्थ और जीवकी भाग्य-सञ्चालिका बनकर उसे विभिन्न कार्योंमे प्रवृत्त करती है।' इस मतके माननेवाले सभी परमार्थवादी कहलाते है।

मिथ्या-परमार्थवाद (सूडो-स्पिरिचुअलिज़्म)

बहुतसे कवि स्वय दार्शनिक या आस्तिक न होते हुए भी अपनी रचनाओमे बीच बीचमे पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये आत्मा, परमात्मा, कर्मवाद, मोक्ष आदि तत्त्वोको मीमासा करते हुए इन सिद्धान्तोके अनुसार अपने ग्रन्थोकी रचना भी करते हैं और प्रायः उनमे ईश्वरकी

सत्ता और शक्तिका विशेष रूपसे महत्त्व सिद्ध करते हैं, किन्तु मूलतः उनके ग्रन्थ लोक-विषयक ही होते हैं। ऐसे सब लेखक और ग्रन्थ मिथ्या-परमार्थवादी माने जाते हैं।

विवेकवाद या बुद्धिवाद (रैशनलिज़्म)

विवेकवादियोका कहना है कि—१. इन्द्रिय ज्ञानके बिना भी हमारा विवेक स्वाभाविक प्रकाशसे वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकता है। इसी अर्थमे सत्रहवीं शताब्दीके दकार्तेके विवेकवादकी तुलना तथ्यानुभव-वादसे की जाती है। २. विवेकमे सत्य ढूँढ़नेकी स्वतन्त्र सत्ता होती है जिसके द्वारा वह निष्पक्ष और निर्लिप्त होकर सत्यकी खोज कर सकता है। यही बुद्धिवाद है। ३. वास्तविता या सत्यको समझनेमे हमारा विवेक एक क्रम बना देता है और वास्तविकतापर उसका आरोप करके उसे जान लेता है। ४. धार्मिक अर्थमे विवेकवादी वह समझा जाता है जो स्वतन्त्र विचारक और नास्तिक हो। इस अर्थमें अट्ठारहवीं शदाब्दीके वे सभी लोग विवकवादी कहलाते है जो ईश्वरको तो मानते हैं किन्तु किसी धर्ममे विश्वास नहीं करते। मोन्तेन या शेली जैसे लोगोका 'विवेकवाद' अथवा दोस्तोएवस्की या डी० एच० लौरेन्स जैसे लोगोके 'निर्विवेकवाद'पर इन्ही भेदोकी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। वास्तविक विवेकवादी या बुद्धिवादी वह है जो केवल वही बात कहे और माने जो बुद्धिसङ्गत हो, जिसे किसी साधारण व्यक्तिका विवेक सरलताके साथ स्वीकार कर ले।

अबुद्धि-वाद (ऐएटीरेशनलिज़्म या ऐन्टी इन्टेलेक्चुअलिज़्म)

विभिन्न प्रकारके बुद्धिविरोधवादके उदाहरण प्रायः सभी युगोंको छिटपुट रूपसे प्राप्त होते रहे हैं। प्लेटो (अफलातून) ने कहा है कि 'सौन्दर्य तभी अनुभूत होता है जब हम उससे प्रेम करते हैं। उसी उत्साहके क्षणमे वह भावित भी होता है और बिना किसी प्रकारकी तत्त्व-ज्ञान-क्रिया बीचमे डाले ही यह निर्णय हो जाता है कि यह सुन्दर है।' इसीलिये पुनर्जागरणकालसे यह सिद्धान्त चला कि 'किसी

कलात्मक कृतिकी लाभकर तथा प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया यही है कि उसपर कविता लिख दी जाय।' प्रत्यक्षवादी (पौजिटिविस्ट) दार्शनिकोंने यह सिद्धान्त चलाया कि 'कलाके अनुभव का आनन्द वैसा ही होता है जैसे पशुओको भूखका आनन्द मिलता है' अर्थात् ये लोग मानते है कि 'मनुष्यको कलात्मक वस्तु देखनेमे जो आनन्द मिलता है वह ठीक उसी कोटिका होता है जैसा पशुको चारा खानेमे प्राप्त होता है।' इसीलिये अपने अनुभवका अन्तर्विश्लेषण कर सकनेवाले कला-प्रेमियोने यह सिद्धान्त अधिक नहीं माना है।

जर्मनीके स्वैरवादियोने यह कहा कि 'प्रतिभाशाली व्यक्तिमे एक परम दानवी शक्ति (डस् डेमोनिशे) होती है।' वहाँ स्वान्तःप्रवृत्तिकी यह महत्ता व्यापक रूपसे मान ली गई। बर्गसन और क्रोचे आदि वर्तमान लेखकोने इन सिद्धान्तोको पुनरुज्जीवित और परिष्कृत करके उपस्थित किया। क्रोचेका स्वान्त.प्रवृत्ति-सिद्धान्त सम्भवतः वर्तमान युगमे सर्वाधिक प्रभावशाली सौन्दर्यवादी सिद्धान्त है। फिर भी उसके सिद्धान्तका बडा तीव्र विरोध हुआ, क्योकि ये लोग सौन्दर्यात्मक अनुभूतिके लिये सौन्दर्यात्मक निर्णयकी आवश्यक नहीं समझते।

स्वैरवाद या स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म)

यह शब्द प्राचीन फ्रान्सीसी रोमान्ज्ञ या रोमान्स (उपन्यास) से लिया गया है किन्तु इसका निश्चित प्रयोग इङ्गलैण्डमें १६५४ के लगभग 'उपन्यासके समान' कहकर निन्दाके रूपमें हुआ जिसका यह अर्थ लगाया गया कि 'यह काल्पनिक और झूठा है।' अट्ठारहवीं शताब्दीमे इसका प्रयोग कुछ अच्छे अर्थोंमे उन स्थानोंके लिये होने लगा जो उदास लगनेपर भी प्रिय होते है। जर्मनीमें 'रोमान्टिश' शब्दका प्रयोग पहले तो 'उपन्यास' के अथमें किन्तु फिर प्राकृतिक दृश्योके लिये होने लगा। साहित्यमे उदात्तवादके विरोधी पक्षके रूपमे 'रोमान्टिसिज्म'का प्रयोग फ्रीड्रिख श्लेगेलने किया और श्रीमती स्तैलने उसे फ्रान्समे प्रचलित किया। आगे चलकर इसमे 'प्रेम' और

'विवाद' का मेल हो गया। फिर तो इसकी बहुतसी परिभाषाएँ चल निकलीं। साहित्यिक प्रयोगसे पहले फ्रांसीसी दृष्टिसे 'रोमान्टिक' का अर्थ है 'साहसशील, भावनाशील और कल्पनाशील।' दूसरा है बहुमुखी साहित्यिक आन्दोलन और उसके पूर्व रूप तथा तीसरे, 'रोमान्टिक' का प्रयोग साहित्यिक स्वैरवादके अनेक रूपोके लिये हुआ। इसीलिये साहित्यिक स्वैरबादकी न तो परिभाषा दी जा सकती है और न उसका काल बाँधा जा सकता है। यह अट्ठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भाग और उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भकी उन असख्य साहित्यिक प्रवृत्तियोके अर्थमे व्यापक रूपसे प्रयुक्त होने लगा जो समय, स्थान और लेखकके अनुसार अनेक रूपोमे प्रकट हुई और जो प्राचीन रूढियोकी सीमाके भीतर नई दिशाओकी खोजसे लेकर खुले विद्रोह तकके रूपमे मिलती हैं। ये प्रवृत्तियाँ मोटे रूपमे— १. विषय, २. प्रवृत्ति और ३. शैली, इन तीन श्रेणियोमे बाँटी जा सकती हैं।

स्वैरवादी विषयके अन्तर्गत निरुदात्तवादी देशोके दृश्य और उनकी सस्कृति, मध्ययुग तथा राष्ट्रीय अतीतके दृश्य और उनकी संस्कृति आ जाती थी। साथ ही दूसरे देशोकी बातें, स्थानीय चित्रण (लोकल कलर) और व्यापकके बदले विशिष्टका वर्णन, तात्कालिक व्यक्तिगत अनुभवके रूपमे प्रकृतिका वर्णन ईसाई धर्म और परलोकवाद, अलौकिकता, रात्रि, मृत्यु, खँडहर, समाधियाँ या श्मशान, भयानक कार्य या शैतानके कार्य, स्वप्न और उपचेतन मन आदिका वर्णन होता था। स्वैरवादकी अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्ति है व्यक्तिवाद (इन्डिविजुअलिज्म)। स्वैरवादी नायक या तो आत्मकेन्द्रित व्यक्ति होता है जो उदासी, दुःख या निराशासे भरा होता है या समाजके विरुद्ध तीव्र, भयङ्कर, क्रान्तिकारी विद्रोह करता है अर्थात् दोनों रूपोमें वह रहस्यमय मनुष्य होता है। इस स्वैरवादका कवि भविष्य-वक्ता (सीअर) होता है। इसमे विवेक-पूर्णके बदले भावक,

वास्तविकके बदले आदर्श और आवश्यकताके बदले आकाक्षाको प्रधानता दी जाती है। अभिव्यक्तिके सम्बन्धमे स्वैरवादका कथन है कि सब नियम और रूढियाँ तोड डालो, केवल स्वयं विचार-प्रवाह (स्पौन्टेनिटी), अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन) और प्रगीतात्मकताका अनुगमन करो।' इसमे अधिकाश चिन्तन, अस्पष्टता, असङ्गतता, विचित्र भाव-सस्फुरण आदिका समावेश होता है। स्वैरवादके ये सब पक्ष किसी एक राष्ट्रीय साहित्य, युग या लेखकके लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते और इनमेसे बहुतसे तो परस्पर विरोधी भी हैं। स्वयं स्वैरवादियोके समीक्षात्मक लेख पढ़नेसे प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य केवल उदात्तवादसे विद्रोह करना है।

सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वैरवादमे दो उद्गम-तत्त्व हैं—१. बन्धन-मुक्तता और २. मनोवेग। बन्धन-मुक्तताके भीतर व्यक्तिवाद तथा नियमो, शास्त्रो और रूढियोसे विद्रोह भी आ जाता है और मनोवेगके अन्तर्गत मनका मनःप्रवाह (स्पौन्टेनिटी), स्वतः उपचेतन (सब कौन्शस), कलात्मक रचना तथा क्रियाके स्रोत और अन्य विवेक-निरपेक्ष मानव-व्यवहार भी आ जाते हैं, जैसे—जीवन-शक्ति (लिबिडो), अन्तःप्रेरणा या प्रातिभ ज्ञान (इन्ट्यूशन) तथा रहस्यात्मिका वृत्ति (मिस्टिकल फ़ैकल्टी)। स्वैरवादी युगमे, विशेषतः फ़्रान्समे, चित्रकार, मूर्तिकार और सगीतज्ञ भी साहित्यिक स्वैरवादियोके साथ मिलकर, नियमो और रूढियोके विरुद्ध विद्रोह करके मनःप्रवाह (स्पौन्टेनिटी) और मनोवेगात्मक अभिव्यक्तिके नामपर एक हो गए। वैगनरके सङ्गीत-नाटक जर्मनीके स्वैरवादी सिद्धान्तोके अनुसार सब कलाओको एक समझने लगे। पिछली उन्नीसवीं शताब्दीके प्रतीकवादियोने वैगनरके सम्प्रदायको प्रोत्साहन देते हुए स्वैरवादसे गठबन्धन कर लिया और राजनीतिमे भी जो बन्धन-मुक्तताकी भावना थी वह भी साहित्यिक स्वैरवादके साथ-साथ चल पड़ी।

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें लसेयाने स्वैरवादपर यह आपत्ति की कि 'इसने साधारण जनताकी बुद्धि और विवेकको कल्पना और इन्द्रियानुभवतासे पराभूत कर लिया है।' बैबिटका कहना था कि 'कल्पना और मनोभाव सब बुद्धिके अधीन होने चाहिएँ और विवेकके निर्देशानुसार सङ्कल्प-द्वारा इनका सन्तुलन होना चाहिए।' उधर नवस्वैरवादी कहते हैं कि 'यद्यपि आत्मचेतन बुद्धिको छोड़ना और आदिम भोले-भालेपनको स्वीकार कर लेना न उचित ही है न सम्भव किन्तु विवेकी पुरुष और आध्यात्मिक शक्तियोके बीच विवेकपूर्ण और विवेक-निरपेक्ष मानव-वृत्तियोका सम्मिलन होना ही चाहिए।' तथ्यातिरेकवादी तो 'विवेक' को पूर्णतः तिलाञ्जलि ही दे देते हैं।

नवस्वैरवाद (नि ओरोमान्टिसिज़्म)

जर्मनीमे १८६० के लगभग नवस्वैरवादका प्रारम्भ हुआ जो १६१० के लगभग अभिव्यञ्जनावाद (एक्स्प्रेशनिज्म) के रूपमे विकसित हुआ। इसके सिद्धान्तमे ही दो विरोधी असङ्गत (इरैशनल) रूप थे—१. एक ओर सौन्दर्यवाद, अरस्तूवाली तटस्थता, ह्रासोन्मुखता और पलायन-वादिता और २. दूसरी ओर शक्तिकी पूजा, वीरता, रक्त और भूमि तथा जाति और वर्ग चित्रण भी था। ये लोग कल्पना, चित्रण (कलर), स्वप्न और शब्द-सङ्गीतपर अधिक बल देते थे।

रोदनवाद (ड्राउन्ड इन टीयर्स)

'रोदनवाद' शब्दका प्रयोग उन प्रारम्भिक स्वैरवादियोंके लिये निन्दाके रूपमे होता था जो जीवनके कॉटोसे बिधे, रक्तसे लथपथ दिखाई पडते थे और इस अज्ञात ससारके भारी और शान्तिपूर्ण भारसे थककर निराशासे भरे हुए दुःखोके गीत गाते थे। ये लोग जर्मनीमें 'वैल्शमेर्ज' कहलाते हैं। इन्हे ससारमे चारो ओर दुःख ही दुःख दिखाई पड़ता है इसलिये ये अपनी रचनाओमे केवल वेदनाके गीत गाते हैं। हिन्दीमे 'प्रसाद' ('ऑसू'मे) और महादेवी वर्मा ऐसे ही रोदनवादी हैं।

कलार्थ कला (आर्ट फ़ौर आर्ट्स सेक)

प्रारम्भमे योरपमे यह माना जाने लगा था कि 'कलाका उद्देश्य उपदेश देना है' अर्थात् 'काव्यकी सृष्टि उपदेशके लिये होनी चाहिए।' किन्तु स्वैरवादियोने यह कहना प्रारम्भ किया कि 'कविताका उद्देश्य आनन्द देना है।' वर्डस्वर्थने अपने 'लिरिकल बैलेड्स'की भूमिकामे कहा कि 'कवि' केवल एक ही वन्धनके साथ लिखता है और वह यह है कि वह मनुष्यको तात्कालिक आनन्द दे सके।' गेटेने भी कहा कि 'कोई महान् रचना हमे शिक्षा नहीं देती वरन् हमे परिवर्तित करती है।' ऐलेन पोने तो स्पष्ट रूपसे घोषणा ही कर दी कि 'काव्यका उद्देश्य उपदेश देना नहीं है। कविता तो कविताके लिये ही लिखी जाती है।' उसने कहा—'मनुष्यका अन्तिम उद्देश्य प्रसन्नता प्राप्त करना है। शिक्षा तो केवल उस प्रसन्नताकी ओर पथ-निर्देश-मात्र करती है किन्तु कला उस प्रसन्नतातक पहुँचा देती है।' ये सब व्यक्ति, जो काव्यका उद्देश्य उपदेश देना न मानकर आनन्द देना मानते थे, सब 'कलार्थ कला' वादी कहलाते हैं। इनमेसे बौदेलेयाने कहा—'संसारकी सब वस्तुएँ स्वभावतः बुरी है अतः प्रत्येक युगमे मानवताको ऐसे कलाकारो और महापुरुषोकी आवश्यकता पडी जो सन्मार्ग प्रदर्शित करें। ऐसे सन्मार्गके लिये आजतक जितने सदादर्श प्रस्तुत किए गए हैं उसका श्रेय कलाको ही है।' औस्कर वाइल्ड आदिने इसी विचारको समुन्नत करते हुए कहा—मानव-जीवन सदा कलाका अनुकरण करनेका प्रयत्न करता है और कला ही जीवनके लिये मानदण्ड स्थिर करती है।' वाल्टर पेटरने एक पग और आगे बढ़कर कहा कि 'जीवनको ललित कलाके रूपमे ही व्यतीत करना चाहिए।' रेमी द गोर्मोने और भी आगे बढकर कहा कि 'कलाको व्यष्टि या समष्टिकी समुन्नति करनेवाला मानना वैसा ही है जैसे गुलाबके फूलको इसलिये श्रेष्ठ समझना कि उससे गुलाबजल निकालकर लोग अपनी आँखें अच्छी करते हैं।' बीसवीं शताब्दीमें अधिकांश

उदारतावादी लेखक 'कलार्थे कला'का ही नारा लगाने लगे क्योंकि यह एक ऐसी अच्छी ओट थी जिसके पीछे वे अपनी सब अज्ञानता छिपा सकते थे। ए० सी० ब्रेडलेने इस सिद्धान्तके प्रयोगको व्यवस्थित रूपमें रखनेका प्रयत्न किया और सन् १९३३ मे टी० एस० ईलियटने स्पष्ट कह दिया कि 'यह अत्यन्त भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है, इसका हल्ला बहुत है किन्तु इसका व्यवहार कोई नहीं करता।'

आदर्शवाद (आइडियलिज़्म)

कोई भी साहित्यिक कृति या उसका रचनाकार तब आदर्शवादी कहलाता है जब वह (क) नैतिक और सौन्दर्यात्मक महत्त्वोका प्रदर्शन करे और उनकी आवश्यकता बतावे या (ख) अपने विषयके लिये मनुष्यके आध्यात्मिक पक्षको भौतिक जीवन और मृत्युसे परे उसके प्रत्यक्षः अलौकिक और विश्वजनीन महत्त्वको ग्रहण करे। इस अर्थमे यह प्रकृतिवादका उल्टा है। या (ग) अपने पात्रोका इस प्रकार चित्रण करे कि उनके श्रेष्ठ और उदात्त गुणोका तो प्रदर्शन हो किन्तु उनके साधारण तथा भद्दे दोषो और दुर्गुणोकी उपेक्षा हो। इस दृष्टिसे यह यथार्थवादका विरोधी है। (घ) ऐसी कथावस्तु ग्रहण करे जिसके अन्तरमे भविष्यके लिये विश्वास और आशा व्यक्त की गई हो। इस अर्थमें यह आशावादसे कुछ-कुछ मिलता जुलता है।

किन्तु यह शब्द 'ख' और 'ग' भावोंमे ही, विशेषतः उन्नीसवीं शताब्दीके प्रतीकवादी आन्दोलनके कुछ पक्षोंके लिये, प्रयुक्त होता है क्योकि प्रकृतिवादी और यथार्थवादी सम्प्रदायोकी प्रतिक्रिया इसमे है।

यथार्थवाद (रीयलिज़्म)

जब किसी वस्तु या विषयका अध्ययन उसके मानव-अनुभूतिमें आनेवाले प्रत्यक्ष रूपसे भिन्न स्वतन्त्र रूपसे किया जाता है तब वह 'यथार्थवाद' कहलाता है। दर्शनमे इस शब्दका प्रयोग दो अत्यन्त भिन्न रूपोमे तथा साहित्यिक और गतिशील कलाओमे एक विशेष प्रकारसे किया जाता है। रूढितः 'यथार्थवाद' शब्दका दार्शनिक अर्थ यह है

कि 'सार्वभौम तत्त्व उन सब वस्तुओसे भिन्न और स्वतन्त्र है जिनका वह अङ्ग होकर दिखाई पड़ता है।' यह सिद्धान्त सबसे पहले प्लेटोने प्रवर्त्तित किया। यथार्थता या यथार्थवादका तात्पर्य है कि 'हम अपने इन्द्रियानुभवसे वस्तुओके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बाह्य रूपोका ही परिज्ञान कराते हैं।' इस यथार्थवादके तीन सम्प्रदाय हैं—१. समीक्षात्मक, यथार्थवाद, २. नव यथार्थवाद और ३. स्वाभाविक यथार्थवाद। किन्तु एक बातमे सभी सहमत हैं कि मानव-अनुभूतिमे आनेवाले सब विषयोमे अभिव्यक्ति की स्वन्त्रता होनी चाहिए। इस शब्दका प्रयोग 'आदर्शवाद' और 'स्वैरवाद'के विरोधमे उन साहित्यिक कृतियोके लिये किया जाता है जिसमे वास्तविक जीवनका वास्तविक चित्रण किया जाता है और जिनके विषय वास्तविक ससारसे लिए जाते हैं। यथार्थवादी लेखक वही है जो सटीक चित्र (फोटोग्राफ) या सवाद-दाताके समान कलाहीन नग्नताके साथ अपने विषयका विवेचन करता है और उसमे अपना मत या अपनी अन्तर्भावनाओका तनिक भी सन्निवेश नहीं करता। इस सम्प्रदायके दार्शनिक और लेखक यह विश्वास करते हैं कि सत्यकी प्राप्तिके लिये शुद्र बाह्य दृष्टिकोण स्वीकार करना भी सम्भव है। इसलिये यथार्थवादी साहित्यमे निम्नलिखित बातें देखी जाती हैं—क. स्थानीय दृश्य तथा जनताका परिचय, ख. तत्कालीन घटनाओ और आचार-विचारोका विवरण, ग. कथासे चाहे जितना कम सम्बन्ध हो फिर भी उसमे आए हुए स्थानो और व्यक्तियोका सूक्ष्म वर्णन, घ. लोकभाषा और उसकी फूहड उक्तियोंका स्पष्ट और ज्योका त्यो प्रयोग, ङ. व्यवहार और विज्ञानके लिये परिभाषिक शब्दोका प्रयोग, च. वर्णनीय घटनाओमे कार्य कारण-सम्बन्धका रूपक देनेके लिये पत्रों, लेखो तथा पुस्तकोका उल्लेख।

यथार्थवादका प्रयोग विशेष रूपसे प्रकृतिवादके साथ उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दीके उन उपन्यासोके लिये भी किया गया जिन्होंने यथार्थवादी साहित्यका व्यवहार किया या यथार्थवादका चित्रण करनेकी

प्रतिज्ञा की। अब तो यथार्थवाद और प्रकृतिवाद एक दूसरेमे घुल-मिल गए हैं। शुद्ध रूपसे यथार्थवाद उन्हीं लेखकोमे मिलता है जो अपने ग्रन्थोमे पूर्ण बाह्यता उपस्थित करनेमे सफल होते हैं।

अतियथार्थवाद (अल्ट्रारियलिज़्म)

जब कोई लेखक या कलाकार अपनी कृतिमे आवश्यकतासे अधिक यथार्थवाद लानेका और जीवनकी असामाजिक या अश्लील वास्तविकता प्रदर्शन करनेका प्रयत्न करता है तब उसे अति यथार्थवादी कहते हैं।

मनोविश्लेषणवाद (साइको-ऐनेलिसिस)

सिगमन्ड फ्रौयड (१८५६ से १९३६) ने कहा है कि 'हमारी मानसिक प्रक्रियाओके तीन आधार हैं—१. चेतन मन, जिसमे हमारी मूल प्रेरणाएँ और दबी हुई तथा अतृप्त व्यक्तिगत इच्छाएँ पडी रहती हैं। २. आन्तरिक सयम, जो हमारी सब प्रेरणाओपर लगे हुए सामाजिक बन्धनको समझकर असामाजिक प्रेरणाओको दबा देता है और उन्हे समाज-द्वारा मान्य अभिव्यक्तियोके रूपोमे प्रकट होनेके लिये उदात्त बना देता है। इन्हीं अभिव्यक्तियोमेसे एक कला भी है। ३. एक मौलिक कामवासना या प्रेरणाशक्ति (लिबिडो), जिसे बर्नर्ड शौने 'जीवन-शक्ति' कहा है, जिसकी गतिमे यदि बाधा आ जाय तो उससे अनेक प्रकारके कुसस्कार जैसे माताके प्रति काम-भावना (ओडिपस कौम्प्लेक्स) अथवा उन्माद आदि जीवन-विध्वसकारी रोग उत्पन्न हो सकते है।

यूङ्गने दो प्रकारके मनुष्य बताए हैं—१. अन्तर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) और २. बहिर्मुखी (एक्स्ट्रावर्ट)। जो लोग समाज, राजनीति आदि क्षेत्रोमे काम करनेवाले होते है वे बहिर्मुखी और जो लोग एकान्त-विचारक कलाकार आदि होते है वे अन्तर्मुखी। मनोविज्ञानके आचार्योंने जहाँ मनुष्यके व्यक्तित्वकी चर्चा की है वहाँ बताया है कि 'मनुष्यके मानसिक विकासपर घरका वातावरण, सामाजिक स्थिति, माता-पिता

अभिभावक या गुरुका व्यवहार, सङ्गति, आर्थिक स्थिति, रोग तथा आकस्मिक घटनाका बडा प्रभाव पड़ता है।' अतः बहुतसे लोगोने अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी भेदको अस्वीकार करके इन उपर्यङ्कित दशाओको ही व्यक्तित्वके विकासका आधार माना है। इन लोगोका मत है कि 'बाह्य परिस्थितियाँ ही इस प्रकार मनको मथती हैं कि मनुष्यका मन उनका दबाव सहन न करनेके कारण साहित्यके रूपमें फूट पड़ता है।'

फ्रौयडने इसे दूसरे प्रकारसे समझाया है। उसने स्नायविक रोगोंसे पीड़ित व्यक्तियोकी चिकित्साके लिये मनोविश्लेषणात्मक उपाय बताते हुए कहा है कि 'प्रत्येक मनुष्यमे एक प्रेरक शक्ति (लिबिडो) या काम-प्रेरणा (सेक्स ड्राइव) होती है जो हमारे मानसिक जीवन (मन) के विस्तृत अचेतन क्षेत्रसे उत्पन्न होती है। हमारा पूर्ण व्यक्तित्व या आत्मत्व (सेल्फ) तीन शक्तियोसे समन्वित है—१. 'आदिम पशु-प्रवृत्ति' (इड) जो हमारे अचेतनमे विद्यमान रहती है और हमारी प्रेरणा-शक्ति (लिबिडो) को सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करती है। २. 'विवेक' (ईगो) अर्थात् हमारी शक्ति, जो पशु-प्रवृतियोपर शासन करती है और उन्हे दबाकर अचेतनमे ढकेल देती है किन्तु साथ ही कुछ पशु-प्रवृत्तियोको व्यक्त भी होने देती है। ३. धर्म-बुद्धि (सुपर ईगो), जिसे नैतिक भावोका निधान समझना चाहिए। यही अवरात्मा (कौन्शन्स) है जो हमारे 'विवेक' (ईगो) को प्रेरणा देकर मनकी असामाजिक प्रवृत्तियोको दबानेका आदेश देता है। इस प्रकार धर्म-बुद्धि (सुपर ईगो) तथा पशु-प्रवृत्ति (इड) मे निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है, जिसे हमारा 'विवेक' (ईगो) सुलझाता चलता है। यही अचेतनका सिद्धान्त मनोविश्लेषणका मूल सिद्धान्त है। इसी अचेतनको कुछ लोगोने अचेतन मन भी माना है। फ्रौयडका मत है कि 'हमारे मानसिक जीवनके तीन भाग हैं—१. चेतन (कौन्शस), २. पूर्वचेतन (प्री-कौन्शस), ३. अचेतन (अनकौन्शस)। इनमेंसे चेतनका क्षेत्र

बहुत छोटा होता है। इसमे केवल उतने ही विचार और भाव आते हैं जो किसी एक समय हमारे ध्यानमे रह पाते हैं। यह चेतन क्षण-क्षणपर बदलता रहता है। किन्तु हमारे मनमें और भी बहुत-सी सामग्री जुटी रहती है जिसे स्मृतिके द्वारा हम चेतनमे उपस्थित कर लेते हैं। यही जुटी हुई सामग्री 'पूर्व चेतन' कहलाती है जो केन्द्रित चेतनसे अस्थायी रूपसे थोड़े समयके लिये हट जाती है। इन दोनोसे भिन्न हमारा अचेतन मन है जो विस्तृत भाण्डार है, जिसमे हमारी समग्र आदि-प्रवृत्तियाँ और प्रयास भरे हुए हैं। यह अचेतन हमारे सामाजिक जीवन (मन) को बहुत प्रभावित करता है। इसके द्वारा केवल असख्य अनैतिक तथा असामाजिक भावनाएँ निरन्तर चेतनामे आती रहती हैं किन्तु 'विवेक' उन्हे वहीं दबा देता है। इससे द्वन्द्व उत्पन्न होता है और यदि यह द्वन्द्व अधिक गम्भीर हो जाता है तो ये ही दबी हुई असुन्दर भावनाएँ, इच्छाएँ, स्मृतियाँ स्वप्नके रूपमे भी प्रकट होती हैं क्योकि निद्रामें हमारा विवेक (ईगो) ढीला पड जाता है, इसलिये दबी हुई इच्छाएँ और विचार स्वप्न बनकर चेतनमे आ धमकते हैं जिनमेसे अधिकाश हमारी काम-वासनासे सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आदिम पशु-प्रवृत्ति और जीवनकी वास्तविकताके बीच उत्पन्न हुई असङ्गतिको सुलझानेका जो प्रयत्न करता है उसे ही 'दमन' (डायनैमिज्म) कहते हैं। इसके द्वारा वह अस्वीकरणीय भावनाओको चेतनामे आनेसे रोक देता है। दूसरा उपाय सस्कार या उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है, जिसके द्वारा हमारी प्रेरणा-शक्ति (लिबिडो), समाज-द्वारा समर्थित प्रवृत्तियोकी ओर मुड़ जाती है जैसे सुव्यसन (हौबी), सामाजिक उत्सवादि, कला, कविता, धर्म-कार्य, भोज, नाटक आदि।'

फ्रौयडके शिष्य एल्फ्रेड ऐडलरने कहा है कि 'फ्रौयडने काम-शक्तिको जो इतना महत्त्व दिया है वह ठीक नहीं है और चेतन तथा अचेतनके बीच जो भेद किया है वह भी अनुपयुक्त है।' ऐडलरका मत है कि 'मनुष्यकी मूल प्रेरणा-शक्ति (बेसिक अर्ज) वास्तवमे लोकैषणा

(सेल्फ ऐसर्शन) या बड़प्पन प्राप्त करनेकी इच्छा ही है।' जब यह बड़प्पन प्राप्त करनेमें बाधा आती है तब मनुष्य अपनेको हीन समझने लगता है जिससे उसमें आत्महीनताकी भावना (इन्फीरिऑरिटी कौम्पलैक्स) आ जाती है। अपनी इस हीनताको पूर्ण करनेके लिये मनुष्य अन्य उपायोंका अवलम्बन लेता है। यदि यह पूर्तिका कार्य समाज विरुद्ध हो तो स्नायविक रोग हो जाते हैं। ऐडलरका मत है कि 'कामवासनाके दमनसे नहीं वरन् आत्म-महत्ता (सेल्फ-एसर्शन) की पूर्ति न होनेसे ही स्नायविक रोग होते हैं।'

तीसरे मनोविश्लेषणशास्त्री यूङ्गने विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान चलाया है। उसका कहना है कि 'प्रेरणाशक्ति (लिबिडो) के अनेक रूप होते हैं। बालकमें वह भूखके रूपमें रहती है और फिर यही बड़ा बननेकी या कामवासनाकी शक्ति बन जाती है।' इसका मत है कि 'हमारे अचेतनमें केवल अनैतिक तथा पशुवृत्तियाँ ही नहीं, वरन् नैतिक या धार्मिक वृत्तियाँ और भाव भी रहते हैं।' इसी आधारपर यूङ्गने अन्तःवृत्ति और बाह्यवृत्तिके अनुसार मनुष्यके भेद किए और बताया कि 'एक सामूहिक अचेतन (कलेक्टिव अनकौन्शास) भी होता है जिसमें अनियमित रूपसे अनेक भाव निरन्तर आते-जाते रहते हैं।' यही तथ्यातिरेकवादियों (सररीयलिस्ट्स) की चेतनाधारा (स्ट्रीम ऑफ कौन्शसनेस) है जिसके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'मनुष्यके मनोभाव किसी क्रमसे नहीं आते वरन अत्यन्त असङ्गत, अक्रम, अव्यवस्थित तथा अधूरे रूपमें आते हैं। अतः साहित्यमें भी हमें चेतनाधाराके अनुसार अक्रम रूपसे ही मानस चित्रण करना चाहिए।'

अपने मतानुसार फ्रौयडने स्वैरवादी स्वातन्त्र्यका समर्थन करते हुए कहा है कि 'सब प्रकारकी दबी हुई वासनाओं, निषेधों और अतृप्तियोंको निकाल डालो, कुछ भी मनमें न रक्खो जो कहना है खुलकर कहो नहीं तो तुम्हारी कला झूठी हो जायगी।' इसी आधार पर बहुतसे लेखकोंने खुलकर लिखना प्रारम्भ कर दिया किन्तु इससे यह

नहीं समझना चाहिए कि फ्रौयडने सब लेखकोको पूरी छूट दे दी है । वास्तवमे उसने लेखकका उत्तरदायित्व बढ़ा दिया है और उसका कार्य जटिल कर दिया है क्योकि अब प्रत्येक लेखक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तिके साथ प्रत्येक पात्रकी मानसिक परिस्थितियोका ध्यान रखकर उसका चरित्र-चित्रण करता है । इस मनोविश्लेषणके कारण एक नई समीक्षा-पद्धति ही निकल आई, जिसका कहना है कि 'किसी भी बडे उपन्यासके मुख्य पात्र वास्तवमे उन तत्त्वोके अचेतन रूप हैं जिनका लेखक अपने चरित्रसे सामञ्जस्य नहीं कर पाता ।'

इस सिद्धान्तपर लोगोने केवल एक ही आपत्ति की है कि 'आजकल लोगोको इस प्रकारकी छूट देनेके बदले उनमे सघटनकी शक्ति भरनेकी आवश्यकता है जो इस सिद्धान्तसे कभी प्राप्त हो सकती ।' समीक्षाके क्षेत्रमे भी इसका प्रयोग करके अब समीक्षक देखता है कि 'लेखकने अपने चरित्रकी कौनसी अचेतन भावनाएँ अपनी रचनामे ला भरी है ।' टौमस मानने कहा है कि 'मनोविश्लेषण उस भविष्यकी नींव है जिसमे स्वतन्त्र और चेतन मानवता निवास करेगी ।'

प्रकृतिवाद (नेचुरलिज़्म)

प्रकृतिवादी मानते हैं कि 'प्रकृति स्वय अपने वास्तविक रूपमे समझी जा सकती है, उसके ज्ञानके लिये किसी दूसरे ससार या व्यक्तिकी आवश्यकता नहीं है ।' वे मानते हैं कि 'मनुष्य पूर्णतः प्रकृतिका अङ्ग है ।' प्रकृतिवादी प्रायः यह प्रयत्न करता है कि 'मनोवैज्ञानिक और शरीरवैज्ञानिक नियमोसे आए हुए नैतिक नियमके तत्त्व खोज निकालें ।'

उन्नीसवीं शताब्दीमे 'प्रकृतिवाद' शब्द अधिक विस्तारसे प्रयुक्त होने लगा। यद्यपि स्पिनोज़ा जैसे दार्शनिकोको भी इसी श्रेणीमे रख सकते है किन्तु वास्तवमे यह शब्द उन विकासात्मक दर्शनोके लिये

ही प्रयुक्त होता है जो डार्विनवादसे ही उद्भूत हुए हैं और वास्तविकताको ऐसी प्रक्रिया समझते हैं जिनमेंसे मनुष्यका तथा उन अन्य सामाजिक महत्त्वोका प्रादुर्भाव हुआ है जो परम्परासे प्रकृतिसे ऊपर, परे या विरोधी समझे जाते रहे हैं। वर्त्तमान प्रमुख प्रकृतिवादी सिद्धान्त मोटे ढङ्गसे इस प्रकार वर्गीकृत हो सकते हैं—(क) प्रयोजनवाद (ड्यूई, शिलर और प्रैग्मेटिज्म), (ख) बर्गसनका रचनात्मक विकास, (ग) ऐलेग्जेडर और लौयड मौर्गनका सहसा विकास (इमर्जेण्ट इवोल्यूशन), (घ) ह्वाइट हैडका अवयववाद (औगेंनिज्म), (ङ) नवीन यथार्थवाद और अनुभववाद (एम्पेरिसिज्म) के अनेक रूप, यद्यपि यह अन्तिम मण्डल जीव-विज्ञानकी अपेक्षा भौतिक विज्ञानसे अधिक सम्बद्ध है।

साहित्यिक समीक्षामे 'प्रकृतिवाद' शब्द अत्यन्त भ्रामक है। अपने व्यापक अर्थमे इसका अर्थ है—१. वे साहित्यिक कृतियाँ, जिनमे प्रकृतिसे प्रेम या प्राकृतिक सौन्दर्यसे प्रेमका विवरण रहता है। २. वह साहित्य, जिसमे प्रकृतिका यथार्थतम चित्रण करनेका प्रयत्न किया जाता है। इस अर्थमे यह यथार्थवादके समान है। ३ अत्यन्त स्पष्ट और प्रायागिक रूपमे वे साहित्यिक कृतियाँ जो—क. प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यका प्रकृतिवादी रूप उपस्थित करती हैं, मानवतावादी या धार्मिक नहीं (जोला, जौर्ज मोर आदि), ख मनुष्यका शारीरिक पक्ष उपस्थित करती है अर्थात् जीवोसे उसका सम्बन्ध, उसके आदर्शोंकी परिवर्तनशील और निरर्थक प्रकृति और ग जो अपने विषयको अत्यन्त भद्दे, कुरूप, व्यंग्यात्मक और निराशात्मक ढङ्गसे उपस्थित करते हैं। दूसरे अर्थवाला प्रकृतिवाद तो स्वैरवादका विरोधी है और तीसरे अर्थवाला आदर्शवादका। विशिष्ट अर्थमे यह प्रकृतिवाद अंशतः स्वैरवादी सौन्दर्यसे प्रकाशित और अशतः अवगुण्ठित है और ईसी बातपर नवमानवतावादियोने इसपर आक्रमण भी किया है।

मिथ्या प्रकृतिवाद (सूडो नेचुरलिज़्म)

जिन रचनाओमे कुछ कुछ प्रकृतिवादी प्रवृत्ति मिलती है किन्तु तत्त्वतः वे उससे भिन्न हैं ऐसी सब रचनाएँ मिथ्या-प्रकृतिवादी कहलाती हैं। साधारणतः जिन रचनाओमे प्राकृतिक दृश्योका अधिक वर्णन, प्राकृतिक सौन्दर्यकी व्याख्या, प्रकृतिका वास्तविक निरूपण, मानव और जीव प्रकृतिका विश्लेषण होता है किन्तु पूर्ण ग्रन्थमे दूसरी प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हो वे सभी मिथ्या-प्रकृतिवादी कहलाती हैं।

प्रतीकवाद (सिम्बौलिज़्म)

प्रतीकवादकी यह परिभाषा की जा सकती है कि 'वह एक स्तरके विवरणकी वास्तविकताका प्रदर्शन या प्रतिनिधित्व उसी प्रकारके दूसरे स्तरपर उपस्थित वास्तविकताके द्वारा करता है।' सम्प्रदायके रूपमे सन् १८८६ में ह्रासोन्मुखी लेखकोने 'फिगारो' पत्रमे प्रतीकवादकी घोषणा की। यह प्रतीकवाद उस साहित्यिक अभिव्यक्तिके ढङ्गका विवरण था जिसमें शब्दोका प्रयोग मानस-दशाओंको व्यक्त करनेके लिये होता है, बाह्य रूपोके लिये नहीं। प्लेटोने प्रतीकाके प्रयोगका महत्त्व समझाते हुए कहा है कि किसी वस्तुको यह बताना सरल है कि वह किसके समान है किन्तु यह बताना कठिन है कि वह क्या है।

अतिप्रतीकवाद (अल्ट्रा-सिम्बौलिज़्म)

जब लेखक या कलाकार इस प्रकार व्यक्तिगत रूपसे प्रतीकोमे बोलने लगते है कि उसे समझना कठिन हो जाता है तब उसे अतिप्रतीकवाद कहते है।

प्रगतिवाद (प्रोग्रेसिविज़्म)

जब कोई वस्तु अपने स्वरूपकी पूर्णताके लिये प्रयास करती और पूर्णताकी ओर चलती है तब उसे प्रगति कहते हैं। सन् १९०५ की रूसी क्रान्तिके समाजवादी नेता निकोले कौन्स्तान्तिनोविच मिखायलोवस्की (१८४२-१९१४) ने प्रगतिकी परिभाषा बताई है—'प्रगति उन सब

प्रवृत्तियो और कार्योंकी समष्टिको कहते है जो किसी मानवके प्रत्येक जीवन-पक्षकी अधिकाधिक समुन्नति करे या समुन्नतिके लिये प्रेरणा दे।' अतः प्रगतिवादी साहित्यके अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आती है जो मनुष्यकी शारीरिक, पारिवारिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक पूर्णता और समृद्धिके लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन दें तथा बाधक प्रवृत्तियोकी निन्दा करें।

बिम्बवाद (इमेजिज्म)

कुछ अँगरेज और अमरीकी कवियोकी प्रवृत्ति रही है कि 'प्रत्येक दृश्यबिम्बको ज्योका त्यो कवितामे उतार दिया जाय।' इस आन्दोलनको कुछ अप्रत्यक्ष रूपसे टी० इ० हुल्मेने बौद्धिक आधार प्रदान किया जिसकी कविताओमें अत्यन्त नीरस सटीकताके साथ बिम्बोकी अभिव्यक्ति की गई है। ये कविताएँ बिम्बवादके लिये आदर्श समझी जाती है। यद्यपि सन् १९१२ से ऐजरा पाउण्डने ही इसे चला रक्खा था किन्तु सन् १९१४ मे लौवेलने यह कार्य अपने ऊपर ले लिया और ऐज्रा पाउण्डकी रुचि 'वर्त्तमानवाद' (वौटिसिज्म) की ओर झुक गई। ये सभी बिम्बवादी चीनी और जापानी कविता तथा फ्रान्स और उदात्तवादी जर्मनीसे प्रभावित थे। फ्लिण्टने मार्च १९१३ मे तीन बिम्बवादी नियम प्रवर्त्तित किए—१. चाहे कोई वस्तु भावात्मक हो या प्रत्यक्ष हो, उसका ज्योका त्यो चित्रण किया जाय, २ ऐसे एक भी शब्दका प्रयोग न किया जाय जो उस वस्तुको प्रस्तुत करनेमे सहायक न हो और ३ गतिके अनुसार छन्दको न बाँधकर लयमे बाँधना चाहिए।

तथ्यातिरेकवाद (सररीयलिज्म)

तथ्यातिरेकवादका उद्देश्य यह है कि 'वास्तविकताकी मान्य सीमाके बाहर साहित्यमें वह सामग्री लाई जाय जिसका अबतक प्रयोग न हुआ हो।' अर्थात् स्वप्न और स्वयं-सम्बद्ध मानस क्रियाएँ लाई जायँ तथा चेतन और अचेतन मनके अनुभावोका समन्वय किया जाय। तथ्याति-रेकवादी अपनी कृतिको अत्यन्त असङ्गत रूपसे छोड़ देता है जिससे

ऐसा प्रतीत हो मानो वह स्वयं अचेतनका ही रूप हो। हरबर्ट रीडके अनुसार 'स्वैरवादी प्रवृत्ति भी स्वभावतः तथ्यातिरेकवादी ही है।' किन्तु अन्य लोग इसे स्वैरवादके मिथ्यात्वका प्रमाण (रिडक्शो एड एब्सर्डम्) समझते है। कुछ भी हो, दोनोमे एक बात तो मिलती है कि '१. ये लोग एकरूपताके बदले भिन्न-रूपताके पक्षपाती है, २. तर्क-सङ्गतके बदले भावसङ्गतको अधिक महत्त्वशील मानते हैं, ३. विवेकवादमे अविश्वास करते है और ४. मध्यवर्गको ऊँचा उठाते हैं।' वास्तवमे फ्रौयडने ही हेगेल और मार्क्सके सिद्धान्तोको मिलाकर तथ्यातिरेक-वादको प्रोत्साहन दिया है क्योकि फ्रौयडने ही कहा कि 'हमारे जीवनके विवेकवादके तले एक निरकुश और विवेक-निरपेक्ष शक्ति निरन्तर चलती रहती है।' फ्रौयडने ही उपचेतन मनकी खोज की। हेगेलने यह भावना चलाई कि 'न माननेसे समन्वय और नाशसे सृष्टि होती है।' मार्क्सने कहा कि 'समकालीन मूल्याङ्कनोके प्रति सोच-समझकर घृणा करनी चाहिए और मानवीय व्यवहारके लिये एक राजनीतिक कार्यक्रम होना चाहिए।' इन शक्तियोके अतिरिक्त, इस तथ्यातिरेक-वादका वास्तविक पिता था 'दादावाद' नामक आन्दोलन जो सन् १९१६ मे ट्रीस्टन ज्ञाराने चलाया था। यह नाम यो ही ऊटपटॉग रूपसे ग्रहण कर लिया गया और इसका अर्थ हुआ सब प्रकारकी नीति या रुचिके मानदण्डोका विनाश। इस 'दादावाद'मे कोई बात बुद्धिसङ्गत नहीं की जाती थी। इसके सदस्य गोताखोरोकी टोपियॉ पहनकर, घाण्टयॉ बजाते हुए सार्वजनिक मूत्रालयोमे व्याख्यान दिया करते थे। इस गाली-सम्प्रदायसे बहुतसे भावी तथ्यातिरेकवादी लोग कला और समाजसे घृणा करते हुए नये मूल्याङ्कन और नई कलाके लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। यह नया मूल्याङ्कन उन्हे मार्क्सवादमे और नई कला स्वय प्रक्रियावादी लेखोमे मिली।

अभिव्यञ्जनावाद (एक्स्प्रेशनिज्म)

किसी कलाके रचना-कर्ममे तथा उस कलाकी अभिव्यञ्जना-शक्तिके

लिये अभिव्यक्ति अत्यन्त मुख्य तत्त्व माना गया है। 'उदात्त काव्य'के सिद्धान्तमे अभिव्यञ्जनाका स्थान उसकी रूप-रचनासे हीन माना गया है या यो कहना चाहिए कि रूप रचनामे अभिव्यञ्जनाको कोई स्थान नहीं मिला है। उदात्तवादी सिद्धान्त सदा यही मानता रहा है कि 'कलामे चाहे भाव या विचारकी अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण रही हो किन्तु वह अभिव्यञ्जक ढॉचेके बिना असम्भव है। जिसका सम्बन्ध किसी वस्तुके ढॉचेमे पूर्णतः घुला हुआ न हो वह वास्तवमे तत्त्व है ही नहीं। इस प्रकारकी अभिव्यञ्जना और इस प्रकारकी रचनाकी समस्या वर्त्तमान सौन्दर्य विज्ञानकी सबसे बडी समस्या है। लैसिङ्गके पश्चात् योरोपीय साहित्य-सिद्धान्तमे, विशेषतः जर्मनीमे, अभिव्यञ्जनीयताकी महत्ताको अधिकाधिक माननेकी प्रवृत्ति रही है, यहॉतक कि अब वे ललित कलाका तात्पर्य 'किसी वस्तुका बनाना' मात्र न समझकर किसी भावकी अभिव्यक्ति मानते है या किसी अनुभवका प्रत्यक्ष विवरण समझते है। रूढ शब्दोमे कहा जाय तो वे इसे काव्यात्मक प्रक्रियाके बदले आलङ्कारिक प्रक्रिया मानते है। ललित कलाकी यह भावना उन्नीसवीं शताब्दीमे योरप-भरमे व्याप्त रही और यद्यपि बीसवीं शताब्दीमे इसकी बहुत आलोचना हुई फिर भी हमारे युगकी अत्यन्त साधारण अचेतन सौन्दर्यात्मिका वृत्ति यही रही है। इसका मुख्य नियमित समर्थक इटलीका बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६) रहा है जिसके सिद्धान्तका आधार यही है कि 'अभिव्यञ्जना और ललित कला दोनो पूर्णतः एक हैं।' वह कहता है कि 'सभी ललित कलाऍ अभिव्यञ्जना हैं इसलिये सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना ललित कला है।'

उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तको 'आत्मा या मनका दर्शन' (फिलौसौफी औफ स्पिरिट और माइन्ड) बताया और कहा कि 'इस ससारमे जो भी कुछ तथ्यका आधार है सब हमारे मनमे ही विद्यमान है अर्थात् किसी प्रकारके सत्यको अभिव्यक्त करनेके लिये जितने पदार्थोंका विवरण दिया जाता है और जो जगत्मे विद्यमान हैं

वे सब वास्तवमे जगत्‌मे न रहकर मनमे रहते है। यह मानस-सत्यता या सब सत्ताओसे भरा हुआ मन एक 'प्रक्रिया' (एक्टिविटी) है जिसके अलग-अलग रूप तो बहुतसे होते हैं पर उन्हे हम अलग नहीं कर सकते। जैसे यदि हम कोई दृश्य देखें तो वह पूराका पूरा दृश्य मनकी क्रिया बनकर प्रकट होता है अर्थात् मन ही अपनी अनेक क्रियाओ द्वारा उस दृश्यका निर्माण कर लेता है जिसे हम अस्तित्व या सत्ता कहते है।' क्रोचेने मनके दो कार्य माने है—१. ज्ञान या जानना, २. क्रिया या सङ्कल्प (करनेका निश्चय), अर्थात् पहले मनमे किसी वस्तुका ज्ञान होता है और तब उसकी व्यावहारिक क्रिया होती है। इस ज्ञानके भी उसने दो भेद बताए हैं—१. अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन), अर्थात् कल्पनामे सहसा बिना किसी प्रेरणाके ज्ञानका उदय होना। २. विचार (कन्सेप्ट), अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान। इनमेंसे अन्तःप्रेरणापर सौन्दर्य-विज्ञान या कला अवलम्बित रहती है और विचारपर तर्कशास्त्र। तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य ज्ञान किसी तर्क या बुद्धि-व्यापारपर अवलम्बित न होकर अन्तःप्रेरणापर अवलम्बित रहता है। सङ्कल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार भी दो प्रकारका होता है—१. जीवन-यापनकी क्रिया (इकौनौमिक एक्टिविटी) २. नैतिक क्रिया (ईथिक एक्टिविटी)। मानसिक क्रियाके रूपमे जो सत्ता विद्यमान है वह चार रूपोमे अपनेको अभिव्यक्त करती है—सौन्दर्य (ब्यूटी), सत्य (ट्रुथ), प्रियता या उपादेयता (यूजफुलनेस) और कल्याण (गुडनैस)। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि क्रोचेने ज्ञानको मनकी पहली वृत्ति माना है जिसके आधारपर क्रिया (सङ्कल्प) अपना रूप फैलाती है।

क्रोचेका अभिव्यञ्जनावाद समझनेके लिये अन्तःप्रेरणाका अर्थ समझ लेना चाहिए। वह कहता है कि 'मनकी पहली क्रिया है अन्तः-प्रेरणा अर्थात् किसी बादलको देखकर जब हम सहसा यह समझ लेते है कि भेड़ें चली आ रही हैं तो यह सहसा भान होना ही बिम्ब-रूपण

(इमेज फौर्मिङ्ग) कहलाता है। यही हमारे मनका पहला कार्य होता है अर्थात् शुद्ध अन्नःप्रेरणा वह है जो किसी वस्तुके सत्य और झूठ, वास्तविक और काल्पनिकका विवेक करनेसे पहले ही हमारे मनमे अपने आप एक रूप गढ़ देती है। यही कल्पना आत्माकी अपनी व्यक्तिगत या निजी क्रिया है जो संसारके अनेक रूपो और कार्योंके अनुसार अपना ताना-बाना बुनती रहती है। यही मनुष्यके मनकी सौन्दर्यात्मिका क्रिया (एस्थैटिक एक्टिविटी) है।' इस सिद्धान्तके अनुसार क्रोचे कहता है कि 'प्रत्येक मनुष्य कवि होता है और कवि होनेके कारण दार्शनिक होता है अर्थात् मनुष्यके सङ्कल्पका आधार उसका ज्ञान है, जो दो प्रकारका होता है—१. कल्पनात्मक (इमैजिनेटिव), जिसके द्वारा वह मूर्ति बनाता है। २. विचारात्मक (फोर्सफुल), जिसके द्वारा वह वास्तविक ज्ञानके साथ उसका सम्बन्ध जोडता है।' क्रोचेका मत है कि 'कलाकारकी दृष्टिमे दो बातें होती हैं—१. कलाकार प्रत्येक वस्तुको उनके वास्तविक रूपमे ग्रहण करता है। २. कलाकारकी यह दृष्टि उसके मानससे उत्पन्न होती है और वह जिस वस्तुकी अभिव्यक्ति करती है वह साहित्यिक या अन्तरङ्ग होती है, बाह्य नहीं।' क्रोचेने कहा है कि कल्पना वह शक्ति है जो मूर्तियो या बिम्बोकी खोज करती और उन्हे गढती है और वही सौन्दर्यका ज्ञान कराती है। अतः कलापर पूर्ण रूपसे कल्पनाका ही शासन है।'

अभिव्यक्तिकी व्याख्या करते हुए क्रोचेने बताया है कि 'हमारी अन्त प्रेरणासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह कोई न कोई रूप (फौर्म) ग्रहण कर लेता है अर्थात मनमे जब कोई भावना स्वय उठती है तो वह किसी रूपमे प्रकट होती है। यह रूप ही अभिव्यञ्जना है अर्थात् अन्तःप्रेरणासे जिस रूपमे ज्ञान उत्पन्न होता है वही अभिव्यञ्जना है, न इससे अधिक न कम। तात्पर्य यह है कि हमारा मन अन्तःप्रेरणात्मक ज्ञानको जिस साँचेमे ढालता है अथवा अन्त प्रेरणा ही अपनेको प्रकट करनेके अवसरपर जो रूप ग्रहण करती है उसीको अभिव्यञ्जना

कहते हैं। अतः अन्तःप्रेरणा और अभिव्यञ्जना दोनो परस्पराश्रित हैं।' यही क्रोचेकी कला-भावनाका मूल सूत्र है। वह यह मानता है कि अन्तःप्रेरणा और अभिव्यञ्जना दोनो साथ चलती हैं।'

क्रोचेका मत है कि 'ससारकी प्रत्येक सुन्दर वस्तुके दो तत्त्व होते हैं—१. द्रव्य (मैटर) और २. रूप (फौर्म)। ससारमे जो कुछ हम देखते हैं सब द्रव्य है। इसीके सहारे हमारा आत्मा किसी प्रकट रूपमें अपनी क्रियाको प्रकाशित कर देता है अर्थात् मनुष्यका आत्मा केवल द्रव्यकी प्रतीति करता है।' क्रोचे मानता है कि 'यह रूप ही सौन्दर्यका आधार है और यह रूप ही अभिव्यञ्जना है जो भौतिक न होकर शुद्ध मानसिक या सात्त्विक होती है अर्थात् ज्यो ही हम किसी रूपकी कल्पना करते हैं या अपने मनमे गीतकी कोई धुन सोचते हैं उसी समय उसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना हो जाती है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह बाहर भी व्यक्त की जाय। यदि हम उसे बाहर प्रकट करें अर्थात् मनमे सोचे हुए रूपको चित्र या कवितामे उतार दें अथवा मनमें उठी हुई तानको गा दें तो हम अपने मनके भीतर हो चुकनेवाली अभिव्यक्ति या अभिव्यञ्जनाको ही अधिक स्पष्ट करके प्रकाशित कर रहे हैं, उसकी वास्तविक अभिव्यञ्जना तो भीतर मनमे उठते ही पूर्ण हो चुकी है और यही अभिव्यञ्जना सौन्दर्य है।' क्रोचेका मत है— सौन्दर्य कोई भौतिक वास्तविकता नहीं है। यह वस्तुओमे नहीं होता वरन् मनुष्यकी सौन्दर्यात्मिका क्रियामे रहता है जो मानसिक या आध्यात्मिक तत्त्व है।' क्रोचेका एक विलक्षण मत यह है कि 'सभी कलाएँ अभिव्यक्ति ही हैं अत सब अभिव्यक्ति कला है (औल आर्ट इज एक्सप्रेशन, देअरफोर औल एक्सप्रेशन इज आर्ट)।' इसकी व्याख्या करते हुए हम बता आए हैं कि 'सब कलाएँ केवल अभिव्यक्ति नहीं है, वे तो सौन्दर्यभावित व्यवस्थित अभिव्यक्ति है,' अत. क्रोचेको यह कहना चाहिए था कि 'सब कलाएँ व्यवस्थित तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति हैं अत सब सौन्दर्यभावित तथा व्यवस्थित अभिव्यक्ति ही कला है।'

इस अभिव्यञ्जनावादके सिद्धान्तका प्रयोग तथ्यातिरेकवादियो (सररीयलिस्ट्स) ने ही किया है क्योकि वास्तवमे इस अभिव्यञ्जना-वादके अनुसार शुद्ध तथा व्यवस्थित साहित्यिक रचना हो ही नहीं सकती।

अतिरेकवाद (अल्ट्राइज्म)

बीसवीं शताब्दीकी उन सब प्रतिक्रियावादी और विद्रोही साहित्यिक प्रवृत्तियोके व्यापक तथा मौलिक सिद्धान्तको अतिरेकवाद कहते है जो मानवतावादके विरोधमे चलीं और जिनके अनुयायी मानते है कि 'ससारकी अन्य वस्तुओके साथ मनुष्य भी एक ही नियममे बँधा है।' ये लोग व्यक्तिवादको न मानकर तात्त्विक सार्वभौम महत्त्वको स्वीकार करते है। इसके अन्तर्गत विशेष रूपसे अभिव्यञ्जना वाद, तथ्यातिरेकवाद और भावात्मक कलाका सन्निवेश होता है।

राष्ट्रीयतावाद (नेशनलिज्म)

बहुतसे लेखको, समीक्षको और पाठकोका यह मत रहा है कि 'साहित्यमे हमारे राज्य या प्रदेशकी छाया व्याप्त होनी चाहिए जो हमारी देशभक्तिको उद्दीप्त करते हुए हमारे राष्ट्रीय जीवनके विभिन्न पक्षोको प्रकाशमे लाकर उसे समुन्नत और समृद्ध करे और इस प्रकार हमारी अपनी राष्ट्रीय और प्रादेशिक भाषा समृद्ध हो।' इन लोगोमे कई प्रकारके व्यक्ति थे—१. कुछ चाहते थे कि विदेशी विचार और विद्याओका प्रयोग ही न किया जाय, २ कुछ चाहते थे कि अन्य भाषाओका श्रेष्ठ साहित्य अपनी भाषामे अनूदित किया जाय, ३. कुछ चाहते थे कि विदेशी साहित्यको अपनी राष्ट्रीय सस्कृति तथा परिपाटीके अनुसार आत्मसात् कर लिया जाय, क्योकि उनका कहना था कि 'कलाकारको यह अधिकार है कि वह पूर्वकी कृतियोको अपने रङ्गमे ढाल ले।' यह राष्ट्रीयता बढ़ते बढ़ते इतनी सकुचित हो गई कि वह स्थानीयता (लोकलिज्म) और प्रादेशिकता (रीजनलिज्म)

तक पहुँच गई अर्थात् स्थानीय दृश्य, स्थानीय जनता और स्थानीय भावोंका चित्रण ही राष्ट्रीयतावाद हो गया।

प्रदेशवाद (रीजनलिज़्म या हौइमाटकुन्स्ट)

कुछ लोगोंकी यह प्रवृत्ति हो चली है कि वे अपनी रचनाओंका घटनास्थल कोई विशेष स्थान रखते हैं और उसको इस प्रकार चित्रित करते है कि वह स्थान ही वहाँके निवासियोंके जीवन और भाग्यको प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त एक विशेप प्रकारका आन्दोलन ही चला था—'चलो अपनी भूमिपर' (बैक टु दि सौयल)। यह वास्तवमें किसानवादी आन्दोलन था जो जीवनके व्यवसायवाद और साहित्यिक प्रकृतिवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें चलाया गया। इसीमें जर्मनीके कट्टरपन्थियों (१६००–१६०४) ने राष्ट्रीय समाजवादका कार्यक्रम चलाया। इस आधारपर अत्यन्त यथार्थवादी प्रदेशवादी उपन्यास लिखे गए।

स्थानीय चित्रणवाद (लोकल कलरिज़्म)

उपन्यासों या कहानियोंमें जब किसी स्थानके पूर्ण परिवेष (एन्वायरनमेंट), आस-पासकी भू-प्रकृति तथा वातावरणका सूक्ष्म वर्णन किया जाता है तब उसे स्थानीय चित्रण कहते हैं। प्रदेशवादसे इसमें यह भिन्नता है कि इसमें केवल दृश्यात्मक वर्णन ही मुख्य होते हैं। इसमें मुख्य प्रवृत्ति यह रहती है कि कोई नई या अपरिचित दृश्य-पीठिका खोज निकाली जाय या किसी नष्टप्राय या परिवर्त्तनशील या सद्यःनष्ट क्षेत्रका लेखा उपस्थित कर दिया जाय। प्रदेशवादी तो प्रत्येक प्रदेशमें उन विभिन्न परिस्थितियोंका चित्रण करता है जो वहाँके मानव-जीवनको प्रभावित करते हैं और प्रभावित करके संस्कृति और चरित्रके विभिन्न रूप प्रस्तुत करते हैं किन्तु स्थानीय चित्रणवादी तो पर्यटकके समान केवल दृश्य-सौन्दर्य-मात्रासे सम्बन्ध रखते हैं। अतः स्थानीय चित्रणकार अपनी कहानीके अलङ्करण-मात्रके लिये किसी प्रदेशकी भूमि, भाषा, वेश, आचारका वर्णन करता है, उसे

कहानीका मूलतत्त्व बनाकर नहीं। हिन्दीमें शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'की 'बहती गङ्गा' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है

पलायनवाद (ऐस्केपिज़्म)

बहुत-सी कृतियाँ प्रायः पलायनवादी साहित्य कहलाती हैं, जैसे जासूसी कहानियाँ, सङ्गीत-नाट्य, अनेक चलचित्र, जो केवल मन-बहलावके लिये अर्थात् मनुष्यके मनको सासारिक चिन्ता या परिस्थितिसे दूर हटानेके लिये ही रचे जाते हैं। प्रायः लोग यह भूल जाते हैं कि पाठक या दर्शक इस मन-बहलावकी अवस्थामें जीवनसे पलायन नहीं करता वरन् वह जीवनकी नीरसतासे हटकर उस अनुभवकी पूर्णता तथा जागर्त्तिकी खोज करने लगता है जिसे वास्तवमें जीवन कहा जा सकता है। प्राय· ऐसी कृतियोमें बहुत कुछ दिखावटी, अतिरञ्जित और बाह्य सम्भावनाएँ होती हैं और यही प्रयत्न किया जाता है कि सब कलाओंको कुछ गोल-मोल उत्तेजन दिया जाय।

भौतिकवाद (मैटीरियलिज़्म)

भौतिकवाद (मैटीरियलिज्म) मे विश्वकी शारीरिक या भौतिक गतियोका अत्यन्त वास्तविक चित्र प्रदर्शित होता है। यह प्रायः आत्म-सुखवादी (हिडोनिज्म) नैतिक सिद्धान्तपर अवलम्बित है जो भारतके चार्वाक मतसे मिलता-जुलता है। इनके नैतिक आदर्श यही हैं कि 'भौतिक सामग्री, आनन्द और सुख एकत्र करो।' तर्कसङ्गत भौतिकवाद (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज्म) ने इसमें यह सिद्धान्त भी जोड दिया है कि इतिहास एक विशिष्ट क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय (थीसिस, एन्टीथीसिस और सिनथीसिस) के अनुसार निश्चित होता है, जिसका निर्णय भी भौतिक शक्तियो-द्वारा ही होता है। यह अर्थशास्त्रीय भौतिकवाद उन जन-उपन्यासोमे अधिक मिलता है जिनमे सब उद्देश्योकी आर्थिक दृष्टिसे व्याख्या की जाती है और जो मानते हैं कि 'मानव जीवन केवल पेट-पालनके सङ्घर्षके लिये ही बना है।' वर्त्तमान उपन्यासो, नाटकों और काव्योमे, विशेषतः रूसमे,

इनका उद्देश्य यह है कि 'सामाजिक अन्यायके विरुद्ध वास्तविक बात कह दी जाय।'

मार्क्सीय तर्कसङ्गत भौतिकवाद (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म)

हेगेलके 'तत्त्व विज्ञान' (औंटालौजी) के आदर्शवादके बदले जो भौतिकवाद आया उसीसे मार्क्सीय तर्कसङ्गत भौतिकवाद (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म) उत्पन्न हुआ। इसका मत है कि 'प्रकृति और समाजकी प्रत्येक वस्तुमे जब आन्तरिक विराध या सङ्घर्ष होता है तब वह गतिशील होती है और विरोध, सङ्घर्ष तथा द्वन्द्वके द्वारा ही वह अपना समाधान भी कर लेती है।' इन तर्कसङ्गत भौतिकवादियोकी धारणा है कि 'समाजमे मौलिक विरोध वास्तवमे आर्थिक वर्गोंके बीच हैं और साहित्य भी सामाजिक उपज है।' इस सिद्धान्तके आधारपर समीक्षाका एक सिद्धान्त ही प्रस्तुत किया गया जिसे तीन सूत्रोमे व्यक्त कर सकते हैं—१. कला और साहित्य जिस युगमे निर्मित होते हैं वे उस युगकी आर्थिक परिस्थितियो और वर्ग-स्वत्वोकी अभिव्यक्ति और उपज हैं। २. उनका मूल्याङ्कन और ज्ञान उन स्वत्वो और परिस्थियोके अनुसार ही हो सकता है। ३. उनके विषय जितने ही अधिक आर्थिक और सामाजिक समस्याओसे युक्त होगे और उनका उद्देश्य जितना ही निम्नजन-समाज (प्रोलीतेरियत) का हित-चिन्तन होगा उसी मात्रामे वे साहित्य-रचनाएँ श्रेष्ठ होगी।

मार्क्सवाद (मार्क्सिज़्म)

मार्क्सवादी समीक्षक 'रूपवाद' (फौर्मेलिज्म) को अपना प्रधान शत्रु मानते थे। उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति देखकर मार्क्सवादियोका माथा ठनका। इसपर सिद्धान्तवादियोने कहा कि 'साहित्यमे शुद्ध वास्तविकता होनी चाहिए।' साथ-साथ उन्होनेसम्पूर्ण काल्पनिक साहित्यको जनताके लिये 'अफ़ीम' कहकर निर्थक घोषित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि एक 'तथ्यका निर्जीव साहित्य' रचा जाने लगा। मार्क्सीय समीक्षाका कोई शुद्ध आधार किसी ग्रन्थमे नहीं मिलता किन्तु मार्क्स,

एन्जेल्स, प्लेखानोव तथा लेनिन आदि 'तर्कसङ्गत भौतिकवाद' (डायलैक्टिकल मैटीरियलिज्म) के आचार्योंने जो इधर-उधर बिखरे हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं उन्हींपर मार्क्स-समीक्षा-सिद्धान्त बनाए जा रहे हैं। सोवियत समीक्षकोने इवानोव रजूमनिक, लवोव रोगाचेवस्की, सकूलिन, पिक्सानोव, ऐफीमोव, और केल्तुयाला जैसे उदार समाजवादियोको अपने मण्डलसे बाहर कर दिया जो समाजवादी होते हुए भी पूर्ण रूपसे मार्क्सवादकी भौतिक भावनाको स्वीकार नहीं करते थे। ये सोवियत समीक्षक इतने कट्टर थे कि प्राचीन मार्क्सीय समीक्षाके प्रवर्त्तक प्लेखानोव, आन्द्रेविच आदिके मतको भी बिना उसमे सुधार किए स्वीकार नहीं करना चाहते थे। सन् १९३२ तक तो इन समीक्षकोमे इसी बातपर झगडा चलता रहा कि साहित्यमे निम्नजन-समाज (प्रोलितेरियत) लाया जाय या नहीं। मालिनोवस्की जैसे कुछ निम्नजनवादी तो लोक सस्कृति (प्रोलेत कल्त) आन्दोलन चलाकर कह रहे थे कि 'केवल ऐसा लोक साहित्य उत्पन्न किया जाय जो मध्यवर्गीय परम्पराको सीधे डकार जाय क्योकि ऐसे ही साहित्यमे श्रमिककी भावना, उसके विचार, सङ्घ-भावना और सहयोग भावनाकी अभिव्यक्ति हो सकती है।' किन्तु वोरोनस्कीका मण्डल (जिसमे त्रौत्सकी भी था) यह समझता था कि 'ऐसा लोक-साहित्य चलेगा नहीं क्योकि साधारण जन समाज तो जीवनकी अन्य समस्याओमे ही उलझा हुआ है और जब ये समस्याएँ सुलझ जायँगी तब सभी वर्ग, यहाँतक कि निम्नजन-वर्ग भी, स्वय समाप्त हो जायँगे।' इसपर बडा विवाद हुआ और अन्तमे सन १९३२ मे सोवियत सरकारने हस्तक्षेप करके यह विवाद बन्द कर दिया और 'सामाजिक यथार्थवाद' (सोशलिस्ट रीअलिज्म) ही सर्व-सम्मतिसे मान्य हो गया।

सामाजिक यथार्थवाद (सोशलिस्ट रीअलिज़्म)

मैक्सिम गोर्की और वर्तमान रूसी समीक्षक उसीविच और

रोजेन्तालने सामाजिक यथार्थवादका जो प्रवर्त्तन किया है वह रूसी यथार्थवादकी परिपाटीमे ही है। प्राचीन यथार्थवाद अधिकाश ध्वसात्मक था जिसमे दूसरोके प्रति अत्यन्त निन्दा, विशेषतः तत्कालीन परिस्थितियोकी आलोचना और निन्दा भरी रहती थी। किन्तु समाजवादी यथार्थवाद रचनात्मक और सक्रिय है। इसमे समाजके साथ व्यक्तिका सङ्घर्ष दिखानेके बदले यह चित्रण किया जाता है कि किस प्रकार एक मनुष्य एक अशोषक समाजमे रहकर, उसके साथ मिलकर काम करता हुआ अपने व्यक्तित्वको अभिव्यक्त करता है। समाजवादी यथार्थवादकी प्रवृत्ति यह है कि ऐतिहासिक भौतिकवादको भली प्रकार समझ लिया जाय अर्थात् वे यह चाहते है कि प्रत्येक लेखक और समीक्षक वर्तमान कालका मूल्याङ्कन करते समय उसकी भूत-परम्परा और भविष्यपर भी ध्यान देता चले। इन लोगोका यह भी मत है कि 'लेखकके विचारोको उचित रूपसे व्यक्त करनेके लिये रूप और विषय दोनो ही परस्पर आश्रित साधन हैं और दोनो ही आवश्यक हैं।

जनवाद (पौपुलिज्म)

सन् १९३० मे एक साहित्यिक सम्प्रदाय चला जिसमे कहा गया था कि 'समाजके सामन्त या कुलीन लोगो तथा मध्यवर्गीय तत्त्वोंका चित्रण करनेके बदले छोटे लोगोका चित्रण करना चाहिए।' इस सम्प्रदायके कुछ लोगोने तो यहाँतक कह दिया कि 'श्रमिक-वर्गके अतिरिक्त किसीको भी जनवर्गीय (पौपुलिस्ट) नहीं कहना चाहिए।'

सामान्य जनवाद (प्रोलितेरियनिज़्म)

बीसवीं शताब्दीमे मध्यवर्गीय सामाजिक लेखोसे ऊबकर यह आन्दोलन छिडा कि सीधे-सीधे श्रमिक-वर्गोंकी समस्याओ, विशेषतः यन्त्र बनाम मनुष्य और श्रम बनाम पूँजी, की अभिव्यक्ति साहित्यमें हो। प्रथम विश्वयुद्धसे जर्मनी और विशेषत. रूसमे इसका विकास

हुआ। जर्मनीमे तो नात्ज़ी धारामे ह डूब गया किन्तु रूसमे सब लेखक सामान्य जनवादी ही बने रहे। यह मूलतः मार्क्सके सिद्धान्तपर अवलम्बित है कि 'सम्पूर्ण जीवन और इसलिये साहित्य भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितिपर अवलम्बित है।'

प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज्म)

स्वैरवादी व्यक्तिवाद और वर्तमान कालकी आत्मचेतनासे एक नये प्रकारकी समीक्षा पद्धति निकली जिसे 'प्रभाववादी समीक्षा' कहते हैं। इसका सिद्धान्त यह है कि 'समीक्षकका आत्मा जब महाग्रन्थोमेसे होकर घूमता चलता है तब उसपर उन महाकाव्योमे व्याप्त महत्ताएँ और विशेष गुणतत्त्व स्वय अङ्कित होते अर्थात् प्रभाव डालते चलते हैं। उन प्रभावो या गुणतत्त्वोंके आधारपर वह श्रेष्ठता और गुणतत्त्वका एक मानदण्ड निर्धारित कर लेता है और उसीके आधारपर समीक्षा करता है।' यो भी जितनी समीक्षा होती है वह सब किसी कलाकृतिके प्रति समीक्षककी प्रतिक्रियाका ही परिणाम है अर्थात् उसे पढकर समीक्षकके हृदयपर जो प्रभाव पड़ता है उसी प्रभावका समीक्षक अपनी समीक्षामे व्यक्त करता है।

प्रयोगवाद (एक्स्पेरिमेन्टलिज़्म)

जबसे साहित्यकी सृष्टि हुई तभीसे प्रतिभाशाली लेखकोने अपनी रचनाके विषय, रूप, कोशल, छन्द, शैली तथा पद्धतिमे नवीनता और मौलिकता लानेका प्रयास किया। इसका मनोवैज्ञानिक सूत्र प्रत्येक व्यक्तिका अहवाद है जिससे वह ससारसे निराला होकर अपनेको सबसे भिन्न दिखानका प्रयत्न करता है। इस प्रयासमे यदि वह अनुकरण भी करता है तो उसमे भी कुछ नवीनता लाना चाहता है। यही प्रयोगवाद है। आजकल कुछ लोगोंने उच्च साहित्यमे साधारण जन-समाजकी भावनाओं, छन्दोयोजना, कल्पना, भावाभिव्यक्ति आदिको उन्हींके छन्दों और लयोंमें प्रस्तुत करनेको ही 'प्रयोगवाद' समझ लिया

है। नवीनताकी दृष्टिसे यह प्रयोगवाद भले ही सुन्दर प्रतीत हो किन्तु इसमे यह भय सदा लगा रहता है कि साहित्य उच्च, सुरुचिपूर्ण और सुसस्कृत मानदण्डसे नीचे न उतर आवे। ऐसी स्थितिमे प्रयोगवाद वहींतक उचित और श्लाघ्य माना जा सकता है जहाँतक वह साहित्यके विभिन्न साधनोको अत्यन्त सुसस्कृत, उदात्त भावभूमिपर नये दृष्टिकोण या मौलिकताके साथ प्रस्तुत करे।

———

द्वादशम खण्ड

हिन्दी साहित्यका इतिहास

१

प्रस्तावना

पुस्तकके दूसरे खण्डमे हिन्दी भाषाकी उत्पत्तिका इतिहास बताया जा चुका है। अत. इस अध्यायमे हिन्दी साहित्यके ही इतिहासका विवरण दिया जा रहा है। किन्तु यह विवरण हिन्दी साहित्यके अन्य इतिहासोसे भिन्न होगा, क्योकि इसमे न तो काल-क्रमसे विभाजन किया गया है न शैली क्रमसे। वरन् व्यापक हिन्दीके क्षेत्रमे आनेवाली नागरीकी जितनी सखी भाषाएँ हैं उन सबके साहित्योका अलग-अलग विवेचन किया गया है। इसका कारण यह है कि उन सबके साहित्यकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। इसी दृष्टिसे हमने हिन्दी साहित्यको निम्नाकित भाषा-क्षेत्रोमे विभाजित किया है—१. नागरी, २ राजस्थानी, ३. सधुक्कडी, ४ ब्रज, ५. अवधी और ६. मैथिली।

इतिहासमें नवीन प्रयोग

आचार्य शुक्लजीने 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' नामक ग्रन्थमे हिन्दी साहित्यके नौ सौ वर्षोंके इतिहासको ४ कालोमे विभक्त किया है—आदिकाल [वीरगाथ काल, सवत् १०५० से १३७५], पूर्व मध्यकाल [भक्तिकाल, स० १३७५ से १७००], उत्तर मध्यकाल [रीतिकाल, स० १७०० से १६००], आधुनिक काल [गद्यकाल स० १६०० से १६८४] किन्तु हमने यह क्रम इसलिये नहीं ग्रहण किया कि जिस अवधिमे काल बाँधे गए है उस अवधिके पश्चात् आजतक उस युगकी साहित्यधारा निरन्तर चलती रही, कभी बन्द नहीं हुई। राजस्थानी साहित्यमें

वीरगाथा-कालकी परम्परा १३७५ तक ही समाप्त नहीं हो गई वरन् आज भी राजस्थानके कवि अपनी उसी शृंगारसे पुष्ट वीरकाव्य-परम्परामे रचनाएँ करते चले आ रहे हैं। इसी प्रकार ब्रज भाषामे भी भक्ति और शृंगार-काव्यकी जो परम्परा चली वह बीचमे कभी लुप्त नहीं हुई। वह भी आजतक ज्योकी त्यो चली आ रही है और यद्यपि व्यावहारिक क्षेत्रमे नागरी (खडी बोली) का ही प्रचार अधिक है किन्तु ब्रज भाषाके कवि आज भी उसी प्रकार, उसी धारामे उसी पद्धतिके अनुसार भक्ति और शृंगारकी रचनाएँ कर रहे हैं। मैथिली साहित्य हिन्दी साहित्यसे उतना सम्पर्क नहीं प्राप्त कर सका जितना स्वभावत. उसे प्राप्त कर लेना चाहिए था। यही कारण है कि मैथिलीके अनेक प्रसिद्ध कवियोमेसे एक मात्र कवि विद्यापति ही हिन्दी साहित्यके क्षेत्रमे प्रसिद्धि पा सके और अध्ययनके विषय बन सके। इसलिये मैथिली साहित्यके प्रसगमे हम उनसे अधिक विशेष चर्चा न करके उन्हींके साहित्यकी विशेषता बता कर छोड देगे।

नागरी साहित्य

नागरी साहित्यका प्रारभिक काल अन्य भाषाओके समान ही अत्यन्त प्राचीन है जिसमे पहले तो कविता ही होती थी किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समयमे और उसके कुछ पहलेसे गद्यमे भी रचना होने लगी थी। भारतेन्दुजीने अपने समयमे गद्यके विविध प्रकारोको अपने समाचारपत्र और अपनी रचनाओके द्वारा इतना प्रोत्साहन दिया कि वह प्रौढ होकर आगे बढ़ चला और उसमे कविताके अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध, गद्यकाव्य और जीवन चरित आदि रूप लिखे जाने लगे। इन रूपोके अतिरिक्त साहित्यिक समीक्षाएँ, समीक्षात्मक निबन्ध तथा योरोपीय गद्य शैलियोके प्रभावसे अनेक प्रकारकी साहित्यिक रूप-शैलियोमे रचनाएँ होने लगीं। अतः नागरी साहित्यका विवेचन करते हुए हम निम्नाकित क्रमसे उसका इतिहास स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्यकाव्य, निबन्ध, समीक्षा आदि। और

इन सब रूपोके विकासके क्रम, उनकी विभिन्न अवस्थाएँ तथा उन विभिन्न रूप-शैलियोके विशिष्ट लेखको और कवियोका समीक्षात्मक परिचय देंगे।

विवेचन पद्धति

हमारे इतिहासके क्रममे यही विशेषता होगी कि हम हिन्दीके व्यापक रूपके अन्तर्गत आनेवाली प्रत्येक भाषाकी प्रकृति उसके साहित्यकी विशेष प्रवृत्तियो और लक्षणोका सामान्य परिचय देकर उस साहित्यके विशिष्ट कवियोकी विश्लेषणात्मक व्याख्या करेंगे जिनमे निम्नाकित क्रमसे विचार किया जायगा—१. कविका परिचय, २. कविका अध्ययन तथा पाडित्य, ३. कविको काव्यकी ओर उन्मुख करनेवाली प्रेरणाएँ, ४. कविकी रचनाएँ, ५. कविका काव्य कौशल और ६. उसका प्रभाव।

स्पष्टीकरण

इस विवेचनमे यह संभव है कि उन बहुतसे कवियोके सम्बन्धमे हमारा मत भिन्न हो जो आज मूर्धन्य और उच्च श्रेणीके कवि माने जाते हैं क्यो इस युगमे अत्यन्त प्रचारात्मक पद्धतियाँ ग्रहण करनेके कारण बहुतसे लेखकोकी अनुचित रूपसे प्रशसा हुई है और बहुतसे अच्छे रचयिता उपेक्षित रह गए हैं। आचार्य शुक्लजीने अपने इतिहासके प्रथम सस्करणके वक्तव्यके अतमे कहा है—

'आधुनिक कालमें गद्यका आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है। इसलिये उसके प्रसारका वर्णन विस्तारके साथ करना पड़ा है। इस थोड़ेसे कालके बीचमे हमारे साहित्यके भीतर जितनी अनेक-रूपताका विधान हुआ है उतनी अनेक-रूपताका विधान कभी नही हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक कालको द्वितीय उत्थानके आरम्भ तक लाकर उसके आगेकी प्रवृत्तियोंका सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही छोड़ देनेका था क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियोंके सम्बन्धमें कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ

पड़ता था। पर जी न माना। वर्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियोंका उल्लेख भी थोड़े-बहुत विवेचनके साथ डरते-डरते किया गया।'

इस वक्तव्यसे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि नागरी साहित्य इतने अधिक रूपोमे इधर विकसित हुआ है कि उन सब रूपोका अलग-अलग विवेचन करनेसे ही उसका स्पष्टीकरण हो सकता है। दूसरी बात यह है कि आजकल यदि किसीके विरुद्ध कुछ लिख दिया जाय तो उसके साथी या दलवाले तत्काल खड्गहस्त होकर उसके पीछे पड जाते हैं। किन्तु किसी भी विचारशील लेखकको इन सब आघातो और विरोधोसे घबराना नहीं चाहिए वरन् साहित्यकी तुलापर परीक्षण करके दूधका दूध, पानीका पानी ही कर देना चाहिए।

साहित्य परीक्षणकी कसौटी

पीछे समीक्षाके अध्यायमे हम साहित्यके परीक्षणकी कसौटियोका विस्तारसे वर्णन करते हुए बता चुके है कि सब देशो और कालोके समीक्षकोके मतसे प्रत्येक रचनाकी—चाहे वह कविता हो या नाटक, उपन्यास हो या कहानी—भाषा सरल अर्थात् सद्यः बोधगम्य होनी ही चाहिए। उसमे भी इतनी छूट है कि विभिन्न प्रकारके काव्य रूप या साहित्यिक रूप विभिन्न प्रकारके पाठकोके लिये लिखे जाते हैं अतः उसके अनुसार वे अपने काव्यमे उसी अनुपातसे पाण्डित्य प्रदर्शन कर सकते हैं।

कविता

महाकाव्यमे कविको पाण्डित्य दिखानेका बहुत अवसर रहता है। भावकाव्यमे भी कवि थोडा लाक्षणिक अवश्य हो सकता है किन्तु इतना नहीं कि उसका भाव ही किसीको समझमे न आवे और हाथीको टटोलनेवाले अंधोके समान सब अलग-अलग अर्थ लगावें और वह भी पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये। आजकलके अधिकाश महाकवियोकी रचनाएँ इतनी दुरूह, भ्रामक और दार्शनिक हो गई

हैं कि अध्यापक लोग उनका अर्थ न समझकर बलपूर्वक उनमे वेदान्त, साख्य, योग और पाशुपत् दर्शन उतार लानेका प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार 'सहृदय-सवेद्य' तथा 'सद्यःपरनिर्वृति' देनेवाले काव्यको अष्टांग योगका साधन बना देते हैं ।

नाटक

इसी प्रकार आजकल हमारे विश्वविद्यालयोके अधिकांश पाध्यापक लोग सवादको ही नाटक समझे बैठे है और साहित्यिक नाटक उसोको समझते है जिनमे अति लाक्षणिक वाक्यावली और गूढ दार्शनिक सवाद हो, चाहे वह रगमच-पर खेला जा सके या न खेला जा सके। उन्हे यह जानना ही चाहिए कि नाटक वही है जो नटोके आश्रयसे रगमच पर खेले जानेपर सामाजिकों या दर्शकोके हृदयमे रसकी निष्पत्ति करे । यदि ऐसा नहीं होता तो ससारके बड़े-से-बडे साहित्यकारके द्वारा लिखा होनेपर भी वह नाटक नहीं हो सकता। उसकी भाषा सबकी समझमे आनी चाहिए उसमे जोड तोडके सवाद होने चाहिएँ, नाटकीय व्यापार होना चाहिए, दृश्यविधान ऐसा होना चाहिए कि वह सरलतापूर्वक खेला जा सके, वह इतना ही बडा हो कि थोडी अवधिमे अर्थात् ढाई-तीन घटेमे खेला जा सके और इतना प्रभावशाली हो कि जिस रसकी निष्पत्ति या जो प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये वह लिखा गया हो वह रस और प्रभाव उससे व्यक्त हो सके।

कथा-साहित्य

कथा साहित्य अर्थात् उपन्यास और कहानियाँ वाचनीय साहित्यके अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकारका साहित्य पढनेवाले लोग साधारण ज्ञानवाले होते हैं । अतः उनकी भाषा-शैली ऐसी मुहावरेदार, तद्भवनिष्ठ, सरल और प्रभावशील हो कि पाठक केवल कथासे ही न उलझा रहे वरन् भाषाका भी रस लेता चले। उपन्यास और कहानी दोनोंमें कुतूहलका अंश ऐसा होना चाहिए कि वह आदिसे अन्त

तक पाठकको उलझाए रक्खे किन्तु इस कुतूहलके निर्वाहके लिये असभव घटनाएँ लाकर न रक्खी जायँ। घटना और चरित्र सबका रूप ऐसा हो जो सभव हो, विश्वसनीय हो और स्वाभाविक हो। ऐसा होनेपर ही कोई उपन्यास या कहानी सफल कही जा सकती है।

निबन्ध

निबन्धकी गणना मननीय साहित्यमे होती है। उसके पढ़नेवाले लोग भाषाके मर्मज्ञ, पडित और विचारशील होते हैं। अतः उसमे थोडे शब्दोंमें अधिक भाव कहनेकी वृत्ति होनी चाहिए। उसमे गंभीर तथा सश्लिष्ट विचार प्रौढ भाषामे रक्खे जा सकते हैं किन्तु वे इतने जटिल न हो कि पाठकको उनका अर्थ निकालनेमे ही अपने शरीरका तैल निकाल देना पड़े।

इस प्रकार साहित्यका प्रत्येक रूप अपनी अलग भाषा शैली तथा रचना कौशलके साथ परीक्षित किया जाना चाहिए। इसलिये हम हिन्दी साहित्यके विभिन्न रूपोके विकास क्रमका ध्यान रखते हुए उसके प्रमुख और प्रसिद्ध लेखकोंकी भाषा शैलियो, भाव-शैलियो और रचना कौशलोका पूर्ण विवेचन और विश्लेषण करेंगे।

नागरी साहित्यकी इतनी रूप-शैलियाँ हैं कि उनका विवेचन अलग विस्तारसे करना आवश्यक है, इसलिये हम प्रारंभमे राजस्थानी, सधुक्कडी, अवधी, ब्रज और मैथिलीके साहित्योका विश्लेषण करेंगे और उसके पश्चात् अन्तमे नागरी-साहित्यकी विभिन्न रूपशैलियोका क्रमश विकासकी अवस्थाके अनुसार विवेचन करेंगे।

२

अपभ्रंश और हिन्दी

जबसे पडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजीने काशी नागरी प्रचारिणी सभाकी पत्रिकामे पुरानी हिन्दी शीर्षक लेख लिखा तबसे हिन्दीके सभी

इतिहासकार यह मानते चले आए कि हिन्दीकी उत्पत्ति उस अपभ्रशसे हुई है जो हेमचन्द्रके अपभ्रश व्याकरणमे अथवा सोमप्रभदेव और सिद्धपाल आदिकी रचनाओमे पाया जाता है। पीछे अपभ्रश और हिन्दी भाषाकी उत्पत्तिके प्रसगमे स्पष्ट बताया जा चुका है कि जैन ग्रन्थोमे और हेमचन्द्के प्राकृत व्याकरणमे जिस अपभ्रशकी व्याख्या की गई है और जिसके उदाहरण दिए गए हैं वे सब पुरानी हिन्दीके नहीं वरन् पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानीके है। हम पीछे सकारण बता आए है कि आज भी राजस्थानके कवि उसी अपभ्रशकी विकृत भाषामे रचना करते हैं, राजस्थानी बोलियोमे अब भी वैसे ही शब्दोका प्रयोग होता है। वह भाषा टवर्ग प्रधान विशेषतः ण-प्रधान है। वहॉ 'वचन'के लिये 'वयणु' और शयनके लिये 'सयण'का प्रयोग होता है और विशेषके लिये 'विएस'का किन्तु ब्रज और अवधीकी प्रकृति इससे भिन्न है। वह 'न' प्रधान है, वहॉ 'वचन' और 'शयन' के लिये बैन और सैन तथा 'विदेशके लिये 'बिदेस' होता है। इसके अतिरिक्त रासक, रासो तथा अपभ्रशकी प्रकृतिमे लिखनेवाले लेखकोकी रचनाएँ जो उदाहरणमे गुलेरीजीने दी है वे सब उन्हीं लेखकोकी है जो गुजरात या पश्चिमी राजस्थानके आसपासके रहने वाले थे अतः उस अपभ्रशको हिन्दीकी अर्थात् नागरी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदिकी माता मानना अत्यन्त अनुचित और असगत है।

नागरी भाषा

हम पहले बता आए है कि नागरी भाषाकी उत्पत्ति अन्तर्वेदमे हुई और वह सीधे सस्कृतसे स्वय प्राकृत बनकर फूट निकली। जिन दिनो गुजरात और पश्चिमी राजस्थानके अनेक कवि अपनी अपभ्रंश बोलीमे रचनाएँ कर रहे थे उन्हीं दिनो मियॉ खुसरो दिल्लीमे बैठे उस नागरीमे बातचीत कर रहे थे और अपनी मुकरियॉ लिख रहे

थे जो वास्तवमें नागरीकी या ठेठ देशी नागरीकी प्राकृतिक भाषा है और जिसका उदाहरण आचार्य शुक्लजीने दिया है—

एक नारने अचरज किया, साँप मार पिंजरेमें दिया ॥

इतना ही नहीं, जब फारसी भाषाको नागरी भाषामे बदलनेकी बात चली और खालिकबारी लिखी गई तब उसे देखनेसे ज्ञात होता है कि १४ वीं शताब्दीमे दिल्लीके आस-पास मेरठ, मुजफ्फरनगर जिलोमे वह भाषा बोली जा रही थी और उसमे रचनाएँ की जा रही थी जिसमे अमीर खुसरोने अपनी पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी। खालिकबारी **सिरजनहार**। वाहिद **एक**, बिदा **करतार**॥ इसमे **सिरजनहार**, **एक** और **करतार** शब्द नागरी भाषाकी प्रकृतिके वे प्रारंभिक रूप है जो सयागसे आज भी ज्योकी त्यो मेरठ प्रदेशके घरोमे बोली और समझी जाती है और जिसमे हरिऔधजीने चुभते चौपदे, चोखे चौपदे आदिकी रचना की है।

इसका अर्थ यह है कि १४ वीं शताब्दीसे पूर्व न जाने कितनी शताब्दियो पहले तक और तबसे आजतक इस अन्तर्वेदमे वह भाषा बोली जाती रही और सभवतः उसमें काव्य भी रचे जाते रहे जिसे हम ठेठ नागरी कह रहे हैं और जिसमे अमीर खुसरोने रचना की। यह भाषा कितनी व्यापक थी इसका सबसे बडा प्रमाण यही है कि खुसरोसे भी पहले नामदेवने अपनी कुछ रचनाएँ इसी नागरी भाषामे पस्तुत कीं। अतः निश्चित रूपसे हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित अपभ्रशका हिन्दी अर्थात् नागरी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदिसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं था।

हम पीछे समझा आए है कि भारतमे ही नहीं ससारके सभी प्रदेशोमे नदियो, पहाडो आदि भौगोलिक सीमाओसे घिरे हुए प्रदेशोमे अलग अलग बोलियाँ उपजीं और पनपीं। इसी प्रकार अन्तर्वेदमे सस्कृतसे सीधे नागरीका विकास हुआ।

डिंगल और हिन्दी

इस खडके प्रारभमे ही हम बता आए हैं कि 'हिन्दी'की व्यापक परिभाषाके अन्तर्गत राजस्थानसे लेकर बिहार तक और गढ़वाल कुमाऊँसे लेकर विन्ध्य-मेखला तकके प्रदेशोकी सब बोलियाँ हिन्दीके अन्तर्गत मान ली गई हैं। किन्तु भाषाकी प्रकृतिकी दृष्टिसे डिंगल या राजस्थानी भाषा हिन्दीके अन्तर्गत आनेवाली अन्य भाषाओसे भिन्न है।

स्वयंभूका पउमचरिउ

हमारे कुछ इतिहासकारोने एक यह भी बडा भ्रम चलाया है कि हिन्दीके आदि कवि स्वयभू हुए हैं जिन्होने 'पउम चरिउ (पद्मचरित) नामसे रामायणकी रचना की थी। पहली बात ता यह है कि स्वयभूकी रचना बहुत उच्चकोटिकी नहीं है जैसा कि कुछ विद्वानोने हल्ला मचाया है। उसमे इतवृत्त अधिक काव्यत्व अत्यन्त कम है और वह भी सब सस्कृतके ग्रन्थोसे ज्योका त्यो उद्धृत कर दिया गया है और उसकी कथा भी अध्यात्म रामायण या वाल्मीकीय रामायणकी कथाकी परम्परामे नहीं है। उसमे अनावश्यक रूपसे रावणका इतने विस्तारसे वर्णन किया गया है कि वह 'रामचरित न होकर रावणचरित' हो गया है। दशरथकी चार रानियाँ बताई गई हैं और बहुत सी ऐसी असगत कथाएँ हैं जो पुराणोमे आई हुई कथाओसे भिन्न है। स्वय स्वयभूने अपने पउमचरिउमे स्थान-स्थान पर यह घोषणा भी की है कि मै कथा आदि कुछ जानता नहीं। २३ वीं सन्धिके प्रारम्भमे ही वह कहता है—

> हउँ किं पि ण जाणमि मुक्खु मणे।
> णिय बुद्धि पयासमि तोवि जणे॥
> ज सयले वि तिहुवणे वित्थरिउ।
> आरंभिउ पुणु राहवचरिउ॥

यह उक्ति केवल उस प्रकारका नम्रता प्रकाशन नहीं है जैसा गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामचरित मानसके प्रारभमे किया है—

कवित विबेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥

वास्तवमे 'पउमचरिउ की कथा पढ़नेसे प्रतीत होता है कि स्वयंभूने रामचरितकी कथा अपने मनसे कल्पित की है और उसे यह तक नहीं ज्ञात था कि दशरथके कितनी रानियाँ थीं और रामकी माता कौन थीं। इसी प्रकार पुष्पदत और शार्ङ्गधर आदिकी रचनाएँ भी बहुत उच्च कोटिकी नहीं हैं। हम ऊपर बता आए हैं कि इस अपभ्रंश साहित्य से हिन्दीका कोई सम्बन्ध नहीं रहा इसलिये हम यहाँ निरर्थक अपभ्रंश साहित्यकी कोई चर्चा नहीं करेंगे।

कुछ मित्रोंने बौद्ध तान्त्रिक साधु सरहपा आदिकी रचनाओंसे भी हिन्दीका सम्बन्ध जोडनेका व्यर्थ प्रयत्न किया है। वह भी इसी प्रकार असम्बन्ध है और हिन्दीका उससे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध भी नहीं है और न इस प्रकारकी रचनाने हिन्दी साहित्यको प्रभावित ही किया है।

३

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी भाषा और साहित्यका सम्बन्ध सीधे अपभ्रंशसे है। उसका साहित्य समझनेके लिये उसकी भाषाका रूप समझना आवश्यक है।

राजस्थानी भाषा

१. राजस्थानी भाषामे वर्णोंके उच्चारण-भेदसे अर्थभेद हो जाता है। एक ही शब्दमे किसी वर्णपर बल देकर बोलनेसे अर्थ भिन्न हो जाता है जैसे—

राड—(रा पर बल देने से) पैतृक प्रभाव, (साधारणतः) झगडा।
नार—(ना पर बल देनेसे) सिंह, (साधारण रूपसे) स्त्री।
नाथ—(ना पर बल देने से) नथबन्धन, (साधारण रूपसे) स्वामी।
कद—(क पर बल देनेसे) किस समय, (साधारण रूपसे) ऊँचाई।

२. राजस्थानीमे 'ल' का उच्चारण कहीं तो ल और कहीं वैदिक 'ळ' की भाँति होता है। शब्दोके बीचमे तो नहीं किन्तु अन्तमे 'ल' या 'ळ' के कारण शब्दके अर्थमे भी अन्तर आ जाता है, जैसे—

खाल = चाम, खाळ = नाली

पोल = दोष, पोळ = द्वार

चचल = चपल, चचळ = घोडा

३ (क) राजस्थानीमे 'श' और 'ष' नहीं होते। वहाँ ख के बदले 'ष' लिखा जाता है और 'श' 'स' के बदले 'स' ही लिखा जाता है किन्तु पढते समय आवश्यकतानुसार ठीक उच्चारण कर लिया जाता है।

(ख) ऋ, ऌ और ॡ नहीं होते। 'व' का उच्चारण दो प्रकारसे होता है—१ 'व' (दंतोष्ठ्य) और २. 'व' (ओष्ठ्य) जिनके अलग-अलग प्रयोगसे अर्थ बदल जाता है—

वात = पवन, वात = कथा।

वार = दिन, वार = सहायताके लिये गुहार।

वास = गन्ध, वास = निवास स्थान।

वलती = लौटती हुई; वलती = जलती हुई।

४. राजस्थानीकी वर्त्तमानकालिक क्रियामे नागरीके 'है' के बदले 'छइ' का प्रयोग होता है। वर्त्तमानकालिक क्रियापद प्राय॰ इकारान्त होते है, जैसे—भरइ, करइ। मूल क्रियामे 'हउ', 'यउ', इउ', 'इआउ' तथा 'ठउ' लगाकर भूतकालिक क्रिया बनाते है—भरिउ, दीठउ, देखियउ। भविष्य कालका रूप देनेके लिये मूल क्रियामे 'सी', 'स्यूँ' 'स्याँ', 'ला', 'ली', 'लो' लगाते हैं—जास्यूँ, जासी, बूडेला।

५. राजस्थानीमे विभक्तियोके प्रयोगके सम्बन्धमे बडी अव्यवस्था है। कुछ विभक्तियाँ तो कई कारकोंमे लगती हैं और कुछ एक ही कारकमे। कुछ विभक्तियाँ प्राचीन भाषामे प्रयुक्त होती थीं पर आजकल इनके बदले दूसरी विभक्तियाँ लगाई जाने लगी हैं, जैसे—

कारक	विभक्ति	उदाहरण
कर्ता	इ, उ	डोलइ, लिखिहउ
कर्म	उ	सँदेसडउ
करण	इ, इइ, ए	मुखि, कामिइ, हाथे
संप्रदान	ए, नूँ, आँ	घरे, राजानूँ, अहाँ
अपादान	हूँ, हूँत, हुँतो, हुँती, हुँता	गला हुँता, खुसी हूँत
सम्बन्ध	ह, हाँ	हलाह, करहाँ
अधिकरण	इ, ए	मगि, निसाणे

इन विभक्तियोंके अतिरिक्त कुछ शब्दांशोका भी विभिन्न कारकोंमें इस प्रकार प्रयोग होता है—

कर्म . नइ, प्रति ।

करण : करि, नइ, पाहि, साथि सिउँ, सूँ ।

सम्प्रदान : कन्ह, नै, प्रति ।

अपादान : कन्हइ, तउ, थउ, थकउ, थकि, पासइ, लगि ।

सम्बन्ध : केरउ, तणउ, नउ, रउ, रहइ, चा, ची, चो ।

अधिकरण : कन्हइ, ताँइ, पासइ, माँझल, मझारि, माँझि, माँ, माहि ।

६. राजस्थानीमें सर्वनामोका रूप प्रायः वही है जो अपभ्रंशमें है । इनके रूप नीचे दिए जा रहे है—

हूं—मै

कर्ता : हूँ, मइँ, म्हे । कर्म : हूँ, मूँ मूझ, अम्ह । सम्बन्ध : मुझ, माहरो, अम्हीणो, म्हारेउ, मो, मूँ । अधिकरण : अम्हाँ ।

तूँ—तू

कर्ता : तुम्ह, तुम्हाँ, तूँ । कर्म : तुम्ह, तुम्हाँ । करण : तुम्हाँ सूँ । अधिकरण : तूझ, ताहरा, तुम्हीणो ।

यह

कर्ता : एह, ए, आ। कर्म . एइ, ए, आ। करण : एणह, इणिन, इण, एणि। सम्प्रदान : एहँ, इहँ, अहाँ। अपादान : एह, ए। अधिकरण . एहि, एणइ, इणि, एणि।

जो

कर्ता : जो, जु, जा, जे, जेअ। कर्म : जो, जु, जा, जेहु। करण : जेणइ, जिणइ, जेणनि, जिणि, जेहि। सम्प्रदान : जा, जिहि, जउ, जू, जेणि, जिणि, जे, जिअँ, जियँ। अपादान : जास, जस, जेह, जिह, जे। सम्बन्ध : जास, जस, जेह, जिह, जे। अधिकरण : जहि, जिहि, जेणइ, जिणइँ, जेणि, जिणि।

सो

कर्ता : सोइ, सोय, सु, सा, ते। कर्म : सोइ, सोय, सु, सा, तेह। करण : तिणइ, तेहि, तेइ। सम्प्रदान : ता, तहँ, तउ, तू, तेह, तिह, तेहँ, ते, तिअँ, तियँ। अपादान : तास, तस, तुसु, तह, तेह, ते। सम्बन्ध : तास, तस, तुसु, तह, तेह, ते। अधिकरण : ताहि, ताहिं तेणइ, तिणइ, तेणि, तिणि।

कौन, कोई

कर्ता : कावण, कउँण, कुँण, कुण, केइ, केवि। कर्म : को कोइ, कोई, कोवि, कोय, कॉइ, केह। करण : कउणइँ, कुणइँ, किणइँ, कणि, कुणि। सम्प्रदान : क, किहँ, केइ, केहि। अपादान : कह, किण, केह, कहि, केहँ, केह, कियँ। सम्बन्ध : कुणइँ, केहँ, केह, कियँ। अधिकरण : कुणइँ, कहि, काहइँ, किण।

कुछ प्रचलित सार्वनामिक विशेषण : **इतना**—एतउ, एतलउ। **जितना**—जेतउ, जेतलउ। **तितना** : तेतउ, तेतलउ। **कितना** केतउ, केतलउ। **ऐसा** एवडउ, इसउ, अइसउ, एहडउ। **जैसा** : जेवड़उ, जेहड़उ, जिसउ। **तैसा** : तेवडउ, तेहड़उ, तिसउ। **कैसा** : केवड़उ, केहडउ, किसउ।

अपना : अपणउ। **सब** : सग लउ। **कुछ** : किउँ। **कई** : के। **कुछ, क्या** : काई।

८. राजस्थानीमे प्रयुक्त होनेवाले अव्यय अधिकाशतः वे ही हैं जो अपभ्रश और प्राकृतमे आए हैं। कुछ अव्यय नागरी रूपोके साथ दिए जा रहे हैं—

फिर : पुणि। तब : तई। जब, यदि : जई। फिर : वळ, वळी। मानो : किरि। और : अने, ने। कैसे : किम, कैम। यहाँ : इहाँ। इसलिये : तिणि। लिये . कारणि। तब : तदि। तैसे : तिमि। नहीं : नह्। कैसे : किसूँ। कहाँ : केथि। यहाँ : ऐथि। भी : पिण। तो भी तोइ।

हम पीछे बता आए हैं कि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश तीनो भाषाएँ साथ साथ चलती रही है तथा मरुभूमि अथवा जागल प्रदेशोमें अधिकतर अपभ्रशका चलन रहा है। राजस्थान नामसे देशका जो भू भाग अभिहित है वह विस्तृत मरुस्थल है। आगरा-मथुराके पश्चिमी छोरसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर जो पट्टी समुद्रतक चली गई है वह आनूप देश नहीं है इसीलिये इस क्षेत्रमे सस्कृत या प्राकृतकी अपेक्षा कर्कश और कर्णकटु अपभ्रशका ही व्यापक रूपसे प्रयोग होता रहा है। यही कारण है कि राजस्थानी और गुजराती भाषाएँ मिलती-जुलती सी है। किन्तु राजस्थानीका क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण है। उसके अन्तर्गत कई भाषाएँ या बोलियाँ आती हैं जिनमे चार मुख्य हैं—उत्तरमे मेवाती, दक्षिण-पूर्वमे मालवी, पश्चिममे मारवाडी और मध्यवर्ती क्षेत्रमे जयपुरी। इन चारोमे भी जयपुरी और मारवाडी ही ऐसी हैं जिनमे साहित्यिक रचना हुई है। जयपुरी-मिश्रित सधुक्कडी भाषामे दादूदयाल और उनके शिष्योकी रचनाएँ तथा मारवाडीमे चारणोकी रचनाएँ प्रधान हैं। उसका साहित्य प्राचीन भी है और विस्तृत भी।

चारण काव्य

आज जब हम राजस्थानी भाषा और साहित्यका नाम लेते हैं तब हमारे सामने सहसा चारणोकी ओजस्विनी रचनाओंका ही रूप उठ

खडा होता है। कुछ तो भाषा ध्वनिके कारण और कुछ उसमें वर्णित विषयके कारण राजस्थानी साहित्य और वीररसपूर्ण काव्य एक प्रकारसे समानार्थी हो गए है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राजस्थानी भाषामे अन्य रसोमे रचनाएँ हुई ही नहीं या राजस्थानी भाषाके कवियोने जो कुछ लिखा वह वीर रसमे ही। अपने आश्रयदाता राजाओकी प्रशस्तिमे ही अधिक रचनाएँ करनेके कारण चारणोने स्वाभावतः अपने आश्रयदाता राजाओके किंचित् गुणोका भी अत्यन्त विस्तारके साथ या बढा-चढ़ाकर वर्णन किया। इस प्रशस्ति-गानमे उनके शौर्य और पराक्रमका वर्णन, चाहे वह अतिरंजित ही क्यो न हो, अनिवार्य था। यही कारण है कि राजस्थानी भाषाका साहित्य राजाओंके शौर्य और पराक्रमके वर्णनोसे भरा पडा है। उसमे 'डींग' की प्रचुरता होनेसे ही अर्थात् अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होनेसे ही लोगोने इस प्रकारके काव्यको डींगळ' कहना आरम्भ किया जो आगे चलकर राजस्थानी भापाके उस सम्पूर्ण साहित्यके लिये रूढ हो गया जिसमे युद्धोका वर्णन किया गया हो।

डिंगल शब्द

इसी प्रसगमे 'डिगल' शब्दपर भी विचार कर लेना चाहिए—(१) डाक्टर टैसीटरीका मत है कि 'डिगल' शब्दका अर्थ गँवारू है। ब्रज भाषा साहित्यिक भाषा थी जिसमे सब प्रकारके नियमोका पालन होता था किन्तु डिगलमे सब प्रकारकी छूट थी। २. डाक्टर हर प्रसाद शास्त्रीका विचार है कि प्रारम्भमे इस भाषाका नाम 'डगळ' (जागल देश अथवा मरु देशकी भाषा) था परन्तु आगे चलकर 'पिगल' के तुकपर डिगल कर दिया गया। ३ श्रीगजराज ओझाके मतसे इस भाषाकी रचनाओमे 'ड' वर्णकी प्रचुरतासे इसका नाम 'डिगल' पडा। ४. बाबू श्यामसुन्दरदासकी मत है कि जो लोग ब्रज भाषामे कविता करते थे उनकी भाषा पिगल कहलाती थी। उसीसे भेद करनेके लिये मारवाडी भाषाका नाम 'डिगल' पड़ा। ५. श्री किशोरसिंह बारहठ मानते हैं कि

'डिगल' शब्दकी उत्पत्ति संस्कृतके 'डीड्' धातुसे हुई है। इसी प्रकारके कुछ और भी अनेक मत हैं किन्तु अधिकांश लोग यही मानते हैं कि यह नाम 'पिंगल' के जोडपर रक्खा गया है। परन्तु ये सभी मत भ्रमपूर्ण है। यह 'डिंगल' शब्द 'डींगल' (गप्प) से बना है। डिंगलका साहित्य विस्तृत और प्राचीन है। चारणोने अपनी सम्पूर्ण रचनाएँ इसीमे प्रस्तुत की हैं। उन्होने व्याकरण एवं छन्दःशास्त्रके नियमोपर बराबर ध्यान रक्खा है।

राजस्थानी काव्य

वीर रसका वर्णन करनेमे कर्ण कटु टवर्ग एवं द्वित्ववर्ण युक्त-पदावलीका प्रचुर प्रयोग आवश्यक माना गया है। अवधी और ब्रज जैसी मधुर भाषाओमे भी युद्धादिके वर्णनोमे कवियोने इसी प्रकारकी पदावलीका सहारा लिया है। फिर राजस्थानीकी पदावली तो यो ही कठोर है। इसलिये इसमे वीर रसकी रचनाएँ अधिक ओजपूर्ण तथा प्रभावशाली हो पाई हैं।

राजस्थानीके अन्तर्गत जयपुरीमे प्रायः नीति और शृंगारकी रचनाएँ हुई हैं और मारवाडीमे वीर रसकी। नीति और शृंगार आदिकी रचनाए अधिकतर दोहोमे और वीर रसके पद छप्पयमे रचे गए है। वीर रसमे रचना करनेवाले ब्रज-भाषाके कवियोने भी अधिकतर छप्पय और कवित्तका ही प्रयोग किया है।

चारण और भाट

राजस्थानमे वीर रसकी रचनाएँ करनेवाले चारण और भाट कलमके ही नहीं तलवारके भी धनी रहे हैं। उच्च कोटिकी कवित्व शक्तिसे युक्त होनेके साथ ही वे अत्यन्त पराक्रमी और वीर भी होते थे और अपने आश्रयदाताओंके पक्षसे युद्धोमे भाग भी लेते थे। यही कारण है कि उनके युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव हो सके हैं। चारणोमेसे कुछने तो अपने आश्रयदाताओको तुष्ट करके स्वार्थ-साधनकी ही चेष्टा की परन्तु कुछ उनके सब समयके साथी, अन्तरंग मित्र और

प्रिय बने रहे। चन्द भी पृथ्वीराजके ऐसे ही साथी थे। इन चारणोकी प्रतिष्ठा भी थी। कुछ चारणोने तो राजाओकी चाटुकारि-प्रियताका लाभ उठाया और कुछने वस्तुतः उनके सगी बनकर। इन्हे आश्रयदाता राजाओने प्रसन्न होकर लाख पसाव, कोड पसाव और अरब पसाव बराबर दिए हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्हे रुपये, हाथी, घोडा, सिरोपा (मानवस्त्र) आदि देकर सम्मानित किया जाता था। कुछ कवियोको गाँवँ भी दिए जाते थे। लाख पसाव प्रायः बडे पुरस्कार (एक लाख रुपयेके पुरस्कार)को कहते थे। कोड पसाव और अरब पसाव उससे क्रमशः बढकर होते थे। 'बच्छ राज' (वत्सराज) की प्रशसामे कहा गया यह दोहा कलन्क राजाओको आवश्यक परिवर्तनके साथ सुनाकर उनसे लाभ उठाया जाता रहा है—

देता अड़ब पसाव नित, धिनो गोड़ बछराज।
गढ़ अजमेर सुमेरसूँ, ऊँचो दीसै आज॥

इन चारणोने राजाओके शौर्योका व्यक्तिगत गान ही गाया, कभी राष्ट्रिय भावनाको उत्तेजित नहीं किया। यहाँतक कि अँगरेजी शासन काल तक भी, जबकि राजाओके पारस्परिक विग्रह और युद्ध समाप्त हो गए थे, चारण लोग उनके पराक्रमादिका वर्णन करते रहे हैं। युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, और धर्मवीर चारो रूपोमे ये वर्णन राजाओको आलम्बन बनाकर हुए है और आज भी नेताओके लिये हो रहे हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी साहित्यमे वीरगाथा-काल एक विशेष युगका परिचायक है तथा डिंगलकी रचनाओका युग समाप्त होगया।

वयण सगाई

राजस्थानीके कवि अलकार-प्रदर्शनके फेरमे तो बहुत नहीं पडे किन्तु 'वयण सगाई' या 'वैण सगाई' पर उन्होने अधिक ध्यान दिया है। 'वयण सगाई' एक प्रकारका अनुप्रास है जिसके कई भेद हैं। इसका साधारण नियम यह है कि किसी छन्दके एक चरणका प्रथम

शब्द जिस अक्षरसे आरम्भ हो उस चरणका अन्तिम शब्द भी उसी अक्षरसे आरम्भ हो, जैसे निम्नांकित सोरठेमें—

पटकूँ मूछाँ पाण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

यद्यपि वयण सगाईका निर्वाह न होना कोई दोष नहीं माना जाता किन्तु पहलेके कवियोंने इसका पालन इस दृढताके साथ किया कि आगेके कवियोंके लिये यह काव्य-नियम-सा बन गया, जिसकी उपेक्षा करना कवित्वशक्तिका अभाव समझा जाता था।

राजस्थानी रचनाओंका समय

राजस्थानीमें जो रचनाएँ आज उपलब्ध हैं उनके दो रूप हमारे सामने हैं—प्रबन्धकाव्यका काव्यात्मक रूप और मुक्तक काव्यका गीत या दोहा रूप। रासक ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्यके रूप हैं। अपभ्रंशके क्षेत्र (राजस्थान और गुजरात) में ही रासक-ग्रन्थोंकी परम्पराका विकास हुआ और (अपभ्रंश गुजराती तथा राजस्थानी) साहित्यके प्रारम्भिक कई सौ वर्षोंतक प्रबन्धकाव्यके रूपमें कितने ही रासक (रासो) ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ। उस समय ग्रन्थोंका हस्तलिखित रूप होनेके कारण उनका प्रचार अधिक नहीं हो पाता था और इसीलिये उनमें प्रक्षेप और हेरफेरकी बहुत अधिक सम्भावना रहती थी। इसीसे इन रासकोंकी भाषा, कथावस्तु और घटनाक्रममें ऐसी असंगतियाँ आ गई हैं कि यही ज्ञात नहीं होता कि कौन रचना किस समय की है। बहुतसे कवियोंने तो किसी प्राचीन राजाका वृत्तान्त लेकर उसका वर्णन वर्त्तमानकालमें इस प्रकार किया है कि उससे यह भ्रम हो जाता है कि कविने अपने समयकी घटनाका वर्णन किया है। परन्तु चारण कवियोंकी यह एक अपनी वर्णन-शैली है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण केसरीसिंह बारहठका 'प्रतापचरित्र' है जिसकी रचना संवत् १९९२ में हुई थी। अतः न तो यही कहा जा सकता है राजस्थानीके

अनेक रासक ग्रन्थोकी रचनाका ठीक समय क्या है न चरित-नायकके आधारपर रचनाओका समय ही निर्धारित किया जा सकता है। फिर कवियोका भी कोई प्रारम्भिक इतिवृत्त नहीं मिलता। भाषामे भी इतनी अधिक मिलावट है कि उसका आधार लेना भी उचित नहीं है। अतः परम्परासे ग्रन्थकारका जो समय निर्धारित है उसे ही आधार मानकर हम उनकी रचनाओका समीक्षण कर रहे हैं।

रासो या रासक

राजस्थानी साहित्यमे 'रासक' या 'रासो' नामसे अनेक प्रबन्ध काव्योकी रचना की गई है। पहले यह व्यापक भ्रम था कि इस 'रासो' शब्दकी उत्पत्ति 'रहस्य' या 'रसायणसे हुई है किन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि गुजरात और राजस्थानमे छठी-सातवीं शताब्दीसे अट्ठारहवीं शताब्दी-तक बराबर 'रासक' ग्रन्थोकी रचना होती रही है। अपभ्रंशके लक्षण ग्रन्थोमे रासक-काव्यका सर्वप्रथम उल्लेख विरहाङ्ककृत **वृत्तजाति समुच्चय**मे मिलता है जिसका समय आचार्योंने ६वीं शताब्दीके पूर्व ही माना है। वृत्तजाति समुच्चयमे रासक-काव्यकी एक परिभाषा यह बतलाई गई है कि विस्तारितक या द्विपदी छन्दमे रचना हो और अन्तमे बिहारी छन्द आवे। दूसरी परिभाषा इस प्रकार बताई गई है—

अडिलाहि दुवहएहिं व मत्ता रड्डहिं तह अ ढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जइ सो भण्णइ रासओ णाम॥

[जिसकी रचना अधिकांशत. अडिला (अडिल्ल), दुवहअ (द्विपथदक या दोहा), मात्रा, रड्डा और ढोसा छन्दोमे की जाती है उसे 'रासक' कहते है।]

स्वयम्भूकृत **स्वयम्भूच्छदस**मे रासकके सम्बन्धमे लिखा है—

घत्ता छड्डणिआहि पद्धडिआ (हि) सु-अण्णरूएहिं।
रासाबधो कव्वे जण-मण-अहिरामो (य ओ ?) होइ॥

[घत्ता, छड्डणिया, पद्धडिआ और अन्य छन्दोसे युक्त रासाबन्ध काव्य लोगोको अच्छे लगते हैं ।]

इसके पश्चात्के पद्यमे 'रासा' नामक एक २१ (१४+७) मात्राओके छन्दकी परिभाषा दी गई है जिससे प्रकट होता है कि 'रासा' छन्द 'रासकबन्ध'मे विशेष उपयोगमे लाया जाता था ।

इन बातोसे स्पष्ट हो जाता है कि 'रासक' या 'रासा' मे 'रासा' छन्दकी ही मुख्य रूपसे योजना की जाती थी और बीच बीचमे अपभ्रशके अन्य छन्द भी रख दिए जाते थे । अब्दुलरहमानके 'सन्देश रासक' मे भी यही प्रणाली अपनाई गई है किन्तु उसमे व्यवहृत 'रासक' छन्द (१२+६) मात्राओका है । श्रीधरकृत **'रणमल्ल छन्द'** मे भी यही परम्परा अपनाई गई हे । अपभ्रशकी इस प्रणालीसे भिन्न 'रासक'का एक और प्रकार भी मिलता है जिसमे मात्राबन्धके साथ गेयबन्धका भी उपयोग किया गया है । **'भरतेश्वर बाहुबली रास'** इसी ढगका रासक है ।

रासकोमे किसी प्रवासी तथा उसकी पत्नीके सयोग वियोगका वर्णन होता था । अपभ्रश तथा मात्राबन्धके साथ गेयबन्धवाली परम्परामे राजस्थानी भाषामे भी अनेक प्रकारके साहसपूर्ण कृत्यो तथा सयोग-वियोगकी कथाओंमे भरे हुए अनेक काव्य लिखे गए जिनका नाम 'रासक'से बिगडकर 'रासअ' या 'रासो' हो गया और जिनमे 'खुमाण रासो', 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' अधिक प्रसिद्ध हुए ।

दलपतविजयके नामसे प्राप्त खुमाण रासोकी रचना १० वीं शताब्दीकी बताई जाती थी किन्तु अब लोगोका मत है कि इसकी रचना १८ वीं शताब्दीके पूर्वकी नहीं हो सकती । इसमे यद्यपि बाप्पा रावलसे लेकर महाराणा राजसिंहतकका वर्णन है किन्तु खुमाणका वृत्तान्त अधिक विस्तारसे है । इसीसे जान पडता है इसका नाम खुमाण रासो रक्खा गया ।

नरपति नाल्ह

नरपति नाल्हके सम्बन्धमे भी कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। इनका रचा हुआ 'बीसलदेव रासो' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अबतक बीसलदेव रासोकी १५ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं जिनमे सबसे प्राचीन प्रति सवत् १६६६ की है। इसकी भिन्न भिन्न प्रतियोमे भिन्न-भिन्न सवत् दिए हुए है जिनमे सबसे प्राचीन १०७३ और सबसे अर्वाचीन १३१३ है। परन्तु उसकी भाषा १६ वीं शताब्दीसे पूर्वकी नहीं प्रतीत होती। भाषाकी गडबडी और ऐतिहासिक घटनाओकी तिथियोका व्यतिक्रम तो है ही व्याकरणकी अशुद्धियाँ और छन्दोभग इतना अधिक है कि कदाचित् ही कोई छन्द पिगलकी दृष्टिसे ठीक मिले। गुजरातीका एक कवि नरपति हो गया है जिसका समय १६ वीं शताब्दी है। उसके चार ग्रन्थोका पता चला है। हो सकता है कि यह नरपति 'बीसलदेव रासो'का भी रचयिता हो क्योकि बीसलदेव रासो और उसके अन्य ग्रन्थोकी भाषा-शैली और शब्दावली बहुत कुछ मिलती है। इससे अनुमान होता है कि निश्चय ही यह १६ वीं शताब्दीकी रचना है जो उसकी भाषासे भी पुष्ट होती है। नीचे हम नरपति नाल्हकी रचनासे दो उदाहरण दे रहे हैं—

(१) **प्रणमूँ हणुमन्त अंजनीपूत। भूल्यो आखर आणज्यो सूत।**
कर जोड़े नरपति कहइ। धार थी आवज्यो भोज नरेस॥

(२) **हुअउ पइसारउ बीसलराव। आवी सयल अँतेवरी राव।**
रूप अपूरब पेषियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल ससार॥

यह बात जान लेनी चाहिए कि बीसलदेव रासो वीररस प्रधान काव्य नहीं है। इसमे कविने सयोग वियोगके ही गीत अधिकतर गाए हैं और सारा ग्रन्थ राजमतीके विरह वर्णनसे भरा पडा है।

चन्द बरदाई

चन्द बरदाईको अमर बनानेवाला ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दीकी उपभाषाओका सर्वप्रथम महाकाव्य माना जाता है। किन्तु चन्द

और रासो दोनोंके सम्बन्धमे पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणोका इतना अभाव है कि इनके सम्बन्धमे निश्चयपूर्वक कुछ भी कह सकना कठिन है। चन्दके सम्बन्धमे जो कुछ पृथ्वीराज रासोमे लिखा है उसे सन्दिग्ध कहा जाता है। चन्द और पृथ्वीराजका जन्म रासोके अनुसार एक ही दिन हुआ और दोनोकी मृत्यु भी एक ही दिन हुई। पृथ्वीराजका समय संवत् १२२०—१२४६ माना जाता है। अतः रासोके उल्लेखके अनुसार चन्दका भी यही समय होना चाहिए।

चन्दकी ख्याति अत्यधिक है और रासो उनकी ही रचना कही जाती है किन्तु रासोमे वर्णित घटनाओके इतिहास-विरुद्ध होनेसे लोगोने इसे जाली ग्रन्थ माना है और यह मत व्यक्त किया है कि भले ही चन्द नामक किसी कविने इसकी रचना की हो किन्तु न तो वह पृथ्वीराजका समसामयिक था न इतिहासका उसे ज्ञान था और न उसने यह पूरा ग्रन्थ लिखा है। रासोमे चगेज़ और तैमूरका नाम आनेसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ अपने वर्त्तमान रूपमे बहुत पीछे पूर्ण हुआ क्योकि महाराणा राजसिंहके समयमे 'राजप्रशस्ति' नामक एक सस्कृत महाकाव्यमे ही सर्वप्रथम पृथ्वीराज रासोका उल्लेख मिलता है। इसके पूर्वके किसी ग्रन्थमे रासोकी कोई चर्चा नहीं मिलती। राजप्रशस्तिका रचना-काल सवत् १७१८—३२ है। अतः कुछ लोगोका विचार है कि रासो भी इसके कुछ ही पूर्व रचा गया होगा। परन्तु इसका वास्तविक लेखक कौन है यह नहीं कहा जा सकता।

पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्याके अतिरिक्त रासोके प्रामाणिक होनेका समर्थक और कोई भी नहीं है। पण्ड्याजीने रासोके संवतोको प्रामाणिक ठहरानेके लिये रासोका यह 'दूहा' लिया

> **एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनन्द।**
> **तिहि रिपुजय पुरहरनको, भए पृथिराज नरिंद॥**

और कहा कि विक्रम सवत्मेसे ६० वर्ष घटा दिए जायँ तो रासोके सभी सवत् ठीक ठहरते हैं। पर यह ६० वर्ष घटाए क्यो जायं इसका उत्तर वे नहीं दे पाए। जब सवतोके व्यतिक्रमका समाधान वे नहीं कर पाए तब इतिहास-विरुद्ध घटनाओका वे क्या समाधान करते। पृथ्वीराजकी राजसभामे जयानक नामका कश्मीरी कवि था जिसने 'पृथ्वीराज विजय' नामक एक सस्कृत काव्य लिखा है। उसमे उसने चन्द नामके किसी कविकी कहीं चर्चा तक नहीं की है। उसने पृथ्वीराजके मुख्य भाटका नाम पृथ्वीभट्ट लिखा है। आश्चर्य है कि जो चन्द कवि पृथ्वीराजका मित्र, स्नेही और सखा कहा जाता है और जिसके सम्बन्धमे यह प्रसिद्ध है कि वह और पृथ्वीराज दोनो एक प्राण दो शरीर थे उसकी 'पृथ्वीराज विजय'मे कहीं चर्चा न हो।

आचार्य शुक्लजीका मत है कि 'पृथ्वीराजके वंशजोके यहाॅ सभवतः चन्द नामका कोई भाट रहा होगा जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराजकी प्रशस्तिमे कुछ छन्द रचे हो। बादमे बहुतसा कल्पित भट्ट भणन्त इसमे जुडता गया और उसी पर रासोकी यह बड़ी इमारत खडी कर दी गई।'

रासोकी भाषा सर्वथा अस्तव्यस्त और ऊटपटाँग है। स्वय रासोके 'षट् भाषा पुरान च कुरान कथित मया'से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमे कई भाषाओ और बोलियोका मेल है। दोहो और छप्पयोकी भाषा तो कहीं-कहीं ठिकानेकी भी है परन्तु अन्य छन्दोकी भाषा पूर्णतः बेठिकाने है। इसमे कहीं तो प्राकृत और अपभ्रशके प्रयोग मिलते है और कहीं भाषा आधुनिक साँचेमे ढली मिलती है। इसलिये यह निर्णय करना सम्भव नहीं कि कितना अंश सच्चा और कितना जाली है। पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझा, कविराज मुरारीदान और श्यामलदान तो इस सम्पूर्ण ग्रन्थको ही जाली मानते है किन्तु हालमे ही मुनि जिनविजयजीको जो चार छप्पय मिले है वे भाषाकी कसौटी पर खरे उतरते हैं और उनके आधारपर यह माना जा सकता है कि चन्द कवि पृथ्वीराजके समयमें अवश्य था।

इन सब इतिहास-सम्बन्धी बातोको छोडकर शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे देखा जाय तो 'पृथ्वीराज-रासो वस्तुतः महाकाव्य है। इसमें ६६ समय या अध्याय हैं। इसकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा है जिसमे प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी और तुर्की शब्दोका भी प्रयोग हुआ है। इसमे साटक, दोहा, पद्धरि गाहा, तोमर, भुजगी और कवित्त (छप्पय) छन्दोका प्रयोग हुआ है किन्तु छप्पय छन्दकी सख्या सबसे अधिक है। गाहा (गाथा) छन्दका प्रयोग रासोके पश्चात् अन्य किसी ग्रन्थमे नहीं मिलता। वैदिक कालसे प्रयुक्त यह छन्द रासोतक आकर रुक गया है। रासोकी कविता बहुत ही ओजस्विनी और सबल है। इस ग्रन्थमे वीर रसका प्राधान्य है। साहित्य-शास्त्रके अनुसार महाकाव्यमें जिन-जिन बातोका वर्णन आवश्यक बताया गया है उन सबका समावेश इसमे किया गया है। रासोके वर्णन इतने सजीव हैं कि पढ़ते ही वे नेत्रोके सम्मुख मूर्तिमान होकर घूमने लगते हैं। कथाका प्रबन्ध निर्वाह करनेमे, वर्ण्य विषयोको साकार रूप देनेमे, पात्रोका चरित्र चित्रण करनेमे रासोकारको अद्भुत सफलता मिली है। रासोकी कथामे बडी गति, बड़ा प्रवाह, बडा वेग है। इसके सभी पात्र सजीव और क्रियाशील हैं।

रासोके कुछ पद्य यहाँ दिए जाते हैं—

(१) त्रिण्हि लच्च तुषार सबल पाषरिअइ जसु हय।
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जति महामय॥
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर।
ल्हूसडु अरु बलु यान संख कु जाणइ ताहपर॥
छत्तीस लच्च नराहिवइ विहिविनिडिओ हो किम भयउ।
जइ चन्दन जाणउ जल्हूकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ॥

(२) प्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिषि कग्गर दिन्नौ।
लगन बरग रचि सरब दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ॥

सै ग्यारह अरु तीस साष संबत परमानह।
जो पिथ्री-कुल सुद्धबरन, बरि रक्खहु प्रानह॥
दिक्खंत दिट्ठि उच्चरिय वर, इक पलक विलँब न करिय।
अलगार रयनि दिन पंचमहि, ज्यो रुक्मिनि कन्हर बरिय॥

(३) बचि कागद चहुँआन नें, फिरन चद सह थान।
मनो वीर तनु अकुरे, मुगति भोग बनि प्रान॥
मची कूह दल हिन्दुके, कसे सनाह सनाह।
वर चिराक दस सहस भइ, बजि निसान अरिदाह॥

रासोके सम्बन्धमे यह प्रसिद्ध है कि निम्नलिखित दोहेके पश्चात्का अश चन्दके चतुर्थ पुत्र जल्हणका रचा हुआ है—

आदि अन्तलगि वृत्तिमन, ब्रन्नि गनी गनराज।
पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चले गज्जन नृपकाज॥

इस दोहेसे स्पष्ट हो जाता है कि जल्हण भी उच्च कोटिके कवि रहे होगे।

इतिहासकारोने सभी प्रकारके इतिहासोका कालविभाजन आदि, मध्य और वर्त्तमानके आधारपर किया है। देशोंके इतिहास, साहित्योंके इतिहास सबमें इस परम्पराका पालन दिखाई पडता है। राजस्थानी भाषाका आदिकाल विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके मध्यतक माना जाता है। तबसे लेकर १८ वीं शताब्दीके अन्ततकका काल मध्यकालके नामसे सम्बोधित होता है और उसके पश्चात्का समय आधुनिक काल कहा जाता है। आदि-कालके कुछ ही कवियोकी रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। रासो कहलानेवाले ग्रन्थ-लेखनकी परम्परा सामान्यतः आदि-कालतक ही परिमित है। उसके पश्चात् मध्यकालमे प्रबन्धके रूपमें चारणोने अपने आश्रयदाताओका प्रशस्तिगान ही किया। इसमे सन्देह नहीं कि चारणोकी रचनाएँ अधिकतर राजाओके यशःगानसे युक्त होती रहीं तथापि ये लोग फुटकल गीत आदि ही लिखनेमे व्यस्त रहे। ये मुक्तक

बहुत ही ओजस्वी और प्राणवान है तथा इनमे वेग और गतिके साथ कला और काव्य भी है। इनकी भाषा बहुत ही प्रौढ है। वास्तवमे यह राजस्थानी साहित्यका अत्यन्त समृद्धिका युग रहा है। इसी युगमे केवल राजस्थानीमे ही नहीं वरन् संसारकी सभी प्रचलित भाषाओमे उच्च कोटिके कवि हुए और सभी देशोमे शृगारका वर्णन सर्वाधिक रुचिके साथ हुआ। देशमे शान्ति और सुव्यस्थाके समय शृगारका किसी न किसी रूपमे वर्णन स्वाभाविक ही था।

राजस्थानीमे इस कालमे शृगार रसके दो अपूर्व ग्रन्थ रचे गए—**ढोला मारूरा दूहा** और **वेलि क्रिसन रुकमणीरी**। राजस्थानी भाषामें भाव और भाषा दोनो दृष्टियोसे इनकी जोडके ग्रन्थ दूसरे नहीं हैं।

विक्रमकी १५ वीं शताब्दी के मध्यमें श्रीधर नामके एक कविने ईडरके राठौड राजा रणमलकी प्रशस्तिमे वीररसके वर्णनोसे परिपूर्ण **रणमल्ल छन्दकी** रचना की।

गागनोरगढ़के अधिपति अचलदास खीचीके आश्रित कवि शिवदासने सवत् १४६० के लगभग **वचनिका अचलदास खींचीरीकी** रचना की जिसकी भाषा प्रौढ और कविता रस-भावपूर्ण है। इसमे गद्य और पद्य दोनो है।

कल्लोल

इस कविके जन्म, निवास आदिके सम्बन्धमे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनकी कृति **ढोला मारू रा दूहा** बेजोड है जिसका अन्तिम दोहा इस प्रकार है—

पनरहसे तीसै बरस, कथा कही गुण जाण।
बदि बैसाखें बार गुरु, तीज जाण सुभ वाण॥

इससे ज्ञात होता हे कि इस ग्रन्थकी रचना संवत् १५३० मे पूर्ण हुई।

यह प्रेम गाथात्मक काव्य है। राजस्थान भरमे इस कहानीका प्रचार है। जैसे पजाबके घर घरमे हीर-राँझाकी कहानी व्याप्त है और आज

भी लोग उसे सुनकर नहीं अघाते उसी प्रकार राजस्थानके लोग ढोला और मारूका प्रेम वृत्तान्त सुनकर नहीं अघाते। राजस्थानीका यह अमर प्रेम काव्य पूर्ण रूपसे राजस्थानको अभिव्यक्त करता है। इसमे उक्तियाँ, कविकी मौलिक सूझ और भावोकी रमणीयता अद्भुत है। इन दोहोकी प्राचीनताका सबसे बडा प्रमाण यह है कि कबीरकी साखियोमे **'ढोला मारू'** के दोहे ज्योके त्यो पाए जाते हैं। लिखित रूप न रहनेके कारण इसके कुछ दोहे लुप्त हो गए थे जिससे कथाकी कड़ी बीच-बीचमे टूट गई थी। जैन कवि कुशल लाभने चौपाइयाँ जोडकर कथाका क्रम पूरा कर दिया। इस ग्रन्थके कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

१. राति सखी इण ताल मइँ, काइज कुरळी पंखि।
उवै सरि हूँ घर आपणौ, बिहूँ न मेळी अंखि॥
२. अकथ कहाणी प्रेमकी, किण सूँ कही न जाय।
गूँगा का सुपना भया, सुमर सुमर पिछताय॥
३. यहु तन जारी मसि करूँ, धूआँ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावै अग्गि॥

ईसरदास—ईसरदासका जन्म जोधपुर राज्यके भाद्रेस गाँवमे स० १५९५ मे हुआ था। इन्होने १२ ग्रन्थोकी रचना की जिनमें **'हरिरस'** और **'हालाँ झालाँ रा कुंडळियाँ'** बहुत प्रसिद्ध हैं। शेष ग्रन्थ साधारण और छोटे है। ईसरदास सिद्ध और भक्त कवि थे। इनके काव्यसे इनकी तल्लीनता और दृढ भगवद्भक्ति प्रकट होती है। इनकी मृत्यु सवत् १६७५ मे हुई।

पृथ्वीराज

पृथ्वीराज बीकानेर-नरेश रायसिंहके छोटे भाई थे। इनका जन्म सवत् १६०६ मे बीकानेरमें तथा मृत्यु ५१ वर्षकी अवस्थामे सवत् १६५७ मे मथुरामे हुई। पृथ्वीराज देशभक्त, वीर और हिन्दुत्वाभिमानी व्यक्ति थे। अकबरके दरबारमे रहते हुए भी ये अत्यन्त निर्भीक और तेजस्वी थे। भाषा, साहित्य, पिंगल, सगीत और

ज्यौतिषके अच्छे पण्डित और उच्चकोटिके भक्त भी थे। नाभादासजीने भक्तमालमे इनको भी स्थान दिया है। इनकी पत्नी चम्पादे भी काव्य रचनामे अत्यन्त प्रवीण और सहृदय थी।

पृथ्वीराजके रचे पाँच ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—१ **वेलि क्रिसन रुकमणी री**, २ **दसम भागवत रा दूहा**, ३. **गंगालहरी**, ४. **वसदेवरावउत** और ५. **दसरथरावउत**। वेलि क्रिसन रुकमणी रीकी रचना वेलियो गीत छन्दमे हुई है। यह ३०५ पद्योका खण्ड काव्य है जिसमे कृष्ण-रुक्मिणीके परिणयकी कथा दी हुई है। पृथ्वीराजकी रचनाओमे यह सर्वोत्कृष्ट है। यह रचना अत्यन्त प्रौढ और मार्मिक है। इसका रचनाकाल अबतक १६३७ माना जाता था परन्तु उदयपुरकी नई हस्तलिखित प्रतिके अनुसार इसकी रचना सवत् १६४४ मे हुई। पृथ्वीराजके शेष चारो ग्रन्थ दोहोमे हैं। 'दसम भागवतरा दूहा' मे १८४ दोहे हैं जो कृष्ण-भक्तिपरक हैं, दसरथरावउत मे ५० दोहे राम-स्तुतिसम्बन्धी है, वसदेवरावउत मे १६५ दोहे श्रीकृष्ण-सम्बन्धी हैं और गगालहरीमे ८० दोहे गगाजीकी महिमा-सम्बन्धी हैं। इनके अतिरिक्त इनके कुछ फुटकल छन्द भी मिलते हैं जो वीर रसकी रचनाके उत्कृष्टतम उदाहरण हैं।

'वेलि'की कथाका आधार भागवतका दशम स्कन्ध है परन्तु कविकी वर्णन-शैली अपनी है। भाषाकी विशुद्धता और शब्दोके चयनका ऐसा ध्यान रक्खा गया है कि पढते ही उनके ध्वनिमात्रसे भावनाका चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। कविकी अलकार योजना भी बहुत ही सटीक है। वयण सगाईका ध्यान रखनेपर भी कहीं भाव दबने नहीं पाए है। उपमा और रूपकका पृथ्वीराजने प्रचुर प्रयोग किया है। इसमे कलापक्ष और भावपक्ष दोनों एकसे एक बढ़कर हैं। वेलिमे पृथ्वीराजका प्रकृति-वर्णन अत्यन्त उत्तम हुआ है। यह वर्णन षड्ऋतु वर्णनके रूपमे है किन्तु इसमे पिष्टपेषण नहीं है।

पृथ्वीराजकी कुछ कविताएँ नीचे दी जा रही हैं—

१. माई एहडा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणै सॉप॥

२. परपच लाज दीठ नह ब्यापण खाटो लाभ अलाभ खरो।
रज बेचवा न आवै राणो, हाटे मीर हमीर हरो॥

३ गत प्रभा थियौ ससि रयणि गळती, वर मन्दा सइ वदनवरि।
दीपक परजळतौ इन दीपै, नास फरिम सू रतनि नरि॥

४. काया लागौ काट, सिकळीगर छूटै नहीं।
निरमळ हुवै निराट, भेट्यॉ सूॅ भागीरथी॥

दुरसाजी आढ़ा

यदि भाषाकी प्रौढता और विशुद्धतामे पृथ्वीराजके समकक्ष कोई कवि खडा हो सकता है तो वे हैं आढ़ा-गोत्रीय चारण कवि दुरसाजी जो स० १५९२ मे जोधपुरके धूँदला गॉवमे उत्पन्न हुए थे और १२० वर्षकी लम्बी आयु भोगकर सवत् १७१२ मे काल-कवलित हुए। ये ६ वर्षकी अवस्थामे अनाथ हो गए। इनका पालन-पोषण बगड़ीके ठाकुर प्रतापसिंहने किया। इनके सम्बन्धमे प्रसिद्ध है कि अकबरके दरबारमे इनका अत्यधिक सम्मान था तथा उसने इन्हे बहुत बार पुरस्कृत किया था, किन्तु यह बात सन्दिग्ध लगती है क्योकि इन्होने अकबरको अधम, लालची आदि विशेषणोसे तिरस्कृत किया है। ये कविके साथ-साथ योद्धा भी थे और अनेक युद्धोमे लड़ चुके थे। इसीसे इनकी कविता वीरदर्पपूर्ण है। इनमे हिन्दुत्वका अभिमान कूट-कूटकर भरा था। हिन्दू जाति और धर्मकी महिमा इनकी कविताओमे स्पष्ट लक्षित होती है। इनकी भाषा सरल और ओजपूर्ण है तथा राजस्थानमे बहुत प्रचलित है। इनका 'विरुद छिहत्तरी' उत्तम ग्रन्थ है। स्फुट छन्द भी इनके मिलते हैं। दो दोहे नीचे दिए दिए जाते हैं—

१. अकबर गरब न आण, हिन्दू सह चाकर हुवा।
दीठौ कोई दीवॉण, कर तौ लटका कटहडे॥

२. अकबर समँद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू-तरक।
मेवाड़ौ तिण माँह, पोयण फूल प्रतापसी ॥

बाँकीदास

आशिया शाखाके चारण कविराजा बाँकीदासका जन्म जोधपुर राज्यमे संवत् १८२८ मे हुआ था। अनेक गुरुओसे विद्या प्राप्त करके ये अच्छे विद्वान् और कवि निकले। सं १८६० मे महाराज मानसिंहने इन्हें अपना राजकवि नियुक्त किया। बाँकीदास कवि तो उच्च कोटिके थे ही, इतिहासके भी प्रकाण्ड पंडित थे। महाराज इन्हे बहुत मानते थे। १८६० मे इनकी मृत्यु होनेपर महाराजको असीम दुःख हुआ था।

बाँकीदासकी २७ पुस्तकें नागरी प्रचारिणी सभाने बाँकीदास ग्रन्थावलीके नामसे ३ भागोंमे प्रकाशित की हैं। इनके अतिरिक्त इन्होने बहुतसे फुटकल गीत और २८०० के लगभग छोटी-छोटी ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। बाँकीदास राजस्थानीके प्रथम श्रेणीके कवि थे। इनकी भाषा प्रौढ, प्रवाहपूर्ण और परिमार्जित है, वर्णन-शैलीमे स्वाभाविकता है, अलकारोका भी इन्होने जो अधिक प्रयोग किया है वे सर्वत्र स्वाभाविक रूपसे आए हैं। यद्यपि नीति और उपदेशकी बातें इन्होने अधिक कही हैं तथापि बीर रसकी इनकी उक्तियाँ भी कहीं कहीं बडी अनूठी है। इनके दो पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

१. केळ रहै नित काँपती, कायर जणे कपूर।
सीहण रण साँकै नहीं, सीह जणे रण सूर ॥

२. दाताधन जे तो दियै, जस तेतौ धर पीठ।
जेतो गुळ लै थाळियाँ, तेतौ जीमण मीठ ॥

सूरजमल (सूर्यमल)

सूरजमलको कवियोमे अत्यन्त सम्मानका स्थान प्राप्त है। चारणोका तो कहना है कि सूरजमल जैसा कवि न हुआ न होगा।

इसमे सन्देह नहीं कि अपने समयमे सूरजमलका इतना प्रभाव था कि इनके सामने राजस्थानीका कोई कवि टिक न सका। इनका जन्म सवत् १८७२ मे बूँदीमे हुआ। ४८ वर्षकी आयु भोगकर संवत् १९२० मे ये इस ससारको छोड़कर चल बसे।

सूरजमल उच्चकोटिके जन्मजात कवि थे। सभी शास्त्रो एव अनेक भाषाओके अद्भुत विद्वान् थे। इनके रचे चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—वशभास्कर, वीर सतसई, बलवन्त विलास और छदोमयूख। इसके अतिरिक्त इनके स्फुट छन्द भी बहुतसे इधर-उधर मिलते है। वशभास्कर बूँदी राज्यका इतिहास है जिसमे युद्धादिका वर्णन अत्यन्त सजीव और काव्यमय है। वीर सतसईमे केवल ३०० दोहे है किन्तु उनको वीररसका प्रतिभावान्, ओजस्वी और सर्वश्रेष्ठ कवि प्रमाणित करनेके लिये ये ३०० दोहे ही पर्याप्त है। इन दोहोमे उनका हृदय बोलता है। इनकी भाव-गभीरता देखने योग्य हे। शेष दोनो ग्रन्थ साधारण हैं। इनकी कविताके दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

१ फहरक्कि दिसान दिसान बडे, बहरक्कि निसान उडै बिथरैं।
रसना अहिनायककी निकसैं, कि पराक्रम होरियकी प्रसरै॥
गजघट ठनंकिय भेरि भनंकिय, रग रनंकिय कोच करी।
पखरान झनंकिय बान सनंकिय, चाप तनंकिय ताप परी॥

२ सुतधारां रज-रज थियौ, बहू बळेवा जाय।
लखिया डूँगर लाजरा, सासू उर न समाय॥

यद्यपि ब्रजभाषाके प्रचारके कारण अनेक राजस्थानी कवि भी ब्रजभाषामे रचना करने लगे किन्तु राजस्थानीमे भी रचनाए होती रहीं। कविराजा मुरारिदान (दोनो—सूरजमलके दत्तक पुत्र बूँदीवाले तथा जसवन्त जसोभूषणके रचयिता जोधपुरवाले), केसरी सिंह बारहठ आदिने अधिकतर रचनाएँ ब्रज भाषामे ही की है फिर भी राजस्थानीमे जो कुछ उन्होने लिखा है वह कम महत्त्वका नहीं है।

ब्रजभाषाके हटते-हटते जब नागरीका प्रचार हो गया तब राजस्थानमे भी कवियोंकी रचनाका माध्यम नागरी ही हो गई । फिर भी आजकलके अनेक कवियोने राजस्थानीमे बडी सजीव और ओजस्वी रचनाएँ की है जिनमे केसरीसिह बारहठ, मुकुल, पतराम गौड़ आदि प्रमुख है । जबसे जयपुरमे 'रेडियो केन्द्र, स्थापित हुआ है तबसे हमे राजस्थानीके अनेक कवियोकी अत्यन्त उत्कृष्ट और रसभावपूर्ण रचनाएँ प्रायः सुननेको मिला करती है किन्तु हमारे पास उनका कोई संग्रह नहीं है अतः हम उनकी समीक्षा करनेमे असमर्थ है ।

राजस्थानीके संवाद ग्रन्थ

राजस्थानी साहित्यका यह इतिहास अधूरा रह जायगा यदि हम राजस्थानीके सवाद काव्योकी चर्चा न करे। कम ही लोग जानते होगे कि राजस्थानमे सवाद-काव्य लिखनेकी एक विशिष्ट परम्परा थी । वाद-विवाद अथवा प्रश्नोत्तरकी शैलीमे प्रस्तुत उस साहित्यको ही सवाद-साहित्य कहते है जो बौद्ध और जैन साहित्यमे धर्म-तत्त्व-निरूपणके लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु मध्यकालके राजस्थानी कवियोने विनोदके रूपमे कुछ अवस्थाओ और वस्तुओको व्यक्ति मानकर उनसे सवाद कराए है ।

वैसे सवादोका प्रयोग नाटकोमे तथा काव्योमे तो प्राचीन कालसे ही होता आया है परन्तु सम्पूर्णतः और स्वतन्त्र सवाद-काव्यका सर्वप्रथम उदाहरण हमे **'कृपण नारि सवाद'** **(१४३७)** के रूपमे मिलता है। इसके पश्चात् तो सोलहवीं शताब्दीसे बराबर ही इस शैलीकी काव्य रचनाके उदाहरण मिलते हैं । इन सवाद-काव्योमे **दन्त-जिह्वा सवाद, सुखड़ चम्पक-सवाद, रावण मन्दोदरी सवाद, गोरी-सॉवली सवाद, मोतो-कपासिया-संवाद, उद्यम-कर्म-संवाद, हरिणी सवाद** १६वीं और १७वीं शताब्दीकी रचनाएँ हैं। १८वीं और १९ वीं शताब्दीमे भी इस शैलीकी रचनाए प्रचुर परिमाणमे हुई ।

अधिकाशतः ये रचनाएँ जैन पण्डितोकी हैं। जैनेतर कवियोकी भी कुछ रचनाएँ इस शैलीकी है, पर वे बहुत अल्प है। **दातार और सूमका संवाद, मारवली-मालवणी संवाद, गुरु चेला सवाद, सोना गुजा-सवाद** (गद्यमे) इसी ढगकी रचनाएँ है।

४

सन्त साहित्य

सन्त साहित्य जिस प्रकारकी भाषामे प्रस्तुत हुआ है उसका नाम आचार्य शुक्लजीने 'सधुक्कडी' भाषा रक्खा है किन्तु 'सधुक्कडी' उस प्रकारकी कोई भाषा नहीं है जिस प्रकारकी भाषाएँ राजस्थानी, अवधी, ब्रज अथवा नागरी है। वैसे पजाबके पूर्वी भागसे लेकर बगालके पश्चिम तक और राजस्थान एव मध्य प्रदेशसे लेकर हिमालयके दक्षिणतकका सारा प्रदेश हिन्दी भाषा-भाषी माना जाता है किन्तु इस विशाल भू भागके अन्तर्गत कितनी ही स्थानीय और क्षेत्रीय बोलियाँ भी हैं जिनमेसे कुछमे तो अत्यन्त प्रौढ साहित्य की रचना हुई है और कुछ बोलियोके रूपमे रह गई हैं। राजस्थानी, अवधी, ब्रज, नागरी, मैथिली आदिमे प्रचुर साहित्य विद्यमान है जब कि मगही, भोजपुरी, कुमाउँनी बुन्देली, मालवी, मेवाडी आदि अधिकाशतः क्षेत्रीय बोलियोके रूपमे ही व्यवहृत होती रही हैं। इसीलिये हिन्दी साहित्यके इतिहास लेखकोने उपर्यंकित जिन पाँच बोलियोने भाषाका रूप ग्रहण कर लिया उन्हींके प्रस्तुत साहित्यपर विचार किया और निर्गुण सम्प्रदायवाले सन्तो-द्वारा प्रस्तुत साहित्यका परिगणन भी उन्हींके अन्तर्गत कर लिया।

सधुकड़ी भाषा

गद्यका विकास न होनेके कारण निर्गुण मतके प्रवर्त्तक सन्तो और उपदेशकोने सुविधाके साथ अपने मतका प्रचार करनेके लिये पद्यका आश्रय लेकर अपनी रचनाओमे ऐसी भाषाका प्रयोग किया है जिसे विशुद्धताकी दृष्टिसे हम किसी एक भाषाके अन्तर्गत नहीं रख सकते।

इनकी रचनाओमे पजाबसे लेकर बिहारतक और हिमाचलसे लेकर विन्ध्यतकमे प्रचलित सभी बोलियो और भाषाओका प्रयोग हुआ है।

इस प्रकारकी मिश्रित भाषाका प्रयोग होनेके अनेक कारण है : १. ये साधु अधिकाशतः अपढ थे जिन्हे किसी भी भाषाके ठीक स्वरूपका बोध न था। २. इन्होने-साहित्य-रचना नहीं की। समय-समय पर ये लोग जो मौखिक उपदेश देते उन्हे इनके शिष्य लिपिबद्ध या कठाग्र कर लेते। इन उपदेशोके लिपिबद्ध हानेका कार्य कभी-कभी तो इनकी मृत्युके पश्चात् हुआ। ३. ये सदा एक स्थान पर नहीं रहते थे। निरन्तर घूमते रहनेसे स्थान-स्थानकी भाषाओ और बोलियोका प्रयोग इनके उपदेशोमे आना अनिवार्य था। उनके लिये ऐसी भाषामे अपने मतका प्रचार करना आवश्यक था जिसे सब स्थानोंके लोग समझ सकें। ४. इन्हे साहित्यशास्त्र और छन्दःशास्त्रका ज्ञान नहीं था, इसलिये इनकी रचनाओंमें अधिकतर छन्दोभग तथा काव्य दोष पाए जाते हैं। ५. इनकी रचनामे भाषाकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। एक ही रचनामे नागरी, पजाबी, भोजपुरी सबके रूप अलग-अलग दिखाई पड़ जाते हैं। इसीलिये इस खिचडी भाषाके कारण हमने सन्त साहित्यकी गणना सधुक्कडी भाषाके अन्तर्गत की है। अपने मतका प्रचार करनेके लिये तथा सभी क्षेत्रो और वर्गोंको अपने मतका अनुयायी बनानेके लिये उन्होने सुगमता पूर्वक कण्ठ हा जानेवाली एव सुविधापूर्वक प्रचारित हो सकनेवाली पद्यबद्ध रचनाओका सहारा लिया। और इसमे सन्देह नहीं कि इन्हे अपने कार्यमे सफलता भी मिली। इस प्रकारके रचनाकारोमे कबीर, नानक, दादू आदि मुख्य है।

ऐतिहासिक आधार

हिन्दी साहित्यमे निर्गुण मतकी दृष्टिसे विस्तृत साहित्य-रचना सबसे पहले कबीरके नामसे ही मिलती है। कबीर हमारे सामने दो रूपोमे आते है—एक ओर वे हठयोग और वेदान्तका आश्रय लेकर भगवान्के सगुण रूप अथवा साकारोपासनाका विरोध करके निराकार

ब्रह्मकी उपासनाका उपदेश देते हैं, दूसरी ओर भगवन्नामके जपकी शिक्षा देकर भक्तिका पथ भी प्रशस्त करते है। कबीर अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होने देख लिया था कि नाथ-पन्थीयोगियोने हृदय-पक्ष विहीन अन्तस्साधनाका जो प्रचार किया उससे मनुष्य प्रभावित नहीं हो सका। नाथ-पन्थी योगियोने जो पन्थ निकाला था वह समाजके लिये हितकारक भी नहीं सिद्ध हुआ क्योकि उसमे सामाजिक भावनाओका पूर्ण अभाव था। इसीलिये वह लोगोको आकृष्ट नहीं कर सका। कबीरने इसे अनुभव किया। रामानुजाचार्यने शंकरके केवलाद्वैतवादका खण्डन करके विशिष्टाद्वैतवादकी स्थापना की और साथ ही ब्रह्मकी सगुण भक्तिका (लक्ष्मी नारायणके रूपमे) निरूपण किया। उसने जनसमाजको बहुत कुछ आकृष्ट किया। कबीरने यह अनुभव किया कि केवल अन्तस्साधनाकी बात लोगोकी समझमें नहीं आ सकती। इसीलिये अपने मतमे उन्होने भक्तिका भी समावेश कर लिया। परन्तु वे थे नाथ-पन्थी योगियोसे प्रभावित। अतः उन्होने निराकार ब्रह्मकी उपासनापर बल देकर, उसका नाम जपकर उसे हृदयमे अनुभव करनेका उपदेश किया। सन्त नामसे अभिहित सभी कवियोने इसी मार्गका अवलम्बन किया।

नाथ पन्थ

ग्यारहवें खण्डमे हम दिखा चुके है कि किस प्रकार बौद्ध धर्म विकृत होकर वामाचारमे परिणत हो गया। इसका आचरण करनेवाले वज्रयानी कहे जाते थे जिनका गढ़ पूर्वी भारत था। तन्त्र-साधना ही इनका प्रधान कार्य रह गया था और उसीके माध्यमसे मानवकी हीन प्रवृत्तियोको उभाडकर अपनी वासनाओकी पूर्ति किया करते थे। इन्होने अपना रग कुछ इस प्रकार जमा रक्खा था कि जनता इन्हे अलौकिक शक्तियोसे सम्पन्न समझती थी।

आठवीं और दसवीं शताब्दी के बीच प्रचलित परम्परासे अपनेको अलग करके गोरखनाथने महर्षि पतजलिके योग दर्शनको आधार

मानकर हठयोगका सहारा लेकर अपना अलग नाथपन्थ चलाया। इस नाथ पन्थमे नौ नाथ हो गए हैं। गोरखनाथने जिस प्रकार वज्रयानियोसे अलग होकर कनफटे योगियोका अपना अलग नाथपन्थ चलाया उसी प्रकार वज्रयानियोकी लीलाभूमि (पूर्वी भारत) का भी त्याग करके अपने मतका प्रचार पश्चिमी भारतमे किया। इस सम्प्रदायके ग्रन्थोमे इस बात पर बल दिया गया है कि योगकी साधनासे ईश्वरको घटके भीतर ही प्राप्त किया जा सकता है। ये लोग सिद्धान्ततः शैव थे। कनफटे साधु गोरखनाथको साक्षात् शिवका अवतार मानते हैं।

नाथपथी कनफटे योगी दीक्षाके समय पत्थर, बिल्लौर, गैंडेके सींग, मिट्टी या लकडीका कुंडल कानमे पहनते हैं जिसे कुंडल, मुद्रा या दर्शनी कहते है। इसीलिये इन कनफटे योगियोको दर्शन-योगी भी कहते है। इसके अतिरिक्त ये लोग दो-तीन अगुल लबा एक काला-सा पदार्थ ऊन या बालके डोरेमे बॉधकर गलेमे लटकाए रहते है। इस डोरेको सेली और उस काले पदार्थको नाद कहते हैं। ये लोग जटा बढाते, गेरुआ पहनते भस्म लगाते और भभूतका त्रिपुण्ड लगाते है। इन लोगोका प्रचार मुख्य रूपसे पश्चिमी भारतमे था अतएव स्वभावतः इनकी बानियो और उपदेशोमे उधरकी भाषाके ही दर्शन होते हैं। इन्होने जो भी रचनाएँ की हैं वे नागरी, पजाबी, राजस्थानी मिश्रित भाषामे है। इनकी बानीसे प्रभावित कबीर आदिने भी इसी भाषाका सहारा लिया है।

कबीरदास

कहा जाता है कि कबीरका जन्म एक विधवा ब्राह्मणीसे हुआ था जिसे रामानन्दजीने भूलसे पुत्रवती होनेका आशीर्वाद दे दिया। लोकलज्जावश उसने बालकको जन्मते ही फेंक दिया जिसे नीरू नामक एक जुलाहेने घर ले जाकर पाला-पोसा। कबीरका जन्म कुछ लोग सवत् १४५५ मे, कुछ १४५६ मे और कुछ लोगोने १४३७ मे माना है किन्तु कबीरपन्थियोमे प्रचलित

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायतको, पूरनमासी प्रगट भए॥

वाले दोहेके अनुसार इनका जन्म सवत् १४५६ ही ठहरता है और अधिकतर वही लोगोका मान्य भी है।

कबीर की धर्मभावना

यद्यपि कबीरका पालन पोषण मुसलमान जुलाहेके घर हो रहा था तथापि उनके मनमे आरम्भसे ही हिन्दू धर्म-भावना और भक्ति-पद्धतिके प्रति अनुराग दिखाई पडता था। निश्चय ही उनके माता-पिताने इसका विरोध किया होगा किन्तु उस विरोधका कबीरदासजीपर कोई प्रभाव नहीं पडा और वे दिन दिन राम-नामके जपकी ओर प्रवृत्त होते गए। इन्हीं दिनो स्वामी रामानन्दका प्रभाव और उनके कारण 'रामनाम' तथा 'रामकथा'का प्रचार बढ रहा था। सम्भव है कबीरको रामनामके जपकी प्रेरणा इसीसे मिली हो। कबीर जब धीरे-धीरे कुछ वयस्क हुए और रामनामके जपकी ओर उनका अनुराग बढता गया तो उनके मनमे स्वामीजीसे दीक्षा लेनेकी बात उत्पन्न हुई। मुसलमान होनेके नाते स्वामीजीसे प्रत्यक्ष रूपसे वे दीक्षा ले नहीं सकते थे इसलिये उन्होने सीढियोपर लेटनेवाला ढग निकाला। इस प्रकार स्वामीजीसे रामनाम-जपका उपदेश पाकर कबीरदासजीने स्वामीजीको अपना गुरु मान लिया और उस उपदेशके अनुसार राम-नामका जप करने लगे। परन्तु आरम्भमे 'राम' को वे जो कुछ भी मानते रहे हो, आगे चलकर उनका मत भिन्न हो गया और वे कहने लगे—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
रामनामका मरम है आना॥

इस प्रकार कबीरके राम निराकार निर्गुण ब्रह्मके पर्याय हुए जब कि उनके गुरु रामके साकाररूपके उपासक थे।

नेता बननेकी लालसा

स्वामी रामानन्दके प्रभावमे आनेसे वे रामनामकी ओर प्रवृत्त हुए सही किन्तु उन्होने वैष्णवोकी श्रेणीसे अपनेको पृथक् रक्खा। इसके कई कारण हैं—१. मुसलमानी सस्कारोके अनुसार पलनेके कारण उनका अन्तस् अवतारवादके सिद्धान्तको स्वीकार न करता था। २. कबीरको स्वय अपना महत्त्व सिद्ध करना था। यदि वे रामानन्दी वैष्णवोका ढग अपनाते तो वे उस धारामे ही बह जाते और उनका अलग कोई महत्त्व ही न रहता। ३. कबीरकी बुद्धि प्रखर थी, प्रतिभा विलक्षण थी। उन्होने देख लिया कि इस समय ऐसा अवसर है कि लोगोको बहकाकर अपने नामसे एक नया मत खडा कर दिया जाय। आजकाल जो काम एक चतुर राजनीतिक नेता करता है वही उस समय कबीरने किया। वे पढ़े लिखे न थे क्योकि उन्होने स्वय कहा है 'मसि कागद छूयो नहीं' किन्तु अन्य साधनोसे उन्होने पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया था और उसका उपयोग उन्होने अपना लक्ष्य सिद्ध करनेके लिये किया।

कबीरके ज्ञानका आधार

स्वामी रामानन्दके सम्पर्क से उन्होने वैष्णवोका अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद (शरणागतिवाद) और सबसे बडी वस्तु 'रामनाम' लिया। नाथ-पन्थी योगियोके साथ रहकर उनके हठयौगिक सिद्धान्त और साधनात्मक रहस्यवादका पल्ला पकडा और अपने पन्थमे भक्तिका समावेश करनेके उद्देश्यसे, उन्होने सूफियोकी उपासना-प्रणाली ग्रहण की। जैसा हम पीछे बता चुके हैं, सूफी ईश्वरको प्रियतम (माशूक) के रूपमे मानकर चलते हैं और उसकी प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य मानते है। सूफीवाद वेदान्तके अद्वैतवादका ही विकृत रूप है यह हम प्रमाणित कर चुके हैं। मुसलमानोको अपनी ओर लुभानेके लिये यह आवश्यक था कि कबीरदासजी मुसलमानोंकी भी कुछ बातें ग्रहण करते किन्तु इसलामका जो रूप प्रचलित था उसे

कबीरदास खपा नहीं सकते थे। इसलिये उन्होने सूफियोका ढर्रा अपनाया जिसमे भारतीय एकेश्वरवादके साथ-साथ मनुष्यकी रागात्मक वृत्तिको आकृष्ट और उद्दीप्त करनेवाले तत्त्व भी विद्यमान थे।

पीरोंसे सम्पर्क

मुसलमानी (सूफी) पीरोका सग कबीरको इसी उद्देश्यसे करना पड़ता था। कबीर-पन्थी मुसलमान तो उन्हे शेख तकीका ही शिष्य मानते है किन्तु कबीरका यह कथन कि 'घट-घट है अबिनासी सुनहु तकी तुम सेख' शेख तकीको कबीरके गुरुके आसनपर प्रतिष्ठित होने देनेमे बाधक सिद्ध हो रहा है। सूफी पीरो और मुसलमानी फकीरोका सग कबीर बराबर करते थे और उनसे बहुत कुछ तत्त्व भी ग्रहण करते थे किन्तु कबीर किसीको अपनेसे बडा नहीं मानते थे, सबको स्वयं उपदेश देते थे और अपनेको ईश्वरका ऐसा दूत घोषित करते थे जो जगके उद्धारके लिये ही भेजा गया हो—

> **काशीमे हम प्रगट भए हैं, रामनन्द चेताए।**
> **समरथका परवाना लाए, हस उबारन आए॥**

गुरु माहात्म्य

स्वामी रामानन्दका नाम कबीरने सर्वत्र बड़े आदरसे लिया है और उन्हे ही अपना गुरु माना है। गुरुको महिमाके 'वचन' कबीर या इस धाराके सन्तोकी बानियोमे बराबर मिलते हैं। स्वयं कबीरने गोविन्दसे गुरुको बडा बताया है—

> **गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय।**
> **बलिहारी गुरु आपनी, गोविन्द दिया बताय॥**

गुरु महात्म्यकी यह बात कबीरको नाथपन्थियोसे प्राप्त हुई थी। सिक्खोमे 'गुरु' लगानेकी जो परम्परा चली वह गुरुके माहात्म्यके कारण ही और यह परम्परा और माहात्म्य-भावना 'गुरु' गोरख नाथ, 'गुरु' मत्स्येन्द्रनाथ की ही देन है। कबीर तथा उनके बादके सभी सन्तोने

नाथपन्थियोसे जहा ज्ञानवाद और योगवाद लिया वहाॅ यह गुरुवाद भी लिया। इन सन्तोकी परम्परामे गुरुको जब गोविन्दसे भी बढ़कर मान लिया गया है तो शास्त्रका क्या महत्त्व है। यदि शास्त्रोके वचन और गुरु आदेशमे विरोध पडता हो तो शास्त्र-वचनको उपेक्षाकी जा सकती है। इनकी परम्परा हाल मे राधास्वामी सम्प्रदायतक बराबर चली आई है।

कबीरका साहित्य

हम यह लिख चुके हैं कि कबीर कुछ पढे लिखे नहीं थे। इसलिये उन्होने कुछ लिखा नहीं है। उनके मौखिक उपदेशोका संग्रह उनके शिष्योने, विशेषकर धर्मदासने, आगे चलकर किया। कबीरकी बानियोका सग्रह बीजकके नामसे प्रसिद्ध है। इस बीजकके तीन भाग हैं—साखी, रमैनी और सबद। साखी दोहो मे है और इसमे स्वमत-प्रतिपादन, परमतखण्डन तथा विविध उपदेशादि हैं। यद्यपि कबीर-दासजीने यह स्पष्ट रूपसे कहा है 'बोली मेरी पुरुब की' तथापि इन दोहोकी भाषापर राजस्थानी, पजाबीसे लेकर भोजपुरीतकका प्रभाव है। रमैनी और सबदकी भाषा पर ब्रजका प्रभाव अधिक है क्योकि इनमे गेय पद हैं किन्तु पूरबी बोलीके रगसे यह भी रँगी हुई है।

कबीरके सम्पूर्ण साहित्यमे वेदान्त-तत्त्व, हिन्दू-मुसलमानोको फटकार, हिन्दुओके समस्त धार्मिकग्रन्थो और देवताओकी कुत्सा, ससारकी अनित्यता, मायाकी प्रबलता आदि इसी प्रकारके अनेक विषय लिए गए हैं।

कबीरकी बानियोका सबसे पहला सग्रह धर्मदासने सवत् १५२१ मे किया जब कबीरदासजी ६५ वर्ष के थे। कबीर-बचनावलीकी प्राचीनतम प्रति सवत् १५६१ की मिली है। सिक्खोके गुरु-ग्रन्थ-साहबमे भी उनके बहुतसे पद सगृहीत हैं।

कबीर जब पढ़े लिखे नहीं थे और साहित्यस्रष्टा भी न थे तो उनकी बानियोमे काव्य-तत्त्व या दार्शनिक-तत्त्व ढूँढनेका प्रयास व्यर्थ

है। कबीरने सत्सगसे जो कुछ प्राप्त किया था उसका समावेश अपने उपदेशोमे भली-भॉत किया है। वेदान्त और हठयोगके गूढ और पारिभाषिक पद, सूफियोकी रहस्यवादी भाषा, रूपको और अन्योक्तियोके माध्यमसे कही हुई ज्ञानकी बातें, चुटीली और व्यग्य पूर्ण उक्तियॉ इन सबने कबीरकी ओर साधारण श्रेणीके लोगोको आकृष्ट किया। वे कबीरकी उलटबासियोके रहस्यमे डूबते-उतारते और उनको महान् सिद्ध पुरुष मानते थे। अपना ऐसा आतक साधारण समाजपर जमानेके लिये ही कबीर इस प्रकारकी अस्पष्ट भाषाका प्रयोग करते थे। आतक जमानेकी इस भावनाका ही यह परिणाम है कि कबीर काशी छोडकर मगहर चले गए जहॉ सवत् १५७५ मे उन्होने शरीर-त्याग किया।

कबीरके कुछ पद्य उदाहरणके रूपमे नीचे दिए जा रहे है—

१ कबीर सगत साधुकी, **कदे** न निरफल होय।
चन्दन होसी बावना, नीम न **कहसी** कोय॥

इस दोहे मे बडे अक्षरोमे लिखे गए शब्द पजाबी राजस्थानीके हैं।

२—मेरे सगी द्वै जणा, एक वैष्णव एक राम।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम॥

३—साकत सुनहा दोनो भाई, एक निंदै एक भौकत जाई॥

इन उदाहरणोसे प्रकट होता है कि कबीरदास वैष्णवोके समर्थक और शाक्तोके विरोधी थे।

४ सुर नर मुनि जन औलिया, ए सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर॥

यह उदाहरण इस बातका सूचक है कि कबीर अपनेको ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्म-विद्याका मर्मज्ञ समझते थे। ऐसी ऐसी गर्वोक्तियॉ उनकी बानियोंमे बहुत मिलती हैं।

५. साईं के संग सासुर आई ।

संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं ॥
जना चार मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँडो छायो ।
भयो बिवाह चली बिनु दूलह बाट जात समधी समझाई ॥

सूफियोके रहस्यमय माधुर्य भावकी जो उपासना पद्धति कबीरने अपनाई उसका उदाहरण यह पद है ।

कबीर आदि सन्त कवि नहीं थे । वे मत-प्रवर्तक मात्र थे । पद्य बद्ध रचनाएँ करनेके कारण उनको साहित्य स्रष्टाओंमे गिन लिया गया है । किन्तु इसके साथ यह भी है कि उनकी रचनाओंमे अनेक स्थलोपर, विशेषकर पदोंमे मोहकता, भावुकता और प्रांजलता मिलती है । कबीरमें अपेक्षाकृत यह गुण अधिक है । कितने ही पद ऐसे मिलते हैं जो सूर और कबीर दोनोंके नामसे प्रचलित है । यह उदाहरण लीजिए—

है हरि भजन को परमान ।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान ॥
भजन को परताप ऐसो जल तरै पाषान ।
अजामिल अरु भील, गनिका चढे जात बिमान ॥
चलत तारे सकल मंडल चलत ससि अरु भान ।
भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम को दीवान् ॥
निगम जाको सुजस गावत सुनत संत सुजान ।
सूर हरि की सरन आयौ राखि ले भगवान ॥

ठीक यही पद कबीरके नामसे प्रचलित है । अन्तिम चरणमे यह अन्तर है—

जन कबीर तेरी सरन आयौ राखि लेहु भगवान ।

स्वामी रामानन्द जैसे अद्भुत महात्मा सौभाग्यसे ही उस समय भारतमे अवतरित हुए । उनके द्वारा हिन्दू जाति और हिन्दी भाषाकी

जो सेवा हुई वह वर्णनातीत है। उन्होने स्वय जो कुछ किया वह तो किया ही उनकी शिष्य परम्पराने, जिसमे गोस्वामी तुलसीदासजो हो गए है, हिन्दी साहित्यका अपूर्व श्रीवर्द्धन किया। स्वामी रामानन्द जीके ही शिष्य कबीर थे। कबीरके अतिरिक्त रैदास, सेन नाई, धन्ना जाट और पीपा भगत भी उनके मुख्य शिष्य थे जिन्होने निर्गुण ढगकी भक्ति-पद्धति अपनाई।

रैदास

रैदास रामानन्दजीके बारह शिष्योमे गिने जाते हैं। रामानन्दजीने निम्न श्रेणीके लोगोको अपनाकर बहुत आगे बढ़ा दिया। जुलाहा होकर भी कबीर उनके ही प्रतापसे इतनी अधिक प्रतिष्ठाके पात्र हुए। उसी प्रकार रैदास भगत चमार होने पर भी सन्त श्रेणीको प्राप्त हुए। रैदासकी साधना अवश्य ऊँची श्रेणीकी रही है। तभी तो मीराने भी उनका नाम बडे आदरके साथ लिया है।

रैदासने स्वय अपनेको चमार कहा है—

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।

रैदास काशीके ही रहनेवाले थे। इन्होने निर्गुण पन्थका रास्ता पकडा। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। जब यह पढ़े लिखे नहीं थे तो ग्रन्थ-रचना ही कैसे करते। फुटकल पद इनके इधर उधर मिलते है जिनमेसे कुछ तो गुरु-ग्रन्थ-साहबमे ही सगृहीत हैं।

रैदासका एक पद दिया जा रहा है—

१. फल कारन फूलै बनराई। उपजै ज्ञान तो करम नसाई।
जल में जैसे तूँबा तिरै। परिचे पिंड जीव नहिं मरै॥
जब लगि नदी न समुद्र समावै, तब लगि बढ़ै हँकारा।
जब मन मिल्यो राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा॥

धर्मदास

ये कबीरके शिष्य थे और उनके मरने पर बीस वर्ष तक उनकी

गद्दीपर रहे। कबीरकी बानियोका सग्रह इन्होने ही किया। इनकी रचनाएँ कबीरकी अपेक्षा अधिक सरल और भाव-व्यजक हैं। इन्होने अधिकतर पूर्वी बोलीका ही प्रयोग किया है। कबीरकी शिष्य परम्परामे कमाल, भग्गूदास श्रुतिगोपाल भी हो गए हैं। साहित्यकी दृष्टिसे इन लोगोकी रचनाओका विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव इनपर अधिक विचार करना व्यर्थ है।

गुरु नानकदेव

गुरु नानकदेव लाहौरके वेदी खत्री थे। इनका जन्म सवत् १५२६ मे हुआ था। ये जन्मसे ही साधु-स्वभावके थे। यद्यपि इनकी गणना निर्गुणपन्थवालोमे की गई है तथापि ये भगवान्के साकार रूपके उपासक थे और शकरकी आराधनामे बराबर रत रहते थे। कबीरकी भाँति इन्होने किसी मतका खडन नहीं किया और न किसी प्रकारके दम्भ और 'सिद्धई' का ढिंढोरा पीटा। सीधी सरल भाषामे इन्होने अपनी बातें कहीं। ये हिन्दू धर्मके रक्षकके रूपमे प्रकट हुए और देशभरमे भ्रमणकर इन्होने हिन्दू जातिको शक्ति और सान्त्वना प्रदान की। यह भी विशेष पढ़े लिखे न थे। समय-समय पर जो भजन इन्होने गाए उन्हींका सग्रह गुरुग्रन्थसाहब मे किया गया है। ये भजन पजाबी, ब्रज, नागरी आदि-मिली जुली भाषाओ मे हैं। एक उदाहरण लीजिए—

> पवणु गुरुपाणी पिता माता धरति महतु।
> दिवस रात दुइदाई दाया खेलै सकल जगतु॥
> चँगिआइयाँ बुरिआइयाँ वाचै धरमु हदूरि।
> करनी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि॥
> जिन्नी नाम धेयाइया गए मसक्कति घालि।
> नानक ते मुख उज्जले केती छुट्टी नालि॥

गुरु नानकदेवके अतिरिक्त अन्य दस सिक्ख गुरुओने भी कुछ कुछ रचनाएँ की है। गुरु गोविन्द सिहने तो प्रचुर परिमाणमे रचनाएँ की है। ये शुद्ध ब्रजभाषा लिखते थे और बड़ी ओजपूर्ण रचना करते

थे। इनका चडी-चरित्र प्रौढ ब्रज-भाषामे प्रणीत अच्छा काव्य है। निर्गुणपन्थी सिक्ख गुरुओके बीच ये महात्मा भगवान्के सगुण रूपके प्रति भी अच्छी आस्था रखते थे।

दादू

'निर्गुनिए' साधुओमे दादूकी गणना आदरके साथ की जाती है। दादूकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे भी विचित्र कथाएँ प्रचलित हैं। दादूका जन्म उनके भक्त सवत् १६०१ मे हुआ मानते हैं। उनके गुरुका भी पता नहीं। परन्तु उनकी बानीमे कबीरका नाम आदर पूर्वक लिया गया है। इधर-उधर घूमते हुए वे जयपुरके पास भरानेकी पहाडियोमे आकर अन्तिम समयमे रहे और वहीं सवत् १६६० मे शरीर छोड़ा। दादू-पन्थियो का प्रधान अड्डा यही है जहाँ दादूके वस्त्रादि आजतक रक्खे हुए है। दादूपथी निराकार ब्रह्मके उपासक हैं। ये तिलक, कण्ठी आदि नहीं धारण करते। हाथमे एक सुमिरनी रखते हैं और परस्पर 'सत्तराम' कहा करते है।

दादू पश्चिमी प्रदेशोके रहनेवाले थे। इसलिये स्वभावतः उनकी भापामे पच्छिमीपन होना चाहिए। पजाबी और जयपुरीमिश्रित राजस्थानीका उन्होने प्रयोग किया है जिसमे गुजराती और नागरीका भी मेल है। गुजराती और पजाबीमे अलगसे भी कुछ पद उन्होने लिखे हैं। उनकी भाषामे फारसी, अरबी और तुर्की शब्दोका भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। दादूकी रचनाओमे सयम और गम्भीरता है। वे विरोधियोको गाली नहीं देते। नम्रता उनमे इतनी थी कि वे सबको दादा कहते थे। इसीसे उनका नाम दादू पड गया। दादूकी रचनाओके कुछ उदाहरण लीजिए—

१ जे सिर सौंप्या रामकों, सो सिर भया सनाथ।
दादू दे ऊरण भया, जिसका तिसके हाथ॥

२. जब मन लागै रामसों, तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यो, ऐसैं रहै समाइ॥

२. अजहूँ न निकसे प्रान कठोर ।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर ।
अवधि गये अजहूँ नहि आये कतहुँ रहे चित चोर॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर ।
दादू अइसहि आतुरि बिरहिनी जैसहि चन्द चकोर ॥

सुन्दरदास

यह छह वर्षकी अवस्थामे ही सवत् १६५६ मे दादूके शिष्य हो गए और उनके साथ ही रहने लगे । साल भरके पश्चात् जब दादू मर गए तो ये जगजीवनजीके साथ अपने गॉव घौसा होते हुए काशी आए जहॉ २० वर्षतक व्यापक और गभीर अध्ययन कर राजस्थान लौट गए । प्रायः ९३ वर्षकी अवस्थामे इस सर्वांग सुन्दर, सुरुचिसम्पन्न, मृदुल, स्त्री-भीरु बालब्रह्मचारी, साधुका देहावसान सॉगानेरमे हुआ ।

निर्गुण मतवालोमे सुन्दरदासजी ही ऐसे महात्मा हो गए हैं जिन्हे काव्य, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, इतिहास, पुराणादिकी सम्यक् शिक्षा मिली थी। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और राजस्थानीके अतिरिक्त इनको फारसीका भी बहुत अच्छा ज्ञान था। इसीलिये इनकी रचनाएँ बहुत ही सरस हैं। भाषा इनकी मँजी हुई, प्राजल और काव्य-गुण-सम्पन्न है। और सन्तोकी तरह इन्होने केवल दोहे और पद ही नहीं कहे हैं वरन् कवित्त, सवैया आदिमे भी रचनाएँ की हैं। शास्त्रोका व्यापक अध्ययन होनेसे इन्हाने मनमानी बातें नहीं कही हैं। उदाहरण लीजिए—

१. देखहु दुर्मति या ससारकी ।
हरिसों हीरा छाँड़ि हाथतें बाँधत मोट विकारकी ॥
नाना बिधिके कर्म कमावत खबर नहीं सिरभारकी ।
झूठे सुखमें भूलि रहे हैं, फूटी आँख गँवारकी ॥

× × ×

बारम्बार पुकार कहत हौं सौहैं सिरजनहारकी।
सुन्दरदास बिनस करि जैहै देह छिनकमें छारकी॥

यद्यपि इन्होने अधिकतर रचनाएँ ब्रज-भाषामे की हैं किन्तु नागरी और राजस्थानीका मेल कहीं कहीं हो ही गया है। इनके रचे ४० ग्रन्थ कहे जाते है।

सुन्दरदाससे कुछ समय पूर्व इलाहाबादके कडा मानिकपुरमे **मलूकदासजीका** जन्म हुआ था जिनकी परम्परागत गद्दी अब भी वहाँ है। इनकी गद्दियाँ काबुलसे नेपाल तक फैली हुई है। इन्होने भी कुछ रचनाएँ की है।

सन्तोकी यह परम्परा बराबर चलती आई है। तुकाराम औघडपन्थी सन्त ही थे। सन्तोके चामत्कारिक ढँगलो की बातें भी सुनी जाती हैं। राधास्वामी सम्प्रदायवाले भी सन्त ही कहे जाते है। किन्तु ये हिन्दू-धर्म-शास्त्रोसे प्रायः अनभिज्ञ होते थे और जैसा कि हम पहले कह आए है इनका अध्ययन भी अधिक नहीं था इसलिये इनमे काव्य-तत्त्व ढूँढ़ना व्यर्थ है।

५

अवधी साहित्य

आजकी नागरीको छोड़कर राजस्थानीके पश्चात् सबसे व्यापक भाषा अवधी रही है। आज जिस प्रदेशको हम अवध कहते हैं उसके अतिरिक्त बघेलखण्ड और छत्तीसगढमे भी यह थोडे-बहुत परिवर्तनोके साथ बोली जाती है। अवधी और बघेलीमे कोई भी अन्तर नहीं है किन्तु छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़ियाका थोडा-थोडा प्रभाव दिखाई पड़ता है। अवधीके दो रूप मिलते है—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊसे कन्नौज तक बोली जाती है। इस प्रकार ब्रजभाषाके निकटतक पहुँच जानेके कारण यह उससे प्रभावित हुई है। पूर्वी अवधीका क्षेत्र अयोध्यासे गोंडेतक और इलाहाबादके दक्षिण तक चला गया है।

पूर्वी और पश्चिमी अवधीका अन्तर स्पष्ट करनेके लिये हम दो उदाहरण दे रहे हैं—

१. सर्वनाम

कौन : **के** (पूर्वी अवधी), **को** (पश्चिमी अवधी)

जो : **जे** (पूर्वी अवधी), **जो** (पश्चिमी अवधी)।

वह : **से** (पूर्वी अवधी), **सो** (पश्चिमी अवधी)

२. क्रियापद

ब्रजभाषाके समान पश्चिमी अवधीमे भी क्रियाका रूप 'नान्त' रहता है जब कि पूर्वी अवधीमे अन्तमे 'ब' लगता है—आवन, जान, करन (पश्चिमी अवधी), आउब, जाब, करब (पूर्वी अवधी)।

अवधीकी विशेषताएँ

१. अवधीकी विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कर्ता : (आकारान्त शब्दोमे सकर्मक क्रियाके साथ)। कर्म : के, कॉ, कहँ। करण : से, सन, सौ। सम्प्रदान : के, कॉ, कहँ। अपादान : सें तें, सेंती, हुँत। सम्बन्ध : कर (क), केर, कै (स्त्रीलिंग)। अधिकरण : मे, मॉ, महँ, पर।

२ विशेषणोका लिंग विशेष्यके अनुसार परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि बोलचालमें यह बहुत स्पष्ट नहीं रहता है किन्तु लिखनेमे इसका ध्यान रक्खा ही जाता है—ओकर, ओकरि, ऐस, ऐसि।

३. सर्वनामोके रूप इस प्रकार चलते हैं—**मै** : मै, मोर, हम, हमार। **तू** : तै, तोर, तूँ, तोहार। **यह** : ई, एकर, एहिकर, इन, ए, इनकर, इनकेर। **वह** : ऊ, वै, ओकर, ओहिकर, उन, ओन, ओनकर, ओनकेर। **जो** : जो, जे, जौन, जेकर, जेहिकेर, जे, जिनकर, जिनकेर। **सो** : सो, से, तौन, तेकर, तेहिकेर, ते, तिनकर, तिनकेर। **कौन** : को, के, कौन, केकर, केकरे, को, के, किनकर, किनकेर।

४. क्रियाओके रूप इस प्रकार चलते हैं—

(क) अकर्मक क्रिया—मैं हूँ (वर्तमानकाल)

पुरुष	एकवचन पुं०	एकवचन स्त्री०	बहुवचन पुं०	बहुवचन स्त्री०
उत्तम पुरुष	हौ, बाट्यो, अहौ	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन, अहिन
मध्यम पुरुष	हए, बाटे, बाटिस, अहिस, अहै, अहसि	हइस, बाटिस, अहिस	हौ, बाट्यौ, अहौ, अहेव, अह्यौ, अह, अहे,	हइउ, बाटिउ, अहिव
प्रथम पुरुष	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटैं, अहैं, हैं, बाटैं,	बाटीं, अहैं, बाटिन

मै था (भूतकाल)

पुरुष	एकवचन पुं०	एकवचन स्त्री०	बहुवचन पुं०	बहुवचन स्त्री०
उत्तमपुरुष	रह्यो,	रहिउँ	रहे,	रहे, रहिन
मध्यमपुरुष	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो,	रहिउ
प्रथमपुरुष	रही	रही	रहेन, रहिन, रहे	रहा, रहिन

मै रहूँगा (भविष्यत्काल)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष	रहिहौ	रहब
मध्यमपुरुष	रहिहौ	रहिहौ
प्रथमपुरुष	रहिहै	रहिहैं

(ख) सकर्मक क्रिया (देखना)

वर्तमानकाल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	देखौं	देखी
मध्यमपुरुष	देखु, देखिस	देखौ
प्रथमपुरुष	देखै	देखैं

भविष्यत्काल

उत्तमपुरुष	देखबूँ, देखवौ, देखिहौं	देखब, देखिहैं
मध्यमपुरुष	देखिबे, देखिहैं	देखबो, देखिहौ
प्रथमपुरुष	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूतकाल

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उत्तमपुरुष	देख्यो,	देखिउँ	देखा, देखिन	देखा, देखिन
मध्यमपुरुष	देखे, देखिस, देखेसि	देखिस, देखे, देखिसि, देखी	देखेन, देख्यो	देखेन देखेउ, देखी
प्रथमपुरुष	देखेस, देखिस, देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखिन, देखेन	देखी, देखिनि

संकेतार्थ भूत

उत्तमपुरुष	देखत्यौ	देखतिउँ	देखित,	देखित
मध्यमपुरुष	देखते, देखतिस	देखते देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
प्रथमपुरुष	देखत	देखति	देखतेन, देखतिन	देखतिन

५ विकारी क्रियाओंमे **जाब** का भूतकालिक कृदन्त ग, गा, गय, गइ, गया, गई हाता है। इसी प्रकार हाब का भ, भा, भय, भइ, भवा, भई होता है।

६ करव, देब, लेब आदिका भूतकालिक कृदन्त कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह होता है जिनसे किहिस, दिहिस, लिहिस आदि रूप बनते हैं।

७. जिन क्रियाओंके धातु-रूपका अन्तिम वर्ण स्वर होता है उनमे '**व**' प्रत्यय लगता है '**ब**' नहीं, जैस चलाया।

अवधीका साहित्य

अवधीका अधिकाश साहित्य प्रबन्ध या कथा काव्यके रूपमे ही है। जहाँ अवधीमे अधिकतर प्रबन्ध काव्योकी रचना हुई है वहाँ ब्रजभाषामे मुक्तक काव्यकी। अवधीकी प्रकृति भी कथा-काव्यके अधिक अनुकूल है। सूफी सम्प्रदायवालोकी सभी रचनाएँ अवधीमे ही हैं। उन्होने रूपक-प्रबन्धका आश्रय लेकर ऐतिहासिक या कल्पित कथाओ-द्वारा अपने मतका प्रचार किया। सूफियोने हिन्दुओके घरोमे प्रचलित इस प्रकारकी अनेक कथाओको लेकर उनमे आवश्यकतानुसार हेरफेर करके अपने मतका प्रचार करनेके उद्देश्यसे उन्हे प्रबन्ध काव्यका रूप दिया। इसीसे उनकी रचनाएँ कुछ लोगोमे अधिक प्रचलित हुई। इन प्रबन्ध काव्योके लिये सूफियोने दोहे-चौपाईका क्रम ग्रहण किया।

अवधीकी सबसे प्राचीन रचना अबतक ईश्वरदास-कृत **सत्यवती-कथा** (१६ वी शताब्दी) मानी जाती थी किन्तु इधर जो खोज हुई है उससे ज्ञात होता है कि मुल्ला दाऊदने सवत् १४२७-२८ मे **चदायन** नामक एक कथा-काव्यकी रचना की थी जिसकी एक खडित प्रति **मनेरशरीफ खानकाह** पुस्तकालयमे मिली है। इसके अतिरिक्त ईश्वरदास की ही रची हुई दो और रचनाएँ **अंगदपैज** और **भरतमिलाप** का भी विवरण मिला है। ईश्वरदासकी रचनाएँ १६वीं शताब्दीकी हैं। इसके पश्चात् तो अवधीमे साहित्य-रचनाका उदाहरण बराबर मिलता है जिसका क्रम आजतक चला आया है। अवधीका उत्कर्ष-काल १६वीं और १७वीं शताब्दी है। इस बीच ही जायसीका **पद्मावत** और तुलसीका **रामचरित मानस** रचा गया।

अवधीके प्रबन्ध-काव्य

अवधीके प्रबन्ध काव्य दो प्रकारके पाए जाते हैं—पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानोके आधारपर और २. कल्पित कहानियोके

आधारपर। इनमेसे हिन्दू कवियोकी सब रचनाएँ पौराणिक या ऐतिहासिक कथाओको आधार बनाकर चली हैं तथा सूफी कवियोकी (जिनमे प्रायः सभी मुसलमान है) रचनाएँ प्रायः कल्पित कहानियोको आधार बनाकर चली है। अतः हम इन्हे **चरित काव्य** और **रूपक-काव्य** इन दो श्रेणियोमे बॉट सकते हैं।

चरित काव्य

ऊपर कहा जा चुका है कि **सत्यवती कथा**के अतिरिक्त ईश्वरदासकी दो और रचनाऍ मिली हैं। सत्यवती कथाका आरम्भ तो पौराणिक ढंगसे होता है किन्तु आगे चलकर वह कल्पित कथाका रूप ग्रहण कर लेती है। **अंगदपैज** और **भरतमिलाप** निश्चय ही पौराणिक कथाएँ हैं। उनकी कथा उनके नामसे ही स्पष्ट है। इसके पश्चात् कालक्रमसे अवधीका जो चरित-काव्य आता है वह है गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस, जानकीमगल, पार्वतीमंगल, रामलला नहछू और बरवै रामायण।

गोस्वामी तुलसीदास

कविकुल कमलदिवाकर, हिन्दी-काव्यगगनके सूर्य, कलिके वाल्मीकि, कलियुगमे रामकथाके एकमात्र विस्तारक और उन्नायक भक्त-चूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजीका प्रादुर्भाव हिन्दू जाति, वर्णाश्रम धर्म और हिन्दी भाषाके लिये भगवान्की ओरसे वरदानके रूपमे ही हुआ। गोस्वामीजीने अपनी रचनाओके माध्यमसे रामके लोक मगलकारी पावन चरितका आदर्श उपस्थित करके म्रियमाण हिन्दू जातिकी धमनियोमे नवरक्तका सचार किया। रामके लोकसग्रही, लोकरजक चरितने मुमूर्षु हिन्दुओको कर्त्तव्य-पथकी ओर अग्रसर होनेके लिये प्रवृत्त किया। मुसलमानोके अत्याचारोसे त्रस्त और दलित हिन्दू समाज कोई आश्रय न पाकर नैराश्यकी अवस्थामे पडा हुआ था। गोस्वामीजीका ही यह कौशल था कि उन्होने यह अवस्था दूर की और हिन्दुओको उठ खडे होनेका सामर्थ्य प्रदान किया।

गोस्वामीजीका जीवन-वृत्त

गोस्वामीजीका जन्म कब और कहाँ हुआ इस सम्बन्धमे आजतक विवाद चल रहा है। कुछ लोग उन्हे सोरोका निवासी सिद्ध करनेका भी प्रयत्न कर चुके है। उनका तर्क इस दोहेपर आधृत है—

> **मै पुनि निज गुरुसन सुनी, कथा सो सूकर खेत।**
> **समुझी नहीं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥**

कुछ लोग उन्हे अयोध्याका रहनेवाला मानते है। उनका तर्क यह है कि गोस्वामीजीकी रचनाओमे जिस प्रकारकी अवधीका प्रयोग हुआ है वह अयोध्याके आसपासकी ही है। किन्तु सर्वमान्य निर्णय बाँदा ज़िलेके राजापुर ग्रामके ही पक्षमे है।

गोस्वामीजीके जन्म-संवत्‌के सम्बन्धमे भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। **गोसाईं चरित** और **तुलसी चरित**मे उनका जन्म-सवत् १५५४ दिया हुआ है। इन दोनो पुस्तकोकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमे विद्वानोमे मतभेद है। इनमे दिए हुए कतिपय वर्णन परम्परासे प्रचलित जनश्रुतियोसे मेल नही खाते। इसीलिये लोगोने सवत् १५५४ की प्रामाणिकतामे भी सन्देह किया है। मीरजापुरके श्रीरामगुलाम द्विवेदीने गोस्वामीजीका जन्म सवत् १५८९ माना है। रामनगरके चौधरी छुन्नीसिहके यहाँ गोस्वामीजीके समकालीन श्रीकृष्णदत्त मिश्रकी रची **गौतम चन्द्रिका** नामकी एक पोथीके कुछ अश है जो उन्होने बहीपर उतार रक्खे है। यह गौतम-चन्द्रिका दोहे-चौपाइयोमे है और इसमे उक्त मिश्रजीने अपने वश-परिचयके प्रसगमे गोस्वामीजीके सम्बन्धमे भी पर्याप्त विवरण दिया है। उससे गोस्वामीजीके सम्बन्धमे कुछ नई बातें प्रकाशमे आई है। गौतम-चन्द्रिकाके अनुसार गोस्वामीजी सवत् १६८० की श्रावण कृष्णा तीजके दिन ८० वर्षकी आयुमे साकेतवासी हुए। इस विवरणके अनुसार उनका जन्म संवत् १६०० ठहरता है। किन्तु अभी इस पोथीके

सम्बन्धमें निश्चयात्मक रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। एक ही बात निश्चित है कि गोस्वामीजीका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमीको हुआ और उनका देहावसान सम्वत् १६८० की श्रावण कृष्णा तीजको काशीमें हुआ जैसा कि इस दोहेसे प्रकट है—

सवत् सोलह सौ असी, असी गगके तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

गोस्वामीजीके सम्बन्धमें यह परम्परासे प्रसिद्ध है कि वे पत्यौजाके पराशर गोत्रीय दूबे ब्राह्मण थे—'तुलसी पराशर गोत दूबे पतियौजाके।' यह भी प्रसिद्ध है कि उनके पिताका नाम आत्माराम तथा माताका हुलसी था। हुलसी नामके प्रमाणके सम्बन्धमें रहीमका यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी-सो सुत होय॥

तुलसीदासजीके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे अभुक्त मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे जिससे पिताने उन्हें त्याग दिया था। इसका प्रमाण उनकी इन उक्तियोंसे भी मिलता है—

१. **मातु पिता जग जाइ तज्यो।** (कवितावली)

२. **जननि जनक तज्यो जनमि।**

३. **तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिताहू।** (विनयपत्रिका)

कहा जाता है कि पिताकी इस उपेक्षा और त्यागके कारण माताने उनके पालन-पोषणका भार अपनी दासी मुनिया पर छोड़ा। मुनिया बालकको लेकर अपनी ससुराल चली गई। मुनियाकी मृत्युके समय बालक पाँच वर्षका था। पिताने जब उस समय भी उसे रखना स्वीकार न किया तब वह मारा मारा फिरने लगा। अन्तमें नरहरिदास नामके एक महात्माने उसपर अनुग्रह करके उसे अपने साथ रख लिया। ये महात्मा गोंडा जनपदके अन्तर्गत 'सूकर क्षेत्र' (सोरो नहीं) के

रहनेवाले थे, जहाँ वे बालकको लिवाते गए। वहीं गुरुसे तुलसीदासजीने रामकथा सुनी। इसके पश्चात् गोस्वामीजी अपने गुरुजीके साथ काशी चले आए और पचगगाघाटपर शेष सनातनजीसे पन्द्रह वर्ष-तक शास्त्र, काव्य, इतिहासादिका अध्ययन करते रहे। इसके अनन्तर गोस्वामीजी राजापुर लौट गए और वाल्मीकि रामायणकी कथा कहकर निर्वाह करने लगे। वहीं भारद्वाज-गोत्री एक ब्राह्मणने अपनी कन्या इन्हे ब्याह दी। अपनी पत्नीमे गोस्वामीजी इतने अनुरक्त थे कि एक दिन जब इनकी पत्नी मायके चली गई तो ये भी उनके पीछे-पीछे वहाँ जा पहुँचे। इसपर क्षुब्ध होकर उन्होने कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेमको, कहा कहौ मै नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव भीति॥

इसी बात पर गोस्वामी जी को विराग हुआ और वे गृहत्याग करके काशी, अयोध्या, चारो धाम तथा अन्य तीर्थोंकी यात्रा करते हुए कैलास-मानसरोवर तक घूम आए। वहाँसे लौटकर उन्होने सवत् १६३१ की रामनवमीको अयोध्यामे **रामचरित मानस**की रचना आरम्भ की जो ढाई वर्षमे पूर्ण हुई। 'मानस'के कुछ अश अयोध्यामे और कुछ काशीमे रचे गए थे।

गौतम चन्द्रिकाके अनुसार गोस्वामीजी २८ वर्षकी अवस्थामे तीर्थाटनके लिये निकले और ३१ वर्षकी वयमे अयोध्या आकर मानसकी रचनामे जुट गए। 'सूकर खेत'के सम्बन्धमे उसमे उल्लेख है कि वह घाघरा, और सरयूके सगमपर है। शाडिल्य ऋषिका वहाँ आश्रम है और नरहरि स्वामी शाडिल्य गोत्रीय थे भी।

गोस्वामीजीके स्नेहियो और मित्रोकी एक लम्बी सूची गौतम-चन्द्रिकामे दी हुई है। रहीम और नाभाजीसे उनका स्नेह-सम्बन्ध था।

मीरासे भी उनका पत्र-व्यवहार हुआ था। किन्तु उनके सबसे घनिष्ठ मित्र थे काशीमे भदैनीके टोडर या तोडर जिनके निधनपर गोस्वामीजीने चार दोहे कहे हैं। गोस्वामीजीने नरकाव्य लिखा ही नहीं। अनन्य मित्रके शोकमे इन चार दोहोके रूपमे उनके भावोका उद्रेक हुआ था।

गोस्वामीजीकी रचनाएँ

रामचरित-मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, दोहावली, कवितावली, रामाज्ञाप्रश्न, रामलला-नहछू, पार्वती-मगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, कृष्ण-गीतावली और वैराग्य-सदीपिनी ही गोस्वामीजीकी प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमे रामचरित-मानस, विनय-पत्रिका, गीतावली, कवितावली, और रामाज्ञाप्रश्न तो बडे ग्रन्थ हैं और शेष सात छोटे।

रामचरित-मानसकी रचना गोस्वामीजीने सबसे पहले की। उसके प्रारम्भ करनेकी तिथि उन्होने स्वय मानसमे इस प्रकार दी है—

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नवमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

यह प्रसिद्ध है कि उस दिन प्रायः वैसा ही योग उपस्थित था जैसा कि भगवान रामके जन्मके दिन था। मानसकी रचनामे दो वर्ष सात महीने छब्बीस दिन लगे। सवत् १६३३ के मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षमे राम-विवाहकी तिथिके दिन ग्रन्थकी रचना पूर्ण हुई। यह पूरा ग्रन्थ दोहे, चौपाई, छन्द, सोरठा पद्धतिपर अवधी भाषामें रचा गया है। रामचरित-मानसकी भाषा सस्कृतकी कोमलकान्त पदावलीसे सरस, भावमय और मनोमुग्धकारी हो गई है। गोस्वामीजी सर्व-शास्त्र पारगत विद्वान थे अतः उनकी शब्द योजना साहित्यिक और संस्कृत-निष्ठ है। रामचरित मानसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि यह प्रबन्ध काव्य होनेके साथ-साथ नाटक के रूपमे रामलीला के लिये भी व्यवहृत

होता है, स्तोत्रके रूप मे भी पाठ किया जाता है, गेय काव्य भी है और इसके कुछ दोहे तथा कुछ चौपाइयाँ मन्त्रके रूपमे भी जपी जाती हैं। ये विशेषताएँ ससारके किसी काव्यमे भी नहीं है।

'मानस' के अतिरिक्त बरवैरामायण, रामलला-नहछू, जानकी-मगल, पार्वती-मगल, दोहावली, रामाज्ञाप्रश्न और वैराग्य-पदीपिनीकी रचना अवधीमे हुई है। विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली और कृष्ण गीतावली व्रजभाषामे रची गई है।

बरवै रामायण छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमे बरवै छन्दमे मुक्तक पदोमे ामकथा कही गई है। कहा जाता है कि अवधीके इस सर्व प्रिय छन्दमे पने मित्र रहीमके अनुरोध-पर गोस्वामीजीने रामकथा कही। **ामलला-नहछूमे** बीस सोहर छन्दोमे रामके किसी मगल सस्कारपर हछूका वर्णन है। **जानकी मगल** और **पार्वती मगल** मे भी बरवै-ामायण और रामलला-नहछूकी ही भाँति ही ठेठ अवधीकी मिठास मलती है। ये ग्रन्थ ही इस बातके प्रमाण है कि कवि अवधीके क्षेत्रका नेवाला है। जानकी मगलमे सीताजीके और पार्वती-मगलमे पार्वतीजीके ावाहका वर्णन है। इनकी भाषामे इतना प्रवाह है कि शब्द एकके श्चात् एक फिसलते चले आते है। एक उदाहरण लीजिए—

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेस सुकबि स्रुति सन्त सरलमति॥
हाथ जोड़ करि बिनय सबहि सिर नावौ।
सिय रघुबीर बिवाह जथामति गावौ॥

दोहावलीमें सूक्ति पद्धतिपर रचे हुए पाँच सौसे ऊपर दोहे है नमे नीति, भक्ति तथा नाम-माहात्म्यका वर्णन है। इसमे प्रायः डेढ सौ हे 'मानस' के ही हैं। बहुतसे और दोहे भी अन्य ग्रन्थोमे पाए ते हैं। ज्ञात होता है कि इनका सग्रह अन्तमे किया गया।

रामाज्ञाप्रश्नके सम्बन्धमे प्रसिद्ध है कि अपने मित्र गगाराम ्योतिषीके अनुरोध पर गोस्वामीजीने इसकी रचनाकी। इसमे सात

सर्ग है। प्रत्येक सर्गमे सात-सात दोहोके सात सप्तक हैं। इसमे भी पूरी रामकथा कही गई है। जानकी मगल की ही भाँति इसकी राम-कथामे भी 'मानस' से यह अन्तर है कि इसमे परशुरामका आगमन वाल्मीकिकी राम कथाके अनुसार तब होता है जब बारात मिथिलासे अयोध्याके लिये प्रस्थान कर चुकती है। इसमे शकुन-विचार किया गया है। इसके भी अनेक दोहे 'मानस'से लिए गए हैं।

वैराग्य संदीपिनी दोहे चौपाइयोमे रचा गया लघुकाय ग्रन्थ है जिसमे सन्त महिमाका वर्णन है। इसकी शैलीसे यह नहीं प्रतीत होता कि यह गोस्वामीजीकी ही रचना है।

गीतावलीमे पूरी रामकथा सात काण्डोमे अनेक राग-रागिनियोके निर्देशके साथ गेय पदोमे कही गई है। इसके आरम्भमे रामका बालरूप वर्णन और अन्तमे रामरूप वर्णन अत्यन्त मनोरम हुआ है। इसके अनेक पद तो 'सूरसागर' और गीतावलीमे केवल 'राम श्याम' और 'सूर तुलसी' के अन्तरके अतिरिक्त ज्योंके त्यो आए हैं। इसकी रचना शुद्ध, प्रौढ और साहित्यिक ब्रज-भाषामे हुई है।

कवितावलीमे गग आदि कवियोकी कवित्त-सवैया पद्धतिपर सात काण्डोमे रामकथा कही गई है। ब्रजभाषामे रचे गए इस ग्रन्थकी भाषा बडी ओजस्विनी है। **हनुमानबाहुकको** कुछ लोग इसीके अन्तर्गत मानते है और कुछ लोग पृथक्। ऐसा प्रतीत होता है कि समय समयपर रामकथा सम्बन्धी विविध प्रसग जो गोस्वामीजीकी वाणीसे विविध छन्दोमे मुखरित होते रहे उनका सग्रह आगे चलकर उन्होने ही या उनके भक्तोने कर दिया और उसका नाम कवितावली या कवित्त-रामायण रख दिया।

कृष्ण-गीतावलीकी रचना वृन्दावन यात्राके अवसरपर शीलवश हुई कही जाती है। इसमे श्रीकृष्ण-सम्बन्धी ६१ अत्यन्त सरस और भावपूर्ण पद है।

विनयपत्रिकाकी गणना गोस्वामीजीके मुख्य ग्रन्थोमे की जाती है। कुछ लोग उसे स्फुट पदोका संग्रह मानते हैं किन्तु जिस प्रकार और जिस क्रमसे इसकी रचना हुई है उसे देखते हुए इसे स्फुट पदोका संग्रह नहीं कहा जा सकता। विनयपत्रिकाके सम्बन्धमे प्रसिद्ध है कि जब तुलसीदासजीने 'रामनाम' का व्यापक प्रचार करके जीवोके उद्धारका मार्ग प्रशस्त करना आरम्भ किया तो कलि घबराया और उसने उन्हे त्रस्त करना प्रारम्भ किया। गोस्वामीजीने हनुमानजीसे सारी स्थिति कही। इसपर हनुमानजीने कहा कि भगवानकी सेवामे प्रार्थनापत्र लिखिए तो मै उसे उनके पास पहुँचा दूँगा और तब सारा कष्ट निवृत्त हो जायगा। तब गोस्वामीजीने यह 'पत्रिका' लिखी जिसपर भगवान् रामने सही की अर्थात् उसे स्वीकार किया। जो पत्रिका गोस्वामीजीने लिखी उसका ठीक वही स्वरूप है जो किसी राजाके पास भेजनेके लिये प्रार्थना-पत्रका होता है। मंगलमय गणनाथकी प्रार्थना तो आवश्यक है ही, उसके पश्चात् क्रमसे अनेक देव-देवियोकी प्रार्थना की गई है। काशी और चित्रकूटकी प्रार्थनाके अनन्तर हनुमानजीकी प्रार्थना तथा तीनो भाइयोकी स्तुति की गई है। यह सब हो चुकनेपर जगदम्बा जानकीसे निवेदन किया गया है कि—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥

और फिर ४३वें से ४८वें पदतक रामकी स्तुति है। इसके पश्चात् अनेक प्रार्थनाओके अनन्तर ६४वें पदसे २७१वें पदतकके बीच भगवान्की महिमा, अपनी दीनता, कलिजन्य दुःखादिका वर्णन करके २७२वें से २७६वें पदतक बाल्यावस्थासे तबतकके दुःख बतलाए गए हैं और भगवान्से प्रार्थना की गई है कि आप ही मुझे अपनाइए। २७७वें पदमे रामसे प्रार्थना की गई है कि आप मेरी पत्रिका स्वयं पढें। २७८वें पदमे हनुमान आदिसे सभामे पत्रिका उपस्थित करनेका निवेदन किया गया है जिसे लक्ष्मणजीने सबकी रुचि जानकर

भगवानके सामने उपस्थित कर दिया। अन्तिम पदमे भगवान् द्वारा पत्रिका-पर सही की बात कही गई है। इस प्रकार यह पत्रिका एक प्रकारका खण्ड काव्य है जिसमे पत्रका पूरा इतिहास अत्यन्त प्रौढ ब्रजभाषामे दिया गया है। हिन्दीका यह सर्वप्रथम पत्र है जो अपने ढगका निराला है।

गोस्वामीजीकी काव्य-भाषा

जिस समय गोस्वामीजीने काव्य-क्षेत्रमे प्रवेश किया उस समय अवधी और ब्रज-भाषा दोनोंका प्रयोग काव्य-जगत्मे भली भाँति होने लगा था। काव्य रचनाके लिये ब्रजभाषाका प्रयोग किसी न किसी रूपमे पहलेसे ही चला आ रहा था। किन्तु वह भाषा लोक-व्यवहारकी भाषासे दूर पड गई थी। सूरदासजीने उस लोक-व्यवहारकी भाषाको साहित्यिक भाषाके मेलमे लाकर काव्य-भाषाका एक नया चलता रूप प्रदान किया। आगे काव्य रचनाके लिये यही भाषा आदर्श बनी। उसी प्रकार अवधीका प्रयोग सूफी कवियोने भी पर्याप्त रूपसे किया था। गोस्वामीजीने अपने काव्योमे इन दोनोका प्रयोग किया और इस सुन्दरतासे कि उन्होने दोनो भाषाओको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया। सूरके सागरमे ब्रजभाषाका जो माधुर्य है उससे भी बढ़कर माधुर्य गोस्वामीजीकी ब्रज भाषाकी रचनाओमे मिलता है और अवधीका जो माधुर्य हमे जायसी आदिमे मिलता है उससे बढकर गोस्वामीजीकी रचनाओमे मिलता है। इतना ही नहीं, गोस्वामीजीने अपनी रचनाओमे इन दोनो भाषाओको माँजकर अधिक परिष्कृत, कोमल और मधुर बना दिया है। दोनो भाषाओके शब्द और अर्थपर समान रूपसे अधिकार रखनेवाला ऐसा दूसरा कवि नहीं हुआ। अवधी और ब्रज भाषाके अतिरिक्त वे सस्कृतके प्रकाण्ड पडित और फारसीके भी मर्मज्ञ थे।

गोस्वामीजीकी रचना-पद्धति

गोस्वामीजीने पाँचो प्रकारकी काव्य-रचना-पद्धतियोका प्रयोग किया : १. चारण कवियोकी छप्पय पद्धति, २. विद्यापति और सूरकी

गीत-पद्धति, ३ सूफियोकी दोहे-चौपाईवाली पद्धति, ४. सन्तोकी दोहा-पद्धति, जो नीति और उपदेशके लिये प्रयुक्त होती थी और ५. गग आदिकी कवित्त-सवैया-पद्धति । उन्होंने अवधेशकी मुख्य कथा अवधकी भाषामे और कथाकाव्यके लिये अवधकी भाषामे प्रचलित दोहे—चौपाईकी पद्धतिपर लिखी। यही ग्रन्थ (रामचरित मानस) उनकी सभी रचनाओका सिरमौर हुआ। शीलवश लिखी गई कृष्ण-गीतावलीको छोड दें तो गोस्वामीजीने जो कुछ लिखा है वह अपने आराध्य भगवान् रामकी कथाके ही प्रसगमे। रामकी यह कथा अनेक छन्दो और काव्यकी प्रचलित सभी शैलियोमे गोस्वामीजीने इस कौशलसे कही है कि सभी शैलियोपर उनका समान अधिकार प्रतीत होता है। इस क्षेत्रमे भी उनकी समताका कोई कवि आजतक हिन्दीमे नहीं हो पाया है। गोस्वामीजीकी रचनाओसे हम इन पाँचो शैलियोके उदाहरण दे रहे है—

(१) **दोहे चौपाई वाली पद्धति**—गोस्वामीजीकी सर्वश्रेष्ठ रचना रामचरित मानस इसी पद्धतिपर या इसी काव्य-शैलीमे है। मानसकी यह शैली इतनी प्रिय हुई कि व्यास लोग प्राय. सम्पूर्ण उत्तर भारतमे मानसकी ही कथा कहने लगे। इसके दो फल हुए—एक तो रामकी कथाका व्यापक प्रचार हुआ और लोगोने रामके आदर्शमय तथा मर्यादापूर्ण जीवनसे शिक्षा लेकर नैराश्य-जन्य भावनासे अपना त्राण किया एव जीवनके उच्चादर्श ग्रहण किए। दूसरे सन्तोकी अटपटी बानियोसे सामाजिक व्यवस्थाके विशृखल हो जानेकी जो भयावनी आशका उत्पन्न हो गई थी वह दूर हो गई। गोस्वामीजीने मानसकी रचना 'भाषा'मे तो अवश्य की किन्तु उसमे सस्कृतकी कोमल-कान्त-पदावलीका सहारा लिया जिससे वह भाषा पुष्ट और साहित्यिक हो गई। 'रामचरित-मानस' इसीलिये आज तक लोगोका कण्ठहार होता चला आया है और जैसे-जैसे समय बीतता जाता है

उसकी लोक प्रियता बढती ही जाती है। नीचे संस्कृत-निष्ठ और ठेठ दोनो प्रकारकी अवधीके उदाहरण दिए जाते हैं—

१ अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू।
सुकृत संभुतन बिमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुनगन बस करनी॥
२ कहहि झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि कहउँ मैं माई।
हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिंत मौन रहब दिन राती॥

(२) गेयपदो वाली **गीत-पद्धतिपर** गोस्वामीजीकी रचनाएँ कम नहीं है। विनय-पत्रिका और गीतावली जैसी दो बडी-बड़ी पोथियाँ इसी शैलीमे है। सन्तोने भी इस शैलीमे पर्याप्त रचनाएँ की थीं किन्तु उनका भाषा-साहित्य-सम्बन्धो ज्ञान कुछ भी नहीं था। इसलिये उनकी रचनाएँ साहित्यकी दृष्टिसे विचार-योग्य नहीं हैं। विद्यापति और सूरने लोकमे चलती भाषामे मधुर, ललित और रसपूर्ण पदोकी रचना करके इस शैलीको परिपुष्ट किया। गोस्वामीजीने इस शैलीमे दो बडे बडे ग्रन्थ प्रस्तुत करके ब्रज भाषाको इस शैलीमे और भी माँज दिया। विनय-पत्रिकाके आरम्भमे जो संकृतनिष्ठ पदावली आई है वह कहीं नहीं मिलती। साथ ही वह रसके अनुकूल कहीं मधुर और कहीं ओजपूर्ण है। आगे चलकर पदोकी भाषा बहुत ही सरल हो गई है किन्तु उसका लालित्य एवं माधुर्य निरन्तर बना रहता है। गीतावलीके पद तो कहीं-कहीं अधिक मार्मिक और भाव-व्यंजक हैं। दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

१ कोसलेन्द्र नवनील कंजाभतनु, मदन-रिपु कंज हृदि चंचरीकं।
जानकी रवन सुख भवन, भुवनैक प्रभु समर भंजन परम कारुणीकं॥
२. जौ हौं मातुमते मह ह्वैहौं।
तौ जननी जगमे या मुखकी कहाँ कालिमा ध्वैहौं॥

(३) कवित्त-सवैया-पद्धतिपर गोस्वामीजीकी रचनाएँ हैं तो अल्प किन्तु रसानुकूल भाषाकी योजना अत्यन्त स्वाभाविक और आह्लाद-कारक है। दो उदाहरण लीजिए—

१. बर दंतकी पगति कुद कली अधराधर पल्लव खोलनकी।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलनकी॥
घुंघरारी लटै लटकै मुख ऊपर कुण्डल लोल कपोलनको।
निउछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउ लला इन बोलनकी॥

२. बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौ
लक लीलिबेको काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम बोथिका भरे है भूरि धूमकेतु
बीररस बीर तरवार सी उघारी है॥

(४) चारणोकी छप्पय-पद्धतिपर हनुमानबाहुकके कुछ छन्दोकी रचना बडी ही ओजस्विनी भाषामेकी गई है। कवितावलीका यह छन्द लीजिए—

डिगति उर्वि अतिगुर्वि, सर्व पब्बै समुद्रसर।
ब्याल बधिर तेहिकाल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकठ मुक्ख भर।
सुरबिमान हिम भानु सघटित होत परस्पर॥
चौंके बिरचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खड कियौ चड धुनि जबहि राम सिवधनु दल्यौ॥

(५) नीतिके उपदेशोवाला सन्तोकी सूक्ति पद्धति पर दोहावलीकी रचना हुई है। रामाज्ञा प्रश्नमे भी यही शैली ली गई है। दो उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

१. आवत ही हरखैं नही, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेह॥

२. अमिय गारि गारेउ गरल, नारि करी करतार।
प्रेम बैरकी जननि जुग, जानहिं बुध न गँवार॥

गोस्वामीजीका युग

जिस समय गोस्वामीजीका प्रादुर्भाव हुआ उस समय देशमे उन यवन शासकोका बोलबाला था जो यहाँ की सस्कृति ही मिटा देना चाहते थे। उनका भी शासन स्थिर न होनेसे और दिन रातके उनके पारस्परिक झगडोसे जनताका जीवन अशान्त और कष्टमय हो गया था। उधर सन्तोने अपनी अटपटी बानियोसे सारा सामाजिक जीवन ही विशृंखल कर डाला था। इसके पूर्व वज्रयानियोके वामाचारने हिन्दू समाजको जर्जर कर ही रक्खा था। जयदेव, विद्यापति और सूरने अपनी रचनाओसे हिन्दू-समाजका हृदय रसाप्यायित अवश्य किया परन्तु सामाजिक जीवनकी मर्यादा और उसकी विधिका कोई स्वरूप या आदर्श सम्मुख न रहनेसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय लोग नहीं कर पाते थे क्योकि कृष्णचरितके लोक-मगलमय, लोक-कल्याणकारी, लोकानुरजनकारी और लोक-संग्रही स्वरूपका आदर्श सामने नहीं आया। अत. रामके मर्यादापूर्ण जीवनका आदर्श उपस्थित करके गोस्वामीजीने यह कार्य पूर्ण कर दिया। यदि तुलसीदास न होते तो निश्चय ही हिन्दू समाज डूब गया होता। गोस्वामीजीने रामलीलाका व्यापक प्रचार करके रामके उदात्तचरित्रका लोक-जीवनमे व्यापक प्रचार कर दिया।

गोस्वामीजीका दार्शनिक पक्ष

गोस्वामीजी विशुद्ध रूपसे भक्त थे। उन्होने अपने सभी ग्रन्थोमे एकमात्र भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। मानसमें स्थान-स्थानपर इसे योगादिसे श्रेष्ठ इसलिये बताया गया है कि भक्त अपने आराध्यके प्रति जब आत्मसमपण कर देता है तब उसे और कुछ करना शेष नहीं रह जाता। फिर तो उसकी सब व्यवस्था, उसके योग-क्षेमका पूरा दायित्व आराध्यपर ही आ जाता है। अन्य उपासना-पद्धतियोंमें जहाँ स्खलित और विचलित हो जानेके अनेक अवसर होते हैं वहाँ भक्तके सामने इसका कोई भय नहीं होता। वह सदा निर्भय रहता है। 'कागभुशुण्डिने जिस उत्तम ढगसे भक्तिका प्रतिपादन किया है और

उसे श्रेष्ठतर साधन ठहराया है उसका खण्डन करके अन्य उपासना-विधियोको श्रेष्ठतम नहीं बताया जा सकता। ज्ञान और कर्मकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी भक्तिको उन्होने श्रेष्ठ बताया है और इस युगमे तो उसे ही एकमात्र साधन माना है—

कलि हरि-भजन न साधन दूजा।

तुलसीदासजीने रामका जो स्वरूप खडा किया है उसमे रामके जगदुद्धारक स्वरूपके कारण उनके प्रति पूज्य भाव सदा बना रहता है। इसी कारण उनका लोकरजनकारी रूप अधिक निखर आया है। यह विशेषता अन्य किसी कविमे नहीं मिलती। इस भावनासे प्रेरित होकर ही गोस्वामीजीने अपने पात्रोको सर्वत्र आदर्श रूपमे उपस्थित किया है, उनके शील, उनकी मर्यादा, उनके चारित्रिक वैशिष्ट्यका सदा ध्यान रक्खा है। ऐसे पात्रोके चरित्रका उत्कर्ष दिखानेके लिये कुछ हीन चरित्रवाले पात्र भी आए है जिनके आ जानेसे काव्यका सोष्ठव बढ गया है। शील और मर्यादाका ध्यान रखनेके कारण उन्होने शृगारका वर्णन भी कहीं अमर्यादित नहीं होने दिया है। सीताके रूप वर्णनमे एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसे पढ़कर कोई नाक-भौं-सिकोड सके। इसी प्रकार उमा-महेश्वर-विवाहके पश्चात् गोस्वामीजीने स्पष्ट लिखा दिया है—

जगत मातु पितु सभु भवानी।
तेहि सिंगार न कहौं बखानी॥

इसी प्रकार भरतके शीलका वर्णन करके गोस्वामीजीने उसे पराकाष्ठापर पहुँचा दिया है। इस प्रकारके किनने ही प्रसग मानसमें स्थान-स्थानपर भरे पड़े हैं।

मार्मिक स्थलोंका चित्रण

गोस्वामीजीकी सबसे बडी विशेषना मार्मिक स्थलोके चित्रणमे पाई जाती है। जहाँ भी ऐसे प्रसग आए हैं उनका वर्णन बहुत ही भावपूर्ण भाषामे किया गया है। जनककी फुलवारी, धनुष भगके पूर्व

और पश्चात् सीताकी मन.स्थिति, वन-यात्रा, भरतका प्रसग, रामके लौटते समय हनुमान और भरतका मिलन आदि ऐसे प्रसग हैं जो बरबस मनको खींच लेते है। रामके लौटनेके ठीक पूर्व भरतकी मनःस्थिति देखिए—

जौ करनी समुझै प्रभु मोरी। नहि निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

गोस्वामीजीका काव्यानुपात

अनेक कवियोमे देखा जाता है कि उनके काव्योमे अनुपातका ध्यान नहीं रहता। किसी प्रसगमे यदि वे किसी वस्तुका वर्णन करने लगते हैं तो उसका विस्तार इतना बढा देते है कि मूल कथाका रस ही समाप्त हो जाता है। प्रबन्ध-काव्यमे यदि अनुपातका ध्यान न रक्खा जाय तो वह व्यर्थ हो जाता है। गोस्वामीजीकी रामकथा (मानस) मे ऐसा दोष कहीं नहीं पाया जाता। उन्होने इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार, वर्णन, भावव्यजना और सवाद सबका इस प्रकार ध्यान रक्खा है कि कथाके प्रवाहमे कहीं भी व्याघात नहीं पडता। कोई भी वर्णन न तो लम्बा होने पाया है न न्यून।

रामकी कथाको रसपूर्ण बनाना उनका उद्देश्य था अतः न तो वे किसी प्रकारके चमत्कार-प्रदर्शनके फेरमे पड़े हैं और न शब्दोका रूप विकृत करनेके फेरमे। स्वाभाविक रूपसे जो कुछ जहाँ आता गया अपने आप खपता गया।

इस प्रकार हम देखते हैं गोस्वामीजी केवल हिन्दीके ही नहीं विश्वके सर्वश्रेष्ठ कवियोके मूर्धन्य है।

अवधीके अन्य कवि

गोस्वामीजीकी रचनाओके अतिरिक्त कुछ अन्य लोगोकी भी रचनाएँ आगे चलकर इस प्रकारकी मिलती हैं जिन्हे चरितकाव्यकी श्रेणीमे रक्खा जा सकता है। जौनपुरके जैन कवि बनारसीदास (१६४३ मे उत्पन्न) ने अवधीमे अपना जीवनचरित लिखा। इसका

नाम **अर्द्धकथानक** है। इसमे सवत् १६९८ तककी घटनाएँ दी हुई हैं। हिन्दीकी यह पहली आत्म-कथा है, इसलिये इसका अधिक महत्त्व है। १८वीं शताब्दीमे रचा हुआ सबलसिहका **महाभारत**, श्रीपति कृत **कर्णपर्व**, क्षेमकरण-कृत **कृष्णचरितामृत**, सहजराम-कृत **प्रह्लाद-चरित** और **रघुवश दीपक**, मुकुन्दसिह-कृत **नलचरित**, बुलाकी-नाथकृत **रामायण** साधारण कोटिकी रचनाएँ है। १९वीं शताब्दीमे झामदासने **श्रीरामायण**, सूरजदासने **राम रहारी** (लवकुश कथा), नवलदासने **भागवत दशम स्कन्ध**, बेनीबक्सने **हरिचन्दकथा**, मधुसूदन चौबेने **रामाश्वमेध** और सूरजदासने **रामजन्म** (विवाह तककी कथा) लिखा। २०वीं शताब्दीमे सहजरामने **रामायण** (सुन्दर काण्ड) लिखा। अभी कुछ दिन पूर्व श्रीद्वारकाप्रसाद मिश्रने दोहे-चौपाईकी पद्धतिमे अपना विशाल कथा-काव्य **कृष्णायन** प्रस्तुत किया है।

मधुसूदन चौबे

ऊपर जिन पुस्तकोकी सूची दी गई है उनमेसे दो-एकको छोडकर प्रायः सभी अप्रकाशित है। मधुसूदन-कृत **रामाश्वमेध** उत्तम काव्य है। मधुसूदनकी भाषा गोस्वामीजीकी भाषासे इतनी मिलती-जुलती है कि उसे रामचरित मानसका परिशिष्ट कहा जा सकता है। रामाश्वमेधकी कथाका आधार पद्मपुराण है। गोस्वामीजीके अनुकरणमे चौबेजीकी पर्याप्त सफलता मिली है। यद्यपि इसका प्रचार बहुत कम हो पाया किन्तु ग्रन्थ अत्यन्त उच्चकोटिका है। कुछ उदाहरण लीजिए—

सिय रघुपति पदकज पुनीता। प्रथमहि बन्दन करौं सप्रीता।
मृदु मजुल सुन्दर सब भाँती। ससिकर सरिस सुभग नखपाँती॥
चिन्तामणि पारस सुरधेनू। अधिक कोटिगुन अभिमत देनू।
जन मन मानस रसिक मराला। सुमिरत भजन बिपति बिसाला॥

मधुसूदन चौबे मथुराके रहनेवाले थे। इन्होने इस ग्रन्थकी रचना संवत् १८३९ मे की।

द्वारकाप्रसाद मिश्र

द्वारकाप्रसाद मिश्र मध्य प्रदेशके रहनेवाले हैं। रामायणके ढगपर उन्होने कई वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् **कृष्णायन** नामका एक महाकाव्य दोहे-चौपाईके क्रमसे कृष्णचरित पर लिखा। यह श्रीकृष्णके बिखरे हुए चरित्रोको एक सूत्रमे पिरोकर प्रबन्धके रूपमे लिखा गया है और भाषा और शैलीकी दृष्टिसे तुलसीके मानसकी 'परछाहीं पकड कर' चला है। इसमे एक ओर पुरानी परम्पराको विकसित करनेका प्रयास है, दूसरी ओर यह सम्मार्जित सस्कृतनिष्ठ भाषामे नवीन व्याख्या, विचार और अभिव्यक्तिसे युक्त है।

कृष्णायनकारने यह सिद्ध कर दिया है कि अवधीमे अब भी प्रबन्धत्व और चरित्र-सर्जनकी शक्ति उसी प्रकार मौलिक रूपसे विद्यमान है जिस प्रकार तीन चार सौ वर्ष पूर्व थी।

अबतक अवधीका रामत्व शील, शक्ति और सौदर्यका प्रतीक था किन्तु उसे कृष्णत्वने भोग और योग, राग और विराग, शक्ति और दया, उत्साह और पराक्रम, राजनीति और धर्मकी वह समन्वयकारी शक्ति दी जिससे साहित्यके छूटे हुए आदर्शोंका उद्बोधन हुआ। इसके कृष्ण विद्यापतिके रसिया, सूरके दैवी आरोपोसे पूर्ण अवतारी, रीतिकालके छैला और भागवतकारक परात्पर ब्रह्म ही नहीं वरन् महान् क्रान्तदर्शी कूट राजनीतिज्ञ, कुशल राजा, कर्मठ कर्मयोगी और लोकप्रिय महापुरुष भी हैं। अत्याचारोका विरोध एव दमन करनेके साथ ही साथ नाशमेसे निर्माण और प्रलयके पेटसे सृष्टिके अकुर निकालनेमे समर्थ युगके नेताके रूपमे प्रतिष्ठित हैं।

इस दृष्टिसे यह एक समन्वयकारी विशाल काव्यग्रन्थ है। इसमे कृष्णके कर्मयोगका विस्तार बाल्यकाल, यौवनकाल, एव प्रौढावस्थाके उचित वात्सल्य, प्रेम और नैतिक बलमे सन्धि बनाकर पत्थरको फोड़कर निकली हुई दूबके समान है।

सम्पूर्ण काव्यमे विकासात्मक, विचारात्मक एव भावात्मक तत्त्व भरे पडे हैं। इसमे प्रबन्धत्वके साथ मार्मिक जीवन घटनाओका सविस्तर गुम्फन है।

अध्यवसान या रूपक काव्य (ऐलेगरी)

अवधीके प्राप्त साहित्यमे काल-क्रमसे सबसे पहली रचना सूफी कवि मुल्ला दाऊद कृत **चन्दायन** हैं। इसके पश्चात् ईश्वरदासकी **सत्यवती कथा** है जो कल्पित कथाका आधार लेकर चली है। 'सत्यवतीकथा'मे पॉच-पॉच अर्द्धालियोपर एक दोहा है और ५८ वें दोहेपर पुस्तक समाप्त हो गई है। इसकी भाषा अयोध्याके आसपासकी ठेठ अवधी है।

आगे चलकर सूफी कवियोने यही क्रम ग्रहण किया। इस प्रकारकी सबसे पहली रचना कुतबनकी **मृगावती** (सवत् १५५८) है। इस कथाके द्वारा कविने प्रेममार्गके त्याग और कष्टका निरूपण करके साधकके भगवत्प्रेमका स्वरूप दिखाया है। इसके पश्चात् सवत् १६०२ मे मझनने **मधुमालती**की रचना की। मधुमालतीके वर्णन अपेक्षाकृत अधिक हृदयग्राही और विस्तृत हैं। कल्पना भी विशद है। किसी समय मधुमालती और मृगावतीका चलन अधिक था। बनारसीदासने भी इनकी चर्चा अपने अपने अर्द्ध कथानकमे की है।

जायसी

मलिक मुहम्मद जायसीका स्थान सूफी रचनाकारोमे सबसे प्रमुख है। उनकी भाषामे भी ठेठ अवधी (पूर्वी) की जो मिठास है वह कम कवियोमे पाई जाती है। जायसीके पूर्व सूफी कवियोने अपने मतका प्रचार करनेके लिये कल्पित कथा, अवधी भाषा और दोहे-चौपाईकी शैली अपना रक्खी थी। जायसीने भी यह सारा ढग अपनाया किन्तु प्रेमाख्यान लिखनेकी उनकी प्रणाली अन्य सूफी कवियोकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है तथा उसमे सूफी भावोका चित्रण

भी मनोरम है। जायसीने अपने पूर्वके पॉच प्रेमाख्यान काव्योकी चर्चा की है—स्वप्नावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती और मुग्धावती। उनमेसे मृगावती और मधुमालतीका ही पता चला है। जायसीके पश्चात् भी सूफी मतके प्रचारके उद्देश्यसे इस प्रकारके काव्य लिखे गए किन्तु इस क्षेत्रमे जो स्थान जायसीको प्राप्त है वह औरोको नहीं मिल सका।

जायसीका जीवनवृत्त

जायसीने अपना बहुत कुछ जीवनवृत्त अपने ग्रन्थोमे लिख दिया है। अपने जन्मस्थानके सम्बन्धमे उन्होने लिखा है—

जायस नगर धरम अस्थानू। नगर क नावॅ आदि उदयानू।

अपने जन्मकालके सम्बन्धमे **आखिरी कलाममें** इनका कहना है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

फिर आखिरी कलामका रचनाकाल उन्होने इस प्रकार दिया है—

नौसे बरस छतीस जो गए। तब एहि कथा क आखर कहे॥

इससे यह अर्थ निकलता है कि इनका जन्म हिजरी ९८ सौ सदीके पश्चात् हुआ। तीस वर्षकी अवस्थामे (९३६ मे) उन्होने कविता की। इस प्रकार वे ९०६मे उत्पन्न हुए। विक्रम संवत्के अनुसार यह समय लगभग **१५५५** मे पडता है।

पद्मावतके सम्बन्धमे जायसीने कहा है—

सन् नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा॥

इसके अनुसार २१ वर्षकी अवस्थामे उन्होने पद्मावतकी रचना आरम्भ की। किन्तु इस ग्रन्थके आरम्भमे शेरशाहकी प्रशसा है। इससे यह अनुमान होना है कि ग्रन्थ १९ २० वर्षोंकी लम्बी अवधिमें जाकर पूरा हुआ और शेरशाहवाला अश बादमे जोड दिया गया। जायसीकी मृत्युका काल ९४९ हिजरी लिखा है। इस प्रकार जायसीकी मृत्यु ४३ वर्षकी अवस्थामे हुई।

ये काने और कुरूप होनेके साथ ही कुछ ऊँचा भी सुनते थे। शेरशाह जब इन्हे देखकर एक बार हँसा तो इन्होने निर्भीकतापूर्वक कहा—'मोहिका हँसेसि कि कोहरहि' (मुझपर हँसे या मेरे बनानेवाले कुम्हार (ईश्वर) पर)। ये पहुँचे हुए फकीर माने जाते थे और इसीसे अमेठीके राजघरानेमे इनका बहुत सम्मान था। अमेठीसे दो मील दूर जगलमे ये रहा करते थे। वहीं इनकी मृत्यु भी हुई।

जायसीने अपने तीनो ग्रन्थोमे अपने गुरुका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चिश्ती सम्प्रदायके निज़ामुद्दीन औलियाकी शिष्य-परम्परामे थे। इसकी दो शाखाएँ थीं—एक सैयद अशरफ जहाँगीरकी और दूसरी वह जिसमे शेख मुहीउद्दीन हुए। इन्होने दोनो परम्पराओंको अपने गुरु रूपमे स्वीकार किया है।

जायसीकी रचनाएँ

जायसीके रचे ग्रन्थोकी सख्या बीस कही जाती है, किन्तु इनमे आज तीन ही उपलब्ध है—अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत।

अखरावटको सूफी तत्त्व मंजूषा कह सकते है। इसमे वर्णमालाके एक एक अक्षरको लेकर ईश्वर, सृष्टि, जीव, ससारकी असारता, ईश्वरीय प्रेम और ईश्वर-प्राप्तिके साधनोका वर्णन बोध-सुलभ रीतिसे किया गया है।

आख़िरी कलाममे कयामतके दिन (अन्तिम निर्णयके दिन) का वर्णन है।

पद्मावत ही वस्तुतः उनको अमर बनानेवाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थसे विदित होता है कि जायसीको प्रेमकी पीरसे भरा कवि-हृदय मिला था। इसमे सात अर्द्धालियोके पश्चात् एक दोहेका क्रम रक्खा गया है। इसकी रचना मसनवी (दो-दो चरणोकी तुकान्त रचना) पद्धतिपर हुई है। आरम्भमे ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफ़ाओ और तत्कालीन राजा तथा गुरुकी

स्तुति की गई है। इसके पश्चात् कथाका प्रारम्भ किया गया है जो सर्गबद्ध न होकर प्रसगबद्ध है। इसमे चित्तौडकी महारानी पद्मिनीको आधार बनाकर एक कल्पित कथाका रूपक खडा करके उस कथाके माध्यमसे सूफी सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये कहानीके उस भागमे जहाँ प्रेम-सम्बन्धी व्यापारोका वर्णन आया है ग्रन्थ बहुत ही सरस तो हो ही गया है किन्तु ग्रन्थकारने सूफीवादके प्रेमपन्थको भी भलीभाँति व्यक्त करनेका अवसर हाथसे नहीं जाने दिया है। इसका पूर्वार्द्ध सर्वथा कल्पित है अतः यह शुद्ध रूपक-काव्य है। केवल पात्र और आगेकी कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। इसमे ५८ प्रसग हैं जिनमे चित्तौड़के राजा रत्नसेन और सिंहलकुमारी पद्मिनीके विवाहकी कथा तथा आगे चलकर अलाउद्दीनके पद्मिनीकी ख्याति सुनकर चित्तौडपर आक्रमण करने एवं पद्मिनीके कौशलसे अलाउद्दीनके मूर्ख बन जाने तथा चित्तौडमे प्रवेश करनेपर पद्मिनीके स्थानपर राखका ढेर पानेका विवरण विस्तारके साथ दिया हुआ है।

जायसीकी भाषा

हम पहले बता चुके है कि पश्चिमी अवधीपर ब्रजभाषाका प्रभाव कुछ कुछ पडा है। इसका मुख्य कारण यह है कि अवधीके अधिकाश रचनाकार, विशेषकर सूफी कवि, बहुपठित नहीं थे। उन्होने इस बातका विचार करके लिखा ही नहीं कि हम अवधी लिख रहे है या ब्रजभाषा। उन्होने अपने आसपासकी भाषामे रचना की। यही उनकी बोलचालकी भाषा थी। अन्य प्रदेशवालोसे भी उनका सम्पर्क रहता था। इसलिये उनकी बोलचालकी भाषाके भी बहुतसे शब्द आ जाते थे। काव्य-रचनाके प्रसगमे जहाँ उपयुक्त शब्द नहीं मिलते वहाँ शब्दोको तोडने-मरोडनेकी प्रवृत्ति भी हम अवधी और ब्रजभाषा दोनोके कवियोमें बराबर पाते हैं। जायसी इन बातोके अपवाद नहीं थे। उन्होंने बराबर

अन्य प्रदेशोकी भापाके शब्दोका प्रयोग उनके मूल रूपमे ही किया है। नीचे हम इस प्रकारके कुछ उदाहरण दे रहे है—

१. **बेधि रहा सगरौ ससारा।**
२ **लागेउ माघ परै अब पाला।**
३ **ऐस जानि मन गरब न होई।**

इन उदाहरणोमे **सगरौ** शब्द विशुद्ध रूपसे ब्रज भाषाका है। **लागेउ** ब्रजभाषाके **लाग्यो** का ही रूप है। अवधी रूप **लगा** होगा। ऐसे ही **ऐस** ब्रजभापाके **ऐसो**का एक रूप है जिससे एक मात्रा घटा दी गई है। अवधीमे इसका रूप **अस** या **अइस** होगा। इस प्रकारके प्रयोग पदमावतमे एक दो नहीं सैकडो पाए जाते है।

बिरिछ उपारि पेडि स्यों लेई।

स्यों शब्द बुन्देलखण्डी है। इसका प्रयोग **सह** के स्थानपर होता है। केशवने लिखा है—**अलिस्यों सरसीरुह राजत है।** जायसीने अरबी फारसीके कठिन और दुर्बोध शब्दोका भी प्रयोग पर्याप्त संख्यामे किया है। सस्कृतके तत्सम शब्दोका प्रयोग भी कहीं-कहीं पाया जाता है। इनके अतिरिक्त जायसीकी भापामे शब्दोके बिगाड़े हुए रूप कम नहीं मिलते—

१. कीन्हेसि राकस भूत **परीता**।
२. कीन्हेसि भोकस देव **दईता**॥
३. वह अवगाह दीन्ह तेहि **हाथी**।

परीता, दईता और हाथी शब्द प्रेत, दैत्य और हाथके लिये आए हैं।

राजस्थानीके चारण कवियोकी भाँति उन्होने '**सुक्ख** सुहेला **उग्गवै** दुःख झरै जिमि मेह' भी लिखा है।

ऊपर दिए हुए उदाहरण इस बातके सूचक हैं कि जिस ग्रन्थमे इस प्रकारके प्रचुर प्रयोग हुए हैं उसकी भाषा ठेठ अवधी नहीं कही जा सकती। यह अवश्य है कि जायसीका पदमावत मुख्य रूपसे

अवधीमें है और अन्य सूफी कवियोंने जो मार्ग दिखाया था उसपर चलकर जायसीने अवधीमे ग्रन्थ रचना करनेमे अच्छी सफलता प्राप्त की।

जायसीका वर्ण्य-विषय

जायसीपर विचार करते समय केवल पद्मावतकी बात सामने आती है। काव्यकी दृष्टिसे उनकी अन्य रचनाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं है। पद्मावतमें चितउर (चित्तौड) के राजा रत्नसेनका सिंहलकुमारी पद्मावतीके साथ विवाह और अन्तमें युद्धमे रत्नसेनके खेत रहने तथा पद्मावतीके सती हो जानेका वर्णन है। इसमे विवाह तककी कथा कल्पित है और आगेकी ऐतिहासिक, किन्तु यह कथा ऐतिहासिक-काव्यकी दृष्टिसे नहीं, रूपक-काव्यकी दृष्टिसे लिखी गई है जैसा कि जायसीने ग्रन्थकी समाप्तिपर स्वयं कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवचेतन सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

इसलिये जायसीका वर्ण्य-विषय तो है सूफी-मत, जिसके प्रचारके लिये कविने हिन्दू समाजमे प्रचलित कहानी हिन्दुओंकी ही बोलीमे इस सहृदयताके साथ कही कि उनके जीवनकी मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओंके साथ कविके हृदयका भी उदारणतापूर्ण पक्ष सामने आ गया। कुतबन और मझनने जो मार्ग प्रदर्शित किया था उसपर चलने, उसको पुष्ट करने और पद्मावतके वर्ण्य-विषय-द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानोंके रागात्मक सम्बन्ध दृढ करनेमे जायसीको अद्भुत सफलता मिली।

जायसीकी काव्यगत विशेषताएँ

जायसीकी भाषामे बहुतसे दोष आ गए हैं फिर भी अवधीपर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी भावव्यञ्जना, मार्मिकता और कवि सुलभ प्रतिभा उत्कर्षपर पहुँच गई है। पद्मावतसे जायसीकी हिन्दू भाव-मर्मज्ञता और हिन्दू-पुराण-शास्त्रकी अभिज्ञताका भलीभाँति परिचय

मिलता है। इसीसे वे हिन्दू जीवनके रहस्योका चित्रण सहानुभूतिपूर्वक एवं निरपेक्षताके साथ कर सके। रहस्यवादके चित्रणकी उनकी प्रणाली, तथा वर्णनशैली सभी उत्तम है। कथाका चुनाव करने और उसका अन्त करनेमे भी उन्होने अपनी कुशलता दिखाई है। कोई कल्पित कथा न लेकर उन्होने ऐसी कथा ली जिसपर प्रत्येक हिन्दू गर्व करता था। और इसीलिये उस कथाके मर्मस्पर्शी स्थलोका वर्णन करनेमे वे सफल हो सके।

जायसी और हिन्दी साहित्य

आचार्य शुक्लजीने जायसीके काव्यकी समीक्षा लिखकर वस्तुतः उसे प्राण दान दिया। हिन्दीके कवियोंमे उनकी गणना पहले हीं की जाती थी। इसका एकमात्र कारण यह है कि जायसीका ग्रन्थ फारसी लिपिमे लिखा गया था। उसमे सूफी मतका प्रचार था। नायक-नायिकाके ऐतिहासिक होते हुए भी उसकी कथाका एक अंश कल्पित था। इन सब कारणोसे हिन्दू जनताको आकृष्ट करनेवाले तत्त्व उसमे कम थे। सूफीवाद भी कभी बल न पकड सका अतः ग्रन्थका प्रचार बहुत ही कम हुआ। तुलसी और सूर ऐसे छा गए कि या तो राम-कृष्ण सम्बन्धी काव्यके लिये स्थान रह गया या शृंगार और शौर्य-पराक्रम सम्बन्धी काव्यके लिये। कविताकी तब-तककी मान्य परिभाषाओके साथ भी जायसीकी कविता मेल नहीं खाती थी। इसीलिये उनका पदमावत दबा पडा रहा।

रूपक-काव्योकी परम्परा जायसीके पश्चात् भी कुछ दिनोतक चलती रही। सूफी कवियोमे जायसीके पश्चात् उसमान कृत **चित्रावली** तथा नूरमुहम्मदकृत **इंद्रावती** और **अनुराग बाँसुरी** का मुख्य स्थान है। शेख निसार ने **यूसुफ़ जुलेखाँ** और भूपनारायण ने **कथा-चारदरवेश** १९वीं शताब्दी मे प्रस्तुत किए। २०वीं शताब्दी मे प्रतापगढ के ख्वाजा अहमद ने **नूरजहाँ** और गाज़ीपुर के मुहम्मद नसीरने **चित्रमुकुटकी कथा** एव **प्रेमदर्पण** या **यूसुफ जुलेखा** लिखा।

ये सभी ग्रन्थ साधारण कोटिके है। वस्तु स्थिति यह है कि चरित काव्यो मे रामचरित-मानस एव रूपक-काव्योमे पद्मावत के समीप तक पहुँच सकनेवाले ग्रन्थ भी नहीं तैयार हो पाए, उनके जोड़ का हो पाना तो दूर की बात है।

अवधीका मुक्तक-काव्य

अवधीमे मुक्तक काव्यकी रचना बहुत कम हुई है। गोस्वामीजीके कुछ दोहे, सोरठे, बरवैके अतिरिक्त रहीमका **बरवै नायिका भेद** ही उस समयकी स्फुट रचनाएँ हैं। सूफी कवियोने कथाकाव्य ही लिखे है। अवधीके अन्य रचनाकारोने भी कोई न कोई कथा ही लिखी है।

इधर कुछ दिनोसे लोक-साहित्यकी बडी चर्चा है। सभी भाषाओ और बोलियोमे लोक-साहित्य सम्बन्धी रचनाएँ प्रस्तुतकी जा रही हैं। नागरीके इस युगमे भी इन भाषाओ या बोलियोकी कुछ पत्रिकाएँ निकलती है। जबसे लखनऊमे रेडियो केन्द्रकी स्थापना हुई है तब से अवधीके साहित्यिक गीत और लोक-गीत बराबर सुननेको मिला करते है। अवध प्रदेशके कवि सम्मेलनोमे भी इस प्रकारकी रचनाएँ सुननेमे आती हैं। इस समय अवधीमे रचना करनेवाले कितने ही अच्छे कवि है। द्वारकाप्रसाद मिश्रका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस युगमे एकमात्र उन्होने ही अवधीमे प्रबन्ध-काव्य लिखा है। अन्य सभी कवियोने मुक्तक ही लिखे हैं। चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका' के तीन काव्य-सग्रह (**बौछार, भिनसार** और **फुहार**) प्रकाशित हो चुके हैं। कानपुरके वागीश शास्त्रीका एक छोटा सा सग्रह **ठोकर** नामसे प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त वशीधर शुक्ल, सुमित्रा-कुमारी सिनहा, युक्तिभद्र दीक्षित, केशवचन्द्र वर्मा, 'बेकल जी', श्याम तिवारी आदिने अवधीमे अच्छे-अच्छे गीतोकी रचना की है। आजका युग अधिकतर गीतकार ही उत्पन्न कर रहा है। अतएव

अवधीमे भी गीत ही लिखे जा रहे है। अवधीके वर्तमान गीतकार किस प्रकारकी रचनाएँ कर रहे है इसके दो उदाहरण देकर अवधी साहित्यकी चर्चा हम समाप्त कर रहे हैं--

(१) एहो निसापति ! ऐस सासनु तुम्हार है कि,
गुनसील कॅवल मे सकट महान माँ।
जेतने तुम्हार तालमेलो है सनेही मीत,
कुमुद कुमुदिनी है फूलो अभिमान माँ॥
मेड़हा सियार भरे लेत है भँभारो निज,
गीदड़ उड़ान भरैं अब तौ गुमान माँ।
चकई चकोर चुनै चिनगी बिचारे भुँइ,
तुम्हारे सहारे चढ़े उल्लू आसमान माँ॥
—रमईकाका

यह कवित्त है। अयधीमे कवित्त सवैया आदिकी रचना प्राचीन कवियोने नहीं की है। इस प्रकारके प्रयाससे अवधी इस शैलीमे भी मॅज जायगी। इस अन्योक्तिके ब्याजसे वर्तमान शासनका स्वरूप बताया गया है।

(२) जहाँ बसैं देउता अस मानुस सरग होय धुइँ झारि।
परियन के मुह अइस चिकनई चमकई मोरि दुवारि॥
छाहैँ करय निमियाँ अलबेली गझिन डारि फइलाय।
फुलवन से माती रसभीनी झोगदनि फरय अघाय॥
जेहि के पतियनि काँ छुइ छुइ कै बेना झलइ बयारि।
परियन के मुँहु अइस चिकनई चमकय मोरि दुवारि॥
सावन रसय अकास बदरिया लसय बिजुरिया सारी।
धानी धरती झलुआ पउँढ़य उहै नीबिकी डारी॥
सराबोर दिन राति करय मन कजरिन कै बौछारि।
परियन के मुँह अइस चिकनई चमकय मोरी दुवारि॥
श्याम तिवारी

ब्रजभाषा साहित्य

ब्रजभाषाका केन्द्र चौरासी कोसमे फैला हुआ ब्रजमण्डल है जिसके अन्तर्गत मथुरा, वृन्दावन, आगरा, अलीगढ़ और हाथरसका प्रदेश आता है। लोक व्यवहारमे भी ब्रजभाषाका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। दक्षिण-पश्चिममें यह आगरा, भरतपुर, करौली, ग्वालियरके पश्चिमी भाग, धौलपुर, जयपुरके पूर्वी भाग, उत्तरकी ओर गुड़गॉव, उत्तर पूर्वकी ओर एटा, मैनपुरी, अलीगढ, बुलन्दशहर, बदायूँ, बरेली होते हुए यह नैनीतालकी तराई तक फैली हुई है। बुन्देलखण्डमे भी कुछ परिवर्तनोके साथ ब्रजभाषा ही बोली जाती है, इसलिये बुन्देलखण्डीको अलग भाषा न मानकर इसीका एक रूप मानना चाहिए।

इस भाषाका प्रचार मध्यकालमे इतना अधिक था कि हिन्दी पढ़े-लिखे लोग इस भाषामे ही अधिकतर रचनाएँ करते थे। हिमालयकी तराईसे लेकर विन्ध्यके उत्तरतक और राजस्थानके पूर्वी भागसे लेकर मगधके डॉड़ेतक साहित्यमे इसी भाषाका एकच्छत्र राज्य था। प्रत्येक साहित्यकारको इस भाषाका प्रौढ ज्ञान रखना पडता था, तभी तो दासजी कह गए हैं—'ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ।'

ब्रजभाषाकी विशेषताएँ

१. ब्रजभाषाकी सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारान्त पुलिग सज्ञाऍ, विशेषण और भूत कृदन्त, तथा कहीं-कही वर्त्तमान कृदन्त भी, ओकारान्त ही होते है, जैसे—घोडासे घोडो। इसी प्रकार सस्कृतके भूत और वर्तमान कृदन्तोका अन्तिम त प्राकृतमे अ+उ और ब्रजभाषामे ओ हो जाता है, जैसे चलितःसे चलिअउ और फिर चल्यो।

२. ब्रजभाषाकी विभक्तियॉ नागरी या अवधीसे भिन्न होती हैं।

कर्ता—**ने**, कर्म—**को**, **कौ**, करण—**सों**, **तें**, सम्प्रदान **को**, **कौ**; अपादान **सों**, **तें**, सम्बन्ध **को**, अधिकरण—**मे**, **मों**, **पै**, **पर** ।

३. सर्वनामोके रूप एक वचनमे इस प्रकार चलते है **मैं**—मै, हौं (कर्ता)। मोहि, मोय, मोकौ (कर्म, सम्प्रदान)। मेरो (सम्बन्ध)। मोसो, मोते (करण-अपादान)। मोमै, मोपै (अधिकरण)। अन्य सर्वनामोके रूप इसी क्रममे इस प्रकार चलते है : **तू**—तू, तैं। तोहि, तोय, तोकौं। तेरो, तिहारो. तुम्हारो। तोसो, तोतें, तोहितें। तोहिपै, तोमै, तोपै। **वह** : वह, वो। वाहि, वाय, ताहि, ताय, ताक। वाको, ताको, तासु। वासो, तासो, वाते, तातें। वामै, तामै, वापै, तापै,। **यह**—यह। याहि, याय, याकौ। याको। यासो, यातें। यामै, यापै। **जो**—जो, जौन। जाय, जाहि, जाकौं। जाको, जासु। जासो, जातें। जामै, जापै। **सो—सो**, ताने। ताहि, ताय, ताकौ। ताको, तासु। तासो, तातें। तामै, तापै। **कौन**—को। काहि, काय, काकौ। काकौ। कासो, कातें। कामै, कापै।

४. बहुवचनमे इनके रूप इस प्रकार चलते है : **मैं**—हम। हमहि, हमे, हमकौ। हमारो, म्हारो। हमसैं, हमपै। **तू**—तुम। तुमहि, तुम्हैं, तुमकौ। तुम्हारो, तिहारो। तुमसैं, तुमतै। तुममै, तुमपै। **वह—वे**, वै, ते। उनहि, उन्हैं, तिनहि, तिन्हैं। उनकौ, तिनकौ, विनकौ। उनसौं, उनतै, विनसौ, विनतै, तिनसौ, तिनतै। उनमै, उनपै, तिनमै, तिनपै, विनमै, विनपै। **यह**—ये। इनहि, इन्हैं, इनकौ। इनकौ। इनसौं, इनतै। इनमै, इनपै। **जो**—जो, जे। जिनहिं, जिन्हैं, जिनकौ। जिनकौ। जिनसौं, जिनतै। जिनपै, जिनमै। **सो**—ते। तिनहि, तिन्हैं, तिनकौं, तिनकौ। तिनसौ, तिनतै। तिनमै, तिनपै। **कौन**—को, के। किनहि, किन्हैं, किनकौ। किनकौ, किनसौ, किनतै। किनमै, किनपै।

५. क्रियाओके रूप इस प्रकार चलते हैं—

वर्तमान काल—करना

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उत्तम	करत हौं	करति हौं	करत हैं	करति हैं
	करूँ हूँ	करूँ हूँ	करैं हैं	करैं हैं
मध्यम	करत है	करति है	करत हैं	करति हौ
	करै है	करै है	करौ हौ	करौ हौ
प्रथम	करत है	करति है	करत है	करति हैं
	करै है	करै है	करै हैं	करै हैं

भूत काल—मै करता था

इसके सभी पुरुषो, सभी लिगो और सभी वचनोंमे ये ही रूप होगे—**कियौ, कीन्हौं, करयौ**। कर्ताके लिग, वचन या पुरुषका कोई प्रभाव क्रियाके स्वरूप पर नहीं पडता।

आज्ञार्थमे एकवचनका रूप **देख** और बहुवचनका **देखौ** होता है।

भविष्यत् काल—देखना

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उत्तम	देखूँगो	देखूँगी	देखैंगे	देखैंगी
	देखिहौ	देखिहै	देखिहैं	देखिहैं
मध्यम	देखैगो	देखैगी	देखौगे	देखौगी
	देखिहै	देखिहैं	देखिहौ	देखिहौ
प्रथम	देखैगो	देखैगी	देखैगे	देखगी
	देखिहै	देखिहै	देखिहैं	देखिहैं

भूतकाल संकेतार्थ—करना

सब पुरुषोंमें इसका एक ही रूप रहता है। **करतो** (एकवचन पुलिंग) **करती** (स्त्रीलिंग) **करते** (बहुवचन पुलिंग) **करतीं** (स्त्रीलिंग)।

वर्तमान पूर्ण—करना

इसके सब पुरुषों, वचनों और लिंगोंमें यही रूप होते हैं—**कियो है, कीन्हों** है।

भूत काल—जाना (अकर्मक)

सब पुरुषोंमें इसका एक ही रूप होता है—**गयो** (एकवचन पुलिंग), **गई** (स्त्रीलिंग), गए (बहुवचन पुलिंग), गईं (स्त्रीलिंग)।

ब्रजभाषाका साहित्य

ब्रजभाषाकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृतसे कही जाती है। शौरसेनी प्राकृतका क्षेत्र गुजरात, राजस्थानसे लेकर देशके उस भूभागतक बतलाया जाता है जहाँकी भाषा ब्रजमण्डलकी भाषा है। आगे चलकर इसका भी क्षेत्र भिन्न-भिन्न हो गया और राजस्थानमें राजस्थानीका गुजरातमें गुजरातीका तथा ब्रजमण्डलमें स्थानीय बोलियोंका विकास हुआ और उनमें साहित्य सर्जन होने लगा। लोक-व्यवहारकी ये भाषाएँ साहित्यकी भाषाएँ बन गईं और उनके स्वरूप भी भिन्न हो गए।

ब्रजभाषामें रचे हुए प्रारम्भिक ग्रन्थोंकी आज कोई जानकारी हमें नहीं है। पृथ्वीराज रासोकी भाषापर ब्रजकी भाषाका पर्याप्त प्रभाव है। कितने रूप तो उसमें शुद्ध ब्रजभाषाके मिलते हैं। राजस्थानीके कितने ही कवियोंने पिंगलमें अर्थात् ब्रजभाषामें रचनाएँ की हैं। खुसरोकी भी कुछ रचनाएँ ब्रजभाषामें हैं। नामदेवने कुछ रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषामें की हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषाकी रचनाएँ हमें १३वीं शताब्दीसे बराबर मिलती आ रही हैं और जो रचनाएँ मिली हैं वे

इतनी पुष्ट और शुद्ध भाषामे हैं कि प्रतीत होता है कि कमसे कम दो-सौ वर्ष पूर्वसे उसमे साहित्य-रचना अवश्य होती आ रही होगी।

किन्तु कविवर सूरदासजीने उस साहित्यिक भाषाको लोक-व्यवहारकी भाषासे प्राणवान् बनाया और व्रजराज कृष्णका गुणगान करके उसमे वह शक्ति फूँक दी कि व्रजभाषा आगे चलकर एक प्रकारसे हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशोकी राष्ट्रिय और साहित्यिक भाषा हो गई।

सूरदासजीके पश्चात् व्रजभाषामे अधिकतर रचनाएँ कुछ समयतक तो कृष्णको ही लेकर हुई किन्तु आगे चलकर इसमे सभी प्रकारका साहित्य रचा जाने लगा। सूरदासजी ही वस्तुतः व्रजभाषाके प्रथम महाकवि हैं। शिवसिहसरोजमे तो उनके पूर्वके सेन नामक किसी कविका भी उल्लेख हुआ है और कालिदास त्रिवेदीने अपने हज़ारामे उक्त कविका एक कवित्त भी उद्धृत किया है किन्तु इस कविका काल भी सन्दिग्ध है और फिर उसकी अपेक्षा तो सन्त कवियो तथा नामदेवने व्रजभाषामे बहुत ही अच्छे पद कहे है। अतः 'सेन' कवि हो भी तो उसका कोई महत्त्व नहीं। ऐसी अवस्थामे हम महाकवि सूरदास और उनके परवर्ती कवियोपर ही यहाँ विचार करेंगे।

व्रजभाषा साहित्यकी विशेषताएँ

यह बताया जा चुका है कि अवधी मुख्यतया कथा-काव्यकी भाषा है और व्रजभाषा मुक्तक-काव्यकी। व्रजभाषाके आदि महाकवि सूरदासजीने जयदेव और विद्यापतिके दिखाए मार्गपर चलकर गेय पदोमे कृष्णके बालजीवनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। आगे जितने भी कृष्ण-भक्त कवि हुए सबने इसी प्रणालीपर कृष्णके बालजीवनके सम्बन्धमे रचनाएँ कीं। कृष्ण-साहित्यके अतिरिक्त व्रज भाषामे रचना करनेवालोमे मुख्य स्थान रीति-विषयक साहित्य रचनेवालोका है। इनकी सभी रचनाएँ स्वभावत. मुक्तक काव्यके रूपमे हैं। तीसरा वर्ग उन लोगोका है जिन्होने कवित्त-सवैयोमे फुटकर रचनाएँ की हैं।

किन्तु ऐसा नहीं है कि ब्रजभाषामे प्रबन्ध-काव्योकी रचना हुई ही नहीं है। केशवकी रामचन्द्रिका ब्रज भाषामे ही है। यद्यपि कुछ लोग उसे फुटकल पदोका सग्रह भी कहते हैं किन्तु वह पूरेका पूरा ग्रन्थ ब्रजभाषामे प्रबन्धकाव्यकी शैलीमे रचा गया है। गोस्वामीजीकी ब्रजभाषाकी रामचरित-सम्बन्धी रचनाएँ अवश्य ही फुटकल छन्दोका सग्रहमात्र है, परन्तु रामचन्द्रिकाको ऐसा नहीं कह सकते। बीच-बीचमे ब्रजभाषामे प्रबन्धकाव्योकी रचनाएँ बराबर होती रही हैं और इनका क्रम शुक्लजीके **बुद्धचरित** और रत्नाकरजीके **गगावतरण** तक चला आया है। अभी काशीके शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने **अदृष्ट** नामक खण्ड काव्यकी रचना ब्रजभाषामे रोला छन्दोमे की जो सम्प्रति अप्रकाशित है। सम्भवतः यह ब्रजभाषाका अन्तिम कथा-काव्य है। ब्रजभाषाकी मूल प्रकृति मुक्तक छन्दात्मक है और उसी प्रकारकी रचनाओका उसमे बाहुल्य है इसलिये पहले उसी पर विचार किया जायगा।

(१)
ब्रजभाषाका मुक्तक काव्य

ब्रजभाषाके मुक्तक काव्यसाहित्यको सुविधाकी दृष्टिसे तीन श्रेणियोमें बॉटा जा सकता है—१. श्रीकृष्ण-सम्बन्धी काव्य, २ स्फुट काव्य और ३. रीति-विषयक काव्य।

(क)
श्रीकृष्ण सम्बन्धी काव्य

यद्यपि महाभारत तथा अनेक पुराणोमे कृष्णचरितका वर्णन आया है तथापि ब्रजभाषामे कृष्णचरितका मुख्य आधार श्रीमद्भागवत ही है। किन्तु भागवतमे और इनकी कथामे एक बडा भारी अन्तर यह है कि भागवतमे जहाँ केवल श्रीकृष्णकी चर्चा आई है वहाँ ब्रजभाषा-काव्यमे कृष्णके साथ राधाका नाम भी जुट गया है। राधाका व्यापक प्रचार जयदेवके गीतगोविन्दसे हुआ जिसे विद्यापतिने ज्योका त्यो ले लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि जयदेवने राधाकी कल्पना ब्रह्मवैवर्त पुराणके

आधारपर खड़ी की या उस समय राधाका नाम लोकमे इसी रूपमे प्रचलित था और उसे जयदेवने ले लिया। राधाकी चर्चा जयदेवसे व्यापक हुई है बस इतना ही निश्चित है। ब्रजभाषाके कवियोमें सूरदासजी ही पहले पहल कृष्णके साथ राधाको ले आए और फिर तो कृष्ण-सम्बन्धी कोई रचना ही राधाको अलग करके नहीं प्रस्तुत हुई।

विद्यापति सवत् १४६० मे वर्तमान थे। उन्होने राधाकृष्ण-सम्बन्धी पदोकी रचना विशुद्ध शृगारके भावसे की, क्योकि वे स्वय शैव थे। वस्तुत वैष्णव धर्मका देशव्यापी आन्दोलन १५ वीं और १६ वीं शताब्दीमे फैला और विद्यापतिका उससे कोई भी लगाव न था। वैष्णव धमकी कृष्ण भक्ति शाखाके उन्नायक महाप्रभु वल्लभाचार्य थे जिनका प्रादुर्भाव सवत् १५३५ मे हुआ। इसी समय बगालमे (तत्कालीन गौड प्रदेश) चैतन्य महाप्रभु हुए जिन्होने देशके पूर्वी भागोमे कृष्ण-भक्तिकी धारा बहाई।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने शकराचार्यजीके मायावादका खण्डन करके भगवानके सगुण रूपको ही वास्तविक रूप बताया और निर्गुणको उसका तिरोहित रूप घोषित किया। भक्तिको भी पूर्ण रूपसे स्वीकार न करके उन्होंने उसका केवल प्रेमवाला पक्ष ग्रहण किया और कहा कि इस प्रेम-लक्षणा-भक्तिकी ओर जीव तभी प्रवृत्त होता है जब उसपर श्रीकृष्णका अनुग्रह होता है। अपने मतका व्यापक प्रचार करनेके पश्चात् उन्होने वृन्दावनमे अपनी गद्दी स्थापित की, गोवर्द्धन पर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर बनवाया तथा सेवाका ऐसा भारी उपक्रम रचा जिसमे भोग राग तथा विलासकी प्रधानता हुई। इसके लिये कृष्णका बालरूप और उनकी ब्रजलीला ही ग्रहण करना आवश्यक था क्योकि ब्रजसे मथुरा जानेके अनन्तर तो कृष्णका जीवन सघर्षशील कर्मयोगाका हा गया। यही कारण है कि ब्रजभाषाके सभी कृष्णभक्त कवियोने कृष्णके बालजीवनके ही गीत गाए। यह निश्चित था कि कृष्णका सम्पूर्ण जीवनचरित न लेनेसे उनके सम्बन्धकी

काव्य-रचनामे प्रबन्धत्वका समावेश नहीं हो सकता था और इसीलिये ब्रज भाषाके कवियोकी रचनाओमे जीवनकी अनेकरूपता और उसके मार्मिक पक्षोका उद्घाटन न हो पाया। इस परम्पराके आदि कवि सूरदासजी वल्लभाचार्यजीके शिष्य थे।

सूरदासजी

ब्रजभाषाके श्रेष्ठतम कवि, श्रीकृष्णके अनन्य भक्त, उक्ति, चोज, अनुप्रास, वर्णोंकी स्थिति तथा शब्दसे अद्भुत अर्थ उत्पन्न करनेवाले महाकवि सूरदासजी जिस प्रकार ब्रजभाषाके आदि कवि माने जा सकते है उसी प्रकार अपने वर्ण्य विषयकी उत्तमताके कारण अन्तिम भी। सूरके सम्बन्धमे यह उक्ति सर्वथा सटीक बैठती है—

> **तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।**
> **बची खुची कबिरा कही, और कही सब जूठी॥**

सूरदासजीका जीवनवृत्त

सूरदासजीका थोडा-बहुत जो भी वृत्तान्त हमे मिलता है वह **चौरासी वैष्णवनकी वार्ता**के ही आधारपर। यह वार्ता वल्लभाचार्यजीके पौत्र गोकुलनाथजीकी लिखी कही जाती है किन्तु 'श्रीगोकुलनाथजीने ऐसो कह्यो' आदि वाक्योसे यही प्रतीत होता है कि यह किसी अन्य व्यक्तिकी रचना है। फिर भी यह पोथी प्राचीन है और उक्त सम्प्रदायमे यह गोकुलनाथजीकी कृतिकी भॉति मान्य है।

इस पोथीसे सूरदासजीके सम्बन्धमे दो ही तीन बातें निश्चयात्मक रूपसे विदित होती हैं—१. सूरदासजी गऊघाटपर रहकर विनयके पद गाया करते थे। २. आचार्यजीने एक बार उनके पद सुने तो उनसे प्रसन्न होकर कहा कि तुम हमारे साथ चलो। ३ सूरदासजीको साथ लाकर उन्होने दीक्षित किया और फिर उन्हे श्रीनाथजीके मन्दिरकी कीर्तन-सेवा सौंपी। ४. तबसे सूरदासजी गोवर्द्धनपर ही रहने लगे।

५. वल्लभाचार्यजीके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथके सामने ही गोवर्द्धनकी तलहटीमे परसालो ग्राममें उनकी मृत्यु हुई।

सूरदासजीका एक ग्रन्थ **सूरसारावली** है जिसकी रचना **सूरसागर**के पश्चात् हुई है। उसमे सूरदासजीने अपनी अवस्था ६७ वर्षकी बताई है—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन।

इस ग्रन्थके पश्चात् सूरदासजीने '**साहित्य लहरी**' नामक एक ग्रन्थकी रचना की। यद्यपि इसमें जिस विषयका वर्णन है वह सूरदासजीकी प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं लगता तथापि वह सूरदासकी ही रचना मानी जाती है अतः उसको आधार मानकर यदि चलें तो साहित्य-लहरीकी रचना सूरदासजीने सवत् १६०७ मे की—

मुनि[७] पुनि रसन[०] के रसलेख[६]।
दसन गौरी[१]नंदनको लिखि सुबल सबत पेख॥

यदि दो तीन वर्ष पूर्व **सूरसारावली**का रचनाकाल माना जाय तो १६०४-१६०५ मे सूरदासजी ६७ वर्षके रहे होगे। इस प्रकार उनका जन्म सवत् १५३९-४० ठहरता है। उनकी अवस्था ८०-८२ वर्षकी मानें तो वे सवत् १६२०-२१ मे गोलोकवासी हुए होगे।

सूरदासजीको कुछ लोग चन्द बरदाईका वशज बताते हैं और अपने कथनकी पुष्टिमे साहित्य लहरीका एक पद उपस्थित करते हैं किन्तु जब साहित्य लहरीकी प्रामाणिकता संदिग्ध है तब उक्त पदका ही क्या कहना जो बहुत सम्भव है किसी ब्रह्मभट्टने उसमे पीछेसे जोड़ दिया हो क्योकि **चौरासी वैष्णवनकी वार्ता**की 'भावप्रकाश टीकाके रचयिता श्रीहरिरावने सूरदासजीको सीही ग्रामनिवासी जन्मान्ध सारस्वत ब्राह्मण कहा है।

भक्तमालके अनुसार भी सूरदासजीके जन्मान्ध होनेकी बात कही गई है। किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि सूरदासजी एक बार एक कुएँमे गिर

पडे और छह दिन उसीमे पड़े रहे। सातवें दिन श्रीकृष्ण प्रकट हुए और उन्हे दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। सूरदासजीने भगवान्से वर माँगा कि जिन नेत्रोसे मैने आपका दर्शन किया है उनसे और कुछ न देखूँ तथा नित्य आपके भजन कीर्त्तनमे लगा रहूँ। फिर भगवान्ने उन्हे कुएँसे निकाला। सूरदासजीके नेत्रोकी ज्योति जाती रही और वे ब्रजमे आकर रहने लगे। इसके पश्चात् जब विट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गी आठ सर्वोत्तम कवियोको चुनकर अष्टछापकी प्रतिष्ठा की तो सूरदासजी उनमे प्रमुख हुए।

सूरकी रचनाएँ

सूरके सम्बन्धमे कुछ सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

> **सूर सूर, तुलसी ससी, उड्गन केसवदास।**
> **अबके कवि खद्योत सम, इतउत करत प्रकास॥**
> **किधौं सूरको सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।**
> **किधौं सूरकौ पद लग्यौ, बेधत सकल सरीर॥**

महाकवि सूरदासजीके नामसे तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—**सूरसागर, सूरसारावली** और **साहित्य लहरी**।

सूरसागर—सूरसागर वस्तुतः सागर हैं। कहते हैं सूरने भागवतके आधारपर लगभग एक लाख पदोमे कृष्ण-चरितका गान किया किन्तु आज तो इसका दसवाँ भाग भी उपलब्ध नहीं है। भागवतकी कथाके आधारपर रचे हुए सूरसागरके १२ स्कन्धोमे अन्य अवतारोकी कथाओका भी वर्णन है किन्तु दशम स्कन्धके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमे श्रीकृष्णके चरितका विस्तार ही अधिक है। सूरके इस सागरमे वर्णन तो अनेक विषयोका है किन्तु विनयके पद, बालकृष्णका वर्णन और भ्रमर-गीतवाला अश सर्वोत्तम है। विनयकी तो कोई बात नहीं, सूरकी ख्यातिका एकमात्र आधार कृष्णकी बाललीलाका वर्णन है। यह वर्णन ऐसा विस्तृत और चित्रात्मक है कि उसके

पश्चात् अब उस विषयपर कहनेके लिये कुछ रह नहीं जाता। भ्रमर-गीतवाला अंश सूरसागरका सबसे मर्मस्पर्शी अंश है। भागवतमे भी यह अश आया है किन्तु सूरने इसमे सगुणोपासनाका अंश अपनी ओरसे जोड दिया है। इससे इसमे रोचकता एव सरसता बढ गई है क्योकि सगुण पक्षका समर्थन सूरने तर्कके आधारपर नहीं, अनुभूतिके आधारपर किया है।

सूरसारावलीमे सूरसागरकी ही कथाका सक्षेप किया गया है। कथाके कुछ अश या कृष्णके जीवनकी कुछ घटनाएँ आगे-पीछे हो गई हैं। सागर और सारावलीमे एक अन्तर यह भी है कि सूरसागरमे जहाँ सरल और बोधगम्य भाषामे कथा गाई गई है वहाँ सारावलीमें कुछ कूट पद भी आए हैं।

साहित्य-लहरीमें सूरसागरके तो कुछ पद हैं ही, अनेक पद ऐसे हैं जो नायिकभेद, अलकार और रस आदिके उदाहरणके रूपमे रक्खे गए प्रतीत होते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि सूरदासजी चौथे आश्रममे जाकर भला यह काम कर सकते हैं? जो भी हो परन्तु साहित्य-लहरी उनकी ही रचना कही जाती है।

गीतोंकी परम्परा और सूरदासजी

प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ गाता है। गीतो की यह परम्परा सम्भवतः मानव-समाजमें किसी न किसी रूपमे तबसे चली आ रही है जब से मनुष्यने बोलना और समाजबद्ध होकर रहना सीखा है। धीरे-धीरे जब मनुष्यमे साहित्यिक प्रवृत्तियोका उदय हुआ तो वह अपने इन गीतोको भी लिपिबद्ध करने और साहित्यिक रूप देने लगा। राधा-कृष्णको आलबन बनाकर साहित्यिक गीतोकी रचना सबसे पहले जयदेवने सस्कृतमे की। ब्रजमण्डलमें भी इस प्रकारके गीत लोक भाषामें प्रचलित थे जिनको आधार बनाकर भक्तप्रवर सूरदासजीने उन्हे साहित्यिक रूप

दिया। सूरदासजी ब्रजभाषाके प्रथम कवि है जिन्होने गीतोकी रचना राग-रागिनियोके निर्देशके साथ साहित्यिक भाषामे की। सूरदासजीके शृगारी पदोपर विद्यापतिकी छाप भी निश्चित है क्योकि अनेक पद ऐसे मिलते है जिनमे दोनो कवियोने एक ही भावका वर्णन किया है। आगे चलकर ब्रजभाषामे राधाकृष्ण-विषयक गेय पदोकी रचना करनेवालोने सूरदासजीकी प्रणालीका ही अवलम्बन किया जो आजतक अविच्छिन्नरूपसे चली आई और लगभग सभीने मुख्यतः सूरदासजीकी ही पद्धति ग्रहण की।

सूरदासजीका काव्य-क्षेत्र

सूरदासजीके सम्बन्धमे प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्यजीसे दीक्षा लेनेके पूर्व वे मथुराके गऊघाटपर विनयके पद गाया करते थे। वल्लभाचार्यजीके सम्पर्कमे आनेपर वे कृष्णचरितका गान करने लगे। सन्तोके उपदेशोके कारण हिन्दुओके जीवनमे नीरसता आ गई थी अतएव उसको सरसता प्रदान करना आवश्यक समझकर वल्लभाचार्यजीने कृष्णचरितके बालरूप (जो जीवनका मधुरतम अश है) की आराधनाका ही प्रचार किया। वस्तुत: आराध्यके बालभावकी उपासनाकी कल्पना ही मधुर है। वल्लभाचार्य ही उसके प्रवर्त्तक है। गोस्वामीजीने बालरामकी आराधनाका समर्थन कागभुशुण्डिके मुखसे कराया है। बालभावकी उपासनाके पीछे सबसे बडी बात यह है कि उपासक कालान्तरमे बालकोके समान निर्दोष, निरीह, निश्छल अवस्था प्राप्त कर लेता है। आगे भाँति-भाँतिके प्रेम-व्यापारोका प्रवेश हो जानेसे इस उपास-ना-पद्धतिमे राधाकृष्ण और गोपियोका प्राधान्य हो गया जिससे प्रेमी-प्रेमिका भावकी उपासना-पद्धति ही बल पकड गई।

सूरदासजीने भी यद्यपि इस प्रेमी-प्रेमिकाकी भक्ति-पद्धतिको लेकर बहुतसे शृगारी पदोकी रचनाएँ की हैं और कृष्णके मथुरा-गमनके पश्चात् गोपियोंकी अवस्थाओंको लेकर विप्रलम्भ शृङ्गारके कितने ही

पद रचे हैं तथापि कृष्णकी बालरूप-विषयक उनकी रचनाएँ अद्भुत हैं। बाल सुलभ चापल्य और क्रीडाएँ इस विस्तारके साथ सूरकी रचनाओंमे मिलती हैं कि लगता है सूरके समान बालाप्रकृतिका ज्ञाता कोई हुआ ही नहीं। यद्यपि गोस्वामीजीका काव्यक्षेत्र सूरदासजीकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है, जिसमे उन्होंने जीवनके सम्पूर्ण अगोका समावेश करके मनुष्यकी भिन्न-भिन्न दशाओ और मानव-जीवनमे आनेवाली विविध परिस्थितियाँ उपस्थित करके उनके समाहारका प्रयत्न किया है किन्तु सूरदासजीने जीवनका एक ही पक्ष लिया है और इस एक ही पक्षमें जो विस्तार और व्यापकता सूरदासजीने दिखाई है, वर्णनोकी जो प्रचुरता दी है वह किसी भाषाके किसी कविके काव्यमे नहीं आई है। ये वर्णन प्रचुर ही नहीं, इतने मनोमुग्धकारी हैं कि मन उनमे ही रम जाता है। उदाहरण लीजिए—

१. मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देखु तुही छींके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो॥
तुही निरखु नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।

२ सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तनुमडित मुख दधि लेप किए।

३ जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।

४ मैया कबहि बढैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

५ मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोलको लीनो तोहिं जसुमति कब जायो।
गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत स्याम सरीर।

इस प्रकारके सैकडो पद सूरसगरमे भरे पडे है ।

सूरदासजीका सयोग शृंगार

बालरूपके अतिरिक्त शृङ्गारके उभय पक्षका भी वर्णन सूरदासजीने अत्यन्त उत्तम किया है। जबतक कृष्ण गोकुलमे रहे तबतकका उनका सारा जीवन सयोग शृगारसे अभिभूत है। कृष्णके प्रति राधा और गोपियोका जैसा प्रेम है वह वर्णनातीत है। इनकी ही छाया लेकर आगेके कवियोने सयोग-शृगार-विषयक उच्छृङ्खल रचनाएँ आरम्भ कर दीं। सूरदासजीने जिस भावसे इन पदोकी रचना की वे तो रह गए, उनके बदले विद्यापतिका शृङ्गार-भाव व्याप्त हो गया। सूरके दो तीन उदाहरण लीजिए—

१ नवल किसोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया ।
क्रीड़ा करत तमाल तरुनतर स्यामा-स्याम उमँगि रस भरिया ॥
यो लपटाइ रहे उर-उर ज्यों मरकत मनि कचनमें जरिया ॥

२ धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जह प्यारी ठाढ़ी ॥

३ स्याम भए राधा बस ऐसे ।
चातक स्वाति, चकोर चन्द्र ज्यों, चकवाक रवि जैसे ॥

शृगार-वर्णनके प्रसगमे सूरदासजीने अन्योक्तियो और व्यग्योक्तियोकी ऐसी झड़ी लगा दी है कि उनका वर्णन स्वाभाविक और सरस हो उठा है। नेत्रोका वर्णन, मुरलीका वर्णन, मुरलीके कारण गोपियोके मनमे ईर्ष्याका भाव उत्पन्न होना आदि बडे अनूठे वर्णन हैं। मुरलीके सम्बन्धमे गोपियोकी यह उक्ति कितनी मार्मिक है—

मुरली तऊ गोपालहि भावति ।
सुनु री सखी जदपि नँदनन्दन नाना भाँति नचावति ।
राखति एक पाँव ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति ।

इस शृङ्गारके अन्तर्गत ही रासलीलाका वर्णन आता है। रासलीलाका वर्णन भागवतकी रासपचाध्यायीके आधारपर हुआ है किन्तु सूरके वर्णनोमे स्वाभाविकता अधिक आ गई है।

सूरका वियोग-शृंगार

सयोग शृङ्गार-सम्बन्धी सूरदासजीका वर्णन तो बेजोड है ही उनका वियोग (विप्रलम्भ) शृङ्गार उससे भी बढ़कर है। इसका आरम्भ कृष्णके मथुरा चले जानेपर होता है। कृष्णके विरहमे गोपियोकी पीडा और वेदनाका ऐसा स्वाभाविक चित्रण सूरदासजीने किया है कि उनके विरहसागरमे डूबे पाठकको 'सागर'के पार जानेकी युक्ति ही नहीं सूझती। दो-एक उदाहरण लीजिए—

१. बिनु गोपाल बैरिन भईं कुजै।
   तब वे लता लगति अति सीतल अब भई बिषम ज्वालकी पुजैं।

२ मधुबन तुम कत रहत हरे।
   बिरह बियोग स्यामसुन्दरके ठाढ़े क्यो न जरे।

३ अरी मोहिं भवन भयानक लागै माई स्याम बिना।
   देखहि जाइ काहि लोचन भरि नन्दमहरिके अँगना।

सूरके वियोग-वर्णनोके भीतर परम्परासे चले आते सभी प्रकारके उपालम्भ पाए जाते हैं।

सूरका भ्रमरगीत

वाग्वैदग्ध्यका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यदि सूरके 'सागर' मे कोई है तो वह है 'भ्रमरगीत'। भ्रमरगीत विरह-काव्य है। यद्यपि उसमें गोपियोका विरह वर्णित है किन्तु उसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे सूरने अत्यन्त मार्मिक ढगसे सगुणोपासनाका निरूपण किया है। उस समय निर्गुण-पन्थियोके प्रभावके कारण उनका मत बल पकड रहा था। सूरने मार्मिक ढगसे सगुणोपासनाका प्रतिपादन किया और निर्गुण मतकी ऐसी खिल्ली उड़ाई कि उसके पाँव ही उखड़ गए।

गोपियोंने अपनी वचन-वक्रतासे उद्धवको पछाड़ दिया। गोस्वामीजीने भी निर्गुण मतका खण्डन कागभुशुण्डिसे कराया है किन्तु सूरदासजीका ढंग निराला है। वे बहुत सीधे-सादे ढंगसे गोपियोंसे कहला देते हैं—

१ ऊधो तुम अपनो जतन बिचारौ।
हितकी कहत कुहितकी लागै किन बेकाज ररौ॥

२ जाहु जाहु आगे तें ऊधो पति राखति हौ तेरौ।

गोपियोंकी इन उक्तियोंमें कितना सहज भाव, कितना रोष है यह देखते ही बनता है।

उनका तर्क भी देखिए—

१ मधुकर हम अयान मति भोरी।
जाने तेइ-योगकी बातैं जो है नवलकिसोरी।
कंचनको मृग कवने देख्यौ किन बाँध्यौ गहि डोरी॥
सबतें ज्ञान तुम्हारो हम अहिरी मति भोरी।
सूरज कृष्णचन्द्रको चाहत अँखियाँ तृषित चकोरी॥

२ निर्गुन कौन देसको बासी?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

३ सुनिहै कथा कौन निर्गुनकी, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट लखियत तुम तृनकी ओट दुरावत॥

और अन्तमें वे कह देती हैं—

साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नैकहु मुसुकाने॥

'स्पष्ट बात है। उद्धव तुम अपना ज्ञान इतना बघार रहे हो किन्तु कहीं कृष्ण तुम्हे भेजते समय मुस्काए तो नहीं थे। यदि मुसकराए थे तो निश्चय ही उन्होने तुम्हे यहाँ भेजकर मूर्ख बनाया है।' कितनी स्वाभाविक किन्तु मनोहारी व्यञ्जना है।

सूरका कलापक्ष

सूरका कलापक्ष भी कम विचारणीय नहीं है। सूरदासजी जन्मान्ध थे, और अधिक पढ़े लिखे भी नहीं थे। वे आरम्भमे विनयके पद गाकर उसी प्रकार निर्वाह करते थे जिस प्रकार आजकल कितने ही सूर किया करते हैं। किन्तु वल्लभाचार्यजीके सम्पर्कमे आनेपर उन्होंने कृष्णकी भक्ति अपनाई। भक्तिभावका उन्मेष होनेसे प्राक्तन सस्कारोके कारण उनमे कवित्व-शक्तिका स्फुरण हुआ और अपनी बोलचालकी भाषामे वे ऐसी रससिद्ध रचना करनेमें सफल हुए। इसलिये उनके काव्यमे भावपक्षके साथ कलापक्षका जो उत्तम रूप व्यक्त हुआ है उसका महत्त्व स्वय प्रकट है। इस दृष्टिसे देखनेपर सूरके काव्यमें सभी गुणो, सभी वृत्तियो, सभी मुख्य रसो और उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि अलकारोका स्वाभाविक समावेश मिलता है। वर्णनोमे वे अपने आप आते और खपते गए है किन्तु जहाँ भी ऐसे वर्णन आए हैं वे मनको रसाभिभूत कर देते है। उत्प्रेक्षाओका तो उन्होने अत्यधिक प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिए—

१. कटितट पीत बसन सुदेष।
मनहुँ नवघन दामिनी सजि रही सहज सुबेष॥

२. राजत रोम राजिव रेष।
नील घन मानो धूमधारा रही सूछम सेष॥

अनुप्रास भी सूरकी रचनाओमे कहीं अच्छे आए हैं। सूरने दृष्टिकूट पदोकी भी रचनाएँ की है। **सारंग** शब्दको लेकर रचा हुआ यह पद देखिए—

१ पद्मनि सारँग एक मझारि।
आपुहि सारँग नाम कहावै सारँग बरनी बारि॥
तामें एक छबीलो सारँग, अर्ध सारँग उनहारि।
अध सारँगपरि सकलइ सारँग अधसारंग बिचारी॥

तामहि सारँगसुत सोभित है ठाढ़ी सारग सँभारि ।
सूरदास प्रभु तुमहु सारँग बनी छबीली नारि ॥

इसी प्रकारका एक कूट पद यह है जिसमे सखी रूपकातिशयोक्ति द्वारा राधामे बागका आरोप करती हुई कृष्णसे कहती है—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
युगल कमलपर गज क्रीड़त है तापर सिंह करत अनुराग ॥
हरिपर सरवर सर पर गिरिवर गिरिपर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग ॥
फलपर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर सुक पिक मृग मद काग ।
खजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग ॥

सूरदासजीने प्रकृति-वर्णन भी किया है किन्तु वह सर्वत्र उद्दीपनके ही रूपमे आया है ।

इस प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनो दृष्टियोसे सूरदासजीकी रचनाएँ अपने क्षेत्रमे अद्वितीय हैं ।

कृष्णकाव्यके अन्य रचनाकार

सूरदासजीके पश्चात् ब्रजभाषामे कृष्ण-काव्यकी एक परम्परा ही चल पडी जिसमे नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास आदि तो अष्टछापके ही कवि है। इनके अतिरिक्त मीरा, रसखान आदि भी उसी क्रममें हुए। यह क्रम अविच्छिन्न रूपसे नागरीदास, अलबेली अलि, ललितकिशोरी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण कविरत्न आदिकी रचनाओमे अबतक चलता रहा ।

मीराबाई

मीराबाईका जन्म संवत् १५७३ मे मेडतेके राठौड़ राजा रत्नसिंहके घर हुआ। इनका विवाह उदयपुरके राणा-परिवारमे हुआ था। कुछ ही दिन पश्चात् इनके पतिका स्वर्गवास हो गया। आरम्भसे ही इनमे कृष्णभक्तिके अंकुर विद्यमान थे जो समय पाकर बढ़ते

गए और इनके हृदयमे कृष्ण भक्तिका विशाल तरु उत्पन्न हो गया। मीराकी भक्ति प्रेमोन्मादिनी गोपियोकी भक्ति-सी थी। इनके यहाँ कृष्ण-भक्तोका नित्य ही जमघट लगा रहता था। मन्दिरोमे भी जाकर वे कृष्णमूर्तिके समक्ष भजन-कीर्तन करती रहती थीं। इनके परिजन इससे बहुत ही रुष्ट रहा करते थे। कई बार इन्हे विष देकर मारनेकी भी चेष्टा की गई परन्तु इनपर विषका कोई प्रभाव न पड़ा। इन्होने द्वारिका और वृन्दावनकी भी यात्राएँ कीं जहाँ सर्वत्र इनका देवियो-सा सम्मान होता था। इनकी मृत्यु सवत् १६०३ मे हुई इसलिये गोस्वामीजीके साथ इनके पत्र-व्यवहारवाली बात निराधार प्रतीत होती है। इसी प्रकार रैदासके इनके गुरु हानेकी कथा भी असगत है क्योकि रैदास मीराके समकालीन नहीं थे और न मीरा कभी काशी आई थीं।

मीराकी भक्ति माधुर्य भावकी थी। ये कृष्णको पतिरूपमे भजती थीं और कृष्णके अतिरिक्त ससारमे किसीको पुरुष नहीं मानती थीं।

मीराके अधिकाश पद कृष्णकी रूपमाधुरी और बाल-लीलाको लेकर रचे गए हैं। इनके अतिरिक्त इन्होने विनयके भी अनेक पद गाए हैं जिससे इनका दैन्य भाव ही प्रकट होता है फिर भी मीरा अपनेको

मीराबाई प्रेम दिवानी साँवलिया बर पाना।

ही कहती हैं।

मीराका प्रेमभाव वियोगपक्ष-प्रधान है। इन्हे प्रियतमकी प्राप्ति नहीं हुई है अतः उसके विरहमे ये तडपती रहती हैं—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।

इस भावकी भक्तिके कारण कुछ लोग इनपर सूफियोके रहस्यवादकी भी छाप मानते हैं किन्तु प्रेमाभक्ति तो हमारे यहाँकी अत्यन्त प्रौढ भक्ति मानी गई है। सूफी लोग तो अपनेको प्रेमी और ईश्वरको प्रेमिका

मानते हैं पर यहाँ तो साक्षात् कृष्णको ही अपना प्रिय और प्रेमी माना है।

मीराकी रचनाएँ राजस्थानी, राजस्थानी-मिश्रित ब्रज और शुद्ध ब्रजभाषामे है। ये कवयित्री नहीं थीं, भक्त थीं। उसीके उद्रेकमें इनके भाव मुखरित हो उठे। इसलिये जहाँ जो भाषा आ गई आ गई। इन्होंने राग-रागिनियोमे पद गाए है। मीराकी रचनाओसे दो उदाहरण दिए जा रहे है। मीराके नामसे चार ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिनमे एकका भी ठिकाना नहीं, केवल स्फुट पद ही मिलते है—

१. बसो मेरे नैननमें नँदलाल।

मोहनि मूरति साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल॥
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्तीमाल।
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर सब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त-बछल गोपाल॥

२. बंसीवारो आयो म्हारे देस।

थारी साँवरी सूरत बारी बैस।
आऊँ आऊँ कर गया साँवरा कर गया कौल अनेक।
गिणते गिणते घिस गई उँगली घिस गई उँगलीकी रेख॥
मैं बैरागिन आदिकी थारी म्हारे कदको सँदेस।

रसखान

रसखान राजवंशके थे, यह तो उनके इस दोहेसे ही प्रकट है—

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा बसकी, ठसक छाँड़ि रसखान॥

इसके पश्चात्

प्रेमनिकेतन श्रीबनहि, आय गोबरधन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल-स्वरूप ललाम॥

यह कहना तो कठिन है कि किस गदरकी इन्होंने चर्चा की है और किस राजवशसे इनका सम्बन्ध था किन्तु दो सौ बावन वैष्णवनकी

वार्तामे इनका उल्लेख हुआ है। साथ ही इन्हे गोस्वामी बिट्ठलनाथ-जीका कृपापात्र भी बताया गया है। बिट्ठलनाथजी सवत् १६४० मे गत हुए थे। अत· इसके आसपास ही इनका रचना-काल मानना चाहिए।

रसखानकी रचनाएँ इतनो मधुर और हृदयस्पर्शी हैं कि मन उनमें तल्लीन हो जाता है। इनके शब्द-शब्दसे रस टपका पडता है। चलती, साफ और सरल भाषामे रसभाव युक्त रचना कम ही कवियोने की है और उनमे रसखानकी भी गणना की जाती है। इनकी एक विशेषता यह है कि इन्होने पद न गाकर कवित्त-सवैयोमे कृष्णकाव्यकी रचना की है। इन्होने दोहे भी रचे हैं जो **प्रेमबाटिकामे** संग्रहीत हैं। ये ब्रजभूमि, ब्रजराज और ब्रजमण्डलके अद्भुत प्रेमी थे। इनकी रचनाओके उदाहरण लीजिए—

१ मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज-गोकुल गाँवके ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको जो कियौ हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौ तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि-कूल कदम्बकी डारन॥

२ मोर पखा सिर ऊपर राखिहौ, गुंजकी माल गरे पहिरौंगी।
ओढि पीताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वारन सग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
पै मुरली मुरलीधरको अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

३ प्रेम फाँसि सो फँसि मरै, सोई जियै सदाहि।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं॥

रसखानके पश्चात् भी कितने ही कवियोने कृष्ण-चरितका गान किया है किन्तु उनमेसे अधिकाशने अन्य प्रकारके काव्योकी भी रचनाएँ की हैं।

(ख)

स्फुट-काव्य

आजसे सौ वर्ष पूर्व तक काव्य-रचनाके लिये व्यापक रूपसे ब्रजभाषाका ही प्रयोग होता रहा है। इसलिये सभी क्षेत्रोके निवासी

प्रायः अपने उद्‌गार इसी भाषामे पकट करते रहे हैं। ब्रजभाषामे रचना करनेवाले कवियोने अधिकतर मुक्तको की ही रचना की चाहे वह काव्य कृष्णपरक रहा हो अथवा अन्य प्रकारका। कृष्णपरक काव्य रचनेवालोके अतिरिक्त जिन लोगोने मुक्तक छन्दोकी रचना की है उनकी दो श्रेणियाँ है—१. वीर, शृगार आदि रसोमे कविता करनेवाले सर्वथा स्वतन्त्र कवि तथा २. रीतिको आधार बनाकर काव्य रचनेवाले। इनपर अलग-अलग विचार करना ही उचित प्रतीत होता है।

स्वतन्त्र कवि

साहित्य (काव्य) रचना करनेवालोमे एक वर्ग सब कालमे और सब भाषाओमे ऐसा रहता है जो किसी प्रकारकी परम्परासे बँधकर नहीं चलता और न किसी निश्चित उद्देश्यसे या निश्चित विषयको लेकर चलता है। इस प्रकारके कवि मौजमे आनेपर मनमे भावोद्रेक होनेपर कुछ लिख दिया करते हैं जो पीछे चलकर उनके नामपर सगृहीत हो जाता है। ब्रजभाषाके जिस पहले कविकी चर्चा मिश्र बन्धुओने की है वह सेन कवि है। किन्तु पुष्ट प्रमाणोके अभावमे यह कहना कठिन है कि वह सूरदासजीसे पहले हुआ या पीछे। उसका कोई ग्रन्थ भी प्रकाशमे नहीं आया है। उक्त कविका केवल एक प्रचलित कवित्त नीचे दिया जा रहा है, जिसकी भाषा अवश्य ही पुष्ट है—

जबते गोपाल मधुबनको सिधारे आली,
मधुबन भयो मधु दानव बिषम सों।
सेन कहै सारिका सिखंडी खजरीट सुक,
मिलिकै कलेस कीनो कालिंदी कदमसों।
जामिनी बरन यह जामिनी मैं जाम-जाम,
बधिककी जुगुति जनावै टेरि तम सों।
देह करै करज करेजो लियो चाहति है,
काग भई कोयल कगायो करै हमसों॥

इसके पश्चात् ब्रजभाप.मे रचना करनेवालोमे कृष्ण भक्त कवियोका ही क्रम आता है। बीच-बीचमे नीति, शृ गार आदिकी फुटकल रचनाएँ भी होती रही हैं जिसका क्रम अबतक चला आया है। इस प्रकारके फुटकल काव्य रचनेवालोमे सर्वप्रथम जिस मुख्य कविका नाम आता है वह हैं ब्रह्मभट्ट गग कवि जो अकबरी दरबारके प्रमुख कवि थे। उस समय अकबरके दरबारमे नरहरि कवि जैसे प्रतिष्ठित कवि भी थे किन्तु गग जैसा स्वतन्त्र प्रकृतिका कवि उस दरबारमे दूसरा कोई नहीं था।

गंग

ये अत्यन्त निर्भीक और सरस हृदय कवि थे। रहीम इनको बहुत मानते थे। इनके एक ही छप्पयपर प्रसन्न होकर रहीमने उनको ३६ लाख रुपये दे डाले थे। गगकी अधिकतर रचनाएँ शृगार-विषयक हैं किन्तु वीररस-सम्बन्धी रचनाएँ भी इन्होने की हैं। गंगमे वाग्वैदग्ध्य प्रचुर परिमाणमे पाया जाता है। प्रसिद्ध है कि किसी नवाबने अप्रसन्न होकर इन्हे हाथीसे चिरवा डाला था। मरते समय इन्होने यह दोहा कहा था—

> कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बब।
> सकल सभाहिं प्रनाम करि, बिदा होत कवि गग।

इनका एक कवित्त नीचे दिया जा रहा है—

> बैठी थी सखिन संग, पियको गवन सुन्यो,
> सुखके समूहमें वियोग आग भरकी।
> गग कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन बह्यो
> लागत ही ताके तन भई बिथा जरकी।
> प्यारीको परसि पौन गयो मानसर पँह
> लागत ही औरै गति भई मानसरकी।
> जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो
> जल जरि गयो पक सूख्यो भूमि दरकी।

इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, स्फुट छन्द ही मिलते है।

रहीम

नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना अकबरके सरक्षक बैरमखाँके पुत्र थे। इनका जन्म सवत् १६१० मे हुआ था। ये संस्कृत, अरबी, फारसी, तुर्की, हिन्दी सभी भाषाओके अच्छे विद्वान थे और सबमे अच्छी कविताएँ करते थे। कवियो और विद्वानोका ये बडा आदर-सम्मान करते थे। इनके दरबारमे कवियोकी भारी भीड लगी रहती थी। दानी और परोपकारी इतने बड़े थे कि अपना सब कुछ दीन-दुखियोको लुटा दिया फिर भी कभी नामकी कामना न की। इनका अन्तिम समय बड़े सकटमे बीता। गोस्वामीजीसे भी इनकी मैत्री थी। यह प्रसिद्ध ही है कि इनके अनुरोधपर ही गोस्वामीजीने बरवै रामायण लिखा।

रहीम उच्च कोटिके परोपकारी और दानी सज्जन तो थे ही, उन्होने कवि-हृदय भी बडा विशाल पाया था। रहीम अपने दोहोके लिये ही मुख्यतया प्रसिद्ध है। इनके दोहे लोगोकी जिह्वापर रहते हैं। अपने दोहोमे इन्होने जीवनकी सच्ची परिस्थितियोका मार्मिक अनुभव व्यक्त किया है। इसीसे इनके दोहे इतने लोकप्रिय हो पाए हैं। इन्होंने कभी कल्पनाकी उडान नहीं भरी। दोहोके अतिरिक्त रहीमने बरवै, कवित्त, सोरठे आदि भी लिखे हैं और इन सबमे इतनी अद्भुत सफलता प्राप्त की है कि उनकी जोडके कवि अधिक नहीं हुए। ब्रज भाषा और अवधी दोनोमे इन्होने रचनाएँ की हैं। दोनोमे इनकी रचनाएँ सफल हुई हैं। इनका **बरवै-नायिकाभेद** अवधीमे लिखी अत्यन्त मधुर रचना है। इसमेसे रस जैसे छलका पडता है। रहीमका एक भी छन्द ऐसा न मिलेगा जो सरस न हो, मधुर न हो।

इनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी-सस्कृत संयुक्त, कुछ सस्कृत-फारसी संयुक्त और कुछ केवल संस्कृतमे भी हैं।

रहीमका देहावसान सवत् १६८३ मे हुआ। इनकी रचनाओंके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

१ यो रहीम सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
ज्यो बडरी अँखियाँ निरखि, आँखिनको सुख होत॥

२. ज्यों रहीम गति दीपकी, कुल कपूत गति सोय।
बारे उँजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥

३. भोरहि बोलि कोइलिया, बढ पछिताय।
घरी एक भरि सजनी, रहु चुप जाय॥

४, सघन कुंज अमरैया, सीतल छाँहि।
झगरति आइ कोइलिया, पुनि उड़ि जाहि॥

५. आग लागि घर जरिगा, बिधि भल कीन।
पियके हाथ घइलवा, भरि भरि दीन॥

६. जाति हुती सखि गोहनमें मनमोहनको लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रजकी उनहूँ नँदलालको रीझिबो जानो॥
जाति भई फिरिकै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यो कमनैत दमानकमें, फिरि तीरसो मारि लै जात निसानो॥

सेनापति

ब्रजभाषाके कवियोमे यदि किसीने प्रकृति-निरीक्षण करके ललित पदविन्यासके साथ मधुर ब्रजभाषामे प्रकृति वर्णन किया है तो वे एक मात्र सेनापति ही है। तभी तो उन्होने गर्वपूर्वक अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम
जिन कीन्हें जज्ञ जाकी बिपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधरके समान जाके
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है॥
महाजानमनि विद्यादान हूमें चिन्तामनि
हीरामनि दीक्षित तें पाई पण्डिताई है।

सेनापति सोई सीतापतिके प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है ॥

ये अनूपशहरके रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल सवत् १६४१ के लगभग माना जाता है। इन्होने **कवित्त रत्नाकर** और **काव्य कल्पद्रुम** नामक दो ग्रन्थोकी रचना की है। कवित्त रत्नाकर-की रचना सवत् १७०६ मे हुई। इस ग्रन्थमे पॉच भाग हैं। पहले भागमे अलकारोका वर्णन है, दूसरेमे शृंगारिक कवित्त आदि हैं, तीसरेमे षड्ऋतु वर्णन है, चौथेमे रामकथा और पॉचवेंमे भक्ति-सम्बन्धी छन्द हैं। इनकी कविताएँ उच्च कोटिकी हैं। भाषापर भी इनका बड़ा अच्छा अधिकार है। इनके काव्यमे जो माधुर्य है वह विशुद्ध और सरस ब्रजभाषाका है। इनकी कवित्त्व-शक्ति भी अद्भुत थी। प्रकृति और मानव-हृदयका इनका अध्ययन गहरा था। अलकार-प्रियता होनेपर भी इनकी कवितामे कहीं कृत्रिमता नहीं आने पाई है। सेनापतिने अधिकतर कवित्त ही लिखे हैं किन्तु इस शुद्धतासे कहीं एक भी शब्द इधरसे उधर नहीं किया जा सकता। इनका ऋतु-वर्णन ऐसा सजीव है कि बहुत लोगोको उनके बहुतसे छन्द कण्ठ हैं।

सेनापतिकी रचनाओके दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

१. सिसिर तुषारके बुखारसे उखारतु है
पूस बीते होत सून हाथपाथ ठिरिकै।
द्यौसकी छुटाई की बड़ाई बरनी न जाय
सेनापति गाई कछू सोचिकै सुमिरिकै ॥
सीतते सहस कर सहस चरन ह्वैकै
ऐसो जात भाजि तम आवत है घिरिकै।
जौलौं कोक कोकी सौं मिलत तौ लौं होत राति
कोक अति बीच ही ते आवतु है फिरि कै ॥

२ महामोह कदनिमें जगत जकंदनिमें
दीन दुख दुदनिमें जात है बिहायकै।
सुखको न लेस है कलेस सब भाँतिनको
सेनापति याही ते कहत अकुलायकै ॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं
डारौं लोक लाजके समाज बिसरायकै।
हरिजन पुजनमें वृंदावन कुजनि में
रहौं बैठि कहूँ तरवर तर जायकै ॥

सेनापति कबतक रहे यह ज्ञात तो नहीं किन्तु अन्तिमकालमे इन्होने क्षेत्र-सन्यास ले लिया था।

बिहारी

कविवर बिहारीलाल ब्रजभाषा काव्यके अद्भुत रत्न हैं। इनका ग्रन्थ सब प्रकारसे अनूठा है। इस ७०० से कुछ ऊपर दोहेवाले एक ग्रन्थकी जितनी टीकाएँ हुई हैं उससे ही इसकी लोकप्रियता सिद्ध हो जाती है। इन दोहोमे श्रृंगार-सम्बन्धी बडी मार्मिक उक्तियाँ भरी पडी हैं, इसीलिये लोगोने इनके प्रति बडा अनुराग दिखाया।

बिहारीलालका जन्म सवत् १६५० मे ग्वालियरके निकट बसुवा गोविन्दपुरमे माना जाता है। ये माथुर चौबे थे। लडकपनमें ये बुन्देलखण्डमे रहे तथा युवावस्थामे अपनी ससुराल मथुरामे रहे। इसके पश्चात् ये जयपुर चले गए जहाँके तत्कालीन नरेश महाराज जयसिंहके दरबारमे इन्हें वह सम्मान, प्रतिष्ठा, आदर और साथ ही सम्पत्ति प्राप्त हुई कि जिसका ठिकाना नहीं।

जब ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे तब राजा तो महलमें रंगरलियाँ मना रहे थे और मन्त्री सेनापति आदि चिन्तित बैठे थे। बिहारीलालको ज्ञात हुआ कि नवपरिणीता महारानीके प्रेममे पड़कर

जयसिंह सब सुधबुध खो बैठे हैं और दरबारमे आ ही नहीं रहे है, फलतः राज-काजमे कठिनाई हो रही है। किसी कौशलसे बिहारीने महाराजके पास यह दोहा लिखकर भिजवाया—

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास यहि काल।
अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

दोहा पढते ही महाराज बाहर आ गए और यह ज्ञात होनेपर कि बिहारीलालकी ही वह कृति है महाराजने उन्हे दरबारमे रख लिया और निवेदन किया कि आप ऐसे ही सरस दोहे नित्य सुनाया करें। बिहारीलालको सब कुछ तो प्राप्त ही था किन्तु इन दोहोपर भी महाराज प्रति दोहा एक स्वर्णमुद्रा देने लगे। धीरे-धीरे दोहोकी सख्या सात सौ तक पहुँच गई जिन्हे सगृहीत करके **बिहारी सतसई** का नाम दे दिया गया। अनुमानतः इनका जीवन काल सवत् १७२० तक था।

बिहारीकी ख्यातिका कारण

बिहारीलालने सतसईके अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ नहीं रचा; दोहेके अतिरिक्त और कोई छन्द भी नहीं लिखा। फिर भी ब्रजभाषाके अन्य बहुतसे अच्छे कवि बिहारीकी लोकप्रियताके पासतक न पहुँच सके। इसका कारण यही है कि १. उनके दोहे शृंगार रसकी अनूठी उक्तियोसे भरे है इसलिये वे सहज ही पाठक या श्रोताका ध्यान आकृष्ट कर लेते है। २. कविने अपनी बातें संक्षेपमे और मार्मिक ढगसे कह दी हैं। ३. इनके दोहे इतने स्पष्ट हैं कि पढ़ते ही उनका भाव मर्मतक पहुँच जाता है। इसीलिये कहा गया है—

सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर।
देखतमें छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥

बिहारकी रसव्यञ्जना

बिहारीके दोहोमे जो रस और भाव भरा है वह कम कवियोमे पाया जाता है। इनकी रसव्यञ्जनाका आनन्द लेना हो तो इनके

अनुभावोपर दृष्टि डालनी चाहिए जिनकी इन्होने अत्यन्त मधुर और सजीव योजना की है। देखिए—

१ नासा मोरि, नचाइ दृग, करी ककाकी सौंह।
कॉटेसी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥

२ ललन चलन सुनि पलनमें, अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू, झूठै ही जमुहाइ॥

बिहारीकी वस्तुव्यजना

बिहारीमें वस्तुव्यजनाकी मार्मिकता भी कम नहीं है। तन्वगता, विरहताप विदग्धता, कान्ति आदिके वर्णनमे बिहारीका कौशल देखते ही बनता है। यह ठीक है कि ऐसे वर्णन कहीं कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाते है तथापि ये उदाहरण पूरी सतसईमें दस पॉच ही मिलेंगे। कहीं-कहीं यह व्यजना क्लिष्ट भी हो गई है और इसे समझनेमे रूढि ही पाठककी सहायता कर सकती है।

१ छाले परिबेके डरन, सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियै गुलाब कैं, झवा झवावति पाइ॥

२ नये बिरह बढ़ती बिथा, खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परौसिन्यौ, हरषि हँसी तिहि काल॥

बिहारीका वर्ण्यविषय

बिहारीके दोहोंमे श्रृगार वर्णनके प्रसगमे नायक-नायिकाके रूपमें कृष्ण और राधाका नाम ही लिया गया है। इसलिये स्वभावतः मुरली, रास आदिका वर्णन आया है। बिहारीको वर्ण्य विषय अधिकतर नखशिख-वर्णन और नायिकाभेद ही है। इसीलिये इन्होने नायिकाओको विविध रूपोमे चित्रित किया है। बिहारीकी मुख्य नायिकाएँ ये हैं— स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्राप्त यौवना मुग्धा, मध्या, प्रौढा, प्रौढा खण्डिता, अधीरा, विश्रब्ध नवोढा, पूर्वानुरागिनी, खण्डिता,

प्रौढ़ाधीरा खण्डिता, उत्तमा खण्डिता, मानिनी, स्वयदूतिका, प्रोषितपतिका, अन्य-सम्भोग दुःखिता, ग्रामीणा, प्रेमगर्विता, अनूढा परकीया, मुदिता, अनुशयाना, प्रौढा प्रवत्स्यत्पतिका, क्रियाविदग्धा, आगमिष्यत्पतिका, अङ्कुरित-यौवना, प्रवत्स्यत्पतिका, लक्षिता, कलहान्तरिता, कुलटा और गणिका। नायिकाओका ऐसा विस्तृत वर्णन होनेसे ही कुछ लोग ऐसा मानते है कि यद्यपि बिहारीने लक्षण ग्रन्थके रूपमे अपने दोहोंकी रचना नहीं की तथापि उदाहरण उन्होने इसी विचारसे रक्खे। किन्तु वह युग इस प्रकारकी रचनाओका ही था और बिहारीलालको राजदरबामे रहकर इस कोटिकी ही रचना करनी थी अत. इन्होने नायिकाओंका ही वर्णन किया।

बिहारीने नीति-विषयक कुछ दोहे भी रचे है। बिहारीके कुछ दोहे नीचे दिए जा रहे है—

१ पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आज मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

२ बतरस-लालच लालकी, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥

३ दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

४ सघनकुज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुनाके तीर॥

५. पत्राही तिथि पाइए, वा घरके चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै, आनन ओप-उजास॥

६. इत आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

७. मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईं परे, स्याम हरित-दुति होय॥

घनानन्द

घनानन्द आनन्दघन या घनआनँद एक ही व्यक्तिके नाम हैं। अब तक घनानन्दका जन्म सवत् १७४६ मे और देहावसान संवत् १७६६ मे माना जाता था किन्तु इधरकी खोजोके अनुसार उनका जन्म और मृत्यु सवत् क्रमशः १७३० और १८१८ स्थिर किया गया है। ये दिल्लीके रहनेवाले और बादशाह मुहम्मद शाहके मीरमुशी (प्रधान लिपिक) थे। बादशाहपर इनका अद्भुत प्रभाव देखकर कुछ लोगोने इन्हे उस पदसे हटवानेका एक कुचक्र रचा और उनसे कहा कि मीरमुशीजी गान-विद्याके अच्छे मर्मज्ञ और स्वय उच्च कोटिके गायक हैं। बादशाहकी आज्ञा हुई पर इन्होने टाल दिया। अब षड्यन्त्रकारियोको अवसर मिल गया। उन्होंने कहा कि अपनी प्रेमिका सुजान वेश्याके कहनेपर ये तत्काल गायँगे। वह बुलाई गई और उससे कहलवाया गया। इन्होंने उसकी ओर मुँह करके और बादशाहकी ओर पीठ करके ऐसा अच्छा गाना गाया कि सब लोग रसाभिभूत हो गए। बादशाह इनके गानेपर तो बहुत ही प्रसन्न हुआ और इसीलिये इनकी बेअदबीपर इन्हे प्राण दण्ड न देकर केवल दिल्लीसे निकलवा दिया। इन्होने सुजानको भी साथ ले चलना चाहा परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। इससे ये इतने दुखी हुए कि वृन्दावन चले गए और निम्बार्क सम्प्रदायमे दीक्षित होकर वहीं रहने लगे। अहमदशाह अब्दालीके द्वितीय आक्रमणके समय पठानोने इनको घेर लिया और 'ज़र ज़र ज़र' (रुपये) चिल्लाने लगे। किन्तु इस विरक्तके पास क्या था। इन्होने तीन बारके लिये तीन मुट्ठी वृन्दावनकी धूल उनपर फेंक दी। क्रुद्ध पठानोंने इनका हाथ ही काट लिया। इसीमे ये मर गए। मरते समय अपने रक्तसे इन्होंने भूमिपर यह कवित्त लिखा था—

> बहुत दिनानकी अवधि आसपास परे,
> खरे अरबरनि भरे हैं, उठि जानको।

कहि कहि आवन छबीले मन-भावनको,
गहि गहि रखति है दै दै सनमानको ॥
झूठी बतियानिकी पत्यानितें उदास ह्वैकै,
अब ना घिरत घनआनँद निदानको।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजानको ॥

इन्होने अपनी कवितामे जो बारबार 'सुजान'को सबोधित किया है वह शृंगार पक्षमे नायकके लिये और भक्ति पक्षमे कृष्णके लिये प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। 'सुजान'का नाम इन्हे इतना प्रिय था कि विरक्त होकर भी ये उसे न छोड़ सके।

घनानन्द जैसी शुद्ध, रसमयी और शक्ति प्रवाह-समन्वित ब्रजभाषा लिखनेवाले कवि कदाचित् ही हुए हो। स्वय इन्होने भाषा पर अपने अधिकारकी चर्चा इस सवैयेमे की है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरताहुके भेदको जानै।
योग वियोगकी रीतिमें कोविद, भावना भेद स्वरूपको ठानै ॥
चाहके रगमें भीन्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
भाषा प्रवीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जू के कवित्त बखानै ॥

इनके रचे चालीस ग्रन्थ कहे जाते हैं किन्तु उनमेसे बहुतोका विवरण नहीं मिलता। इनका एक ग्रन्थ **विरहलीला** है जिसकी रचना अरबी छन्दोमे हुई है परन्तु भाषा उसकी ब्रज ही है।

घनानन्द शृगाररसके ही प्रधान कवि हैं। यद्यपि इन्होने शृगारके दोनो पक्ष लिए हैं पर वियोगकी अन्तर्दशाओका ही वर्णन इन्होने प्रधान रूपसे किया है। इसीसे इनकी रचनाओसे 'प्रेमकी पीर' फूट निकली है। किन्तु इनके वियोग वर्णनकी विशेषता यह है कि उसमे बाह्यार्थ-निरूपण, बाहरी उछलकूद न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपण ही मुख्य है।

इनकी रचनाओसे रस टपका पडता है। इनकी रचनाएँ वैदर्भी वृत्तिमे हैं अतः उनमे स्वाभाविक मधुरता और सरसता पाई जाती है। भाषापर पूरा अधिकार होनेसे इनकी रचनाओको और भी बल मिल गया है और ये जो बात कहना चाहते हैं इस ढगसे कह जाते हैं कि पाठकका हृदय भी घनानन्दकी ही भाँति अनुरागमय हो जाता है।

इनकी भाषाकी एक विशेषता यह भी है कि इन्होने ब्रजभाषाकी सिद्धोक्तियो तथा लोक-व्यवहारमे प्रचलित भाषाके माधुर्यका भी भरपूर प्रयोग किया है।

घनानन्दकी रचनाओके कुछ उदाहरण लीजिए—

१ निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रग भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यो चख ढोरि रहैं, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बट प्रान गए गति सों मतिमें अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यो जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की॥

२. अति सूधो सनेहको मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकै कपटी जो निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

३. परकारज देहको धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधाके समान करौ, सबही बिधि सुन्दरता सरसौ॥
घनआनँद जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसास सुजानके आँगन मो अँसुवानको लै बरसौ॥

४ गुरुनि बतायो राधा मोहन हू गायो
सदा सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहिरे।
अद्भुत अभूत महिमडन परे तें परे,
जीवनको लाहु हा हा क्यों न ताहि लहुरे॥
आनँदको घन छायो रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेय सों पपीहापन बहुरे।

जमुनाके तीर केलि कोलाहल भीर,
ऐसे पावन पुलिनपर पतित परि रहुरे ॥

इस कवित्तसे घनानन्दका वृन्दावन-प्रेम प्रकट होता है।

घनानन्दके पश्चात् स्फुट रचना करनेवालोंमे आलम, बोधा, ठाकुर, पजनेस आदि अच्छे कवि हो गए हैं जिन्होने शृंगार-विषयक मनोहारिणी रचनाएँ की हैं। इधर वर्तमान कालमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनकी मित्र-मण्डलीने बहुत ही अनूठे और मधुर छन्द ब्रजभाषामे रचे। भारतेन्दुने नागरी गद्यका प्रचार किया और उसे व्यवस्थित रूप दिया किन्तु काव्य उन्होने प्रायः सब ब्रजभाषामे लिखा। उनका और उनकी पूरी मण्डलीका विश्वास था कि नागरीमे सरस रचनाएँ नहीं हो सकती। वे पुष्टि-मार्गीय वैष्णव थे अतः उनकी कृष्ण-सम्बन्धी रचनाएँ पुरानी परम्परा और प्रणालीपर ही हुई हैं किन्तु वे अत्यन्त प्रेमी जीव थे इसलिये उन्होने फुटकल रचनाएँ भी बहुत की हैं। अपने नाटकोके पद्यांश उन्होने ब्रजभाषामे ही लिखे। प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राय देवीप्रसाद पूर्ण, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगीहरि, बिहारीलालकी परम्पराके वर्तमान कवि दुलारेलाल भार्गव, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही आदिने ब्रजभाषामे अच्छी स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। आज भी ब्रजभाषाकी रचनाएँ हो रही हैं और कवि सम्मेलनोके अवसर पर ये कविताएँ प्रायः सुननेको मिला करती है। पुरानी परम्परामे बहुत कुछ परिवर्तन तो भारतेन्दुने ही कर दिया था और भाषाको चलता रूप प्रदान किया था किन्तु इधर उसका और भी परिष्कार हुआ। इसका मुख्य श्रेय सत्यनारायण कविरत्नको है जिन्होने भाषाके शुद्ध चलते रूपका प्रयोग किया तथा अप्रचलित और बिगाड़े गए शब्दोका त्यागकर नया मार्ग दिखाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्लके बुद्धचरितमे भी भाषाकी विशुद्धता और चलतेपनपर अधिक बल दिया गया है। आजके गीतकार भी इसी प्रणालीका अवलम्बन कर रहे हैं।

(ग) रीति-काव्य

पर्याप्त सख्यामे लक्ष्य ग्रन्थोकी रचना हो चुकनेपर लक्षण-ग्रन्थोकी रचना स्वाभाविक है। हिन्दीमे साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी जो रचनाएँ हुई है उनका आधार सस्कृतका तद्विषयक साहित्य ही है। प्रायः सभी कवियोने—या रीति-विषयक ग्रन्थ रचनेवालोंने—सस्कृतकी प्रणालीका ही अवलम्बन किया है या ऐसा कहिए कि ठीक उसीको हिन्दीमे उतार दिया है, अपनी ओरसे किसी प्रकारकी मीमासा नहीं की है। हिन्दीके सबसे पहले रीति-विषयक रचनाकार कृपाराम है जिन्होने सवत् १५९८ मे रस-विषयक कुछ निरूपण किए थे। इनके पश्चात् मोहनलाल मिश्र और करनेसने इन विषयोपर लेखनी चलाई किन्तु जिस कविने अधिक विस्तार-पूर्वक, व्यवस्थित ढगसे और शास्त्रीय पद्धतिपर इसका विवेचन किया वे थे केशवदास। आगे चलकर तो प्राय अधिकाश कवियोने यही धन्धा उठा लिया और जो कुछ भी रचनाएँ उन्होने कीं वह रीति पद्धतिको सामने रखकर ही। इसमे सबसे बडा दोष यह हो गया कि ये लोग आचार्य तो थे नहीं, कोरे कवि थे। कुछ लिखना इन्होने आवश्यक समझा तो काव्यागोके विवेचनके माध्यमसे शृगारिक रचनाएँ करने लगे। इसलिये न इनकी कवित्व-शक्तिसे और न इनकी काव्य-शास्त्रकी विवेचनासे साहित्य रसिक लाभ उठा सके, क्योकि लक्षणोके अनुसार उदाहरण प्रस्तुत करनेमे काव्य-सौष्ठव नष्ट हो गया और विवेचक-मीमासक बुद्धि न होनेसे काव्यागोका सम्यक् समीक्षण न हो सका। ये लोग पुरानी लकीर ही पीटते रहे। इनमे उल्लेख-योग्य सवप्रथम केशवदास हैं।

केशवदास

कविवर केशवदासजीका जन्म सस्कृतके गभीर और उच्चकोटिके विद्वानोके कुलमे संवत् १६१२ मे हुआ। ६२ वर्षकी आयु भोग कर

सवत् १६७४ के आसपास इन्होने शरीर त्याग किया। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और कृष्णदत्तके पौत्र तथा काशीनाथके पुत्र थे। ओरछा-नरेश रामसिहके भाई इन्द्रजीत सिह इनको बहुत मानते थे। ये प्राय उन्हींके यहाँ रहते थे और उन्हींके द्वारा रामसिहतक भी इनकी अच्छी पहुँच थी। इन्द्रजीतसिहपर किया गया एक करोडका अर्थदण्ड बीरबलकी मध्यस्थतासे अकबरको प्रसन्न कर इन्होने क्षमा करा दिया। अकबरके पश्चात् जब जहाँगीर सम्राट् हुआ तो उसने वीरसिहको ओरछेका राज्य दे दिया। केशव-दास वीरसिहके दरबारमे भी रहे। जहाँगीरके यहाँ भी सम्भवतः आप गए थे क्योकि इन्होने उसकी प्रशस्तिमे **जहाँगीर जस चन्द्रिका** लिखी है। इसी प्रकार वीरसिहकी प्रशस्तिमे **वीरसिंहदेव-चरित** लिखा है। इनके अतिरिक्त केशवदासके पाँच ग्रन्थ और मिलते हैं—**रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया, रतनबावनी** और **विज्ञानगीता**।

वीरसिहदेव-चरित, रतनबावनी, विज्ञानगीता, और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका साधारण कोटिके ग्रन्थ हैं। काव्यकी दृष्टिसे न इनका कोई महत्त्व है और न ये विचारणीय हैं। केशवदासकी प्रतिष्ठाके आधार केवल तीन ग्रन्थ है—कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचन्द्रिका।

कविप्रियाकी रचना सवत् १६५८ मे हुई। यह अलकार-शास्त्रका ग्रन्थ है। केशव अलकारवादी कवि थे। दण्डी, भामह आदिकी भाँति ये अलकारको ही काव्यका मुख्य तत्त्व मानते थे तथा रस, रीति आदिको उसके अन्तर्गत ही लेते थे। चमत्कारप्रियता अधिक होनेसे इनकी दृष्टिमे वह काव्य ही महत्त्वहीन था जिसमे अलकारोकी छटा न हो। दण्डीके आधारपर ही इन्होने अलकारोका विवेचन किया है और उदाहरण भी बहुतसे प्राचीन ग्रन्थोके उठाकर हिन्दी रूपमे रख दिए हैं। अनुवादमे कहीं-कहीं ऐसी गडबड़ी भी हो गई है कि

कुछका कुछ अर्थ इन्होने कर दिया है। इसमे इनकी मौलिक विवेचना शक्तिके दर्शन नहीं होते।

रसिकप्रियाकी रचना कविप्रियासे दस वर्ष पूर्व हुई थी। यह रसशास्त्रका ग्रन्थ है। इसमे नखशिख और नायिकाभेदका भी वर्णन किया गया है। केशवदासने इस ग्रन्थमे शृङ्गारका रसराजत्व सिद्ध किया है और उसके प्रच्छन्न और प्रकाश्य ये दो भेद भी कर दिए हैं। यही भेद नायिका-भेदमे भी रक्खा गया है। इस ग्रन्थमे जो उदाहरण दिए गए हैं वे सरस और हृदयग्राही हैं।

केशवकी सहृदयता

वस्तुतः केशवदासकी कवि-प्रतिभा उनकी सहृदयता, उनकी भावव्यञ्जना, उनका शब्द-विन्यास और उनकी भाषाका लोच और माधुर्य देखना हो तो इन दोनो ग्रन्थोको देखना चाहिए। केशवदासजीको हृदयहीन कहा गया है। कविके लिये इससे बढ़कर निन्दात्मक दूसरी बात हो ही नहीं सकती।

केसव केसनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

जो व्यक्ति ऐसा रसिक और सरस हृदय हो उसके सम्बन्धमे यह नहीं कहा जा सकता कि वह कवि-हृदय शून्य है।

रामचन्द्रिका केशवदासजीका अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। केशवको 'कठिन काव्यका प्रेत' कहा जाता है और कहा जाता है—'कविको देन न चहै बिदाई। पूछै केसवकी कविताई॥' केशव-विषयक ये उक्तियाँ रामचन्द्रिकाको लेकर ही कही गई हैं। इस ग्रन्थमे रामचरितका वर्णन किया गया है। इसकी रचना कविने सवत् १६५८ मे की। ऐसा प्रतीत होता है कि केशवने बहुतसे स्फुट छन्दोकी रचना करनेके पश्चात् महाकाव्यकी रचनाका भी विचार किया और इसके लिये रामको नायक चुना। केशव पण्डितोके घरमे उत्पन्न हुए थे।

उनको अपनी विद्वत्ताकी धाक भी जमानी थी तथा एक कथाकाव्य भी रचना था। इस सम्बन्धमे सस्कृतमे प्रचुर परिमाणमे साहित्य उपलब्ध था ही। केशवने उसका खुलकर उपयोग किया और इस प्रकार महाकाव्यका एक ढॉचा खडा कर दिया।

केशवका प्रबन्ध कौशल

महाकाव्यका रूपक तो केशवदासने अवश्य उपस्थित किया किन्तु वे कथाकाव्यकी रचनाके अधिकारी नहीं थे यह निर्विवाद है। कथाकाव्यकी रचनाके लिये कविमे जिन गुणोकी आवश्यकता होती है वे केशवमे रत्तीभर नहीं थे। शास्त्रपारगत विद्वान होनेके कारण शास्त्रोमे वर्णित महाकाव्यके लक्षण तो उन्होने रामचन्द्रिका पर ला घटाए परन्तु बाहरी ढॉचेसे आगे वे नहीं बढ सके। कथाकाव्यकी रचनामे तीन-चार मुख्य बातें है, केशव उनको नही सँभाल पाए। पहली बात है कथाकी धाराका प्रवाहमयी होना। केशव छन्दोका जाल इस प्रकार फैला गए हैं कि रामचन्द्रिकाका पाठक यह अनुभव करने लगता है कि हम किसी प्रवाहमयी कथाका आनन्द न लेकर छन्दोकी क्रीडास्थलीमे विचर रहे है। दूसरी बात है काव्यानुपात। केशवने इसका भी ध्यान नहीं रक्खा है। रामके जन्मसे लेकर विश्वामित्रके अवध पहुँचनेतककी कथा एकदम सक्षिप्त कर दी है। तीसरी बात है मार्मिक स्थलो की पहचान। या तो केशव इन्हे पहचान ही नहीं पाए है या फिर उनका वर्णन नहीं कर पाए हैं। चौथी बात है पात्रोका शीलदर्शन और पात्रोका चरित्र-चित्रण जिससे कथामे आदर्शकी सृष्टि होती है तथा सजीवता आती है। दो उदाहरण पर्याप्त है। राम वन जानेके पूर्व अपनी माताको पातिव्रत्यका उपदेश करते है तथा भरत जैसे साधु-चरित व्यक्तिपर सन्देह करके राम लक्ष्मणको आदेश देते है कि भरतसे सतर्क रहना तथा उनपर दृष्टि रखना। इन प्रसगोने रामके चरित्रका सम्पूर्ण आदर्श ही नष्ट कर दिया। इनके अतिरिक्त केशवके वर्णन कहीं भी सरल और स्वाभाविक नहीं हैं। इससे कथा समझने

और उसका आनन्द लेनेमे निरन्तर बाधा पडती है। अलकार-प्रदर्शन और पाण्डित्य प्रदर्शनकी भावनाने ग्रन्थको और भी चौपट कर दिया। इस दृष्टिसे प्रबन्धकाव्यकी रचनामे केशव सर्वथा विफल प्रतीत होते हैं। हाँ, स्फुट काव्य रचनाके वे अवश्य अधिकारी थे और इसमे उनके रस मर्मज्ञत्वका परिचय भली प्रकार मिलता भी है।

रामचन्द्रिकामे सवाद बडे अच्छे है। एक तो इन्होने सस्कृत ग्रन्थोसे सीधे अनुवाद कर दिया है, दूसरे दरबारी कवि होनेके कारण इन्हे इस बातका ज्ञान था कि किस समय किस प्रकारके सवाद उपयुक्त हो सकते है। अवसरानुकूल सवादोकी योजना करनेमे केशवको जो सफलता मिली हे वह कम कवियोको प्राप्त हो सकती है। इसीलिये कुछ लोग इसे सवाद ग्रन्थ भी कहते हैं।

केशवकी कविताके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

१. चचल न हूजै नाथ अचल न खैंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायू जू।
मद करौ दीप-दुति, चदमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ, द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै विडारि देउँ,
भायो तुम्हैं केशव सो मोहूँ मन भायो जू।
छलके निवास ऐसे बचन-विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

२ फल फूलन पूरे तरुवर रूरे कोकिल कुल कलरव बोलैं।
अति मत्त मयूरी पियरस पूरी बनबन प्रति नाचत डोलैं॥
सारी सुक पडित गुनगन मडित भावनमय अर्थ बखानैं।
देखे रघुनायक सीय सहायक मनहुँ मदन रति मधु जानैं॥

३. आरक्त पत्रा सुभ चित्र पुत्री
मनो बिराजै अति चारु भेषा।

सम्पूर्ण सिंदूर प्रभा बसै धौ
गणेश भालस्थल चन्द्र रेखा ॥
४ कुतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अगदादि भूषनन
मध्य देश केशरी सु जग गति भाई है ॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है ॥
रामचन्द्रकी चमू, राजश्री बिभीषनकी
रावनकी मीचु दर कूच चलि आई है।

भूषण

केशवने बहुत विस्तारके साथ काव्यशास्त्रके सम्पूर्ण अंगोपर ग्रन्थ लिखा सही किन्तु रीतिग्रन्थ लिखनेवाले कवियोकी परम्परा केशवके बहुत पीछे चिन्तामणि त्रिपाठीसे आरम्भ हुई। चिन्तामणिको भूषण और मतिरामका बडा भाई बताया जाता है। रीतिकी जो परम्परा उन्होने आरम्भ की वह अखडित रूपसे पद्माकरतक चलती रही यद्यपि पद्माकर के सौ वर्ष पीछे 'हरिऔध' जीने रीति-विषयक अपना ग्रन्थ **'रसकलस'** ब्रजभाषा पद्यमे ही लिखा। चिन्तामणिके भाइयोमे भूषण और मतिराम बहुत ही यशस्वी कवि हो गए हैं। रीति ग्रन्थकार शुद्ध रूपसे कवि ही थे। उन्होने 'रीति'को अपनी कविताका माध्यम मात्र बनाया। काव्यागोके विवेचनसे उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। उस युगमे उत्पन्न होकर महाकवि भूषणने भी यही ढर्रा पकडा। अन्य कवियोमे और भूषणमे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ औरोने रसकी दृष्टिसे शृङ्गारको अधिक महत्त्व दिया वहाँ भूषणने वीररसको। इनके सभी उदाहरणोके नायक छत्रपति शिवाजी महाराज ही हैं।

भूषणका जीवनवृत्त

परम्परासे प्रसिद्ध है कि भूषणके तीन भाई और थे—चिन्तामणि, मतिराम और जटाशकर। किन्तु **भूषण विमर्श**के रचयिताका मत है कि मतिराम भूषणके समकालीन अवश्य थे परन्तु उनके सहोदर न थे। भूषणने अपनेको—

द्विज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर।

लिखा है। इससे यह तो सिद्ध हो गया कि रत्नाकरके पुत्र भूषण कश्यप-गोत्रीय थे। इन्होने अपने निवास-स्थानकी भी सूचना स्वय दी है—

बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनितनूजा तीर।

किन्तु इसके अतिरिक्त और कोइ विवरण इनके सम्बन्धका इनकी रचनाओसे नहीं मिलता।

भूषणके जन्मकालके सम्बन्धमे दो मत हैं। यदि भूषणको शिवाजीके दरबारका रत्न माना जाय, जैसा कि लोक-प्रचलित है, तो शिवाजीकी मृत्युतक तो भूषण अवश्य ही वहाँ रहे होंगे। शिवाजीकी मृत्यु-तिथि सवत् १७३७ है। जो कवि शिवाजीकी सभाका रत्न था और जिसने अपने वीरतापूर्ण काव्यसे हिन्दू जाति और धर्मके रक्षकको उस परम पुनीत कार्यके लिये अग्रसर किया वह निश्चय ही ५० वर्षसे कमका न रहा होगा। ऐसी अवस्थामें भूषणका जन्मकाल सवत् १६७२ माना जा सकता है, जैसा कि मिश्रबन्धुओका मत है। किन्तु ऐसा भी कहा जाता है कि भूषण शिवाजीके यहाँ नहीं, साहूके यहाँ थे। साथ ही शिवा-बावनीमे वर्णित बहुतसी घटनाएँ सवत् १७६८-६९ तक की हैं। इससे माना जा सकता है कि साहूके यहाँ भी भूषण रहे। भूषणका निधनकाल संवत् १७७२ माना जाता है। यदि प्रचलित बातें मान ली जायँ और भूषणका जन्मकाल १६७२ माना जाय तो भूषणकी मृत्यु १०० वर्षकी आयुमें हुई। इसे असम्भव तो

कहा ही नहीं जा सकता। यदि शिवसिहकी बात मानकर भूषणका जन्म सवत् १७३८ मे माना जाय और उनका साहूके यहाँ रहना ठीक समझा जाय तो भी यह आपत्ति तो है ही कि जो भूषण युवावस्था-तक यो ही घूमते रहे वे ४२ वर्षकी अवस्थातक इतना सारा कार्य और प्रतिष्ठा कैसे अर्जित कर गए। सारी बातो पर विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि भूषणका जन्म १६७२ मे और मृत्यु १७७२ मे हुई तथा वे शिवाजीके यहाँ तो अवश्य ही रहे और सम्भव है साहूके यहाँ भी रहे हों।

भूषणके वास्तविक नामपर भी विवाद है। भूषणको चित्रकूटाधिपति सोलकी राजा रुद्रने '**कवि भूषण**' की उपाधिसे सम्मानित किया था।

> **कुल सुलक चित्रकूट पति, साहस सील समुद्र।**
> **कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥**

आगे चलकर भूषण नाम ही प्रसिद्ध हो गया। वास्तविक ठिकाना नहीं।

भूषणकी रचनाएँ

भूषणकी तीन कृतियाँ आज उपलब्ध हैं—**शिवराज भूषण, शिवाबावनी** और **छत्रसालदशक**। इनके तीन ग्रन्थ और कहे जाते है—**दूषणउल्लास, भूषणउल्लास** और **भूषणहजारा,** जो अप्राप्त हैं। कुछ फुटकल छन्द भी इधर-उधर पाए जाते हैं।

शिवराज भूषण की रचनाके सम्बन्धमे कवि लिखता है—

> **सिवा चरित लखि यों भयो कवि भूषनके चित्त।**
> **भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कबित्त॥**
> **भूषन सब भूषननिमैं, उपमहि उत्तम चाहि।**
> **याते उपमहिं आदि दै, बरनत सकल निबाहि॥**

इसका अर्थ यह हुआ कि शिवाजीके उत्तम चरित्रका बखान करनेके उद्देश्यसे ही कविने शिवराजभूषणकी रचना की। किन्तु रीतिबद्ध रचनाका युग होनेसे विविध अलकारोके उदाहरणरूप शिवाजीकी कीर्तिका वर्णन किया गया। अलकार-शास्त्रकी दृष्टिसे शिवराज-भूषण किसी कामका ग्रन्थ नहीं है। कविने आरम्भमे ही स्पष्ट भी कर दिया है कि हमे तो शिवाजीके चरित्रका वर्णन करना है और इसके लिये अलकारोका माध्यम इसलिये चुना गया है कि भूषणको हिन्दूकुल भूषणका वर्णन भूषणोके माध्यमसे ही अच्छा लगता है।

भूषणने शब्दोका रूप बहुत बिगाडा है और अनेक भाषाओके शब्दोका प्रयोग भी तोड़-मरोडकर किया है।

शिवा बावनी के प्रचलित रूपमे ५२ छन्द हैं और सब शिवाजी-परक हैं भी नहीं। पर इसके छन्द अत्यन्त ओजस्वी हैं।

छत्रसाल-दशक मे छत्रसाल-सम्बन्धी दस छन्द हैं। छत्रसालने भूषणकी पालकी उठाकर उनका जो सम्मान किया उसपर इन्हे कहना पडा—

सिवाको बखानौं कि बखानौं छत्रसालको।

जिन दोनो वीरोका चरित्रगान भूषणने किया है उन्हे सम्पूर्ण हिन्दू जाति उत्साह और श्रद्धाके साथ स्मरण करती थी। अतः भूषणने अपनी कविताके द्वारा उसी जन भावनाकी व्यजना की। इसीसे भूषणको अल्प कालमे ही लोक-प्रियता और लोक-प्रतिनिधित्व प्राप्त हो गया। जिस ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण-भाषा और भावनाकी व्यजना भूषणने की है उसके सम्बन्धमे अधिक कुछ कहना व्यर्थ है। उन्होने उस कालमे भी वीर रसकी ही रचनाएँ कीं और वे शुद्ध रूपसे वीर रसके ही कवि थे। उनके कुछ कवित्त नीचे दिए जा रहे हैं—

१. इन्द्र जिमि जृंभपर बाड़व सु अंभपर,
रावन सदंभपर रघुकुलराज हैं।

पौन बारिवाहपर, सम्भु रतिनाहपर,
ज्यो सहस्रबाहुपर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुमदण्डपर, चीता मृगझुंडपर,
भूषण बितुंडपर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंसपर, कान्ह जिमि कंसपर,
त्यो म्लेच्छ बंसपर सेर सिवराज हैं।

२. दाराकी न दौर यह, रार नहि खजुवेकी,
बाँधिबो नही है कैधो मीर सहवालको।
मठ विश्वनाथको, न बास ग्राम गोकुल को,
देवीको न देहरा, न मंदिर गोपालको॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें, अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है सालको।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यो न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकालको॥

३. चाकचकचमूके अचाकचक चहूँ ओर,
चाकसी फिरति धाक चंपतिके लालकी।
भूषन भनत पातसाही मारि जेर कीन्हीं,
काहू उमराव ना करेरी करवालकी॥
सुनि सुनि रीति बिरुदैतके बड़प्पनकी,
थप्पन उथप्पनकी बानि छत्रसालकी।
जंग जीति लेवा तेऊ ह्वैकै दाम देवा भूप,
सेवा लागे करन महेवा-महिपालकी॥

मतिराम

रीति ग्रन्थकारोमे मतिराम, दास, देव और पद्माकर बहुत प्रसिद्ध होगए हैं किन्तु साहित्य-शास्त्रके आचार्यकी दृष्टिसे इनका उतना महत्त्व नहीं है जितना कविकी दृष्टिसे। मतिरामने अत्यन्त स्वच्छ, प्राञ्जल और चलती भाषामे अत्यन्त सरल और मधुर छन्दोकी रचनाकी

है। इनमे किसी प्रकारकी कृत्रिमता नहीं है और भावव्यजना भी अत्यन्त स्वाभाविक है।

देव

मतिरामके कुछ समय पश्चात् देव कविका समय आता है। देव इटावा-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे जैसा कि उनके प्रपौत्र भोगीलालने लिखा है—

कश्यप गोत्र द्विवेदि कुल, कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत्में, भए देव रमनीय॥

स्वरचित **भावविलासमें** देवने दो दोहे ऐसे लिखे हैं जिनसे उनका कुछ परिचय मिलता है—

द्यौसरिया कवि देवको, नगर इटायो बास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हों भावबिलास॥
सुभ सत्रह सै छियालिस, चढत सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष॥

इन दोहोसे इतनी बातें स्पष्ट हो जाती हैं—१. देव इटावाके रहनेवाले थे। २. उनका जन्म सवत् १७२० में हुआ था। ३ वे द्यौसरिया (देवसरिया, दुसरिहा) कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण थे। ४ उनका प्रथम ग्रन्थ **भावविलास** है जिसकी रचना उन्होने सवत् १७४६ मे सोलह वर्षकी अवस्थामे की थी।

इन्हे कोई स्थायी आश्रयदाता नहीं मिला अतः वे इधर-उधर भटकते ही रहे। इनके अन्तिम आश्रयदाता पिहानीके अली अकबरखाँ थे। जिन्हे उन्होने **सुखसागरतरग** समर्पित किया है। इसके पीछेका उनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। अली अकबरखाँका समय सवत् १८२४ से आरम्भ होता है। अतः ज्ञात होता है कि उसके कुछ ही पश्चात् देवका परलोकवास हुआ।

देवकी रचनाएँ

देवकी रची ७२ पुस्तके कही जाती है किन्तु उनमे २७ का ही नाम ज्ञात है और मिलती केवल १८ है—भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरग, कुशलविलास, जातिविलास, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, सुजानविनोद, रागरत्नाकर, शब्द रसायन, देवचरित्र, देवमायाप्रपच, जगद्दर्शनपचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, तत्त्वदर्शन पचीसी, प्रेमपचीसी, और सुखसागर-तरग। इनमे अधिकाश रचनाएँ शृगार रसकी है और कुछ उनके ससारसे विरक्ति भावकी सूचक है। इनका श्रेणी-विभाजन किया जाय तो तीन कोटियाँ सामने आती है—१. शृगार और प्रेमकी भावनासे ओतप्रोत, जिसके अन्तर्गत अष्टयाम, जातिविलास, रसविलास और सुजान-विनोद आते है। २. रीतिके विवेचनके लिये लिखे हुए ग्रन्थ, जिसके अन्तर्गत भावविलास, भवानीविलास और शब्दरसायनकी गणना की जा सकती है तथा ३ दार्शनिक विचारोसे युक्त, जिसके अन्तर्गत देव-चरित्र, देवमायाप्रपच, प्रेमपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी, जगद्दर्शन-पचीसी और आत्मदर्शनपचीसी आते है। शेष पाँचमे रागरत्नाकर सगीतका ग्रन्थ है और सुखसागरतरग उनके विभिन्न ग्रन्थोसे लिया हुआ सग्रह-ग्रन्थ है। यही अवस्था उनके तीन अन्य ग्रन्थोकी भी है। इस प्रकार अब तक प्राप्त ग्रन्थोमे तेरह ही ऐसे है जिन्हे देवकी स्वतन्त्र रचना कहा जा सकता है।

देव सब प्रकारसे महाकवि थे। रीति-कालके कवियोमे उनका प्रमुख स्थान है। भाषा और भाव पर अधिकार प्राप्त करके प्रत्येक विषयका ठीक ढगसे सरस चित्रण कर देना देवका सबसे बडा कौशल है। देव स्वतन्त्र विचारोके निर्भीक व्यक्ति थे। इनको न किसीका बन्धन अच्छा लगता था और न ये किसीकी चापलूसी अधिक करते थे। इसीलिये ये किसीके यहाँ टिक भी न पाए।

देवकी भाषा प्रौढ और प्राञ्जल है। उसमें प्रवाह है। इनके कवित्तोमें जितना प्रबल प्रवाह, ओज, अनुप्रास और यमककी छटा मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इनके सवैये सरलता और माधुर्यसे ओतप्रोत है। इनकी रचनाएँ प्रसाद गुण-सम्पन्न होनेके साथ ही गम्भीर और गूढ भी हैं। इनका शब्द-विन्यास ललित और मनोमुग्धकारी है। शब्दोको तोडा-मरोडा भी इन्होने कम है। देशाटनसे प्रभावित होकर अन्य भाषाके शब्दोका प्रयोग तो अवश्य इन्होने किया है किन्तु इस कौशलसे कि भाषाओके प्रवाहमे वे पूर्णतः घुल-मल गए हैं। जैसे-जैसे ये वयमे बढ़ते गए इनकी भाषा और भावमे निखार आता गया। इनकी रचनाओके कुछ उदाहरण लीजिए—

१ पाँयन नूपुर मञ्जु बजैं कटि किंकिनि मै धुनिकी मधुराई।
सॉवरे अग लसैं पट पीत, हिए हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चचल, मद हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग मदिर दीपक सुन्दर श्रीब्रज दूलह देव सहाई॥

२ धारमें धाय] सी निरधार ह्वै, जायफँसी, ⊂कसी न उधेरी।
री! अगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरी नहि घेरी॥
'देव' कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितैं भईं चेरी।
बेगिही बूडि गई पखियाँ, अँखियाँ मधुकी मखियाँ यह मेरी॥

३. झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगनमें।
आनि कह्यो स्याम मोसौ 'चलौ झूलिबेकौ आज'
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नीद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगनमें।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगनमें॥

हम एक शब्दमे कह सकते है कि देव बहुज्ञ थे और शृगार
सका जैसा सशक्त वर्णन इन्होने किया है वैसा कम कवि कर सके हैं।

पद्माकर

रीति-ग्रन्थकार कवियोमे पद्माकरका स्थान अत्यन्त ऊँचा है।
बेहारीके अतिरिक्त इनके जैसी लोकप्रियता भी किसीको नहीं मिली और
सका कारण है इनकी कविताकी रमणीयता।

पद्माकरका जन्म मोहनलाल भट्टके घर सवत् १८१० मे हुआ।
तैलग ब्राह्मण थे और बॉदामे ही उत्पन्न हुए थे। सस्कृतके अच्छे
वद्वान और भाषाके सुकवि होनेके कारण अनेक राजधानियोमे इनका
नम्मान हुआ था। पद्माकरने अपनी कवित्त्व शक्तिसे करोडोकी सम्पत्ति,
ाम और प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। सबसे पहले ये नीमे अर्जुन सिंहके
हॉ रहे। उसके पश्चात् गोसाईं अनूपगिरि (हिम्मत बहादुर) के
हॉ कुछ समय रहकर ये रघुनाथ रावके यहॉ गए। वहॉसे ये जयपुर,
दयपुर, ग्वालियर और बूँदी होते हुए अपने घर बॉदे चले आए।
ीवनके अन्तिम सात वर्ष पद्माकरने कानपुरमे गगातट पर बिताए जहॉ
ावत् १८६० मे इनकी मृत्यु हुई।

पद्माकरकी रचनाएँ

पद्माकरकी सबसे पहली रचना **हिम्मतबहादुर बिरुदावली** है
जसमे फड़कती भाषामे हिम्मतबहादुरके गुणोका वर्णन किया गया है।
ह खड कथा-काव्य है। अपने जयपुर निवास कालमे इन्होने महाराज
गतसिहके नामपर **जगद्विनोद**की रचना की। रस-शास्त्रपर लिखा हुआ
नका जगद्विनोद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। वहीं सम्भवत इन्होने
ालंकार विषयक अपना ग्रन्थ **पद्माभरण** भी बनाया जो दोहोंमे
। बॉदा लौटनेपर इन्होने भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी ग्रन्थ
बोधपचासाकी रचना की। कानपुर निवासकालमे इन्होने **गगालहरी**की
चना की जिसमे गगाजीकी स्तुति है। **रामरसायन** नामसे दोहे-

चौपाइयोमे लिखा इनके नामसे एक और ग्रन्थ प्रसिद्ध है किन्तु उसकी रचना साधारण होनेसे कहा जाता है कि सम्भवतः यह किसी दूसरेकी रचना हो।

पद्माकरकी ख्यातिका मुख्य आधार इनका जगद्विनोद है। काव्यरसिको और काव्याभ्यासियो दोनोके लिये इस ग्रन्थका समान महत्त्व रहा है। वैसे इनकी अन्य रचनाएँ भी कम महत्त्वकी नहीं हैं।

पद्माकरमे भाषा और भाव दोनोकी चुस्ती और सजीवता देखी जाती है। इनका शब्द-विन्यास जैसा उत्तम है वैसा ही भावको साकार कर देनेका कौशल भी। उनके शब्दोमे झकार है, प्रवाह है और है सरलता और उनके प्रयोगमे इस कौशलसे काम लिया गया है कि पद्माकरके कवित्त-सवैयोसे रस छलका पडता है। अनुप्रासका ध्यान इन्होने बराबर रक्खा है किन्तु कदाचित् ही कहीं ऐसा लगता है कि भाषा या भाव दबे हो। जैसे इन्होने अन्य भाषाओके शब्द भी कहीं लेकर पचाए हैं उसी प्रकार अन्य कवियोके भाव भी इन्होने इस प्रकार लिए है कि वे इनके हो गए हैं।

पद्माकरका काव्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इन्होने वीररसकी कविता भी उसी कौशलके साथ लिखी है जिस कौशलके साथ शृंगार रसकी। अन्तिम दिनोमे इन्होने ज्ञान-भक्ति-विषयक जो दो ग्रन्थ लिखे वे भी कविका महत्त्व घटाते नहीं, बढाते हैं।

पद्माकरकी रचनाओके कुछ उदाहरण लीजिए—

१. फागुकी भीर, अभीरिनमें गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मनकी पदमाकर, ऊपर नाई अबीरकी झोरी॥
छीनि पितम्बर कम्मर तें, सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिरि आइयौ खेलन होरी"॥

२ ए ब्रजचद चलौ किन वा ब्रज लुकै बसन्तकी ऊकन लागीं।
त्यो पदमाकर पेखौ पलासन पावक सी मनो फूँकन लागीं॥

वै ब्रजनारी बिचारी बधू बन बावरी लौं हिए हूकन लागी ।
कारी कुरूप कसाइनै ये सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी ॥

३ कूलन में केलिमें कछारनमें कुञ्जनमें,
क्यारिनमें कलिन कलीन किलकन्त हैं।
कहै पदमाकर परागनमें पौन हूँ में,
पाननमें पीकमें पलासन पगत है ॥
द्वारमें दिसानमें दुनीमें देस देसनमें,
देखौ दीप दीपनमें दीपति दिगन्त है ।
बीथिनमें ब्रजमें नवेलिनमें बेलिनमें,
बननमें बागनमें बगर्‍यो बसन्त है ॥

रीति-ग्रन्थकारोकी परम्परामे अन्तिम कवि प्रतापसाहि थे जिन्होने **व्यग्यार्थ कौमुदी** लिखी। उसके पश्चात् नागरीके गद्यका प्रचार हो-जानेसे साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी जो भी ग्रन्थ लिखे गए सब नागरी गद्यमे ही। इस नागरीके युगमे केवल एकही कवि—हरिऔधजीने—ब्रजभाषा पद्यमे रीति-विषयक अपना ग्रन्थ **रसकलस** प्रस्तुत किया।

२

ब्रजभाषाके प्रबन्ध-काव्य

ब्रजभाषाकी प्रकृति मुक्तक काव्यके अधिक अनुकूल है सही परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमे सफल प्रबन्ध काव्योकी रचना नहीं हुई है। यह अवश्य है कि ब्रजभाषाके प्रथम महाकवि सूरदासजीकी सम्पूर्ण रचनाएँ मुक्तक शैलीमे ही हैं और उन्हींके अनुकरणपर ब्रजभाषामे कृष्ण-सम्बन्धी जो विशाल साहित्य रचा गया वह सब मुक्तक छन्दो या पदोमें ही रहा। इसलिये ब्रजभाषा मुक्तकोमे ही मँजी।

सूरदासजीका भ्रमर-गीत यदि छोड दिया जाय तो ब्रजभाषाका सबसे पहला प्रबन्ध-काव्य नन्ददासकी **रासपचाध्यायी** है। उसमे कृष्णके बालचरितकी एक झॉकी दिखाई गई है। इसी समयके आसपास नरहरि कविने **रुक्मिणी मंगल**की रचना की। किन्तु खण्ड-काव्यके रूपमे जिस ग्रन्थकी सबसे अधिक प्रसिद्धि हुई और जिसे आज भी प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति जानता है वह है नरोत्तमदासजीका **सुदामाचरित**। इसकी रचना अत्यन्त सरस और हृदयग्राहिणी है। **रामचन्द्रिका**को यदि स्फुट छन्दोका सग्रह न मानकर महाकाव्य मानें तो सवत् १६५८ मे ब्रजभाषाका प्रथम महाकाव्य प्रकाशमे आया। इसके पश्चात् रीति-ग्रन्थोका समय आ जाता है। प्रायः सभी अच्छे अच्छे कवियोका ध्यान उधर ही आकृष्ट हो गया और किसीने कथा काव्यकी ओर रुचि न दिखाई। छोटे मोटे कथा काव्य यदि रचे भी गए तो वे महत्त्वहीन हैं। हॉ, कुछ अन्य कवियोने कथा काव्योकी रचनाऍ की हैं जिनमे सबसे पहला नाम लाल कविका आता है जिन्होने दोहे-चौपाईमे **छत्रप्रकाश**की रचना की। यह वीर रस प्रधान पुस्तक है। छोटी-मोटी अन्य पुस्तकोंके पश्चात् फिर सूदनके **सुजानचरित**का नाम आता है। इसमे भरतपुरके सुजानसिंहके शौर्य और पराक्रमका वर्णन बड़े ही ओजस्वी छन्दोमे किया गया है। वीररसके ग्रन्थोमे इसका विशेष महत्त्व है। पद्माकरकी **हिम्मतबहादुर-विरुदावली** भी वीर रसका छोटासा अच्छा खण्ड-काव्य है। चन्द्रशेखर वाजपेयीका **हम्मीर-हठ** भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बीसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमे भारतेन्दुके पिता गिरधरदासजीने भी कई प्रबन्ध-काव्योकी रचना ब्रजभाषामे की। इसके पश्चात् ही नागरीका युग आ जाता है। ब्रजभाषामे काव्य-रचना कुछ दिन आगेतक भी चलती ही रही किन्तु भारतेन्दु-मण्डलके अवसानके साथ उसकी व्याप्ति समाप्त हो गई और उसका स्थान नागरीने ले लिया। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रजभाषामे काव्य-रचना बन्द हो गई। वह तो आज भी हो रही है और कितने

ही अच्छे कवि ब्रजभाषामे बडी उच्च कोटिकी रचनाएँ करते जा रहे है किन्तु अब यह छिट-फुट प्रयासके रूपमे ही है। ब्रजभाषाके वर्तमान मुक्तक रचनाकारोकी चर्चा हम पहले कर आए हैं। इस युगमे प्रबन्ध-काव्य रचनेवालोमे राय देवीप्रसाद पूर्णका नाम लिया जा सकता है जिन्होने मेघदूतका अनुवाद **धाराधर-धावन**के नामसे किया। बीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमे कथा-काव्य रचनेवालोमे रत्नाकरजी, आचार्य शुक्लजी और रामनाथ ज्योतिषीका नाम आता है। इधर हालमे काशीके शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने **अदृष्ट** नामसे एक खण्ड-काव्य लिखा है। इस प्रकार हम देखते है कि ब्रजभाषामे कथा-काव्यकी परम्परा अब भी चल रही है, यद्यपि उसमे रचनाएँ अब बहुत कम हो रही हैं।

रत्नाकर

श्रीजगन्नाथदास रत्नाकरका जन्म काशीमे सवत् १९२३ मे और निधन हरिद्वारमे स० १९८९ मे हुआ। नागरीके इस युगमे भी इन्होने एकनिष्ठ होकर ब्रजभाषाकी सेवाकी। **गंगावतरण, हरिश्चन्द्र** और **उद्धवशतक** इनके तीन प्रबन्ध-काव्य हैं। **समालोचनादर्शन** अँगरेजीका अनुवाद है। इनके काव्योका सग्रह **रत्नाकर** नामसे प्रकाशित हुआ है। ब्रजभाषापर इनका जैसा अधिकार था वैसा कम कवियोका देखा जाता है। इनकी रचनाओमे सरसता कूट-कूट कर भरी है। इन्होने बड़े बड़े पुराने कवियोके टक्करकी कविताएँ लिखी है। इनकी सूक्ष्म और उक्ति-वैचित्र्य भी अद्भुत है। भाषामे प्रवाहके साथ चुस्ती भी पाई जाती है। बिहारी सतसईकी बहुत अच्छी और प्रामाणिक टीका इन्होने प्रकाशित की थी। इनकी रचनाओमे ओज और प्रवाहके साथ माधुर्य भी है। रत्नाकरजी महाकवि थे इसमे सन्देह नहीं। इनकी रचनाओके उदाहरण लीजिए—

१ कान्ह दूत कैधौं ब्रह्मदूत पधारे आप,
धारे प्रन फेरनको मति ब्रजबारीकी।
कहै रतनाकर पै प्रीति रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यो हम कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यो जो तुम,
तौ हू हमैं भावति न भावना अन्यारीकी।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बेचारी की॥

२ भुज उठाइ हरषाइ, बाँकुरौ बिरद सँवारयौ।
दियौ बिसद बर राज भूप कौ काज सँवारयौ॥
हम लैहैं सिर गंग, दंग जग होहि जाहि ज्वै।
यौं कहि अन्तर्धान भए, नृप रहे चकित ह्वै॥

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्लका जन्म बस्तीमे संवत् १९४१ मे तथा निधन काशीमे सवत् १९९८ मे हुआ। शुक्लजी प्रधानतया समीक्षक और निबन्धकार थे। किन्तु उन्होने नागरीमे कुछ छोटी-मोटी कविताएँ प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी लिखी थीं। सवत् १९७९ मे उनका **बुद्धचरित** प्रकाशित हुआ। ब्रजभाषामे आठ सर्गोंमे तथा विविध छन्दोमे रचा हुआ यह महाकाव्य है। यद्यपि अँगरेजी पुस्तक **'लाइट औफ् एशिया'** के आधारपर इसकी रचना हुई किन्तु यह लिखी इस ढंगसे गई कि इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता। ग्रंथ पूर्णतः मौलिक प्रतीत होता है। बुद्धचरितकी भाषा चलती ब्रजभाषाके पूरे मेलमे लाई गई है। अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग उसमें नहीं मिलता। प्राकृतिक वर्णन भी उसमे यथेष्ट हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. चमकाय शृंगन चन्द्र चढि अब अमल अम्बर पथ गह्यो।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनिके हिलोरको रह्यो॥

रसधायके बाँके मुँडेरनपर रही द्युति छाय है।
जहँ हिलत डोलत नाहिं कोऊ कतहू परत लखाय है॥

२ पथ फूलन सो यहि भाँति भरै।
जहँ पाँव कुमार तुरग धरै॥
धँसि टापन तासु लखाय परैं।
मिलि लोग सबै जयनाद करैं॥

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'

रुद्रजीके काशीके रहनेवाले है। इनका जन्म सवत् १६६८ मे हुआ है। इन्होने कहानियाँ और नागरीमे कविताएँ रचनेमे अच्छी ख्याति पाई है। कुछ दिन पूर्व **गगावतरण**की शैलीमे इन्होने **अदृष्ट** नामका एक खण्ड काव्य ब्रजभाषामे रोला छन्दोमे लिखा जिसमे प्रस्तावना सहित आठ सर्ग है। प्रत्येक सर्गमे ४६ रोले, एक उल्लाला और एक वर्णवृत्तका क्रम रक्खा गया है। इसकी भाषा और शैली सब कुछ गगावतरणके जोडकी है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

१. कल पल्लव-पट फेकि कुसुम सिसु नैनन खोले।
डोले परसत पौन विहगम तरु चढ़ि बोले॥
तजि निज पदुमिनि वास, मधुप मकरद मताए।
मधुपिनि ढिग वै चले खडिता पाइ लजाए॥

२. चढ़ि रसालकी डार गाइ पिक रही बधाई।
कतहुँ सारिका सुमुखि साजि अपुनो दल आई॥
बहत सुमद समीर नीर-कन लै रेवा कौ।
सीतल सौरभ सन्यौ परसि पुलकावत ताकौ॥

७

मैथिली साहित्य

मैथिलीको साहित्यिक रूप प्रदान करनेका श्रेय विद्यापतिको है। उनके पूर्व वह बोलचालकी ही भाषा रही। यदि उसमे कुछ साहित्य रचा भी गया हो तो आज उसका कोई ठिकाना नहीं। विद्यापतिकी मैथिली हिन्दीके बहुत मेलमे है। किन्तु उसके आगे वह हिन्दीसे दूर होती चली गई। अतएव मैथिली साहित्य के प्रसगमे हम केवल विद्यापति पर ही विचार करेंगे और वह भी उसी पर जो उन्होने मैथिलीमे लिखा है।

विद्यापतिका जन्म दरभगा जिलेके विसपी गॉवमे हुआ था जो आगे चलकर उनके आश्रयदाया महाराज शिवसिहने, मैथिल और कोकिलको दे दिया जो उनके वशजोके पास तवतक रहा जबतक अँगरेजोंने उसे छीन नहीं लिया। विद्यापि का जन्म सवत् १४०७ है। इनके पिताका नाम गणपति ठाकुर था। इनकी मृत्यु सम्भवतः सवत् १४६७ मे हुई।

गणपति ठाकुर राजा गणेश्वरके राजकवि और मन्त्री थे। गणेश्वरके पश्चात् जब कीर्तिसिंह सिंहासनासीन हुए तब विद्यापति उनके सभा-कवि हुए। इन्हींके नामपर अवहट्ठ भाषामे उन्होने कीर्त्तिलता-की रचना की। विद्यापति सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओंके विलक्षण विद्वान् थे। इनकी बहुतसे पुस्तकें संस्कृतमे हैं। कुछ पुस्तकें प्राकृतमे भी हैं। सर्वशास्त्र-निष्णात होनेसे इन्होने सफलतापूर्वक अनेक विषयोपर लेखनी चलाई है। किन्तु अन्य विषयोसे सम्बन्ध न हानेके कारण हम मैथिलीमे रचित उनकी पदावलीपर ही विचार करेंगे।

विद्यापतिकी ख्याति जिसलिये है और जिसलिये वे अभिनव जयदेव और मैथिल-कोकिल कहे जाते हैं वह है उनकी पदावली, जिसे उन्होने मिथिलाकी लोक-प्रचलित भाषामे लिखा और उसे साहित्यिक रूप दिया। जिस प्रकार सूरदासजीने आगे चलकर ब्रज

भाषामे मधुर सरस पदोंकी रचना करके राधाकृष्णके माध्यमसे अमृतमयी काव्यधारा बहाई उसी प्रकार विद्यापतिने भी। विद्यापति पहले हुए हैं इसलिये मैथिलीके अनिरिक्त इस प्रणालीका भी आरम्भ विद्यापतिने किया। जयदेवने राधामाधवके नामपर सरस गीतोंकी रचना करके मार्गदर्शन कर ही दिया था। विद्यापतिने राधामाधव-विषयक गीतोंको लोकभाषाके कलेवरमे कस दिया और फिर उसके लिये मार्ग खुल गया।

विद्यापतिने इन गीतोंकी रचना शुद्ध शृंगारके भावसे की। वे कट्टर शैव थे। राधाकृष्णकी भक्तिसे उनका कोई सम्पर्क नहीं था। जयदेव राधाकृष्णोपासक थे। उनके गीत भक्तिभावसे ही प्रेरित हैं। परन्तु उन्हींसे प्रभावित होकर रचना करनेवाले विद्यापतिने तो राधाकृष्णका नाम प्रत्येक पदमे इसलिये जोड दिया कि कहीं आगे चलकर लोग उनपर अश्लीलताका दोष न लगावें और उनकी कुत्मा न करें। इन पदोसे रहस्यवादका भी कोई सम्बन्ध नहीं है जैसा कि कुछ लोग कहा करते है।

विद्यापतिके रसभावपूर्ण दो पद नीचे दिए जा रहे है—

१. के पतिया लए जायतरे मोरा पिय पास।
हिय नहिं सहै असह दुख रे भल साओन मास॥
एकसर भवन पिया बिनुरे मोरा रहलो न जाय।
सखियन कर दुख दारुनरे जग के पतिआय॥
मोर मन हरिहरि लै गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बसि रे कति अपजस लेल॥
विद्यापति कवि गाओलरे धनि धरु पिय आस।
आओत तोर मन भावनरे एहि कातिक मास॥

२. सरस बसन्त समय भल पाओलि, दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुखसे दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चाँद होअथि नाहि, कैयो जतन बिह केला।

कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला ॥
लोचन तूअ कमल नहिं भै सक, से जगके नहि जाने ?
से फिरि जाइ लुकैकन्ह जल भएँ, पंकज निज अपमाने ॥
भन विद्यापति सुनु बर जोवित ई सम लछमि समाने ।
राजा 'सिवसिंह' रूपनरायन 'लखिमा देइ' प्रति भानै ॥

८

नागरी-साहित्य

जिस प्रकार अवधी, राजस्थानी आदिका विशेष क्षेत्र है उसी प्रकार नागरीका भी। वैसे आज नागरी पजाब, राजस्थानके डॉडेसे लेकर मध्यप्रदेशके मध्यभागको चीरती हुई, उड़ीसाको छूती हुई बिहारके पूर्वी छोरतक अपना हाथ फैलाकर नेपालकी तराईके नीचेसे आकर भारतकी राजधानीके पच्छिम पडनेवाले सम्पूर्ण भूभागको अपने अकमे समेट लेती है। जितने विस्तृत प्रदेशकी ऊपर चर्चा की गई है उतनेकी तो भाषा हिन्दी ही है। आजकी हिन्दीका अर्थ है नागरी। हिन्दीके अन्तर्गत जितनी भाषाएँ आती हैं उनमे नागरी भी है। आजसे सत्रा सौ वर्ष पहले तक हिन्दी-भाषी क्षेत्रमे साहित्य-रचनाका सर्वप्रधान माध्यम ब्रजभाषा थी। समयके प्रवाहके साथ वह न चल पाई, क्योकि जो वैज्ञानिक युग संसारमे आ रहा था उसके लिये ऐसी भाषा आवश्यक थी जो सब प्रकारकी रचनाओके लिये समर्थ हो और जिसके गद्य साहित्यमे विकासकी सभावनाएँ निहित हो। ब्रजभाषाका जो रूप बन चुका था, उसकी शक्ति जिस ढगसे बँध चुकी थी, उसे देखते हुए उससे यह आशा नहीं हो सकती थी। हिन्दीकी जिस क्षेत्रीय भाषाकी ओर इस उद्देश्यसे ध्यान गया वह नागरी थी। नागरी तब क्षेत्रीय भाषा या जानपद बोली ही रह भी नहीं गई थी। इसका वास्तविक क्षेत्र तो मेरठ, मुजफ्फरनगर तथा उसका पार्श्ववर्ती प्रदेश है किन्तु इसका व्यवहार

दिल्लीतक बराबर होता आया है। दिल्लीके मुसलमान शासकोको तथा उनके पारिषदोको यहाँके लोगोसे सम्पर्क स्थापनके निमित्त उक्त क्षेत्रकी बोली ही सीखनी पड़ी। नित्यका व्यवहार उसके बिना चल ही नहीं सकता था। आगे चलकर जब ये शासक देशके अनेक भागोमे फैलते गए तो ये अपने साथ यहाँकी बोली भी लेते गए और नित्यके व्यवहारके लिये उसका ही प्रयोग करने लगे जिससे भारत-भरमे किसी न किसी रूपमे नागरीका प्रचार हुआ। इसके प्रचारका एक मुख्य कारण यह भी हुआ कि राम-कृष्णकी जन्मभूमि, काशी, हरिद्वार और उत्तराखण्डकी यात्रा करनेवाले सभी लोगोको नागरीके क्षेत्रमे रहनेवालोंके बीच कई-कई मासतक निवास करना पडता था। इस प्रकार हिन्दी (नागरी) का प्रचार पहलेसे ही रहा है। ब्रजभाषाकी असमर्थता और नागरीके व्यापक प्रचार तथा शक्तिशाली गद्य प्रस्तुत कर सकनेकी उसकी क्षमताके कारण लोगोका ध्यान उसकी ओर ही आकृष्ट हुआ और कुछ ही कालके भीतर नागरीमे इतना अधिक साहित्य प्रस्तुत हो गया जितना हिन्दीके अन्तर्गत आनेवाली सब भाषाओको मिलाकर भी नहीं है। इसके कारण तो कई हैं किन्तु दो मुख्य हैं: १. छापेका आविष्कार और उसका व्यापक प्रयोग, २ गद्यका प्रचार।

नागरी भाषाका प्रयोग बहुत पहलेसे हो रहा है। जिस क्षेत्रकी यह बोली आजसे सहस्र वर्ष पूर्व रही है उस क्षेत्रमे प्रायः ठीक उसी रूपमे आज भी बोली जाती है। यद्यपि अमीर खुसरो और नामदेवकी ही कुछ रचनाएँ नागरीकी सर्वप्रथम रचनाके रूपमे उपलब्ध हैं तथापि उनकी भाषाका जो पुष्ट रूप प्राप्त है उसे देखते हुए यह असन्दिग्ध रूपसे कहा जा सकता है कि इस भाषामे रचना पहलेसे होती रही है जो आज मिल नहीं रही है। विक्रमकी आठवीं शताब्दीमे रचे हुए आचार्य कुमुदेन्दु मुनिके **'भूवलय'** मे जहाँ उन भाषाओके नाम गिनाए गए हैं जिनमे उस ग्रन्थका पढा जाना सम्भव है वहाँ नागरीका भी

उल्लेख किया गया है। इससे ही यह सिद्ध हो जाता है कि आजसे १२०० वर्ष पूर्व भी आजकी नागरी (जिसे कुछ लोग भूलसे खडी बोली इसलिये कहते हैं कि ब्रजभाषाकी अपेक्षा उसमे कठोरता, रूखापन, अक्खडपन अधिक है) की प्रसिद्धि मुख्य भाषाके रूपमे की। अमीर खुसरोका समय विक्रमकी १४ वीं शताब्दी है। उस समय दिल्लीके निकटवर्ती प्रदेशो और स्वय राजधानी दिल्लीमे किस प्रकारकी भाषा बोली जाती थी इसका प्रमाण खुसरोकी ये पहेलियाँ (मुकरियाँ) हैं—

१ अरथ तो इसका बूझेगा। मुँह देखो तो सूझेगा॥

२ एक थाल मोतीसे भरा। सबके सिर वह औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरै। मोती उससे एक न गिरै॥

इनमे नागरीका कितना निखरा हुआ रूप विद्यमान है। आज जिस नागरीका सर्वत्र व्यवहार होता है उसीका व्यवहार उस समय भी साहित्य-सर्जनमे होता था यह खुसरोकी पहेलियाँ स्पष्ट कह रही हैं। जिस भाषाका प्रयोग हुआ है उसकी पुष्टता बता रही है कि दो ढाई सौ वर्षके पूर्व इस भाषामे रचना अवश्य आरम्भ हो गई थी। किन्तु खुसरोके पश्चात् नागरीमे साहित्य रचनाका उदाहरण हमे पाँच साढे पाँच-सौ वर्षकी लम्बी अवधिके अनन्तर ही जाकर मिलता है। इसके दो कारण हो सकते हैं: एक तो यह प्रदेश इतना धन-धान्य सम्पन्न है कि वहाँवालोंका खाने और सोनेसे ही अवकाश नहीं मिलता कि वे अपनी प्रवृत्तियोका विकास करके साहित्य-सर्जनादिकी ओर उन्मुख हो। दूसरे, वहाँ-वालोका समय तो राज्यविप्लवोका दृश्य देखने और उनके परिणाम भुगतनेमे ही बीत जाता था, वे साहित्य-रचना क्या करते। सम्भव है कुछ साहित्य वहाँके लोगो द्वारा रचा गया हो किन्तु आज कुछ भी उपलब्ध नहीं है।

सोलहवीं शताब्दीके मध्यमे सिक्खोंके गुरु श्री नानकके पुत्र जगद्गुरु श्री चन्द्राचार्यजी हुए थे जिन्होने अपने सिद्धान्तोका

प्रतिपादन करनेके लिये **मात्राशास्त्र** नामक ग्रन्थकी रचना की। उसकी रचना इसी नागरीमे हुई है। कुछ उदाहरण देखिए—

१. किसने मूँडा किसने मुँडाया।
किसका भेजा नगरी आया॥
२ गुरु अविनाशी खेल रचाया।
आगम निगमका पन्थ बताया॥

यह भाषा लगभग पाँचसौ वर्ष पुरानी है। आजकी भाषामे और इस भाषामे कोई भी अन्तर नहीं है। अतः निष्कष यह निकला कि १. अन्य भाषाओके साथ-साथ वाणी भी चलती रही है, २. नागरी नई नहीं बहुत पुरानी भाषा है, ३. नागरीके रूपमे परिवर्तन भी नहीं हुआ है।

जब इस देशपर अँगरेजोका अधिकार हुआ तो उन्होने जन-सम्पर्क बढानेके उद्देश्यसे यहाँकी देशी भाषाओका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा। देश भरमे फैल जानेसे नागरीका प्रचार तो अवश्य होगया किन्तु कालान्तरमे मुसलमानोने उसका रूप फारसीकी शैलीमे ढालना आरम्भ कर दिया। शब्दावली भी हिन्दीकी न रखकर उन्होने अरबी-फारसीकी रखना आरम्भ कर दिया। इस खिचडी उर्दू भाषामे औरंगज़ेबके समयमे काव्य-रचना भी होने लगी जो बहुत दिनोतक नागरी-प्रधान फ़ारसीकी शब्दावलीमे होती थी। किन्तु आगे चलकर क्रम उलट गया और उर्दूमे इस अशतक अरबी फारसीकी शब्दावलीका प्रयोग होने लगा कि उर्दू और फारसीका अन्तर केवल क्रिया पदसे प्रकट होता था। जिस प्रकार यह भाषा कृत्रिम होती गई उसी प्रकार उसमे वर्णित भाव और विचार भी कृत्रिम तथा अभारतीय होते गए।

जिस समय अँगरेजोका आधिपत्य आरम्भ हुआ उस समय यहाँकी सरकारी भाषा तो फारसी थी किन्तु हिन्दी (नागरी) का गद्य सामान्यतया किसी न किसी रूपमे सम्पूर्ण उत्तर भारतमे प्रचलित था। दूसरा रूप उन्होने वह देखा जो सर्वथा कृत्रिम था, जिसे मुसलमानोंने चला रक्खा था और जिसके सम्बन्धमे अँगरेजोने

ठीक ही समझ रक्खा था कि उसका लगाव किसी प्रकार भी जन जीवनसे नहीं है। किन्तु मुसलमानोका भी प्रबल समुदाय था इसलिये फोर्ट विलियम कालेजकी ओरसे हिन्दी और उर्दू दोनोमे पुस्तकें लिखवानेका प्रबन्ध हुआ।

अँगरेज़ी राज्यके जम जानेसे पश्चिमकी विचारधाराका भी भारतमे प्रवेश हुआ। नये-नये विषय, तथा ज्ञान-विज्ञानके अनेक क्षेत्र सामने आए। मुद्रण यन्त्र लग जानेसे विचारोके प्रचारकी गति बहुत तीव्र होती गई। इस प्रकार नागरीके गद्यके लिये अपने आप मार्ग बनता गया। नागरीमे साहित्यका सर्जन वस्तुतः इसी युगकी घटना है। खुसरो और नामदेवकी रचनाओंसे उदाहरण देकर यही भर सिद्ध किया जा सकता है कि भाषा पुरानी है क्योकि उस समय उसका प्रयोग हुआ है परन्तु क्रम-बद्ध रचना तो इसी युगमे हुई। प्रारम्भमे नागरी गद्यका ही प्रचार हुआ। उस समय लोग समझते रहे कि गद्यकी भाषा नागरी और पद्यकी ब्रज है। बहुत समय तक यह विवाद चलता भी रहा किन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीके समयमे यह झगडा समाप्त हो गया और नागरीमे जो इक्के दुक्के पद्यरचना हो जाती थी वह अब जमकर उसीमे होने लगी। यतः नागरीका प्रचार गद्यसे ही आरम्भ हुआ, गद्यसे ही बढा और गद्य ही उसका प्रधान क्षेत्र है अत. हम नागरी साहित्यके गद्यपर ही पहले विचार करेंगे।

(क)

नागरीका गद्य

विश्वकी सभी भाषाओमे गद्यका विकास पिछले पॉच सौ वर्षोंके भीतर हुआ है। गद्यके ग्रन्थ पहले भी लिखे जाते रहे परन्तु उनका प्रचार तभी हो पाया जब वे अत्यन्त उच्च कोटिके होते थे। सस्कृतमे प्रसिद्ध ही था—'गद्य कवीनां निकष वदन्ति' छापेकी व्यवस्था

होनेसे और उसका अधिकाधिक प्रचार होनेसे गद्यमे साहित्य रचनाको भी बल मिला। इस युगके उद्योग और विज्ञान-प्रधान होनेसे काव्यका ह्रास स्वाभाविक था, किन्तु काव्यके ह्रासके साथ गद्य समृद्ध होता गया। पहले जहाँ साहित्य और काव्य एक ही वस्तु समझे जाते थे वहाँ अब काव्य भी साहित्यका एक अग गिना जाता है अतः इस युगमे गद्यका महत्त्व सर्वाधिक है।

नागरी गद्यका प्राचीनतम उदाहरण हमे गग कविकी **चन्द छन्द बरननकी** महिमामे मिलता है देखिए—

"सिद्धि श्री १०८ श्री पातसाहजी श्रीदलपतिजो अकबर साहजी आम खासमें तखत ऊपर विराजमान हो रहे।"

गगके पश्चात् रामदासनिरजनका नाम आता है जिन्होने सवत् १७९८ मे **भाषा योगवाशिष्ठकी** रचना की। इसकी भाषा स्पष्ट रूपसे आजकलकी नागरीका पूर्वरूप कही जा सकती है। दोनोमे विशेष अन्तर नहीं कहा जा सकता। एक वाक्य देखिए—

"जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टिको पाकर आत्मतत्त्वको देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपदको पाकर फिर जन्म-मरणके बंधनमें न आवोगे।"

आजकलकी नागरीसे यह नागरी कितनी मिलती-जुलती है। आगे चलकर १८१६ मे दौलतरामने हरिषेणाचार्यकृत **जैन पद्म पुराणका** भाषानुवाद किया किन्तु उसकी भाषा उतनी पुष्ट नहीं है जितनी **योगवाशिष्ठ** की। दो एक और छोटी-मोटी पुस्तके निकलीं। फिर अँगरेजोकी प्रेरणासे नागरी गद्यमे रचनाएँ आरम्भ हुईं। कलकत्तेके फोर्ट विलियम कालेजके आश्रयमे लल्लूजीलालने **प्रेम सागर** और सदल मिश्रने **नासिकेतोपाख्यानकी** रचना की।

लल्लूजीलाल

लल्लूजीलाल थे आगरेके निवासी। उन्होने जिस भाषाका प्रयोग किया वह थी तो नागरी किन्तु उनकी भाषामें ब्रजभाषाके

शब्दोका प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह अवश्य है कि उन्होने अरबी-फारसीके शब्दोका प्रयोग बचानेकी चेष्टा की है। लल्लूजीलालकी भाषाकी सबसे बडी विशेषता है इनकी अनुप्रास-प्रियता। प्रेमसागरकी भाषाका एक उदाहरण देखिए—

"बालेकी श्यामताके आगे अमावास्याकी अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंहकी बँकाई निरख धनुष धधकाने लगा। आँखोंकी बड़ाई-चचलाई पेख मृग मीन खजन खिसाय रहे।"

सदल मिश्र

सदलमिश्र आरेके रहनेवाले थे इसलिये इनकी भाषामें कहीं-कहीं पूरबी प्रयोग पाए जाते हैं। देखिए—

"तब नृपने पडितको बोला दिन बिचार बड़ी प्रसन्नतासे राजा वो ऋषियोंको नेवत बुलाया। लगनके समय सबोंको साथ ले मडपमें जहाँ सोनन्हके थम्भपर मानिक दीप बलते थे जा पहुँचे।

सदासुखलाल

ठीक इसी समय सदासुखलाल 'नियाज़' ने कम्पनीकी नौकरीसे अवकाश ग्रहण करनेके पश्चात् विष्णुपुराणके कुछ अशोका अनुवाद प्रस्तुत किया। इनकी रचना स्वतन्त्र है और वह किसीकी प्रेरणासे नहीं लिखी गई है। इन्होने उर्दू और फारसीमे भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। ये दिल्लीके रहनेवाले थे तथा नौकरीसे अवकाश पाकर प्रयागमे ही बस गए। शेष जीवन इन्होने वहीं भगवद्भजनमे व्यतीत किया। इनकी भाषा ठीक वही है जो उस समय शिक्षित हिन्दू समाजकी बोलचालकी भाषा थी। इन्होने तत्सम शब्दोका बराबर प्रयोग किया और अपनी भाषाका स्वरूप वही रक्खा जो उस समय कथावाचको द्वारा व्यवहृत होता था। देखिए—

"विद्या इसी हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उसके निज स्वरूपमें लय हूजिए।"

इंशा अल्लाह खाँ

इन्हींके ढगके दूसरे लेखक हो गए हैं सैयद इशा अल्ला खाँ। इशा उर्दूके बहुत बडे कवि थे। किसी समय वे लखनऊ दरबारके रत्न रहे किन्तु पीछे ये बहुत दुर्दशा भोगकर मरे। इन्होने **उदयभानचरित या रानी केतकीकी कहानी** लिखी जिसका उद्देश्य इशाके शब्दोमे था—"कोई ऐसी कहानी कहिए जिसमे हिदवी छुट और किसी बोलीका पुट न मिले और बाहरकी बोली और गँवारी कुछ उसके बीचमे न हो और भाषापन भी न हो।"

इस प्रकार **बाहरी** (अरबी, फारसी आदि), **गँवारी** (ब्रजभाषा अवधी आदि) तथा **भाषा** (सस्कृत) तीनोसे मुक्त भाषामे उन्होने रचना करनेका निश्चय किया। इसमे सन्देह नहीं कि इस प्रयत्नमे तो इशा सफल हो गए किन्तु कहीं-कहीं फारसीके ढगका वाक्य-विन्यास रखकर इन्होने भाषाकी प्रकृति अस्त-व्यस्त कर दी है। इनकी भाषामे अनुप्रास और शब्दोमे लोच और चचलता उसी ढगकी है जैसी प्रेम-कहानीके लिये आवश्यक होती है। इन्होने कहानी भरमे ठेठ नागरीका प्रयोग किया है जिसमें स्थान-स्थानपर सिद्धोक्तियोका पुट है। उदाहरण लीजिए—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवालेके सामने जिसने हम सबको बनाया और बातकी बातमें वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसीने न पाया।"

पादरियोंका प्रयास

ऊपर जिन चार लेखकोकी चर्चा की गई है वे सवत् १८६० के आसपासके हैं। उन्होने नागरी-गद्यका जो स्वरूप निर्धारित किया उससे और लोगोने तो कोई लाभ नहीं उठाया किन्तु ईसाई

धर्मका प्रचार करनेवाले पादरियोने अपने छापेघर खोलकर अपनी बाइबिलका अनुवाद तथा अन्य पुस्तकोका प्रकाशन उसी नागरी गद्यमे प्रकाशित करनेमे किया। हिन्दी (नागरी) गद्यकी अविच्छिन्न धारा वस्तुतः उपर्युक्त चारों लेखकोंके पचीस वर्ष पश्चात् आरम्भ हुई। इसी बीच कुछ पत्र भी नागरीमे निकले जो भाषाका रूप स्थिर करनेमे सहायक हुए।

राजाशिवप्रसाद

राजाशिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'ने विक्रमकी बीसवीं शताब्दीका आरम्भ होनेपर शिक्षा विभागमे निरीक्षक पदपर नियुक्त होकर कितनी ही पाठ्य पुस्तके तैयार कराई जिससे नागरीके लिये भलीभाँति मार्ग बन चला। किन्तु राजा साहबका भाषा-विषयक कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। कभी कभी वे फारसी-मिश्रित शब्दावलीका प्रयोग करते कभी सस्कृतनिष्ठ शब्दावलीका और कभी-कभी ठेठ भाषा लिखते।

उर्दूवालोंका कुचक्र

उर्दूवालोकी ओरसे हिन्दीको गिरानेका निरन्तर दुष्प्रयत्न हो रहा था। सवत् १८६० मे हिन्दी और उर्दू दोनो न्यायालयोंकी भाषा मान ली गई थी और ३२ वर्ष पश्चात् इसी आशयकी घोषणा पुनः की भी गई किन्तु उर्दूके कुचक्रियोने प्रयत्न कर वर्षभर पश्चात् यह घोषणा समाप्त करा दी और केवल उर्दू ही न्यायालयोकी भाषा मानी गई और पीछे तो राजा साहब भी फारसी—मिश्रित भाषाकी ओर ही ढल गए थे। परन्तु दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंहने उसे उस सजीवनीका पान कराया जिसने नागरी गद्य पुनः उठ खडा हुआ। दोनोकी भाषाके उदाहरण लीजिए—

१ "हम लोगोकी ज़बानका व्याकरण किसी क़दर कायम हो गया है। जो बाक़ी है जिस क़दर कायम हो जावे बेहतर। इस ज़बानका दरवाज़ा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा।"—राजाशिवप्रसाद

२ "तुम्हारे मधुर वचनोके विश्वासमें आकर मेरा जी यह पूछनेको चाहता है कि तुम किस राजवशके भूषण हो और किस देशकी प्रजाको विरहमें व्याकुल छोड़कर पधारे हो। क्या कारण है कि जिससे तुमने अपने कोमलगातको कठिन तपोवनमें आकार पीड़ित किया है।"—राजालक्ष्मणसिंह

स्वामी दयानन्द सरस्वती

ठीक इसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वतीने सवत् १९३२ मे आर्यसमाजकी स्थापना की और अपना सिद्धान्त ग्रन्थ **सत्यार्थ-प्रकाश** नागरीमे लिखा। गुजराती होते हुए भी स्वामीजीने नागरी भाषाको ही आर्यसमाजके सिद्धान्तोके प्रचारका माध्यम बनाया। स्वामीजीकी भाषा तत्सम शब्दावली प्रधान होती थी। एक उदाहरण लीजिए—

"राजाभोजके राज्यमें और समीप ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होने घोड़के आकारका एक मानयन्त्र कलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ीमें ग्यारह कोस और एक घण्टेमें सत्ताइस कोस जाता था।"

इन तीनो लेखकोने एक ही समयमे तीन प्रकारकी शैलियाँ उपस्थित कीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (जन्म सवत् १९०५) ३५ वर्षकी आयुमे ही वर्तमान नागरी गद्यका प्रवर्तन करके अस्त हो गए। भारतेन्दु जिस समय साहित्य-जगत्मे अवतरित हुए उस समयतक राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिह, स्वामी दयानन्द और पजाबके पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरीने गद्यको एक रूप प्रदान कर दिया था किन्तु वह पूर्ण व्यवस्थित नहीं था। भारतेन्दुजीने गद्य और पद्य दोनोको सुव्यवस्थित, परिमार्जित, चलती, स्निग्ध और आकर्षक रूप प्रदान किया और साहित्यको भी नए मार्गपर लाकर खड़ा किया। इसीलिये वे वर्तमान गद्यके जनक माने जाते हैं।

भारतेन्दुके सहयोगी तथा समकालीन प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, जगमोहन सिंह, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकोका एक अच्छा मण्डल तैयार हो गया था जो नये ज्ञान-विज्ञानसे परिचित था, जिसके हृदयमे अपनी भाषाके प्रति प्रेम था और जो ससारकी अन्य समृद्ध भाषाओकी भाति अपनी भाषाको भी समृद्ध देखना चाहते थे। भाषाका स्वरूप स्थिर हो जानेसे और उपर्युक्त लेखकोकी व्यक्तिगत विभिन्नता-जन्य शैलियोके कारण भाषाकी शक्ति और सामर्थ्यमे वृद्धि होनेसे नये विचारोके नये लेखकोको भी यह सुविधा हुई कि वे अपने विचार नगरीमे प्रकट कर सकें।

भारतेन्दुका अवसान सवत् १६४२ मे हुआ। यद्यपि भारतेन्दु और उनके युगके कुछ शीर्षस्थ लेखक साधु और व्याकरण सम्मत भाषा लिखते थे, किन्तु उस समयके लेखक किसी विषयपर सोचते विचारते तो थे अँगरेजीमे और लिखते थे अपनी भाषामे। ऐसे लोगोके लिए हिन्दी शब्दोका अभाव अनिवार्य था जिसकी पूर्त्ति वे अँगरेजी सस्कृत कोष लेकर किया करते क्योकि उस समय अँगरेजी-हिन्दीका कोई अच्छा कोष नहीं था। परिणाम यह होता था कि वे व्याकरण, सिद्धोक्ति, वाक्य-विन्यास आदिकी कोई चिन्ता न करके जैसा चाहते वैसा लिखते और फिर भाषा भी वैसी ही रह जाती। यह अवस्था बहुत दिन नहीं चलने पाई। सवत् १६५८ मे पडित महावीरप्रसाद द्विवेदीने **सरस्वती**का सम्पादन-भार ग्रहण किया। सरस्वती द्वारा उन्होने प्रकाशित पुस्तकोकी व्याकरण और भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर तथा प्रकाशनार्थ आए हुए लेखोका सस्कार करके नये लेखकोकी बहुत सावधान कर दिया और इस प्रकार उन्होने बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया। गद्यकी भाषा पर द्विवेदीजीका इतना अधिक प्रभाव पडा कि आगे आनेवाले लेखकोने अपनेको बहुत कुछ सँभाल लिया और आगे चलकर द्विवेदीजी-द्वारा निर्दिष्ट पथपर लेखक चलने लगे। द्विवेदीजीके समय तक साहित्यके

विभिन्न अगोपर बहुत अधिक सख्यामे पुस्तकें प्रकाशित हो चुकीं। नागरी-गद्य अनेक धाराओमे बह निकला और आगे भी यही क्रम चलता रहा। कोई भी ऐसा ज्ञात विषय न रहा जिसपर न लिखा गया हो—शुद्ध साहित्य, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्यौतिष, राजनीति, अर्थनीति, आयुर्वेद, चिकित्सा, विज्ञान आदि अनेक विषयोंपर साधारण और उच्च कोटिकी सभी प्रकारकी पुस्तकें लिखी जाने लगीं और आज भी लिखी जा रही हैं। शुद्ध साहित्यकी दृष्टिसे भी निबन्ध, समीक्षा, उपन्यास, कहानियाँ, जीवन-चरित कितने ही नये रूपोका समावेश हुआ। इनके अतिरिक्त भ्रमण-सम्बन्धी साहित्य, आखेट सम्बन्धी साहित्य, अनुसन्धान-सम्बन्धी साहित्यका भी पर्याप्त परिमाणमे प्रणयन हुआ। पत्र-पत्रिकाओका अलगसे ही बहुत विशाल साहित्य प्रस्तुत हो गया।

आधुनिक गद्य-साहित्यकी परम्पराका प्रवर्त्तन नाटकोमे हुआ। अतएव हम सर्वप्रथम नाटकोपर ही विचार करेंगे।

१

नागरीका नाट्य-साहित्य

सस्कृतमें नाटकोका इतना समृद्ध साहित्य होते हुए भी हिन्दीमे नाटकोकी रचनाकी ओरसे कविगण उदासीन-से रहे। इसका सबसे प्रधान कारण व्यवस्थित रूपसे रगमचका अभाव भी था। मुसलमानोने इस ओर कोई रुचि नहीं दिखाई। तुर्कों और पठानोके कालमे स्थापित्य कलाकी ओर ही ध्यान दिया गया। मुगलोंने अवश्य काव्य, संगीत, चित्रकला आदिकी ओर भी ध्यान दिया परन्तु रगमंचकी उन्होने भी उपेक्षा की। इसीलिये न रंगमचका विकास हो सका, न नाटक लिखे जा सके। नाटकोंके नामपर जो कुछ लिखा गया वह सवादमात्र था।

उनमें अभिनेयताका गुण न होनेसे उन्हे नाटक कहा ही नहीं जा सकता। यद्यपि भारतेन्दुजीने महाराज विश्वनाथसिहके **आनन्दरघुनन्दन नाटक**को हिन्दीका सर्वप्रथम नाटक ठहराया है किन्तु वास्तविक प्रथम नाटककार स्वय भारतेन्दु ही हैं। भारतेन्दुकी देखा देखी उनकी मित्रमण्डलीने भी कई नाटकोकी रचना की। मौलिक रचनाओके अतिरिक्त सस्कृत, बँगला, अँगरेजी तथा दो चार अन्य भाषाओके नाटकोके अनुवाद भी पर्याप्त सख्यामे प्रकाशित हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जन्म संवत १९०७ मे काशीमे हुआ। इनके पिता गोपालचन्द उपनाम गिरधरदास भी बहुत अच्छे कवि हो गए हैं। कुल ३५ वर्षकी आयु भोगकर भारतेन्दुजी सवत् १९४२ मे परलोकवासी हुए। इस ३५ वर्षकी आयुमे ही भारतेन्दुजी जो काम कर गए वह पचासो वर्षमे भी किसीके किए नहीं हो सकता था। १८ वर्षकी अवस्थामे इन्होने अपना सबसे पहला नाटक **विद्यासुन्दर** प्रकाशित किया जो बगलाके एक नाटकका अनुवाद था। भारतेन्दुने कुल सत्रह नाटक प्रस्तुत किए जिनमे ८ मौलिक और ९ अनुवाद हैं। मौलिक नाटक हैं—**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्यविषमौषधम्, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर-नगरी प्रेम जोगिनी, सती प्रताप** (अपूर्ण)। अनूदित नाटक ये हैं—**रत्नावली, मुद्राराक्षस, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी** (सस्कृतसे), **विद्यासुन्दर, सत्यहरिश्चंद्र, भारतजननी** (बँगलासे), **दुर्लभबन्धु** (अँगरेजीसे)।

भारतेन्दुके पूर्वतक हिन्दीमे नाट्यशास्त्रपर कोई भी सामग्री न थी। इन्होने **नाटक** नामका एक निबन्ध लिखकर इस अभावकी पूर्ति तो कर ही दी आगेके लेखकोके लिये मार्ग भी खोल दिया।

नाटकोंका आधार

भारतेन्दुके नाटकोमे मुख्य बात यह है कि इन्होने जीवनके अनेक क्षेत्रोसे सामग्री ली है। देश-प्रेम, समाजकी वास्तविक स्थिति, देशी नरेशोके दरबारोमे चलनेवाले षड्यन्त्रमय-जीवन, हिन्दू-नारीके वीर, शौर्य और तेजकी कहानी, प्रेमका आदर्श, ये सभी इनके नाटकोमे आए है। इस प्रकार भारतेन्दुजीने अपने समयमे व्याप्त सभी परिस्थितियोका चित्रण करके अपने नाटकोका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रक्खा है।

भारतेन्दुकी शैली

भारतेन्दुका जीवनही समन्वयवादी था। न तो वे कोरे आदर्शवादी थे, न तथ्यवादी। इनकी यही प्रवृत्ति इनकी रचनाओमे भी प्रकट होती है। ये प्राचीन काव्यके प्रेमी थे किन्तु नये काव्यकी परम्पराके जनक। उसी प्रकार गद्य-शैलीमे भी भारतेन्दुने मध्यम मार्ग ग्रहण किया। यही अवस्था नाट्य-रचनाकी भी हुई। न तो उन्होने भारतकी शास्त्रीय प्रणालीसे अपनेको पूर्ण न आबद्ध किया और न बँगलावालोकी तरह उसका सर्वथा त्यागकर अँगरेजी ढग अपनाया। काल एव परिस्थितिका विचार करके जो कुछ उपयुक्त और अच्छा लगा, उसे इन्होने ग्रहण किया। समन्वयवादकी इस भावनाका ही यह परिणाम हम देखते हैं कि इन्होने दो प्रकारकी भाषा-शैलियोका प्रयोग किया है—१. भावावेशकी शैली जिसमे बोलचालकी सरल भाषामे छोटे-छोटे वाक्योका प्रयोग होता है और २. स्थायी विचारोकी व्यञ्जनवाली तथ्यनिरूपण-शैली, जिसमें वाक्य कुछ गभीर और बड़े होते है तथा भाषा तत्सम-बहुला होती है। अपने समयके अन्य लेखकोकी अपेक्षा भारतेन्दुकी भाषा अधिक साधु और परिष्कृत होती थी।

दोनोके उदारहण लीजिए —

(१) नाम बिके, लोग झूठा कहे अपने मारे मारे फिरें, पर वाह रे शुद्ध 'बेहयाई'—पूरी निर्लजता ! लाजको जूतो मारके, पीटके निकाल दिया है।

(२) जब मुझे अँगरेज़ी रमणी लोग मेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्यारत्नाभरण, विविधवर्ण वसनसे भूषित, क्षीणकटिदेश कसे, इधरसे उधर फरफर कलकी पुतलीकी भाँति फिरती हुई दिखाई पडती हैं, तब इस देशकी सीधी सादी स्त्रियोंकी हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दु खका कारण होती है।

भारतेन्दुके नाटक अधिकतर अभिनेय है और खेले भी जा चुके है।

भारतेन्दु युगके अन्य नाटककार

भारन्दुके समयके प्रमुख लेखकोंने भी उनकी देखा देखी और प्रकारकी रचनाओंके अतिरिक्त नाटक भी लिखे। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, तोताराम, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास आदिने कुछ नाटकोंकी भी रचना की। किन्तु भारतेन्दुके पीछे बहुत समय तक नाम लेने योग्य मौलिक नाटक कोई कोई ही दिखाई पडे। हाँ, बँगला, सस्कृत, अँगरेज़ीसे अनुवादोका क्रम बराबर चलता रहा। किशोरीलाल गोस्वामी आदिके दो-चार मौलिक नाटक भी निकले परन्तु इन सब रचनाओंको नाटक नहीं कहा जा सकता।

योरोपीय पद्धतिका समावेश

बीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमे जो बहुतसे नाटक रचे गए उनमे बहुत कुछ नया विदेशी रूप प्रकट हुआ किन्तु उचित रंगमचके अभावमे ये नाटक भी प्रसिद्धि न पा सके। इसी बीच पारसी रगमचोंके व्यापक प्रचारके कारण हिन्दीमे साहित्यिक नाटकोंके प्रणयनको बडा गहरा धक्का लगा। उस समय नारायणप्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक न उत्पन्न हो गए होते तो जनरुचि और भी विकृत हो

जाती। इन लोगोने अपने नाटकोके लिये पौराणिक कथाओका आश्रय लिया जिससे रगमचमे भारतीयताका समावेश हो चला। बँगलाके अनेक नाटकोका अनुवाद भी हुआ जिनसे एक लाभ तो यह हुआ कि नाटकोमे योरोपकी चरित्र-चित्रण-पद्धतिका समावेश होने लगा और दूसरा लाभ यह हुआ कि हिन्दीके नाटकोसे शैरबाजी उठ गई।

चार प्रवृत्तियाँ

इस अवधिमे चार प्रकारकी प्रवृत्तियाँ नाटक-रचनामे काम कर रही थीं · (१) सस्कृत नाट्यशास्त्रके नियमोके अनुसार तथा भारतेन्दुकी रचना-पद्धतिसे प्रभावित शैलीके अनुसार, (२) दूसरी भाषाओका अनुवाद, (३) बँगला और अँगरेज़ी नाटकोके ढगपर मौलिक नाटकोकी रचना और (४) भारतीय गाथाओको पारसी रगशालाओके लिए उर्दू नाटकोके अनुसार ढालना। इनमेसे पहली प्रवृत्ति तो राय देवीप्रसाद (पूर्ण) के **चन्द्रकला भानुकुमार** तथा मैथिलीशरण गुप्तके **चन्द्रहास** नाटकके पश्चात् समाप्त हो गई। दूसरी प्रवृत्ति भी बहुत नहीं चल सकी क्योकि विदेशी भाषाओके अच्छे नाटकोके एक तो अनुवाद हो चुके थे दूसरे नए ढगके नाटकोके विषय और उनका भाषा-विधान हिन्दीके साथ मेल नहीं खाता था। तीसरी प्रवृत्ति अवश्य ही श्लाघ्य है क्योकि चाहे अनुकरणके रूपमे ही हुआ हो हिन्दीमे कुछ मौलिक नाटकोकी रचना तो हुई। इसमे सबसे अधिक यशके भागी जयशंकर 'प्रसाद' हुए जिन्होने कुल मिलाकर १३ नाटक रचे जिनमे आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं।

अपने **विशाख** नाटककी भूमिकामे प्रसादजी लिखते हैं—'मेरी इच्छा भारतीय इतिहासके अप्रकाशित अशमेसे उन प्रकाण्ड घटनाओका दिग्दर्शन करानेकी है जिन्होने कि हमारी वर्तमान स्थितिको बनानेका बहुत कुछ प्रयत्न किया है और जिनपर हमारे वर्तमान

साहित्यिकोकी दृष्टि कम पडी है।" यह उद्देश्य उनके मस्तिष्कमे इस दृढतासे पैठ गया कि इसकी रक्षाके प्रयत्नमे प्रसादजी सवाद, भाषा, चरित्र-चित्रण, दृश्य-विधान आदि नाटकीय तत्त्व भूल गए और नाटक रचते रचते वस्तुतः उन्होने 'नाटकीय उपन्यासात्मक गद्य काव्य, लिख डाले। यही कारण है कि उनके नाटक रगमचके उपयुक्त न हो सके। इधर हमारे बहुत-से नाटक—**अजन्ता, अगुलिमाल, शबरी, रज़िया, अनारकली, वसन्त, मेरी माँ, मगल प्रभात, प्रसाद, बेचारा केशव, देवता, सेनापति पुष्यमित्र, अलका, विक्रमादित्य, अपराधी, जय सोमनाथ** आदि प्रकाशित हुए जिनका अभिनय काशीकी अभिनव रगशालाके मचपर तथा देशके अन्य भागोमे भी सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

चौथी प्रवृत्तिके अनुसार जिन नाटकोकी रचना हुई उन्हे साहित्यिक नाटक नहीं कहा जा सकता अतएव उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

इधर पश्चिमी देशोकी देखादेखी समस्या नाटक, एकाकी नाटक, रेडियो नाटक आदि भी हमारे यहाँ पर्याप्त सख्यामे रचे गए है। एकाकी नाटक तो आजकल बहुतसे लिखे जा रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशनार्थ अधिकतर एकाकी नाटक ही लिखे जाते है। लक्ष्मीनारायण मिश्रने सामाजिक समस्याओसे सम्बद्ध विषयोपर अनेक नाटक लिखे है जो समस्या नाटक कहलाते हैं।

जयशकर 'प्रसाद'

'प्रसाद'जी काशीके सम्पन्न व्यवसायी थे। सवत् १९४६ मे काशीमे उनका जन्म हुआ और सवत् १९९४ मे यहीं उनका निधन भी हुआ। 'प्रसाद'जी अध्ययनशील व्यक्ति थे और व्यावसायिक कार्योंमें लगे रहनेपर भी इन्होने घरपर ही पर्याप्त अध्यन किया था। 'प्रसादजी'की ख्याति कवि, कहानीकार और नाटककार तीन रूपोमे है किन्तु प्रसादजी प्रधानतया कवि थे अत इनके नाटक भी नाटक

न होकर काव्य हो गए हैं। 'प्रसादजी'ने तेरह नाटक लिखे—**सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजयका नागयज्ञ, कामना, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त एक घूँट,** और **ध्रुवस्वामिनी**। **यशोधर्मदेव नाटक** भी इन्होने लिखा था किन्तु उसे नष्ट कर दिया। **राज्यश्री** 'प्रसाद'जीका पहला नाटक है जिसमे विस्तारके साथ राज्यश्रीकी जीवन-घटनाओके एक अशका वर्णन है। राज्यश्रीका उदात्त और कौशलपूर्ण चरित्र इसमे अवश्य सफलताके साथ दिखाया गया है। दूसरा प्रसिद्ध नाटक **अजातशत्रु** है। इसका कथानक विशृखल-सा है तथा अजात-शत्रुका चरित्र-चित्रण भी ठीक नहीं हो पाया है। **स्कन्दगुप्त** प्रसादजीका सर्वोत्तम नाटक कहा जाता है। इसमे स्कन्दगुप्तके चरित्रका विकास उत्तम ढगसे दिखाया गया है। नायकमे जो गुण होने चाहिएँ सबका समावेश स्कन्दगुप्तमे किया गया है। **चन्द्रगुप्त**की कथावस्तु सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती। कहीं-कहीं तो ऐसे दृश्य उपस्थित किए गए है जो केवल समय काटनेके लिये ही रक्खे गए प्रतीत होते है। किन्तु इस नाटकमे चाणक्य और कल्याणी ये दो पात्र सजीव और उदात्त है।

'प्रसादजी'के प्राय. सभी नाटक ऐतिहासिक है। घटनाओकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिका स्वरूप उपस्थित करनेमे प्रसादजीको अच्छी सफलता मिली है। चरित्र-चित्रण किसी निश्चित आदर्शको सामने रखकर नहीं किया गया है। प्रत्येक पात्रकी परिस्थिति, उसकी अवस्थाएँ, उसकी विचार-सरणि, उसकी सगति आदिका ध्यान करके उसका चरित्र चित्रित किया गया है। साधारणतया घटनाओ और पात्रोके चरित्र-विकासकी शृखला नहीं टूटने पाई है। किन्तु प्रसादजीने जो कथा ली उसे नाटकका रूप देनेमे अधिकाशतः उन्होने परिमाण, विस्तार, प्रयोग, भाषा तथा दृश्य-विधानके उचित अनुपातका ध्यान नहीं रक्खा इसीसे वे रगमचके योग्य नाटक न रच सके।

प्रसादजीके अतिरिक्त ऐतिहासिक नाटक लिखनेवालोंमे **हरिकृष्ण**

प्रेमीका नाम लिया जाता है। इन्होने मुसलिम शासन कालकी घटनाएँ ली है। **रक्षाबन्धन** इनका प्रसिद्ध नाटक है। इन दोनों व्यक्तियोके नाटकोमे सबसे बडा दोष यह है कि इन लोगोने उनमें आधुनिक भावनाओका रग चढ़ा दिया है।

गोविन्द वल्लभ पन्तके भी दो तीन नाटक **वरमाला, राजमुकुट** आदि निकले है। उदयशकर भट्टके भी **सिन्धु पतन** आदि कुछ नाटक निकले है जिनके कथानकका आधार पैराणिक या ऐतिहासिक घटनाएँ है। इन्होने लगभग बारह नाटक लिखे हैं जिनमें **मत्स्यगंधा** अधिक आकर्षक है। लक्ष्मीनारायण मिश्रने इब्सन और शौके अनुकरणपर अनेक समस्या नाटकोकी रचनाकी—**मुक्तिका रहस्य, सिन्दूरकी होली, राक्षसका मन्दिर** आदि।

एकाकी लिखने वालोमे सुदर्शन, रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रमुख हैं।

२

नागरीका कथा-साहित्य

उपन्यास

गद्यका विकास होनेके पश्चात् साहित्य-क्षेत्रमे बहुतसी नई रूप-शैलियोका प्रवेश हुआ, जैसे—उपन्यास, छोटी कहानियाँ, समीक्षा, निबन्ध आदि। उपन्यास योरोपीय साहित्यकी ही देन है। भारतीय साहित्यमे कथाओकी रचनाएँ तो हुई किन्तु जिस ढगसे आधुनिक उपन्यास रचे जाते हैं उस ढगकी कथाएँ नहीं मिलतीं। हिन्दीमे उपन्यास-रचनाकी प्रवृत्ति बँगलासे आई और बँगलावालोने यह विषय अँगरेज़ीसे लिया।

पहले तो नागरीमे बँगलाके उपन्यासोंका अनुवाद हुआ फिर

अँगरेजीमे भी हाथ लगाया गया । रामकृष्ण वर्मा उर्दूसे भी कुछ अनुवाद कर चुके थे । कार्तिकप्रसाद खत्रीने बँगलाके अनुवादोसे हिन्दीका भण्डार भरनेकी चेष्टा की और दो वर्षके भीतर ही चार उपन्यासोका अनुवाद कर डाला। गोपालराम गहमरीने बँगलाके कई सामाजिक उपन्यासोका अनुवाद किया। अनुवाद करनेवालोमे ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पाण्डेय विशेष उल्लेख-योग्य हैं। अँगरेज़ी, बँगलाके अतिरिक्त कुछ अन्य देशी विदेशी भाषाओसे भी अनुवाद हुए ।

नागरीमे सबसे पहले **देवकीनन्दन खत्री**के मौलिक उपन्यास निकले जिनकी ख्याति वस्तुतः **चन्द्रकान्ता चन्द्रकान्ता सन्तति** आदि घटना वैचित्र्य युक्त उपन्यासोके कारण हुई । ये उपन्यास इतने प्रसिद्ध हुए कि हिन्दी न जाननेवालोको भी इन्हे मोल लेना पडा। पर इनकी गणना साहित्यिक उपन्यासोकी श्रेणीमे नहीं की जा सकती ।

मौलिक सामाजिक उपन्यास लिखनेवालोमे सबसे पहला नाम **किशोरीलाल गोस्वामी**का आता है जिन्होने छोटे बडे कुल मिलाकर पैंसठ उपन्यास लिखे । इनमे कुछ उपन्यास बहुत ही हलके ढगके और वासनात्मक प्रवृत्तिको उद्दीप्त करनेवाले हैं। भाषाके साथ इन्होने खिलवाड भी बहुत किया है। कहीं तो सस्कृत शब्दोसे युक्त समासबहुल-भाषाका प्रयोग किया है और कहीं घोर उर्दूका। इस प्रवृत्तिने उनके उपन्यासोका साहित्यिक गौरव घटा दिया है। इन्होने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे किन्तु उनमे अनैतिहासिकता आ जानेसे उपन्यास नष्ट हो गए ।

कुछ और लोगोने भी थोडा बहुत लिखा किन्तु हिन्दी उपन्यासोमे क्रान्तिका युग प्रेमचन्दजीके साथ आया। प्रेमचन्दजीकी शैली और उनका ढग भली प्रकार चल निकला। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक सुदर्शन, जयशकर 'प्रसाद', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द जोशी,

वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा चतुरसेन शास्त्री आदिने उपन्यासके क्षेत्रको अधिक समृद्ध किया।

प्रेमचन्द

नागरीमे लेखन कार्य आरम्भ करनेके पूर्व प्रेमचन्दजीने उर्दूमे उपन्यास, कहानियाँ लिखकर पर्याप्त यश अर्जित किया था। नागरीमे कुछ कहानियाँ लिखनेके पश्चात् इन्होने अपना पहला उपन्यास **सेवासदन** प्रकाशित किया। सेवासदनके प्रकाशित हानेके पश्चात् प्रेमचन्दजीकी धाक इस क्षेत्रमे जम गई और दिन-दिन उन्हे प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त होता गया। सेवासदनमे सामाजिक कुरीतियो, विशेषकर दहेज़ प्रथा, की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् इन्होने **प्रेमाश्रम** प्रकाशित किया। प्रेमाश्रममे गाँवोके दीन-हीन किसानोपर जमीदारो-द्वारा होनेवाले अत्याचारोका वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर इन्होने **रंगभूमि** प्रस्तुत किया। रगभूमिमे दो कथाएँ साथ-साथ चलती है जिनमे वह कथा तो अत्यन्त उत्कृष्ट है जिसका नायक सूरदास है किन्तु दूसरी कथा अनावश्यक और निकृष्ट है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और राजनीतिक स्थितिकी इसमे स्पष्ट प्रतिध्वनि है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, रचना कौशल आदि दृष्टियोसे यह उपन्यास उत्कृष्ट कोटिका है। रगभूमिके पश्चात् **कर्मभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा** और **ग़बन**का क्रम आता है। गबन सार्वकालिक महत्त्वका उपन्यास है। प्रेमचन्दका सर्वोत्कृष्ट उपन्यास **गोदान** है। यही इनकी अन्तिम कृति भी है जिसमे होरीका चरित्र अत्यन्त उदात्त है। गोदान विश्व-साहित्यकी अनूठी कृति है। इन सभी उपन्यासोमे प्रेमचन्दजीने उपदेष्टाका रूप नहीं छोड़ा और उपन्यासोको आवश्यकतासे अधिक बढ़ा दिया।

प्रेमचन्दजीके उपन्यासोकी व्याप्ति पूरे मानव-जीवन-तक है। इन्होने अपने उपन्यासोमे ग्रामीण समाजका चित्रण बडे विस्तारके साथ

किया है। इनके उपन्यासोमे मानव-समाजका चित्रण जितने विविध रूपो और विविध परिस्थितियोके प्रकाशमे किया गया है उतना कम लोगोने किया है। नगरोकी अपेक्षा ग्राम इन्हे अधिक प्रिय है। स्वभावत समाजके निम्नस्तरवालोके साथ, अस्पृश्यो और विधवाओके साथ भी लेखककी सहानुभूति हमे बराबर देखनेको मिलती है। अपनी इस विचारधाराके कारण ही वे मानववादियो तथा प्रगतिशीलोका साथ करते हुए लगते हैं किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि समाजके निम्नस्तरवालोके प्रति इनके मनमे सहानुभूतिका जो भाव है वह इनके अनुभव, ज्ञान और भावनाके कारण उत्पन्न है। किसी सैद्धान्तिक वादसे प्रेरित होकर प्रेमचन्दजीने नहीं लिखा है। ये मूलतः आदर्शवादी है और आदर्शकी अपनी परिकल्पनाके अनुसार ही इन्होने सारे चित्र खडे किए हैं। गाँधीवादकी प्रतिध्वनि इनकी कृतियोमे बराबर मिलती है और लगता है कि लेखककी दृष्टिमे मानवसमाजके उत्थानका वही एक मात्र उपाय है। इन्होने अपने उपन्यासोमे आदर्शवादके साथ तथ्यवादका भी योग किया है तथा पर्यवेक्षणकी अपनी विशेष प्रतिभाके बलपर इन्होने व्यक्तियो और वस्तुओका स्पष्ट चित्र उतार दिया है। प्रेमचन्दजीने मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्तियो और मनोवेगोके उद्घाटनकी कभी चेष्टा नहीं की। सामाजिक जीवनको आधार बनाकर ही इन्होने लेखनी चलाई और उसमे ये पूर्ण रूपसे सफल हुए। विविध पात्रोके सजीव सवादोके कारण प्रेमचन्दजीकी भाषामे ओज और शक्ति आ गई है।

जयशकर 'प्रसाद'ने भी दो उपन्यास **कंकाल** और **तितली** लिखे हैं जिनका उद्देश्य सामाजिक कुरीतियोका उद्घाटन है।

विश्वम्भरनाथ कौशिकके दो उपन्यास **माँ** और **भिखारिणी** छपे हैं और ये पर्याप्त अच्छे हैं। इनपर और **सुदर्शन** पर प्रेमचन्दकी छाप है। जीवनका, विशेषकर रईसोका, चित्रण करनेवाला **प्रतापनारायण श्रीवास्तव** का **विदा** उपन्यास भी अपने

ढगका अच्छा उपन्यास है । **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'**का **चन्दहसीनोंके खतूत, दिल्लीका दलाल** और **बुधुआकीबेटी** की भी कुछ दिन तक बडी धूम रही। इन्होंने मनुष्यकी पशु-प्रवृत्तियोंके वर्णनसे अपनी कथाएँ सजाईं इसलिये उनमे अश्लीलताका दोष आगया । फिर भी कथा कहनेका ढग इनका बहुत ही अद्भुत है। भाषा भी इनकी ओजपूर्ण होती है। **जैनेन्द्रकुमार** ने **परख,** और **सुनीता** लिखकर हिन्दीको पहला मनोवेगा पर आधृत उपन्यास भेट किया।

ऐतिहासिक उपन्यासोमे **वृन्दावनलालवर्माकी मृगनयनी, झाँसीकी रानी, गढ़कुण्डार, विराटाकी पद्मिनी** अधिक प्रसिद्ध हैं। **कृष्णकान्त** मालवीयका **सिहगढ़विजय** भी अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास है।

भगवती चरण वर्मा का **चित्रलेखा, टेढ़ेमेढ़े रास्ते** और **तीन वर्ष** तथा इलाचन्द्र जोशीका **सन्यासी, सुबहके भूले, जिप्सी, जहाजका पछी** आदि अच्छे उपन्यास है।

चतुरसेन शास्त्रीने भी कई अच्छे उपन्यास लिखे है।

इधरके उपन्यासकारोमे **यशपाल** का अच्छा नाम हुआ है। घटनागुम्फन तथा कथा कहनेका ढग यशपालका बहुत ही अच्छा है किन्तु यशपालमे सबसे बडा दोष यह है कि ये खुल्लमखुल्ला कम्युनिस्ट-प्रचारक तथा काम-वासनाओके चित्रकारके रूपमे प्रकट हो जाते हैं। **दादाकामरेड, देशद्रोही** इनके इसी प्रकारके उपन्यास हैं।

'प्रसादजी'को छोडकर इन सभी उपन्यासकारोमे भाषाशैलीका अभाव बहुत खटकता है। प्रसादजीकी भाषा भी अधिक संस्कृतनिष्ठ शैलीकी होनेके कारण सर्वसामान्यके लिये ग्राह्य नहीं हो सकी। शेष लोग कथा सँवारनेके फेरमे पड़े रहे, भाषापर किसीने ध्यान नहीं दिया।

छोटी कहानियाँ

जिस प्रकार उपन्यासोकी भीड़ इधर नागरीमे लग गई है उसी प्रकार छोटी कहानियोकी भी। इस समय ससारकी सभी भाषाओंमे यदि साहित्यके किसी एक अगकी सर्वाधिक पूर्ति हो रही है तो वह है छोटी कहानियोकी। जितने भी पत्र निकलते हैं सबमे दो चार कहानियाँ देनेका नियम हो गया है। पाठकको मनोरजन चाहिए ही और इस मनोरजनके लिये छोटी कहानियोको सबसे उपयुक्त समझा जाता है। इस यान्त्रिक और व्यस्त युगमे मनुष्यके पास अवकाशकी कमी हो गई है इसलिये वह बडे-बड़े उपन्यास नहीं पढ़ सकता। जीवन सघर्षमय हो जानेसे गभीर चिन्तनात्मक विषयोके अध्ययनकी प्रवृत्ति समाप्त हो गई है। यह दूसरी बात है कि इन कारणोंसे बुद्धिका भी ह्रास हो रहा है। ऐसी अवस्थामे छोटी कहानियाँ लिखने और पढनेका चलन बहुत बढ चला है।

आधुनिक छोटी कहानियाँ भी उपन्यासोकी भाँति पूर्णतः पच्छिमकी देन हैं। कहानी कहने और सुननेकी चाल इस देशमे भी बहुत प्राचीन कालसे है। जातक कथाएँ, कथासरित्सागर, पचतन्त्र सब कहानियाँ ही हैं, किन्तु आजकल जिस ढगकी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उसकी चाल पहले न थी।

भारतेन्दु-कालमे लेखकोंका ध्यान कहानियो पर नहीं गया। वास्तविकता यह है कि योरपमे भी इस प्रकारकी कहानीका विकास विक्रमकी २० वीं शताब्दीके आरम्भसे ही हुआ है। कुछ लोगोने इंशाकी **रानी केतकीकी कहानी**को हिन्दीकी प्रथम कहानी माना है किन्तु आजकलकी कहानियोसे उसका तनिकक भी मेल नहीं है। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' कृत **राजा भोजका सपना** भी आधुनिक ढगकी कहानी नहीं है और न भारतेन्दुकृत **अद्भुत अपूर्वस्वप्न** ही, यद्यपि वह आधुनिक कहानीके अधिक निकट है। इसलिये हिन्दीमें कहानियोंका

आरम्भ द्विवेदी युगसे मानना चाहिए जिसका पिछले पचास-साठ वर्षोंमे तीव्र गतिसे विकास हुआ है।

कहानीका विकास पत्र-पत्रिकाओके विकाससे सम्बद्ध है। **सरस्वती** निकलनेके समय (सवत् १९५७) से ही छोटी कहानियोका लिखा जाना आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक दस वर्षोंके भीतर अधिकतर देशी (सस्कृत), विदेशी (अँगरेजी) नाटककारोंकी रचनाओके अनुवाद कहानीके रूपमे प्रकाशित हुए। सरस्वतीके प्रथम वर्षमे ही किशोरीलाल गोस्वामीकी **इन्दुमती** कहानी प्रकाशित हुई। कुछ लोग इसे बॅगलाका अनुवाद और कुछ लोग शेक्सपियरके **टेम्पेस्ट** नाटककी छाया कहकर इसे मौलिक कहानी ही नहीं मानते। इसी अवधिमे बँगलासे **बग महिला** एव **गिरजाकुमार घोषने** कई अच्छे-अच्छे अनुवाद प्रकाशित किए। मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा आदिने मौलिक कहानियाँ भी लिखीं परन्तु वे कहानियाँ ठीक न बन पाईं। सवत् १९६० मे आचार्य रामचन्द्र शुक्लकृत हिन्दीकी प्रथम मौलिक कहानी **ग्यारह वर्षका समय** प्रकाशित हुई और १९६४ में बग महिलाकृत **दुलाईवाली**। इसके पश्चात्, **इन्दु**का प्रकाशन आरम्भ हुआ और १९६८ मे प्रसादजीकी पहली कहानी '**ग्राम**' उसमें छपी। फिर तो उन्होने **आकाश दीप, स्वर्गके खॅडहर, प्रतिध्वनि** आदि न जाने कितनी कहानियाँ लिखीं। कौशिकजीकी **रक्षाबन्धन** कहानी भी इसी समय प्रकाशित हुई। गुलेरीजीकी प्रथम कहानी **सुखमय जीवन** और अन्तिम कहानी **उसने कहा था** १९७२ के पूर्व ही छपी। किन्तु उपन्यासके समान ही कहानीके क्षेत्रमे भी प्रेमचन्दके आगमनके अनन्तर क्रान्तिका युग आया। उनकी पहली कहानी **पंचपरमेश्वर** सवत् १९७३ मे प्रकाशित हुई। फिर तो उन्होंने **आत्माराम** आदि कितनी ही बेजोड कहानियाँ लिखीं। संवत् १९९० तक कहानी-कला अपने पूर्ण रूपमे प्रतिष्ठित हो चुकी थी और नागरीमे

कितने ही उच्च श्रेणीके कहानीकार उत्पन्न हो गए थे। इन्होने विभिन्न प्रकारकी, विभिन्न शैलियोमे, विभिन्न मनोभावो और परिस्थितियोको अंकित करने वाली ढाई-तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। संख्या, कला, और शैली सब दृष्टिसे देखने पर प्रेमचन्दजी सबसे आगे निकल जाते हैं। प्रेमचन्दकी मौलिक कहानियोका क्षेत्र भी मुख्यतः ग्रामीण जीवन, ग्रामीण जनता, दलित कृषकवर्ग, सामाजिक तथा कौटुम्बिक समस्याएँ आदि है। प्रेमचन्दजीने चरित्र-चित्रणकी प्रत्येक प्रणालीका अवलम्बन किया है। पात्रोके कथोपकथनके माध्यमसे ही उनकी चारित्रिक विशेषताएँ उद्‌घाटित करानेकी चेष्टा की गई है। भाषा उनकी बडी बलशाली, वेगवती और सिद्धोक्तियोके योगसे आकर्षक हो गई है। सामयिक घटनाओ और आन्दोलनोका प्रभाव भी इनकी कहानियो पर बहुत पड़ा है।

सुदर्शन और **कौशिक**ने अधिकतर प्रेमचन्दका पन्थ ही पकडा है।

जयशंकर 'प्रसाद' ने भी साठसे ऊपर कहानियाँ लिखीं जिनमे उनकी कलाका विकास बराबर देखनेको मिलता है। 'प्रसादजी'की कहानियाँ सीधे हृदयको स्पर्श करती है। मनोभावोके आन्दोलनसे हृदयको क्षुब्ध कर देनेमे 'प्रसादजी' अद्वितीय हैं। कहानियोका कथानक प्राचीन होने पर भी 'प्रसाद'जीने अपनी कल्पना-शक्तिके द्वारा उसे आकर्षक और मनोरञ्जक बना दिया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'ने अपने उपन्यासोकी भाँति कहानी कहनेमे भी सफलता प्राप्त की है। इसमे सन्देह नहीं कि उनकी शैली पूर्ण रूपसे मौलिक और अपने ढगकी अकेली है।

विनोदशकर व्यास ने छोटी छोटी भाव-प्रधान कहानियाँ बहुत सी लिख डाली हैं। इनकी कहानिया प्रायः सबकी सब अत्यन्त छोटी हैं। दो-तीन पात्रोसे ही ये अपना काम चला लेते हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने मनोवेगोको आधार मानकर बहुत अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। अज्ञेय ने भी इसी ढगकी बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', इलाचन्द्र जोशी, यशपाल आदिने भी अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखी हैं।

विनोद-व्यग्य-प्रधान कहानीकारोमें अन्नपूर्णानन्द का नाम विशेष रूपसे उल्लेख्य है। स्थानगत दृश्योको विशेष महत्त्व प्रदान करके लिखी हुई कहानियोमे शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'कृत 'बहती गगा'का अपना अलग स्थान है। कुछ लोगोंने इसे इस आधारपर ऐतिहासिक उपन्यास भी माना है कि इसकी कहानियाँ इस क्रमसे रक्खी गई हैं कि उनसे काशीके पिछले दो सौ वर्षोंके सांस्कृतिक इतिहासका भी परिज्ञान होता है।

भाषा, विषय और कौशलकी दृष्टिसे तात्रिक और अतिमानवीय विषयोपर कहानियाँ लिखनेमे बलदेवप्रसाद मिश्र अद्वितीय हैं।

समीक्षा

प्राचीन समीक्षा-प्रणालीके अनुसार एक श्लोक या एक दोहेमे कविके सम्बन्धमे कुछ कह देना ही उसकी समीक्षा हो जाती थी। किन्तु इधर जबसे योरोपीय साहित्यसे लोगोका परिचय हुआ तबसे समीक्षाका मानदण्ड सर्वथा बदल गया। समीक्षा अब गुण-दोष-कथन तक ही न रहकर कविकी विशेषताओ, उसकी अन्तःप्रवृत्तियोके उद्घाटन, उसकी सामयिक परिस्थितियो और ग्रन्थ-रचनाकी प्रेरक शक्तियोंकी छानबीन तक जा पहुँची। इसके अतिरिक्त अपने यहाँके काव्य-विषयक सिद्धान्तो तथा योरोपीय साहित्यिक सिद्धान्तों पर आलोचक भी गम्भीरता-पूर्वक विचार हुआ। इस प्रकारकी समीक्षाकी स्वस्थ पद्धतिके विकासका श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्लको है।

नागरी-गद्यका विकास होनेके पश्चात् और विदेशी साहित्योंसे

परिचित होनेके अनन्तर हमारे यहाँके लेखकोने कवियोकी रचनाओंको आलोचनात्मक दृष्टिसे देखना आरम्भ किया। किन्तु विचार करनेवालोकी दृष्टि काव्यके बाह्य आवरण-तक ही रही। **कालिदासकी निरकुशता, हिन्दी-कालिदासकी आलोचना** आदि इसी ढगकी पुस्तकें हैं। आलोचनाकी दोनो—निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक—पद्धतियोमे-से आरम्भमे हमारे यहाँ निर्णयात्मक पद्धतिका ही बोलबाला रहा। निर्णयात्मक पद्धतिका मुख्य आधार तुलनात्मक समीक्षा है। यह ढग संस्कृतमे भी किसी न किसी रूपमें चलता था। सबसे पहले मिश्रबन्धुओने **हिन्दी-नवरत्न** के द्वारा इसे नई शैलीमे ढाला। उसके पश्चात् तो देव-बिहारीको लेकर नागरी-साहित्यकारोमे एक प्रकारका बवण्डर ही खडा हो गया। इस प्रकारकी समीक्षा उन दिनो बहुत चली और लोगोने तुलनात्मक समीक्षाको ही मुख्य मान लिया। कवियोपर पत्र-पत्रिकाओमे आरम्भसे ही समीक्षात्मक लेख निकलते रहे। **सरस्वती**-मे आचार्य द्विवेदीजीने समीक्षाके लिये आई हुई पुस्तकोकी भाषा आदिकी दृष्टिसे उचित समीक्षाएँ कीं किन्तु उस समयतक व्याख्यात्मक समालोचनाका उदय न हो पाया।

सवत् १९७५ के पश्चात् हिन्दीमे सब प्रकारसे स्वस्थ समीक्षाका आरम्भ हुआ। सूरदास, तुलसीदास और जायसीपर शुक्लजीने समीक्षाएँ लिखीं। उनके अनुकरणपर नए पुराने सभी साहित्यकारोके विषयमे सैकडो समीक्षाएँ लिखी गईं। पुस्तक-प्रकाशनकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह समीक्षा-युग है। पिछले २५—३० वर्षोंमें समीक्षा-सम्बन्धी साहित्य ही सबसे अधिक रचा गया। स्वतन्त्र रूपसे तो समीक्षात्मक ग्रन्थ निकले ही, साथ ही पुराने कवियोके ग्रन्थोके सम्पादकोने भी आरम्भमें लम्बी-चौड़ी भूमिकाएँ लिखकर कवियोके समय, परिस्थिति और उनके जीवन क्रमके प्रसगमे ग्रन्थकी विस्तृत समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। कुछ लेखकों और कवियोने स्वयं भी अपने ग्रन्थोकी भूमिकाके रूपमें साहित्यके उस या उससे सम्बद्ध अंगपर विस्तारपूर्वक विचार करके अपनी पोथीके

सम्बन्धमे भी अपना मत उपस्थित किया है, जैसे—हरिऔधजीने **प्रियप्रवास** की भूमिकामे, शुक्लजीने **बुद्धचरितकी** भूमिकामे, पन्तजीने **पल्लवकी** भूमिकामे ।

भारतीय साहित्यशास्त्रके विविध अगोंपर तथा योरोपीय साहित्यिक वादोंपर भी अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थोका इस बीच प्रकाशन हुआ जिनमे गभीरतापूर्वक और आधुनिक दृष्टिसे इन सब विषयोका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। इस ढंगकी पहली पुस्तक आचार्य श्यामसुन्दर दासकी **साहित्यलोचन** है । हमारी **समीक्षाशास्त्र** और **अभिनव नाट्यशास्त्र** नामकी दो पुस्तकोमे-से पहलीमे देशी-विदेशी साहित्योमे समीक्षा-सिद्धान्तपर विवेचन किया गया है और दूसरीमें साहित्यके मुख्य अग नाट्यपर देशी और विदेशी शास्त्रीय दृष्टिसे विचार किया गया है ।

कवियोकी समीक्षाके साथ ही साहित्यके विकास-क्रमपर भी इस बीच पर्याप्त रूपसे विचार हुआ। आचार्य शुक्लजीने ही सर्वप्रथम ६०० वर्षोंके हिन्दी साहित्यको ऐतिहासिक ढगसे व्यवस्थितकरके उसे युग-प्रवृत्तियोके अनुसार कालकी सीमामें बाँधा। इसके पूर्व **शिवसिंह-सरोज** और **मिश्रबन्धुविनोद** प्रकाशित हो चुके थे किन्तु वे कालक्रमानुसार कवि-वृत्त-सग्रह मात्र थे, साहित्यके इतिहासके रूपमे उनका कोई महत्त्व न था। कुछ पुस्तकें अगरेज़ीमे निकली थीं, किन्तु शुक्लजीने जिस व्यवस्थित ढगसे लिखा उसे देखते हुए वैज्ञानिक पद्धतिपर हिन्दी-साहित्यके प्रथम इतिहास रचना करनेवाले वही ठहरते हैं। फिर तो उनके अनुकरणपर एक-एक युग और कालको लेकर या समग्र दृष्टिसे न जाने कितने इतिहास निकले जिनमें युगकी समीक्षाके साथ कवियोकी समीक्षा करनेकी चाल भी चल निकली। हिन्दी साहित्यके इतिहास भी इतने अधिक निकल चुके हैं इस छोटे ग्रन्थमें सबकी चर्चा नहीं की जा सकती किन्तु इतना जान लेना चाहिए कि प्रायः सभी लेखकोने शुक्लजीकी प्रणाली ही अपनाई है ।

निबन्ध

गद्यका प्रचार और प्रसार होनेके साथ ही बहुतसे लोगोको यह सुविधा हो गई कि विभिन्न विषयोपर वे अपने मत व्यक्त कर सकें, क्योकि पद्यरचना सबके लिये एक तो सरल नहीं, दूसरे उसमे इतने विस्तारके साथ सब बाते कह लेना सम्भव नहीं। इसलिये निबन्धोका चलन भी गद्यके साथ ही हुआ।

नागरी-गद्यका विकास होनेपर हमारे लेखकोके मनमे गद्य लिखनेकी बात आई और उन्होने इस ओर प्रयत्न किया। भारतेन्दु-कालीन लेखकोने कुछ अच्छे लेख चुह-चुहाती भाषामे लिखे किन्तु गंभीर निबन्धोकी कोटिमे वे नहीं रक्खे जा सकते। बात यह है कि मासिक अथवा साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओका प्रकाशन आरम्भ होनेके साथ ही उनके लिये लेखोकी समस्या सामने आई और उनके लिये ही लेख लिखनेका ढग चला। परन्तु निबन्धके साथ गम्भीर और विचारात्मक भाव भी लगे हुए है अतएव पत्र पत्रिकाओमे निकलनेवाले सभी-लेखोको निबन्धकी सज्ञा नहीं दी जा सकती। हॉ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-कालके लेखकोने विभिन्न शैलियोमे लेख लिखकर भाषाकी शक्ति प्रदर्शित की और यह सिद्धकर दिया कि गभीर विचार प्रकट करनेकी शक्ति नागरीमे है क्योकि वे वर्णनात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकारके लेख लिख गए हैं।

द्विवेदी-कालमे आकर निबन्धोका पूर्ण विकास हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीने **सरस्वती** के माध्यमसे जहॉ लोगोकी भाषाका सस्कार किया वहॉ उन्होने निबन्धोके लिये भी मार्ग खोल दिया। द्विवेदी-जीका आचार्यत्व भाषा-संस्कारतक ही परिमित है परन्तु उन्होंने अच्छे-अच्छे निबन्धकार भी उत्पन्न किए। यद्यपि द्विवेदीजीने गूढ विषयो पर गभीर निबन्धोकी सृष्टि नहीं की तथापि विचारात्मक और मुख्यतः

विवरणात्मक निबन्ध उन्होने बहुतसे लिखे। उस समयके बहुत उच्च कोटिके निबन्ध लेखकोमे **माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह और गुलाबराय हैं।** इसी समय **आचार्य शुक्लजी** ने निबन्धोंके क्षेत्रमें प्रवेश किया। शुक्लजीने गंभीर विषयोंपर प्रौढ भाषामें अत्यन्त श्रेष्ठ निबन्ध लिखे जिनसे नागरीकी शक्ति प्रकट हुई। आगे चलकर **पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी, नन्ददुलारे वाजपेयी, चन्द्रबली पाण्डेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवपूजन सहायने** भी बहुत अच्छे निबन्ध लिखे।

गद्य-काव्य

नागरी गद्यकी शक्तिकी पूर्ण व्यंजकता निबन्धोंमें ही दिखाई पडी। रवीन्द्रनाथ ठाकुरको **गीताञ्जलिपर** जब नोबेल पुरस्कार मिला तो उसकी ओर बहुतसे लोग आकृष्ट हुए। वह पुस्तक गद्यकाव्यके रूपमें लिखी गई थी। अतः नागरीके अनेक लेखकोने उसी प्रकारका भावात्मक गद्य (गद्य-काव्य) लिखनेकी चेष्टा की। **वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्ण दास, भँवर मल सिंघी** आदिने इस शैलीमे कई पुस्तकें लिखीं। अब इसका चलन बन्द हो गया है।

पत्र साहित्य

पत्रोके रूपमे विचार प्रकट करना भी निबन्ध-लेखनकी एक शैली है। विदेशोमे इस प्रकारके बहुतसे निबन्ध लिखे गए। हैं तो वस्तुतः ये गूढ निबन्ध ही किन्तु ये पत्रोके रूपमें लिखे गए हैं। नागरीमे भी इस प्रकारके कुछ पत्रात्मक निबन्ध लिखे गए हैं जो विचारात्मक और भावात्मक दोनो श्रेणियोमें आते हैं। इस प्रकारकी दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हमारे देखनेमे आई हैं—कमलापति त्रिपाठी कृत **बन्दीकी चेतना** और रामनाथ सुमन कृत **भाईके पत्र**।

जीवन-चरित

चरितकाव्य लिखनेकी परम्परा सभी भाषाओमे आदिकालसे ही रही है। नागरीमे गद्य साहित्यका प्रसार होनेपर जहाँ साहित्य सेवियोने अनेक विपयो पर पुस्तकें लिखीं वहाँ जीवनचरित भी बहुतसे लिखे गए। उसमे हमारा लिखा हुआ **महामना पंडित मालवीय** ही साहित्यिक दृष्टिसे उच्च श्रेणीका है, शेष केवल जीवन-चरितकी दृष्टिसे लिखे गए हैं, साहित्यकी दृष्टिसे नहीं।

हिन्दीमे सबसे पहला जीवन-चरित जैनकवि **बनारसीदास कृत अर्धकथानक** है। उसके पश्चात् तो फिर नागरीमे ही जीवनचरित लिखे गए। नागरीमे लिखी गई पहली आत्मकथा स्वामी श्रद्धानन्द कृत **कल्याणमार्गका पथिक** है। माधवप्रसाद मिश्र की **विशुद्ध-चरितावली** का अपना अलग महत्त्व है। शिवपूजनसहाय-कृत **गोस्वामी तुलसीदासका जीवनचरित** तथा **भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जीवनचरित** उच्चकोटिकी रचनाएँ हैं। देवी प्रसादकृत **मीराकी जीवनी** भी अच्छी पुस्तक है। बनारसीदास चतुर्वेदीकृत **सत्यनारायण कविरत्न**की रचना बहुत ही अच्छी हुई है। भाषाकी दृष्टिसे व्यवस्थित न होते हुए भी राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादकृत **आत्मकथा** अच्छी पुस्तक है। छोटी-मोटी जीवनियाँ तो बहुत निकली हैं।

प्रचार कार्य

पत्र पत्रिकाएँ

आरम्भसे नागरीके प्रचारके लिये प्रचार सम्बन्धी कार्य भी होता रहा है। इस प्रसगमे सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने अपनी दो पत्रिकाओं **कविवचनसुधा** और **हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका**-द्वारा किया। इसके साथ ही **प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट** आदिने भी पत्रिकाएँ निकालकर बड़ा भारी कार्य किया। देशके अनेक भागोसे समय-समयपर पत्र-पत्रिकाएँ निकलती रहीं। इन पत्र-

पत्रिकाओंके कारण जहाँ नागरीका प्रचार होता था वहाँ सबसे बडी बात यह हुई भाषाकी शक्तिके सवर्धनमे भी उन्होंने बहुत बडा हाथ बटाया। **सरस्वती** और **नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका** के निकलनेके पश्चात् नागरी-गद्यका रूप अत्यन्त सुव्यवस्थित हो गया। आगे चलकर विशुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएँ भी निकलने लगीं। सम्प्रति इस ढगकी पत्रिकाओमे **साहित्य-सन्देश** और **वासन्ती** उल्लेख्य हैं, जो शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं। इस समय नागरीमे निकलनेवाली पत्र-पत्रिकाओकी संख्या एक सहस्रसे कम न होगी।

प्रचार सस्थाएँ

नागरीके प्रचारके उद्देश्यसे सर्वप्रथम **नागरी प्रचारिणी सभा** की स्थापना आचार्य श्यामसुन्दर दास, रामनारायण मिश्र और शिवकुमार सिहने सन १८९० ई० मे की। सभाने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि महामना मालवीयजीके नेतृत्वमे प्रबल आन्दोलन करके नागरीको पुनः न्यायालयोकी भाषाके रूपमे प्रतिष्ठित कराया। इसके पश्चात् हिन्दीके ग्रन्थोकी खोजका कार्य हाथमे लेकर अनेक महत्त्वके ग्रन्थोका प्रकाशन किया और हिन्दी पुस्तकोका सबसे बडा पुस्तकालय स्थापित किया। नागरी-प्रचारिणी सभाके अधिकारियोके प्रयत्नसे ही **हिन्दी-साहित्य सम्मेलन** की स्थापना हुई जिसने हिन्दीमे उच्च कोटिकी परीक्षाएँ लेनेका प्रबन्ध करके हिन्दी साहित्यके अध्ययनकी ओर लोगोको प्रवृत्त किया और जिसकी ओरसे **राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद्** अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रमे प्रचार सम्बन्धी कार्य भली भाँतिकर रही है।

[ख]

नागरीका पद्य

१९ वीं शताब्दी ईसवीके मध्यसे अर्थात् लगभग १८५० से आगे भी यद्यपि व्रजभाषामेही भक्ति और शृंगारकी कविता होती चली आई फिर भी भारतीय स्वतन्त्रताके प्रथम युद्ध अर्थात् सन १८५७ के

पश्चात् भारतेन्दुके समयमें ही और उन्हींकी प्रेरणासे नागरीमें कविता होने लगी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने नागरी गद्यको सँवारनेका जितना प्रयत्न किया उतना कविताको नहीं। फिर भी उन्होंने नागरीमें उर्दूके ढगकी लावनियाँ और ख्याल लिखे हैं।

भारतेन्दुजीके गोलोकवासके थोड़े ही दिन पीछे लोगोंके मनमें यह बात खटकने लगी कि जब गद्य नागरीमें लिखा जाय तो पद्य ब्रज-भाषामें क्यो लिखा जाय। यह बात बडी असगत है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने भी 'दशरथ विलाप' नामसे एक कविता नागरीमें लिखी थी—

> **कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।**
> **किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे॥**

नागरीमें नामदेव, कबीर, खुसरो आदि पहले भी रचना कर आए थे। फिर भी मानस्थ साहित्यमें तो ब्रजभाषाका ही बोलबाला था। नागरीदास तथा नज़ीर अकबराबादीने भी नागरीमें कुछ रचनाएँ की हैं—

> **यारो सुनो ये दधिके लुटैयाका बालपन।**
> **औ मधुपुरी नगरके बसैयाका बालपन॥**

आदि। लखनऊके शाह कुन्दनलाल और फुन्दनलालने ललितकिशोरी और ललितमाधुरीके नामसे ब्रजभाषाके अतिरिक्त नागरीमें भी कुछ भूलना छन्द लिखे हैं—

> **जगलमें सब रमते हैं, दिल बस्तीमें घबराता है।**
> **मानुस गंध न भाती है, [illegible] मोर सुहाता है॥**

इसके पश्चात् मिरजापुरके तुकनगिरि गोसाईंने नागरीमें लावनी चलाई जिसमें ब्रह्मज्ञान ही रहता था। इस प्रकार नागरीकी तीन ढंगकी छन्द प्रणालियाँ चलीं जिनमें कुछ कवित्त-सवैयेकी प्रणाली थी, कुछ

उर्दू छन्दोकी प्रणाली और कुछ लावनीकी। पडित श्रीधर पाठकने १८८६ में लावनीके ढगपर एकान्तवासी योगी लिखा जिसकी भाषा चलती बोलचालकी नागरी थी—

> प्रान पियारेकी गुनगाथा साधु कहाँतक मैं गाऊँ।
> गाते गाते चुके नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

इसके पश्चात् नागरी या खड़ी बोलीके आन्दोलनका झडा उठाया मुजफ्फरपुरके बाबू अयोध्याप्रसाद खत्रीने जिन्होने अपने 'खड़ी बोली आन्दोलन' नामक पुस्तकमे चार शैलियोकी चर्चाकी—मौलवी स्टाइल, मुशी स्टाइल, पडित स्टाइल और मास्टर स्टाइल। उन्होंने बहुतसे लोगोंसे नागरी अर्थात् खड़ी बोलीमे कह-कहकर अनेक कविताएँ लिखवाई।

स्वैरवाद

इस युगके पश्चात् नागरीके क्षेत्रमें वह युग आया जिसे हम स्वैरवादी या आचार्य शुक्लजीके शब्दोमे 'सच्चा या नैसर्गिक स्वच्छन्दतावादी' कह सकते हैं, जिसमे लेखको और कवियोने प्राचीन रूढियोंसे मुक्त होकर नए विषयो और लोक-भावनाके साथ सामजस्य स्थापित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके सहयोगियोने भी यद्यपि नए-नए विषयोंपर रचनाएँ कीं किन्तु भाषा ब्रज ही रही और पद्य-निर्माणकी शैली, भावाभिव्यजनके स्वरूप तथा प्रकृति चित्रणमे कोई नवीनता नहीं आई। वास्तविक स्वैरवादका स्वरूप यदि कहीं मिला तो श्रीधर पाठकके एकान्तवासी योगीमे, जिसमे उन्होने अपने नेत्रोके सामने व्यक्त होती हुई प्रकृतिका अर्थात् मूली-मटर जैसी वस्तुओका भी वर्णन किया और नागरी पद्यके लिये नए-नए छन्द भी दिए। अपनी 'स्वर्गीय वीणामें' उन्होने आध्यात्मिक भावनाओंका भी रहस्यपूर्ण सकेत किया इसलिये श्रीधर पाठक ही वास्तवमे हिन्दी कविताके प्रथम स्वैरवादी कवि कहे जा सकते हैं। किन्तु प्राचीनतावादी पडित महावीरप्रसाद द्विवेदीके प्रभावके कारण यह पद्धति चल न पाई और इतिवृत्तात्मक पद्य-

धुआँधार रचे जाने लगे। इसके पश्चात् तो लोग योरपसे बँगलाके द्वारा हिन्दीमे प्रविष्ट होनेवाली रहस्यभरी कविताओंके रगमे ऐसे रँगे कि इतिवृत्तात्मकता छूट गई और हिन्दी कविता भी विदेशी रहस्यधारामे बह चली।

पडित श्रीधर पाठकने नागरीमे **श्रान्त पथिक** (गोल्डस्मिथके **ट्रैवलर**का अनुवाद) और बहुत सी छिटफुट कविताए लिखीं। इन्होने कई नए ढाँचेके छन्द भी निकाले और अन्त्यानुप्रास रहित छन्द भी लिखे। इनके उदाहरण लीजिए—

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था,
अटनका समय था, रजनिका उदय था।
कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरोके सगीतकी सी कैसी, सुरीली गुंजार आ रही है॥

इनकी कवितामे सभी प्रकारके विषय होते थे। इन्होने प्रकृतिका वर्णन जितना किया उतना इस युगके बहुत कम कवियोने किया है। इसलिये इन्हे प्रकृत-कवि कहा जा सकता है। इनका जन्म १८७६ मे और मृत्यु १९२८ मे हुई।

हरिऔध

पडित अयोध्या सिह उपाध्याय हरिऔधने हिन्दीमे क्रान्तिकारी युग उपस्थित किया। इन्होने सस्कृत और उर्दू के छन्द लिए, नागरी भाषा ली और नागरी भाषामे भी ठेठ बोलीसे लेकर सस्कृतकी तत्समाश्रित समास-बहुला शैलीतक सबका प्रयोग किया। भाषा पर इनका असामान्य अधिकार था। उर्दू, फारसी, हिन्दी, संस्कृत, ब्रज सभीका इन्हे विस्तृत ज्ञान था। ये वास्तवमे कवि थे, जिन्होंने आजीवन नित्य नियमसे कविता की थी। सन् १९१४ में इनका **प्रियप्रवास** नामक महाकाव्य निकला जिसके सम्बन्धमे बहुत दिनोंतक यही चर्चा चली कि वह महाकाव्य है या खड काव्य। उसमें श्रीकृष्णके गोकुल-जीवनका पूरा चित्रण है इसलिये

वह महाकाव्य ही है। उसमे श्रीकृष्णको ब्रजके रक्षक नेताके रूपमे चित्रित किया गया है। उसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि पूरा काव्य संस्कृतके वर्णवृत्तोमे रचा गया है। **प्रियप्रवास**के अतिरिक्त हरिऔधजीने **वैदेही वनवास** भी लिखा जो **प्रियप्रवाससे** अधिक प्रौढ होनेपर भी उतनी प्रसिद्धि न प्राप्त कर सका। **रसकलस** तो निश्चय ही इनकी एक विशिष्ट विभूति है। प्रियप्रवाससे एक उदाहरण लीजिए—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय-कलिका, राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली॥
शोभा-वारिधिकी अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं॥

चोखे चौपदेसे एक उदाहरण लीजिए—

क्यों पले पीसकर किसीको तू।
है बहुत पौलिसी बुरी तेरी॥
हम रहे चाहते पटाना ही।
पेट तुमसे पटी नहीं मेरी॥

यद्यपि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीने भी पद्य रचना की और ये सानुप्रास कोमल पदावलीका प्रयोग करते रहे किन्तु इनकी और इनके सभी अनुयायियोकी कविता ऐसा नीरस पद्यमात्र बनी रही जैसे गद्यमे कही जानेवाली कोई बात छन्दमे बाँधकर रख दी गई हो। उनमे न व्यंजना थी न भावोका चित्रमय विन्यास और न अभिव्यक्तिकी वक्रता।

मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदीजीके शुद्ध अनुयायी और शिष्य मैथिलीशरणजीने नागरी कविताका ढेर लगा दिया और उनके किसी काव्यमे इसीलिये काव्यका सौंदर्य, आकर्षण और लालित्य न आ सका। इसी कारण बहुतसे साहित्यकार इन्हे तुकाराम [तुकबन्दी करनेवाले कवि] कहते हैं। इन्होने सबसे पहले **रंगमें भंग** नामका प्रबंध-काव्य लिखा

जिसमे चित्तौड़ और बूँदीके राजघरानोकी कथा थी और राजपूतोकी आनका चित्रण था। इसके पश्चात् ऐतिहासिक पद्य-प्रबन्धके रूपमें **भारत-भारती** निकली जिसमे भारतीयोके या हिन्दुओके अतीत और वर्तमान दशाका चित्रण करके भविष्यके लिये प्रेरणा दी गई है। इन्होने **रंगमें भंग, जयद्रथवध, विकट भट, पलासीका युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, द्वापर** और **यशोधरा** नामके अनेक छोटे-बड़े काव्य लिखे जिनमेसे जयद्रथवध और पचवटी अधिक प्रसिद्ध हुए। जहाँ गुप्तजीको कोई प्रसिद्ध कथा मिल जाती है वहाँ तो वे कुछ सफलता पा जाते हैं किन्तु जहाँ इन्हे अपनी कल्पनासे काम लेना पड़ता है वहाँ इनकी कल्पना इन्हे धोखा दे जाती है। यह बात **यशोधरा** और **साकेत** दोनोमे है।

साकेतमे उर्मिलाको नायिका बनाकर रामायणकी कथा कही गई है किन्तु विदेहराज जनककी पुत्री, दशरथकी पुत्रवधू और यती लक्ष्मणकी पत्नी जिस उच्छृङ्खल और क्षुद्र रूपसे व्यवहार करती है वह उर्मिलाकी मर्यादाके सर्वथा विपरीत है। इसके अतिरिक्त जो संवाद कराए हैं या जो गीत भरे गए है वे भी बड़े अव्यवस्थित और असगत हैं जो काव्यकी धाराको अनावश्यक रूपसे नष्ट कर देते हैं। प्रारभमे उर्मिला और लक्ष्मणका परस्पर अत्यन्त क्षुद्र परिहास, उर्मिलाका विविध प्रकारसे विलाप हनुमानकी सूचनापर अयोध्याकी सेना सजनेपर भी उर्मिलाका झडा लेकर निकलना और वशिष्ठजीका ताली बनाकर राम-रावणके युद्धका चलचित्र दिखाने लगना कवि-कौशलकी कमी ही नहीं सूचित करते वरन् अत्यन्त हास्यप्रद भी लगते हैं। इसमें इन्होंने किसानोंके साथ सहानुभूति, प्रजाका अधिकार, सत्याग्रह और विश्वबन्धुत्व आदि इस युगके आन्दोलनोका स्थान-स्थानपर सकेत करके पूरे काव्यकी महत्ता नष्ट कर दी है। इस प्रकारका साहित्य प्रचार-साहित्य बन जाता है। इसलिये इनकी अधिकाश कविता अत्यन्त हीन कोटिकी है। एक उदाहरण लीजिये :

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे?
हम गिरे, अहो तो गिरे, गिरे।

यह भी कुछ कविता है।

यशोधराकी रचना नाटकीय ढगपर हुई है जिसमे गद्य-पद्य दोनोका सम्मिश्रण है। यह न नाटक ही हो पाया है न चम्पू ही।

द्वापरमे नाटकीय आत्म-विश्लेषणकी शैलीका प्रयोग किया गया है जिसमे यशोदा, राधा, नारद, कस और कुब्जा आदि अपनी-अपनी मनोवृत्तियोंका चित्रण करते हैं। किन्तु इनमेसे भी किसीमे भी कोई ऐसा काव्यात्मक आकर्षण नहीं है कि उसे पढकर चित्त फडक उठे।

गुप्तजीने **तिलोत्तमा, अनघ और चन्द्रहास** नामके कुछ रूपक भी पद्यमे लिखे हैं पर उनसे भी कोई विशेष रस नहीं है।

गुप्तजी शुद्ध अवसरवादी कवि है। वे समय-समयपर अवसरके अनुसार रचनाएँ करते आए हैं और देशमे जब जिस भावनाकी प्रधानता देखते रहे उसी भावकी रचना करते रहे। इसी दृष्टिसे वे राष्ट्रकवि कहे जाते हैं। किन्तु काव्यकी दृष्टिसे उन्होंने काव्य-रसिकोंको बड़ा निराश किया है।

अन्यकवि

गुप्तजीके अतिरिक्त गाजीपुरके रामचरित उपाध्याय, झालरा-पाटनके गिरिधर शर्मा नवरत्न, लोचनप्रसाद पांडेय आदि सरस्वतीमें अच्छी रचनाएँ भेजते रहे। किन्तु उस युगकी अधिकांश रचनाओंमें तुकबन्दी ही रहती थी, वास्तविक काव्य सौष्ठवका बड़ा अभाव था। द्विवेदीजीके प्रभावके बाहर राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन रूपनारायण पांडेय और रामनरेश त्रिपाठीने सुन्दर रचनाएँ कीं। इनमेसे कुछ तो ब्रजभाषाके कवि थे। नाथूराम शकर शर्मा और रामनरेश त्रिपाठीने निश्चय ही प्रभावपूर्ण रचनाएँ कीं।

वर्तमान कालके कवि

बीसवीं शताब्दीके दूसरे दशकके पश्चात् सन् १६२० के लगभगसे द्विवेदी-युगकी तुकबन्दीपूर्ण कविताओंकी प्रतिक्रियाके स्वरूप हिन्दीमें बँगलासे प्रभावित और योरपके मिथ्यारहस्यवाद (सूडो-मिस्टिसिज़्म)के प्रभावसे नागरीमे एक नई शैलीकी रचना चली जिसमे कवि लोग रहस्यवादी या सूफी साधकोंके समान प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थमे उसी पारमार्थिक सत्ताका अनुभव करनेकी, उससे प्रेरणा पानेकी अथवा उससे एकात्म प्राप्त करनेकी भावनासे प्रेरित रहते थे। यह भावना कहीं प्रत्यक्ष रूपसे, कहीं अप्रत्यक्ष रूपसे नागरीमे छायावादके नामसे चलती रही। यह केवल अन्धानुकरण वृत्ति ही थी, इसका हृदयसे या मनसे किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं था। टूटी हुई हृत्तन्त्रीके तारकी झंकार, अभिसार, अनन्त, नीरव, हाहाकार आदि विचित्र अर्थहीन भावोद्रेक थे। पाठक या श्रोताको भ्रान्त-पूर्ण ढगसे आतंकित करनेवाली रचनाएँ होने लगीं। प्राय इसमे कलावाद और विचित्र अभिव्यंजना-प्रणालीका ही प्रयोग होने लगा। इस धारामे **प्रसाद, पन्त निराला** और **महादेवी**का नाम लिया जाता है।

जयशंकरप्रसाद

जयशंकरप्रसादजी पहले तो ब्रजभाषामे कविताएँ रचते थे फिर इन्होंने नागरीमे रचनाएँ प्रारभ कर दीं। इसके अतिरिक्त इन्होने कुछ द्विवेदी-कालकी और कुछ श्रीधर पाठककी शैलीपर अतुकान्त रचनाएँ भी की हैं। चित्रात्मक व्यजनाकी नई स्वैरवादी धाराके अनुसार रची हुई उनकी कुछ कविताएँ **झरना**मे सगृहीत है। इस संग्रहके अगले संस्करणमे जो रचनाएँ आईं उनसे अभिव्यंजनाकी विचित्रता, रहस्यवाद और विचित्र व्यजना सभीका परिचय प्राप्त हो जाता है। 'खोलो द्वार' शीर्षक रचना इस रहस्य-भावनाका सबसे सुन्दर उदाहरण है।

प्रसादजीका **आँसू** आजकल बहुत लोगोंके लिये पहेली बन गया है। हिन्दीके बहुतसे अध्यापक उसमे बात-बातपर ब्रह्म उतारनेके फेरमें पड़े

हुए हैं। किन्तु वास्तवमे प्रसादजी भावुक, सहृदय, प्रेमी व्यक्ति थे जिन्होंने अपने स्नेहास्पद व्यक्तियोंकी मधुर स्मृतिमे ही आँसूकी सृष्टि की। आचार्य शुक्लजीने ठीक ही कहा है—'आँसू वास्तवमे हैं तो शृंगारी विप्रलम्भके छन्द, जिनमे अतीतके सयोग-सुखकी खिन्न स्मृतियाँ रह-रहकर झलक मारती है पर जहाँ प्रेमीकी मादकताकी बेसुधीमे प्रियतम नीचेसे ऊपर आते और संज्ञाकी दशामे चले जाते हैं, जहाँ हृदयकी तरगे उस अनन्त कोनेको नहलाती चलती हैं वहाँ आँसू उस अज्ञात प्रियतमके लिये बहते जान पडते हैं। स्वय 'प्रसाद' जीने आँसूके प्रारम्भमे लिख दिया है—

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तकमे स्मृति सी छाई,
दुर्दिनमे वह आँसू बनकर आज बरसने आई।

इतना स्पष्ट विवरण देनेपर भी यदि लोग उसमें वेदान्त और साख्य ढूंढनेका प्रयत्न करते हैं तो यह उनकी अज्ञताका ही परिचायक है।

कविके रूपमे प्रसादजीकी अधिक प्रसिद्धि **कामायनी**के कारण हुई जिसमे उन्होने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि मनुष्य जबतक इडा या बुद्धिके फेरमे पड़ा रहेगा तबतक उसे सासारिक द्वन्द्वोसे मुक्ति नहीं मिलेगी किन्तु जब वह श्रद्धा समन्वित होकर ससार छोड़कर एकान्तवास करनेके लिये निकल पड़ेगा तब उसे चारो ओर आनन्द ही आनन्द मिलेगा। उनका यह आनन्दवाद बाह्य आनन्दवाद है अर्थात् संसारके द्वन्द्वोसे अलग होकर प्रकृतिकी मधुमय गोदमें स्वच्छन्द विचरण करनेकी भावनावाला आनन्दवाद। इधर कुछ लोगोने कामायनीमे शैव प्रत्यभिज्ञा-दर्शनका आरोप करना प्रारम्भ कर दिया है। उनका कहना है कि प्रसादजीने कामायनीमे शैव आनन्दवादकी प्रतिष्ठा की है। किन्तु प्रसादजीने जिन सूत्रोसे कामायनीकी कथा और उसका रूपक लिया है उसमे कहीं उन्होंने

कश्मीरके शैवागमकी बात नहीं लिखी। दूसरी मुख्य बात यह है कि प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार आनन्दकी वह स्थिति होती है जब पशुपति भगवान शिवकी कृपासे यह पशु अर्थात् जीव माया रूपी पाशसे मुक्त होकर शिवोऽहंका अनुभव करने लगता है अर्थात् जब वह स्वयं अपनेको शिव पहचान लेता है। किन्तु कामायनीमें कहीं इस प्रकारकी बात नहीं है। कामायनीका पूर्वार्द्ध जितना सरस है उसका उत्तरार्द्ध उतना ही जटिल हो गया है। प्रसादजीने दार्शनिक और वैज्ञानिक बननेके फेरमें अपने कविको भुला दिया। किन्तु उसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि अल्पज्ञपाठक उसीके आतकसे इतने त्रस्त रहते है कि वे उसमे नए-नए दार्शनिक सिद्धान्त बैठे ढूँढ़ा करते हैं। इस काव्यमे काम, चिन्ता, लज्जा आदि विशेष मानसिक भावोका बडा अच्छा निरूपण और चित्रण किया गया है। न तो कथाकी दृष्टिसे इस काव्यका कोई महत्त्व है न इसका नायक मनु ही महाकाव्यके नायक, गुणोंसे युक्त आदर्श व्यक्ति है। अतः महाकाव्यकी श्रेणीमे तो **कामायनी** नहीं आती किन्तु यह अपने प्रकारकी अलग रचना है, जिसकी अपनी अलग श्रेणी और जिसका अपना अलग लक्ष्य है। यद्यपि कामायनीमे काव्यका लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता है और कथा-प्रसग भी कहीं-कहीं असम्बद्ध है फिर भी उसके कुछ सर्ग अत्यन्त मार्मिक और सुन्दर है, विशेषत लज्जा सर्ग।

सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पन्तकी प्रारम्भिक कविता प्रकृतिकी गोदमे हुई इसलिये उसमे शब्द-चित्रोका माधुय अधिक मिलता है किन्तु आगे चलकर दार्शनिक प्रभावके कारण उनकी रचनाएँ दार्शनिक हो गईं जिसमें वे सृष्टिकी नश्वरतापर विचार करने लगे। किन्तु इस प्रकारकी काव्य-तत्त्व-हीन सब रचनाएँ काव्यकी श्रेणीसे हटाकर दर्शनकी श्रेणीमें रख देनी चाहिये। इनकी तीसरी धारा युगके साथ

चलने लगी और ये अपने चारो ओर बिखरे हुए मानव-समाजके साथ सहानुभूति दिखाने लगे । पन्तजीके चार कविता-सग्रह प्रसिद्ध हैं— **वीणा, पल्लव, गुंजन और ग्राम्या**, जिसमे उनकी तीनो भाव-पद्धतियोका क्रमिक परिचय भली-भॉति मिल जाता है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

बॅगलाके छायावादको नए अतुकात स्वच्छन्द छन्दोमे नागरीमे प्रवर्तित करनेका श्रेय यदि किसी एक व्यक्तिको है तो वह है **सूर्यकान्त त्रिपाठी निरालाको** । सगीत और काव्य-तत्त्व दोनोपर जितना अधिकार इन्हे है उतना इस युगके अन्य किसी कविको नहीं है । इनकी भाषामे, इनके शब्दोमे, इनकी पदावलीमे विचित्र प्रकारका काव्यात्मक ओज भरा हुआ है, जिनमे यह शक्ति है कि वे अपने साथ पाठकको वहॉ ले जा सकते हैं । इनकी मुक्तक रचनाओके अतिरिक्त **तुलसीदास और रामकी शक्तिपूजा** दो काव्य अत्यन्त महत्त्वके हैं जिनमें मधुर कल्पना, भावपूर्ण व्यजना, सुन्दर चित्र, भावोको आन्दोलित कर देनेवाली परिस्थितियॉ सबका मधुर समन्वय है । इन्होने **गरम पकौड़ी और वह तोड़ती पत्थर** जैसी भी कुछ खेलवाड़ी रचनाएँ की हैं किन्तु वे इनकी कवि-प्रतिभाकी नहीं, शुद्ध मस्तीकी परिचायिका हैं । कविके रूपमें जो इन्होने रचनाएँ की है वे सचमुच बडी मनोहर और प्रौढ हैं ।

महादेवी वर्मा

आचार्य शुक्लजीने छायावादी कहे जानेवाले कवियोमें महादेवीको ही रहस्यवादी माना है और कहा है कि 'उस अज्ञात प्रियतमके लिये वेदना ही इनके हृदयका भावकेन्द्र है जिससे अनेक प्रकारकी भावनाएँ फूट फूटकर झलक मारती रहती हैं -- वेदनासे इन्होने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसीके साथ ये रहना चाहती हैं और उसके आगे मिलन-सुखको भी ये कुछ नहीं गिनतीं।' किन्तु महादेवीजीने स्वयं **आधुनिक हिन्दी कवि : महादेवीकी** भूमिकामे लिखा है कि मेरे जीवनमें वेदनाका स्थान नहीं है, मै सदा सुखी रही । इससे प्रतीत होता है कि

इनकी कविताका इनके हृदयसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मनोविश्लेषण-शास्त्रके अनुसार कहा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन असफल और शून्य रहनेके कारण इनकी ये वेदनात्मक रचनाएँ इनके अचेतन मनसे उद्भूत अतृप्तिके परिणाम हैं। योरपमे प्रारंभिक स्वैरवादियोको रोदनवादी या श्मशानवादी कहा गया है क्योंकि वे लोग जीवनसे ऊबनेकी और वेदनाकी ही बातें किया करते थे। १८ वीं शताब्दीमे टौमस पार्नेल, एडवर्ड यंग, रौबर्ट ब्लेयर, टौमस ग्रे आदिने जो रचनाएँ कीं उनमे केवल दुःख और मृत्युकी ही बात थी। अतः उन सब लोगोंको रोदन-वादी कवियोकी संज्ञा दे दी गई। इसी प्रकार हिन्दीमे भी प्रसादजीकी अधिकांश रचनाएँ और महादेवीकी कुल रचनाएँ रोदनवादी ही हैं। ये कविताएँ इतनी अधिक लाक्षणिक हो गई हैं कि जितने पंडित है उतने ही अर्थ निकालते है यहाँतक कि हमारे कुछ मित्र तो उसमे भी वेदान्त और सांख्य दर्शनका स्वप्न देखा करते हैं। महादेवी वर्माका एक ही संग्रह है **यामा**, जिसमे इन्होने चित्र-सहित अपने गीत छापे हैं। किन्तु इन गीतोका मनुष्यके हृदय और जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं और स्वयं कवयित्रीके शब्दोमे, उनके जीवनसे भी उनका सम्बन्ध नहीं है। फिर ये रचनाएँ क्यो की गई? क्या केवल कलाके लिये?

स्वतन्त्रता आन्दोलनके कवि

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलनके समयके कवियोमें **माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** और **सुभद्राकुमारी चौहान** मुख्य हैं पर इनमें भी कविता कम है; या तो शब्दाडम्बर है या सीधी तुकबन्दी या स्वदेशोद्वेग।

वर्तमान कवियोमे **बच्चनने** अँगरेजीकी गीतिका (सौनेट) शैली पर हिन्दीमें कविताकी एक नई धारा प्रवाहित की जिसका प्रभाव हिन्दीके कवियोपर यह पड़ा कि कुछ दिनों तक कवि-सम्मेलनोमे लोग बच्चनकी शैलीपर ही गीत अलापते रहे। बच्चनने फारसीके हाला, प्याला, मधुबालाको

विभिन्न रूपको और भावनाओंके साथ हिन्दीमे उपस्थित किया। सरकारी नौकरी करनेसे जैसे पतजीकी काव्य-धारा सूख गई वैसे ही बच्चनकी भी काव्यधारा सूख चली है। उनकी रचनाओने **एकान्त संगीत, मधुशाला, मधुबाला,** और **निशा निमन्त्रण** प्रसिद्ध हैं।

महाकाव्यका युग

यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि इस युगमे अर्थात् पिछले दस वर्षोंमे हिन्दीमे अनेक महाकाव्योके दर्शन हुए जिनमे श्यामनारायण पाडेयकी **हल्दीघाटी** और **जौहर**, डाक्टर आनन्दका **अंगराज**, गुरुभक्त सिहकी **नूरजहाँ** और **विक्रमादित्य**, उदयशकर भट्टकी **तक्षशिला** और **मानसी**, तारकेश्वर उपाध्यायका **पथपर**, भारती-नन्दनकी **पार्वती**, सोहनलाल द्विवेदीका **कुणाल**, दिनकरका **कुरुक्षेत्र**, लालधर त्रिपाठीका **छत्रसाल** और श्यामनारायणकी **झाँसीकी रानी** उल्लेखनीय हैं। इन सबमे भारतीनन्दनकी **पार्वती** सर्वश्रेष्ठ है और उसके पश्चात् यदि किसी दूसरे महाकाव्यका नाम लिया जा सकता जा सकता है तो वह डाक्टर आनन्दका **अंगराज** है किन्तु उसमे चरित्र-चित्रण अत्यन्त अमर्यादित हो गया है। **कुरुक्षेत्र**मे वर्तमान युगकी युद्ध-समस्यापर नई विश्वव्यापी मानव-भावनासे विचार किया गया है। यद्यपि इसका कथानक महाभारत-पर आश्रित है किन्तु फिर भी यह स्वतंत्र रचना है। इसमे इन्होंने सब प्रकारके अन्यायोके विरुद्ध शस्त्र उठाने और अन्यायका नाश करके समत्वकी भावनाके अनुसार नवीन समाजका निर्माण करनेका सदेश दिया है किन्तु इसमे रचना-शैली बहुत प्रौढ नहीं है और द्विवेदी-युगकी इतिवृत्तात्मक शैलीका ही अनुगमन किया गया है। प्रचारात्मक होनेके कारण इसका काव्यत्व मन्द पड़ गया है।

इधर जबसे सरकारने पुरस्कार देना प्रारम्भ किया है तबसे नित्य नये महाकाव्य गढनेकी धुन भी बढती जा रही है और जान पड़ता है आठ-दस बरसमे हिन्दीमे इतने महाकाव्य प्रस्तुत हो जायँगे जितने पिछले दो सौ बरसोमे भी नहीं लिखे गए।

इस इतिहासके अंशमे अनेक लेखकोके नाम और उनकी रचनाओके नाम जान-बूझकर छोड़ दिए गए हैं और केवल उन्हीं कवियो और रचनाओका नाम देकर उनपर अत्यन्त सूक्ष्म विचार किया गया है जिनका प्रायः अध्ययन-अध्यापन होता है। नागरी कविताका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है किन्तु कवियोकी रचनाओमे शक्ति और सौष्ठवका अभाव है। कारण यही है कि न तो वे अपनी रचनाओका सुधार कराते हैं, न अध्ययन करते हैं।

इस खंडके साथ हिन्दी-साहित्य सर्वस्व पूर्ण होता है।